श्री विद्यानंदाचार्य प्रणीत

अष्टसहस्री

[प्रथम भाग]

हिन्दी भाषानुवाद सहित

卐

भाषानुवाद कर्त्री

परमविदुषीरत्न, चतुरनुयोगमर्मज्ञा

प्रखरप्रवक्त्री, बालब्रह्मचारिणी,

पूज्य आर्यिका १०५ श्री ज्ञानमती माताजी

(आचार्य श्री धर्मसागर जी संघस्थ प्रधान आर्यिका)

सम्पादक

मोतीचन्द जैन सर्राफ
शास्त्री, न्यायतीर्थ
(आ० श्री धर्मसागरजी संघस्थ)

रवीन्द्रकुमार जैन
शास्त्री, बी० ए० (टिकैतनगर)
(संघस्थ)

प्रकाशक—दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान

प्रथम संस्करण	द्वि० भाद्रपद शुक्ला १४	मूल्य
११०० प्रतियां	वीर निर्वाण संवत् २५००	५१) रु०
ई० सन् १९७४	वि० सं० २०३१	

भगवान महावीर के २५ सौवें निर्वाणमहोत्सव के मंगलअवसर पर

पू० आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी की पुनीत प्रेरणा से संस्थापित

दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, के अंतर्गत

वीरज्ञानोदय ग्रंथमाला

इस ग्रन्थमाला में दि० जैन आर्ष मार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, कन्नड़ आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धांत अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण, इतिहास आदि विषयों पर लघु एव वृहद् ग्रन्थो का मूल एव अनुवाद सहित प्रकाशन होगा।

समय-समय पर धार्मिक---लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाए भी प्रकाशित होती रहेंगी।

ग्रन्थमाला सपादक

मोतीचंद जैन सर्राफ
शास्त्री, न्यायतीर्थ

रवीन्द्रकुमार जैन
शास्त्री, बी० ए०

स्थापनाब्द
कार्तिक कृष्ण अमावस्या
वीर निर्वाण सं० २४९८
वि० स० २०२९
ई० सन् १९७२

प्रकाशन कार्यालय
दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान
हस्तिनापुर (मेरठ) U. P.

मुद्रक—एस. नारायण एण्ड संस प्रिन्टिग प्रेस ७११७/१८ पहाड़ी धीरज दिल्ली-६

चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज



जन्म—	क्षुल्लक दीक्षा—	ऐलक दीक्षा	मुनि दीक्षा—
भोजग्राम	[illegible] (महा०)	श्री गिरनार जी	[illegible] (महा०)
(कोल्हापुर, महाराष्ट्र)	वि० [illegible]	वि स [illegible]	वि स [illegible]
वि स १९२९ आ कृ, [illegible]	[illegible]		फाल्गुन सु. १३

क्षुल्लक एवं मुनि दीक्षा गुरु मुनि [illegible]सागर जी

आचार्यपद—आश्विन शु[illegible] ११ वि० स० १९८१—[illegible] (महाराष्ट्र)

स्वर्गवास—भाद्रपद शु० [illegible] वि० स० [illegible] कुंथलगिरी सिद्धक्षेत्र

अनुक्रम दर्पण

वेद की अप्रमाणता

चार्वाक मत खंडन

शून्यवाद

तत्वोपप्लववाद

चार्वाक मत निरास

ज्ञान अस्वसंविदित नहीं है

सांख्य द्वारा मान्य मोक्ष का खंडन

वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्ष का खंडन

प्रस्तावना

नमः श्री स्याद्वाद विद्यापतये

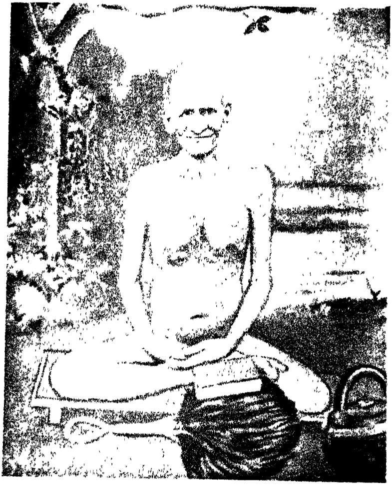
न्यायशास्त्र प्रमाणभूत शास्त्र है, इतना ही नहीं, इतर सिद्धांत, व्याकरण, साहित्य, चरणानुयोग, करणानुयोग, प्रथमानुयोग आदि ग्रन्थों में प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए साधन हैं। द्वादशांग वाणी मे दृष्टिवाद नामक जो अन्तिम अग है उससे प्रसूत यह न्यायशास्त्र है। न्यायशास्त्र के द्वारा सिद्धात समर्थित विषयो को कसोटी मे कसकर सिद्ध किया जाता है। सिद्धांत प्रतिपादित तत्त्वों में प्रामाणिकता किस प्रकार है इसे न्याय शास्त्र प्रतिपादन करता है। वस्तु का सर्वांश से, सर्वांग से यथार्थ दशन न्यायशास्त्र के द्वारा होता है। न्यायशास्त्र की आधार शिला स्याद्वाद या अनेकात है तो प्रमाण व नय उसके दा पख हैं। नय प्रमाणरूपी पखो को धारण कर स्याद्वाद यथेच्छ सर्वत्र जल, स्थल, आकाश में भ्रमण कर सकता है। उसे कोई भी किसी भी क्षत्र मे रोकने के लिए समर्थ नही है। उसकी गति निर्बाध है, उसकी गति आतक रहित वेगवती है। उसमे उपरोध करने वाली कोई शक्ति ससार मे नही है।

ससार में युक्ति प्रयुक्त करने की योग्यता वाले हर विषय को विवादास्पद बना सकते है। उसे, उस कथन को एव युक्ति को तर्क की कसोटी में कसकर देखना होगा कि वह सम्यक् है या मिथ्या है? युक्ति और शास्त्र से अविरोध जो वचन है वह सम्यक् तर्क है। तर्क में तर्क भी होता है, कुतर्क भी होता है। परन्तु सुतर्क ग्राह्य है, उपादेय है, परन्तु कुतर्क त्याज्य है, निषेध्य है, सुतर्क या तर्क के द्वारा द्रव्य की प्रतिष्ठा होती हैं, द्रव्य मे द्रव्यत्व की सिद्धि, गुण मे गुणत्व की सिद्धि, पर्याय मे उत्पाद व्यय की सिद्धि आदि सभी तर्क पूर्ण दृष्टि से होती है, अनुदिन के बोलने वाले वचनो में भी न्याय का पुट लगना चाहिये, अन्याय पूर्ण वचनो से विवाद, कलह, सघर्ष उत्पन्न होते है। इसलिए युक्ति शास्त्र से अविरोध वचनों से पूर्ण न्याय पथ से चलने को ही बोलने के लिए मनुष्य को सीखना चाहिये। भगवान् समतभद्र ने अर्हत्परमेश्वर भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए आप्तमीमांसा में लिखा है कि—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाघ्यते॥

हे भगवन्! आप ही युक्ति और आगम के अविरोधी वचन को बोलते है, अतएव निर्दोष हैं। आपके बोलने चलने में जो अविरोध है, वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नही है, अर्थात् स्पष्टतया

परम पूज्य १०८ आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज



जन्म-	मुनि दीक्षा	स्वर्गवास--
वीरगांव (महाराष्ट्र)	[illegible]	खानिया, जयपुर
वि० सं० १९३२	[illegible]	वि० सं० २०१४
आषाढ शुक्ला पूर्णिमा	[illegible] (महाराष्ट्र)	आश्विन कृष्णा ३०

क्षुल्लक, ऐलक एवं मुनि दीक्षा गुरु — [illegible] आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज

आदर्शरूप से दिखता है, आप जैसा बोलते हैं, वैसा ही चलते हैं, आपको यह इष्ट है, जो ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नही है वही न्यायशास्त्र के लिए सम्मत है, उसी से पदार्थ का निर्दोष ज्ञान होता है ।

इसलिए सिद्धात शिरोमणि श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि "**प्रमाणनयैरधिगम.**" प्रमाण व नयों से तत्त्व का ज्ञान होता है, अर्थात् पदार्थों का निर्दोष ज्ञान होता है, इस परिपाटी को सिखाने वाला न्यायशास्त्र है, इस सरणि को छोड़कर हम पदार्थों के ज्ञान को ही प्राप्त नही कर सकते है । हमारे ज्ञान में प्रमाण की सत्ता रहेगी, या नयविवक्षा रहेगी या नयांश रहेगा । इसके बिना हम पदार्थों का चतुर्मुखी ज्ञान नहीं कर सकते हैं । पदार्थों का चतुर्मुखी ज्ञान ही निर्दोष ज्ञान है, अविकृत दर्शन है ।

इसलिए आगम सिद्धात की सिद्धि के लिए, लोक व्यवहार की प्रसिद्धि के लिए, स्वमत स्थापन, परमत खडन कर वस्तु तत्त्व की सिद्धि के लिए न्यायशास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता है । इसलिए जैनाचार्यों ने इस विषय के भी ग्रन्थो का निर्माण कर भगवान् अर्हत्परमेश्वर के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व विवेचन को निर्दोष सिद्ध किया है । इन सब कार्यों को करते हुए उन्होंने एक ही स्याद्वाद साधन का उपयोग किया है । स्याद्वाद या अनेकांत के रूप में सर्व पदार्थ व्यवस्थित हैं, अतएव उनका ज्ञान भी स्याद्वाद या अनेकात से ही ठीक तरह से हो सकता है । स्याद्वाद के बिना हम पदार्थों के ज्ञान से वचित रह जाते हैं, पदार्थों के ज्ञान में गडबड़ी होती है, हम सशय कल्लोल में गोता खाते है । इसलिए वस्तु तत्त्व की निर्दोष सिद्धि के लिए स्याद्वाद का ही अवलबन करना चाहिये ।

भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए महर्षि समन्तभद्र ने स्पष्ट कहा है कि—

अनवद्यः स्याद्वादः तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः ।
इतरो न स्याद्वादः सद्वितयविरोधान्मुनीश्वरास्याद्वाद ।।

(स्वयभूस्तोत्र) १३८

जिस स्याद्वाद से पदार्थों की ठीक स्थिति का ज्ञान होता है उसके सबन्ध में आचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! आपका स्याद्वाद निर्दोष है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणो से अबाधित है, अतएव स्याद्वाद है । प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, तर्क आदि कोई भी प्रमाण इसे बाधित करने के लिए समर्थ नहीं है । दूसरे जो एकांतवाद हैं उन्हें स्याद्वाद नही कह सकते है, उनमें स्यात् का प्रयोग नही हो सकता है । इसके अलावा उसमें प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधा भी उत्पन्न होती है । अतः वह स्याद्वाद भी नही है । अस्याद्वाद है ।

इसलिए न्याय शास्त्रों के निरूपण में मूलाधार स्याद्वाद है । उसके आधार से तत्त्व की वस्तुनिष्ठ प्रतिष्ठा हो जाती है ।

तत्वों को निर्दोष सिद्धि करते हुए हित प्राप्ति एवं अहित परिहार के लिए न्यायशास्त्रों का अध्ययन आवश्यक है। इसी के लिए ही जैनाचार्यों ने न्याय ग्रन्थों की रचना की है।

इस सम्बन्ध में विचार करने पर न्यायशास्त्र की परम्परा का उद्योत करने वाले निम्नलिखित आचार्य अवश्य उल्लेखनीय प्रतीत होते है।

परम तार्किक श्री अकलंकदेव, विद्यानदि, माणिक्यनदि, प्रभाचन्द्र, धर्मभूषण, वादिराज सूरि आदि का नाम बहुत गौरव के साथ इस दिशा में लिया जा सकता है, इन आचार्यों ने अपने अगाध पाँडित्य के द्वारा जैन सिद्धात की समीचीनता का दर्शन युक्ति और आगम के अविरोधी वचन के द्वारा एव अपने तर्क कौशल्य के द्वारा कराया, यही कारण है कि आज जैनदर्शन निर्दोष रूप से और पूर्वापर अविरोध रूप से व्यवस्थित है।

अष्टसहस्री एक महान् न्यायग्रन्थ

अष्टसहस्री एक महान् तार्किक ग्रन्थ है। इसका मूलाधार देवागम स्तोत्र है। स्वामी समंतभद्राचार्य के द्वारा विरचित गंधहस्ति महाभाष्य का यह देवागम स्तोत्र मंगलाचरण कहलाता है। गंधहस्ति महाभाष्य के सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों मे 'उक्त च' कहते हुए उद्धरण मिलता है, इसलिए स्वामी समन्तभद्राचार्य के द्वारा तत्त्वार्थ सूत्र के ऊपर एक महान् भाष्य ग्रन्थ की रचना की गई है, यह स्पष्ट है, देवागम उसी का यदि मगलाचरण है तो निस्सदेह वह ग्रन्थ भी विद्यानदि के श्लोक वार्तिकालकार के समान ही महान तार्किक ग्रन्थ होगा, इसे सहज अनुमान कर सकते हैं। आचार्य श्री ने मगलाचरण की रचना में भी इतनी तर्क पूर्ण दृष्टि रखी है तो मूलग्रन्थ में न मालूम कितना रहस्य भरा होगा। जिस ग्रन्थ के मंगलाचरण पर अकलंक देव अष्टशती भाष्य की रचना कर सकते हैं और महर्षि विद्यानंदि अष्टसहस्री की रचना करते हैं तो समझना चाहिए कि वह ग्रथ सामान्य नही हो सकता है, परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि आज वह अनुपलब्ध है।

समंतभद्र की अनुपम कृति

महर्षि समतभद्र की यह अनुपम कृति है, इसे देवागम स्तोत्र इसलिए कहते है कि इसका प्रारम्भ देवागम पद से होता है, जिस प्रकार भक्तामर, कल्याणमन्दिर आदि स्तोत्र उन्हीं पदों से प्रारम्भ होने के कारण उस नाम से कहे जाते है, इसी प्रकार यह भी देवागम स्तोत्र कहलाता है। नहीं तो इसे आप्त-मीमासा के नाम से भी कहते हैं। आप्त किस प्रकार होना चाहिए ? आप्त मे किन गुणो की आवश्यकता है? इस बात की सुन्दर मीमासा इस ग्रथ मे की गई है, अत. इसका नाम "आप्तमीमासा" सार्थक है।

आप्तमीमांसा समन्तभद्र को एक अर्थगर्भित दुरूह कृति है, उस पर तर्कपूर्ण दृष्टि से अकलंक देव ने अष्टशती नामक वृत्ति लिखी है, यह ग्रन्थ आठ सौ श्लोक प्रमाण हैं, अतः इसका नाम अष्टशती पड़ गया है, अकलंक देव ने यह जो ग्रथ लिखा, वह गंभोर, तर्क पूर्ण एवं अर्थगर्भित है, अनेक स्थानों में विशद व्याख्या न होने के कारण ग्रन्थ गांभीर्य को विद्वान् भी समझने में असमर्थ रहे, इसीलिए तार्किक चूड़ामणि विद्यानदि स्वामी ने अष्टसहस्री नामक आठ हजार श्लोक परिमित ग्रन्थ की रचना कर अनेक गुंत्थियों को स्वैर शैली से सुलझाया है। कठिन से कठिन विषयों को सरल बनाकर जिज्ञासु हृदयों को आकर्षित ही नहीं, आल्हादित भी किया है। इस देवागम पर वसुनंदि सिद्धांतदेव के द्वारा विरचित देवागम वृत्ति नामक ग्रथ भी है जो कि श्लोको का अर्थमात्र सूचित करता है। इससे स्तोत्र के अर्थ को समझने मे कोई बाधा नही है, यद्यपि अकलंक या विद्यानदो के समान गम्भीर तर्क पूर्ण भाषा से ग्रन्थ की रचना नही है, तथापि अपने स्थान में उसका महत्त्व है इसमें कोई सदेह नही है।

प्रकृत ग्रंथ की महत्ता

यह विद्यानदि कृत अष्टसहस्री सचमुच में देवागम का विशेष अलकार है, अतः इसे देवागमालकार के नाम से भी कहते है अथवा अकलंकदेवकृत आप्त मीमासा को सामने रखकर यह व्याख्यान रूप अलकार किया गया है इस दृष्टि से इसे आप्तमीमांसालकार भी कह सकते हैं। इसका प्रसिद्ध नाम अष्टसहस्री है। शायद इसलिए कि यह आठ हजार श्लोक प्रमाण है। अष्टसहस्री में विद्यानंद स्वामी ने भी इस ग्रथ को अष्टसहस्री के नाम से यत्र तत्र उल्लेख किया है।

ग्रथ की शैली अनूठी है। जैनेतर तर्क ग्रथों का सूक्ष्म तलस्पर्शी ज्ञान होने के कारण उसके तर्कों को पूर्व पक्ष में रखकर ग्रथ में अकाट्य युक्तियो के द्वारा उत्तर दिया गया है। ग्रथकार ने कुमारिल भट्ट, प्रज्ञाकर, धर्मकोर्ति, आदि मीमासक, बौद्ध सिद्धातों का जिस तर्क के साथ खंडन किया है वह अजोड़ है।

कुमारिल भट्ट ने अपने मीमासा श्लोकवार्तिक मे सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करते हुए लिखा है कि—

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः॥

यदि सुगत सर्वज्ञ है तो कपिल सर्वज्ञ क्यों नही है। उसके निषेध में प्रमाण क्या है ? यदि वे दोनों सर्वज्ञ है तो उनमें मतभेद क्यो ? मतभेद होने के कारण निश्चय से दोनो सर्वज्ञ नहीं हैं यह स्पष्ट है।

अष्टसहस्री को लिखते समय वह मीमांसाश्लोकवार्तिक ग्रथकारके सामने था, इसलिए उन्होंने भावना, विधि व नियोग को वाक्यार्थ निषेध करने में उसी युक्ति का प्रयोग कर खंडन किया है।

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतो भट्टप्रभाकरौ ।
कार्येर्थे चोदना ज्ञानं स्वरुपे किन्न तत्प्रमा द्वयोश्चेद्धंत तौ नष्टौ भट्टवेदांतवादिनौ ।।

यदि भावना श्रुति वाक्य का अर्थ है तो नियोग नही है इसमें क्या प्रमाण है, यदि दोनों ही श्रुति-वाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट व प्रभाकर का सिद्धांत नष्ट होता है । इसी प्रकार नियोग श्रुतिवाक्य का अर्थ है तो विधि क्यों नही है ? इसमें प्रमाण क्या है ? यदि दोनो श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट व वेदांती दोनों का सिद्धांत खंडित हो जाता है ।

अष्टसहस्री में स्थान स्थान पर इसी प्रकार की तर्कणा शैली के द्वारा स्वमत सिद्धांत का मडन किया गया है । भाषा सौष्ठव, सरलता, युक्तियुक्त कथन, गभीर शैली, कोमल प्रहार, आदि बातों का विचार करने पर समग्र न्यायससार मे इसकी बराबरी करने वाला अन्य ग्रंथ नही है यह कहे तो अत्युक्ति नहीं होगी ।

अष्टसहस्री की तर्कणा शैली अद्वितीय है । खंडन मंडन पद्धति मनोहारिणो है । सूक्ष्मतल स्पर्शी सिद्धांत का निरूपण है । विद्वत्ससार को चकित करने वाली मीमांसा है ।

स्वय अष्टसहस्री मे ग्रंथकार ने ग्रंथ के सबंध में स्पष्ट किया है कि:—

स्फुटमकलकपदं या प्रकटयति परिचेतसामसमम् ।
दर्शितसमन्तभद्र साष्टसहस्री सदा जयतु ।।

अर्थात् अकलंक के अत्यत दुर्गम्य पदो का जो स्पष्टीकरण करती है, समतभद्र की दिशाओं को जो प्रदर्शन करती है वह अष्टसहस्री सदा जयवत रहे ।

इससे स्पष्ट है कि ग्रथ में स्थान स्थान पर समतभद्र के अभिप्रायानुसार अकलक की अष्टशती के स्पष्ट आशय को व्यक्त किया है । अष्टशती मे यह अष्टसहस्री इतनी अनुप्रविष्ट हुई है कि अष्टशती की अनेक पक्तिया अष्टसहस्री मे उपलब्ध होती है, एव उनकी विशद व्याख्या इस ग्रथ मे की गई है । इसकी शैली अत्यंत गभीर व प्रसन्न है, गभीर इसलिए की वह गूढ है, प्रसन्न इसलिए कि स्वय व दूसरो के लिए खेदजनक नही है । सभ्य, मृदु, मधुर, सतुलनात्मक शब्दो से यह ग्रंथित है । इसलिए ग्रथ मे एक स्थान पर कहा गया है कि :—

जीयादष्टसहस्री देवागमसगतार्थमकलकम् ।
गमयन्ती सन्नयतः प्रसन्नगंभीरपदपदवी ।।

देवागम स्तोत्र मे समतभद्र ने जिस स्याद्वाद का प्रतिपादन किया है, जिसे अकलक देव ने समर्थन किया है जिसमें प्रसन्न गभीर पदो का प्रयोग हुआ है ऐसी आप्तमीमासालकृति अष्टसहस्री सदा जयवत

रहे। यह आचार्य के द्वारा की गई स्वप्रशंसा नहीं है, अपितु वस्तु स्थिति का परिचायक है। देवागम की दिशा को प्रतिपादन करने वाला, इसको तुलना करने वाला अन्य ग्रथ नहीं है।

इस ग्रथ में सशय, विपर्यय, वैयधिकरण्य, व्यतिकर आदि दोषों का उद्भावन कर पूर्व पक्ष में परमत का मंडन कर खंडन किया गया है, एवं स्वमत का मडन किया गया है,। सर्वज्ञ अभाव वादियों को करारा उत्तर देते हुए निर्दोष सर्वज्ञ की सिद्धि करते हुए आचार्य ने मनोरम शैली से ग्रंथ को प्रवाहित किया है। निस्सदेह कहा जा सकता है कि अष्टसहस्री का प्रमेय अन्यत्र दुर्लभ है। सिद्धांत पक्ष का समर्थ समर्थन है। इस ग्रंथ के अध्ययन से अनेक विषयों का परिज्ञान हो जाता है। कतिपय विषयों में वह निष्णात विद्वान् बन जाता है। इस गौरव मय व्याख्यान के सबंध में स्वय ग्रंथकार ने वर्णन किया है कि—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः॥

हजार शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ है ? केवल एक अष्टसहस्री के सुनने से ही सर्व इष्टार्थ की सिद्धि हो सकती है, जिसके सुनने से स्वसमय क्या है, पर समय क्या है इसका अन्यून बोध हो जाता है। यह इस ग्रथ का विषय है।

इस ग्रंथ के कर्ता महर्षि विद्यानंदि

इस ग्रन्थ की रचना महर्षि विद्यानदि ने की है। विद्यानदि यतिपति के ऐतिह्य का पता लगाने पर ज्ञात होता है कि आप वदिक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होन पर जैनमार्ग के अकाट्य तर्क व सयुक्तिक कथन से आर्कपित होकर इस पवित्र धर्म में आये एव अपनी विद्वत्ता व तर्कणा शक्ति का सदुपयोग किया। उन्होंने अपनी विद्वत्ता के द्वारा अनेक न्याय ग्रन्थों की रचना कर जैन न्याय ससार की श्री वृद्धि की है।

उनके द्वारा विरचित ग्रथ सपत्ति का उल्लेख यहां पर करना अप्रस्तुत नही होगा।

(१) विद्यानद महोदय, (२) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, (३) अष्टसहस्री, (४) युक्त्यनुशासनालंकार, (५) आप्त परीक्षा, (६) प्रमाण परीक्षा, (७) पत्र परीक्षा, (८) सत्यशासन परीक्षा, (९) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र, इस प्रकार ९ ग्रथों की रचना का उल्लेख मिलता है, इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यों कराया जाता है।

(१) **विद्यानंद महोदय**—यह विद्यानदि आचार्य के द्वारा विरचित शायद प्रथम रचना है, क्योंकि उत्तरवर्ती ग्रन्थो में इसका प्रायः उल्लेख आता है, इतना ही नहीं, विस्तार से देखना हो तो विद्यानन्द महोदय में देखो ऐसी सूचना भी इनमें पायी जाती है। परन्तु दुर्भाग्य से आज यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। महर्षि विद्यानदि के बाद करीब पांच सौ वर्षों तक यह ग्रन्थ उपलब्ध रहा, तत्कालीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का उद्धरण दिया है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थ सूत्र पर श्लोक व वार्तिक रूप बृहद्भाष्य है। यह निश्चित कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थ सूत्र पर जो आज उपलब्ध भाष्य है, उनमें सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण है। तत्त्वार्थ सूत्र ही एक ऐसा ग्रन्थ रत्न है जिस पर पूज्यपाद, अकलंक, भास्करनंदी, श्रुत-सागर आदि अनेक विद्वानो ने भाष्य की रचना की है। कुमारिल भट्ट के मीमासा श्लोकवार्तिक का यह बेजोड़ जवाब है, यह विद्यानंदि यतिपति की अद्वितीय रचना व न्यायशास्त्र की शोभा को बढ़ाने वाली है।

अष्टसहस्री—प्रकृत ग्रन्थ है। यह समतभद्र के देवागम स्तोत्र पर अकलंक देव के द्वारा विरचित आप्त मीमांसा पर टीकालकृत भाष्य है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने अकलक ग्रन्थ की दुरूह गुत्थियों को अच्छी तरह लीलामात्र से सुलझाया है। पाठको को इसके अध्ययन से सहज ज्ञात हो जावेगा।

युक्त्यनुशासनालंकार—आचार्य समतभद्र के द्वारा विरचित तर्कपूर्ण स्तोत्र ग्रन्थ की यह टीका ग्रन्थ है। महर्षि विद्यानदि ने अपनी ही शैली मे इसमें युक्ति प्रयुक्तियो मे भगवत् की उपासना की है।

आप्त परीक्षा—इस ग्रन्थ में महर्षि विद्यानन्द ने—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये॥

इस श्लोक को आधार बनाकर अत्यन्त सरल व सुबोध शैली से आप्त की परीक्षा की है। वस्तुतः अर्हंत ही निर्दोष सर्वज्ञ आप्त हो सकते है इस बात की सुन्दर सिद्धि आचाय देव ने इस ग्रन्थ में की है। इसके साथ स्वोपज्ञ टीका होने से ग्रन्थ के हृद्य को समझने मे बडी सहूलियत हो गई है।

प्रमाण परीक्षा—इस ग्रन्थ मे इतर दर्शनो के द्वारा प्रतिपादित प्रमाणो के सम्बन्ध मे विवेचन करते हुए जैनमत सम्मत प्रमाण के स्वरूप मे विशद विवेचन किया गया है। प्रमाणपरीक्षा नाम सार्थक है।

पत्र परीक्षा—यह विद्यानंदि के द्वारा विरचित गद्य पद्यमय रचना है, इसमें साध्य के लिए उप-युक्त अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए स्वमत की स्थापना एव परमत का निराकरण किया गया है। शायद विद्यानंदि को जैनधर्म की निर्दोषता को व्यक्त करने की अत्यन्त आसक्ति ही उत्पन्न हो गई थी।

सत्यशासन परीक्षा—यह ग्रन्थ अपूर्ण उपलब्ध होता है, प्रकाशित भी है, इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ इतर शासनों की परीक्षा करने का संकल्प आचार्य ने व्यक्त किया है, परन्तु ९ की ही मीमासा की गई है, शायद आचार्य की यह अंतिम कृति है, बीच में ही आयु का अंत हो गया हो, इसे पूर्ण न सके हों, अनेकांत शासन की परीक्षा का प्रकरण इस ग्रन्थ में अनुपलब्ध है, शायद इस प्रकरण को तार्किक विद्यानंदि की लेखनी से हम अत्यधिक सम्पन्न स्थिति मे देख सकते थे परंतु दुर्भाग्य है।

श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र—यह श्रीपुर 'सिरपुरअतरिक्ष' पार्श्वनाथ का नामांतर है। अथवा उसी का अपभ्रंश होकर सिरपुर हो गया है। इस सातिशय पार्श्वनाथ जिनबिंब की तर्कपूर्ण शैली से इस स्तोत्र में स्तुति की गई है, यद्यपि यह स्तोत्र अत्यन्त लघुकाय है तथापि अर्थगर्भित है, महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार अनेक ग्रन्थों की रचना कर विद्यानद स्वामी ने अपनी सम्यक्त्व निष्ठा को व्यक्त किया है। वे जिनमत के निस्सीम व सुदृढ़ उपासक थे, इस विषय का अनुभव उनकी पक्तियो के अध्ययन में निश्चित रूप से हो जाता है।

स्व० न्यायाचार्य प० माणिकचद जी तर्क रत्न कहते थे कि बनारस विद्यालय के न्यायाध्यापक न्याय विषय के प्रकांड विद्वान् प० अबादास जी, विद्यानंदि की तर्कणा शैली से अत्यन्त प्रभावित थे, ईश्वर सृष्टिकर्तृत्व के विरोध में उन्होंने अपने ग्रन्थो में जो युक्तियो का प्रयोग किया है वह अन्यत्र देखने में नही आते, शायद विद्यानद जी ईश्वर के पीछे डडे लेकर ही चल पडे थे, जिसमे उनके अनेक ग्रथो में इस विषय का अकाट्य सिद्धात देखने को मिलता है।

स्व० न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमार जी जो हमारे सहपाठी थे, उन्होने अपने एक निबन्ध मे निवद्ध किया था कि—'तर्क ग्रन्थ के अभ्यासी विद्यानद के अतुल पाण्डित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराई के साथ किये जाने वाले पदार्थो के स्पष्टीकरण एव प्रसन्न भाषा (मृदुमधुर गंभीर) मे गूथे गये युक्ति जाल से परिचित होगे। उनके प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा, आप्त परीक्षा आदि प्रबध अपने-अपने विषय के बेजोड़ निबध है, ये ही निबध एव विद्यानद के द्वारा विरचित अन्य ग्रथ आगे बने हुए समस्त दि० श्वे० न्याय ग्रन्थ के आधारभूत है, इनके विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दि० श्वे० न्याय ग्रन्थो पर अमिट छाप लगाये हुये है। यदि जैन न्याय के कोषागार से विद्यानदि के ग्रन्थो को अलग कर दिया जाय तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायगा।'

स्व० प० महेन्द्रकुमार जी का कथन सचमुच में विद्यानंद के ग्रन्थो पर सक्षेप मे अपितु वस्तु का दर्शक है, आचार्य विद्यानदि उसी कोटि के विद्वान् थे।

श्वेताबर सप्रदाय के माने हुये विद्वान् प्रज्ञाचक्षु प्रज्ञाविवेकी प० सुखलाल जी ने एक स्थान पर लिखा है कि "तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक मे (विद्यानद विरचित) जितना जैसा सबल मीमांसक दर्शन का खंडन है, वैसा तत्त्वार्थ सूत्र की दूसरी किसी की टीका मे नही, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सर्वार्थ सिद्धि और राजवार्तिक मे चर्चित हुए कोई विषय छूटे नही, बल्कि बहुत से स्थानो पर सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ़ जाती है, कितनी ही बातो की चर्चा तो श्लोकवार्तिक में अपूर्व ही है। राजवार्तिक में दार्शनिक अभ्यास की विशालता है तो श्लोकवार्तिक में इस विशालता के साथ सूक्ष्मता का तत्त्व भरा हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है, समग्र जैन वाङ्मय मे जो थोड़ी बहुत कृतियां

महत्त्व रखती है उनमें की दो कृतिया राजवार्तिक व श्लोकवार्तिक भी है। [1]तत्त्वार्थ सूत्र पर उपलब्ध **श्वेतांबर साहित्य में से एक भी ग्रन्थ राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक की तुलना कर सके ऐसा दिखाई नहीं देता।"**

प० सुखलाल जी का यह कथन सचमुच मे अर्थ पूर्ण है। एव विद्यानंद के अद्भुत विद्वत्ता को सूचित करने के लिए पर्याप्त है।

उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओं पर प्रभाव

यह असामान्य प्रभाव उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओ पर भी निश्चित रूप से पड़ा है, अनेकों ने विद्यानद की शैली को अपनाया है तो अनेको ने विद्यानन्द के वचनो का उद्धरण किया है, अनेको ने विद्यानद के निर्मल आचार एव वाग्वैखर्य की प्रशसा की है।

श्रीमद् विद्यानन्द के ग्रन्थों का परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि वे केवल न्यायशास्त्र के ही प्रकाड पडित नही थे अपितु व्याकरण, साहित्य, छद, व सिद्धात के भी निष्णात विद्वान् थे, इसलिये उन्होने अपनी विद्वत्ता द्वारा उनका समावेश अपने ग्रन्थो मे किया है, अतः उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो ने उनके उद्धरण को महत्त्व दिया हो तो आश्चर्य की बात नही है।

उत्तरवर्ती ग्रन्थकार माणिक्यनदि, वादिराजसूरि, प्रभाचद्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि, हेमचंद्र, लघु समतभद्र, धर्मभूषण, यशोविजय आदि विद्वानो ने अपने ग्रन्थो मे विद्यानन्द के ग्रन्थों से मार्गदर्शन प्राप्त किया है। इतना ही नही, कही-कही विद्यानन्द के उद्धरणों को भी स्थान दिया है। अनेक उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो ने विद्यानद के विद्या वैभव की प्रशसा करते हुए अपने ग्रन्थ श्री की शोभा बढ़ाई है।

न्यायविनिश्चय में ग्रथकार ने निम्न श्लोक के द्वारा विद्यानन्द भी प्रशसा की है।

> **देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत्**
> **तात्पर्यत क इह बोद्धुमतीवदक्ष।**
> **विद्वान् न चेत् सद्गुणचद्रमुनिर्न विद्या-**
> **नदोऽनवद्यचरण. सदनंत वीर्य ॥**

[न्यायविनिश्चय]

भगवान् अकलंक देव के गभीर वचनो की गुत्थियों को अगर निर्दोष चारित्र को धारण करने वाले विद्यानद न होते तो कौन समझने मे समर्थ होता ? सचमुच मे यह विद्यानंद का ही प्रसाद है, उन्होंने अष्टसहस्री ग्रन्थ मे उसका रहस्योद्घाटन किया है।

---

१ प० सुखलाल जी ने तत्त्वार्थ सूत्र की प्रस्तावना मे यह निर्देश किया है। इसलिए विद्यानद की इसी विषय की कृति का इसमें विवेचन है।

वादिराज सूरि ने पार्श्वनाथ चरित में श्री विद्यानंद की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि :

ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानंदस्य विस्मयः
शृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरंगेषु रंगति ।। [अ० १ श्लोक-२८.]

विद्यानंद के सरल, सतेज, दार्शनिक विचारों को सुनने में भी बहुत बडा आनद आता है, वह भी अपने शरीर में अलकार के रूप में परिवर्तित होता है तो उसके अध्ययन व अनुभव में न मालूम कितना आनद होता होगा ।

इस प्रकार उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारों ने विद्यानंद का उल्लेख अपने ग्रथों में गौरवपूर्वक किया है ।

प्रमाण परीक्षा के प्रारभ में मगलाचरण के रूप श्री जिनेश्वर की वदना करते हुए अपने नाम का दिग्दर्शन कराते हुए विद्यानंद स्वामी ने जिनेश्वर का विशेषण उस विद्यानद पद को किया है ।

जयंति निर्जिताशेषसर्वथैकांतनीतयः ।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानंदा जिनेश्वराः ।।

[प्रमाणपरीक्षा मंगलाचरण]

इन उद्धरणों से विद्यानंद की महत्ता सहज समझ में आ सकती है । पत्र परीक्षा के अंत में विद्यानद की प्रशसा मे निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है ।

जीयान्निरस्तनिश्शेषसर्वथैकांतशासनम्
सदा श्रीवर्धमानस्य विद्यानदस्य शासनम् ।।

इसमे विद्यानन्द ने अपने नाम का उल्लेख करत हुए भी भगवान् महावीर के लिए विद्यानंद विशेषण का प्रयोग किया है ।

आप्त परीक्षा की प्रशस्ति मे स्वय विद्यानन्द ने लिखा कि :—

स जयतु विद्यानंदो रत्नत्रयभूरिभूषणस्सततम्
तत्त्वार्थार्णवतरणे सदुपायः प्रकटितो येन ।।

रत्नत्रय के द्वारा विभूषित समर्थ विद्यानद सदा जयवत रहे जिन्होंने तत्त्वार्थ समुद्र को तैरने का सरल उपाय प्रकट किया है । ऐसे विद्यानद के द्वारा प्रकृत अष्टसहस्री की रचना की गई है ।

आचार्य विद्यानदिकी कृतियों से स्पष्ट है कि वे एक प्रतिभा सपन्न तार्किक थे, उन्होंने उसी दृष्टि से अनेक गन्थ रत्नों की रचना की है ।

आचार्य विद्यानदिका काल

ऐसे आचार्य पुगव का समय कौन सा था इस सबध मे तार्किक जिज्ञासुओं को जानने की इच्छा होना साहजिक है । परतु आचार्य ने अपने किसी भी ग्रन्थ मे अपने समय का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया

है। अतः उनके ग्रन्थों से हम समय निर्धारण नहीं कर सकते हैं, तथापि अन्य अनेक अनुमानों से उनके समय का निर्धारण हो सकता है, इस दृष्टि से अनेक ऐतिहासिक विद्वानों के द्वारा उनके समय का अनुमान किया गया है। विद्वानों ने उन्हे करीब आठवी शताब्दी के पूर्वार्ध में होने का निर्णय किया है, न्याया-चार्य प० दरबारीलाल जी कोठिया ने आप्त परीक्षा की प्रस्तावना लिखते हुए आप्त परीक्षा के कर्ता महर्षि विद्यानन्दि के समय का भी उल्लेख किया है, समय निर्धारण में उन्होंने निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये हैं। वह इस प्रसग मे उपयुक्त होंगे।

(१) न्यायसूत्र पर लिखे गये वात्स्यायन के न्यायभाष्य और न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य पर रचेगये उद्योतकर के न्यायवार्तिक, इस तीनों का तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक आदि में सविस्तृत समालोचना की है, उद्योतकर का समय ई. सन् ६०० माना जाता है।

(२) तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक और अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों मे विद्यानद ने प्रसिद्ध शद्धाद्वैतवादी भर्तृहरिका नाम लेकर एव अनुल्लेख से भी उनके वाक्य प्रदीप ग्रन्थ की कारिकाओं को उद्घृत कर खडन किया है, भर्तृहरिका समय करीब ६०० से ६५० तक सुनिर्णीत है।

(३) जैमिनि, शवर, कुमारिल भट्ट और प्रभाकर इन मीमासक विद्वानो के सिद्धान्तों का विद्यानद ने अपने ग्रन्थो मे निरसन किया है कुमारिल भट्ट प्रभाकर का समय ई. सन् ६२५ से ६८० तक सुनिर्णीत है।

(४) कणाद के वेशेषिक सूत्र पर लिखे गये प्रशस्तपाद के प्रशस्तपादभाष्य एव उस पर रची गई व्योम शिवाचार्य की व्योमवती टीका की आचार्य विद्यानद ने आप्त परीक्षा मे आलोचना की है। व्योमशिवाचार्य का समय ७ वी सदी का उत्तरार्ध माना जाता है। (अर्थात् विद्यानंद सातवी शती के उत्तरकालीन सिद्ध होते है)।

(५) धर्मकीर्ति और उनके अनुगामी प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तर का अष्टसहस्री मे एव प्रमाण परीक्षा मे विद्यानद ने खडन किया है। प्रज्ञाकर व धर्मोत्तर का आठवी सदी का प्रारंभिक काल माना जाता है।

(६) अष्टसहस्री मे मडनमिश्र का खडन किया गया है। श्लोक वार्तिक मे भी मडनमिश्र के सिद्धान्तों का खडन किया गया है, मडन मिश्र का भी समय आठवी सदी का प्रारभ माना जाता है। इसी प्रकार शकराचार्य के प्रधान शिष्य सुरेश्वर मिश्र के ग्रन्थों का उल्लेख कर आचार्य विद्यानद ने खडन किया है, सुरेश्वर मिश्र का समय भी आठवी सदी का प्रारभ माना जाता है। इसके उत्तरवर्तिग्रथ-कारो के उद्धरण आचार्य विद्यानदि के ग्रन्था में पाये नही जाते है। इसलिए उनका समय आठवी शताब्दी के पूर्वार्धका जो विद्वानो ने निर्णय किया है वही समुचित होता है। उनके उत्तरवर्ति ग्रन्थकारो में किसी किसी ने उनकी स्तुति की है। इससे भी वे उनसे पूर्ववर्ती हुए है। यह सुनिश्चित विषय है।

वादिराज सूरि ने अपने न्याय विनिश्चय विवरण व पार्श्वनाथ चरित में विद्यानंद का स्मरण किया है। न्यायविनिश्चय विवरणकार १०२५ सन् में हुए हैं।

प्रशस्त पाद भाष्य पर चार टीकायें लिखी गई हैं उनमें सिर्फ व्योमवती टीका का विद्यानंद ने निरसन किया है, अन्य तीन टोकाओं का निरसन नहो किया, इससे ज्ञात होता है कि विद्यानद के समय वे तीन टीकायें नहीं थीं, न्याय कंदली के टीकाकार श्रीधर का समय १० वीं सदी का माना जाता है, उदयन का भी समय प्रायः वही है, इससे विद्यानद, उदयन व श्रीधर से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

अष्टसहस्री की अंतिम प्रशस्ति में विद्यानंद ने दो पद्य दिये हैं। उनमें दूसरा पद्य इस प्रकार है।

कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्
शश्वदभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था ॥

इससे स्पष्ट होता है कि अकलंक की अष्टशती पर कुमारसेन की कोई टिप्पणी होगी, वह विद्यानद के समय अवश्य रही होगी, उसको स्पष्टीकरण करने के लिए ही यह अष्टसहस्री की रचना की गई है। कुमारसेन का समय निश्चित ७८३ से पहिले है। क्योंकि हरिवशकार जिनसेन ने अपने ग्रथ में कुमारसेनका स्मरण किया है, इसलिए कुमारसेन जिनसेन के भी पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। इसलिए आचार्य विद्यानंद किसी भी तरह ७ वी सदी के अतिम भाग में नही हो सकते हैं, अगर वे होंगे भी तो उनका वह प्रातः काल हो सकता है, ग्रथ निर्मित का काल नहीं माना जा सकता है। यह सुनिश्चित है।

आचार्य विद्यानंद ने अपने श्लोक वार्तिक के अत में श्लेष रूप मे शिवमार राजा का उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि उनके समय में शिवमार शासक था गगवंशी श्रीपुरूष नरेश का उत्तराधिकारी शिवमार (द्वितीय) था। जिसका समय आठवी शती का प्रारभ माना जाता है। यह जैन धर्म का अनन्य भक्त था, इसने श्रवण बेलगोला के चंद्रगिरि पर एक जिन मदिर बनवाया था जिसका नाम 'शिवमारनबसदि' है, कन्नड में बसदिका अर्थ मदिर है। इस बसदि के पास ही चट्टान पर शिवमारन बसदि यह लेख भी अंकित है। इसका समय करीब ८१० सन् का माना जाता है। उसके बाद इसका भतीजा सत्य वाक्य राजपट्ट पर आया, उसका भी उल्लेख आचार्य विद्यानंद ने किया है, वह करीब ८१६ के आसपास पट्टाधिकारी हुआ था, तदनतर वर्षों उसका कार्य काल रहा होगा, आचार्य विद्यानदि ने भी उसके राजाश्रय को पाकर अपने ग्रथो का निर्माण निरातंक के रूप में किया, सत्य वाक्य को धारण करने वाले कई राजा हुए हैं, सत्य शासन परोक्षा नामक ग्रंथ की रचना भी इसी सत्यवाक्य शासक के काल में ही रची गई है।

इन सब प्रमाणों से हम निष्कर्ष पर पहुंचते है कि आचार्य विद्यानंद के ग्रंथ निर्माण का समय सन् ८०० से ८४० तक रहा होगा। उसी काल में उन्होंने अपने ग्रंथों का निर्माण किया है। अष्टसहस्री

व तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार उनकी प्रौढ़ रचनायें हैं, आयु के उत्तर काल में इनकी उन्होंने रचना की होगी, सत्यशासनपरीक्षा विद्यानद को अंतिम रचना प्रतीत होती है ।

अष्टसहस्री की कष्टमय हिंदी टीका

न्याय ग्रंथों की हिन्दी या भाषा टीका करना सरल काम नही है । सिद्धान्त और काव्यों का भावांतर सरल व सरस हो जाता है, परन्तु न्याय शास्त्र की पारिभाषिक शैली का भाषानुवाद शुष्क हो नहीं दुरधिगम्य भी हो जाता है । तथापि पूज्य विदुषी आर्यिका ज्ञानमती माताजो ने इसकी टीका न्याय लोक में उपस्थित कर सचमुच में एक लोकोत्तर कार्य किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

पूज्य आर्यिका श्री ज्ञानमती जी साध्वीमणि हैं

बालब्रह्मचारिणी आर्यिका ज्ञानमती जी का क्षयोपशम अलौकिक है, आपने बाल्य काल से ही विरक्ति को पाकर आचार्य देशभूषणजी महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की तदनंतर परम पूज्य स्व० आचार्य वीर सागर महाराज से आर्यिका दीक्षा ग्रहण की, सघ में निरंतर अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग क्रमबद्ध रूप से शब्द, अलकार, व्याकरण, न्याय सिद्धान्तों का अध्ययन जारी रहा, केवल पठन की दृष्टि ही नही, ग्रन्थों के अन्तस्तल में पहुंचकर उनके सूक्ष्म मर्मको समझने के नैपुण्य को उन्होंने प्राप्त किया, विद्यालयों में दसो वर्ष रहकर क्रम बद्ध शास्त्रीय कक्षा तक अध्ययन करने वाले छात्रों में वह योग्यता प्राप्त नही होती है, जो योग्यता ग्रन्थ का सूक्ष्मतल स्पर्शी ज्ञान आर्यिका ज्ञानमतीजी को प्राप्त हो गई है । इससे यह श्रद्धा दृढीभूत होनी है कि सम्यग्दर्शन के साथ सिर्फ ज्ञान ही पर्याप्त नही है, चारित्र पूर्वक जो ज्ञान है उसमें विशिष्ट क्षयोपशम की प्राप्ति होती है, तप की प्रखरता से ज्ञान भी निखर उठता है । इस बात के लिए आर्यिका ज्ञानमनी माना जो ही निदर्शन है । बहुत दूर जाने की आवश्यकता नही है, जिस अष्टसहस्री को कष्टसहस्री समझकर विद्यार्थी पठन से विद्वान् पाठनमे उपेक्षा करते है उस अष्टसहस्री का बिना किसी की सहायता के स्वय अध्ययन कर अर्थ करना, भाषांतर लिखना, सुबोध अनुवाद का निर्माण करना, यह उनके तप:पूत प्रज्ञातिशय का ही कार्य है, यह सर्व साधारण को साध्य नहीं है । आचार्य शातिसागर जी की परम्परा में प्राप्त ऐसी साध्वीरत्नों से जैन समाज के साधु समुदाय का मुख उज्वल है, मस्तक ऊंचा है, यह लिखने में हमें जरा भी सकोच नही होता है ।

टिकैतनगर (उ. प्र) सदृश छोटे से कस्बे में जन्म होने पर सर्व भारत के कोने-कोने में विहार तत्तत्प्रान्तीय भाषाओं का प्रगाढ परिचय, साधु सन्तों के प्रतिनितात भक्ति, विद्वानों के प्रति वात्सल्य मय स्नेह, गुणिजनों के प्रति धर्म स्नेहयुक्त समादर यह माताजी की विशेषता है ।

कन्नड, मराठी, हिंदी, संस्कृत व प्राकृत ग्रन्थों में सूक्ष्मतम प्रवेश ही नहीं, अपितु उन भाषाओं में काव्यरचना की योग्यता भी माताजी में है अनेक काव्यमय ग्रन्थ उनकी ज्ञान गंगा से प्रवाहित हुए हैं एव

जनादर को पा चुके हैं । विपुल प्रमाण में ज्ञानदान करने के कारण उनका नाम सचमुच में सार्थक है ।

चातुर्मास में प्रायः निन्तर अध्ययन अध्यापनादि के कारण स्वपर कल्याण के महान् कार्य मे वे संलग्न होती हैं, उनका चातुर्मास प्रायः सर्वत्र हुआ है, कर्नाटक, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, राजस्थान एव उत्तर प्रदेश के भव्य वर्गों के हृदय में उन्होंने अपनी अमिट छाप छोडदी है । वे सपने में जागृत अवस्था में उनका स्मरण करते रहते है । उनकी कृपा से कभी उऋण नही हो सकेगे ।

पूज्य माताजी जिस प्रकार ज्ञान की धनी है, उसी प्रकार वे प्रवचन मे भी पटु हैं, ज्ञानाराधना और चीज हैं, गणधर बनकर द्वादशांग वाणीका विस्तार-विवेचन करना और बात है, सबको यह सिद्धि प्राप्त नहीं होती है । पूज्य विदुषी आर्यिका ज्ञानमती मे यह विशेषता है कि वे अपने हस्तगत ज्ञान को दूसरों के सामने करतलामलकवत् सुस्पष्ट रूप से रख सकती है । कठिन से कठिन विषयों को सरल बनाकर लोक के सामने रखने में आप सिद्ध हस्त है ।

भारत की राजधानी देहली मे उन्होने भगवान महावीर निर्वाण रजत शती वर्ष में जो त्रिलोक शोध संस्थान सदृश आवश्यक व अनिवार्य कार्य का जो नेतृत्व किया है वह अभिनंदनीय है । उस त्रिलोक शोध-संस्थान भवन का यह महान् कार्य कलश के रूप में सिद्ध होगा, माताजी का कार्य अनुपम है । दुरूह है दुःसाध्य है, सर्वजनोपयोगी है । केवल उनके प्रति अनन्य भक्ति होने से ही दो शब्दपुष्प उन्हे समर्पित किये है ।

कल्याण भवन
शोलापुर (महाराष्ट्र)
१ जून १९७४

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

प्राक्-कथन

आ० विद्यानन्द और उनके ग्रन्थ-वाक्यो का अपने ग्रन्थों में उद्धरणादिरूप से उल्लेख करने वाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो के समुल्लेखो तथा विद्यानन्द की स्वयं की रचनाओं पर से जो उनका सक्षिप्त किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक परिचय उपलब्ध होता है उस पर से विदित है[1] कि विद्यानन्द वर्तमान मैसूर राज्य के पूर्ववर्ती गंगराजाओं—शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) और उसके उत्तराधिकारी राजमल्ल सत्य-वाक्य प्रथम (ई० ८१६) के समकालीन विद्वान् है। इनका कार्यक्षेत्र मुख्यतया इन्ही गंगराजाओं का राज्य मैसूर प्रान्त का वह बहु भाग था, जिसे 'गंगवाडि' प्रदेश कहा जाता था। यह राज्य लगभग ईसवी चौथी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक रहा और आठवी शती में श्री पुरुष (शिवमार द्वितीय के पूर्वाधिकारी) के राज्यकाल में वह चरम उन्नति को प्राप्त था। शिलालेखों तथा दानपत्रों से ज्ञात होता है कि इस राज्य के साथ जैनधर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैनाचार्य सिहनन्दि ने इसकी स्थापना में भारी सहायता की थी और आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि इस राज्य के गंग नरेश दुर्विनीत (लगभग ई० ५००) के राजगुरु थे। अत. आश्चर्य नही कि ऐसे जिनशासन और जैनाचार्य भक्त राज्य में विद्यानन्द ने बहुवास किया हो और वहां अपने बहुत समय साध्य विशाल तार्किक ग्रन्थो का प्रणयन किया हो। कार्य-क्षेत्र की तरह संभवत: यही प्रदेश उनकी जन्मभूमि भी रहा ज्ञात होता है, क्योंकि अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में उल्लिखित इस प्रदेश के राजाओं की उन्होने पर्याप्त प्रशसा एव यशोगान किया है।[2] इन्ही तथा दूसरे प्रमाणों से विद्यानन्द का समय इन्ही राजाओ का काल स्पष्ट ज्ञात होता है। अर्थात् विद्यानन्द ई० ७७० से ८४६ के विद्वान् निश्चित होते है।[3]

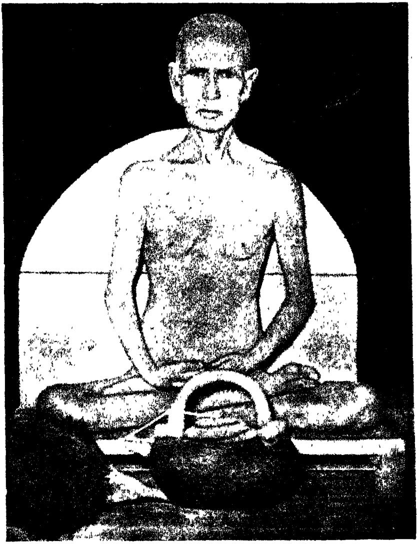
विद्यानन्द के विशाल पाण्डित्य, सूक्ष्म प्रज्ञा, विलक्षण प्रतिभा, गम्भीर विचारणा, अद्भुत अध्ययनशीलता, अपूर्व तर्कणा आदि के सुन्दर और आश्चर्यजनक उदाहरण उनकी रचनाओं में पद-पद पर मिलते हैं। उनके ग्रन्थो मे प्रचुर व्याकरण के सिद्धि प्रयोग, अनूठी पद्यात्मक काव्य रचना, तर्कागम वादचर्चा, प्रमाणपूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन और हृदयस्पर्शि जिन शासन भक्ति उन्हें नि:सन्देह उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठतम कवि, अद्वितीय वादी, महान् सैद्धान्ती और सच्चा जिनशासनभक्त सिद्ध करने मे पुष्कल समर्थ है। वस्तुत: विद्यानन्द जैसा सर्वतोमुखो प्रतिभावान् तार्किक उनके बाद भारतीय वाङ्मय

१. देखिए, लेखक द्वारा सम्पादित 'आप्त-परीक्षा' की प्रस्तावना।

२. वही, प्रस्तावना पृ० ५३ तथा ५४।

३. „ „ „

परम पूज्य १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज



जन्म—	क्षुल्लक दीक्षा—	मुनि दीक्षा—
अड़गाव	आचार्य प्रवर श्री वीरसागरजी महाराज से	
(औरगाबाद महा०) वि० स० १९५८	फाल्गुन शुक्ला ५ वि स. २००० सिद्ध क्षेत्र-सिद्धवरकूट (म० प्र०)	वि स २००६ आषाढ शु. ११ नागौर (राज०)

आचार्यपट्ट—कार्तिक शु० ११ वि० स० २०१४- खानिया, जयपुर (राज०)

स्वर्गवास—फाल्गुन कृष्णा ३० वि० स० २०२५ -श्री महावीरजी

में कम-से-कम जैन परम्परा में तो दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि उनकी प्रतिभापूर्ण कृतियां उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र, लघु समन्तभद्र, अभिनव धर्मभूषण, उपाध्याय यशोविजय आदि जैन तार्किकों के लिए पथप्रदर्शक एवं अनुकरणीय सिद्ध हुई है। माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख जहा अकलङ्क देव के वाङ्मय का उपजीव्य है, वहां वह विद्यानन्द की प्रमाणपरीक्षा आदि तार्किक रचनाओं का भी आभारी है। उस पर उनका उल्लेखनीय प्रभाव है।[1] वादिराज सूरि[2] (ई० १०२५) ने लिखा है कि यदि विद्यानन्द अकलङ्क देव के वाङ्मय का रहस्योद्घाटन न करते तो उसे कौन समझ सकता था। विदित है कि विद्यानन्द ने अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा द्वारा अकलङ्क देव की अत्यन्त जटिल एव दुरूह रचना अष्टशती के तात्पर्य को 'अष्टसहस्री' व्याख्या में उद्घाटित किया है। पार्श्वनाथ चरित में भी वादिराजने विद्यानन्द के तत्वार्थालङ्कार (तत्वार्थश्लोकवार्तिक) तथा देवागमालङ्कार (अष्टसहस्री) की प्रशंसा करते हुए यहा तक लिखा है—'आश्चर्य है कि विद्यानन्द के इन दीप्तिमान् अलङ्कारो की चर्चा करने-कराने और सुनने-सुनाने वालों के भी अङ्गों में कान्ति आ जाती है तब फिर उन्हे धारण करने वालों की तो बात ही क्या है।' प्रभाचन्द्र, अभयदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र और धर्मभूषण की कृतियाँ भी विद्यानन्द के तार्किक ग्रन्थों की उपजीव्य हैं। उन्होने इनके ग्रन्थों से स्थल के स्थल उद्धृत किए और अपने अभिधेय को उन से पुष्ट किया है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री को जिसके विषय में उन्होंने स्वय लिखा है कि "हजार शास्त्रों को सुनने की अपेक्षा अकेली इस अष्टसहस्री को सुन लीजिए, उसी से ही समस्त सिद्धान्तो का ज्ञान हो जायेगा,' पाकर यशोविजय भी इतने विभोर एवं मुग्ध हुए कि उन्होने उस पर 'अष्टसहस्री तात्पर्य विवरण' नाम की नव्य न्यायशैली प्रपूर्ण विस्तृत व्याख्या लिखी है। इस तरह हम देखते हैं कि आ० विद्यानन्द एक उच्चकोटि के प्रभावशाली दार्शनिक एवं तार्किक थे तथा उनकी अनूठी दार्शनिक कृतियां भारतीय विशेषतः जैनवाङ्मयाकाशकी दीप्तिमान् नक्षत्र हैं।

जैन दर्शन को उनकी अपूर्व देन—

विद्यानन्द ने जैन दर्शन को दो तरह से समृद्ध किया है। एक तो अपनी कृतियो के निर्माण से और दूसरे उनमे कई विषयो पर किए गए नये चिन्तन से। हम यहा उनके इन दोनो प्रकारों पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

(क) कृतियां

जैन दर्शन के लिए विद्यानन्द की जो सबसे बड़ी देन है, वह है उनकी नौ महत्वपूर्ण रचनाएं। वे ये हैं—

---

१. प्रमाण परीक्षा और परीक्षा मुख की तुलना देखे—आ० प० प्रस्तावना पृ० २८–२९।

२. न्यायविनिश्चयविवरण भाग २, पृ० १३१।

(१) विद्यानन्द महोदय, (२) तत्वार्थ श्लोकवार्तिक, (३) अष्टसहस्री, (४) युक्त्यनुशासनालङ्कार, (५) आप्तपरीक्षा, (६) प्रमाण परीक्षा, (७) पत्र-परीक्षा, (८) सत्यशासन परीक्षा और (९) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र। इनमें तत्वार्थ श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री और युक्त्यनुशासनलङ्कार ये तीन व्याख्य-ग्रन्थ हैं और शेष उनके मौलिक ग्रन्थ हैं।

(१) **भावना-विधि-नियोग**—इसमे सन्देह नही कि आ० विद्यानन्द का दर्शनान्तरीय अभ्यास अपूर्व था। वैशेषिक, न्याय, मीसांसा चार्वाक, साख्य और बौद्ध दर्शनों के वे निष्णात विद्वान् थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में इन दर्शनों के जो विशद पूर्व-पक्ष प्रस्तुत किए है, और उनकी जैसी मार्मिक समीक्षा की है, उससे स्पष्टतया विद्यानन्द का समग्र दर्शनो का अत्यन्त सूक्ष्म और गहरा अध्ययन जाना जाता है। किन्तु मीमासा दर्शन की भावना-नियोग और वेदान्त दर्शन की विधि सम्बन्धी दुरूह चर्चा को जब हम उन्हे अपने तत्वार्थ श्लोकवार्त्तिक और अष्टसहस्री में विस्तार के साथ करते हुए देखते है, तो उनकी अगाध विद्वत्ता, असाधारण प्रतिभा और सूक्ष्म प्रज्ञा पर आश्चर्य चकित हो जाते है। उनका मीमांसा और वेदान्त दर्शनों का कितना गहरा और तलस्पर्शी पाडित्य था, यह सहज ही उनका पाठक जान जाता है। जहा तक हम जानते हैं, जैन वाङ्मय मे यह भावना-नियोग-विधि की दुरवगाह चर्चा सर्वप्रथम तीक्ष्णबुद्धि विद्यानन्द द्वारा ही की गई है और इसलिए जैन दर्शन को यह उनकी अपूर्वदेन है। मीमासा दर्शन की जैसी और जितनी सबल मीमासा तत्वार्थश्लोकवार्त्तिक मे है वैसी और उतनी जैन वाङ्मय की अन्य कृतियो में नही है।

(२) **सह-क्रमानेकान्त की परिकल्पना**—आचार्यमूर्धन्य गृद्धपिच्छ ने द्रव्य का लक्षण गुण और पर्याय-युक्त प्रतिपादित किया है, यद्यपि यही लक्षण आचार्य कुन्दकुन्द भी प्रकट कर चुके है। इस पर शङ्का की गई कि 'गुण' सज्ञा तो इतर दार्शनिको (वैशेषिको) की है, जैनो की नही। उनके यहा तो द्रव्य और पर्याय रूप ही वस्तु वर्णित है और इसी से उनके ग्राहक द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन दो ही नयो का उपदेश है। यदि गुण भी उनके यहा मान्य हो तो उसको ग्रहण करने के लिए एक और तीसरे गुणार्थिक नय की भी व्यवस्था होना चाहिये? इस शङ्का का समाधान सिद्धसेन, अकलङ्क और विद्यानन्द तीनों तार्किको ने किया है। सिद्धसेन ने[1] बतलाया कि 'गुण' पर्याय से भिन्न नही—पर्याय में ही गुण सज्ञा जैनागम मे स्वीकृत है और इसलिए गुण तथा पर्याय एकार्थक होने से पर्यायार्थिक नय द्वारा ही गुण का ग्रहण होने से गुणार्थिक नय पृथक् उपदिष्ट नहीहै। अकलङ्क[2] कहते है कि द्रव्य का स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है तथा सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये सब उसके पर्याय शब्द है। तथा विशेष, भेद, पर्याय ये तीनों विशेष के पर्यायवाची है। अतः सामान्य को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक और विशेष को विषय

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भावः॥ अष्टस. पृ० १५७।

१. देखिए सन्मतिसूत्र ३-६, १०, १२।

२. देखिए, तत्वार्थवार्तिक ५-३७।

करने वाला पर्यायार्थिक नय है। अतएव गुण का ग्राहक द्रव्यार्थिक नय ही है, उससे जुदा गुणार्थिक नय प्रतिपादित नहीं हुआ। अथवा गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं है—पर्याय का ही नाम गुण है।

सिद्धसेन और अकलङ्क के इन समाधानों के बाद भी शङ्का उठायी गयी कि यदि गुण, द्रव्य या पर्याय से अतिरिक्त नही है तो द्रव्य लक्षण में गुण और पर्याय दोनों का निवेश क्यों किया ? 'गुणवद् द्रव्यम्' या 'पर्यायवद् द्रव्यम्' इतना ही लक्षण पर्याप्त था ? इसका उत्तर विद्यानन्द ने[1] जो दिया वह बहुत ही महत्वपूर्ण एव सूक्ष्म प्रज्ञता से भरा हुआ है। वे कहते हैं कि वस्तु दो तरह के अनेकान्तों का रूप (पिण्ड) है–१ सहानेकान्त और २ क्रमानेकान्त। सहानेकान्त का ज्ञान कराने के लिए गुणयुक्त को और क्रमानेकान्त का निश्चय कराने के लिए पर्याययुक्त को द्रव्य कहा है। अतः द्रव्य लक्षण में गुण तथा पर्याय दोनों पदों का निवेश युक्त एव सार्थक है।

जहां तक हम जानते हैं, विद्यानन्द से पूर्व अकलंक देव ने सम्यगनेकान्त और मिथ्यानेकान्त के भेद से दो प्रकार के अनेकान्तों का तो प्रतिपादन किया है। परन्तु सहानेकान्त और क्रमानेकात इन दो तरह के अनेकान्तों का कथन विद्यानन्द से पूर्व उपलब्ध नहीं होता। इन अनेकान्तों के कथन और उनकी सिद्धि के लिए द्रव्य लक्षण में गुण तथा पर्याय दोनों शब्दों के निवेश का समाधान विद्यानन्द की अद्भुत प्रतिभा का सुपरिणाम है। उनका यह समाधान और स्पष्ट शब्दो में सहानेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो अनेकान्तों की परिकल्पना इतनी सजीव एव सबल सिद्ध हुई कि स्याद्वादसिद्धिकार आ० वादीभसिंह ने[2] उससे प्रेरणा पाकर उक्त अनेकान्तों की प्रतिष्ठा के लिए सहानेकान्तसिद्धि और क्रमानेकान्तसिद्धि नाम से दो स्वतन्त्र प्रकरणो की सृष्टि स्याद्वादसिद्धि मे की है तथा उनका विस्तृत विवेचन किया है।

(३) **व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तुविवेचन**—अध्यात्म के क्षेत्र में तो व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु का विवेचन किया ही जाता है, पर तर्क के क्षेत्र में भी उनके द्वारा वस्तुविवेचन हो सकता है, यह दृष्टि हमे विद्यानन्द से प्राप्त हाती है। उन्होंने इन दोनो नयो से अनेक स्थलो में वस्तु-विवेचन किया किया है। 'निष्क्रियाणि च' (त० सू० ५-७) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए वे तत्वार्थश्लोकवार्तिक [पृ० ४००] में लिखते है, कि निश्चयनय से सभी वस्तुए कथचित् निष्क्रिय हैं और व्यवहारनय से कथचित् सक्रिय है। लोकाकाश और धर्मादि द्रव्यों में आधाराधेयता का विचार करते हुए वे कहते हैं कि व्यवहारनय से लोकाकाश तथा धर्मादि द्रव्यो मे आधाराधेयता है तथा निश्चयनय से उनमें उसका अभाव है। उनका तर्क है कि निश्चयनय से प्रत्येक द्रव्य अपने में अवस्थित होता है। अन्य द्रव्य की स्थिति अन्य द्रव्य में नही होती, अन्यथा उनका अपना प्रातिस्विक रूप न रहकर उनमें स्वरूप-सांकर्य हो जायेगा। इसी तरह सब द्रव्यो में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की व्यवस्था करते हुए वे त० सू० ५-१६

१. गुणवद् द्रव्यमित्युक्त सहानेकान्त सिद्धये।
तथा पर्यायवद् द्रव्य क्रमानेकान्त सिद्धये॥ तत्वा० श्लो० पृ० ४३८।

२ स्याद्वाद सिद्धि ३-१ से ३-७४ तथा ४-१ से ४-८६।

टीका में लिखते हैं[1] कि निश्चयनय से सभी द्रव्यों की उत्पादादि व्यवस्था विस्रसा (स्वभावतः) है। व्यवहारनय से उनके उत्पादादिक सहेतुक हैं। अतः व्यवहार और निश्चयनय के स्वरूप को समझ कर द्रव्यों की आधाराधेयता तथा कार्यकारण भाव की व्यवस्था जहां जिस नय से की गई हो उसे उसी नय से जानना चाहिए। इस तरह विद्यानन्द का व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु विचार भी जैन दर्शन के लिए उनकी एक अनन्यतम उपलब्धि है।

(४) **उपादान और निमित्त का विचार**—यो तो कारणों का विचार सभी दर्शनों में है और उनकी विस्तार से चर्चा की गई है किन्तु जैन दर्शन में उनका चिन्तन बहुत सूक्ष्म किया गया है। कार्य की उत्पत्ति में कितने कारणों का व्यापार होता है, इस सम्बन्ध में न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का मन्तव्य है कि समवायि, असमवायि और सहकारी इन तीन कारणों का व्यापार कार्योत्पत्ति में होता है। बौद्धदर्शन का मत है कि उपादान और सहकारी इन दो ही कारणों से कार्य उत्पन्न होता है। सांख्य दर्शन भी कारणों का विचार करता है, लेकिन उसका दृष्टिकोण कार्य की उत्पत्ति से न होकर उसके आविर्भाव से और कारण से तात्पर्य केवल उपादान से है। जो भी सरूप अथवा विरूप कार्य उत्पन्न होता है वह एकमात्र प्रकृति रूप उपादान से होता है, उसका कोई प्रकृति से भिन्न सहकारी कारण नहीं है। जैन दर्शन यद्यपि बौद्ध दर्शन की तरह प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्त इन दो कारणों को स्वीकार करता है। परन्तु बौद्ध दर्शन की मान्यता से जैन दर्शन की मान्यता में बड़ा अंतर है। बौद्ध दर्शन पूर्व रूपादिक्षण को उत्तररूपादि क्षण में उपादान तथा रसादि को सहकारी मानता है। पर जैनदर्शन अव्यवहित पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य को उपादान और कालादि सामग्री को निमित्त स्वीकार करता है। यहां हम विद्यानन्द के सूक्ष्म चिन्तन के दो उदाहरण प्रस्तुत करते है--

प्रश्न है [2]कि उपादान के नाश से उपादेय की उत्पत्ति होती है। सम्यक् दर्शन सम्यक्ज्ञान का उपादान है। अत सम्यक्ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर सम्यक्दर्शन का नाश हो जाना चाहिए? इसके उत्तर में विद्यानन्द कहते है कि उपादेय की उत्पत्ति में उपादान का नाश कथंचित् इष्ट है, सर्वथा नही, अन्यथा, कार्य की उत्पत्ति कभी भी न हो सकेगी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि दर्शन परिणाम से परिणत आत्मा ही वस्तुतः दर्शन है और वह विशिष्ट ज्ञान 'परिणाम की उत्पत्ति का उपादान है। अन्वय रहित केवल पर्याय या केवल जीव द्रव्य उसका उपादान नहो है, क्योंकि केवल पर्याय या केवल जीवादि द्रव्य कूर्मरोम आदि को तरह अवस्तु है। इसो तरह दर्शन-ज्ञान परिणत जोव-दर्शन-ज्ञान है और दर्शन-ज्ञान चारित्र का उपादान है, क्योंकि पर्याय विशेष परिणत द्रव्य उपादान है, जिस प्रकार घट परिणमन में समर्थ पर्यायरूप मिट्टी द्रव्य घट का उपादान होता है। विद्यानन्द[3] उपादान का स्वरूप बतलाते हुए लिखते है—'जो पूर्व रूप को छोड़ता हुआ तथा अपूर्व रूप को न छोड़ता

१. त० श्लो० पृ० ४०८-४११।

२. त० श्लो० पृ० ४१०।

१. तत्वार्थश्लोकवा. पृ० ६८-६९।

हुआ तीनों कालों में भी विद्यमान रहता है उस द्रव्य को उपादान कहा गया है। किन्तु जो सर्वथा अपने रूप को छोड़ देता है अथवा जो बिल्कुल नही छोड़ता वह किसी भी वस्तु का उपादान नहीं है। जैसे सर्वथा क्षणिक या सर्वथा नित्य।' विद्यानन्द ने उपादान के इसी लक्षण को सामने रखकर सर्वत्र उपादानोपादेय की व्यवस्था की है। यह तो हुआ उनके उपादान का विचार।

इसी प्रकार उन्होंने[1] निमित्त--सहकारि कारण का भी चिन्तन किया है। वे लिखते है कि बिना सहकारी सामग्री के उपादान कार्यजनन में समर्थ नही है। जब तक अयोग केवलि गुणस्थान का उपान्त्य और अन्त्य समय प्राप्त नही होता तब तक नामादिक कर्मों के निर्जरण की शक्ति प्रकट नही होती और न मुक्ति ही सम्भव है। अत. अयोग केवली का अन्त्य क्षण ही शेष कर्मों के क्षय में कारण है। इस तरह सहकारी सापेक्षित उपादान कार्यजनक है, अकेला नही। इस प्रकार आचार्य विद्यानन्द का यह उपादान और निमित्त सम्बन्धी चिन्तन जैन दर्शन के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण को पुष्ट करता है।

इस तरह आचार्य विद्यानन्द की जैन र्शन को कितनी ही नयी देने हैं जो उसे गौरवास्पद और सर्वादरणीय बनाती हैं।

---

१ त्यक्तात्यक्तात्मरूप यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥१॥
यत्स्वरूप त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिक शाश्वत यथा ॥२॥ अष्ट स० पृ० २१०।
स्वसामग्र्या बिना कार्य न हि जातुचिदीक्षते।
कालादिसामाग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतुर्न केवल· तथाऽप्रतीते।
क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणिप्रथम क्षणे।
यथा क्षीणकषायस्स शक्तिरन्त्यक्षणे मता॥
ज्ञानावृत्यादि कर्माणि हन्तु तद्वदयोगिन·।
पर्यन्त क्षण एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽप्यसौ॥ त० श्लो० पृ० ७०-७१।

अष्टसहस्री का प्रस्तुत संस्करण

आचार्य विद्यानन्द की कृतियों का पीछे उल्लेख कर आये हैं। अष्टसहस्री उन्हीं में से एक महनीय कृति है। इसका सन् १९१५ में सेठ नाथारङ्ग जी गांधी द्वारा आज से ५९ वर्ष पूर्व एक बार प्रकाशन हो चुका है। किन्तु उसका हिन्दी-रूपान्तर अब तक नहीं हो सका था। अत्यन्त प्रमोद की बात है कि अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग में ही नहीं, चारित्राचारादि पंचाचार में सतत निरत पूज्या माता श्री ज्ञानमती जी ने इस अभाव की पूर्ति का सफल एव स्तुत्य प्रयत्न किया है। अष्टसहस्री कितना जटिल और दुरवगाह दार्शनिक ग्रन्थ है, इसे तज्ज्ञ विद्वान् जानते हैं। एक ही स्थल पर बौद्धदर्शन की चर्चा करते-करते अन्य दर्शनों की भी चर्चा आ जाती है, जिसे समझना साधारण बुद्धि का कार्य नहीं है। उसे समझने-समझाने के लिए बुद्धि का बहु-आयाम करना पड़ता है। जिसका सभी भारतीय दर्शनों में गहरा प्रवेश होगा, वही अष्टसहस्री का मर्मोद्घाटन कर सकता है। माता जी ने इस दुरवगाह ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत करके जिस साहस एवं बुद्धि-वैभव का परिचय दिया है वह निःसन्देह स्तुत्य है।

ज्ञानानुरागी श्री मोतीचंद जी सर्राफ द्वारा प्रेषित माता जी के अष्टसहस्री-अनुवाद के कुछ मुद्रित फर्मों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्हे 'स्थाली-पुलाक' न्याय से देखकर हम अनुभव करते हैं कि माता जी ने गहराई से ग्रन्थ का अध्ययन कर यह हिन्दी-रूपान्तर लिखा है। भारतीय दर्शनों का उनका तलस्पर्शी अभ्यास भी स्पष्टतया अवगत होता है। बुद्धि वैभव और सत्साहस से भरे माता जी के इस महान् प्रयत्न की हम सराहना करते हैं। इसके लिए हम ही नहीं, समस्त समाज एव विद्वद्वर्ग उनका उपकृत है। उनके द्वारा जिनशासन की अधिक काल तक प्रभावना हो, यही मंगल-कामनाएं हैं।

वीर-शासन-जयन्ती
श्रावण कृष्णा १, वी. नि. सं० २५००
५ जुलाई, १९७४,
वाराणसी-५

डॉ० दरबारीलाल कोठिया
[रीडर, जैन-बौद्ध दर्शन]
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संपादकीय

प्रस्तुत अष्टसहस्री का मूल श्री तत्वार्थ सूत्र शास्त्र का "मोक्ष मार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् । ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥" यह मंगलाचरण हैं । इस मंगलाचरण में स्तुति को प्राप्त भगवान् आप्त की मीमांसा रूप देवागम स्तोत्र है, जिसका प्रादुर्भाव समंतभद्राचार्य द्वारा भगवद् भक्ति करते हुये सच्चे आप्त की परीक्षा रूप में हुआ । इस देवागम स्तोत्र को आधार बनाकर अकलंक देव द्वारा अष्टशती का निर्माण हुआ । जैसे माला में रग बिरगे पुष्प अथवा अनेक प्रकार के मोती, माणक, पन्ना आदि पिरोकर अधिक आकर्षक बनाया जाता है, उसी तरह विद्यानंद महोदय ने देवागम स्तोत्र की टीका रूप में अष्टसहस्री का सृजन किया । अष्टसहस्री में देवागम स्तोत्र को ऐसा गूंथा कि जिसने न्याय दर्शन का सेहरा बनकर जिनागम के मस्तक को गौरवान्वित किया ।

न्याय दर्शन की श्रृंखला में समय-समय पर अनेक दिग्गज विद्वान् जैनाचार्यों द्वारा कड़ियाँ जोड़ते रहने से विशाल अर्गल वन गई जिससे उन्मत्त वादियों को बांधना (परास्त करना) सुगम हो गया । कालचक्र निरतर चलते हुये भी इस फौलादि सांकल को काट नहीं सका । यही कारण है कि इस विलासिता के दुर्गम समय में भी जिनमत का प्रसार व प्रचार है ।

अनुवाद का बीजारोपण

अष्टसहस्री का अनुवाद समस्त दार्शनिक जगत के लिये एक अनूठी उपलब्धि है । किसी भी मिष्ठान्न को खा लेना और खाकर उसका आनंद प्राप्त करना बहुत ही सुगम है, किन्तु उसके बनाने में कितना श्रम लगा यह वही जान सकता है जिसने उसे बनाया है अथवा आद्योपात जिसने बनते देखा है व बनाने में सहयोग दिया है ।

किसी भी चीज को बनाने वाला या किसी काम को करने वाला जब उसमें तन्मय होता है तब वह उसका स्वाभाविक आस्वाद प्राप्त कर लेता है । बल्कि यहां तक देखने में आता है कि वस्तु के उपभोक्ता से भी अधिक आनंद निर्माता को प्राप्त होता है ।

ठीक यही स्थिति ग्रन्थ निर्माता आचार्यों की रही है । परम निर्ग्रन्थ गुरू भगवान् कुंदकुंद, पूज्यपाद, समंतभद्र, अकलंक देव, जिनसेन, पुष्पदंत, भूतबली, अमृतचंद्र, विद्यानंद आदि ने आत्मानंद में निमग्न हो होकर उसी को जंगलों में बैठकर ताड़पत्रों पर लिपी बद्ध कर दिया । जिनका स्वाध्याय करके हम भी अपनी आत्मानुभूति का मार्ग खोज रहे हैं । जो आनंद उन्होंने प्राप्त किया उसका शतांश भी हमको

अनुपलब्ध है ।

जिस कार्य के बारे में इस वर्तमान समय में सोचना भी कठिन है उस अष्टसहस्री का भाषा अनुवाद पू० श्री ज्ञानमती माताजी ने सहज में करके एक आश्चर्य जनक कार्य किया है। अधिकांश प्राचीन ग्रन्थों का सृजन शिष्यों के अध्यापन अथवा प्रश्नों के निमित्त से हुआ है । इसी प्रकार से इस ग्रन्थ के भाषांतर का शुभारंभ भी माताजी ने साधुओं और शिष्यों को अध्ययन कराते हुये किया ।

राजस्थान की जैन नगरी जयपुर को इस बात का गौरव प्राप्त है कि जहां से इसके अनुवाद कार्य का बीजारोपण हुआ । वैसे प्राचीन समय से इस नगरी का महान सौभाग्य रहा है जहां अनेकों विद्वानों ने ग्रन्थों का निर्माण, अनुवाद आदि करके जिनवाणी की महिमा को दिगदिगंत व्यापी बनाया है । इस पुण्यशाली नगरी में सर्वदा दिगबर मुनि सघों का आवागमन बना रहता है ।

वि० सं० २०२५ में शांतिवीर नगर श्री महावीर जी (राज०) में हुई पचकल्याणक प्रतिष्ठा के अनतर नवीन आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज विशाल सघ को लेकर स्व० आचार्य प्रवर श्री वीर सागर जी महाराज की निषीधिका के दर्शनार्थ जयपुर (खानिया) पधारे एव जयपुर वासियों के अत्यधिक आग्रह पर श्री १००८ आदिनाथ जिन मदिर (मेंहदी वालों का चोक रामगज-बाजार बड़ी चौपड़) में चातुर्मास की स्थापना की ।

अनुवाद का शुभारम्भ :—

वर्षायोग में एक स्थान पर लगातार चार महीने तक निश्चित ठहरने के निमित्त से साधुओं का ध्यान अध्ययन विशेष होता है । वरिष्ठता के कारण माताजी ने आर्यिका सघ सबधी अनेक दैनिक व्यवस्थाओं को सम्हालने के साथ-साथ अध्ययन आदि कराते हुए प्रस्तुत अष्टसहस्री के अनुवाद कार्य में भी थोड़ा-थोडा समय लगाना प्रारभ किया । समय बीतता गया और कार्य को तीव्र गति प्राप्त होती गई । अनुवाद कार्य की समाप्ति से पूर्व वि० स० २०२७ का आगामी चातुर्मास आ गया इस बार के चातुर्मास का सुयोग टोंक (राज०) को प्राप्त हुआ । चातुर्मास समाप्ति तक अनुवाद कार्य भी चरम सीमा को प्राप्त हो चुका था किंतु निर्विघ्न कार्य समाप्ति का श्रेय टोडारायसिह (टोंक, राज०) (आ० श्री वीरसागर जी महाराज के शिष्य मुनि सन्मति सागरजी की जन्मभूमि) को प्राप्त हुआ ।

अनुवाद कार्य तो हो चुका था किंतु मध्य का कुछ प्रकरण देखे बिना ही क्लिष्ट समझकर छोड़ दिया था वह था भावना नियोग अधिकार । यह प्रकरण अतिक्लिष्ट एव गहन होने से परीक्षा कोर्म में भी छोड दिया गया है । इसी वजह से माताजी ने भी उतने पृष्ठो को प्रारंभ में ही छोड़कर अनुवाद किया । एव यह विचार किया कि न्याय दर्शन के किसी विशिष्ट जैन विद्वान के सहयोग से चर्चा के उपरात इसका अनुवाद करना उचित होगा ।

कई विद्वानों से पत्र व्यवहार किया गया कि बहुतों ने तो यह कहकर असमर्थता प्रकट की कि न्याय दर्शन हमारा विषय ही नहीं है, किन्हीं का कहना रहा कि अब न्याय का विषय हमारी स्मृति से

ओझल हो गया है। जा कुछ थोड़े से विद्वान इस विषय के मर्मज्ञ हैं उन्होंने वृद्धावस्था के कारण शारीरिक एवं मानसिक कमजोरी वश इस कठिन कार्य का करने में असमर्थता प्रकट कर दी।

ऐसी स्थिति में एक कठिन समस्या उपस्थित हो गई थी। किंतु आत्म विश्वास के साथ भगवान के चरण सानिध्य में बैठकर छोडे हुये भाग का अनुवाद कार्य स्वयं माताजी ने प्रारंभ किया एवं यथाशीघ्र (लगभग १० दिन में) उसे भी पूर्ण कर लिया। मनमें कृति को अपूर्ण न रहने देने की जो अपूर्व लगन थी उसी के फल स्वरूप दुरूह कार्य भी सुगमता से हो गया। उक्त प्रकरण का अनुवाद करने के उपरांत माताजी ने बताया कि यह प्रकरण भी उतना क्लिष्ट नही है जितना समझा गया है।

अनुवाद समापन समारोह :—

पौष माह की पूर्णिमा का वह उज्ज्वल दिवस था जिस दिन अनुवाद कार्य सानंद सम्पन्न हुआ। इसी दिन आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज का ५७ वाँ जन्म दिन भी मनाया गया। अनुवाद कार्य की समाप्ति के हर्षोपलक्ष्य में शांति विधान पूर्वक समाप्ति की गई एवं विशाल रथयात्रा के साथ अनुवादित हस्तलिखित प्रतियों को सुन्दर पालकी में विराजमान करके आरती पूजनादि के द्वारा महती प्रभावना की गई।

माताजी ने तो अनुवाद पूर्ण कर दिया एवं आचार्यों के मनोभावों का रसास्वादन प्राप्त कर लिया। किन्तु हमारे भाव यह हुए कि इसे शीघ्र ही प्रकाशित किया जावे। जिससे जैन न्याय के पाठक विद्यार्थी एवं स्वाध्याय प्रेमी अष्टसहस्री के मर्म को हृदयगम कर सकें। भाव करने में न तो कुछ शक्ति लगानी पडती है नही कुछ खर्च करना पडता है। अनुवाद के अनन्तर १ वर्ष का समय व्यतीत हो गया।

प्रकाशन से पूर्व समस्यायें :—

प्रकाशन के पूर्व जो सबसे पहली समस्या आई वह थी पुनर्संशोधन की। इसके लिये फिर विद्वानों का सहयोग लेने के लिये प्रयास किया गया किन्तु कुछ भी सार नही निकला। बड़ी आशाएं थी परम तपस्वी पू० आचार्य श्री महावीर कीर्ति महाराज से किन्तु वे असमय में ही स्वर्गस्थ हो गए। अन्तिम एक और सहारा थे पू० आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज। उन्होंने प्रारंभिक कुछ पृष्ठ पढ़ाकर सुने एवं यथावश्यक दो चार जगह प्रकरण को कुछ अधिक स्पष्ट भी कराया किन्तु अतिवृद्धावस्था से इन्द्रियों की शिथिलता के कारण और अधिक संशोधन नही करा सके और उन्होंने कई बार ये शब्द कहे कि "हिन्दी अनुवाद बहुत ही सरल स्पष्ट और सुन्दर हुआ है।" अततोगत्वा पुनः माताजी से ही निवेदन करना पड़ा कि स्वय एक बार फिर सूक्ष्मता से दृष्टि डालकर परिमार्जित कर दे। पू० माताजी ने अन्य अनेक जरूरी कामो को भी गौण करके अपना अमूल्य समय एव सपूर्ण शक्ति इसी में लगाकर कृति को पूर्ण विशुद्ध बना दिया।

हस्तलिखित प्रति की प्राप्ति :—

अनुवाद के समय छपी हुई मूल अष्टसहस्री के अलावा आधार था केवल देव गुरू शास्त्र की प्रगाढ़ श्रद्धाभक्ति का। जब वि० सं० २०२६ के अजमेर चातुर्मास के उपरांत ब्यावर आये तो० पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री से अष्टसहस्री के विषय में कुछ चर्चा हुई उन्होंने भी कुछ पृष्ठों का अवलोकन किया था व्यस्तता के कारण वे भी पूर्ण रूप से नहीं देख सके किन्तु उन्होंने इस अनुवाद पर संतोष व्यक्त करते हुये माताजी के कार्य की प्रशंसा की थी। पंडित हीरालाल जी के सौजन्य से ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, ब्यावर के विशाल ग्रंथ भण्डार से लगभग ४०० वर्ष प्राचीन एक हस्तलिखित अष्टसहस्री प्राप्त हुई इस प्रति में छपी हुई से कुछ अधिक टिप्पणियां एवं पाठान्तर दे रखे थे जिनसे अर्थ का विशेष स्पष्टीकरण होता है। यदि यह प्रति अनुवाद से पूर्व सामने होती तो अनुवाद में जितना श्रम लगा उसमें सहायता मिलती। इसकी विशेष टिप्पणियों एवं पाठांतरों को माताजी ने इस ग्रन्थ में जोड़ लिया है।

प्रकाशन का निश्चय :—

जब प्रकाशन की तैयारी हो चुकी तो प्रेस की समस्या सामने आई। ब्यावर में तो कोई ऐसा प्रेस उपलब्ध नही हुआ जिसमें संस्कृत का कार्य हो सके। तब पं० अभय कुमार जी अजमेर (प्रबन्धक जैन-गजट, साप्ताहिक) के सहयोग से केशव आर्ट प्रिन्टर्स, हाथी भाटा अजमेर के यहां छपना प्रारंभ हुआ। संस्कृत प्रूफ रीडिंग एवं पेज कटिंग के लिये कई लोगों से बात की गई किंतु अंततोगत्वा प्रूफ रीडिंग का कार्य हमें ही करना पड़ा। कटिंग एवं फाईनल प्रूफ रीडिंग का कार्य भार माताजी पर ही छोड़ा गया क्योंकि और कोई करने में सक्षम भी नहीं था।

प्रकाशन-व्यवस्था अजमेर से दिल्ली—

बड़ी कठिनाई से यह व्यवस्था बन पाई थी कि संघ का विहार दिल्ली के लिये हो गया। पुनः यह समस्या उपस्थित हो गई कि इतनी दूर रहकर यह काम चलाना अशक्य है अतः दिल्ली में संस्कृत का काम करने वाले अनुभवी प्रेस की तलाश की गई। सम्राट प्रेस पहाड़ी धीरज इसके लिये सक्षम रहा। अजमेर से छपे हुये फर्मे व अवशेष कागज आने तक छह माह बीत गये एवं प्रेस निर्णय के बाद भी टाइप आदि की व्यवस्था में ३ माह और निकल गये। पुनः वि० सं० २०२६ में भाद्रपद माह के शुभ दिन से छपाई का कार्य मदगति से चलने लगा।

संलग्न न्यायसार—

छपाई का कार्य चलते हुये कई बार यह विचार धारा मन में चला करती थी कि इस अष्टसहस्री को सिवाय परीक्षार्थियों एवं विशिष्ट विद्वानो के और कौन पढ़ेगा। क्योंकि न्याय शास्त्रों के स्वाध्याय

की प्रथा बिल्कुल नही के बराबर रह गई है, और खास करके न्याय के इस सर्वोपरि महान ग्रंथ को जन सामान्य का समझना वैसे भी दुरूह है। इन विचारों के निराकरणार्थ पू० माताजी ने न्यायसार नाम से एक स्वतंत्र कृति का सृजन किया जो कि इस अष्टसहस्री के पीछे सलग्न है। जैन न्याय दर्शन के प्रारंभिक रूचि के (जिज्ञासु) पाठक वृंद यदि न्यायसार को पढ़कर अष्टसहस्री का स्वाध्याय अध्ययन प्रारंभ करेंगे तो निश्चय ही सुगमता पूर्वक स्याद्वादामृत का पान कर सकेंगे।

पू० माताजी का अनुवाद सौष्ठव में अपार श्रम—

माताजी ने अनुवाद करने में जितना श्रम किया है उसके विषय में कलम से लिखना कठिन है। मूल एवं हिंदी प्रकरणों के शीर्षक बनाना, प्रत्येक पृष्ठ के प्रकरण का पृष्ठ के ऊपर शीर्षक देना, मूल पंक्तियों के अर्थ के साथ टिप्पणियों के अर्थ को खोलना, अर्थ के अनन्तर स्थान-स्थान पर भावार्थ एवं विशेषार्थ के द्वारा अतिस्पष्ट रूप में प्रकरण के रहस्य को प्रस्फुट करना, सामान्य श्रम नही है। इन सबके बावजूद भी समस्त प्रतिवादियों की विचार धारा को मस्तिष्क में रखकर सार रूप में विषय विभाजन करते हुये ५४ सारांश बनाये हैं। जिसकी सहायता से प्रारंभ में थोड़ा पढ़कर भी बहुत कुछ समझा जा सकता है। मैंने एवं मघ के अन्य छात्र-छात्राओ ने इन्ही साराशों के आधार से शास्त्री एव न्यायतीर्थ की परीक्षाएं उत्तीर्ण की हैं। बहुत सी बातों को एक सूत्र में गर्भित करके कहना अथवा एक सूत्र पर एक ग्रन्थ तैयार कर देना—ये दोनों बातें अपने-अपने स्थान पर विशेष महत्त्व रखती है।

एक और हस्तलिखित प्रति की उपलब्धि—

जब प्रस्तुत प्रथम भाग के लगभग ३०० पृष्ठ छप गए तब दि० जैन नयामदिर धर्मपुरा दिल्ली के प्राचीन शास्त्र भंडार से एक और प्राचीन हस्तलिखित प्रति श्री पन्नालालजी जैन अग्रवाल दिल्ली के सौजन्य से प्राप्त हुई। इसमें विस्तार पूर्वक टिप्पणियां दी गई है। उपयुक्त समझकर इस प्रति की भी अधिक टिप्पणियां एव पाठातर लिये गये हैं। इसकी टिप्पणियां अलग दिखाने की दृष्टि से (दि० प्र०= दिल्ली प्रति) संकेत अकित किया है।

पू० माताजी की अपार क्षमता एवं कार्य कुशलता—

नीतिकारों ने कार्य करने वाले तीन तरह के बतलाये है। एक तो वे होते है जो कठिनता आदि कारणों से कार्य को करते ही नहीं हैं दूसरे वे होते है, जो विघ्न बाधाएं आने पर प्रारंभ किये हुये कार्य को मध्य में ही अधूरा छोड़ देते है, किन्तु तीसरे वे होते हैं जो विघ्न बाधाओं की परवाह न करके अनेक कष्टों को सहन करके भी कार्य को पूर्ण करते हैं। अथवा पूर्ण करने में संलग्न रहते हैं।

पूज्य माताजी भी तीसरी प्रकार के व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने अपने जीवन में कभी भी यह नहीं सोचा कि यह काम नही हो सकता है। सदा आत्मीक बल से सोचे हुये अनेक कार्य पूर्ण किये आपका

मनोबल अपार है । उत्साह हीनता को आप के जीवन में प्रश्रय नहीं मिला । कर्मठता ही आपके जीवन का ध्येय रहा । इसी के फलस्वरूप यह अष्टसहस्री ग्रन्थ अनुवाद सहित प्रकाशित होकर आपके हाथों में पहुंच सका है ।

प्रस्तुत ग्रंथ की विशेषता—

इस अष्टसहस्री ग्रन्थ की महानता के विषय मे स्व० पं० जुगलकिशोर जी मुख्त्यार द्वारा लिखित "देवागम अपरनाम अप्तमीमासा" नामक पुस्तक की प्रस्तावना में जो भाव प्रगट किये है उनको उन्ही के शब्दों में देना अधिक उपयुक्त प्रतीत ह ूगा । लिखते है "एक बार खुर्जा के सेठ प० मेवारामजी ने बतलाया कि जर्मनी के एक विद्वान ने उनसे कहा है कि—जिसने अष्टसहस्री नही पढी वह जैनी नही और जो अष्टसहस्री पढकर जैनी नही हुआ उसने अष्टसहस्री को समझा ही नही"। कितने महत्व का यह वाक्य है और एक अनुभवी विद्वान के मुख से निकला हुआ अष्टसहस्री के गौरव को कितना अधिक स्थापित करता है । सचमुच अष्टसहस्री ऐसी ही एक अपूर्व कृति है और यह देवागम के मर्म का उद्घाटन करती है । खेद है कि आज तक ऐसी महत्त्व की कृति का कोई हिंदी अनुवाद गौरव के अनुरूप होकर प्रकाशित नही हो सका ।

काश ! अगर आज प० जुगलकिशोर जी मुख्त्यार होते तो उन्हें इस अनुवाद ग्रन्थ को देखकर कितनी प्रसन्नता होती ।

स्वयं आचार्य विद्यानंद जी ने अष्टसहस्री के द्वितीय अध्याय के मंगलाचरण में लिखा है—

श्रोतव्याष्टसहस्रीश्रुतैः किमन्यै सहस्र सख्यानैः ।
विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमय सद्भाव ।।

अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिये हजारो ग्रन्थों के सुनने-पढने से क्या प्रयोजन है । जबकि एक मात्र अष्टसहस्री से ही स्वसमय अर्थात् आत्मा, जैन सिद्धांत और उनके तलस्पर्शी रहस्यों का बोध हो जाता है ।तथा परसमय अर्थात् अनात्मा, अन्य मतावलबियो के सिद्धांत और भ्रात धारणाओं का एवं कपोल कल्पनाओं का सर्वथा निराकरण हो जाता है ।

प्रस्तुत ग्रंथ की उपयोगिता—

कुछ लोगों की यही धारणा है कि न्याय शास्त्रो मे आत्मा का वर्णन नही है किन्तु ऐसा नही है । प्रमाण-सच्चे ज्ञान का एवं आप्त—कर्ममल रहित आत्मा का ही विशद वर्णन है और आत्मा को या अन्य द्रव्यों को समझने के लिये स्याद्वाद ही महान आधार है और यह अष्टसहस्री स्याद्वाद कथनमय है ।

माताजी कहा करती है कि अष्टसहस्री में सप्तभगीमय स्याद्वाद प्रक्रिया का स्थल-स्थल पर जितना अधिक एवं विशद विवेचन है उतना वर्तमान के उपलब्ध जैन सिद्धांत ग्रन्थों में से अन्य किसी ग्रथ में नही है । अतः यह ग्रन्थ स्याद्वाद प्रक्रिया को समझने में सर्वोपरि-ग्रथराज है ।

अभिमत —

अष्टसहस्री के छपे हुए कुछ पृष्ठों का अवलोकन करके पं० परमेष्ठीदास जी ललितपुर-संपादक-वीर, पं० लालबहादुर जो शास्त्री सपादक-जैनदर्शन, पं० कैलाशचंद जो सिद्धात शास्त्री सपादक-जैन संदेश, पं० गुलाबचंद जी जैन जैनदर्शनाचार्य प्रिंसिपल-संस्कृत महाविद्यालय जयपुर, प० बाबूलाल जो जमादार-बडौत, पं० मूलचंद जी शास्त्री श्री महाबीरजी, पं० ए० एन० उपाध्याय, प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य आदि अनेक मूर्धन्य विद्वानों ने बडी प्रसन्नता एव गौरव व्यक्त किया कि अभी भी अष्टसहस्री जैसे न्याय के महान ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले ही नही अपितु इनके अनुवाद जैसे महान कार्य को करने वाली पू० श्री ज्ञानमती माताजी जैसी परमविदुषी आर्यिका विद्यमान हैं, जिनके हमें साक्षात दर्शन हो रहे है।

युग की अनुपम देन --

अनेक विद्वानों को सुनकर विश्वास नही होता है कि किसी आर्यिका ने इतने विशेष रूप में अष्टसहस्री का अनुवाद किया हो। इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि ग्रन्थ रचना काल के प्रारभ से अब तक किसी भी आर्यिका द्वारा कोई जैन ग्रन्थ लिखा अथवा अनुवाद नही किया गया था।

इस युग की यह एक बडी भारी ऐतिहासिक देन है कि न्याय जैसे क्लिष्ट विषयक ग्रथ का अनुवाद दि० जैन समाज की आर्यिका द्वारा प्रथम बार किया जाकर इतनी सुन्दरता एव विशेषता के साथ प्रकाशित किया गया है।

हस्तलिखित प्रति से टिप्पणियों को निकालने में पू० मुनिराज १०८ श्री वर्धमानसागर जी महाराज, श्री रवीन्द्र कुमार जैन शास्त्री बी० ए० टिकैतनगर व उनकी लघु सहोदरा कु० मालती शास्त्री धर्मालकार, कु० त्रिशला शास्त्री, कु० माधुरी शास्त्री एवं सघस्थ कु० कला ने विशेष सहयोग प्रदान किया, तथा प्रेस कापी भी तैयार की है।

मुद्रित प्रति की प्रस्तावना से उद्धृत —

बबई से प्रकाशित मूल अष्टसहस्री की प्रस्तावना में पं० वशीधर जी ने लिखा है—

"श्री विद्यानंद स्वामी ने श्री अकलक देव की अष्टशती को अन्तर्गर्भित करके इस अष्टसहस्री ग्रन्थ को बनाया है स्वामी जी ने इस प्रकार से पूरी की पूरी अष्टशती को अंश-अश करके अपने ग्रन्थ में अंतर्भूत कर लिया है कि बिना पृथक् संकेत के उसे पृथक् करना शक्य नही है। इसलिए अष्टशत के अंशों को पृथक् जानने की इच्छा रखने वालों को पृथक् मुद्रित अष्टशती ग्रन्थ देखना चाहिये। हमने भी ग्रन्थ के कुछ पृष्ठ छप जाने के अनंतर आगे वृत्ति ग्रन्थ जहां-जहां आया है, वहां-वहां गहरे काले अक्षरों में दे दिया है। प्रारंभ में कुछ पृष्ठों में जो वैसा नहीं किया है उसका कारण वृत्ति ग्रंथ का देर से मिलना है।

इसलिये पूर्व मुद्रित मूल प्रति में पृष्ठ ४६ तक पृथक् अक्षरों में नहीं लिया है किन्तु हमने इस प्रस्तुत प्रति में प्रारंभ से ही अष्टशती को गहरे काले अक्षरों में लिया है। अष्टशती की हिन्दी को भी गहरे काले अक्षरों में लिया है।

आगे पुनः मुद्रित मूल प्रति की प्रस्तावना में पं० वंशीधरजी ने लिखा है कि—"एक पुस्तक पूना नगर के सहकारी पुस्तकालय से उपलब्ध हुई जो अतीव शुद्ध थी, लघु समंतभद्रादि संकेतित टिप्पणी सहित थी। किंतु उसमें अभी टिप्पणियां अशुद्ध थीं। एक-एक टिप्पणी अनेक बार भी आ गई थी। किसी-किसी टिप्पणी के संकेत नहीं थे कि किस शब्द की टिप्पणी है। एवं कोई-कोई टिप्पणियां अनुपयोगी भी थी। अतः जितनी टिप्पणिया उस पुस्तक से लेना आवश्यक प्रतीत हुआ उतनी ले ली। शेष बहुभाग मात्र टिप्पणिया मैंने नियोजित कर दी है। अन्य तीन पुस्तके भी मुझे मिलीं किंतु वे शुद्ध नही थी अत पहली पुस्तक से ही बहुत कुछ उपयोग हुआ है।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मुद्रित प्रति की टिप्पणियां 'श्री लघुसमंतभद्र' द्वारा बनाई हुई हैं। एवं कुछ टिप्पणियाँ पं० वंशीधर जी द्वारा बनाई गई हैं।

मुद्रित ग्रथ में जितनी भी टिप्पणियां छपी हैं। प्रस्तुत ग्रथ में उन सभी टिप्पणियो को ज्यों की त्यों लिया है। तथा हस्तलिखित दोनों प्रतियो की टिप्पणियों को और पाठातरों को नीचे अलग दे दिया है।

आवश्यक संकेत—

इस ग्रन्थ में संस्कृत और हिंदी में जो शीर्षक है उन्हें पू० श्री ज्ञानमती माताजी ने बनाये है जिनका संकेत [ ] यह है प्रारंभ मे अष्टशती को संस्कृत एवं हिन्दी में गहरे काले अक्षरो में लिया है।

ब्यावर सरस्वती भवन की हस्तलिखित प्रति की टिप्पणियों को पृथक् दिखाने के लिये अंग्रेजी अंकों द्वारा सकेत किया है।

पाठान्तर के लिये 'इतिपा.' संकेत दिया है दिल्ली मे उपलब्ध प्रति की टिप्पणी और पाठातरो मे "दि० प्र०" सकेत दिया है जो कि पृष्ठ ३०२ मे स्पष्ट है।

यदि कही सुधार मिला है और वह उपयुक्त प्रतीत हुआ है तो 'इति वा क्वचित् पाठः' सकेत देकर उसे भी टिप्पणी में सम्मिलित कर लिया है। धरमपुरा दिल्ली के नया मदिरजी से श्री पन्नालाल जी अग्रवाल के सौजन्य से तीन प्रतिया हस्तलिखित अष्टशती की प्राप्त हुई है जिनका साकेतिक नाम 'अ, ब, स' दिया है जिसके पाठांतर का पृष्ठ २६१-२६२ पर खलासा है तथा अन्यत्र भी है।

परिशिष्ट—

परिशिष्ट में मूलकारिका के साथ अष्टशती को दिया है। उस अष्टशती की एक मुद्रित प्रति है जो कि 'भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिन संस्था से प्रकाशित हुई है। तीन प्रतियां दिल्ली की हैं जोकि 'अ, ब, स' से सकेतित है तथा ब्यावर व दिल्ली की हस्तलिखित अष्टसहस्री में 'भाष्य' पद से अष्टशती को पृथक् किया है। उन सभी के आधार से पाठभेद भी परिशिष्ट में नीचे दिया गया है।

इस प्रथम भाग में जितने भी उद्धृत श्लोक आये हैं उन्हें भी अकारादि के अनुक्रम से दिया है। अनंतर पारिभाषिक शब्दों के अर्थों का स्पष्टीकरण किया गया है।

न्याय कुंचिका—

अष्टसहस्री आदि सभी न्याय ग्रन्थों में प्रवेश कराने के लिये कुंजी के समान 'न्यायसार' नामक स्वतंत्र संकलित ग्रन्थ को परिशिष्ट में जोड़ दिया गया है।

अन्य दार्शनिक (दर्शन शास्त्र) प्रमाण के लक्षण और भेदो को किस रूप में मानते हैं उसका भी वर्णन है। इसी प्रकार जैनाचार्यों द्वारा मान्य प्रमाण के भेद प्रभेदो का भी संकलन किया गया है। संसार, मोक्ष, आत्मा एवं ज्ञान आदि के विषय में अन्य दर्शनों की मान्यता के साथ-साथ जैनाचार्यों की समीचीन मान्यता को भी दर्शाया गया है।

इन सभी विषयों से यह ग्रन्थ मूल में कठिन होते हुए भी सरल एवं उपयोगी बन गया है।

आभार—

सोलापुर (महा.) निवासी विद्यावाचस्पति श्री मान पं० वर्धमान जी पार्श्वनाथ जी शास्त्री ने प्रस्तावना लिखकर तथा बनारस निवासी पं० दरबारी लालजी कोठिया न्यायाचार्य ने प्राक्कथन के द्वारा ग्रन्थ का रहस्योद्घाटन करके ग्रंथ की महत्ता को द्विगुणित कर दिया है एवं अपने निजी उदगार व्यक्त करके न्याय दर्शन के प्रति जो सबको आकृष्ट किया है उसके लिये हम उभय विद्वानों के अत्यन्त आभारी हैं। विशेष परिश्रम के द्वारा मोक्षशास्त्र के मंगलाचरण को श्री उमास्वामी कृत सिद्ध करने में जो प्रमाण संकलित करके दिये है वह वास्तव में सराहनीय हैं।

इस भाग के प्रकाशन में सर्वप्रथम बिना किसी की प्रेरणा के स्वरूचि से गुरू भक्ति एवं जिनवाणी की सेवा के भावों से ओतप्रोत होकर श्रीमान सेठ हीरालाल जी जयपुर (फर्म – चंपालाल रामस्वरूप, ब्यावर) ने जो विशिष्ट आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, उनके भी हम अत्यन्त आभारी हैं। (परिचय आगे दिया गया है।)

एस० नारायण एंड संस प्रिंटिंग प्रेस पहाड़ी धीरज के मालिक श्री नारायणसिंह जी ने इस महान ग्रन्थ का सुन्दर मुद्रण किया है अतः हम उनके आभारी हैं।

हमारा प्रथम प्रयास होने से संपादन मे अनेक त्रुटियां एवं कमियां रही है, उसे विद्वद्जन एवं पाठक वृंद सुधारकर हमारी अल्पज्ञता के कारण मध्यस्थ भाव धारण करेंगे। वास्तव में इस संपादन कार्य में हमारा श्रम नगण्य है। जिस रूप में यह प्रथम भाग आपके समक्ष है वह सब पू० माताजी के ही अथक परिश्रम का फल है हम तो नाम मात्र के हैं।

हम यथा शीघ्र इसका दूसरा, तीसरा एवं चौथा भाग प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे। कागज

एवं छपाई के दाम निरन्तर तेजी से बढ़ने के कारण उत्पन्न कठिनाई के बावजूद भी हम अविलम्ब प्रकाशन कार्य चालू रखेंगे।

सभी नरनारी इस ग्रन्थ का पठन-पाठन करके स्याद्वाद के रहस्य को अच्छी तरह समझकर सच्चे ज्ञानी बनें यही हमारी भावना है।

दिल्ली **मोतीचंद जैन सर्राफ**

१५ अगस्त १९७४ शास्त्री, न्यायतीर्थ

मङ्गल-स्तोत्र

यह अष्टसहस्री आप्तमीमांसा की व्याख्या है। अब प्रश्न है कि स्वामी समन्तभद्र ने यह आप्त-मीमांसा जिस **'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** मङ्गल-स्तोत्र मे स्तुत आप्त की मीमांसा (समीक्षा) में लिखी है और स्वयं विद्यानन्द ने भी उसी स्तोत्रगत आप्त को परीक्षा में आप्त परीक्षा रची है, वह महत्त्वपूर्ण मंगल-स्तोत्र तत्त्वार्थ सूत्र का मंगलाचरण है या सर्वार्थसिद्धि का ? इस प्रश्न पर भी विचार लेना आवश्यक है।

इस विषय में पर्याप्त ऊहापोह हुआ है। कुछ विद्वानों का मत रहा कि उक्त मगल-पद्य सर्वार्थ सिद्धि के आरम्भ में उपलब्ध होने और उस पर सर्वार्थ सिद्धिकार की व्याख्या न होने से उसी का मगला-चरण है, तत्त्वार्थ सूत्रका नही। सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थ सूत्र के अवतरण की जो प्रश्नोत्तर रूप उत्थानिका दी गई है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने तत्त्वार्थसूत्र के आरम्भ मे मगलाचरण किये बिना ही उसकी रचना की है।

इसके विपरीत दूसरे अनेक विद्वानों का स्पष्ट अभिमत है, कि सूत्रकार ने, जिन्हे शास्त्रकार भी कहा गया है तत्त्वार्थ सूत्र के आदि में मगलाचरण किया है और वह **'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** मगल-स्तोत्र है। सर्वार्थसिद्धि में वहीं से वह लिया गया है। तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य गृद्धपिन्छ परम आस्तिक थे। वे मगलाचरण की प्राचीन परम्परा का, जो षट्खण्डागम, कषायपाहुड आदि आगम ग्रन्थों में भी उपलब्ध है, उल्लघन नही कर सकते। अतः उक्त पद्य उन्ही द्वारा तत्त्वार्थ सूत्र के आरम्भ में रचित मगल-स्तोत्र है। वृत्तिकार आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि ने उसे अपनी टोका सर्वार्थ सिद्धि में अपना लिया है और अपना लेने से उन्होंने उसकी व्याख्या नही की।

इस सम्बन्ध में डाक्टर दरबारीलाल कोठिया ने ऊहापोहपूर्वक सूक्ष्म एवं गम्भीर विचार किया है और **'तत्त्वार्थसूत्र का मगलाचरण'** शोर्षक अपने दो विस्तृत निबन्धो में[1] आचार्य विद्यानन्द के प्रचुर ग्रन्थोल्लेखों एव अन्य प्रमाणोसे सबलताके साथ सिद्ध किया है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने तत्त्वार्थ सूत्र के आरम्भ मे **'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः'** [१-१] सूत्र से पहले मगलाचरण किया है, और वह उक्त **'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'** आदि मगल-स्तोत्र है, जिसे विद्यानन्द ने[2], **शास्त्रकारकृत स्तोत्र'** बतलाते हुए **'तीर्थोपम'**,

---

१. अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ६, ७ तथा १०, ११, वीर सेवा मन्दिर, सन् १९४४।

२. आप्तपरीक्षा, कारिका ३ व १२३ वीर सेवा मन्दिर -संस्करण, सन् १९४९।

'प्रथित-पृथु-पथ' और 'स्वामिमीमांसित' जैसे अर्थगर्भ महत्त्वपूर्ण विशेषणों से युक्त किया है[1]। विद्यानन्द का उसे शास्त्रकारकृत बतलाना, तीर्थोपम कहना, प्रथित-पृथु-पथ–प्रसिद्ध-महानमार्ग प्रकट करना और स्वामी द्वारा मीमांसित निरूपित करना ये सभी बातें विशेष महत्त्वपूर्ण एवं सार्थ हैं। आगे डाक्टर कोठिया ने बल देते हुए लिखा है, कि विद्यानन्द के[2] इन तथा अन्य उल्लेखों से स्पष्ट है 'कि स्वामी समन्तभद्र ने इसी मंगल-स्तोत्र पर उसके व्याख्यान में 'आप्तमीमांसा' लिखी और स्वयं विद्यानन्द ने भी उसी की व्याख्या में अष्टसहस्री के अतिरिक्त 'आप्तपरीक्षा' रची। सूत्रकार एवं शास्त्रकार पदों से विद्यानन्द का स्पष्ट अभिप्राय तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ से है, तत्त्वार्थ वृत्तिकार आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि से नहीं है। सर्वार्थसिद्धिमें उक्त मंगल-स्तोत्र को अपना मङ्गलाचरण बना लिया गया है और इसी कारण उसकी व्याख्या नहीं की गयी। सर्वार्थसिद्धि में जो तत्त्वार्थशास्त्र के अवतरण की प्रश्नोत्तर रूप उत्थानिका दी गयी है, उसका यह अर्थ नहीं कि प्रश्नकर्ता भव्य प्रश्न करने पर आचार्य ने सारा व्याख्यान देकर उसे तत्काल निबद्ध किया है। अपितु उसने मोक्ष और मोक्षमार्ग की जिज्ञासा प्रकट की। तदनुसार आचार्य ने उसकी या उस जैसे अनेक भव्यों की जिज्ञासा-शांति के लिए उक्त प्रकार के ग्रन्थ-निर्माण की आवश्यकता अनुभव करके 'तत्त्वार्थ सूत्र' शास्त्र की रचना की और उसके आरम्भ में पूर्व परम्परानुसार उक्त स्तोत्र को मंगलाचरण के रूप में निबद्ध किया।

अत: मंगल-स्तोत्र के विषय में अधिक न लिखकर अब इतना ही लिखना पर्याप्त है, कि वह आचार्य गृद्धपिच्छरचित तत्त्वार्थ सूत्र का ही मंगलाचरण है, सर्वार्थ सिद्धि का नहीं।

इस विषय में पूज्य आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी ने अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिक ग्रन्थ से अनेकों प्रमाण निकाले हैं। उनमें से कुछ उद्धरण बानगी के रूप में यहां दिये जा रहे हैं—

अष्टसहस्री के मंगलाचरण में ही प्रारंभ में "शास्त्रावतार रचितस्तुतिगोचराप्त मीमांसितं कृतिरलं क्रियते मयास्य" इस उत्तरार्ध में श्री विद्यानंदि महोदय ने स्पष्ट कह दिया है कि शास्त्रावतार–तत्त्वार्थ सूत्र महाशास्त्र के प्रारम्भ में रचित स्तुति के गोचर जो आप्त है उनकी मीमांसा रूप यह कृति मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है।

१, श्री मत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुत -सलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानाऽऽरम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृत यत्।
स्तोत्र तीर्थोपमान प्रथित-पृथु-पथ स्वामि-मीमांसित तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथित सत्यवाक्यार्थसिद्धयै॥

२, इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्र-गोचरा।
प्रणीताऽऽप्तपरीक्षेय विवाद-विनिवृत्तये॥

—आप्त परीक्षा, का० १२३,१२४; पृ० २६५।

टिप्पणीकार श्री लघु समंतभद्र ने भी इसे अत्यधिक विस्तृत कर दिया है—

"इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्या संपदा गणधर प्रत्येक बुद्ध श्रुत केवलि दशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात् कुर्वद्भिरूमास्वामिपादराचायवर्यरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गंधहस्त्याख्य महाभाष्यमुपनिबन्धन्तः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्री स्वामि समंतभद्राचार्यास्तत्र मंगलपुरस्सर स्तवविषयपरमाप्त गुणातिशय परीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचन तीर्थस्य सृष्टिमापूरयाञ्चक्रिरे ।"

तत्त्वार्थाधिगमरूपमोक्षशास्त्र के ऊपर 'गंधहस्ति' नाम का महाभाष्य लिखते हुए श्री समंतभद्र स्वामी ने मंगलाचरण में स्तुति के विषय को प्राप्त परम आप्त के गुणों के अतिशयों की परीक्षा करते हुये 'देवागम' नामक प्रवचनतीर्थ की सृष्टि को बनाया है।

स्वयं श्री विद्यानंद महोदय ने छठी कारिका की उत्थानिका में—"नन्वस्तु नामैव कस्यचित्कर्म भूभृद्भेदित्वमिव विश्व तत्त्व साक्षात्कारित्व, प्रमाण सद्भावात् । स तु परमात्मार्हन्नेवेति कथ निश्चयो यतोहमेव महानभिवद्यो भवतामिति···"।

कर्म पर्वत भेदन करने वाले के समान कोई महापुरुष विश्व तत्त्व को साक्षात् करने वाले हो जावें, किन्तु वह परमात्मा अर्हंत ही है ? यह निश्चय कैसे हुआ कि जिससे 'मै ही आपके द्वारा अभिवद्य होऊ, मानों ऐसा प्रश्न श्री समतभद्र ने स्वयं भगवान् के सामने रखा है। आगे सातवीं कारिका की उत्थानिका मे भी कहते है कि—"भगवतोऽर्हत एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्ववीतरागत्वसाधनात् । ततस्त्वमेव महान मोक्षमार्गस्य प्रणेता नान्यः कपिलादिः।

इन वाक्यों से यह बात स्पष्ट है कि 'मोक्ष मार्ग के नेता, कर्म पर्वत के भेत्ता और विश्वतत्त्व के ज्ञाता' इन तीन विशेषणो से ही अर्हंत को सच्चा आप्त सिद्ध किया जा रहा है, अथवा अर्हंत में ये तीन विशेषण घटित होते है इसलिये ही वे सच्चे आप्त हैं। यह सिद्ध किया गया है।

आगे और देखिये—अंतिम ११४ वी कारिका की टीका में श्री अष्टसहस्रीकार क्या कहते है—

"शास्त्रारम्भेभिष्टु तस्याप्तस्य मोक्षमार्ग प्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत् सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता।"

शास्त्र के आरम्भ में स्तुति को प्राप्त जो आप्त हैं, वे 'मोक्षमार्ग के प्रणेता, कर्म पर्वत के भेत्ता और विश्वतत्त्व के ज्ञाता' इन तीन विशेषणों से युक्त भगवान् अर्हंत सर्वज्ञ ही है, अन्य कोई नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार अन्य योग का व्यवच्छेद करके भगवान् अर्हत में ही इन विशेषणों की व्यवस्था को करने में तत्पर यह परीक्षा की गई है। यह है सारे अष्टसहस्री ग्रन्थ का अंतिम उपसंहार। यह मंगलाचरण श्री उमास्वामी आचार्यकृत ही है, इस बात को सिद्ध करने के लिये इससे बढ़कर सबल प्रमाण और क्या हो

सकता है ? पूज्य श्री ज्ञानमती माता जी आश्चर्यपूर्वक कहा करती हैं, कि यह मंगलाचरण श्री उमास्वामी कृत है या नहीं ? विद्वानों में ऐसी शंका कहाँ से उत्पन्न हो गई ?

श्लोकवार्तिकालकार ग्रन्थ में भी श्री विद्यानंद महोदय ने स्थल-स्थल पर इस बात को स्पष्ट किया है। देखिये !

> [1]प्रबुद्धाशेष तत्त्वार्थ साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे ।
> सिद्धे मुनीन्द्रसस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥२॥
> सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मन· ।
> श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्त सूत्रमादिदम् ॥२॥

कल्याणमार्ग के अभिलाषी अनेक शिष्यों की मोक्षमार्ग जानने की इच्छा होने पर ही 'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तार······ ···। इस अच्छी तरह सिद्ध किये गये मंगलाचरण की भित्ति पर ही श्री उमास्वामी महाराज ने पहला सूत्र लिखा है। जिन्होने केवल ज्ञान के द्वारा संपूर्ण पदार्थ जान लिये हैं, ज्ञानावरण आदि घाति कर्म नष्ट कर दिये हैं तथा मोक्षमार्ग को प्राप्त करने और कराने वाले मुनि पुगवों द्वारा स्तुति करने योग्य हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव के सिद्ध होने पर ही तथा ज्ञानदर्शनोपयोग स्वरूप और मोक्ष से युक्त होने वाले शिष्य की मोक्षमार्ग को जानने का तीव्र अभिलाषा होने पर यह पहला सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग' उमास्वामी आचार्य ने प्रचलित किया है।

> "[2]सिद्धे मोक्षमार्गस्य नेतरि प्रबधेन वृत्त सूत्रमादिमं शास्त्रस्येति"।
> "ततो[3] नि· शेषतत्त्वार्थवेदी प्रक्षीणकल्मषः।
> श्रेयोमार्गस्य नेतास्ति स सस्तुत्यस्तदर्थिभिः" ॥४६

इन सभी प्रमाणो से सर्वथा यह बात सिद्ध हो जाती है कि मगलाचरण श्री सूत्रकार उमामी आचार्य-कृत ही है।

श्री उमास्वामी आचार्य ने 'गागर में सागर' को भरने वाली कहावत को पूर्णतया चरितार्थ कर दिया है। उनके इस तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ के ऊपर अनेकों बडे-बडे ग्रन्थ तैयार हो गये हैं। जब एक मगलचरण के ऊपर आप्त मीमांसा, अष्टशती और अष्टसहस्री जैसे जैनदर्शन के सर्वोपरि ग्रन्थ बन गये। आप्तपरीक्षा ग्रन्थ बन गया। तब उस ग्रन्थ की महत्ता और विशेषता की जितनी भी गौरव गाथाये गाई जावे, थोड़ी ही है। यही कारण है कि आज भी भारतवर्ष में दक्षिण-उत्तर आदि प्रांतों में सर्वत्र नर-नारी इस

---

१. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालकार प्रथम खड, पृ० ४०

२ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालकार प्रे० ख० पृ० ५८

३. तत्त्वार्थ श्लोक पृ० १४५

तत्त्वार्थ सूत्र का पाठ बड़ी भक्ति से करते हैं और एक उपवास करने का फल समझते हैं। बहुत-सी महिलाओं का तो नियम ही रहता है कि 'तत्त्वार्थसूत्र सुने बिना भोजन नहीं करना'। कहा भी है--

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः ॥

दश अध्याय से परिपूर्ण इस तत्त्वार्थसूत्र को पढ़ने पर एक उपवास का फल प्राप्त होता है ऐसा श्री मुनियों में श्रेष्ठ मुनियों ने कहा है।

इस ग्रन्थ का यह मंगलाचरण सच्चे आप्त-देव को सिद्ध करने में सर्वोपरि मान्य अमोघ उपाय है। ऐसा समझना चाहिए।

कु० मालती शास्त्री, धर्मालंकार
(संघस्थ)

पू. आर्यिका १०५ श्री ज्ञानमती माताजी का जीवन दर्शन

बहुतों ने रोका, पुरुषार्थ किया, समझाया लेकिन स्वातंत्र्य
प्रिय मैना को रोकने में सफलता कैसे मिलती,
त्याग के बढ़ते कदम को रोकने में सफलता नहीं मिली,
आखिर लोगों ने आश्चर्य प्रगट किया, अन्तर्मन से जयकारा बोला।

\+ \+ \+

न्याय शास्त्र के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ अष्टसहस्री, जिसको बनाने वाले आचार्य श्री विद्यानन्दि ने स्वय १२०० वर्ष पूर्व ही इसे कष्टसहस्री की सज्ञा प्रदान करदी है, ऐसे महान क्लिष्ट ग्रन्थ का सरल भाषा में हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत कर देना यह कोई महान व्यक्तित्व का ही कार्य है—साधारण जन तो उसके हिन्दी अभिप्राय को समझने मे ही अपनी शक्ति का निरीक्षण पहले कर लेते है। जिस महान मस्तिष्क ने इस स्याद्वाद, अनेकान्त एव सप्तभंगी से ओतप्रोत ग्रन्थ में मनरूपी मथानी से सारे ग्रन्थ का आद्योपान्त एक-एक अक्षर, एक-एक शब्द का मन्थन करके उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिप्राय को हृदयंगम कर लिया है—उस महान व्यक्तित्व के सम्बन्ध में बहुत थोड़े शब्दो द्वारा मैं आपको जानकारी प्रदान कर रहा हूं।

संस्कृत में प्रसिद्ध उक्ति—'गुणाः पूजास्थानम्, गुणिषु न वयः न च लिङ्ग'।

जन्मतिथी :—

आध्यात्मिक क्षेत्र में स्त्रीपर्याय के सर्वोत्कृष्ट आर्यिका के व्रतो से विभूषित विदुषी माता ज्ञानमती जी के नाम से प्रसिद्ध व्यक्तित्व का जन्म सम्पूर्ण शुभ्र ज्योत्स्ना से प्रसरित शरदपूर्णिमा (आसोज शुक्ला १५) वि० स० १९९१ सन् १९३४ की शुभ रात्रि में तीर्थंकरो की जन्म भूमि आयोध्या के निकट बाराबंकी जिले के एक छोटे से गाव टिकैतनगर में हुआ था। माता-पिता में धार्मिक वृत्ति होने से पुत्री का शुभ नाम रखा 'मैना'।

बाल्यावस्था :—

टिकैतनगर निवासी अग्रवाल जातिय श्रेष्ठि श्री छोटेलाल जी जैन को सौभाग्य प्राप्त हुआ कु० मैना के पिता बनने का। मन में बहुत प्रसन्नता थी, सर्वप्रथम संतान पुत्री को जन्म देकर माता मोहिनी-देवी को। वैसे कन्या का जन्म साधारणतया घर में कुछ समय के लिए क्षोभ उत्पन्न कर देता है, किन्तु विश्व में अनादि काल से पुरुषों के समान नारियों ने भी महान् कार्य कर धरा को गौरवान्वित किया है। बल्कि यों भी कह सकते हैं कि सतियों के सतीत्व के बल पर ही धर्म की परम्परा अक्षुण्ण बनी हुई है।

भारतीय परम्परा में वैदिक संस्कृति ने कन्या को १४ रत्नों में से एक रत्न माना है । माता पिता दोनों सौम्य, सज्जन, सरल एवं धर्म परायण थे । प्रथम सतान होने से कुमारी मैना को माता-पिता का सर्वाधिक प्यार एव वात्सल्य मिला । घर के पास ही जिनेन्द्र देव का विशाल मदिर एव पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन माध्यमिक विद्यालय होने से 'मैना' ने धार्मिक सस्कारों का आदर किया ।

ब्रह्मचर्य :—

संस्कारों का प्रभाव जीवन में बहुत महत्व रखता है । ११ वर्ष की अवस्था मे कुमारी मैना के जीवन पर अमिट छाप पड़ी । अकलक-निकलक नाटक के दृश्यों की । विवाह की चर्चा के समय जो बात अकलंक ने माता-पिता से कही थी कि "कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा, नहीं रखना ही श्रेयस्कर है ।" तदनुसार आपने भी उसी क्षण आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत रखने का मन में सकल्प कर लिया ।

कुमारी मैना का व्यक्तित्व बाल्यकाल से ही बड़ा आकर्षक था, सभी लोग आपके ज्ञान एव दिन चर्या से बहुत प्रसन्न रहते थे । कुशाग्रबुद्धि, सहनशीलता, वात्सल्य, कार्य करने की उत्सुकता एवं कार्य को पूरा करने की दृढ़ता तथा सयमित जीवन आपके विशेष गुण थें ।

साधना की ओर :—

समय बीतता गया । इधर कुमारी मैना जीवन के मधुर क्षण में प्रवेश कर रही हैं—माता-पिता एवं कुटुम्बीजन कुमारी मैना के विवाह-बन्धन की तैयारी में लगे हुए हैं, उधर आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज का बिहार उत्तर भारत में हो रहा था । दैवयोग से आचार्य श्री का बाराबकी में मंगल आगमन हुआ । बाराबंकी में आचार्य श्री के केशलोंच की सूचना टिकैतनगर गांव में भी पहुंची । कुमारी मैना भी अपने लघु भ्राता श्री कैलाशचन्द के साथ बाराबंकी केशलोंच देखने आयी । आचार्य श्री के केशलोंच देखने के लिए एक विशाल जन समुदाय उमड़ पड़ा था - विशाल जन समुदाय के मध्य में ही कुमारी मैना ने आचर्य श्री से क्षुल्लिका दीक्षा की याचना कर दी । समाचार पाकर घर से कुटुम्बी जन, माता-पिता, तथा गाव के अन्य बहुत से लोग आ गये । लोगों ने कुमारी मैना को बहुत समझाया—तरह-तरह की घोर यातनाएं दीक्षित जीवन में सहन करना पड़ती हैं, एकबार भोजन करना, पैदल चलना आदि बहुत कठिन एव दुरूह कार्य हैं—फिर घर में विवाह की सारी तैयारियां चल रही है । लेकिन कुमारी मैना के मन पर किसी के समझाने का कोई असर नही हुआ । अन्ततोगत्वा कुमारी मैना ने भाई कैलाशचन्द आदि को यह कह कर विदा किया—कि हमारा और आप लोगों का सम्बन्ध अब तक रहा और आगे भी रहेगा । अन्तर केवल इतना आयेगा कि अब तक हमारा आपका मोह का संबध था और आगे अब धर्म का सम्बन्ध रहेगा । विवश होकर कु० मैना के सामने सबको झुकना पड़ा ।

समय था २२ वर्ष पूर्व का। लोगों के अत्यन्त आग्रह एवं उग्र रूप धारण कर लेने से आचार्य श्री ने उस समय क्षुल्लिका दीक्षा न देकर सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार करा दिये अब यहीं से कुमारी मैना के जीवन ने आध्यात्मिक मोड़ ले ली।

क्षुल्लिका दीक्षा :—

बहुतो ने रोका, समझाया लेकिन स्वातंत्र्य प्रिय कु० मैना को रोकने में सफलता नही मिली।

६ माह बाद चांदनपुर श्री महावीर जी अतिशय क्षेत्र पर आचार्य श्री ससंघ पदार्पण करते हैं। पुनः कुमारी मैना दीक्षा की याचना करती है, आचार्य श्री ने योग्यता एव दृढ़ता को देखकर शुभ मिती चैत्रकृष्ण १ स० २००६ के दिन क्षुल्लिका दीक्षा प्रदान कर दी तथा त्याग एवं निश्चय की दृढ़ता को देखकर नाम रखा—'वीरमती।'

अब आपका सारा समय ध्यान, अध्ययन, मनन-चिन्तन मे व्यतीत होने लगा। धीरे-धीरे २ वर्ष बीत गये। अभी आपके कदम त्याग के अन्तिम चरण की ओर बढ़ने के प्रयास में थे।

आर्यिका दीक्षा :—वीरमती से ज्ञानमती

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की कुन्थलगिरि मे सल्लेखना हो रही है। म्हसवड़ चातुर्मास के मध्य ही आप भी कुन्थलगिरि आई और आचार्य श्री की विधिवत् सल्लेखना का दृश्य साक्षात् दृष्टि से देखा। आचार्य श्री ने अपने प्रथम शिष्य मुनि वीरसागरजी को आचार्य पट्ट की घोषणा कर दी है। आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार 'वीरमति' ने आचार्य वीर सागर जी महाराज के संघ में पदार्पण किया। धीरे २ कुछ समय बीता—तदनन्तर 'वीरमति' ने आ० वीर सागर जी से स्त्री पर्याय मे सर्वोत्कृष्ट आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली–वह दिन था वि० स० २०१३ बैसाख कृष्णा-२ का। राजस्थान की प्रसिद्ध नगरी माधोराजपुरा को इस समय का सौभाग्य प्राप्त हुआ। माता जी के ज्ञान की प्रतिभा को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य श्री वीरसागर जी ने दीक्षांपरांत 'वीरमति' का नाम परिवर्तन कर नामकरण कर दिया—'ज्ञानमती'।

अध्ययन अध्यापन :—

आचार्य श्री के सान्निध्य मे सबसे छोटी (२० वर्ष) आयु की आर्यिका एवं ज्ञान में अत्यन्त तीक्ष्ण होने से स्थान-स्थान पर प्रवचन रूपी ज्ञान गंगा प्रवाहित होने लगी—लेकिन दुर्भाग्य से आचार्य श्री २ वर्ष पश्चात् इस नश्वर देह को त्याग कर गये। आचार्य श्री की समाधि के पश्चात लगभग ६ वर्ष तक पूज्य आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज के सानिध्य में रह कर ध्यानाध्ययन किया।

अंग्रेजी की एक सुप्रसिद्ध कहावत है—**'The Power Study of mankind is man'.** मनुष्य के अध्ययन का उपयुक्त विषय मनुष्य ही है।

प्रारम्भ से ही अध्ययन-अध्यापन आप का प्रमुख व्यसन सा रहा है। दीक्षोपरांत सारे भारत में भ्रमण करके अनेकों प्राणियों को आपने त्याग के उत्कृष्ट व्रत आर्यिका एवं मुनि मार्ग पर आसीन कराया है। तथा शिष्यों को स्वयं ही न्याय, व्याकरण, छद, अलंकार, सिद्धांत एव अध्यात्म आदि विषयों के उच्च-कोटि का ज्ञान प्रदान किया है। आपकी ओजस्वी वाणी ने न जाने किन-२ पर मधुर प्रहार करके जीवन को परिवर्तित कर दिया है। दिन-प्रतिदिन आपकी ज्ञानगरिमा की मधुर सौरभ जन-२ में उत्तरोत्तर व्याप्त हो गई।

तीर्थ यात्रा :—

वि० सं० २०१६ में तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी की यात्रा हेतु आपने ३ आर्यिका एवं १ क्षुल्लिका के साथ आचार्य श्री की आज्ञा लेकर संघ से अलग विहार किया। सम्मेदशिखर दर्शनोपरात दक्षिण भारत का भ्रमण कर कलकत्ता, हैदराबाद, श्रवणबेलगोला तथा सोलापुर जैसे भारत के विशाल एवं प्रमुख शहरों में चातुर्मास करके अतीव धर्म की प्रभावना की। स्थान-स्थान पर सार्वजनिक सभाओं द्वारा आपने भगवान् महावीर की वाणी का महान उद्योत किया है।

दक्षिण भारत की यात्रानतर पूज्य माताजी ने मध्य-भारत को भी अपने पावन पद रज से सुशोभित किया। अनेक छोटे-बडे शहरो में विहार करके धर्म की वर्षा करते हुए पूज्य माता जी का मगल पदार्पण इन्दौर निकटस्थ सनावद मे होता है। शुभ वर्ष सं० २०२४ का चातुर्मास पूज्य माता जी ने सनावद में करने का निर्णय दिया। सनावद में पूज्य माताजी का चातुर्मास होता है तथा ४ महीने निरंतर अनेकों प्रकार से धर्म कार्य के द्वारा समाज को एक नई दिशा प्राप्त होती है। आपके वात्सल्यपूर्ण, विद्वत्तापूर्ण एव मार्मिक उपदेशों को श्रवण कर सनावद निवासी, कालेज के विद्यार्थी श्री यशवंत कुमार तथा श्री मोतीचद जी सराफ के जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा, इधर पूज्य माताजी की सद्प्रेरणा का आश्रय मिला—दोनो नवयुवको के जीवन मे एक नया मोड़ आया।

संघ समागम :—

आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज विशाल संघ सहित सलूम्बर निकटस्थ ग्राम करावली (राज०) में विराजमान थे—सनावद चातुर्मासोपरांत पूज्य माताजी आचार्य सघ मे पदार्पण करने की मगल कामना करके सनावद से विहार कर देती है। शीघ्र ही आचार्य सघ से माताजी का मंगल मिलन होता है। साथ में बालब्रह्मचारी श्री मोतीचन्द जी सर्राफ एव श्री यशवतकुमार भी पूज्य माताजी की छत्र छाया में विद्याध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त कर लेते हैं। पूज्य माताजी ने अन्य विद्यार्थियों के साथ इन्हें भी व्याकरण न्याय, सिद्धान्त आदि ग्रन्थों का अध्ययन कराना प्रारम्भ कर दिया।

प्रतापगढ चातुर्मास सम्पन्न होने के बाद आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज का विशाल संघ समुदाय के साथ श्री महावीर जी अतिशय क्षेत्र पर पचकल्याणक प्रतिष्ठा की सानद समाप्ति के लिए

मंगलपदार्पण होता है। उस समय श्री महावीर जी क्षेत्र पर आ० शिवसागर जी महाराज के विशाल संघ समेत कुल ७२ साधुओं के विशाल समुदाय का दृश्य कई शताब्दियों के बाद प्रथम अवसर था। श्रावक गण भक्ति में फूल रहे थे। लेकिन कर्मों की विचित्रता से ही मानुष के हृदय कमल में वैराग्य के अंकुर निकलते हैं। कर्मों के आगे किसी का वश नहीं चलता—आ० शिवसागर जी महाराज प्रतिष्ठा से पूर्व ही विपुल साधु-समुदाय के मध्य इस नश्वर शरीर का परित्याग करके हम सबकी दृष्टि से अविद्य-मान हो गये। अगर उस समय की करुण गाथा को हम आपके समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास करें तो एक विशाल ग्रन्थ तैयार हो जावेगा।

महान प्रेरणा :—

आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज की समाधि के पश्चात् विशाल समुदाय के मध्य बालब्रह्मचारी, महानतपस्वी, त्यागमूर्ति पूज्य मुनि धर्मसागर जी महाराज को आचार्य पट्ट प्रदान किया गया।

यशवतकुमार एव श्री मोतीचद जी को भौतिक युग (गृह-पिंजरे) से आचार्य सघ रूपी गुरुकुल में आये १ वर्ष ही बीते होंगे—कि ससार की नश्वरता को देखकर यशवंत कुमार में वैराग्य के तीव्र भाव बढ़े और पूज्य वात्सल्यमूर्ति ज्ञानमती माताजी की सद्प्ररणा प्राप्त कर नवीन आचार्य श्री के चरण—कमलो में यथा-जात दीक्षा की याचना कर दी—शुभ मिती फाल्गुन शुक्ला ८ स० २०२५ के दिन बिना किसी पूर्वाभ्यास के ५०-६० हजार विशाल जन समुदाय क मध्य दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली—सबसे अल्प आयु (१९ वर्ष) की प्रथम दीक्षा प्रदानकर आचार्य श्री धर्म सागर जी महाराज ने तदनुरूप यश-वत कुमार का नाम रखा—वर्धमानसागर। जो कि आज हम सबके समक्ष आ० सघ के सान्निध्य में रत हैं—यह महान उदाहरण जो आपके सामने प्रस्तुत किया- पूज्य माताजी के अथक प्रयास एव प्रतिभा का ही द्योतक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अष्टसहस्री के सपादन कार्य मे जिन मोतीचद जी ने अपने समय का सदुपयोग किया है—ये वही मोतीचन्द जी है जो पूज्य माताजी के मार्मिक प्रवचनो से प्रभावित होकर ६ वर्ष पूर्व गृह-पिजरे से निकलकर आचार्य सघ रूपी पाठशाला मे माताजी से अध्ययनार्थ आये। आपके पिता श्री अमो-लकचद जी सा० एव मा रूपाबाई ने बहुत ही विचार पूर्ण दृष्टि से बच्चे का नाम मोतीचन्द रखा था। धनाड्य परिवार होने से सभी साधन उपलब्ध होते हुए भी वैराग्यपूर्ण भावनाओं के कारण आपने बिना किसी की प्रेरणा के १८ वर्ष की अल्पायु में सन् १९५८ मे आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था। १० वर्ष घर पर ही बड़ी कुशलता से व्यापार करते हुए धर्माराधन में सलग्न रहकर सामाजिक एव धार्मिक कार्यों में अग्रसर रहकर व्यतीत किये।

पश्चात् पूज्य माताजी के साथ आकर अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थो का ज्ञान प्राप्त करके शास्त्री एवं बंगीय सं० शि० परिषद की न्यायतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण करके आपके समक्ष अनेको ग्रन्थोंके संपादन लेखन एव

अन्य धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कर रहे हैं। आपके घर सोने चांदी का व्यापार होता है आपकी प्रेरणा से आपके पिताजी ने ४ वर्ष पूर्व पचीस हजार रु० का दान निकालकर एक पारमार्थिक ट्रस्ट की स्थापना की—जिसके माध्यम से सनावद में ही आज २ धार्मिक पाठशालाएं चल रही हैं। दो छोटे भाई आपके द्वारा छोड़े हुए व्यापार को सम्हाल रहे हैं।

अभी पूज्य श्री ज्ञानमती माता जी की सद्प्रेरणा से स्थापित 'दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान' के निर्माण कार्य में भी आपने पचीस हजार रु० की राशि दान में घोषित की है। इस प्रकार आपके पिताजी धर्म कार्यों में समय-समय पर विपुल धन राशि व्यय करते आ रहे हैं।

शास्त्री एवं न्यायतीर्थ के अलावा आपने पूज्य माता जी से जैन भूगोल का बड़ा ही गहन अध्ययन प्राप्त किया है। इस प्रकार ६ वर्ष से संघ की सेवा में रहकर व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, भूगोल अध्यात्म आदि के ग्रन्थों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया है। आपके सहिष्णुता एवं वात्सल्य जैसे अनुकरणीय गुणों से हर व्यक्ति प्रभावित रहता है। ऐसे महान व्यक्तित्व से समाज एवं धर्म को अनेक आशाएं हैं यह भी पूज्य माताजी की ही प्रतिभा का परिचायक है।

पूज्य मुनिराज संभवसागर जी, पूज्य मुनिराज वर्धमान सागर जी स्व० पूज्य आर्यिका पद्मावती जी पू० आ० जिनमतीजी, पू० आ० आदिमतीजी, पू० आ० श्रेष्ठमतीजी, पू० आ० अभयमतीजी, पू० आ० जयमतीजी, पू० आ० रत्नमतीजी, तथा पू० आ० यशोमतीजी पू० क्षु० मनोवतीजी आदि ने आप से ही ज्ञान एवं त्याग की प्रेरणा प्राप्त की है।

श्री मोतीचद जी के अतिरिक्त मुझे तथा कु० मालती, कु० शीला, कु० सुशीला, कु० कला, कु० माधुरी, कु० त्रिशला कु० मजू आदि विद्यार्थियों को शास्त्री एवं न्यायतीर्थ का अध्ययन करा कर पूज्य माताजी ने अनेकों होनहार छात्रों एवं छात्राओं को ज्ञान दान प्रदान किया है। आपकी लघु सहोदरा कु० त्रिशला एवं कु० माधुरी ने १२ एव १४ वर्ष की अल्पायु में राजवार्तिक, गोमट्टसार, सर्वार्थसिद्धि, अष्टसहस्री आदि ग्रंथों का अध्ययन करके शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण कर एक नया उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है। यह सब पू० माताजी की उच्चकोटि की प्रतिभा एवं ज्ञान गरिमा का ही फल है। पू० माताजी की मातेश्वरी मोहनी देवी ने भी सन् १९७१ के अजमेर चातुर्मास के अनन्तर आपकी प्रेरणा से आपके ही पदानुकूल आर्यिका के सर्वोत्कृष्ट व्रत अंगीकार करके भारतीय जैन इतिहास को गौरवान्वित किया है। जिस-जिस बगीचे में आपने उपदेशामृत एवं ज्ञान रूपी बीज डाला है, वह प्रत्येक बगीचा एक न एक दिन मधुर सुवासों से युक्त पुष्पित एव पल्लवित नजर आया है। आपकी छत्र छाया में रहने वाली अनेक कु० बालिकाएं ज्ञान एवं त्याग में उत्तरोत्तर बढती जा रही हैं। यह है आपका जीवन एवं आपकी छत्र छाया में रहने वालों के जीवन के ज्ञान एव त्याग मे बढ़ते कदम।

जिनागम मंथन :—

लेखन 'चिन्तन' का प्रसाद है । पू० माताजी ने जैन भूगोल का बहुत ही सूक्ष्म अध्ययन किया है। 'त्रिलोक भास्कर', 'जेन ज्योतिर्लोक एवं 'जम्बूद्वीप' नामक पुस्तकों में आप दृष्टि डालकर देखें तो आपको इस तपः पूत जीवन के महान क्षणों द्वारा अन्वेषित सामग्री प्राप्त होगी ।

जिस समय हम न्यायदर्शन की ओर दृष्टि डालते हैं तो प्रस्तुत ग्रन्थ 'अष्टसहस्री' (भाषानुवाद-सहित) एव 'न्यायसार से आपके गहन अध्ययन एव प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है ।

पू० माताजी बहुमुखो प्रतिभा से युक्त हैं । प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, एवं द्रव्यानुयोग में माताजी का समान अधिकार है । व्याकरण, छद, अलकार आदि में आप अच्छो तरह सिद्ध-हस्त हैं । आपके द्वारा अनुवादित 'कातत्रव्याकरण' 'वोरज्ञानोदयग्रथमाला' के प्रकाश्य विभाग में विद्यमान है । संस्कृत की स्तुतिया बनाना आपके लिए बहुत ही साधारण सा कार्य लगता है । हिन्दी की रचना में आपकी रूचि कम ही है, फिर भी 'उषावदना' ग्रामोफोन रिकार्ड आपके द्वारा रचित स्तुति का ही सुफल है । कई ग्रामो एव शहरों के बालक बालिकाओं की जिह्वा पर गुनगुनाते हुए स्वर में आने वाली 'मंगलस्तुति भी आपकी बहुमूल्य देन है ।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थमाला के प्रकाश्य विभाग में 'भगवान महावीर कैसे बने' सचित्र पुस्तक को देखने से भगवान महावीर के पूर्व पर्यायो अनेको भवो का स्पष्टीकरण आपको प्राप्त होगा । चित्रों से पुस्तक को अतीव रोचक बनाने का पुरुषार्थ किया है । यह भी पू० माताजी के सोजन्य से ही प्राप्त हुई है ।

पू० माताजी हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत एव कन्नड भाषा को उद्‌भट विद्वान् हैं । इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भाषाए आंशिक रूप से आपको प्रायोग्य हैं ।

प्रेरक स्तम्भ :—

'दि० जैन त्रिलोक शोध सस्थान' की स्थापना करवा कर आप जेन समाज के लिए ही नही वरन् समग्र भारत को एक अभूनपूर्व, अद्वितीय एव दर्शनोय चोज प्रदान कर रही है । इस सस्थान के अतर्गत सचालित 'वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला' से अनेकों ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे है ।

उपरोक्त सस्थान के अन्तर्गत मासिक मुख पत्र के रूप में 'सम्यग्ज्ञान' भी आपके समक्ष विपुल सामग्री सहित प्रस्तुत करके हमें गौरव का अनुभव हो रहा है । क्योकि प्रस्तुत पत्रिका में सारे लेखो का सग्रह इसी तपः पूत व्यक्तित्व के सौजन्य से प्राप्त हो रहा है ।

इस प्रकार हम देखते है कि २२ वर्ष के दीक्षित जीवन मे पू० माताजी ने स्व एवं पर सम्बन्धी अनेको कार्य किये—दर्शन एव ज्ञान को चारित्र से अलकृत किया ।

वह भी समय था—जब बहुतों ने रोका था, समझाया था, पर स्वातंत्र्य
प्रिय कुमारी मैना को रोकने में सफलता कैसे मिलती,
त्याग के बढ़ते कदम को रोकने में सफलता नहीं मिली थी,
अब लोगों ने आश्चर्य प्रगट किया—अन्तर्मन से जयकारा बोला।

एक हैं अष्टान्हिका के महान् व्रतों को याद दिलाने वाली मैना। आज यह मानव जीवन के सर्वोत्कृष्ट व्रत त्याग वृत्ति को याद दिलाने वाली मैना (ज्ञानमती) हैं। दोनों ही मैना वीतराग भगवान की भक्ति एवं धर्म में सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान तथा चारित्र के कारण संसार में क्रमशः मान्य एवं वन्दनीय बन गई हैं।

पू० माताजी के चरणों में शतशः नमन।

दिल्ली
२० अगस्त १९७४

रवीन्द्र कुमार जैन
शास्त्री, बी० ए०

★★★

दो शब्द

३ फरवरी १९७१ टोंक (राज०) में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर की बात है। लखनऊ विश्वविद्यालय से केवल बी० ए० तक ही अध्ययन प्राप्त करके पूज्य मातुश्री के चरणों में दर्शनार्थ उपस्थित हुआ था—पूज्य मातुश्री ने लौकिक अध्ययन एवं जीवन की नश्वरता के अनेक उदाहरणों द्वारा हृदय को परिवर्तित कर दिया। अन्ततः पूज्य मातुश्री के चरणों में रहकर कुछ काल तक धार्मिक शिक्षण लेने का मन में निर्णय लेना पड़ा। सौभाग्य था—पुण्योदय था, पूज्य मातुश्री ने ३ माह के अन्दर मुझे शास्त्री परीक्षा के सारे पाठ्यक्रम का अध्ययन करा दिया। अध्ययन करके मैंने परीक्षा दी और अच्छे अंकों से उत्तीर्णता प्राप्त हुई, सफलता से उत्साह बढ़ा और मुझे अनुभव हुआ कि जो अध्ययन पूज्य मातुश्री ने ३ माह में मुझे अथक परिश्रम से कराया है। वह मैं किसी विद्यालय या कालेज में ३ वर्ष से कम मे नहीं कर सकता हूं। धीरे-धीरे धार्मिक अध्ययन एव साधु सेवा में निरन्तर इच्छा बढ़ती गई तथा विश्वविद्यालय के अध्ययन की ओर से रुचि घटती गई। जिसके परिणाम स्वरूप ५ मई सन् १९७२ को पूज्य माता जी की सद्प्रेरणा एवं भाई श्री मोतीचन्द जी के अथक प्रयास से मैंने नागौर (राज०) में विराजमान आचार्य श्री १०८ धर्मसागर जी महाराज से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करके जीवन को मोड़ देने का निर्णय लिया। पश्चात् कुछ समय गृहप्रवास में और बिताकर पूज्य माता जी के दिल्ली चातुर्मासान्तर्गत दिल्ली आकर मातुश्री की प्रेरणा से स्थापित 'दि० जैन त्रिलोक शोध सस्थान' तथा संस्थान के अन्तर्गत संचालित "वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला" एव सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका के सपादन कार्य में सहयोग करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ—यह सब पूज्य मातुश्री की ही कृपा का प्रसाद है। जो इतने उच्चकोटि के ग्रन्थ आदि के सम्पादन कार्य में सहयोग देने की मुझ में क्षमता प्राप्त हुई। अन्त में पूज्य मातुश्री के चरणों में श्रद्धा सुमन समर्पण करता हुआ—आप सब के समक्ष अष्टसहस्री का प्रथम भाग उपस्थित कर रहा हू आशा है आप सब लोग पूज्य माता जी की साधना से पूर्ण रूप में लाभान्वित होंगे।

२० अगस्त १९७४ **रवीन्द्र कुमार जैन**

ब्यावर निवासी जयपुर प्रवासी, सेठ सा० हीरालाल जी (रानी वालों) का पुनीत सहयोग

प्रस्तुत अष्टसहस्री प्रथम भाग के पुनीत सहयोगी सेठ हीरालाल जी के पूर्वज मूल से खुर्जा निवासी रहे हैं। किन्तु प्रसिद्धि "रानी वालों" के नाम से हुई। आपके पिता रायबहादुर सेठ चंपालाल जी सन् १८७५ के आस पास ब्यावर आये एवं रुई का व्यापार प्रारम्भ किया। इस व्यापार में इनकी बड़ी ख्याति हुई तथा बगाली देशी रुई के व्यापार में 'काटनकिंग' नाम से प्रसिद्ध हुए।

सन् १९०६ में सेठ चम्पालाल जी ने राजस्थान की तीसरी और ब्यावर की दूसरी कपड़ा मिल—दी एडवर्ड मिल्स की स्थापना ६ लाख चालोस हजार की अधिकृत पूजी से की। सेठ चम्पालाल रामस्वरूप फर्म की उन दिनों भारतवर्ष मे करीब ५२ दुकाने चलती थी। यह फर्म अपनी व्यापारिक प्रतिष्ठा के लिए सर्वत्र विख्यात थी। सेठ सा० अजमेर जिले के सरकारी खजाची थे, तथा ब्यावर में आनरेरी मजिस्ट्रेट भी थे।

उदार मनोवृत्ति वाला धर्मनिष्ठ परिवार होने से वि० स० १९४८ (सन १८९२) में सेठ चपालाल जी तथा उनके पाच भाइयो ने ब्यावर में अजमेरीगेट के बाहर एक विशाल नशिया का निर्माण कराया। नशिया मे बना मदिर पूर्णतया सगमरमर का बना हुआ है। मंदिर में कुछ मूर्तिया मूल्यवान रत्नो की भी है। इस मदिर की विम्ब प्रतिष्ठा के समय लगभग एक लाख व्यक्ति एकत्रित हुए थे।

वि० स० १९९० में चा च. आचार्य श्री शांतिसागर जी (दक्षिण) तथा आचार्य शातिसागर जी (छाणी) के युगल सघ का चातुर्मास आपकी ही नशिया मे हुआ। एक वर्ष बाद आ० कल्प श्री चद्र सागर सागर जी का एव सन् १९५८ में १०८ आ. श्री शिवसागर जी का ससघ चातुर्मास हुआ। इसी प्रकार लगभग सभी आचार्य सघो, त्यागियो का आगमन समय-समय पर होता रहता है। साधु सघों की सेवा मे एव नगर मे होने वाले धार्मिक समारोहों मे आपके परिवार का विशेष सहयोग रहता है।

आपकी नशिया में सन् १८९५ मे ऐलक पन्नालाल दि० जैन विद्यालय की स्थापना, हुई जिसमे वर्तमान व पूर्व के अनेक विद्वानो ने अध्ययन प्राप्त कर सरस्वती का वरद् हस्त प्राप्त किया। इसी प्रकार इसके एक विशाल भवन मे ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन भी स्थापित है, जिसमे लगभग ७००० (हस्तलिखित एव मुद्रित) ग्रथों का सग्रह है।

सेठ हीरालाल जी ने बाल्यकाल से अपने पिता जी का अनुसरण करके धार्मिक जीवन बिताया है। आपके घर मे भी एक चैत्यालय है। आपके ८ भाइयो में भी धार्मिक मनोवृति है।

स्वय आपने भी समय-समय पर विशेष दान गुप्त रूप में किया है। अनेक सस्थाओं में भी आप पदाधिकारी रहे है। महान् व्यक्तित्व होते हुए भी आप निरभिमानी है। धर्मात्माओ को देखकर आज भी आपका वात्सल्य उमड़ पड़ता है।

सन् १९७१ के अजमेर चातुर्मास के अनंतर जब प० श्री ज्ञानमती माता जी का ब्यावर पदार्पण हुआ तब आपने संघ की बड़ी सेवा की तथा माता जी की प्रेरणा से ब्यावर में ही बनने वाली जम्बूद्वीप रचना (माडल) के निर्माण में भी आर्थिक सहयोग प्रदान किया। इन दिनो अष्टसहस्री प्रकाशन के विषय में विचार विमर्श चल ही रहा था और आपके चारो पुत्र श्री देवेन्द्रकुमार जी, मधुकुमार जी, वीरेन्द्र-कुमार जी एव सुरेन्द्रकुमार जी तथा दोनो सुपुत्रियां शारदाबाई एव सुशीलाबाई ब्यावर आये हुए थे। आपके ही समान आपके पुत्र पुत्रियों के भी धार्मिक संस्कार है। उस समय श्री देवेन्द्रकुमार जी ने स्वेच्छा से ५००१) नकद देकर अष्टसहस्री के प्रकाशन का शुभारंभ कराया। अनतर ५०००) और भेजकर प्रकाशन को तीव्रगति प्रदान करने मे पुनीत सहयोग प्रदान किया। पश्चात् इस प्रथम भाग में होने वाले पूर्ण व्यय के लिए स्वीकृति प्रदान कर जिनवाणी की सेवा का एक महान एव अनुकरणीय कार्य आपके द्वारा सम्पन्न हुआ है।

आपके दो पुत्र— श्री देवेन्द्रकुमार जी एव मधु कुमार जी बबई मे तथा दो पुत्र श्री वीरेन्द्रकुमार जी एव सुरेन्द्रकुमार जी जयपुर में व्यापार के निमित्त से आ गये है। स्वास्थ लाभ की दृष्टि से आप भी पिछले २-३ वर्षों से जयपुर ही रहने लगे है।

पूर्व की भांति भविष्य में भी आपका परिवार धर्मनिष्ठ रहकर धर्मायतनों की तन मन धन से सेवा करता रहे यही शुभ कामना है।

मोतीचन्द जैन सर्राफ

—:o:—

न्यायसार

परिशिष्ट में 'न्यायसार' दिया गया है। न्यायशास्त्र में प्रवेश करने के इच्छुक जन सर्व प्रथम ही इसका मनन कर लेवे पुन: अष्टसहस्री ग्रन्थ के स्वाध्याय में अधिक आनंद आयेगा। और सर्वत्र सभी विषय सरलतया समझ मे आ जावेंगे। प्रत्येक मतावलम्बियो की क्या क्या मान्यतायें हैं एवं जैनाचार्यों की क्या मान्यता है। इस बात का इस 'न्यायसार' में बहुत ही संक्षिप्त तथा स्पष्ट विवेचन है।

ग्रन्थमाला परिचय

भगवान महावीर स्वामी के परिनिर्वाणोत्सव के पुनीत अवसर पर स्थापित 'दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान' के अन्तर्गत ग्रन्थ प्रकाशन हेतु 'वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला' की स्थापना वीर नि० सं० २४९८ मे हुई है। ग्रन्थमाला का 'प्रथमपुष्प' अष्टसहस्री प्रथमभाग (भाषानुवादसहित) श्रीमान सेठ हीरालाल जी (रानी वाले) जयपुर (राज०) के द्रव्य से प्रकाशित हो रहा है।

अन्य ग्रन्थो के प्रकाशन की सुविधा के लिए १००१) एक हजार एक रुपये प्रदान करने वाले इस ग्रन्थमाला के सदस्य मनोनीत किये जाते हे। कई ग्रन्थो का प्रकाशन कार्य चल रहा है। ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित प्रत्येक ग्रन्थ की एक-एक प्रति ग्रन्थमाला के सदस्यो को भेंट स्वरूप प्राप्त होती रहेगी। इस पुनीत कार्य हेतु निम्नलिखित धर्मानुरागी बन्धुओं ने १००१) की स्वीकृति प्रदान करके ग्रन्थ प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया है।

१. डा० श्री कैलाशचंद जी जैन [राजा टाइज] दिल्ली।
२. श्री नेमीचंद जी जैन, रोहतक रोड, दिल्ली।
३. ,, जवाहर लाल जी जैन, रोहतक रोड, दिल्ली।
४. ,, छोटेलाल कैलाशचंद जैन, टिकैतनगर [बाराबंकी, उ० प्र०]।
५. ,, फूसूशाह प्रद्युम्न कुमार जैन, टिकैतनगर [बाराबंकी, उ० प्र०]।
६. श्रीमती शान्ति बाई जी जैन, कश्मीरी गेट, दिल्ली।
७. श्रीमती इलाइची बाई जी जैन, कश्मीरी गेट, दिल्ली।
८. श्री अमोलकचंद जी फूलचंद सा जी जैन सर्राफ सनावद, [म. प्र.]।
९. श्रीमती केतकी देवी धर्मपत्नी सेठ श्रीपत जी जैन (भा. व. महासभा के मंत्री) अजमेर।
१०. श्री उमेशचंद जी जैन नजफगढ, दिल्ली।

११. ,, मांगीलाल जी पहाड़िया, हैदराबाद (आ. प्र.)।
१२. ,, गिन्नी लाल जी कलकत्ता-१२।
१३. श्री मती सौ. जीउ बाई हैदराबाद (आ. प्र.)
१४. श्री बालचन्द चन्द्रकुमार सन्तकुमार जैन टिकैतनगर।
१५. ,, रामचन्द्र जी ठेकेदार, जयपुर (राज.)।
१६. ,, मूलचन्द राधेलाल जी जैन बाण वाले, जयपुर (राज.)।
१७. ,, श्याम लाल जी ठेकेदार, दिल्ली।
१८ ,, बहादुर सिंह जी जौहरी, दरीबाकला, दिल्ली-६।
१६. ,, भूपाल भीमगोंडा पाटिल, बम्बई।
२०. ,, सुन्दर लाल जैन (सरूरपुर वाले) गाधीनगर, दिल्ली।
२१. श्रीमती मगनमाला देवी जैन ध प. डा. नरेन्द्र प्रसाद जी जैन, दरियागज, दिल्ली।
२२. श्री हीरालाल जी कमलचंद जी [हाथरस वाले] गाधीनगर दिल्ली।
२३. ,, अजित प्रसाद जी जैन [हाथरस वाले] गांधीनगर, दिल्ली।
२४. श्रीमती मायावती जैन, धमपत्नी रघुनाथ प्रसाद जी जैन गाधीनगर, दिल्ली।
२५ श्रीमती सुमित्रा देवी एव महेन्द्रा देवी जैन, रूपनगर, दिल्ली।
२६. श्री विजयकुमार जी वैद्य, गाधी नगर, दिल्ली।
२७. ,, सुखानद जी प्रेमचन्द जी जैन, पखरपुर (बहराईच उ. प्र.)।
२८. ,, महेश चद जी जैन, रामनगर, लोनी रोड, शाहदरा, दिल्ली।
२६. ,, बीजालाल जी रतनलाल जी जैन, किशनगढ (राज)।
३०. ,, जयकुमार मूलचद जी जैन सर्राफ, मेरठ।
३१. ,, लल्लूमल जी शीतल प्रसाद जी जैन सर्राफ, मेरठ।
३२. ,, जोधामल जी कैलाशचद जी जैन सर्राफ, मेरठ।
३३. ,, रघुनन्दन प्रसाद जी राजकुमार जी, मेरठ।
३४. ,, सौ. कुसुमलता जैन ध. प. महेशचद जी जैन हस्तिनापुर, (मेरठ)।
३५. ,, रोशनलाल जी जयपाल जी जैन बिनोली मेरठ।
३६. श्रीमती कुसुमलता देवी जैन ध. प स्व. लाला श्री कल्याणसिंह जी जैन शाहदरा-दिल्ली।

शुद्धि पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पेज	पंक्ति
तद्गुणातिशय	तद्‌गुणातिशय	६	५
निश्श्रेयस	निःश्रेयस	७	१
वाक्यार्थो	वाक्यार्थौ	१७	१
बुध्यारुढस्य	बुद्धयारूढस्य	३३	१
वक्त्रप्रेत	वक्त्रभिप्रेत	३३	२
अविपर्यस्त्वात्	अविपर्ययस्त्वात्	३६	२९
अकुर्वन	अकुर्वन्	३९	८
निराकणम्	निराकरणम्	४०	३
अर्थ भाट्ट	भाट्ट	४३	१३
लिङ्ग	लिङ्गं	५२	६
प्रतिमास	प्रतिभास	५७	२७
व्पापार	व्यापार	५९	२८

पेज ६३-६४ पर टिप्पणी में गडबडी हुई है ६४ पेज की "विधिकथन" की टिप्पणी ६३ पर रह गई है उसमें नम्बर नही है आगे "धर्मत्वेन" की टिप्पणी न होने ये ६४ पेज पर ७ वीं टिप्पणी से सुधार हुआ है।

अशुद्ध	शुद्ध	पेज	पंक्ति
सिद्धयेत ?	सिद्धयेत् ?	६९	५
अश	अश	६९	२०
ही	नही	७३	१७
मतव	मतमव-	७६	२८
सौगतमत	सौगतमत	९०	१
स्वपक्ष	स्वपक्षं	९०	१
रहितनामर्थः	रहितानामर्थः	९२	२८
यजगादि	यजनादि	९३	२८
व्यापृतता	व्यापृता	९९	२२
स्त्रान	स्नान	१०२	२५

अशुद्ध	शुद्ध	पेज	पंक्ति
व्यर्क्तयर्थ	व्यक्तयर्थ	१०७	३
जुहया	जुहुया	१०७	२४
कतृकः	कर्तृकः	११४	२२
गाण	गौण	१३१	६
कथमस्तथाहि	कथ तथाहि	१३५	२५
सुदूर	सुदूर	१३६	२
चोद्‌र्धवता	चोर्द्धवता	१४१	६
ताद्रूप	ताद्रूप्य	१४१	६
स्वातत्र्येण	स्वातन्त्र्येण	१४४	३
यापारस्य	व्यापारस्य	१४६	२६
वाक्य रथ	वाक्यस्थ	१४७	१
अश	अंश	१४७	८
अभाव न होने से अनवस्था आ जायेगी	अभाव होने से अनवस्था नही आवेगी	१४६	१०-११
पाको	पाचको	१५३	१२
"जैन भवति"	जैन "भवति"	१५३	१३
याग	याग	१५८	१२
प्रत्यद् दूमवर	प्रत्ययवद्दूर	१६०	५
धवलयोः	धवलयोः	१६१	२६
परिष्पदात्मक	परिस्पदात्मक	१६३	२०
परव्रह्मादा	परब्रह्मादौ	१७३	१
श्रमती	भ्रमती	१७५	२६
भवदमिः	भवद्भिः	१८४	१
नाम्	नाम	१८८	४
वैकल्प	वैकल्य	२००	३०
स्त्रान	स्नान	२०५	२७
सिद्धि	सिद्धिका	२१५	२६
किञ्चिद् निणीत	यह अष्टशती मे नहीं है । श्लोक है'	२२२	५

अशुद्ध	शुद्ध	पेज	पंक्ति
अनक	अनेक	२३८	३०
चतुथ	चतुर्थ	२५२	६
भ्यासतै	भ्यासशतै	२५५	५
सर्वज्ञो ज्ञायते	सर्वज्ञो न ज्ञायते	२५८	१
प्रत्यासत्त र्ज्ञाना	प्रत्यासत्तेर्ज्ञाना	२७४	१
व्यापार व्याहा	व्यापारव्याहार	२६१	२४
संस्कतृणा	सस्कर्तृणा	२६२	३
पथ्वी	पृथ्वी	२६३	१२
सर्थस्य	समर्थस्य	२६४	१
याशी	यादृशी	२६६	८
सावाद्	सद्भावाद	३०४	५
सन्निश	सन्निवेश	३०८	२
कवल	केवल	३११	७
परमाप्वा	परमाण्वा	३१८	२
सुक्ष्माद्यर्थानां	सूक्ष्माद्यर्थानां	३१८	३
बुद्धयूत्पादक	बुद्धयुत्पादक	३१८	३
नुमेयेर्थे	अनुमेयेर्थे	३२०	८
प्रत्यक्षेयण	प्रत्यक्षेण	३२०	२८
नगास्ति	नास्ति	३२५	२८
नियाकरण	निराकरण	३३५	२२
ध्याानोभ्दूत	ध्यानोद्भूत	३३६	२३
गृण्हाति	गृह्णाति	३३६	२८
विकल्पौघे:	विकल्पौघै:	३४५	३
लाला	वाला	३५०	४
तप्सिद्धे घंटीयत्र	तत्सिद्धेर्घटीयंत्र	३५२	६
भांति निवृत्तिवत्	भ्रांतिनिवृत्तिवत्	३५२	६
चत्तन	चित्तेन	३५५	२६
प्यचेन	प्यचेतन	३७७	६

अशुद्ध	शुद्ध	पेज	पंक्ति
युक्तिमे	युक्तमे	३७७	८
स्यद्वादी	स्याद्वादी	३७७	२८
मित्वर्थः	मित्यर्थः	३८१	२५
वर्ण	वर्ण्य	३८३	२८
शत्या	शक्त्या	३८५	४
ऋत्स्न	कृत्स्न	३८८	६
सांख्यादिमान	सांख्यादिमान्य	३९२	४
कोपिल	कपिल	३९२	१७
साख्या	सांख्या	३९५	१
लभेयहि	लभेमहि	४०३	६
प्रायसो	प्रायशो	४०६	४
मिच्छ विषयी	मिच्छाविषयी	४१०	२४
निराकृत	निराकूत	४१०	२५
योहीनि	योर्हानि	४१०	२७
व्यावहार	व्यवहार	४११	१४
वान्यापारो	वाग्व्यापारो	४११	२९
शांस्त्राणां	शास्त्राणां	४१६	७
समर्थयमनः	समर्थयमान	४१६	२९
कठोष्ठा	कठौष्ठा	४१७	८
परित्छित्तौ	परिच्छित्तौ	४२२	३
अप्रामाणोक	प्रामाणीक	४२३	७
स्वार्धाधिगम	स्वार्थाधिगम	४२४	८

★★★

समर्पण

श्रीमद् परम पूज्य प्रातः स्मरणीय

चारित्र तपोनिधि

१०८ आचार्य		१०८ आचार्य
	एवं	
श्री धर्मसागर जी		श्री देशभूषण जी
महाराज		महाराज

के

कर कमलों में

❋ सादर समर्पित ❋

—आर्यिका ज्ञानमती

परम पूज्य तपोनिधि पट्टाधीश १०८ आचार्य श्री धर्म सागर जी महाराज

का

शुभाशीर्वाद

शिक्षा प्रधान वर्तमान युग में लौकिक अध्ययन के साथ साथ धार्मिक पठन-पाठन भी बढा है। जहां पाश्चात्य भाषा सर्वाधिक प्रचलन में आई है वहाँ सस्कृत-प्राकृत भाषा के ज्ञान में अधिक ह्रास हुआ है। हमारे अधिकांश प्राचीन ग्रंथ संस्कृत प्राकृत भाषा में लिखे हुए है। अनेक विद्वानों ने समय समय पर बहुत से ग्रंथों का सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद करके जिनागम के मर्म को समझने में सर्व साधारण को सुलभता प्रदान की है जिसके लिए सभी स्वाध्यायी उनके इस महान् उपकार से उपकृत है।

कुछ वर्षो पूर्व तक तो न्याय ग्रथों को पढाने व पढने वाले विशेष सख्या में थे किन्तु अब अत्यल्प मात्रा में रह गया है। वर्तमान में जैन समाज में तो न्याय ग्रथों के स्वाध्याय की प्रथा उठ सी गई है। द्रव्यानुयोग के अध्यात्मिक ग्रंथो को समझने एव हृदयगम करने के लिए भी न्याय दर्शन का ज्ञान होना आवश्यक है। वस्तुत्व का सच्चा एव दृढ़ निश्चय न्याय की कसोटी पर कसकर ही किया जा सकता है।

न्याय के कतिपय ग्रंथो का हिन्दी भाषानुवाद तो हो चुका है किन्तु विशिष्ट ग्रथ अष्टसहस्त्री का क्लिष्टता के कारण अनुवाद नहीं हो पाया था। प्रसन्नता है कि उस कमी की पूर्ति भी आर्यिका श्री ज्ञानमती जी द्वारा हो गई है। इस अनन्य कार्य के लिए हमारा शुभ आशीर्वाद है,

आशा है विद्वद्वृंद इसी प्रकार से अन्य आर्ष प्रणीत प्राचीन ग्रंथो के अनुवाद में भी पूर्ण रुचि रखकर जिनवाणी की सेवा मे अग्रसर रहेगे।

❖

परम पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज



जन्म—	क्षुल्लक दीक्षा --	मुनि दीक्षा—
गम्भीरा (राज०)	आ०कल्प श्री चन्द्रसागरजी से	आ० श्री वीरसागर जी
वि० स० १९७०	बालूज (औरंगाबाद, महाराष्ट्र)	फुलेरा (राज०)
पौष शुक्ला १५	वि० स० २००० चैत्र कृष्णा ७	वि स. २००८ का. शु. १४

आचार्यपट्ट—फाल्गुन शुक्ला ८ वि० सं० २०२५ श्री महावीर जी

प० पू० १०८ आचार्य रत्न श्री देशभूषणजी महाराज



जन्म -	क्षुल्लक दीक्षा	मुनि दीक्षा -
कोथली ([illegible], [illegible])	[illegible]	
वि० सं० [illegible]	स्थान— [illegible]	वि० सं० [illegible]
मगसिर [illegible]	([illegible])	स्थान [illegible]
	आचार्य [illegible] (गुजरात)	

परम पूज्य १०८ आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की ओर से

आशीर्वाद रूप में

दो शब्द

आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी उत्तर प्रदेश के जिला बाराबंकी—टिकैत नगर की रहने वाली हैं। इनका गृहस्थावस्था का नाम मैना था। इनके पिता का नाम छोटेलाल एव माता का नाम मोहनी देवी था। गृहस्थ आश्रम में रहते हुए छोटी उम्र में भी इनका धार्मिक ज्ञान विशेष था। इनकी भावना एव रुचि धर्म के प्रति अगाध थी।

माता-पिता द्वारा विवाह की तैयारिया की जाने पर इन्होंने इन्कार कर दिया और कहा कि मैंने स्त्री पर्याय का नाश करने के लिए दीक्षा लेने की ठान ली है। संसार के बन्धनों में न फसने के लिए शादी की बात ठुकरा दी। इस प्रकार वैराग्य की जागृति तो हो चुकी थी परन्तु अपने मनोरथ की सिद्धि अर्थात् गृहपरित्याग गुरु के हस्तावलम्बन के बिना नही हो पाया था।

जब हम वि० सं० २०१० में इनके गाँव टिकैत नगर में पहुंचे तब इन्होने घर से निकलने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु सफलता नही मिली। अनंतर उसी साल बाराबंकी चातुर्मास होने पर दर्शन हेतु घर से हमारे पास आई एव पुन: घर जाने से इन्कार कर दिया।

एक दिन हमारे केशलोच के प्रसंग पर इन्होंने भी अपने हाथ से अपने लोंच करना प्रारम्भ कर दिया। छोटी उम्र होने के कारण समाज के लोगों ने दीक्षा देने में बड़ा विरोध प्रस्तुत किया। तब हमने इन्हें सातवीं प्रतिमा के व्रत देकर लोगों को शांत किया।

उस अवस्था में भी इनकी बुद्धि अत्यत तीक्ष्ण थी एवं स्मरण शक्ति भी प्रबल थी। कोई भी पाठ या विषय एक बार बतला देने पर कंठस्थ कर लेती थी। गोमट्टसार आदि कई विषयों को पढ़ाते समय देखा कि १५ दिन में ३०० गाथायें याद कर लीं, बुद्धि की इतनी तीक्ष्णता को देखकर बड़ा आश्चर्य होता था। एक बार जब दश भक्ति पाठ याद करने के लिए कहा तो संस्कृत होते हुए भी १०-१५ दिन में एकदम पक्की याद कर ली।

चातुर्मास के पश्चात् बिहार करके जब हम श्री महावीर जी आये तो इनकी उत्कृष्ट भावना को देखकर शुभमुहूर्त में चैत्रकृष्णा वि० सं० २००९ को क्षुल्लिका दीक्षा दे दी। इनकी दीक्षा के पुरुषार्थ को देखकर ही हमने इनका दीक्षित नाम "वीर मती" रखा।

जब हम यहाँ से वापस कानपुर लखनऊ होते हुए दरियाबाद पहुंचे तब इनके पिता जो आदि कई लोगों ने आकर टिकैत नगर चातुर्मास करने की प्रार्थना की । मेरे न चाहते हुए भी समाज के आग्रह पर इनकी जन्मभूमि पर ही पहला चातुर्मास हो गया ।

चातुर्मास के बाद वापस महावीर जी आगमन हुआ । आगामी चातुर्मास (वि० सं० २०११ में) जयपुर होना निश्चित हुआ । जयपुर चातुर्मास में इन्होंने मात्र दो माह में प० दामोदर जी शास्त्री से कातंत्र व्याकरण पढ़ ली । इस प्रकार शीघ्र ही संस्कृत का अध्ययन अच्छी तरह कर निपुणता प्राप्त कर ली । एक व्याकरण के अध्ययन के आधार से अनेकों बड़े-बड़े ग्रन्थों का मूल संस्कृत से स्वाध्याय कर लिया ।

कहने का तात्पर्य यह है कि इनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण तथा एक पाठी थी । ज्ञान से अपनी चारित्रिक उन्नति कर समाज में एक अच्छी विदुषी शिरोमणी की पदवी पाई । हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी स्त्री रत्न और छोटी अवस्था मे घर छोड़ कर इतने उच्च स्थान को प्राप्त करना मामूली बात नही है ! लोग कहेगे कि शिष्य होने से प्रशसा लिख दी है सो बात नही है किन्तु गुणों के कारण प्रशसा की गई है !

आर्यिका दीक्षा मागने पर हमने थोडे दिन ठहरने को कहा । कुछ समय बाद बिहार करते हुए आचार्यवर श्री वीरसागर जी महाराज से वि० स० २०१३ मे आर्यिका दीक्षा ले ली । तत्पश्चात् अनेकों धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते-कराते हुए वक्तृत्व कला को भी सम्पन्न कर लिया । आज कई बड़े-बड़े सस्कृत के मूल ग्रन्थो का अध्ययन करके उनका अनुवाद करना भी प्रारम्भ किया है उनमें से एक ग्रन्थ यह अष्टसहस्री है जो कि बारह सौ वर्ष पूर्व आचार्य विद्यानन्द द्वारा रचित है । इस महान ग्रन्थ के अनुवाद में बड़े-बड़े विद्वान भी हार मान गये ऐसे ग्रन्थ का इन्होंने परिश्रम करके हिन्दी अनुवाद किया है जिससे अब इसके स्वाध्याय मे भी सुगमता हो गई है । सभी स्त्री पुरुष इसका रसास्वादन ले सकेगे ।

इसलिए हम अपनी शिष्या ज्ञानमती को बार-बार आशीर्वाद देते है । एव इस ग्रथ के अध्ययन से सभी जैन अजैन जनता को सच्चे आत्म-कल्याण का मार्ग प्राप्त हो यही सबको हमारा शुभाशीर्वाद है ।

विदुषीरत्न पू० आ० श्री १०५ ज्ञानमती माताजी



जन्म	क्षुल्लिका दीक्षा —	आर्यिका दीक्षा —
टिकैतनगर (लखनऊ, उ प्र)	आ० श्री देशभूषणजी से	आ. श्री वीरसागरजी से
सन् १९३४ वि सं. १९९१	श्री महावीर जी में	माधोराजपुरा (राज०) में
आसोज शु. १५ (शरद पू०)	वि. स. २००९ चैत्र कृ १	स २०१३ वैशाख कृ. २

मंगल स्तवः

तीर्थेशं श्रीत्रिभुवनपतिं वीरनाथं प्रणम्य ।
श्रीतत्त्वार्थं जिनवरवचःपूतपीयूषगर्भम् ।।
तत्कर्तारं यतिपतिजगत्पत्युमास्वामिनं च ।
वंदे नित्यं भुवनमहितं सूत्रकर्तारमीडे ।।१।।
श्रीमत्सूत्रावतरणविधौ श्लोकमादौ कृतं यत् ।
श्रीमान् स्वामी मुनिगणपतिः स्तोत्रमाश्रित्य तर्कात् ।।
मीमांसां या जिनपतिमहाप्तस्य सामंतभद्रीं ।
कृत्वा लोके जयति नितरां तं त्रिशुद्धया प्रवंदे ।।२।।

देवागमस्तवनमाप्तपरीक्षया यत् । तस्योपरि प्रकटिताष्टशती सुटीका ।।
येनेह तं विजितवादिगणं मुनीन्द्रं । वंदे कलंकरहितं ह्यकलंक देवम् ।।३।।
देवागमस्तव ह्यष्टशतीयुक्त प्रपद्य यैः कृता टीकाष्टसाहस्री तान विद्यानंदिनः स्तुवे ।।४।।
अष्टसहस्री वंदे मानमुमंगलकर गिरामृतसरगिनं । यामराद्य वत्ता मे सर्वामद्र ह्यकारकजनुभूरात् ।।५।।
रत्नत्रयपवित्रांगाः शान्तिसिंधुगणेश्वराः । धर्मधुर्या जगत्पूज्यास्तान् वंदे भवशांतये ।।६।।
जातरूपधर स्तौमि गणिनं वीरसागरं । शिवसागरसूरिं च नौमि भक्त्या त्रिशुद्धितः ।।७।।
धर्मध्यानरतो नित्य सूरिर्योधर्मसागर । तं वंदे भक्तिभावेन धर्मवृद्धि सदा क्रियात् ।।८।।
एतान् परंपराचार्यान् रत्नत्रयविभूषितान् गुरुभक्त्या प्रवंदेहं रत्नत्रयविशुद्धये ।।९।।
श्री देशभूषणाचार्यं क्षुल्लिका व्रतदायिनं । शांतिक्षमागुणोपेतं वंदे तं भवहानये ।।१०।।
श्री वीरसागराचार्यं महाव्रत प्रदायिनं । गभीरं धीरवीरं तं वंदे दीक्षागुरु मुदा ।।११।।
न्यायसिद्धांतसज्ज्ञान लब्धं यत्प्रसादतः । विद्यागुरु महावीर-कीर्त्याचार्यं नमामि त ।।१२।।

क्वायं ग्रन्थः क्व मे बुद्धिस्तथापि गुरुभक्तित ।
अहो ! ह्यष्टसहस्रीयं भाषयानूद्यते मया ।।१३।।
पंचमहागुरून् भक्त्या चित्ते धृत्वा लिखाम्यहं ।
सतां चेतो हरेन्नित्यं त्वत्प्रसादेन मे कृतिः ।।१४।।
सरस्वति ! नमस्तुभ्यं प्रसीद वरदा भव ।
त्वत्प्रसादेन मे भूयात् वाक्शुद्धिः सर्वसिद्धिदा ।।१५।।

ग्रन्थ रत्न का आधारभूत मंगलाचरण

मोक्ष मार्गस्यनेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥

—श्रीमान् उमास्वामी आचार्यवर्य

वंदना

उमास्वामिकृत पूत-मर्हत्सस्तवमंगलं ।
महेश्वराश्रिय दद्यात् महादेवपदस्थितं ॥१॥
मूलाधारं स्तुतेराप्त—मीमांसाकृतेरिंद ।
मूलमष्ट सहस्त्याश्च मगल मगल क्रियात् ॥२॥
देवागमस्तवोद्भूता समंतात् भद्रकारिणी ।
अकलंकवचःपूता विद्यानंद तनोतु मे ॥३॥
महापूज्या जगन्माता स्याद्वादामृतवर्षिणो ।
अनेकांतमयीमूर्ति· सप्तभंगतरंगिणी ॥४॥
स्वपर समयज्ञान प्रकटीकुरुते सदा ।
सर्वथैकातदुर्दातान् विमदीकुरुते क्षणात् ॥५॥
जिनशासन माहात्म्य-वर्धने पूर्णचंद्रवत् ।
मिथ्यामतमहाध्वात—ध्वसने सूर्यवत् सदा ॥६॥
जीयात् कष्टसहस्त्रैर्या साध्या सर्वार्थसिद्धिदा ।
पुष्यात्साष्टसहस्त्री मे वाञ्छा शतसहस्त्रिकाम् ॥७॥

आर्यिका ज्ञानमती

ॐ

श्रीमद्विद्यानन्दिस्वामिविरचिता

अष्टसहस्री

मंगलाचरणम्

श्री[1] वर्द्धमानमभिवन्द्य समन्तभद्र-मुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।
शास्त्रावतारररचितस्तुतिगोचराप्त-मीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयास्य ।।१।।

मगलाचरण का अर्थ—जो समंत—सर्वप्रकार से भद्र—कल्याणस्वरूप हैं, जिनके केवलज्ञान की महिमा प्रकट हो चुकी है—जो विद्यानंदमय हैं, जिनके वचन अनिंद्य-अकलंकरूप अनेकांतमय हैं, ऐसे श्री-अंतरंग-अनन्तचतुष्टयादि एवं वहिरंग—समवसरणादि विभूति से सहित अंतिम तीर्थंकर श्री वर्धमान भगवान् को नमस्कार करके महाशास्त्र-तत्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में "मोक्षमार्गस्य नेतारम्" इत्यादि मंगलरूप मे रचित स्तुति के विषयभूत आप्त भगवान् की मीमांसा स्वरूप जो "देवागमस्तोत्र" है उसे भाष्यरूप से मैं—विद्यानंदि स्वामी अलंकृत करता हूँ ।

[श्री लघुसमंतभद्रकृत टिप्पणी का **भावार्थ**—इसमें मंगलाचरण से सर्वप्रथम श्री वर्धमान भगवान् को एव सपूर्ण अर्हत्समुदाय को नमस्कार किया है । पुनः इसी श्लोक से श्री समंतभद्रस्वामी को एव आप्तमीमांसा स्तोत्र को नमस्कार किया है ।]

उत्थानिका—इसी भरतक्षेत्र में पहले अपनी निर्दोष विद्या एवं निर्दोष संयमरूपी संपत्ति से गणधरदेव, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली, दशपूर्वधारी आदि सूत्र की रचना करने वाले महर्षियों की महिमा को आत्मसात् (स्वयं प्रत्यक्ष) करते हुए भगवान् श्री उमास्वामी आचार्यवर्य ने तत्वार्थसूत्र नामक महाशास्त्र की रचना की है। स्याद्वादविद्या के अग्रणी श्री समंतभद्रस्वामी ने उस तत्वार्थ सूत्र महाशास्त्र की 'गंधहस्ति महाभाष्य' रूप टीका रचते हुए मंगलाचरण में "मोक्षमार्गस्य नेतारम्" इत्यादि की टीका में मंगल

---

१ ॐ नमः । इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासयमसम्पदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवलिदशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिरुमास्वामिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नन्तः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यास्तत्र मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्त-

स्वरूप स्तुति के गोचर परम आप्त भगवान् के गुणों की मीमांसा (परीक्षा) को करते हुए प्रवचनमय तीर्थ की सृष्टि की पूर्ति स्वरूप इन "देवागम-नभोयान" इत्यादि पदों द्वारा "देवागमस्तोत्र" नाम के ग्रन्थ की रचना की है।

इसके पश्चात् जिनके चरणनख की किरणें सकल तार्किक जनों के चूड़ामणि की किरणों से चित्र विचित्र शोभा को प्राप्त हैं, ऐसे भगवान भट्टाकलङ्कदेव ने इसी देवागम-स्तोत्र की 'अष्टशती' नामक टीका रची है।

इसी प्रकार महाभाग तार्किकजनों से मान्य 'वादीभसिंह' इस पदवी से अलंकृत **श्री विद्यानन्दि स्वामी** स्याद्वाद से प्रगट सत्यवचनों का प्रवाह है जिसमे, ऐसी अपनी वाणी की चतुरता को प्रगट करते हुए 'आप्त-मीमासा' को अलंकृत करने की इच्छा करते हुए 'श्री वर्द्धमानम्' इत्यादि प्रतिज्ञा श्लोक को कहते हैं।

"मया अलक्रियते" मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है,–इस पद मे अलकार का महत्व प्रगट किया है अर्थात् जिस प्रकार सौंदर्यशालिनी कन्या की भी अलंकार आदि से शोभा द्विगुणित हो जाती है, उसी प्रकार से यह टीका भी इस स्तोत्र के लिए अलकार स्वरूप इस स्तोत्र के पदों के अर्थों को अत्यर्थ रूप मे स्पष्ट करते हुए श्रोता जनों के मन को हरण करने वाली है।"

"मेरे द्वारा क्या अलंकृत की जाती है?" "कृति."–रचना। वह किस रूप है? शास्त्र के प्रारम्भ मे रचित स्तुति के विषय को प्राप्त जो परम आप्त भगवान हैं, उनकी मीमांसा-परीक्षा की जाती है। "अस्य" यह निर्देश विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध मे युक्त होने से स्वामी समंतभद्राचार्य के माहात्म्य को प्रगट करता है अर्थात् स्वामी समतभद्राचार्य की रचना, "अभिवद्य"-नमस्कार करके–मन वचन काय मे वदना करके, मेरे द्वारा अलकृत की जाती है। इस नमस्कार पद से आस्तिक्य भावना के अस्तित्व को दिखलाया है। किसको नमस्कार करके? "श्री वर्द्धमानम्" सब तरफ से वृद्धि को प्राप्त है 'मान'-केवलज्ञान जिनका, ऐसे वर्द्धमान भगवान को। श्री–समवसरणादि लक्षण एवं परम आर्हन्त्य लक्षण मे विभूषित श्री

गुणातिशयपरीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयाञ्चक्रिरे। तदनु सकलतार्किकचक्रचूडामणि-मरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवस्तदेतस्याष्टशत्याख्येन भाष्येणोन्मेषमकार्षीत्। तदेव महाभागैस्तार्किकार्करुपज्ञाता श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमासामलचिकीर्षव स्याद्वादोद्भासिसत्यवाक्यसरा गिरा चातुरी-माविर्भावयन्त: प्रतिज्ञाश्लोकमाहु. "श्रीवर्धमानमित्यादि' अस्यार्थः।— अलङ्क्रियते विभूष्यते। केन? मया विद्यानन्दि-सूरिणा। अनेनालङ्कारस्य महत्त्वमुद्द्योतितम्। का? कृतिः सन्दर्भः। किंरूपा? शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्त-मीमांसितम्। विशेष्यविशेषणयोराविष्टलिङ्गत्वादय निर्देशो यथा।—रमणीरत्नमुर्वशीति। कस्य? अस्य स्वामिसमन्त-भद्राचार्यस्य। माहात्म्यमावेदितम्। श्रीवर्द्धमानः समन्तभद्रः सूरिरनिन्द्यवागित्येतत्त्रितयस्यानन्तरोक्तस्यास्येत्यनेन परिग्रहप्राप्तावपि सूरेरेव परिगृहीतिः कृतेरनेनैव प्रत्यासत्तिप्रकर्षयोगात्। किं कृत्वा? प्रागभिवन्द्य अभितः समन्तान्मनसा वचसा वपुषा च वन्दित्वा। अनेन नमस्कृतावास्तिक्यस्यास्तित्वमादर्शितम्। कम्? श्रीवर्द्धमानम्। अत्र समन्तादृद्धं प्रवृद्धं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ तथोक्तः। श्रिया समवसरणादिलक्षणया परमार्हन्त्यलक्ष्म्या लक्षितो वर्द्धमानः श्रीवर्द्धमानः परमजिनेश्वरसमुदयस्तम्। अर्थसमुदयस्यार्थः कथम्? अव समन्तादृद्धं परमातिशयप्राप्त मान केवलज्ञान

वर्द्धमान भगवान् अंतिम तीर्थंकर अथवा संपूर्ण अर्हंत्परमेष्ठी समुदाय को नमस्कार करके। पुनः कैसे हैं भगवान् ? "समन्तभद्र" भद्र अर्थात् जिनके शतेन्द्रवदित गर्भावतरण आदि कल्याणक हुये हैं, ऐसे भगवान् ही समन्तभद्र हैं। पुनः कैसे हैं भगवान् ? "उद्भूतबोध महिमानम्" जिनके केवलज्ञान की महिमा-यथावत् संपूर्ण वस्तुतत्व के प्रकाशन की महिमा प्रगट हुई है। इस विशेषण से अचल ज्योतिः स्वरूप केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक को अवलोकन करने वाले है, यह प्रगट किया है। पुनः कैसे हैं भगवान् ? "अनिद्यवाचम्" अनेकान्त की नीति वही हुआ गंगाप्रवाह, उसमें अवगाहन करने वाली है वाणी–दिव्य-ध्वनि जिनकी ऐसे भगवान् को। इस विशेषण से धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति स्वरूप भगवान् के वचन हैं–यह स्पष्ट किया है।

[अथवा इसी श्लोक से आचार्य समतभद्र स्वामी को नमस्कार करते हैं—]

दूसरा अर्थ—श्री समंतभद्र स्वामी को नमस्कार करके। कैसे है समंतभद्र स्वामी ? "श्री वर्द्धमानम्" निर्दोष स्याद्वाद विद्या के वैभव की आधिपत्य-लक्षण लक्ष्मी से जो वृद्धि को प्राप्त हैं। पुनः कैसे है ? "उद्भूत-बोध-महिमानम्" भव्य जीवों को इस कलिकाल मे भी कलंक-रहित निर्दोष विद्या को प्रगट करने के लिए स्याद्वाद तत्व को प्रगट करने मे जिनका ज्ञान समर्थ है। पुनः कैसे है ? "अनिद्यवाचम्" सप्तभगी से युक्त

यस्यासा वर्द्धमानः। अवाप्योरल्लोप इत्यवशब्दस्याकारलोपः। श्रिया बहिरङ्गया चान्तरङ्गया समवसरणानन्तचतुष्टय-लक्षणया चोपलक्षितो वर्द्धमानः श्रीवर्द्धमानाऽर्हत्समुदय इति व्युत्पत्तेः। अनेन परमार्हता समुदयमिति वृत्तिकारोक्त-प्रतिज्ञाश्लोकनमस्कृतौ विशेष्यमुपात्तम्। कथम्भूतम् ? समन्तभद्रम्। समन्ताद्भद्राणि शतमखशताभिवन्दितानि गर्भावतरण-महिमादिकल्याणानि यस्य तम्। अनेनाखिलैरिन्द्रादिभिर्वन्दितमिति विशेषणमुपगृहीतम्। भूयः कथम्भूतम् ? उद्भूतः प्रसिद्धो बोधस्य महिमा वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनसामर्थ्यलक्षणो यस्य तम्। अनेनाचलज्योतिर्ज्वलत्केवलालोकालोकितलो-कालोकमिति विशेषण स्वीकृतम्। अचलैर्निर्बाधैर्ज्योतिर्भिर्निर्भासैर्ज्वलता दीप्यमानेन केवलालोकेन केवलदर्शनेनालोकितौ लोकालोकौ येन तमिति प्रतिपादनात्। भूयोपि कथम्भूतम् ? अनिन्द्यवाचम्। अनिन्द्यानेकान्तनीतिगङ्गाप्रवाहावगाहिनी वाग् वाणी यस्य तम्। अनेनोद्दीपीकृतधर्मतीर्थमिति विशेषणमात्मीकृतम्। उद्दीपीकृत धर्मप्रतिपादक तीर्थ शास्त्र येनेति व्युत्पादनात्। भगवान् श्रीवर्द्धमानः कल्याणसम्पदाशसिनामभिवन्द्यः सकलकल्याणसम्पदभिरामत्वात्। यथा सकललक्ष्मी-सम्पदभिरामः सार्वभौमो लक्ष्मीसम्पदाशसिनामिति स्वभावलिङ्गजनितमनुमानम्। सकलकल्याणसम्पदभिरामोऽयमुद्भूत-बोधमहिमत्वादिति कारणसहचरलिङ्गजनित केवलज्ञानोदयसहभाविनस्तीर्थकरपुण्योदयात् सकलकल्याणाभिरामपर-मार्हन्त्यलक्ष्मीसम्पत्सयुतैः सर्वत्रोद्भूतमहिमाय तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्। यथैवागदङ्कारकर्मणि युक्तिशास्त्रा-विरोधिवाग्भिषग्वरस्तत्रोद्भूतमहिमेति कार्यलिङ्गजनित महीयसा बचनातिशयस्य प्रज्ञातिशयनिबन्धनत्वादिति। एवमुत्तरत्र व्याख्याद्वयेपि यथासम्भव हेतूपन्यासः प्रतिपत्तव्यः।

अथवा अभिवन्द्य। कम् ? समन्तभद्रं समन्तभद्राचार्यम्। कीदृशम् ? श्रीवर्धमानं श्रिया निखिलविद्यालङ्कार-निरवद्यस्याद्वादविद्याविभवाधिपत्यलक्षणया लक्ष्म्या वर्द्धमानमेधमानम्। साक्षात्कृतसकलवाङ्मयत्वेन समस्तविद्याविदा परमैश्वर्यमातिष्ठमानस्य स्याद्वादविद्याग्रगुरोर्महामुने श्रीवर्द्धमानताया विवादाभावात्। भूयः कीदृशम् ? उद्भूतबोध-महिमानम्। उद्भूतो बोधस्य महिमा भव्यानां कलिकालेप्यकलङ्कभावाविर्भावाय स्याद्वादतत्त्वसमर्थने पटिमा यस्य

आप्तमीमांसा नाम की स्तुति जिन्होंने रची है, ऐसे श्री समंतभद्र स्वामी को नमस्कार करके यह आप्त मीमांसा की टीका मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है।

[अथवा तीसरा अर्थ–यहाँ आप्तमीमांसा को नमस्कार करते हैं।]

इस आप्त मीमांसा स्तुति को मैं नमस्कार करता हूँ। कैसी है वह स्तुति ? "अनिन्द्यवाचं" प्रत्यक्षादिप्रमाणों से अबाधित एवं पूर्वा पर विरोध से रहित वचन जिसमें हैं। पुन: कैसी है ? "श्री वर्धमानं" जो स्यात्कार लक्ष्मी से वृद्धि को प्राप्त–अभ्युदयशील है। पुन: कैसी है ? "समन्तभद्र" सब तरफ से भद्र–कल्याण स्वरूप है, सभी के हृदय को आल्हादकारी तत्व स्वरूप आगम वो ही अमृत उसके निर्झर से जो रमणीय है।

पुन: यह स्तुति कैसी है ? "उद्भूत बोध महिमानं।" जिसमें अनेकांत तत्व की महिमा प्रगट है अर्थात् पाप रूप एकान्तवाद वही हुआ अंधकार, उसको नाश करने मे प्रचंड सूर्य के समान जिसमें ज्ञान है। इन विशेषणों से विशिष्ट इस आप्तमीमांसा स्तुति को नमस्कार करके, शास्त्र जो तत्त्वार्थ सूत्र है उसके प्रारम्भ में रचित जो मंगलाचरण स्तुति–"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म भूभृता" आदि इस स्तुति के विषय को प्राप्त जो आप्त–भगवान उनकी मीमांसा-परीक्षा जिसमे है ऐसी यह आप्तमीमासा नामक स्तोत्र की टीका मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है।

तम्। भूयोपि कीदृशम् ? अनिन्द्यवाचम्। अनिन्द्या सप्तभङ्गीसमालिङ्गिना वागाप्तमीमासास्तुतिर्यस्य तम्। अनेन स्याद्वादविद्याधिपत्यं भव्याकलङ्कभावाविर्भावनावैदग्ध्यं तीर्थप्रभावनाप्रागल्भ्यमिति विशेषणत्रयेण तीर्थमित्येनदादौ कृत्स्वेत्येतदन्ते वृत्ताशे वाक्यत्रयोपदर्शित सूरेर्विशेषणत्रय संबोधितम्। तत्राद्येन विशेषणेन सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वाद-पुण्योदधेरुद्धृत्यैतद्वाक्यमाश्लिष्ट भगवानयमाचार्य: स्याद्वादविद्याविभवाधिपतिस्तद्विद्यामहोदधेरुद्धृत्य प्रकरणमारचयितृत्वात्। यथा सकलश्रुतविद्यामहोदधेरुद्धृत्योत्तराध्ययनप्रकरणमारचयन् भद्रबाहुस्तद्विद्याविभवाधिपतिरित्युपपादनात्। द्वितीयेन भव्यानामकलङ्कभावकृतये कालै कलावित्येतदिष्टं स्पृष्टम्। तृतीयेन तीर्थं प्राभावीत्येनदुपक्षिप्तमिति। विशेष्यं तु प्रसिद्धमेव।

अथवाभिवन्द्य। कम् ? अनिन्द्यवाचम्। अनिन्द्या प्रमाणाबाधा पूर्वापरविरोधविधुरा वाग्व्याहृतिर्यस्मिन्नसाव-निन्द्यवाक् प्रस्तुतत्वात् समन्तभद्राचार्यकृतिराप्तमीमांसास्तवस्तम्। अनेन गामिति विशेष्यमालिङ्गितम्। कीदृक्षम् ? श्रीवर्द्धमानम्। श्रिया नानाभङ्गीभावसुव्यक्तमूर्त्या स्यात्कारलक्ष्म्या वर्द्धमानमभ्युदयमानम्। अनेन सप्तभङ्गीविधिमिति विशेषणमुपगूढम्। भूय: कीदृक्षम् ? समन्तभद्रं समन्तात्सर्वतो भद्र सहृदयहृदयाल्हादितत्त्वागमसुधासारनिष्यन्दिसूक्ति-रमणीयमिति यावत्। अनेन स्याद्वादामृतगर्भिणीमिति विशेषण परिरब्धम्। अनेकान्ततत्त्वाकलनात्मना पीयूषेण सान्तस्सारमिति गोशब्दस्य धेन्वर्थवृत्तितामभिसमीक्ष्य प्रतिपादनात्। भूयोपि कीदृक्षम् ? उद्भूतबोधमहिमानम्। उद्भूतो बोधस्यानेकान्ततत्त्वप्रकाशस्य महिमा दुरितैकान्तवादतमस्काण्डखण्डने प्रचण्डिमा यस्माद्विनेयानां तम्। अनेन प्रतिहतै-कान्तान्धकारोदयामिति विशेषण परिष्वक्तम्। गोशब्दस्य दीप्त्यर्थविषयतामाकलय्य निवेदनात्। शास्त्रं तत्त्वार्थसूत्रं तस्यावतार: प्रारम्भस्तस्मिन् रचिता यासौ स्तुति "मोक्षमार्गस्य नेतार कर्मभूभृता भेत्तार" मित्यादिस्तस्या गोचरो विषयोऽसावाप्तस्तस्य मीमांसितं या। अस्मिन् श्लोके पूर्वार्द्धेन भाष्यादिपद्यद्वयार्थ: उत्तरार्द्धेन प्रथमभाष्यार्थश्च सङ्गृहीत: समस्त:। **सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यै: सूत्रानुसारिभि:। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदु:।**

[मंगलाचरणस्य महत्वं ग्रंथकर्तुरुद्देश्यञ्च]

श्रेयः[1] श्रीवर्द्धमानस्य परमजिनेश्वरसमुदयस्य समन्तभद्रस्य तदमलवाचश्च [2]संस्तवनमाप्तमीमांसितस्यालङ्करणे [3]तदाश्रयत्वादन्यतमासम्भवे तदघटनात् । [4]तद्वृत्तिकारैरपि तत एवोद्दीपीकृतेत्यादिना तत्संस्तवनविधानात् । [5]देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव[6] स्वयं[7] श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं[8] प्रयोजनमाक्षिप्तं[9] लक्ष्यते[10] । [11]तदन्यतरापायेऽर्थ[12]स्यानुपपत्तेः[13] । [14]शास्त्रन्यायानुसारितया [15]तथैवोपन्यासात् *। इत्यनेन[16]

[मंगलाचरण का महत्व और ग्रन्थकर्त्ता का उद्देश्य]

श्री वर्धमान भगवान, समस्त तीर्थंकरों का समुदाय, श्री समन्त भद्र स्वामी और उनके निर्दोष वचन रूप स्तुति का संस्तवन ही कल्याणकारी है, क्योंकि आप्तमीमांसा की टीका करने में वे सब आश्रयभूत है। इनमें से एक किसी की भी स्तुति न करने से इसकी टीका नही हो सकती है। इस आप्तमीमांसा की प्रथमतः वृत्ति (टीका) करने वाले श्री भट्टाकलक देव ने भी इसी विषय को अष्टशती नामक टीका करते समय "उद्दीपीकृत" इत्यादि श्लोक के द्वारा मंगलाचरण किया है। तथैव **"देवागम" इत्यादि मंगल-पूर्वक स्तुति के विषय को प्राप्त, परम आप्त भगवान के गुणातिशय की परीक्षा को स्वीकार करते हुए श्री समन्तभद्र स्वामी ने स्वयं अपनी श्रद्धा और गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन को सूचित किया है, ऐसा जाना जाता है। क्योंकि श्रद्धा और गुणज्ञता इन दोनों में से किसी एक के अभाव में देवागमस्तव में परीक्षा लक्षण अर्थ नहीं बन सकता है। अतः आचार्य पूर्वशास्त्र के आधार से ही अर्थात् तत्वार्थसूत्र का अवलंबन लेकर ही टीका करते हैं *।** इस कथन से ग्रंथकार ने स्वरचित एवं स्वरुचि-विरचित शास्त्र का परिहार किया है।

---

१ ननु चेष्टदेवतामभिष्टुत्यैव सर्वेऽपि शास्त्रकृतः शास्त्रमुपक्रमन्ते न पुनःस्तुत्यस्तोतृस्तुतीस्तत्त्रयस्तोत्रमिद शास्त्रादौ भगवता सूचित कथ सौन्दर्यमास्कन्दतीत्याशङ्कायामाह श्रेय इत्यादि। २ इद साध्यम्। अनेन श्लोकवर्त्यभिवन्द्यशब्दः सस्तवनार्थ एव न तु प्रणमनार्थ इति प्रकाशितः (तम्)। अनेनोपकारकरणार्थं स्तुत्यादित्रयसस्तवन कृतमिति प्रकाशितं **श्रेयोमार्गस्य संसिद्धि**रित्यादौ तथैव श्रवणात्। अतएव तदाश्रयत्वात्तदन्यतमासम्भवे तदघटनात् अनेन सम्मितिर्दर्शिता भाष्यादिपद्यद्वयस्याभिप्रायश्च सूचितः, भाष्यानुसारेणैवालङ्कारः क्रियते इति च प्रकाशितः (तम्)। ३ पक्षः। ४ ननु चास्यालङ्करणस्य स्तुत्यस्तोतृस्तुतिनिमित्तकत्वेपि तत्र तत्त्रयस्तोत्रेण श्रेयसा भाव्यमिति कोय नियम इत्याशङ्कायामाह तद्वृत्तिकारैरपीत्यादि। भट्टाकलङ्कदेवैः। ५ नन्वस्य भगवतः समतभद्रस्य समन्तभद्रादयस्तिस्र एव कृतयः श्रूयन्ते न तु शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमासित नाम कृतिस्तस्मात्कथमियं प्रतिज्ञा सुघटनामटतीत्युक्ते वक्ति देवागमेत्यादि। मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि। ६ स्वीकुर्वता समन्तभद्रस्वामिना। ७ स्वस्य समन्तभद्रस्य। ८ प्रेरकत्व वाऽऽराध्यत्वेन ज्ञान भक्तिस्तत्रात्यन्तमनुरागः श्रद्धा। ९ कटाक्षिससूचितमित्यर्थः। प्रतिज्ञातम्। स्वीकृतम्। सामर्थ्येनोपपन्नम्। सङ्गृहीतम्। १० (यतः) प्रयोजनाभावे शास्त्रकरणं न स्यात्। ११ तयोः श्रद्धागुणज्ञतयोर्मध्ये एकस्याभावे। १२ परीक्षालक्षणस्य। देवागमस्तवस्य। १३ प्रयोजनानुसारेण शास्त्रकरण घटने। १४ अनुपपत्तिः कुत इत्याह पूर्वशास्त्रानुसारितया। १५ ग्रन्थकारस्य तत्वार्थशास्त्रप्रसिद्धानुसारित्वेन स्वोपक्रान्तत्वस्वरुचिविरचितत्वपरिहारलक्षणप्रयोजनेन मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयेत्यादिप्रकारेणैवोपन्यासात्। अन्यथानुपपत्तिप्रकारेण परीक्षात्वेन वा। १६ वृत्तिग्रन्थेन।

ग्रन्थकारस्य[1] श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे [2]प्रयोजने साध्ये[3]शास्त्रारम्भस्तवविषयाप्तगुणा[4]तिशय[5]परीक्षोपक्षेपस्य[6] [7]साधनत्वसमर्थनात् । शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रं देवागमाभिधानमिति निर्णयः[8] । [9]मङ्गलपुरस्सरस्तवो[10] हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते । मंङ्गलं पुरस्सरमस्येति मङ्गलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मंगलपुरस्सरस्तवः इति व्याख्यानात् । तद्विषयो यः [11]परमाप्तस्तद्गुणातिशयपरीक्षा तद्विषयाप्तमीमांसितमेवोक्तम् ।

इस प्रकार से ग्र थकार ने श्रद्धा, गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन रूप साध्य मे शास्त्र के प्रारम्भ में रचित स्तव के विषय को प्राप्त परम आप्त के गुणातिशय की परीक्षा की स्वीकारता को हेतु बनाया है। शास्त्र के आदि मे रचित स्तुति के विषय को प्राप्त आप्त की मीमासा रूप यह शास्त्र "देवागमस्तोत्र" इस नाम का है—यह निर्णय हुआ क्योंकि मगल-पूर्वक स्तव ही शास्त्र के आदि मे रचित स्तुति कहलाती है। मंगल है पूर्व में जिसके, उसे मंगलपुरस्सर कहते है। शास्त्र-रचना के प्रारम्भ मे रचित मंगलपुरस्सर स्तव कहलाता है उस स्तुति के विषयभूत परम आप्त भगवान्, उनके मोक्षमार्ग प्रणेतृत्वादि गुणातिशयों की परीक्षा ही तद्विषयक आप्तमीमासा है।

भावार्थ—श्री विद्यानंद स्वामी का कहना है कि श्री वर्धमान भगवान्, सभी तीर्थकरो का समुदाय एवं देवागम स्तोत्र के कर्त्ता श्री समतभद्र स्वामी तथा उनके निर्दोष वचन इन सबकी मगलाचरण के द्वारा मैंने स्तुति की है क्योंकि इनमे से किसी एक की भी स्तुति न करे तो इस आप्तमीमांसा की टीका को करने मे हम समर्थ नही हो सकेंगे। एवं श्री भट्टाकलक देव ने तो अष्टशती भाष्य मे स्पष्ट ही कह दिया है कि इस ग्रंथ में आप्त-अर्हंत भगवान् की परीक्षा करने मे श्रद्धा और गुणज्ञता ये दो ही प्रयोजन मुख्य है। यदि

---

१ ग्रन्थकारः पक्षः। २ प्रेरकत्वे। ३ मोक्षमार्गस्येत्यादि। ४ मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि। ५ विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्य (घटमानयोश्च) दौर्बल्यावधारणाय प्रवर्त्तमानो विचार. परीक्षा। सा खल्वेत्र चेदेव स्यादेव चेदेव न स्यादित्येवं प्रवर्त्तते। ६ स्वीकारस्य। ७ श्रद्धागुणज्ञतालक्षण प्रयोजन पक्ष. धर्मित्व समन्तभद्राचार्यस्यास्ति। आप्तगुणातिशय परीक्षोपक्षेपान्यथानुपपत्तेः। ८ अर्थस्यानुभवगम्यस्य परीक्षाविशेषस्य गुणातिशयपरीक्षोपक्षिप्तस्यास्यैव तावद्देवागमाभिधानमिति निर्णयः। कथमिति चेदुच्यते। अस्य देवागमत्वान्निर्णये ग्रन्थकारस्य श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे प्रयोजने साध्ये साधनमिद न भवत्येव स्वरूपासिद्धत्वात्। कथमिति चेद्देवागममन्तरेणान्यस्य मोक्षशास्त्रारम्भरचित 'मोक्षमार्गस्य नेतार" मित्यादिस्तवनविषयाप्तगुणातिशयपरीक्षारूपायाः समन्तभद्राचार्यकृते. सर्वथाप्यसम्भवात्। निःश्रेयसपूर्वोक्तशास्त्रशब्दस्यार्थोयम्। ९ एतच्च विभावयति। १० नन्वेवमपि शास्त्रारम्भस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षैव देवागमाभिधान लब्धुमर्हति देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामित्यनेन तयोरेकत्वेनाभिधानात्, न पुनः शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसित देवागमाभिधान लब्धुमर्हति। तत कथमिदमुक्तम्।—शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रम्। देवागमाभिधानमित्युक्ते तद्गुणातिशयपरीक्षातदाप्तमीमांसितयोरेकत्वे साधिते तदाप्तमीमांसितमपि देवागमाभिधान भविष्यत्येवेति स्वीकृत्य तयोरेकत्वसमर्थनार्थमाह।—मङ्गलपुरस्सरेत्यादि। ११ मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि।

[1]तदेवं [2]निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया[3] मंगलार्थतया च [4]मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छतां[5] [6]सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेष-[7]प्रतिपत्त्यर्थमाप्तमीमांसां [8]विदधानाः, श्रद्धागुणज्ञताभ्यां प्रयुक्तमनसः, कस्माद् देवागमादिविभूतितोऽहं[9] महान्नाभिष्टुत[10] इति स्फुटं पृष्टा[11] इव स्वामिसमन्तभद्राचार्याः प्राहुः—

हमारे मे श्रद्धा और भगवान के गुणों का ज्ञान नही है तो कथमपि उनकी परीक्षा नही की जा सकती है। यदि श्रद्धा या गुणज्ञता इन दोनों गुणों में से एक गुण नहीं हो तो भी आप्त की परीक्षा नही हो सकती है। इस कथन से यह जाना जाता है कि श्री समंतभद्र स्वामी भगवान के गुणो मे विशेष रूप से अनुरक्त हो करके ही व्यंग्यात्मक शैली से आप्त की परीक्षा के बहाने मे उनके महान गुणों की स्तुति कर रहे हैं। इससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि जो व्यक्ति किसी देव, शास्त्र या गुरुओं की परीक्षा को करने में रुचि रखते है तो सबसे पहले उन्हे श्रद्धालु एवं गुणग्राही होना चाहिये न कि अश्रद्धालु अथवा दोषज्ञ, क्योंकि मात्र दोषग्राही व्यक्ति किसी के गुणो की परीक्षा करने मे या किसी के गुणों का मूल्यांकन करने में समर्थ नही हो सकते है, क्योंकि दोषग्राही बुद्धि मे तो सामने वाले के गुणों में भी दोषारोपण कर दिया जाता है अतः परीक्षा करने मे कुशल, अधिकारी व्यक्ति को ही किसी की परीक्षा में कदम उठाना चाहिये क्योकि सभी को सभी की परीक्षा का अधिकार नही है।

उत्थानिका—इस प्रकार से निःश्रेयस शास्त्र (मोक्षशास्त्र) के आदि मे मोक्ष के लिये जो कारण भूत हैं और श्री उमास्वामी आचार्य के द्वारा स्तुति को प्राप्त अतिशय गुण सहित जो भगवान आप्त है, उन्होने श्री समंतभद्र स्वामी से प्रश्न किया है। कैसे है समन्तभद्र स्वामी ? मोक्षमार्ग ही आत्मा का हित है इस प्रकार स्वीकार करने वाले शिष्यो को सम्यक् उपदेश और मिथ्या उपदेश की जानकारी के लिये आप्तमीमांसा को करते हुये श्रद्धा और गुणज्ञता से जिनका मन युक्त है—उनसे भगवान ने प्रश्न किया कि हे समन्तभद्र ! "देवागम आदि विभूति से मै महान हूँ पुन आप मेरी स्तुति क्यों नही करते है ?" इसप्रकार स्पष्टतया भगवान के प्रश्न करने पर ही मानों समन्तभद्र स्वामी कहते है—

१ ननु च मीमांसित, परीक्षा, विचार इत्यनर्थान्तर तच्च वादिप्रतिवादिभ्यां भवितव्यम्। तथा च सति समन्तभद्राचार्यस्य महावादिनः प्रतिवादी न कश्चिन्मनुष्यमात्रः सम्भवत्येव (अवटुतटमटति झटिति स्फुटनटवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा। वादिनि समन्तभद्रे कान्येषा सकथा तत्र) ततः कथमाप्तमीमांसाविधानमुपपद्यते इति पृष्टः सन्नाचष्टे तदेवमित्यादि। तदेवमुक्तन्यायेनेत्यर्थः। २ तत्त्वार्थसूत्रस्य। ३ मोक्षनिमित्त मङ्गलनिमित्तमाचार्याः शास्त्र कुर्वन्ति। ४ उमास्वामिपादैः गृद्धपिच्छाचार्यपरनामधेयैः "आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामति। एलाचार्यो गृद्धपिच्छ पद्मनन्दी वितन्यते" ॥१॥ "तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वात्प्रकटीकृतसन्मत। उमास्वामिपदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान् ॥ २ ॥ (टिप्पण्यन्तरम्)। ५ विनेयानाम्। ६ यस' (द्वन्द्वसमासः)। ७ अर्थविशेषप्रतिपत्त्यर्थ शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासादिति पूर्वोक्तभाष्यांशविवरणमिदम्। एव यथायोग्य ज्ञातव्यम्। ८ कुर्वाणाः समन्तभद्राचार्याः। ९ जिनः, परमेष्ठी। १० तत्त्वार्थसूत्रकारैः। ११ मोक्षमार्गस्य नेता कर्मभूभृता भेत्ता विश्वतत्त्वाना ज्ञातेति विशेषणत्रयेणाह स्तुतः सूत्रकृता भो समन्तभद्राचार्या देवागमादिविभूत्या त्व महानिति कुतोह नाभिष्टुत इति पृष्टा इव।

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते 'नातस्त्वमसि'[2] नो[3] महान् ॥१॥

देवागमादीनामादिशब्देन प्रत्येकमभिसम्बन्धनाद्देवागमादयो[4] नभोयानादय[5]श्चामराद-यश्च[6] विभूतयः परिगृह्यन्ते ताश्च भगवतीव मायाविष्वपि मस्करिप्रभृतिषु दृश्यन्ते इति तद्वत्तया[1] भगवन्नोस्माकं परीक्षाप्रधानानां महांश्च स्तुत्योसि । [7]**आज्ञाप्रधाना [8]हि त्रिद-शागमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिन्हं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयस्तादृशो[9] मायाविष्वपि [10]भावादित्यागमाश्रयोयं[11] स्तवः*** । श्रेयोमार्गस्य प्रणेता भगवान् स्तुत्यो महान् देवागमन-भोयानचामरादिविभूतिमत्त्वाद्यन्यथानुपपत्तेरिति हेतोरप्यागमाश्रयत्वात्[12] । तस्य च प्रति-वादिनः[2] प्रमाणत्वेनासिद्धेः तदागमप्रामाण्यवादिनामपि विपक्षवृत्तितया गमकत्वायोगात्[13]। तदागमादेव हेतोर्विपक्षवृत्तित्वप्रसिद्धेः ।

कारिकार्थ—आप के जन्म कल्याणक आदिकों में देवों का आगमन, आप का आकाश मार्ग में गमन एवं समवसरण में चामर छत्र आदि अनेक विभूतियो का होना आदि यह सब बाह्य वैभव मायावी विद्याधर मस्करी आदिकों में भी पाया जा सकता है अतः हे भगवन् ! हम लोगों के लिए आप महान नहीं है, स्तुति करने योग्य नही हैं ॥१॥

इस कारिका के आदि पद को प्रत्येक पद के साथ लगाना चाहिए । इसमे देव चक्रवर्ती आदिकों का आगमन, आकाश में गमन, चतुर्मुख आदि, चामर, छत्र, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ ग्रहण की जाती है–ये विभूतियाँ जिस प्रकार अर्हन्त भगवान में देखी जाती है उसी प्रकार मायावी मस्करी, पूरण आदिको मे भी पाई जा सकती हैं। इसलिए हे भगवन् ! हम जैसे परीक्षा-प्रधानी महापुरुषों के लिए आप स्तुति करने योग्य नही है। **हाँ ! जो आज्ञा प्रधानी हैं वे ही अर्हंत भगवान के देवागम, नभोयान आदि वैभव को परमात्मा का चिह्न समझ कर नमस्कार करते हैं न कि हम जैसे परीक्षा-प्रधानी जन, क्योंकि वैसा वैभव मायावी जनों में भी पाया जाता है। अत. इस प्रकार का स्तवन आगम के आश्रित है।***

यथा—"मोक्ष मार्ग के प्रणेता भगवान स्तुति करने योग्य महान हैं, क्योंकि देवागम नभोयान चामरादि विभूतियों का अन्यथा होना सभव नही है।"

---

१ इति हेतोः । अथवा देवागमादिविभूतित. । २ वर्द्धमानः । ३ अस्माकं परीक्षाप्रधानाना समन्तभद्रादीनाम् । ४ चक्रवर्त्यागमादि । ५ चतुरास्यत्वादि । ६ सुरपुष्पवृष्ट्यादि ७ परीक्षाप्रधानाना स्तुत्यो नासीत्यादि भावयति । ८ आज्ञावशवर्तिनः नान्यथाभाषितमिति वदति शास्त्रविचार न जानतीति आज्ञासम्यक्त्ववशवर्तिनः । ९ देवागमा-दिचिह्नस्य । १० इति हेतोः । ११ देवागमादिविभूतितस्त्व महानित्ययम् । १२ महत्त्वाभावे । १३ जैनागमसत्यवादिना स्याद्वादिनामपि विपक्षेषु मस्करिप्रभृतिषु प्रवर्त्तमानत्वाद्धेतोः साधकत्वासम्भवात् ।

---

1 देवागमादिविभूतियुक्तितया 2 मीमामकस्य ।

[विभूतिमत्त्वहेतोर्निर्दोषत्व-साधने युक्तिः]

परमार्थपथप्रस्थायियथोदितविभूतिमत्त्वस्य हेतोर्मायो[1]पदर्शिततद्विभूतिमद्भिर्मायाविभिर्न व्यभिचारः [2]सत्यधूमवत्त्वादेः पावकादौ साध्ये स्वप्नोपलब्धधूमादिमता देशादिनानैकान्तिकत्वप्रसंगात् सर्वानुमानोच्छेदात्[1]।

[तटस्थ जैनेन समाधान-जनकं प्रत्युत्तरं कारिकाया द्वितीयोऽर्थश्च]

इति चेत् तर्हि मा भूदस्य[3] हेतोर्व्यभिचारः पारमार्थिक्यः पुरन्दरभेरीनिनादादिकृत-[4]प्रतिघातागोचरचारिण्यो यथोदितविभूतयस्तीर्थंकरे भगवति त्वयि तादृश्यो मायाविष्वपि नेत्य[5]तस्त्वं[6] महानस्माकमसीति[7] व्याख्यानाद्ग्रन्थविरोधाभावादिति[8] कश्चित्,[9]

यह हेतु भी आगमाश्रित है इसलिए यह हेतु प्रतिवादी को प्रमाण रूप से मान्य नही है, क्योंकि वे लोग भी अपने आगम को प्रमाण मानते है। अतः विपक्ष में चले जाने से यह हेतु गमक (अपने साध्य को सिद्ध करने वाला) नही हो सकता है। उनके आगम में भी चले जाने से इस हेतु मे विपक्षवृत्तित्व सिद्ध ही है।

[विभूतिमत्व हेतु को निर्दोष मानने मे युक्ति]

अब कोई प्रश्न करता है कि वास्तविक आगम कथित विभूतिमान् जो हेतु है वह माया से उपदर्शित विभूति वाले मायावी जनों के साथ व्यभिचारी नही है, क्योंकि मायावी जनो में उस प्रकार की विभूतियाँ नही पाई जाती है, यदि ऐसा नही मानोगे तो सत्य धूमवत्वादिक हेतु से अग्नि आदि साध्य के सिद्ध करने में स्वप्न मे उपलब्ध हुए धूमादिमान प्रदेशादिक से भी व्यभिचार मानना पड़ेगा और पुन. सभी अनुमानो का उच्छेद हो जायेगा।

[तटस्थ जैनी द्वारा समाधान-जनक उत्तर एवं कारिका का द्वितीय अर्थ]

अब यहाँ कोई तटस्थ जैनी उत्तर देता है कि यदि ऐसी बात है तो इस "देवागमत्व हेतु को व्यभिचारी मत मानिये, किन्तु ऐसा अर्थ कर लीजिए कि देवादिकों के भेरी निनाद आदि के द्वारा होने वाली एवं विनाश को न प्राप्त होने वाली, ऐसी वास्तविक, यथोदित (शास्त्र में कही गई) विभूतियाँ जिस प्रकार की आप तीर्थकर भगवान में है, उस प्रकार की मायावी जनों में नही हैं। अतएव आप हम लोगों के लिए महान है–इस श्लोक का ऐसा अर्थ करने पर ग्रन्थ में भी विरोध नही आता है।

१ माययोपदर्शिताश्च तास्तद्विभूतयो देवागमादिविभूतयस्तास्सन्ति येषा मायाविना ते मायोपदर्शिततद्विभूतिमन्तस्तैः। २ अत्राह कश्चित्स्वमतवर्त्ती 'हे समन्तभद्राचार्या ! मायाविभिः कुत्वास्य हेतोर्व्यभिचारो नास्ति तदेव सत्यधूमवत्त्वादेरित्यादिना दर्शयति। ३ देवागमादिमत्त्वस्य। ४ विनाश। ५ मायाविषु तादृश्यो विभूतयो न दृश्यन्ते। ६ इति हेतोः। ७ देवागमादिश्लोकस्यैव व्याख्यानादित्यर्थः। ८ व्यभिचाराभावे देवागमेत्यादिग्रन्थविरोध इत्यत आह ग्रन्थविरोधाभावात्। ९ तटस्थः स्वमतवर्त्ती पृच्छति।

1 सर्वानुमानोच्छेदापत्तेः–इति पाठांतरम्।

[पुनरप्याचार्यास्तर्केण हेतोर्व्यभिचारं साधयंति]

सोपि कुतः प्रमाणात्प्रकृतहेतु[1] [2]विपक्षासम्भविनं प्रतीयात्[3] ? न तावत्प्रत्यक्षादनुमानाद्वा [4]तस्य [5]तदविषयत्वात् । नाप्यागमादसिद्ध[6]प्रामाण्यात्तत्प्रतिपत्तिरतिप्रसंगात् । [7]प्रमाणत[1] सिद्धप्रामाण्यादागमात्तत्प्रतिपत्तौ ततः [8]साध्यप्रतिपत्तिरेवास्तु [9]परम्परापरिश्रमपरिहारश्चैवं[10]प्रतिपत्तुः स्यात् । ततः[11] सूक्तं सर्वथा नातो हेतोस्त्वमसि नो महांस्तस्यागमाश्रयत्वादिति ।

[पुनः आचार्य तर्क द्वारा हेतु को व्यभिचारी सिद्ध करते है]

इस पर श्री विद्यानन्दि स्वामी प्रश्न करते है कि आप किस प्रमाण से प्रकृत हेतु (देवागमनादि) को विपक्ष में असंभवी निश्चित करते है–प्रत्यक्ष से या अनुमान से ?

इन दोनों प्रमाणों से भी चामरादि विभूतिमत्त्व हेतु की सिद्धि नहीं हो सकती है और सिद्ध नही है प्रमाणता जिसकी, ऐसे आगम से भी यह हेतु विपक्ष-व्यावृत्ति रूप सिद्ध नही है। यदि आप कहे अनुमान प्रमाण से सिद्ध है प्रमाणता जिसकी, ऐसे आगम से इस हेतु को सिद्ध करेंगे तो इस आगम से महानपने रूप साध्य की ही सिद्धि हो जावे जिससे कि प्रतिपत्ता-ज्ञाता के परंपरा मे होने वाले परिश्रम का परिहार हो जाता है। अर्थात् आगम से विभूतिमत्त्व हेतु की सिद्धि, पुन. इस हेतु से भगवान के महानपने रूप साध्य की सिद्धि होती है। अतः इस परंपरा परिश्रम मे कोई प्रयोजन नही है। किन्तु स्वयं आगम से ही साध्य की सिद्धि कर सकते है, इसलिए यह ठीक ही कहा है कि सर्वथा इस 'विभूतिमत्त्वादि' हेतु से आप हम लोगों के लिए महान नही है क्योकि यह हेतु आगमाश्रित है।

भावार्थ—ग्रन्थकर्त्ता का कहना है कि विभूतिमत्व हेतु से हम भगवान को महान समझकर नमस्कार नही करते है। इस पर कोई जैन ही कह देता है कि जैसी विशेष एवं सच्ची विभूतियां अर्हंत भगवान मे हैं वैसी अन्य मायावी जनों में हो ही नही सकती है। इस पर कोई दूसरा तटस्थ जैन उत्तर देता है कि पुनः इस हेतु को व्यभिचारी मत मानिये एवं कारिका के अर्थ मे 'न' शब्द को "मायाविष्वपि" के साथ लगाकर अर्थ कर लीजिये, जिससे भगवान अर्हंत इन विभूतियों से ही महान् है

१ देवागमादिहेतुम्। २ मस्करिष्वसम्भविनम्। ३ निश्चीयात्। ४ विभूतिमत्त्वादिहेतोः। ५ तयोः प्रत्यक्षानुमानयोरगोचरत्वात् प्रत्यक्षाच्चामरादिविभूतिर्न दृश्यते नाप्यनुमानेन हेतोरसिद्धेरिति प्रत्यक्षानुमानाभ्यां हेतुरयं गोचरो न। ६ असिद्धप्रमाणत्वादागमात्तस्य हेतोः परिज्ञानं चेत्तदातिप्रसङ्गः। ७ अयमागमो धर्मी प्रमाणं भवितुमर्हति पूर्वापरविरोधरहितत्वादित्यनुमानात् प्रमाणात्। ८ महानिति। ९ आगमाद्धेतुप्रतिपत्तिस्ततः साध्यसिद्धिरिति परम्परापरिश्रमस्तस्यपरिहारः। १० आगमात्साध्यप्रतिपत्तिप्रकारेण। ११ निर्विशेषे सति विशेषव्याख्यानद्वयस्यागमाश्रितत्वं यत.।

1 यदि प्रमाणादागमसिद्धिरागमात्साध्यसिद्धिर्हेतुना किं प्रयोजनम्।

तर्ह्यन्तरंगबहिरंगविग्रहादिमहोदयेनान्यजनातिशायिना[1] सत्येन[2] स्तोतव्योहं[3] महानिति भगवत्पर्यनुयोगे[4] सतीव प्राहुः ।—

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः ।
दिव्यः सत्यो [5]दिवौकस्स्वप्यस्ति[6] [7]रागादिमत्सु सः ॥२॥

ग्रात्मानमधिश्रित्य वर्त्तमानोऽध्यात्ममन्तरंगो विग्रहादिमहोदयः शश्वन्निःस्वेदत्वादिः

ग्रतः हम लोगों के लिये पूज्य है क्योंकि मायावीजनों में ये विभूतियाँ नहीं पाई जाती हैं, ऐसा ग्रर्थ करके परस्पर में समाधान कर देने पर श्री विद्यानंद स्वामी कहने लगे कि यह "विभूतिमत्व" हेतु ग्रन्य के भी ग्रागम में चला जाता है। ग्रतः विपक्ष में चले जाने से यह व्यभिचारी है क्योकि सभी मतावलंबी जन ग्रपने-ग्रपने ग्रागम को प्रमाण मानते हैं। जो हेतु पक्ष, सपक्ष ग्रौर विपक्ष तीनों में रहे वह हेतु व्यभिचारी कहलाता है जैसे कि "ग्राकाश नित्य है क्योंकि वह ज्ञान का विषय है" ग्रब यहाँ ज्ञान का विषय रूप "ज्ञेयत्व" हेतु व्यभिचारी है। क्योंकि यह घट पट ग्रादि ग्रनित्य पदार्थों में भी पाया जाता है। तथा "इस पर्वत पर ग्रग्नि है क्योंकि धूमवाला है" यहाँ यह धूमवत्व हेतु पक्षरूप पर्वत पर है एवं सपक्ष रूप रसोईघर मे भी है तथा विपक्षभूत तालाब में नहीं है ग्रतः यह हेतु व्यभिचारी नही है। उपर्युक्त व्यभिचारी हेतु का दूसरा नाम ग्रनैकांतिक भी है।

उत्थानिका—पुनः मानो साक्षात् भगवान ही समन्तभद्र स्वामी से प्रश्न कर रहे हैं–कि हे समन्तभद्र ! बाह्य विभूति से तुमने हमे नमस्कार नहीं किया तो न सही, किन्तु ग्रन्य मस्करी पूरण ग्रादि जनों मे नही पाये जाने वाले, ऐसे वास्तविक ग्रन्तरंग, बहिरंग विग्रहादि महोदय हैं, उनके द्वारा तो मैं तुम्हारे स्तवन करने योग्य महान ग्रवश्य ही हूँ।

इस प्रकार के प्रश्न करने पर ही मानो समन्तभद्र स्वामी कहते है :—

कारिकार्थ—ग्रंतरंग विग्रह ग्रादि महोदय-निरंतर पसीना रहितपना ग्रादि एवं बहिरंग-गन्धोदक वृष्टि ग्रादि महोदय जो कि दिव्य है, सत्य ग्रर्थात् वास्तविक है। इस प्रकार ग्रन्तरंग, बहिरंग शरीर ग्रादि महोदय भी मस्करीपूरण ग्रादि मे न होते हुए भी रागद्वेष-युक्त देवों में पाये जाते हैं, इसलिए भी हे भगवन् ! ग्राप महान् नही है ॥२॥

---

१ मस्करिपूरणाद्यन्यजनेभ्योतिशयवता। २ परमार्थभूतेन। ३ ग्रहं पक्ष. महान् भवामीति साध्यो धर्मः ग्रन्तरङ्ग-बहिरङ्गविग्रहादिमहोदयसद्भावान्यथानुपपत्ते। ४ प्रश्ने। ५ ग्रक्षीणकषायेषु देवेषु। ६ वर्त्तते यस्मात्तस्मात्त्व महान्न। ग्रथवा किमस्तीति काकुः नास्तीत्यर्थः। ग्रतस्त्व महानस्माकमसीत्यभिप्रायो भगवतः। ७ ग्रादिशब्दान्मोहद्वेषमदाहङ्काराणां ग्रहणम्।

परानपेक्षत्वात्[१]। ततो बहिर्गन्धोदकवृष्ट्यादिर्बहिरंगो देवोपनीतत्वात्। स च सत्यो मायाविष्वसत्त्वात्। दिव्यश्च [२]मनुजेन्द्राणामप्यभावात्। स एष बहिरन्तःशरीरादिमहोदयोपि[1] पूरणादिष्वसम्भवी व्यभिचारी स्वर्गिषु भावात्क्षीणकषायेषु। [३]ततोपि न भवान् परमात्मेति स्तूयते*।

[अत्र कश्चित्तटस्थजैनः महोदयत्वहेतुं निर्दोषं साधयति]

अथ[४] यादृशो घातिक्षयजः स[५] भगवति न तादृशो देवेषु [६]येनानैकान्तिकः स्यात्। [७]दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु स नैवास्तीति व्याख्यानादभिधीयते

[पुनरपि आचार्या हेतुं सदोषं साधयति]

तथाप्यागमाश्रयत्वादहेतुः पूर्ववत्[८]। ननु प्रमाणसम्प्लववादिनां[९] प्रमाणप्रसिद्ध-

---

आत्मा का आश्रय लेकर जो होवे उसे अध्यात्म कहते है अर्थात् अन्तरंग शरीरादि महोदय हमेशा मल-मूत्र, पसीना आदि से रहित अवस्था विशेष, जो कि पर मंत्रादि किसी की भी अपेक्षा नहीं रखते हैं उससे भिन्न बाह्य-गन्धोदक, पुष्प वृष्टि आदि बहिरंग महोदय होते है जो कि देवों के द्वारा किये जाते है। ये दोनों प्रकार के महोदय सत्य (वास्तविक) है, क्योंकि ये मायावी जनों मे नहीं पाये जाते है और दिव्य है क्योंकि चक्रवर्ती आदि महापुरुषो मे भी इनका अभाव है। इस प्रकार ये "बहिरंग, अन्तरंग शरीरादिक महोदय" भी मस्करीपूरण आदि में असम्भव है, तो भी रागादिमान्–कषाय सहित देवों मे पाये जाते हैं अतः व्यभिचारी है, इसलिए इस हेतु के द्वारा भी आप परमात्मा नहीं है अतः मेरे द्वारा स्तुत्य नहीं है।

[यहां कोई तटस्थ जैनी "विग्रहादि महोदयत्वात्" हेतु को निर्दोष सिद्ध करता है]

अब कोई तटस्थ जैनी कहता है कि जिस प्रकार का घातिया कर्म के क्षय से होने वाला अतिशय भगवान मे है, उस प्रकार का देवों मे नहीं है जिससे कि यह विग्रह आदि महोदय हेतु अनेकान्तिक होवे, अर्थात् यह हेतु व्यभिचारी नहीं है तथा यह विग्रहादि महोदय रागादिमान देवो मे है? अर्थात् नहीं हैं। इस प्रकार वक्रोक्ति रूप व्याख्यान के द्वारा अर्थ करने से आगम मे भी बाधा नहीं आती है।

[पुनः आचार्य हेतु को सदोष सिद्ध करते है]

इस पर आचार्य श्री विद्यानन्दि स्वामी कहते है कि यह हेतु भी पूर्ववत् आगमाश्रय होने से अहेतु है, क्योंकि यह हेतु विपक्ष मे नहीं रहता है, यह कैसे जाना जाय। कोई कहता है कि आप जैनी तो

---

१ मन्त्राद्यनपेक्षत्वात्। २ चक्रवर्त्यादीनाम्। ३ हेतोर्व्यभिचारित्वात्। ४ यदि। आह स्वमतवर्त्ती। ५ विग्रहादिमहोदयः। ६ न केनापि। ७ किमस्तीति काकुः नास्तीत्यर्थः। ८ सोपि प्रकृतहेतु विपक्षासम्भविन कुतः प्रतीयादित्यादिसम्बन्धनीयम्। ९ बहूनां प्रमाणानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः प्रमाणसम्प्लवः। जैनानाम्।

---

1 अहं धर्मी महान् भवामि अंतरंगबहिरंगमहोदयसद्भावान्यथानुपपत्तेः।

प्रामाण्यादागमात्साध्यसिद्धावपि[1] तत्प्रसिद्धसाधनजनितानुमानात्पुनस्तत्प्रतिपत्तिरविरुद्धैवेति चेन्न, [2]उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसंप्लवस्यानभ्युपगमात्। सति हि प्रतिपत्तुरुपयोगविशेषे [3]देशादिविशेषसमवधानादागमात्प्रतिपन्नमपि[4] हिरण्यरेतसं स पुनरनुमानात्प्रतिपित्सते। तत्प्रतिबद्धधूमादिसाक्षात्करणात्प्रतिपत्तिविशेषघटनात् [5]पुनस्तमेव प्रत्यक्षतो बुभुत्सते। [7]तत्करणसम्बन्धात्तद्विशेष[6]प्रतिभाससिद्धेः[8]। न [9]चैवमागममात्रगम्ये साध्ये साधने च [10]तत्प्रतिपत्तिविशेषोस्तीति [11]किमकार[12]णमत्र[13] प्रमाणसंप्लवोभ्युपगम्यते [14]प्रत्यक्षनिश्चतेग्नौ धूमे च तदभ्युपगमप्रसंगात्। सर्वथा विशेषाभावात्। ततो देवागमनभोयानचामरादिविभूतिभिरिवान्तरंगबहिरंगविग्रहादिमहोदयेनापि न स्तोत्रं भगवान् परमात्मार्हति।

प्रमाण सम्प्लववादी हैं, अतः प्रमाण से प्रसिद्ध है प्रमाणता जिसकी, ऐसे आगम से साध्य की सिद्धि, अर्थात् भगवान का महत्व सिद्ध हो जाने पर भी आगम से प्रसिद्ध हेतु से उत्पन्न होने वाले अनुमान प्रमाण से पुनरपि साध्य की सिद्धि होने मे कोई बाधा नही है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योकि उपयोग विशेष के अभाव मे हमने प्रमाण सम्प्लव को स्वीकार नही किया है।

जानने वाले ज्ञाता का उपयोग-प्रयोजन विशेष होने पर ही देश, कालादि विशेष से निर्णीत आगम से निश्चित जाने गये भी अग्नि को अनुमान विशेष से जानना चाहता है, एव साध्य से सम्बद्ध धूमादि के साक्षात् करण से ज्ञान विशेष होता है, पुन. वह ज्ञाता उस साध्य अग्नि आदि को प्रत्यक्ष से जानना चाहता है, क्योकि साध्य 'अग्नि' का चक्षु इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध से उनका विशेष पीत वर्ण रूप भासुराकार प्रतिभास सिद्ध होता है। इस प्रकार प्रमाण संप्लव के द्वारा आगम मात्र गम्य साध्य और साधन मे साध्य का परिज्ञान विशेष नहीं हो सकता है।

अतः यहाँ पर व्यर्थ ही प्रमाण सम्प्लव को स्वीकर करने की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् कुछ भी नही है। यदि कारण के बिना भी प्रमाण-संप्लव स्वीकार करेंगे तो प्रत्यक्ष से निश्चित हुई अग्नि और धूम मे भी प्रमाण-सम्प्लव मानने का प्रसंग आयेगा। सर्वथा यहाँ पर भी विशेष का अभाव है, इसलिए 'देवागम नभोयान चामरादि विभूतिमत्व' के समान अन्तरंग, बहिरंग विग्रहादि महोदय के द्वारा भी आप भगवान-परमात्मा स्तवन करने योग्य नही हैं।

भावार्थ—पुनरपि ग्रंथकर्त्ता "विग्रहादि महोदयत्व" हेतु से भी भगवान् को महान् मानने को तैयार नही है। इस पर भी कोई तटस्थ जैन कहता है कि घाति कर्म के क्षय से होने वाले जो दिव्य

१ महत्ता। २ परिच्छित्ति। ३ कालस्वरूपम्। ४ निर्णयात्। ५ पुनः स प्रतिपत्ता त हिरण्यरेतस साक्षाद्बोद्धुमिच्छति। कस्मात् ? अग्निनेत्रेन्द्रियसंयोगात्साध्यविशेषप्रतिभासः सिद्धयति यत। ६ इन्द्रियेण। ७ पिङ्गभासुराकार। ८ विशेषप्रतिभाससिद्धेरिति वा पाठ। ९ अग्निप्रकारेण। १० प्रमाणसंप्लवेन तस्य साध्यस्य परिज्ञानविशेषो नास्ति। ११ किमिति किमर्थम्। १२ कारण विना। १३ साध्ये। १४ अग्नौ धूमे च प्रत्यक्षं निश्चिते सति तस्य प्रमाणसम्प्लवस्याङ्गीकारप्रसङ्गो घटते।

तर्हि तीर्थकृत्सम्प्रदायेन[1] स्तुत्योहं महानिति भगवदाक्षेपप्रवृत्ताविव[2] साक्षादाहुः—

तीर्थकृत्समयानां[3] च परस्परविरोधतः[4] ।
[5]सर्वेषामाप्तता[6] नास्ति [7]कश्चिदेव भवेद्गुरुः ।।३।।

अतिशय हैं वे रागादिमान् देवो मे असंभव है अतः कारिका के अर्थ में वक्रोक्ति के द्वारा अर्थ करके प्रश्न वाचक कर देने से, मतलब ये विग्रहादि महोदय रागादिमान देवों में हो सकते हैं क्या? अर्थात् नही हो सकते। ऐसा अर्थ कर देने से आगम में भी बाधा नही आती है। इस समाधान पर भी श्री विद्यानद स्वामी कहते हैं कि यह हेतु आगमाश्रित होने से अनैकांतिक ही है। इस पर किसी का कहना है कि आप जैन प्रमाण सम्प्लव को मानते हैं अतः प्रमाण मे प्रसिद्ध प्रमाणता वाले आगम प्रमाण से भगवान् का महत्व सिद्ध करो, पुन प्रसिद्ध हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान प्रमाण से भी भगवान का महत्व सिद्ध करो, इस प्रकार से आप जैनो के यहाँ तो कोई भी बाधा नही है अर्थात् बहुत से प्रमाणो का एक ही साध्य को सिद्ध करने में प्रवृत्त हो जाना प्रमाण सम्प्लव कहलाता है। जैसे किसी पुस्तक मे पढा कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है। पुन सामने के पर्वत पर धूम को देखकर अनुमान से जाना कि यहाँ अग्नि अवश्य है, तदनन्तर कदाचित् उसी पर्वत पर चढ गये अथवा रसोई घर मे गये एव अग्नि को प्रत्यक्ष चक्षुरिंद्रिय से देखा। इस अग्निरूप साध्य को सिद्ध करने मे आगम, अनुमान एव प्रत्यक्ष ऐसे तीन प्रमाण प्रवृत्त हुये है। कोई-कोई इस विषय मे आगे के प्रमाण को अपूर्वार्थग्राही न होने में दोष मानते है किन्तु जैनाचार्य इसे दोष नही मानते है। उनका कहना है कि प्रत्येक प्रमाण आगे-आगे कुछ विशेष-विशेष अंशो को ग्रहण करने वाले होने से अपूर्वार्थग्राही ही है इत्यादि। इस पर जैनाचार्य कहते है कि हम प्रयोजन के बिना ही प्रमाण सम्प्लव को नही मानते है। जहाँ प्रयोजन विशेष होता है वही पर मानते है नही तो एक बार अग्नि को प्रत्यक्ष से देखकर भी उसका अनुमान लगाते बैठेंगे।

उत्थानिका—तब तो देवो मे भी असंभवी ऐसे आगम रूप तीर्थकृत संप्रदाय के द्वारा तो मैं अवश्य ही स्तुति करने योग्य महान हूँ, इस प्रकार मानो भगवान के साक्षात् प्रश्न करने पर ही श्री समन्तभद्र स्वामी प्रत्युत्तर देते हुए के समान ही कहते हैं —

कारिकार्थ—परमागम लक्षण तीर्थ को करने वाले तीर्थकृत् कहलाते हैं। उनके समय

---

१ विशेषणस्वरूपमर्भाविना आगमेन। २ प्रश्नप्रवृत्तौ सत्याम्। ३ तीर्थं परमागमलक्षणं कुर्वन्ति ये ते तीर्थकृतो जैन यौगादिसौगतार्हत कपिलादयस्तेषा समया आगमास्तेषाम्। ४ स्वकीयस्वकीयाभिप्रायाभिप्रायेण। ५ मीमासक, सांख्य, सौगत, नैयायिक, चार्वाक, तत्त्वोपप्लववादि, योग, ब्रह्माद्वैतवादि, पुरुषाद्वैतवादि, चित्राद्वैतवादी, शब्दाद्वैतवादि, ज्ञानाद्वैतवादी इत्यादयश्च वादिनामेकान्तमतानामाश्रितानाम्। ६ यथाभूतार्थोपदेष्टृत्वम। ७ परमतापेक्षया काक्वा व्याख्यान, कश्चिदेव गुरुर्भवेदपितु न कश्चिद्गुरुर्भवेदिति। जैनमतापेक्षयायमर्थो ग्राह्योऽस्याः कारिकायाः, क परमात्मा चिदेवार्हन् कैवल्येवाप्तो भवेन्नान्य। अत्र यन्ति ये ते भवेन ससारिणस्तेषा गुरुर्भवेद्गुरुरित्येकपद ज्ञेयम्। चार्वाकमते बृहस्पतेर्ग्रहण ज्ञेयम्।

इति भगवतो महत्त्वे साध्ये तीर्थकरत्वं साधनं कुतः प्रमाणात् सिद्धम् ? न तावदध्यक्षा-त्तस्य [1]तदविषयत्वात्साध्यवत् । नाप्यनु[2]मानात्तदविनाभाविलिगाभावात् । [3]समयात्सि-द्धमिति चेत् पूर्ववदागमाश्रयत्वादगमकत्वमस्य व्यभिचारश्च । **न[4] हि तीर्थकरत्वमाप्ततां साधयति, शक्रादिष्वसम्भवि सुगतादौ दर्शनात्*।** यथैव[5] हि भगवति तीर्थकरत्वसमयोस्ति तथा सुगतादिष्वपि । सुगतस्तीर्थकरः, कपिलस्तीर्थकर इत्यादिसमयाः [6]भवन्ति सर्वे महान्तः स्तुत्याः स्यु । **न च सर्वे सर्वदर्शिनः परस्परविरुद्धसमयाभिधायिन *।** तदुक्तम् ।

सुगतो यदि सर्वज्ञो कपिलो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः[8] कथं तयो ।।

अर्थात् आगमों में परस्पर में भिन्न-भिन्न अभिप्राय होने से विरोध पाया जाता है, अतः सभी का आप्त-पना (सर्वज्ञपना) नहीं है, अर्थात् मीमांसक सांख्य, सौगत, नैयायिक, चार्वाक, तत्त्वोपप्लववादी, योग, ब्रह्माद्वैतवादी, ज्ञानाद्वैतवादी आदि अनेक एकान्तमतावलम्बी वादियों में सभी के ही सर्वज्ञता नहीं हो सकती है, इसलिए कोई एक गुरु-परमात्मा अवश्य है ।।३।।

इस प्रकार भगवान में "महानपना" साध्य करने में तीर्थकरत्व हेतु भी किस प्रमाण से सिद्ध है ?

यह हेतु प्रत्यक्ष से तो सिद्ध नहीं है, क्योंकि साध्य के समान यह हेतु भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, न अनुमान से सिद्ध है क्योंकि साध्य जो महान है उसके साथ अविनाभावी लिंग नहीं पाया जाता है। यदि आप कहें—आगम से सिद्ध है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्ववत् आगमाश्रय होने से यह हेतु अगमक है—साध्य को सिद्ध करने वाला नहीं है । और विपक्ष में जाने से व्यभिचारी भी है ।

देखिये—**यह 'तीर्थंकरत्व' हेतु आप्तपने को सिद्ध नहीं कर सकता है । यद्यपि यह** तीर्थकरत्व **हेतु देवादिकों में असंभवी है फिर भी बुद्ध आदिकों में पाया जाता है ।*** क्योंकि जिस प्रकार भगवान–तीर्थकर का आगम मौजूद है उसी प्रकार सुगत आदि में भी अपने-अपने तीर्थ को कहने वाला आगम पाया जाता है । सुगत भी तीर्थकर है, कपिल भी तीर्थकर है, इस प्रकार आगम मौजूद है । अतः सभी ही महान एवं स्तुति के योग्य हो जावेंगे ।

किन्तु वे सभी सर्वदर्शी सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि परस्पर में विरुद्ध आगम का कथन करने वाले हैं ।*

जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा—

श्लोकार्थ—बुद्ध यदि सर्वज्ञ है और कपिल (सांख्य का गुरु) नहीं है इसमें क्या प्रमाण है

---

१ प्रत्यक्षागोचरत्वात् । २ भगवान् धर्मी महान् भवतीति साध्यस्तीर्थकरत्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । यो महान्न भवति स तीर्थकरो न भवति यथा रथ्यापुरुषः तीर्थकरश्चासौ तस्माद् महान् भवतीति । ३ आगमात् । ४ व्यभिचारमेव भावयति । ५ एतन्नास्तीत्युक्ते आह । ६ आशङ्कय । ७ कुमारिलेन । ८ सर्वथा क्षणिक, सर्वथा नित्यमित्यादि ।

इति । **ततोऽनैकान्तिको हेतुः*** तीर्थकरत्वाख्यो न [1]कस्यचिन्महत्त्वं साधयतीति कश्चिदेव गुरुर्महान् भवेत् ? नैव भवेदित्यायातम्[2] । [3]**अत एव न कश्चित्पुरुषः सर्वज्ञः*** स्तुत्यः श्रेयोर्थिनां श्रुतेरेव[4] श्रेयःसाधनोपदेशप्रसिद्धेरित्यपरः[5] । तं प्रत्यपीयमेव कारिका योज्या । तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसकाः [6]सर्वज्ञागमनिराकरणवादित्वात् । तेषां [7]समयास्तीर्थकृत्समयास्तीर्थच्छेदसम्प्रदाया भावनादि[8]वाक्यार्थप्रवादा इत्यर्थः । तेषां च परस्परविरोधादाप्तता संवादकता[9] [10]नास्तीति कश्चिदेव सम्प्रदायो भवेद्गुरुः [11]संवादको नैव भवेदिति व्याख्यानात् ।

और यदि दोनो सर्वज्ञ हैं तो उन दोनों में मत भेद क्यों पाया जाता है, क्योंकि बुद्ध तो सर्वथा वस्तु को क्षणिक ही मानते हैं और सांख्य सर्वथा सभी वस्तु को नित्य ही मानते है ।

इसलिए **यह 'तीर्थंकरत्व' हेतु अनैकांतिक है,** * यह किसी भी पुरुष को "महान्" सिद्ध नही कर सकता है । अतः कोई गुरु-महान हो सकता है क्या ? अर्थात् नही हो सकता है ।

अब मीमासक कहते है कि **इसीलिए मोक्षाभिलाषी के द्वारा कोई भी पुरुष-विशेष सर्वज्ञ स्तुति योग्य नहीं है ।*** श्रुति अर्थात् अपौरुषेय वेद के द्वारा ही मोक्ष के साधन भूत उपदेश की प्रसिद्धि है । ऐसा कहने वाले उन मीमांसकों के प्रति भी इस कारिका का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए-

"तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसकाः" अर्थात् मीमासकजन तीर्थ का नाश करने वाले तीर्थकृत् है क्योंकि वे सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगम का निराकरण करने वाले है । उनके आगम (उपदेश) तीर्थकृत् आगम हैं, अर्थात् तीर्थ के नाशक सम्प्रदाय वाले है-भावना, विधि, और नियोग रूप वेद वाक्यों के प्रतिपादक अर्थ करने वाले है । अर्थात् वेद वाक्यों का अर्थ कोई तो भावना रूप करते हैं, कोई उससे विरुद्ध विधिरूप करते है, एवं कोई उससे विरुद्ध नियोगरूप करते हैं । इसलिए उनमें परस्पर में विरोध होने से आप्तपना-संवादकपना सम्भव नहीं है । अतः कोई भी सम्प्रदाय गुरु-संवादक नही है, ऐसा व्याख्यान समझना चाहिए ।

भावार्थ—पुनरपि श्री समतभद्र स्वामी भगवान को तीर्थंकृत्त्व हेतु से भी महान सिद्ध नही कर रहे हैं । इस पर मीमांसक, चार्वाक और शून्यवादी को बोलने का मौका मिल जाता है । वे कहते है कि कारिका के "कश्चिदेव भवेद्गुरुः" इस अंतिम चरण का वक्रोक्ति के द्वारा प्रश्न वाचक अर्थ कर दीजिये कि सभी आगमों में परस्पर मे विरोध पाया जाता है अतः "क्या कोई गुरु भगवान् हो सकता है ?"

---

१ पुंसः । २ यत एव ततस्तीर्थकरत्वनामा हेतुर्व्यभिचारी सन् कस्यचित् सुगतादेर्महत्त्व न साधयति । ३ सर्वेषां तीर्थकरत्वप्रतिपादकत्वमस्ति यतः । ४ श्रेयोर्थिना कथं श्रेय इत्युक्ते आह 'वेदात्' । ५ मीमांसक. । ६ सर्वज्ञप्रतिपादक । ७ उपदेशाः । ८ आदिशब्देन विधिनियोगौ । ९ संवादकताप्रेरणालक्षणभावनाज्ञानम् । १० संवादकता नास्ति यतः । ११ भावनारूपे ।

तदेवं वक्तव्यम् ।

भावना[1] यदि वाक्यार्थो नियोगो[1] नेति का प्रमा[2] । तावुभौ यदि वाक्यार्थो हतौ भट्टप्रभाकरौ ॥१॥ इति [3]कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा । [3]द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्टवेदान्तवादिनौ ॥२॥ इति

अर्थात् नहीं हो सकता है। बस ! ऐसा अर्थ कर देने पर हम मीमासकों का मत पुष्ट हो जाता है कि जगत में कहीं पर भी कोई सर्वज्ञ भगवान है ही नही। हमारे द्वारा अपौरुषेय वेद से ही धर्म अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान सिद्ध हो जाता है। अतः किसी पुरुष को सर्वज्ञ मानने की आवश्यकता ही नही है। इस पर जैनाचार्यों ने इस अन्तिमचरण का प्रथम तो यह अर्थ किया है कि कोई एक ही गुरु हो सकता है पुन: उसी से यह अर्थ भी कर दिया है कि कः—परमात्मा, चित्–अर्हत भगवान, एव–ही भवेत्, भव–संसार को जो इत्–प्राप्त हैं वे भवेत् हैं उन संसारी जीवों के गुरु–भगवान महान केवली आप्त ही हो सकते है, अन्य कोई भी नहीं हो सकते है।

श्लोकार्थ—यदि वेद वाक्य का अर्थ भावना है नियोग नही है इसमे क्या प्रमाण है ? यदि वे दोनों ही वाक्य के अर्थ है तो भट्ट और प्रभाकर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं ॥१॥ नियोगरूप कार्य के अर्थ में वेद का ज्ञान प्रमाण है तो स्वरूप–विधि में वह प्रमाण क्यों नही है ? यदि कार्य और स्वरूप दोनों मे ही वह वेद-वाक्य प्रमाण होवे तब तो खेद है कि भट्ट और वेदांतवादी दोनों ही नष्ट हो गये ॥२॥

विशेषार्थ—जैनाचार्य अपौरुषेय वेद में भी परस्पर विरोध को दिखलाते हुये दूषण देते है। "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्ग काम" इत्यादि वाक्यो में जो "यजेत" पद विधि लिङ् है, अद्वैतवादी लोग इसका अर्थ विधिरूप एक अद्वितीय परमब्रह्म ही करते हैं, नियोगवादी प्रभाकर इसी का अर्थ "मैं इस वाक्य से यज्ञ कार्य मे नियुक्त हुआ हूँ" ऐसा नियोग रूप करते हैं तथा भावनावादी भाट्ट इसी वेद का अर्थ भावना रूप करते है। "य सर्वज्ञ स सर्ववित्" इन वेद वाक्यों मे नैयायिक लोग ईश्वर का सर्वज्ञत्व अर्थ निकालते है एवं इसी वाक्य से मीमासक लोग कर्मकाड की स्तुति करने वाला अर्थवाद वाक्य मानते है और चार्वाक "अन्नाद्वै पुरुष." आदि श्रुतियो से अपना मत पुष्ट करते हुये कहते हैं कि अन्नादि भूत चतुष्टय से ही आत्मा का निर्माण होता है। कामधेनु के समान इन वेदवाक्यों से भिन्न-भिन्न मतावलंबी जन भिन्न-भिन्न ही अर्थ की कल्पना करके अपना-अपना मत पुष्ट कर रहे हैं। इस प्रकार सभी के मतों में परस्पर मे एक दूसरे से विरोध आता है। मीमांसक तो सर्वज्ञ को मानते ही नहीं हैं। ये वेदवाक्य स्वयं तो कहते नही है कि मेरा यह अर्थ प्रमाण है एवं यह अर्थ अप्रमाण है। तथा उस वेद

१ नियुक्तोहमित्याकूत यस्माद्भवति स एव नियोग इत्यर्थः। २ सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादिविधिस्वरूपप्रतिपादने वेदवाक्य कथं न प्रमाणम्। ३ कार्यस्वरूपयोः।

1 कि केन कथमित्यंशत्रयवती भावना—भाव्यकरण कर्तव्यता रूपमंशत्रयं। 2 भावनारूपे। यागे।

के व्याख्याता पुरुष भी रागी द्वेषी ही मिलेंगे। इसलिये "ये ही अर्थ प्रमाण हैं" ऐसी अंध परम्परा से अर्थ का निर्णय होना नही बनेगा। एक अंधे ने दूसरे अंधे का एवं दूसरे ने तीसरे का इत्यादि रूप से सैकड़ों अंधे हाथ पकड़कर पंक्ति से खड़े हो जावें तो क्या सबको दीखने लगेगा ? अर्थात् नही दीखेगा और न वे अंधे अभीष्ट स्थान को ही प्राप्त कर सकेंगे और यदि उन अंधों की पंक्ति में आगे एक चक्षुष्मान् व्यक्ति जुड़ जावेगा तो कदाचित सभी को अभीष्ट स्थान तक पहुँचा भी सकता है। तथैव यदि आप मीमांसक इस अनादि निधन वेद का व्याख्याता सर्वज्ञ को मान लेंवे तो सभी अल्पज्ञों-असर्वज्ञों को भी सच्चा अर्थ बोध हो सकता है हम जैनों ने भी द्रव्यार्थिक नय से श्रुत को अनादि निधन माना है एव पर्यायार्थिक नय से ही सादि सान्त भी माना है। किंतु सर्वज्ञ को मानने से हमारे यहाँ अर्थकर्त्ता तो सर्वज्ञ ही हैं किंतु ग्रंथकर्त्ता चार ज्ञानधारी गणधर है। उन्ही की परम्परा से अविच्छिन्न परंपरा तक ग्रंथ प्रमाण माने जाते है। इसका श्लोकवार्तिक में अच्छा स्पष्टीकरण है।

यहाँ पर तो अपौरुषेय वेद में प्रभाकर, भाट्ट एवं अद्वैतवादी इन तीनों ने ही नियोग भावना और विधिरूप से वेदवाक्यों का अर्थ किया है तथा जैनाचार्यों ने एक दूसरे के द्वारा ही उनका खंडन करा दिया है।

आप्त परीक्षण का सारांश

मोक्षशास्त्र की आदि में मोक्ष के लिये कारणभूत एवं मंगल के लिये कारणभूत श्री उमास्वामी आचार्य द्वारा जो अतिशय गुण सहित भगवान आप्त हैं उनकी स्तुति करने के इच्छुक श्री समंतभद्र स्वामी भगवान से प्रश्न-उत्तर करते हुये के समान ही कहते है कि—

हे भगवन् ! आपके जन्मकल्याणकादिकों में देव चक्रवर्ती आदि का आगमन, आकाश मे गमन, छत्र, चामर, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ देखी जाती हैं किन्तु ये विभूतिया तो मायावी आदिकों मे भी हो सकती हैं अतएव आप हमारे लिये महान्-पूज्य नहीं हैं। अर्थात्-"श्रेयोमार्ग प्रणेता भगवान् स्तुत्यो महान्, देवागमनभोयान-चामरादि-विभूतिमत्त्वाद्यन्यथानुपपत्तेः" इसमें 'देवागमनभोयान चामरादि विभूतिमान् की अन्यथानुपपत्ति होने से' यह हेतु आगमाश्रय होने से असिद्ध है क्योंकि सभी लोग अपने अपने आगम को प्रमाण मानते हैं। यदि कोई तटस्थ जैनी यों कहे कि वास्तविक आगम कथित विभूतिमान् हेतु मायावीजनों मे संभव नहीं है क्योंकि साधारण मे असंभवी असाधारण विभूतियाँ तीर्थंकर भगवान की है इसलिये इस श्लोक का अर्थ ऐसा करना चाहिये कि "देवागम आदि विभूतियाँ जो आप में हैं सो मायावीजनों में नही देखी जाती हैं अतएव आप हमारे लिये महान् हैं इस पर श्री विद्यानंद स्वामी कहते हैं कि इस "विभूतिमत्वात्" हेतु को विपक्ष से असंभवी आप किस प्रमाण से

निश्चित करते है, प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमान प्रमाण से ? इन दोनों से तो आप सिद्ध नही कर सकते। यदि आगम प्रमाण से सिद्ध करे तब तो हमने पहले कहा ही है कि यह हेतु आगमाश्रय होने से असिद्ध है।

इस पर भगवान मानो पुन. प्रश्न करते है कि हे समंतभद्र ! बाह्य विभूति से तुमने हमें नमस्कार नही किया तो न सही किन्तु अन्य मस्करी आदि में असभवी ऐसे अंतरग में पसीना आदि से रहितपना एवं बहिरग गंधोदक की वृष्टि आदि महोदय है जो कि दिव्य है, सत्य हैं वे मुझमें हैं अत. आप स्तुति करिये। इस पर स्वामी समतभद्राचार्य कहते हैं कि ये महोदय भी रागादिमान् देवो में पाये जाते है अत इनसे भी आप महान् नही है।

इस पर कोई तटस्थ जैनी कहता है कि जैसा घाति कर्म के क्षय से होने वाला अतिशय भगवान मे है वैसा देवों में नही है। अत. "विग्रहादि महोदयत्वात्" हेतु व्यभिचारी नही है इसलिये कारिका का अर्थ ऐसा करना कि ये विग्रहादि महोदय रागादिमान् देवो में है ? अर्थात् नही है इस प्रकार वक्रोक्ति द्वारा अर्थ करने से आगम मे बाधा नही आती है। इस पर श्री विद्यानद स्वामी कहते है कि पूर्ववत् ही यह हेतु आगमाश्रय होने से अहेतु है। अत पूर्ववत् आप विग्रहादि महोदय के द्वारा भी हमारे लिये महान् पूज्य नही हो सकते है।

तब तो देवो मे भी असभवो ऐसे आगमरूप तीर्थकृत संप्रदाय महोदय के द्वारा तो मै अवश्य स्तुति करने योग्य हूँ इस प्रकार से मानो भगवान् के द्वारा साक्षात् प्रश्न करने पर ही श्री समतभद्र स्वामी प्रत्युत्तर देते हुये के समान कहते हैं कि हे भगवन् ! आगमरूप तीर्थ को करने वाले तीर्थकरों में परस्पर में भिन्न-भिन्न अभिप्राय होने से विरोध पाया जाता है अतः सभी तो आप्त हो नही सकते अर्थात् मीमासक, साख्य, सौगत, नैयायिक. चार्वाक, तत्वोपप्लववादी, यौग, ब्रह्माद्वैतवादी, चित्राद्वैत-वादी, शब्दाद्वैतवाती, विज्ञानाद्वैतवादी आदि अनेक एकान्त मतावलंबियों में सभी के सर्वज्ञता सिद्ध नही हो सकती है इसलिये कोई एक ही गुरु परमातमा हो सकता है।

यहाँ भी तीर्थकृत्व हेतु देवों मे असभवी होते हुये भी बुद्धादिकों मे पाया जाता है, क्योंकि सभी अपने अपने बुद्ध, कपिल आदि को तीर्थकृत मानते है किन्तु सभी सर्वदर्शी नही हो सकते है। कुमारिलभट्ट ने कहा है कि "यदि बुद्ध भगवान सर्वज्ञ हैं साख्य के गुरु कपिल सर्वज्ञ नही है इसमे क्या प्रमाण है और यदि दोनों ही सर्वज्ञ है तो उनमे मतभेद क्यो पाया जाता है" ? इसपर मीमासक कहता है कि—

कोई विशेष पुरुष सर्वज्ञ स्तुति करने योग्य नही है अतः अपौरुषेय वेद के द्वारा ही मोक्ष के साधनभूत उपदेश की एवं अतीन्द्रिय पदार्थ की सिद्धि हो जाती है। उनके प्रति आचार्य उत्तर देते है कि "तीर्थं कृ ततीति तीर्थकृत् मीमांसकः" तीर्थ का नाश करने वाले आप मीमांसक हैं क्योकि आपके आगम तीर्थ के नाशक हैं एवं आपके वेदवाक्यों का अर्थ कोई तो भावना करते है कोई उससे विरुद्ध विधिरूप एवं कोई नियोग रूप करते हैं इसलिये इनमे परस्पर विरोध होने से आप्तता नहीं है।

विशेष सूचना

यद्यपि आगे नियोगवाद, विधिवाद एवं भावनावाद ये तीनों प्रकरण क्लिष्ट एवं नीरस हैं ये प्रकरण वेद से संबंधित हैं एवं इनमें व्याकरण का संबंध भी अधिक है तथापि भावार्थ और विशेषार्थ द्वारा उसे सरल एवं सरस बनाने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी स्वाध्याय प्रेमी जनों को इन विषयों में रूचि न हो तो आगे चार्वाक, शून्यवादी के प्रकरण से स्वाध्याय करें। अनन्तर ये तीनों प्रकरण भी सरल मालूम पड़ेंगे। किन्तु इनके समान सारे ग्रंथ को ही कठिन समझकर स्वाध्याय न छोड़ें क्योंकि आगे-आगे इस ग्रंथ में प्रकरण सरल, सरस एव अतीव रुचिपूर्ण हैं। स्थान-स्थान पर पाठकों को स्वयं ही अनुभव आता रहेगा।

[अत्र भाट्टो नियोगवाद निराकरणार्थं तस्य पूर्वपक्ष स्पष्टयति]

ननु च[1] भावनावाक्यार्थ इति सम्प्रदायः श्रेयान् नियोगो न, नियोगे बाधकसद्भावात् । नियुक्तोहमनेनाग्निष्टोमादिवाक्येनेति निरवशेषो योगो हि नियोगस्तत्र मनागप्ययोगस्य[2] सम्भवाभावात् स चानेकविधः [3]प्रवक्तृमतभेदात् ।

[एकादशधा नियोगस्य क्रमशः वर्णनम् ।]

(१) [6]केषाञ्चिल्लिङादि[4]प्रत्ययार्थः[1] शुद्धोन्यनिरपेक्षः [7]कार्यरूपो नियोगः ।

[यहाँ पर भावनावादी भाट्ट प्रभाकर द्वारा मान्य नियोगवाद के खंडन हेतु पहले उसका पूर्वपक्ष रखते हैं ।

भाट्ट—वेदवाक्यों का अर्थ भावना ही है नियोग नहीं है, और यही संप्रदाय श्रेयस्कर है क्योंकि यदि आप वेदवाक्य का अर्थ नियोग करेंगे तब तो नियोग में बाधा का सद्भाव देखा जाता है । 'इस अग्निष्टोमादि वाक्य से मैं नियुक्त हुआ हूँ' इस प्रकार निरवशेष योग को नियोग कहते हैं क्योंकि वहाँ पर किंचित् भी अयोग (अप्रेरकत्व असंघटमान चिद्भावना रूप) कार्य संभव नहीं है और वह नियोग अनेक प्रकार का है क्योंकि नियोग के कथन करने वाले प्रवक्ता लोग भिन्न-भिन्न अभिप्राय को लिये हुये हैं ।

भावार्थ—"अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" मैं इस वाक्य से नियुक्त हो गया हूँ इस प्रकार "नि" निरवशेष तथा "योग" अर्थात् मन, वचन, काय और आत्मा की एकाग्रता होकर प्रवृत्ति हो जाना नियोग है । नियुक्त किये गये व्यक्ति का अपने नियोज्य कार्य में परिपूर्ण योग लग रहा है जैसे कि स्वामिभक्त सेवक या गुरु-भक्त शिष्य को स्वामी या गुरु विवक्षित कार्य करने की आज्ञा दे देते हैं कि तुम जयपुर से पुखराज रत्न लेते आना, अथवा तुम अष्टसहस्री पढ़ो तो सेवक एवं शिष्य उन कार्यों में परिपूर्ण रूप से नियुक्त हो जाते हैं । कार्य होने तक उनको उठते, बैठते, सोते, जागते शांति नहीं मिलती है सदा उसी कार्य में परिपूर्ण योग लगा रहता है । इसी प्रकार प्रभाकर लोग "यजेत" इत्यादि वाक्यों को सुनकर नियोग से आक्रांत हो जाते हैं । जन्मोत्सव, विवाह, प्रतिष्ठा आदि के अवसर पर पुरोहित,

---

१ अत्राह भावनावादी भट्टः । २ अग्निष्टोम स्वर्गकामो यजेतानेन वादिनो मते लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययस्वरूप । ३ अप्रेरकत्वस्य, असघटमानस्य, चिद्भावनारूपस्य कार्यस्य । ३ अभिप्राय । ४ अनेन लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययार्थः सूच्यते न तु लडादिप्रत्ययार्थः । ५ "जातिर्व्यक्तिश्च लिङ्गं च प्रकृत्यर्थोऽभिधीयते । सख्या च कारक चेति प्रत्ययार्थः प्रतीयते" ६ अग्निहोत्रादिविशेषणरहितः । ७ धात्वर्थनिरपेक्षः । ८ अवश्य करणीयः ।

---

1 पूर्वकारिकाया वाक्यार्थ एव नियोगः प्रतिपादितः इदानी प्रत्ययार्थःप्रतिपाद्यते । तर्हि विरोधमिति नाशकनीयं, गुणमुख्यभावात् नियोगस्तावत्प्रत्ययेन विहितः तस्मात्तदर्थमुख्यत्व प्रत्ययार्थरूपस्येति सूत्रेण नियोगार्थे लिङादिप्रत्यया भवन्ति ।

[1]प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते । [2]कार्यरूपश्च तेनात्र[3] शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥१॥
विशेषणं तु यत्तस्य[4] किञ्चिदन्यत्[5] प्रतीयते । [6]प्रत्ययार्थो न तद्युक्तं धात्वर्थः स्वर्गकामवत् ॥२॥
प्रेरकत्वं तु [7]यत्तस्य[8] [9]विशेषणमिहेष्यते । तस्याप्रत्ययवाच्यत्वाच्छुद्धे[1] कार्ये नियोगता ॥३॥
[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. २९]

इति वचनात् ।

(२) [10]परेषां शुद्धा[11] प्रेरणा[12] नियोग इत्याशयः[13] ।

नाई आदि नियोगी पुरुष अपने कर्तव्य को पूरा करते है. तभी तो उनके नेग (नियोग) का परितोष दिया जाता है। वह नियोग अनेक प्रकार का है, मीमासको के प्रभाकर, भट्ट और मुरारि ये तीन भेद है, प्रभाकरों की भी अनेक शाखायें है ये प्रभाकर लोग "यजेत" इस विधिलिङ् प्रत्यय, "यजताम्" इस लोट् प्रत्यय, एवं "यष्टव्यं" इस तव्य प्रत्यय का अर्थ नियोग रूप से करते है।

[एकादश प्रकार के नियोग का क्रम से वर्णन]

(१) कोई-कोई कहते है कि जो लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय का अर्थ है, शुद्ध है, अन्य निरपेक्ष है एवं कार्यरूप है, वही नियोग है। अर्थात् पहले वेदवाक्य के अर्थ को नियोग कहा था इस समय प्रत्यय के अर्थ को नियोग कहते है इस तरह से तो परस्पर मे विरोध आता है, ऐसी शंका नही करना चाहिये क्योंकि गौण मुख्य कथन है। प्रत्यय के द्वारा नियोग का कथन होता है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—"जो प्रत्यय का अर्थ शुद्ध अग्निहोत्रादि विशेषण से रहित प्रतीति मे आता है उसे नियोग कहते है और वह कार्यरूप ही है, इसलिये इस वेदवाक्य का अर्थ शुद्ध कार्यरूप है" ॥१॥

श्लोकार्थ—एव जो उस कार्यरूप नियोग का अग्निहोत्रादि कुछ अन्य विशेषण प्रतीति मे आता है वह प्रत्यय का अर्थ नही है किन्तु वह धातु का अर्थ है, जैसे स्वर्गकामः ॥२॥

श्लोकार्थ—जो उस कार्यरूप नियोग का कार्य की निष्पत्ति के लिये प्रेरकत्व—प्रवर्तकत्व विशेषण है, वह प्रत्ययों से वाच्य अर्थ नही है क्योंकि शुद्धकार्य में ही नियोगता होती है ऐसा कहा गया

---

१ कुत एतदित्याशङ्क्य पुरातन श्लोकत्रयमाह । २ एव । ३ वेदवाक्ये । ४ कार्यरूपस्य नियोगस्य । ५ अग्निहोत्रादिकम् । ६ यजनमात्रः ७ कार्यस्य स्वनिष्पत्त्यर्थं यत्प्रेरकत्व प्रवर्त्तकत्वम् । ८ कार्यरूपस्य नियोगस्य । ९ यागकर्मणि । १० नियोगवादिनाम् । ११ वाक्यान्तर्गतकर्माद्यवयवापेक्षारहिता । १२ प्रेरकत्वम् । १३ सिद्धान्तः ।

---

1 प्रत्ययार्थप्रतिपादकाभावान्मया करणीयं ।

यह नियोगवाद का प्रकरण, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मूलग्रन्थ के २६२ पेज पर एव हिंदी सहितग्रन्थ की चौथी पुस्तक के १६३ पर है। तथा न्यायकुमुदचन्द्रोदय ग्रन्थ के ५८३ पेज पर है।

प्रेरणैव नियोगोत्र [1]शुद्धा सर्वत्र गम्यते । नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वं प्रबुध्यते ॥४॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. २९]

(३) प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इति केचिन्मन्यन्ते ।

ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् । [2]स्वसिद्धौ [3]प्रेरकं तत्स्यादन्यथा[4] तन्न सिद्धयति ॥५॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. २९]

(४) कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यपरे ।

प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणेह बिना क्वचित्[1] । ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ॥६॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. २९]

है। अर्थात् जैसे यजि, पचि आदि धातुओं के अर्थ शुद्ध याग, पाक है स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला या तृप्ति की कामना करने वाला धात्वर्थ नही है क्योकि वह प्रत्यय के अर्थ का प्रतिपादक नही है ॥३॥

(२) तथा अन्य किन्ही नियोगवादियो का ऐसा कहना है कि वाक्यांतर्गत कर्मादि अवयवों की अपेक्षा से रहित 'शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है ऐसा सिद्धात है।''

श्लोकार्थ—शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है और वह सर्वत्र जानी जाती है क्योंकि प्रेरित नहीं हुआ कोई भी पुरुष अपने को नियुक्त हुआ नही समझता है। अर्थात् जाति, व्यक्ति और लिग तो जिस प्रकृति मे प्रत्यय किये जाते है उस प्रकृति के अर्थ कहे जाते है और संख्या एव कारक ये प्रत्यय के अर्थ हैं, इस मन्तव्य की अपेक्षा शुद्ध प्रेरणा को ही प्रत्यय का अर्थ मानना चाहिये। वह प्रेरणा जिस धात्वर्थ के साथ लग जावेगी उस क्रिया में नियुक्त जन प्रवृत्ति करता रहेगा ॥४॥

(३) कोई प्रेरणा सहित कार्य को नियोग कहते है।

श्लोकार्थ—''यह मेरा कर्त्तव्य—कार्य है ऐसा जब पहले ज्ञान हो जाता है, तभी वह वाक्य अपने कार्य की सिद्धि मे—पुरुष को याग कर्म में प्रेरक हो सकता है अन्यथा—यदि यह मेरा कार्य है ऐसा पहले नहीं जाना है तब वह अपने कार्य की सिद्धि में प्रेरक नही हो सकता है। अर्थात् अकेली प्रेरणा या शुद्ध कार्य नियोग नहीं है किन्तु प्रेरणा सहित कार्य नियोग है'' ॥५॥

(४) कोई कार्यसहित प्रेरणा को नियोग कहते है। तथाहि—

श्लोकार्थ—कार्य के बिना कोई पुरुष यज्ञ क्रिया में प्रेरित नही किया जाता है इसलिये कार्य-

१ नियोगरहिता। २ वाक्यस्य। ३ पुरुषस्य यागकर्मणि। ४ ममेद कार्यमित्येव ज्ञानाभावे तत्स्वसिद्धौ प्रेरक न सिद्धयति।

1 यागकर्मणि।

(५) कार्यस्यैवोपचारतः[1] प्रवर्त्तकत्वं नियोग इत्यन्ये ।

[2]प्रेरणाविषयः [3]कार्यं न तु तत्प्रेरकं स्वतः । [4]व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय[5] उपचर्यते ॥७॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

(६) कार्यप्रेरणयोः[6] सम्बन्धो नियोग इत्यपरे ।

प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् । कार्यं वा प्रेरणायोगो नियोगस्तेन[7] सम्मतः ॥८॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

(७) तत्समुदायो[8] नियोग इति चापरे ।

परस्पराविनाभूतं [9]द्वयमेतत्प्रतीयते[10] । नियोगः समुदायोऽस्मात् कार्यप्रेरणयोर्मतः ॥९॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

सहित प्रेरणा ही नियोग कही जाती है। अर्थात् तृतीय पक्ष में कार्य की प्रधानता थी, और यहाँ प्रेरणा की मुख्यता है, जैसे गुरु से सहित शिष्य या शिष्य से सहित गुरु इन वाक्यों में विशेषण विशेष्य भाव से प्रधानता और अप्रधानता हो जाती है, उसी प्रकार यहा भी विशेषण को गौण और विशेष्य को मुख्य समझना चाहिये ॥६॥

(५) कोई कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहकर उसे नियोग कहते है अर्थात् वेदवाक्य का जो मुख्य प्रेरकत्व है वह यागलक्षण कार्य में उपचरित किया जाता है उसका नाम उपचार है। कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक मानते हैं और उसे नियोग कहते है।

श्लोकार्थ—वेदवाक्य का व्यापार—याग प्रेरणा का विषय कार्य है (प्रवर्त्तक है) किंतु वह स्वतः प्रेरक नही है। प्रमाण का व्यापार प्रमेय में उपचरित किया जाता है (वेदवाक्य का जो व्यापार है उस यागादि कार्य रूप प्रमेय में प्रमाण का उपचार किया जाता है) ॥ ७ ॥

(६) कार्य और प्रेरणा का सबंध नियोग है अर्थात् याग और वेदवाक्य का संबध नियोग है, ऐसा कोई कहते है।

श्लोकार्थ—कार्य के बिना प्रेरणा किसी पुरुष को प्रेरणा नही करती है अथवा कार्य और प्रेरणा का योग ही नियोग है ऐसा सम्मत है अर्थात् प्रेरणा के बिना कार्य भी किसी का प्रेरक नही है इसलिये प्रेरणा और कार्य का संबध ही नियोग है" ॥ ८ ॥

१ मुख्य वेदवाक्यस्य यत्प्रेरकत्वं तद्यागलक्षणकार्ये उपचर्यते इत्युपचारः । २ वेदवाक्यव्यापारः । यागः । ३ प्रवर्त्तकत्वम् । ४ वेदवाक्यस्य । ५ यागादौ कार्ये । ६ यागवेदवाक्ययोः सम्बन्ध । ७ प्रेरणा विना कार्यं कस्यचित्प्रेरकं नैव तेन कारणेन प्रेरणाकार्ययोः सम्बन्धो नियोगः प्रतिपादितः । ८ तयोः प्रेरणाकार्ययोस्तादात्म्यम् । ९ तादात्म्यम् । १० यतः कारणात् ।

(८) तदुभयस्वभावविनिर्मुक्तो[1] नियोग इति चान्ये ।

[2]सिद्धमेकं [3]यतो ब्रह्म गतमाम्नायतः[4] सदा । सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्रेरकं [5]कुत एव तत् ॥१०॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

(९) [6]यंत्रारूढो[7] नियोग इति कश्चित् ।

[8]कामी यत्रैव[9] यः कश्चिन्नियोगे [10]सति तत्र सः । [11]विषयारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तते ॥११॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

---

(७) "उन प्रेरणा और कार्य का समुदाय ही नियोग है" ऐसा कोई कहते है ।

श्लोकार्थ—परस्पर में अविनाभूत ये दोनों तादात्म्य रूप से प्रतीति में आते हैं अतः कार्य और प्रेरणा का समुदाय ही नियोग माना गया है ॥ ९ ॥

(८) कार्य और प्रेरणा इन उभय स्वभाव से विनिर्मुक्त ही नियोग है, ऐसा कोई कहते है।

श्लोकार्थ—क्योंकि एक ब्रह्म आम्नाय से सदा सिद्ध है और सिद्ध होने से ही नियोग उसका कार्य नहीं हो सकता है पुनः वह प्रेरक कैसे होगा ? अर्थात् कार्य रूप ही जो कुछ होता है वह अपनी निष्पत्ति के लिये प्रेरक होता है किंतु यह ब्रह्म तो नित्य रूप होने से कार्य रूप नहीं है अतः प्रेरक भी नहीं है। "अग्निष्टोमादि" वाक्य में कार्य एवं प्रेरणा से निरपेक्ष होकर जो अवभास है अथवा जो परमात्म स्वभाव है वही एक ब्रह्म रूप मे सिद्ध है, निरंश है और वेदवाक्य से जाना जाता है एवं सदा सिद्ध रूप होने से वह कार्य नहीं है पुन. वह प्रेरक कैसे होगा ? ॥ १० ॥

(९) यन्त्रारूढ—याग कर्म में लगा हुआ जो पुरुष है वही नियोग है ऐसा कोई कहते हैं।

श्लोकार्थ—स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष (प्रवर्तक वाक्य रूप) नियोग के होने पर जिस यज्ञ कार्य मे नियुक्त है वह वहाँ पर—यागलक्षण विषय मे अपने को आरूढ़ मानता हुआ प्रवृत्त होता है, वही नियोग है। अर्थात् यंत्रों में आरूढ होने के समान यज्ञादि कार्यों में आरूढ़ हो जाना नियोग है जैसे झूला या यंत्र से चलने वाले घोड़े आदि पर आरूढ हुआ पुरुष उन्हीं भावों में रंगा हुआ प्रवर्त रहा है उसी प्रकार से जिस पुरुष को जिस विषय की लगन लग रही है वह पुरुष उसी मे अपने को रंगा हुआ मानकर प्रवृत्ति करता है ॥ ११ ॥

---

१ कार्यरूपमेव हि यत्किञ्चन स्वनिष्पत्त्यै प्रेरकं स्यादस्य तु ब्रह्मणो नित्यत्वेन कार्यरूपत्वाभावात् प्रेरकत्वं न भवतीत्यर्थः । २ अग्निष्टोमादिवाक्ये कार्यप्रेरणानिरपेक्षतयावभासः परमात्मस्वभावो वा । ३ निरंशम् । ४ वेदात् । ५ कुतः ? यतः । ६ यागकर्म । ७ पुरुषः । ८ स्वर्गकामी । ९ यागकर्मणि । १० प्रवर्त्तकवाक्ये सति । ११ यागलक्षण । स्वर्ग ।

(१०) [1]भोग्यरूपो नियोग इत्यपरः ।

ममेदं भोग्यमित्येवं भोग्यरूपं प्रतीयते । ममत्वेन च विज्ञानं भोक्तर्येव व्यवस्थितम् ॥१२॥
स्वामित्वेनाभिमानो[2] हि भोक्तुर्यत्र भवेदयम् । भोग्यं तदेव विज्ञेयं तदेवं [3]स्वं निरुच्यते ॥१३॥
[4]साध्यरूपतया येन[5] ममेदमिति गम्यते । तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्य स्वं व्यपदिश्यते ॥१४॥
सिद्धरूपं हि यद्भोग्यं न नियोगः स तावता । साध्यत्वेनेह[6] भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता[7] ॥१५॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

(११) पुरुष एव नियोग इत्यन्यः ।

ममेदं कार्यमित्येवं मन्यते पुरुषः सदा । पुंसः [8]कार्यविशिष्टत्वं नियोगोस्य[9] च वाच्यता ॥१६॥
कार्यस्य[10] सिद्धौ जातायां तद्युक्तः[11] पुरुषस्तदा । भवेत्साधित इत्येवं पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ॥१७॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ३०]

---

(१०) कोई कहते हैं कि भोग्यरूप—भविष्य में होने वाला जो भोग्य है वही नियोग है ।

श्लोकार्थ—मेरा यह भोग्य है इस प्रकार से जो भोग्य का रूप प्रतीति मे आता है और ममत्व रूप से जो विज्ञान है, वह भोक्ता में ही व्यवस्थित है ॥ १२ ॥ जहाँ पर स्वामीपने से भोक्ता का अभिप्राय है उसी को भोग्य समझना चाहिये । इस प्रकार वह स्वकीय कहलाता है ॥ १३ ॥ साध्य रूप से जिस पुरुष के द्वारा यह मेरा है, इस प्रकार से जाना जाता है, वह प्रसाध्य रूप से स्वकीय भोग्य कहलाता है ॥ १४ ॥ और सिद्ध रूप भोग्य है वह नियोग नहीं है वह उतने साध्य रूप से इस वेदवाक्य मे भोग्य का प्रेरक होने से नियोग रूप है ॥ १५ ॥

भावार्थ—कार्य कर चुकने पर भविष्य में जो भोगने योग्य अवस्था होगी उसे भोग्य कहते है जैसे कि अपराधी को कठोर कारावास की आज्ञा के वचन सुनकर भोग्य रूप का अनुभव हो रहा है । जिस पदार्थ का जो स्वामी है उसके लिए वही पदार्थ भोग्य है अतः आत्मा का स्वरूप ही 'स्व' शब्द से कहा जाता है । आत्मा अपने स्वभावों का भोक्ता है । मेरे द्वारा यह कार्य साध्य है इस प्रकार से जान लेने पर निज स्वरूप भोग्य नियोग है किंतु जो आत्मा का स्वरूप सिद्ध हो चुका है वह भोग्य नहीं है अपितु भविष्य मे करने योग्य ज्योतिष्टोम आदि यज्ञो से विशिष्ट आत्मा का स्वरूप ही भोग्य है, वही नियोग है ।

(११) कोई पुरुष—आत्मा को ही नियोग कहते है ।

श्लोकार्थ—यह मेरा कार्य है इस प्रकार से पुरुष हमेशा मानता है वह पुरुष का कार्य विशिष्ट

---

१ भविष्यद्रूपमेव भोग्य नियोग इत्याह । २ अभिप्रायः । ३ स्वकीयम् । ४ स्वर्गादिकं साध्यम । ५ पुंसा । ६ वेदवाक्ये । ७ यतः । ८ यागादिलक्षणसम्पृक्तत्वम । यज्ञकर्त्ता । भोग्यतामात्रेण । ९ नियोगः स्यादबाधितः इति वा पाठः । १० यदि पुरुष एव नियोगस्तदा तस्य नित्यत्वात् कथं साध्यरूपो भवतीत्याशङ्कायामाह । ११ साध्यकार्यविशिष्टः ।

[अत्रत्यात् भाट्टः नियोगं निराकरोति]

[1]सोयमेकादशप्रकारोपि नियोगो विचार्यमाणो बाध्यते। प्रमाणाद्यष्टविकल्पानतिक्रमात्। [2]तदुक्तम्।—

[3]प्रमाणं किं नियोगः स्यात् प्रमेयमथवा पुनः। उभयेन विहीनो वा द्वयरूपोथवा पुनः॥१॥
शब्दव्यापाररूपो वा [4]व्यापारः पुरुषस्य वा। द्वयव्यापाररूपो वा द्वयाव्यापार एव वा॥२॥

[नियोगस्य प्रमाणप्रमेयादिरूपाभ्युपगमे दोषारोपणम्]

(१) [5]तत्रैकादशभेदोपि नियोगो यदि प्रमाणं[6] तदा विधिरेव[7] वाक्यार्थ इति वेदान्तवाद-प्रवेशः प्रभाकरस्य[8] स्यात्, प्रमाणस्य चिदात्मकत्वात्,[9] चिदात्मनः प्रतिभासमात्रत्वात्,

---

ही नियोग है और यही इसकी वाच्यता है॥ १६॥

[एव कोई कहे कि यदि पुरुष ही नियोग है तब तो वह नित्य है साध्य रूप कैसे होगा? इस पर समाधान]

कार्य की सिद्धि हो जाने पर उस साध्य-कार्य से विशिष्ट पुरुष ही उस समय साधित हो जाता है। इस प्रकार पुरुष ही वेदवाक्य का अर्थ है॥ १७॥

किन्तु यह ११ प्रकार का नियोगवाद भी विचार करने पर प्रमाण प्रमेयादि वक्ष्यमाण आठ विकल्पों से पार नही पा सकने के कारण बाधित हो जाता है।

[इस प्रकार से अब विधिवाद का आश्रय लेकर भावनावादी भाट्ट प्रभाकर संबंधी नियोगवाद को दूषित करते हैं।]

रविगुप्त नाम के आचार्य ने कहा भी है—

श्लोकार्थ—यह आप प्रभाकरवादी का नियोग प्रमाण रूप है या प्रमेयरूप है, दोनों से रहित है या उभयरुप है, शब्द-व्यापार रूप है अथवा पुरुष के व्यापार रूप, दोनों के व्यापार रूप है या दोनों के व्यापार से रहित है?॥

[नियोग को प्रमाण, प्रमेयादि रूप मानने में दोषारोपण]

इन आठ प्रकार के विकल्पों में से यदि पहला विकल्प लेवें कि उपर्युक्त ग्यारह प्रकार का नियोग भी प्रमाण है, तब तो विधि ही वाक्य का अर्थ सिद्ध हो जावेगी, पुनः आप नियोगवादी प्रभाकर का वेदांतवाद में प्रवेश हो जाता है क्योकि प्रमाण तो चिदात्मक है एवं चिदात्मा प्रतिभास मात्र है तथा वह प्रतिभास परब्रह्मस्वरूप ही है। उस प्रतिभास मात्र से पृथक् विधि कार्य-कर्तव्यरूप से प्रतीति में नही आता

---

१ अथ विधिवादमाश्रित्य भट्टः प्राभाकरमतसम्बन्धिन नियोगवाद दूपयति। २ रविगुप्तेन। ३ भाट्ट प्राभाकर प्रतिपृच्छति। ४ वाङ्मयमात्रकथनो व्यापारः। ५ अष्टप्रकारविकल्पमध्ये। ६ प्रथम. प्रमाणस्वरूपो विकल्पः। ७ कर्तव्यार्थोपदेशो विधिः। ब्रह्म। ८ नियोगवादिनः। ९ अत्र प्रमाणस्याचिदात्मकत्वशङ्कायां तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारादित्यग्रे वक्ष्यमाणमुत्तरं द्रष्टव्यम्।

तस्य[1] च परब्रह्मत्वात्[2]। प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधिः [3]कार्यरूपतया न प्रतीयते घटादिवत्[4]। प्रेरकतया वा [5]नानुभूयते [6]वचनादि[7]वत्[8] । [9]कर्मकरणसाधनतया हि [10]तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकताप्रत्ययौ युक्तौ [11]नान्यथा। किं [12]तर्हि [13]द्रष्टव्योऽरेयमात्मा श्रोतव्यो-ऽनुमंतव्यो[1] [14]निदिध्यासितव्य[2] इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तरविलक्षणेन[15] प्रेरितोहमिति

है। जैसे घट प्रतिभासमात्र से कार्य रूप से पृथक् अनुभव में आता है, वैसे ही विधि प्रतिभास मात्र स्वरूप से भिन्न रूप-पृथक् अनुभव में नही आती है।

अथवा प्रेरक रूप से भी वह विधि अनुभव में नहीं आती है, वचनादि के समान। अर्थात् जैसे वचनादि प्रेरक रूप से प्रतिभास मात्र से पृथक् अनुभव में आते है, उस प्रकार विधि अनुभव में नही आती है, क्योंकि कर्म और करण साधन रूप से उस विधि का अनुभव मानने पर तो कार्यता प्रत्यय और प्रेरकता प्रत्यय मानना युक्त है अन्यथा नही। अर्थात् जो किये जावे, बनाये जावे वे कर्म है, जैसे घटादि। जो पुरुष अपने कार्य में जिसके द्वारा प्रेरित किया जावे—नियुक्त किया जावे वह प्रेरक-वचन करण है। इन कर्म और करण रूप से यदि विधि का अनुभव आवे तब तो उसे कार्य और प्रेरकपना मानना अन्यथा कैसे मानना? मतलब "विधीयते यत् या विधीयतेऽनेन" इस प्रकार से निरुक्ति द्वारा विधि शब्द कर्म साधन या करण साधन मे नही बनता है अतः कर्म करण साधन के बिना ही शुद्ध सन्मात्र विधि का ज्ञान पाया जाता है पुनः उसे कार्य या प्रेरक नही माना जा सकता है। तब तो उस विधि का स्वरूप क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर सुनिये! अरे! यह आत्मा "देखने योग्य है, सुनने योग्य है और ध्यान करने योग्य है" इत्यादि शब्दो के सुनने से अवस्थानर विलक्षण—अन्य अवस्थाओ स विलक्षण दर्शनादि के द्वारा "मै प्रेरित हुआ हूँ" इस प्रकार के अभिप्राय से सहित अहकार रूप से स्वय आत्मा ही प्रतिभासित होती है और वही

१ प्रतिभासमात्रस्य। २ प्रतिभासश्चान्यो विधिश्चान्य इत्युक्ते आह। ३ कर्तव्य। ४ व्यतिरेकदृष्टान्त। यथा घटः प्रतिभासमात्रात् कार्यरूपतया पृथक् प्रतीयते न तथा विधिः प्रतिभासमात्रात् स्वरूपात् पृथक् प्रतीयते। ५ नानुमीयते इत्यपि खपाठः। ६ व्यतिरेकदृष्टान्त.। ७ अगुलिसज्ञा। ८ यथा वचनादि प्रेरकतया प्रतिभासमात्रात् पृथगनुभूयते। तथा विधिर्नानुभूयते। ९ उभयरूपतया विधिर्नानुभूयते इत्युक्त आह। क्रियते निष्पाद्यते इति कर्म घटादि। प्रेर्यते नियुज्यते पुरुष. स्वकृत्येऽनेनेति प्रेरक वचनं करणम्। १० विधिप्रतीतौ। ११ कर्मकरणसाधनत्वाभावेन विधिप्रतीतौ कार्यताप्रेरकताज्ञान युक्त न स्यात्। १२ तर्हि कि स्वरूप विधेरित्युक्ते आह द्रष्टव्येत्यादि। १३ "श्रोतव्य. श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तित। मत्वा च सतत ध्येय एते दर्शनहेतव."। १४ परब्रह्मस्वरूपेण ध्यातव्य। १५ अवस्था दर्शनादिः अवस्थान्तरमदर्शनादिस्तेन विलक्षणो दर्शनादिस्तेन।

1 ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणं श्रोतव्य। श्रुतार्थस्य युक्त्या विचारणमनुमन्तव्यम्।

2 श्रवणमननाभ्या निश्चतार्थमनवरत मनसा परिचिंतन निदिध्यासितव्यम्।

[1]जाताकूतेना[2]हङ्कारेण[1] स्वयमात्मैव प्रतिभाति स एव विधिरिति वेदान्तवादिभिरभिधानात् ।

(२) प्रमेयत्वं तर्हि नियोगस्यास्तु प्रमाणत्वे दोषाभिधानादित्यप्यसत्-प्रमाणाभावात् । प्रमेयत्वे हि तस्य[3] प्रमाणमन्यद्वाच्यम्[4] –तदभावे प्रमेयत्वायोगाद् । श्रुतिवाक्यं [5]प्रमाणमिति चेन्न– [6]तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारात्[7] । [8]संविदात्मकत्वे श्रुति-

---

विधि है, ऐसा वेदांतवादियों का कहना है। ब्रह्म में तात्पर्य का निश्चय करना श्रोतव्य है। सुने हुये अर्थ का युक्ति से विचार करना अनुमन्तव्य है और सुने गये एवं मनन किये गये निश्चित अर्थ का हमेशा ही मन से परिचिंतन करना निदिध्यासितव्य है। ऐसा तीनों का अर्थ समझना चाहिये।

भावार्थ—विधि क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर यह है कि अरे मैत्रेय! यह आत्मा दर्शन करने योग्य है और आत्मा का दर्शन यों होता है कि पहले उस आत्मा का वेदवाक्यों के द्वारा श्रवण करना चाहिये तभी ब्रह्म ज्ञान में तत्परता हो सकती है। पुनः श्रुत आत्मा का युक्तियों से विचार कर अनुमनन करना चाहिये। श्रवण और मनन से निश्चित किये गये अर्थ का मन से परिचिंतन करना चाहिये अथवा "तत्त्वमसि" वह प्रसिद्ध ब्रह्म तू ही है इत्यादि वैदिक शब्दों के श्रवण से मैं पहली अदर्शन, अश्रवण आदि अवस्थाओं की अपेक्षा विलक्षण हो रही दूसरी अवस्थाओं से इस समय प्रेरित हो गया हूँ, इस प्रकार से "अहं" शब्द का दर्शन आदि द्वारा प्रत्यक्ष कराने रूप अहंकार अथवा आकार वाली चेष्टा करके स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित हो रही है और वह आत्मा ही तो विधि है इस प्रकार वेदांतवादियों का कथन है। अतः नियोग को प्रमाण रूप मानने पर आप प्रभाकर को वेदांतवादी बनना ही पड़ेगा।

(२) इस पर यदि आप कहें कि नियोग को हम प्रमेय मानेंगे क्योंकि आपने उसको प्रमाण मानने से अनेक दोष दिये हैं सो यह कथन भी असत् है क्योंकि नियोग को प्रमेय सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। नियोग को प्रमेय मान लेने पर तो उसको ग्रहण करने वाला अन्य कोई प्रमाण आप प्रभाकर को कहना ही चाहिये क्योंकि प्रमाण के अभाव में प्रमेय है, यह कैसे कहा जावेगा? "प्रमाणेन ज्ञातुं योग्यम् प्रमेय" जो प्रमाण के द्वारा जानने योग्य है वही तो प्रमेय है।

---

१ अप्रेरितावस्थाविलक्षणेनाकारेण प्रेरितोहमित्यभिमानरूपेण। २ दर्शनादिना। ३ प्रमेयरूपस्य नियोगस्य ग्राहक प्रमाणम्। ४ प्रभाकरेण। ५ श्रुतिवाक्य प्रमाण, नियोगः प्रमेयमिति चेत्। ६ अत्राह भावनावादी भट्टः। –भो नियोगवादिन् प्रभाकर तावक श्रुतिवाक्य चिदात्मकमचिदात्मक वेति। तत्र विकल्पद्वय खण्डयति। ७ चन्द्रवन्मुखमित्यादिरुपचारः। ८ ज्ञानात्मकत्वे सति।

---

1. जाताकूतेनाकारेण इति पा.।

वाक्यस्य पुरुष[1] एव श्रुतिवाक्यमिति स एव प्रमाणम् । तत्संवेदनविवर्त्तस्तु[2] नियुक्तोह-मित्यभिमानरूपो[3] नियोगः प्रमेयत्वमिति नायं पुरुषादन्यः प्रतीयते यतो वेदान्तवादिमत-प्रवेशोऽस्मिन्नपि पक्षे न भवेत् ।

(३) तर्हि प्रमाणप्रमेयरूपो नियोगो भवत्वित्यप्ययुक्तम् संविद्विवर्त्तत्वापत्तेः अन्यथा[4] प्रमाणप्रमेयरूपतानुपपत्तेः । तथा च स एव [5]चिदात्मोभयस्वभावतयात्मानमा[6]दर्शयन्नियोग इति सिद्धो ब्रह्मवादः ।

प्रभाकर—श्रुति-वेदवाक्य तो प्रमाण हैं और नियोग प्रमेय है हम ऐसा मानते हैं ।

भाट्ट—ऐसा भी आप नही कह सकते क्योंकि वेदवाक्यों के अचिदात्मक होने से उनमें प्रमाणता घटित नहीं होती है और यदि मानेंगे भी तो उपचार के सिवाय वस्तुतः वे प्रमाण नही हो सकेंगे । यदि उन वेदवाक्यों को आप चिदात्मक-ज्ञानात्मक मानोगे तब तो पुरुष ही श्रुति वाक्य है इस प्रकार से वह पुरुष-परब्रह्म ही प्रमाण सिद्ध हुआ और उस सवेदन की पर्याय-ब्रह्म की पर्याय ही "नियुक्तोऽहं" इस प्रकार के अभिमान-अभिप्राय रूप नियोग है और वही प्रमेय है इस प्रकार से तो यह प्रमेय रूप नियोग पुरुष से भिन्न कोई प्रतीति में नही आता है कि जिससे इस पक्ष के मानने पर भी वेदातवादी के मत मे प्रवेश न हो जावे अर्थात् यदि आप नियोग को प्रमेय रूप मानते है तो भी आप वेदातवादी बन जावेंगे ।

(३) *प्रभाकर*—तब तो प्रमाण और प्रमेय इन उभय रूप नियोग को मानना यह तृतीय पक्ष ही उचित है ।

भाट्ट—यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि वह नियोग ज्ञान की पर्याय हो जावेगा अन्यथा प्रमाण और प्रमेय रूपता ही घटित नहीं होगी । अर्थात् नियोग ज्ञान की पर्याय हो जाता है क्योंकि सामान्य से "मै नियुक्त हूँ" इस प्रकार के अभिप्राय को स्वीकार किया है अन्यथा ज्ञान पर्याय न मानने पर वह नियोग प्रमाण नही हो सकेगा और अप्रकाशमान होने से प्रमेय रूप भी नहीं हो सकेगा क्योंकि जो वस्तु प्रमाण, प्रमेय रूप से उभयरूप है वह चैतन्यात्मक अवश्य है । पुनः वह सत्, चित्, आनन्द स्वरूप आत्मा ही प्रमाण प्रमेय रूप सिद्ध होता है और यही तो ब्रह्माद्वैतवाद सिद्धान्त है । इसलिये वह चिदात्मा ही उभय स्वभाव रूप से अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ नियोग कहलाता है । इस प्रकार से नियोग ब्रह्मवाद रूप ही सिद्ध हो जाता है ।

---

१ परब्रह्म पश्चात् कार्यं कुर्यात् । २ पर्यायः । ३ विशेषणमिदं नियोगस्य संवेदनविवर्त्तत्वसमर्थनार्थम् । ४ ज्ञानपर्यायप्राप्तत्वान्नियोगस्य सामान्येन नियुक्तोऽहमित्यभिमानरूपत्वाभ्युपगमादन्यथा ज्ञानपर्यायप्राप्त्यभावे प्रमाणरूपत्वं नोपपद्यते, अप्रकाशमानत्वेन प्रमेयरूपत्वं च न घटते इति भावः । ५ स्वरूपम् । ६ प्रकाशयन् ।

(४) अनुभयस्वभावो नियोग इति चेत्तर्हि[1] संवेदनमात्रमेव[2] पारमार्थिकं[3] तस्य[4] कदाचिदप्यहेयत्वा[5]दनुभयस्वभावत्वसम्भवात् । [6]प्रमाणप्रमेयत्वव्यवस्थाभेदविकलस्य सन्मात्रदेहतया[7] तस्य[8] वेदान्तवादिभिर्निरूपितत्वात्तन्मतप्रवेश एव ।

(५) यदि पुनः [9]शब्दव्यापारो नियोग इति मतं तदा भट्टमतानुसरणमस्य[10] दुर्निवारम्-शब्दव्यापारस्य[11] शब्दभावनारूपत्वात् ।

(६) अथ पुरुषव्यापारो [12]नियोगस्तदापि परमतानुसरणम्-पुरुषव्यापारस्यापि [13]भावनास्वभावत्वात् शब्दात्मव्यापारभेदेन भावनायाः परेण [14]द्वैविध्याभिधानात् ।

---

(४) *प्रभाकर*—अनुभय स्वभाव ही नियोग है।

भाट्ट—तब तो आपका नियोग प्रमाण और प्रमेय इन दोनों रूपों का त्याग कर देने से तो केवल शुद्ध संवेदन मात्र ही पारमार्थिक रूप होगा क्योंकि वह संवेदन मात्र कदाचित् भी अहेय—त्यागने योग्य न होने से वही अनुभय स्वभाव हो सकता है। उस संवेदन मात्र को छोड़कर अन्य कोई अनुभय स्वभाव हो ही नहीं सकता है। वेदांतवादियों ने भी ऐसा ही निरूपण किया है कि "प्रमाण प्रमेय भेद की व्यवस्था से रहित सन्मात्र देहरूप से वह सवेदन मात्र परमब्रह्म रूप सिद्ध है।" इसलिये चतुर्थ पक्ष के मानने पर भी आप उस वेदांतवादी के मत मे ही प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् "न उभय: अनुभय." में नञ् समास का पर्युदास अर्थ करने मे सर्वथा प्रमाण प्रमेय रूप उपाधियों से रहित शुद्ध प्रतिभास ही ग्रहण हो जाता है जो कि 'सत्स्वरूप" इतने मात्र शरीर को धारण करने वाले ब्रह्म का ही द्योतक है।

(५) *प्रभाकर*—"अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि रूप से शब्द का व्यापार ही नियोग है।

भाट्ट—तब तो आपको हमारे मत का ही अनुसरण दुर्निवार है क्योंकि हमारे यहाँ शब्द का व्यापार शब्द की भावना रूप है। शब्द भावक है और उसका व्यापार भावना स्वरूप है।

(६) *प्रभाकर*—तब तो हम पुरुष के व्यापार को नियोग कहेंगे।

भाट्ट—तो भी आपको पर—हमारे मत का ही अनुसरण करना पड़ेगा क्योंकि पुरुष का व्यापार भी भावना स्वभाव है। हम भाट्टों ने शब्द-व्यापार और आत्म-व्यापार के भेद से भावना के दो भेद माने हैं।

---

१ प्रमाणप्रमेयरूपत्यागे। २ सवेदनमात्रादन्यस्य कस्यचिदनुभयस्वभावत्वाघटनात्। ३ पारमार्थिकत्वं कुतः ?। ४ सवेदनमात्रस्य। ५ कुत.। ६ अनुभयस्वभावत्व कुत। ७ सत्स्वरूपतया। ८ सवेदनमात्रस्य। ९ अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इत्यादिशब्दव्यापारः। १० प्रभाकरस्य ११ शब्दरूपार्थरूपा चेति भावना द्वेधा। १२ तदेव (पूर्वोक्तमेव) इति खपुस्तकपाठः। १३ अर्थभावना। १४ शब्दभावना आत्म (अर्थ) भावना च।

(७)। तदुभयरूपो[1] नियोग इति चेत्तर्हि पर्यायेण युगपद्वा ? यदि पर्यायेण स[2] एव दोषः—क्वचित्कदाचिच्छब्दव्यापारस्य पुरुषव्यापारस्य च भावनास्वभावस्य नियोग इति नामकरणात्। युगपदुभयस्वभावत्वं पुनरेकत्र विरुद्धं[3] न शक्यं व्यवस्थापयितुम्[4]।

(८)। तर्हि तदनुभयव्यापाररूपो नियोगोङ्गीकर्त्तव्य इति चेत् सोपि [5]विषयस्वभावो वा स्यात् फलस्वभावो वा स्यान्निस्स्वभावो[6] वा ? गत्यन्तराभावात्। विषयस्वभाव इति चेत्। कः पुनरसौ विषयः ? अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादिवाक्यस्यार्थो यागादिर्विषय इति चेत्[7] स [8]तद्वाक्यकाले स्वयमविद्यमानो विद्यमानो वा ? यद्यविद्यमानस्तदा [9]तत्स्वभावो

---

(७) प्रभाकर—शब्द व्यापार और पुरुष व्यापार ऐसे उभय के व्यापार को हम नियोग कहते हैं।

भाट्ट—तब तो आप पर्याय से-क्रम से कहते है या युगपत् ? यदि पर्याय-क्रम से कहे तब तो वही पूर्वोक्त हमारे मत का अनुसरण करने रूप दोष आता है क्योकि कही पर किसी काल मे आपने शब्द व्यापार रूप और कही पर पुरुष व्यापार रूप भावना के स्वभाव को ही नियोग यह नाम कर दिया है। यदि युगपत् उभय स्वभाव कहो तो एक जगह विरुद्ध दो धर्मो को व्यवस्थापित करना शक्य नही है अर्थात् शब्द-व्यापार प्रेरणा रूप है और पुरुष व्यापार क्रिया रूप है एवं प्रेरणा तो अतीतकाल संबंधी है तथा क्रिया भविष्यत्काल सबधी है। जैसे प्रकाश और अधकार एक जगह नही रह सकते है वैसे ही ये दोनों विरुद्ध धर्म एक जगह एक काल में नही रह सकते है।

(८) प्रभाकर—तब तो उन दोनो के अनुभय व्यापार को नियोग मानना ठीक है। अर्थात् आठवे पक्ष के अनुसार वह नियोग शब्द व्यापार और पुरुष व्यापार इन दोनो ही व्यापारो से रहित है।

भाट्ट—यदि आप ऐसा कहे तो भी हम आपसे नञ् समास का पर्युदास पक्ष लेकर प्रश्न करते है कि वह अनुभय व्यापार रूप भी नियोग विषय (यज्ञादि कर्म रूप) स्वभाव है, या फल (स्वर्गादि) स्वभाव है अथवा (प्रसज्य निषेध पक्ष लेने पर) निःस्वभाव है ? इन तीनों विकल्पों के सिवाय और अन्य कोई प्रकार संभव नही है। यदि विषय स्वभाव मानो तब तो यह विषय क्या है ? यह पहले बतलाइये।

प्रभाकर—"स्वर्ग की इच्छा करने वाला अग्निष्टोम से यज्ञ करे" इत्यादि वाक्य का अर्थ जो यागादि रूप है वही विषय है।

---

१ शब्दव्यापारेण पुरुषव्यापारेण च। २ नहि। भट्टमतानुसरणलक्षणः पूर्वोक्तः। ३ प्रेरणाया अतीतकालत्व क्रियाया भविष्यत्कालत्व यत पूर्व प्रेरितः पश्चात् कार्य करोति। ४ यथा तेजस्तमसोरैक्यमेकत्र स्थातु न शक्यम्। ५ विषयो यागादिकर्म। ६ पर्युदासवृत्त्या द्वौ विकल्पौ प्रसज्यवृत्त्या त्वेकः (निःस्वभाव)। ७ विषयः। ८ वेदवाक्यकाले। ९ विषयस्वभावः।

नियोगोप्यविद्यमान एवेति [1]कथमसौ वाक्यार्थः खपुष्पवत् । [2]बुध्यारूढस्य भाविनस्तस्य[3] वाक्यार्थत्वे सौगतमतानुसरणप्रसङ्गः[4] । अथ [5]तद्वाक्यकाले [6]विद्यमानोसौ तर्हि न नियोगो वाक्यस्यार्थः-तस्य [7]यागादिनिष्पादनार्थत्वात्[8] --निष्पन्नस्य च यागादेः पुनर्निष्पादनायोगात्,[9] पुरुषादिवत् । अथ [10]तस्य किञ्चिदनिष्पन्नं रूपं तदा तन्निष्पादनार्थो नियोग इति मतम् तर्हि [11]तत्स्वभावो नियोगोप्यनिष्पन्न इति कथं वाक्यार्थः ? [12]स्वयमसन्निहितस्य कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स[13] एव सौगतमतप्रवेशः । फलस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षो न कक्षीकर्तव्यः-तस्य[14] नियोगत्वाघटनात् । न हि स्वर्गादिफलं नियोगः-[15]फलान्तरपरिकल्पनप्रसङ्गात्-

भाट्ट—पुनः वह विषय उस वेदवाक्य के काल में स्वयं अविद्यमान है या विद्यमान ? यदि अविद्यमान रूप प्रथम पक्ष लेवें तब तो उस विषय का स्वभाव रूप नियोग भी अविद्यमान ही रहा । पुनः ऐसी स्थिति मे वह नियोग आकाश-कुसुम के समान वेदवाक्य का अर्थ कैसे हो सकता है ? बुद्धि से परिणत (वर्तमान काल मे कल्पित विषय रूप) भावी—विषय स्वभाव नियोग को वेदवाक्य का अर्थ मानने पर तो सौगत मत के अनुसरण का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि सौगत के मत में प्रमाण प्रमेय व्यवहार काल्पनिक है । उनके यहाँ वचनो को वक्ता के अभिप्राय मात्र का सूचक माना है । यदि कहो कि वेदवाक्य के काल मे वह विषय स्वभाव विद्यमान है, तब तो वह नियोग वाक्य का अर्थ नही हो सकेगा क्योंकि वह तो यागादि को निष्पादन करने के लिये हुआ है और निष्पन्न हुये यागादि का पुरुषादि के समान पुनः निष्पादन करना बनता नहीं है । अर्थात् जिस प्रकार निष्पन्न परमब्रह्म पुरुष का संपादन करना नही बन सकता उसी प्रकार निष्पन्न यागादिकों का संपादन करना भी नही बन सकेगा । यदि आप कहें कि उस यागादि का किंचित्–कुछ अनिष्पन्न रूप है इसलिये उस शेष अनिष्पन्न के निष्पादन के लिये नियोग है तब तो यागादि विषय स्वभाव नियोग भी अनिष्पन्न है इस प्रकार से वेदवाक्य का अर्थ कैसे होगा ? स्वयं असन्निहित–भावी विषय स्वभाव, कल्पनारूढ़ को वेदवाक्य का अर्थ मानने पर वही सौगत मत में आपका प्रवेश हो जावेगा, उसका रोकना दुर्निवार है ।

"फल स्वभाव नियोग है" यह पक्ष भी तुम्हें स्वीकार नहीं करना चाहिये क्योंकि वह नियोग फल स्वभाव भी घटित नहीं होता है । स्वर्गादि के फल नियोग नहीं है अन्यथा फलांतर की कल्पना का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि निष्फल–फल रहित नियोग का अभाव है । एवं फल स्वभाव नियोगवादियों के यहाँ फलांतर को नियोग मानने पर उसके लिए अन्य फल की कल्पना करने पर अनवस्था का प्रसंग आ

१ नियोगः । २ बुद्धिपरिणतस्य । वर्तमानकाले कल्पितविषयस्य । ३ विषयस्वभावनियोगस्य । ४ प्रमाणप्रमेयव्यवहारस्य काल्पनिकत्वात्सौगतमते । वक्त्रप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्वितीदं हि सौगतमतम् । ५ वेद । ६ यागादिविषयो नियोगो यागमुत्पादयति । ७ आकाशादि । ८ यागादिनिष्पादन वाक्यकाले जातमेव । ९ पुरुषादिविषयस्य । १० यागादेः । ११ यागादिविषयस्वभावः । १२ भाविनो विषयस्य । १३ पूर्वोक्तः । १४ फलस्वभावस्य । १५ अन्यथा ।

निष्फलस्य नियोगस्यायोगात् । फलांतरस्य च फलस्वभावनियोगवादिनां नियोगत्वापत्तौ तदन्यफलपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गः[1] । [2]फलस्य [3]वाक्यकाले स्वयमसन्निहितत्वाच्च [4]तत्स्वभावो नियोगोप्यसन्निहित एवेति कथं वाक्यार्थः ? [5]तस्य वाक्यार्थत्वे [6]निरालम्बनशब्दवादाश्रयणात् कुतः प्रभाकरमतसिद्धिः ? निःस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षोऽनेनैवप्रतिक्षिप्तः[7] ।

जावेगा । तथा स्वर्गादि फल "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्य के काल मे स्वयं असन्निहित–अविद्यमान हैं पुनः वह फल स्वभाव रूप नियोग भी असन्निहित–अविद्यमान ही रहेगा । इस प्रकार से वह वेदवाक्य का अर्थ कैसे सिद्ध होगा ? यदि आप अविद्यमान फल स्वभाव वाले 'नियोग' को वेदवाक्य का अर्थ मान लेवो तो निरालंब शब्दवाद का आश्रय लेने से आप प्रभाकर के मत की सिद्धि कैसे होगी ? अर्थात् शब्द को अन्यापोह मात्र का कहने वाला मानने से बौद्ध का अर्थ शून्यवाद सिद्ध होता है । बौद्ध के मत में शब्द अन्यापोह रूप हैं, अर्थ को कहने वाले नही है ।

यदि आप निःस्वभाव को नियोग कहे तो यह पक्ष भी इसी कथन से निराकृत हो जाता है क्योंकि निःस्वभाव अन्यापोह रूप ही है ।

भावार्थ—प्रभाकर ने नियोग का लक्षण करके भिन्न-भिन्न वक्ता के अभिप्राय से उन्हे ११ प्रकार से सिद्ध किया है । इस प्रकार भाट्ट ने उन ११ विकल्प रूप नियोगो को दूषित ठहराने के लिये प्रमाण प्रमेय आदि रूप आठ विकल्प उठाकर उस प्रभाकर को वेदांतवादी होने का दूषण दिखाया है । उसी मे अंतिम "अनुभय व्यापार रूप" आठवे पक्ष में तीन विकल्प उठाये है । उसमे विषय और फल स्वभाव को पर्युदास पक्ष से एवं नि स्वभाव नियोग को प्रसज्य निषेध पक्ष से लिया है । उसमे विषय स्वभाव और फल स्वभाव नियोग में दूषण दिया है कि "अग्निष्टोम से यज्ञ करना चाहिये" इस वाक्य के उच्चारण काल मे यज्ञादि कर्म नही है अतः यज्ञ रूप नियोग भी संभव नही है । जो कार्य भविष्य मे होने वाला है उस कार्य के साथ तादात्म्य सबंध रखने वाला धर्म वर्तमान काल मे नही है और यदि भविष्य में होने वाले यज्ञ की वर्तमान में सभावना मानी जावे तो पुनः वाक्य का अर्थ नियोग नही हो सकेगा क्योंकि वह नियोग तो कर्त्तव्य कार्यों को भविष्य में बनाने के लिये हुआ करता है । जो किया जाकर बन चुका है उसका पुनः बनाना नही हो सकता है, जैसे कि अनादि काल के बने हुए (अकृत्रिम) नित्य द्रव्य-आत्मा, आकाशादि नही बनाये जा सकते है । एवं उस नियोग को स्वर्गादि फल स्वभाव मानने पर वे स्वर्गादि फल तो स्वयं उस यज्ञ के अंतिम परिणाम है । फल का पुनः फल होता नही है किन्तु नियोग तो फल से सहित है । यदि अन्य फलों की कल्पना करो तो अनवस्था तैयार खडी है । यदि फल को भविष्य में होने वाला माना जावे तो

१ प्रसङ्गादिति खपुस्तकपाठः । २ स्वर्गादिः । ३ अग्निष्टोमेन यजेतेति वाक्यकाले । ४ फलस्वभावः । ५ असन्निहितस्य फलरूपनियोगस्य । ६ शब्दस्यान्यापोहाभिधायित्वेनार्थशून्यवादः । सौगतमते शब्दस्त्वन्यापोहरूपो नत्वर्थाभिधायी ७ निःस्वभावस्यान्यापोहत्वानतिक्रमात् ।

[नियोगस्य सदसदादिरूपस्वीकारे दोषारोपणम्]

किञ्च सन्नेव वा नियोगः स्यादसन्नेव वोभयरूपो वानुभयरूपो वा ? प्रथमपक्षे विधिवाद एव। द्वितीयपक्षे निरालम्बनवादः[१]। तृतीयपक्षे तूभयदोषानुषङ्गः[२]। चतुर्थपक्षे [३]व्याघातः-[४]सत्त्वासत्त्वयोः[1] परव्यवच्छेद[५]रूपयोरेकतरस्य निषेधेऽन्यतरस्य विधानप्रसक्तेः-सकृदेकत्र [६]प्रतिषेधायोगात्। सर्वथा सदसत्त्वयोः प्रतिषेधेपि कथञ्चित्सद[७]सत्त्वा[८]विरोधाददोष इति चेत् स्याद्वादाश्रयणप्रसङ्गः प्रभाकरस्य।

वर्तमान काल का नियोग नही हो सकता है। दूसरी बात यह भी है कि उस वाक्य उच्चारण के समय मे उन स्वर्गादि फलों का सन्निधान नही है। यदि उस अविद्यमान फल को भी वाक्य का अर्थ मानोगे तो निरालंब शब्द पक्ष को लेने से आप बौद्ध बन जावेगे क्योंकि बौद्धों के यहाँ शब्द का अर्थ वस्तुभूत कुछ भी नही है। अविद्यमान-अवास्तविक अर्थों को ही शब्द कहा करते हैं किंतु आपने तो आगम को प्रमाण माना है अतः यह मान्यता ठीक नही है। तथा यदि आप तृतीय निःस्वभाव पक्ष को अनुभय के नञ् समास का प्रसज्य प्रतिषेध करके मानें तब तो सभी स्वभावो से रहित नियोग खर-विषाण के समान असत् ही हो जावेगा एवं बौद्धों ने शब्दों का वाच्य असत्-अन्यापोह ही माना है। उन्ही के मत में आपका प्रवेश हो जावेगा अत आठो विकल्पों की कसौटी पर कसने से आपका नियोग सिद्ध नही होता है।

[नियोग को सत् असत् आदि मानने मे दोषारोपण]

दूसरो बात यह है कि यह आपका नियोग सत् रूप ही है या असत् रूप ही है या उभयरूप है अथवा अनुभय रूप है ? प्रथम पक्ष मे तो विधिवाद ही आता है अर्थात् वेदाती संपूर्ण जगत् को सत् रूप ही मानते हैं। द्वितीय पक्ष के लेने पर निरालबनवाद-शून्यवाद ही आता है अर्थात् शून्यवादी सपूर्ण जगत को असत् रूप ही मानते है। तृतीय पक्ष मे उभयपक्ष में दिये गये दोषो का प्रसग आता है। एव चतुर्थ पक्ष के मानने पर व्याघात-विरोध नाम का दोष आता है क्योंकि सत् और असत् एक दूसरे के व्यवच्छेद-विरोध रूप है अतः इन दोनो मे से किसी एक का निषेध करने पर दूसरे का विधान हो जाता है। एक साथ एक ही वस्तु में सत्त्व एवं असत्त्व का प्रतिषेध नही हो सकता है अर्थात् "सत् नही है" ऐसा कहने पर असत् स्वयं ही आ जाता है एवं "असत् नही है" ऐसा कहने पर सत् स्वयमेव आ जाता है। तथा सर्वथा सत्त्व एव असत्त्व का प्रतिषेध करने पर भी कथचित् सत्त्व असत्त्व का विरोध न होने से कोई दोष नही है यदि आप ऐसा कहे तो आप प्रभाकर स्याद्वाद मत का आश्रय ले लेगे।

---

१ अन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायेन। २ तदुक्तम्।—प्रत्येक यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथ न स इति वचनात्। ३ विरोधः। ४ कथम् ?। ५ यथा सदित्युक्तेऽसत्त्वयमेवायाति, असदित्युक्ते सत्त्वयमेवायाति। ६ सत्त्वासत्त्वयोः। ७ सदसत्त्वविधानाददोष इति खपाठः। ८ सर्वेषा पदार्थाना क्रमवर्त्तित्वात् शब्दाना च।

---

1 परस्परव्यवच्छेदययोः। इतिपाठान्तर।

[नियोगस्य प्रवर्तकाप्रवर्तकस्वीकारे दोषारोपणं]

किञ्च[१] नियोगः सकलोपि[२] प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रवर्त्तकस्वभावश्चेत् प्रभाकराणामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्त्तकः स्यात्—तस्य सर्वथा[३] प्रवर्त्तकत्वात् । [४]तेषां [५]विपर्यासादप्रवर्त्तक इति चेत् [६]परेषामपि [७]विपर्यासाद[८]प्रवर्त्तकोस्तु[1] । शक्यं हि वक्तुं, प्राभाकरा [९]विपर्यस्तत्वाच्छब्द[१०]नियोगात्प्रवर्त्तन्ते [११]नेतरे[2]—तेषामविपर्यस्तत्वादिति । सौगतादयो[१२] विपर्यस्तास्तन्मतस्य प्रमाणबाधितत्वात् । न पुनः प्राभाकरा इत्यपि[१३] पक्षपातमात्रम्-तन्मतस्यापि प्रमाणबाधितत्वाविशेषात् । यथैव हि प्रतिक्षणविनश्वरसकलार्थकथनं

[नियोग को प्रवर्तक या अप्रवर्तक मानने में दोष]

दूसरी बात यह है कि यह ग्यारह प्रकार का भी नियोग प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव है ? यदि प्रवर्तक स्वभाव मानों तो आप प्रभाकर के समान ही वेदवाक्य का अर्थ बौद्धों के लिये भी प्रवर्तक हो जावेगा क्योंकि वह वेदवाक्य सर्वथा प्रवर्तक स्वभाव वाला है। यदि आप कहे कि वे सौगतादि विपरीत बुद्धि वाले है अतः वह नियोग उनके लिये अप्रवर्तक है तब तो आप प्रभाकरों को भी विपर्यास होने से वह अप्रवर्तक हो जावे। हम ऐसा कह सकते है कि प्रभाकर विपर्यस्त–विपरीत बुद्धि वाले होने से शब्द नियोग से प्रवृत्ति करते है इतर बौद्धादि नही करते है क्योकि वे विपर्यस्त बुद्धि वाले नही है। टिप्पणी मे "अप्रवर्तक" की जगह "प्रवर्तक" ऐसा पाठ है उसका ऐसा अर्थ करना कि आप प्रभाकर को भी विपरीत बुद्धि होने से ही वह नियोग प्रवृत्ति कराता है। अर्थात् आपकी ही बुद्धि विपरीत है।

प्रभाकर—सौगतादि विपर्यस्त–विपरीत बुद्धि वाले है क्योकि उनका मत प्रमाण से बाधित है, किंतु हम प्रभाकर का मत प्रमाण से बाधित नही है।

भाट्ट—यह आपका कथन पक्षपात मात्र को सूचित करता है क्योंकि आपका मत भी प्रमाण से बाधित ही है, अतः दोनों ही मत प्रमाण से बाधित हैं। जिस प्रकार से सभी पदार्थों को प्रतिक्षण विनश्वर कहना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है उसी प्रकार से नियोक्ता–यज्ञकर्ता, नियोग–वेदवाक्य और उसका विषय–यज्ञादि रूप से भेद की परिकल्पना भी प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों से बाधित ही है

१ भाट्ट. २ एकादशप्रकारोपि। ३ सर्वपुरुषापेक्षाप्रकारेण। ४ सौगतादीनाम्। ५ प्रवर्त्तकस्वभावे नियोगेऽप्रवर्त्तकतया मनन विपर्यासः। ६ युष्माक प्राभाकराणा विपरीतत्वादप्रवर्त्तकोस्तु। ७ अप्रवर्त्तकस्वभावे नियोगेप्रवर्त्तकतया मननं विपर्यास.। ८ प्रवर्त्तकोस्त्विति खपाठः। ९ अप्रवर्त्तकत्वात् (खपुस्तके)। १० शब्दाधिकारात्। ११ ताथागतादयः। १२ अत्राह नियोगवादी प्रभाकर.। १३ अत्राह भावनावादी भट्टः।—भो प्रभाकर इति ते वचनं स्वमतपक्षपातमात्रम्। कस्मात् ? प्रभाकरमतस्यापि प्रमाणबाधितत्वेन विशेषो नास्ति यत.।

1 विपर्यासात्प्रवर्तकोऽस्तु। इति पा.। 2 बौद्धा अविपर्यस्त्वाच्छब्दनियोगात् प्रवर्तन्ते।

प्रत्यक्षादिविरुद्धं तथा [१]नियोक्तृनियोग[२]तद्विषयादि[३]भेदपरिकल्पनमपि, सर्वप्रमाणानां [४]विधि[1]विषयता[2]व्यवस्थापनेन[५] [६]तद्बाधकत्वोपपत्तेः। यदि पुनरप्रवर्त्तकस्वभावः[3] शब्दनियोगस्तदा सिद्ध एव तस्य[७] प्रवृत्तिहेतुत्वायोगः। स[८] च वाक्यार्थत्वाभावं साधयति।

क्योंकि सभी प्रमाण विधि के विषय को व्यवस्थापित करते हैं अतः नियोग की सिद्धि बाधित ही है। अर्थात् प्रमाण चेतन रूप है और विधि-ब्रह्म भी चेतन रूप है। अतः विधि में ही सभी प्रमाण घटित हो जाते हैं, किन्तु नियोग में घटित नही होते है। इसलिये नियोग बाधित हो जाता है क्योंकि जब सभी प्रमाण विधि-परब्रह्म में अंतर्भूत हो जाते हैं तब यह नियोक्ता है, यह नियोग है इत्यादि भेद कल्पना प्रत्यक्षादि से ही विरुद्ध हो जाती है।

पुनः यदि द्वितीय पक्ष लेवो कि शब्द नियोग अप्रवर्तक स्वभाव वाला है तब तो वह शब्द नियोग प्रवृत्ति हेतुक नही है अतः उसमें प्रवृत्ति का अभाव सिद्ध ही है। वह शब्दनियोग उपरोक्त विधि से सिद्ध होता हुआ वेदवाक्य के अर्थ के अभाव को सिद्ध करता है।

भावार्थ—यहाँ पर भाट्ट विधिवाद का आश्रय लेकर प्रभाकरों से प्रश्न करते है कि आपका नियोग प्रवृत्ति करा देने रूप स्वभाव वाला है या प्रवृत्ति नही कराने रूप? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो वह नियोग जैसे आप प्रभाकरों को यज्ञादि कर्म में प्रवृत्ति कराता है वैसे ही बौद्धों को भी क्यों नहीं कराता है? क्योंकि यदि अग्नि का स्वभाव जलाने का है तो वह पक्षपात रहित काष्ठ, वस्त्र, मूर्ख के शरीर, पंडित के शरीर, रत्न, तृण आदि सभी को भस्म कर देती है। यदि आप कहे कि बौद्ध मिथ्या बुद्धि वाले है अतः उन्हें वेदवाक्य प्रवृत्ति नही करा सकते हैं जैसे कि सुवर्ण, अभ्रक आदि को अग्नि नही भी जलाती है तब तो हम ऐसा भी कह सकते हैं कि आप प्रभाकर विपरीत बुद्धि वाले है अतः वेदवाक्य के अर्थ नियोग से अपने आपको यज्ञकार्य में नियुक्त होना अर्थ मान लेते हैं और कर्मकाडो मे प्रवृत्ति भी करते है किन्तु बौद्धादि विपरीत बुद्धि वाले नही हैं अतः वे नियोग को प्रवृत्ति कराने वाला नहीं मानते हैं एवं उसके अनुकूल यज्ञादि में प्रवृत्ति भी नही करते हैं। यह हमारा कथन भी आप किसी तरह से बाधित नही कर सकते हैं। यदि आप बौद्ध चार्वाकादि के मतों को बाधित कहे तो जैसे उनके मत प्रत्यक्षादि से बाधित हैं वैसे ही आपका नियोग पक्ष भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित ही है क्योंकि सभी प्रमाणो

---

१ नियोगकृद्-यज्ञकृद्-यज्ञकर्त्ता। अयं यज्ञकर्त्तायं नियोग इद फलमिति भेदापादन प्रत्यक्षादिप्रमाणाद्विरुद्ध मतभेद. साधयितु न शक्यते। २ वेदवाक्य। ३ आदिशब्दाद् पुरुषफले। ४ विधिमध्यपतितत्वव्यवस्थापनेन। ५ प्रत्यक्षादिविरुद्धमिति सम्बन्धः। ६ तस्य नियोगस्य बाधकमुपपद्यते यतः। ७ शब्दनियोगस्य। ८ शब्दनियोगः सिद्धः सन्।

---

1 प्रमाण चेतनं विधिश्चेतनो विधिमध्ये सर्वाणि प्रमाणानि घटते न च नियोगे। 2 व्यवस्थापने इति पा.। सति यदा सर्वेषां प्रमाणानां विधौ परमब्रह्मणिअंतर्भावे नियोक्तृनियोगादिभेदकल्पन प्रत्यक्षादिविरुद्ध भवतीति भावः। 3 अग्निष्टोमादिवाक्यनिबंधनः।

[नियोगः फलरहितः फल सहितो वेत्युभयपक्षे दोषारोपणम्]

किञ्च नियोगः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेत्, न ततः[1] प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः अप्रेक्षावत्त्वप्रसङ्गात्[1], प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्त्तते इति प्रसिद्धेश्च । [2]प्रसिद्धचण्ड[3]नरपतिवचननियोगादफलादपि प्रवर्त्तनदर्शनाददोष इति चेन्न, तस्यापायपरिरक्षणफलत्वात् । [4]तन्नियोगादप्रवर्त्तने तदाज्ञोल्लङ्घन[5]कृतामपायोवश्यं[6] सम्भवतीति ।

से विधिवाद-सत्-चित् परमब्रह्मस्वरूप ही सिद्ध होता है। यदि आप द्वितीय पक्ष मे उस नियोग को प्रवृत्ति नही कराने वाला मानेंगे तब तो उन "यजेत" आदि वाक्यों से यज्ञादि कार्य में कभी भी प्रवृत्ति ही नही कर सकेंगे पुनः आप कर्मकांडी मीमांसक कैसे रहेगे ? अतः उपर्युक्त विकल्पों से भी वेदवाक्य का अर्थ नियोग सिद्ध नहीं होता है।

[नियोग फल रहित है या फल सहित]

प्रकारांतर से यह भी प्रश्न होता है कि वह नियोग फल रहित है या फल सहित है ? यदि फल रहित मानों तब तो उस फल रहित नियोग में बुद्धिमान् पुरुषों की प्रवृत्ति नही हो सकेगी अन्यथा वे बुद्धिमान भी मूर्ख ही हो जावेंगे क्योकि "प्रयोजन के बिना मंद-मूढ भी प्रवृत्ति नही करते है" यह बात प्रसिद्ध है। अर्थात् बुद्धिमान जन फल की अभिलाषा से ही प्रवृत्ति करते है। यदि फल के अभाव में भी प्रवृत्ति करेंगे तब तो विद्वान् नही कहे जा सकेंगे।

प्रभाकर—प्रसिद्ध अत्यंत क्रोधी राजा के वचन के नियोग से-फल रहित भी वचन के नियोग से प्रवृत्ति देखी जाती है अतः कोई दोष नही है।

भाट्ट—ऐसा भी नही कहना, वह प्रवृत्ति भी अपाय (कष्ट) से परिरक्षण रूप फल वाली है क्योकि उस क्रोधी राजा के वचनादेश से प्रवृत्ति न करने पर तो उस राजा की आज्ञा का उलघन करने वाले मनुष्यों का धनापहरण आदि अपाय अवश्यंभावी है।

प्रभाकर—तब तो वेदवाक्य से भी नियुक्त हुआ मनुष्य प्रत्यवाय-विघ्नों को दूर करने के लिये प्रयत्न करे क्योंकि हमारे यहाँ कहा भी है कि विघ्नों को दूर करने के लिए नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठानो को करे अर्थात् "त्रिकाल संध्या, उपासना, जप, देव, ऋषि, पितृ-तर्पण आदि अनुष्ठान नित्य कर्म कहलाते हैं एवं अमावस्या, पौर्णमासी, ग्रह, ग्रहण आदिको मे किया गया अनुष्ठान नैमित्तिक कहलाता है। इन नित्यनैमित्तिक क्रियाओं को विघ्नों का नाश करने के लिए करे"।

१ फलरहितान्नियोगाद्विचारचतुराणां प्रवृत्तिर्न घटते। घटते चेत्तदा तेषामप्रेक्षावत्त्वं राजनीति। २ प्रसिद्ध इत्यय शब्द. खपुस्तके नास्ति। ३ चण्डस्त्वत्यन्तकोपन.। ४ चण्डनरपतिवचनादेशात्। ५ जनानाम्। ६ वित्तापहारादि.।

1 अन्यथा। प्रेक्षावतः फलमभिलष्य प्रवर्तते यदि फलाभावे प्रवर्तते तर्हि—।

तर्हि[1] वेदवचनादपि नियुक्तः प्रत्यवायपरिहाराय[2] प्रवर्त्तताम्—"[3]नित्यनैमित्तिके[4] कुर्यात्प्रत्यवायजिहासये[5]" ति वचनात्। [6]कथमिदानीं[7] स्वर्गकाम[8] इति वचनमवतिष्ठते—[9]जुहुयाज्जुहोतु होतव्यमिति लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययान्त[10]निर्देशमात्रादेव नियोगमात्रस्य सिद्धेस्तत एव च प्रवृत्तिसम्भवात्[11]। यदि पुनः फलसहितो नियोग इति पक्षस्तदा फलार्थितैव प्रवर्त्तिका न नियोगः-- [12]तमन्तरेणापि फलार्थिनां प्रवृत्तिदर्शनात्। [13]पुरुषवचनान्नियोगे[14]-यमुपालम्भो[15] [16]नापौरुषेयादग्निहोत्रादिवाक्यात्—[1]तस्यानुपालम्भत्वादिति चेत्, "सर्वं वै

"नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया।
अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते॥"

ऐसा श्रुतिवाक्य है।

भाट्ट—पुनः विघ्नो के परिहार रूप फल का प्रतिपादन करते समय "स्वर्गकामः" यह वचन कैसे सिद्ध हो सकेगा ? अर्थात् यदि विघ्न का परिहार करने के लिये यज्ञ किया जाता है तब "स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष" इस शब्द से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

"जुहुयात्, जुहोतु, होतव्यं" इस प्रकार से लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय जिसके अंत में हैं ऐसे शब्द के निर्देश कर देने मात्र से ही नियोग मात्र सिद्ध है और उसी से ही प्रवृत्ति संभव है। अर्थात् इस संसार मे लौकिक विघ्नों को दूर करने की इच्छा रखता हुआ पुरुष होम क्रिया मे प्रवृत्त होवे न कि स्वर्ग की इच्छा करने वाला मनुष्य, क्योंकि लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय स्वरूप ही नियोग है इसलिए स्वर्ग की इच्छा के बिना ही यज्ञादि कर्म में प्रवृत्ति संभव है अतः आप नियोगवादियों को पूर्वापर विरुद्ध दो प्रकार के वचन नही कहना चाहिये क्योंकि पाप का परिहार करने के लिये यज्ञादि कर्म है पुनः वे यज्ञादि कर्म स्वर्ग की प्राप्ति कैसे करावेंगे ? अतः "स्वर्गकामः" यह शब्द संभव है ऐसा नही कहना चाहिये। यदि पुनः आप दूसरा पक्ष लेवे कि फल सहित ही नियोग है तब तो फल की इच्छा होना ही प्रवर्तिका-प्रवर्तन कराने वाली है न कि नियोग, क्योंकि उस नियोग के बिना भी फलार्थी–फल की इच्छा करने वाले जनो की प्रवृत्ति देखी जाती है।

१ प्रभाकरः। २ पापपरिहारफलाय। अवश्यं विघ्न आयाति धर्मकार्ये तन्निवारणाय। ३ त्रिकाल सन्ध्योपासनजपदेवर्षिपितृतर्पणादिकमित्याद्यनुष्ठानम्। ४ दर्शपौर्णमासीग्रहग्रहणादिषु क्रियमाणं नैमित्तिकानुष्ठानम्। ५ अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते इति श्रुतेः। ६ भावनावादी। ७ प्रत्यवायपरिहारस्य फलत्वप्रतिपादनकाले। ८ यदि विघ्नविनाशनाय यज्ञः क्रियते तर्हि स्वर्गकाम इत्यनेन वचनेन किं प्रयोजनम्? ९ इहलोकप्रत्यवायपरिहारार्थी पुमान् जुहुयादिति प्रवर्त्ततां, न तु स्वर्गकाम इति। १० प्रत्ययस्वरूप एव नियोगः। ११ ततः स्वर्गकामनिरपेक्षतया यागे प्रवर्त्ततां नाम। १२ नियोगं विनापि। १३ अत्राह नियोगवादी। १४ पूर्वोक्तः सर्वः। १५ दूषणम्। १६ अग्निष्टोमं स्वर्गकामो यजेतेत्याद्यपौरुषेयादग्निहोत्रादिवाक्यान्नियोगे दूषणं न—तस्य वाक्यस्यादूष्यत्वात्।

1 अनुपालभ्यत्वात् इति पा.। अदूष्यत्वात्।

खल्विदं ब्रह्म''[1] त्यादि[1] वचनमपि विधिमात्रप्रतिपादकमनुपालम्भ्यमस्तु [2]तत एव । तथा च वेदान्तवादसिद्धिः । तस्मान्न नियोगो वाक्यार्थः [3]कस्यचित्प्रवृत्तिहेतुत्वाभावाद्विधिवत्[4] ।

[पूर्वकथितैकादशप्रकारस्य नियोगस्य क्रमशः निराकरणम्]

सर्वेषु[5] च पक्षेषु नियोगस्य प्रत्येकं विचार्यमाणस्यायोगान्न वाक्यार्थत्वमवतिष्ठते । तथा हि ।—न तावत्कार्यं शुद्धं नियोग इति पक्षो घटते [6]प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य[7] नियोगस्यासम्भवात् । तस्मिन्नियोगसंज्ञाकरणे स्वकम्बलस्य [8]कूर्दालिकेति नामान्तरकरणमात्रं स्यात् । न च तावता [9]स्वेष्टसिद्धिः । शुद्धा प्रेरणा[10] नियोग इत्यप्यनेनापास्तं[11]–[12]नियोज्यफल-[13]

नियोगवादी-प्रभाकर—यदि हम पौरुषेय वचन–पुरुष के वचन से नियोग का अर्थ करें तब तो उपर्युक्त दोष आ सकते है किंतु हम तो अपौरुषेय वेद के अग्निहोत्रादि वाक्य से नियोग मानते हैं अतएव उस मान्यता में आप उलाहना नहीं दे सकते हैं।

भावनावादी-भाट्ट—तब "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन। आराम तस्य पश्यति न तं पश्यति कश्चन।।" इस विधि मात्र के प्रतिपादक वचन भी निर्दोष सिद्ध होवे क्या बाधा है ? क्योंकि अपौरुषेयत्व हेतु दोनों जगह समान है और उस प्रकार से तो वेदांतवाद की सिद्धि हो जाती है। इसलिये वेदवाक्य का अर्थ नियोग नहीं है क्योंकि उसमे किसी भी पुरुष की प्रवृत्ति का अभाव है जैसे विधि–परब्रह्म में किसी की प्रवृत्ति नही है।

[प्रारम्भ में जो नियोग के ११ प्रकार से अर्थ किये हैं उनका क्रमश भाट्ट द्वारा खंडन किया जा रहा है]

उपर्युक्त सभी एकादश प्रकार के पक्षों में प्रत्येक का विचार करने से वह नियोग सिद्ध नही होता है अतः वेदवाक्य का अर्थ नियोग करना ठीक नहीं है। तथाहि—

(१) "शुद्ध कार्य नियोग है" यह पक्ष भी घटित नहीं होता है क्योकि "यजेत स्वर्ग कामः" इस प्रकार से प्रेरणा और नियोज्य—स्वर्ग की इच्छा करने वाले श्रोतापुरुष से वर्जित नियोग ही असम्भव है अर्थात् स्वर्ग की इच्छा करने वाले पुरुष से वर्जित नियोग ही असम्भव है। और उसकी नियोग संज्ञा करने पर तो अपने कम्बल को 'कूर्दालिका–कुदालि' ऐसा एक भिन्न नाम रख दिया गया मात्र ही हो जाता किन्तु उतने से अपने इष्ट अर्थ की सिद्धि नही हो सकती है। अर्थात् नियोग पक्ष मे स्वर्ग है और कूर्दालिका–कुदाली पक्ष में खोदना आदि है। अर्थात् कुछ का कुछ नाम रख देने से कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रेरणा और नियोज्य पुरुष से रहित केवल शुद्ध कार्य रूप नियोग से स्वर्ग नही मिल सकता है जैसे कि ,

१ नेह नानास्ति किञ्चन। आराम (विस्तार) तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन ।। २ अदूष्यत्वस्याविशिष्टत्वात्। ३ पुरुषस्य। ४ परब्रह्म यथा ५ एकादशभेदनियोगेषु। ६ यजेतेति। प्रवर्तकत्व। ७ स्वर्गकाम। ८ कुदाली। ९ स्वर्ग। स्वर्गो नियोगपक्षे कूर्दालिकापक्षे खननादि। १० अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादि। ११ पूर्वोक्तेन वक्ष्यमाणेन च। १२ नियोज्यः पुमान्। १३ स्वर्ग.।

1 अपौरुषेयत्वादेव।

रहितायाः [1]प्रेरणायाः [2]प्रलापमात्रत्वान्नियोगरूपतानुपपत्तेः । प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इत्यप्यसम्भाव्यम्—नियोज्यविरहे नियोगविरोधात् । कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेन निरस्तम् । कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्त्तकत्वं नियोग इत्यप्यसारम्—नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य [3]प्रवर्त्तकत्वोपचारायोगात् । कदाचित्क्वचित्परमार्थतस्तस्य[4] तथानुपलम्भात्[5] । [6]कार्यप्रेरणयोः[7] सम्बन्धो नियोग इति [8]वचनमसङ्गतम्–[9]ततो भिन्नस्य[10] सम्बन्धस्य सम्बन्धिनिरपेक्षस्य [11]नियोगत्वाघटनात् [12]सम्बन्ध्यात्मनः सम्बन्धस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयम्[1]-

कम्बल को कुदाली कह देने से उससे सड़क का खोदना नहीं हो सकता है।

(२) और जो आपने कहा था कि "शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है" अर्थात् "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम:" इस कथन का भी पूर्वोक्त कथन से ही निरसन हो जाता है। नियोज्य– पुरुष और उसका फल–स्वर्ग इन दोनों से रहित प्रेरणा प्रलाप मात्र ही है इसलिये वह प्रेरणा नियोग रूप नहीं हो सकती है।

(३) "प्रेरणा सहित कार्य नियोग है" यह पक्ष भी असम्भव है क्योंकि नियोज्य मनुष्य के न होने पर नियोग ही असम्भव है।

(४) "कार्य सहित प्रेरणा ही नियोग है" इसका भी इसी कथन से निरसन हो जाता है।

(५) "कार्य ही उपचार से प्रवर्तक होने से नियोग है" यह पक्ष भी असार है। नियोज्य-पुरुष आदि से निरपेक्ष कार्य मे प्रवर्तक का उपचार ही नहीं हो सकता है क्योंकि कदाचित् क्वचित् परमार्थ से वह नियोज्यादि निरपेक्ष कार्य प्रवर्तक प्रकार से उपलब्ध नहीं होता है। अर्थात् नियोज्य—श्रोतापुरुष, नियोजक—शब्दादि की अपेक्षा रहित कार्य उपचार से भी यज्ञादि में प्रवृत्ति नहीं करता है। मुख्य रूप से सिंह के प्रसिद्ध होने पर वीर पुरुषों में सिंह का उपचार कर दिया जाता है किन्तु यहाँ कभी कही नियोज्यादि से रहित केवल कार्य उस प्रकार से प्रवर्तक नही हो सकता है।

(६) "यागादि कार्य और वेदवाक्य रूप प्रेरणा का सम्बन्ध ही नियोग है।" यह वचन भी असंगत है क्योंकि कार्य और प्रेरणा रूप सम्बन्धी से भिन्न सम्बन्ध यदि सम्बन्धी से निरपेक्ष है तो वह नियोग रूप से घटित नही हो सकता है। "संबंध्यात्मक सम्बन्ध को नियोग कहना भी दुरन्वय–गलत ही है" क्योंकि प्रेर्यमाण पुरुष से निरपेक्ष, संबंध्यात्मक भी कार्य और प्रेरणा नियोग नहीं हो सकते है।

भावार्थ—सम्बन्धियों से सर्वथा भिन्न पडा हुआ सम्बन्ध तटस्थ पदार्थ के समान उनका नियोग

१ प्रेरकत्वस्य। २ निरर्थकत्वात्। ३ निरर्थकत्वादिति भाव । ४ नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य। ५ प्रवर्त्तकत्वप्रकारेण। ६ यागादि। ७ वेदवाक्य। ८ इति च न सङ्गतमिति खपुस्तकपाठः। ९ कार्यप्रेरणारूपेभ्यः सम्बन्धिभ्यः। १० सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यो भिन्नोऽभिन्नो वेति विकल्पद्वयमवतीति क्रमेण निराकुर्वन्नाह। ११ नियोगत्वेनाघटनादिति खपुस्तकपाठः। १२ सम्बन्धिनावात्मानौ स्वरूपे यस्य।

1 दुष्टोपदेशः।

प्रेर्यमाणपुरुष[1]निरपेक्षयोः [1]सम्बन्ध्यात्मनोरपि कार्यप्रेरणयोर्नियोगत्वानुपपत्तेः । [2]तत्समुदायनियोगवादोप्यनेन[3] प्रत्याख्यातः । कार्यप्रेरणाविनिर्मुक्तस्तु नियोगो न विधिवादमतिशेते[4] । यत्पुनः स्वर्गकामः पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्त्तते इति यन्त्रारूढनियोगवचनं तदपि न [5]परमात्मवादप्रतिकूलम्—[6]पुरुषाभिमानमात्रस्य[2] नियोगत्ववचनात्, [7]तस्य चाविद्योदयनिबन्धनत्वात् । भोग्यरूपो नियोग इति चायुक्तम्— [8]नियोक्तृ[9]प्रेरणाशून्यस्य [10]भोग्यस्य तद्भावानुपपत्तेः । पुरुषस्वभावो हि[11] न नियोगो घटते [12]तस्य [13]शाश्वतिकत्वेन नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसङ्गात् । [14]पुरुषमात्रविधेरेव [15]तथाभिधाने वेदान्तवादपरिसमाप्तेः[16] कुतो नियोगवादो नाम ।

नहीं हो सकता एवं कार्य और प्रेरणा रूप सम्बन्धियों से अभिन्न तदात्मक हो रहा सम्बन्ध जब तक श्रोता-पुरुष की अपेक्षा नहीं रखेगा तब तक कथमपि नियोग नही हो सकता । शिष्य की अपेक्षा नही रखकर अध्ययन करने की प्रेरणा करना बहुत ही कठिन है सम्बन्धियो के साथ सम्बन्ध का भेद अथवा अभेद इन दोनों पक्षों में नियोग व्यवस्थित नही होता है ।

(७) "उन दोनों का तादात्म्य समुदाय ही नियोग है" उपर्युक्त भिन्न अभिन्न पक्ष उठाने से यह पक्ष भी निरस्त हो जाता है क्योंकि पुरुष के बिना उन दोनों के समुदाय को नियोग कहना उचित नही है ।

(८) कार्य और प्रेरणा से रहित भी नियोग विधिवाद का उलघन नही कर सकता है किन्तु विधिवाद ही आ जाता है । तुच्छाभाव को न मानने से आप प्रभाकरो के यहां कार्य और प्रेरणा से रहित नियोग वेदान्तवादी के ब्रह्माद्वैतवाद का ही आश्रय ले लेता है ।

(९) जो आपने कहा है कि स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्रादि वाक्यो से नियुक्त होने पर अपने को याग लक्षण विषय में आरूढ़ मानता हुआ प्रवृत्ति करता है इस प्रकार से "यंत्रारूढ नियोग वचन ही नियोग है" यह कथन भी परमात्म–ब्रह्मवाद के प्रतिकूल नही है । वहाँ विधिवाद में भी पुरुष के अभिप्राय मात्र को नियोग कहा है और पुरुष का अभिमान–अभिप्राय भी तो अविद्या के उदय से ही होता है ।

(१०) "भोग्य रूप नियोग है" यह कथन भी अयुक्त है क्योकि नियोक्ता—वेदवाक्य और

---

१ यसः (कर्मधारयः) । २ तादात्म्यम् । ३ ततो भिन्नस्येत्यादिना । ४ नातिशय प्राप्नोति । नातिक्रामति । किन्तु विधिवाद एवायातः । ५ विधिवाद । ६ अभिप्राय । ७ पुरुषस्याभिमानाभावादित्युक्ते आह । पुरुषाभिमानमात्रस्य । ८ वेदवाक्य । ९ प्रवर्त्तकलक्षणो वाक्यधर्म । १० स्वर्गस्य । ११ पुरुषस्वभावोपीति खपुस्तकपाठ. । १२ अन्यथा । तस्य पुरुषस्वभावस्य । १३ नित्यत्वेन । १४ अस्तित्वस्य । १५ नियोग इति । १६ प्राप्तेः ।

---

1 संबंध्यात्मनोः इति पा. । 2 तत्संवेदनविवर्तस्तु नियुक्तोहमिति अभिमानरूपो नियोग इति नाय पुरुषादन्यः प्रतीयते ।

प्रेरणा-प्रवर्तक लक्षण वेदवाक्य का धर्म इन दोनों से रहित भोग्य-स्वर्ग (भविष्यत्काल में भोगने योग्य पदार्थ) की व्यवस्था नही बन सकती है ।

(११) एवं ग्यारहवे पक्ष में माना गया "पुरुष का स्वभाव नियोग है" यह कथन भी घटित नहीं होता है। अन्यथा यदि पुरुष के स्वभाव को ही नियोग मानोगे तो पुरुष का स्वभाव तो शाश्वतिक है पुनः वह नियोग भी शाश्वतिक हो जावेगा। पुरुषमात्र के अस्तित्व को ही "नियोग" कहने पर तो वेदान्तवाद की प्राप्ति हो जाने से नियोगवाद नाम ही कैसे रह सकेगा ?

इस प्रकार आप प्रभाकर द्वारा मान्य ११ प्रकार का नियोग कथमपि सिद्ध नही होता है विचार कोटि में रखने पर वह विधिवाद मे ही चला जाता है एवं आगे विधिवाद का भी निराकरण कर देने से अपौरुषेय वेदवाक्य एवं उसमें मान्य नियोग, विधि आदि सभी समाप्त हो जाते हैं।

नियोगवाद के खंडन का सारांश

मीमासक वेद को अपौरुषेय मानते है और उन्ही के यहां जो भेद प्रभेद हैं उनके अर्थ मे अनेक की कल्पना करके परस्पर में विसवाद करते है। प्रभाकर मतानुयायी वेदवाक्य का अर्थ नियोग करते है, अर्थ भाट्ट भावना अर्थ करते हैं और वेदान्ती वेदवाक्य का अर्थ विधि करते हैं।

सर्वप्रथम नियोगवादी का पक्ष स्थापित करके भावनावादी भाट्ट दोष दिखाता है—

भावनावादी—आप प्रभाकर ने वेदवाक्य का अर्थ नियोग किया है सो ठीक नहीं है उसमें अनेक बाधायें सम्भव है "अग्निष्टोमादि वाक्य से मै नियुक्त हुआ हूँ" इस प्रकार से निरवशेष योग को नियोग कहते है वहाँ भी किंचित् चिद् भावना रूप कार्य सम्भव नही है क्योकि आपके यहाँ नियोग का अर्थ अनेक वक्ताओं ने ग्यारह प्रकार से किया है।

(१) कोई कहते है कि जो लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय का अर्थ है, शुद्ध है, अन्यनिरपेक्ष है, एवं कार्यरूप (यज्ञरूप) है वही नियोग है।

(२) वाक्यांतर्गत कर्मादि अवयवों से निरपेक्ष शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है।

(३) प्रेरणा सहित कार्य ही नियोग है।

(४) कार्य सहित प्रेरणा को नियोग कहते है क्योकि कार्य के बिना कोई पुरुष प्रेरित नहीं होता है।

(५) कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहकर उसे नियोग कहते है।

(६) प्रेरणा और कार्य का सम्बन्ध ही नियोग है।

(७) प्रेरणा और कार्य का समुदाय ही नियोग है।

(८) इन दोनों से विनिर्मुक्त स्वभाव ही नियोग है।

(९) यंत्रारूढ़—यागलक्षण कार्य में लगा हुआ जो पुरुष है वही नियोग है।

(१०) भोग्य—भविष्यत् रूप ही नियोग है।

(११) पुरुष ही नियोग है।

इन एकादश पक्षों का विचार करने से वह नियोग सिद्ध नहीं होता है यथा—

(१) "शुद्ध कार्य नियोग है" यह पक्ष असंभव है क्योंकि "यजेत स्वर्गकामः" इस प्रकार प्रेरणा और नियोज्य से रहित नियोग असंभव है।

(२) जो आपने कहा था "शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है" क्योंकि नियोज्य—पुरुष और उसका फल-स्वर्ग उससे रहित प्रेरणा प्रलाप मात्र है।

(३) "प्रेरणा सहित कार्य ही नियोग है" इसमें भी नियोज्य मनुष्य के न होने पर नियोग ही असम्भव है।

(४) "कार्य सहित प्रेरणा" का इसी से निरसन हो गया।

(५) "कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहना" भी असार है क्योंकि पुरुषादि से निरपेक्ष कार्य (यज्ञ) में प्रवर्तक का उपचार ही असम्भव है।

(६) "कार्य और प्रेरणा का संयोग" अर्थ करने पर तो इन दोनों सम्बन्धी से भिन्न सम्बन्ध यदि सम्बन्धी से निरपेक्ष है तो वह नियोग रूप से नही घटता है।

(७) "उन दोनो का समुदाय" अर्थ कहने पर वह उससे भिन्न है या अभिन्न ? इत्यादि विकल्पों से दूषित हो जाता है।

(८) "कार्य और प्रेरणा से रहित नियोग" विधिवाद मे ही प्रविष्ट हो जाता है।

(९) "यत्रारूढ़ नियोग वचन ही नियोग है" इस कथन से भी विधिवाद ही आता है।

(१०) भोग्य को नियोग कहने से वेदवाक्य और प्रेरणारूप वाक्य का धर्म इन दोनों से रहित भोग्य-स्वर्ग की व्यवस्था ही असम्भव है।

(११) "पुरुष का स्वभाव नियोग है" ऐसा अर्थ करने पर तो पुरुष का स्वभाव शाश्वतिक होने से नियोग भी शाश्वत हो जावेगा।

इस प्रकार से ११ विकल्पों मे कहा गया नियोग सिद्ध नहीं होता तथा इनमे आठ विकल्प और उठते है कि ये ग्यारहो विकल्प रूप नियोग प्रमाण है या प्रमेय, उभय रूप है या अनुभय रूप तथा शब्द व्यापार रूप है या पुरुष व्यापार रूप, दोनो के व्यापार रूप है या दोनों के व्यापार से रहित ?

यदि आप प्रथम पक्ष लेवें तो विधिवाद आ जावेगा क्योकि प्रमाण तो चिदात्मक है। यह आत्मा "दृष्टव्यः, श्रोतव्यो, निदिध्यासितव्यः" इत्यादि वाक्यो के सुनने से अवस्थांतर से विलक्षण "मैं प्रेरित हुआ हूँ" ऐसी अहंकार बुद्धि से आत्मा ही प्रतिभासित होती है और वही विधि है। यदि दूसरा पक्ष लेवें तो प्रमेय को ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण मानना होगा अन्यथा प्रमाण के अभाव में प्रमेय कैसे रहेगा ? एवं प्रमेय रूप नियोग पुरुष से भिन्न न होने से आप वेदान्ती बन जावेंगे।

यदि उभयरूप को नियोग कहें तब तो नियोग को ज्ञान पर्याय–चिदात्मक मानने से विधिवाद ही सिद्ध हो जाता है यदि अनुभय स्वभाव कहो तो उभयरूप से रहित संवेदनमात्र ही पारमार्थिक होने से विधिवाद ही आवेगा। यदि शब्द व्यापार को नियोग कहो तो "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि शब्द का व्यापार नियोग होने से आप हमारे–भाट्ट के मत में प्रवेश कर जावेंगे क्योंकि हमने "शब्द भावना" को नियोग कहा है। एवं छठे पक्ष में भी आप भाट्ट ही हो जावेंगे कारण हमने पुरुष के व्यापार को भी भावना स्वभाव कहा है। हमारे यहाँ भावना के २ भेद हैं–शब्द भावना और अर्थभावना। यदि उभय के व्यापार को नियोग कहो तो क्रम से कहोगे या युगपत्? क्रम से कहो तो वही भाट्टमत प्रवेश नाम का दोष आता है। यदि युगपत् कहो तो एक जगह एक साथ उभय स्वभाव की व्यवस्था नहीं होगी। अनुभय स्वभाव को नियोग कहो तो वह यागादि कर्म रूप विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है अथवा निःस्वभाव ?

यदि विषय स्वभाव कहो तो यागादि अर्थ के विषय विद्यमान हैं या नहीं ? यदि वेदवाक्य के काल में विषय अविद्यमान है तो उस विषय का स्वभाव रूप नियोग भी अविद्यमान ही रहा। यदि विद्यमान कहो तो वह वेदवाक्य के काल में विषय स्वभाव विद्यमान होने से वाक्य का अर्थ नहीं होगा क्योंकि वह तो यागादि को निष्पादन करने के लिये हुआ है। निष्पन्न हुये यागादि का पुनः निष्पादन शक्य नहीं है। यदि यागादि का रूप किंचित् अनिष्पन्न है उसे निष्पादन करने के लिये नियोग है कहो तो यागादि विषय स्वभाव नियोग भी अनिष्पन्न होने से वेदवाक्य का अर्थ कैसे होगा ? यदि फल स्वभाव नियोग है कहो, तो स्वर्गादि का फल नियोग नहीं है क्योंकि वह स्वर्गादि फल वाक्य के काल मे अविद्यमान है यदि असन्निहितफल को भी नियोग कहो तो निरालंबवाद–बौद्ध के मत में प्रवेश हो जावेगा क्योकि वे शब्द को निरालंब—अन्यापोह अर्थवाला कहते हैं यदि निःस्वभाव कहो तो भी अन्यापोहवाद ही आवेगा।

दूसरी बात यह है कि यह नियोग सत् है या असत्, उभयरूप है या अनुभयरूप ? प्रथम पक्ष मे विधिवाद है। द्वितीय में निरालंब–शून्यवाद है, उभयपक्ष में उभय पक्षोपक्षिप्त दोष है एवं चतुर्थ पक्ष में विरोध दोष आता है क्योंकि सत् के निषेध में असत् का विधान होगा ही। यदि सर्वथा सत् असत् का निषेध करो तो कथंचित् सत् असत् आ जाता है जो कि स्याद्वाद का आश्रय ले लेता है, वह आपको इष्ट नहीं है। पुनः नियोग प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो आप प्रभाकर के समान ही वह बौद्धों को भी प्रवर्तक हो जावेगा क्योंकि सर्वथा प्रवर्तक स्वभाव है यदि दूसरा पक्ष लेवो तो वह नियोग प्रवृत्ति का हेतु न होता हुआ वेदवाक्य के अर्थ के अभाव को ही सिद्ध करेगा। तथा यह नियोग फल रहित है या फल सहित ? यदि प्रथम विकल्प कहो तो फल रहित नियोग से कोई भी बुद्धिमान प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि प्रयोजन के बिना मूर्ख भी प्रवृत्ति नहीं करता है यदि कहो कि अत्यन्त क्रोधी राजा के फल रहित भी वचन के नियोग से प्रवृत्ति देखी जाती है सो भी प्रवृत्ति कष्ट से परिरक्षण रूप फल वाली है क्योंकि क्रोधी राजा के वचनादेश से प्रवृत्ति न करने पर धनापहरण, मृत्यु दंड आदि अवश्यंभावी है।

इस पर यदि कहें कि वेदवाक्य से नियुक्त हुआ पुरुष विघ्नों को दूर करने के लिये ही प्रवृत्ति करता है क्या बाधा है ? त्रिकाल संध्योपासन, पितृऋषितर्पण आदि नित्य कर्म और पौर्णमासी आदि तिथियों में किया गया अनुष्ठान नैमित्तिक कर्म है। कहा भी है—

'नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ।
अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते ॥"

परन्तु यह कथन भी विरुद्ध है। विघ्नों के परिहार रूप फल को प्रतिपादन करते समय "स्वर्गकामः" यह वचन कैसे सिद्ध होगा ? जब विघ्न का परिहार करने के लिये यज्ञ किया जाता है तब "स्वर्गकामः" इस शब्द से क्या प्रयोजन है ? अतएव "जुहुयात् जुहोतु होतव्यं" इन लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय को अन्त में रखकर निर्देश कर देने से नियोग मात्र सिद्ध हो गया उसी से प्रवृत्ति सम्भव है इसलिये स्वर्ग की इच्छा के बिना भी याग कर्म मे प्रवृत्ति हो गई।

यदि फल सहित नियोग है ऐसा कहो तो फल की इच्छा होना ही प्रवर्तक है न कि नियोग, क्योंकि नियोग के बिना भी फलार्थीजनो की प्रवृत्ति देखी जाती है।

नियोगवादी—ये सभी दोष तो तब आवेगे जब हम वेद को पौरुषेय-पुरुषकृत माने। हमारे यहाँ अपौरुषेय वेदवाक्य से नियोग अर्थ मानने मे कोई दोष नही आते है।

भाट्ट—तब तो आपको 'सर्व वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन, आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' इत्यादि विधि वचन को भी प्रमाण मानना होगा। अतः एकादश प्रकार के सभी पक्षों मे प्रत्येक का विचार करने पर वह नियोग सिद्ध नही होता है।

[भाट्टो नियोगवादं निराकृत्याधुना विधिवादं निराकरोति]

[1]नन्वेवं नियोगनिराकरणेऽपि [2]विधेर्वाक्यार्थत्वघटनान्न भावना वाक्यार्थः सिद्धो भट्टस्येति न [3]चेतसि विधेयम्[1] –विधेरपि विचार्यमाणस्य बाध्यमानत्वात् । सोऽपि हि प्रमाणरूपो वा स्यात् प्रमेयरूपो वा तदुभयरूपो वा अनुभयरूपो वा पुरुषव्यापाररूपो वा [4]शब्दव्यापाररूपो वा द्वयव्यापाररूपो वाऽद्वयव्यापाररूपो वेत्यष्टौ विकल्पान्नातिक्रामति । तथाहि ।

[विधेः प्रमाणरूपाभ्युपगमे दोषानाह]

प्रमाणं विधिरिति [5]कल्पनायां प्रमेयं किमपरं स्यात् ? [6]तत्स्वरूपमेवेति चेन्न—सर्वथा निरंशस्य सन्मात्रदेहस्य विधेः प्रमाणप्रमेयरूपद्वयविरोधात् । [7]कल्पितत्वात्तद्रूपद्वयस्य

[प्रभाकर नियोगवाद को मानता है जैनाचार्यों ने भावनावादी भाट्ट के मुख से उस नियोगवादी का खंडन कराया है । अब जैनाचार्य पुनः विधिवादी वेदान्ती का भी खंडन भाट्ट के द्वारा ही करा रहे हैं ।]

विधिवादी [वेदांतवादी]—इस प्रकार से नियोग का निराकरण हो जाने पर भी वेद का अर्थ विधि ही घटित होता है किन्तु आप भाट्टों के द्वारा मान्य वेदवाक्य का भावना अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता है ।

भाट्ट—ऐसा भी तुम्हे मन में नहीं समझना चाहिये क्योंकि विधिवाद को भी विचार की कोटि मे रखने से वह बाधित हो जाता है । उस विधि अर्थ में हम प्रश्न करेंगे कि वह विधि प्रमाण रूप है या प्रमेयरूप, उभयरूप है या अनुभयरूप, पुरुष व्यापार रूप है या शब्द व्यापार रूप, द्वय–इन दोनों के व्यापार रूप है या अद्वय–इन दोनों से रहित व्यापार रूप है ? इन आठ विकल्पों का उलंघन वह विधि—ब्रह्मवाद भी नहीं कर सकता है ।

[विधि को प्रमाण रूप मानने पर उसका खंडन]

(१) तथाहि—विधि को प्रमाण मानने पर आप ब्रह्माद्वैतवादियों के यहाँ अन्य प्रमेय नाम की और क्या वस्तु होगी ? यदि आप कहो विधि (ब्रह्म) का स्वरूप ही प्रमेय है तब तो सर्वथा निरंश, सन्मात्रदेहवाले विधि–परब्रह्म के प्रमाण और प्रमेय ऐसे दो रूप नहीं हो सकते है क्योंकि विरोध आता है ।

वेदांती—कल्पित होने से वे प्रमाण और प्रमेय दोनों रूप वहाँ पर विधि में अविरुद्ध हैं ।

---

१ अथ नियोगवादिन निराकृत्य भट्टो विधिवादिन दूषयति । २ वाक्यार्थनिवेदनादिति खपाठ । ३ त्वया विधिवादिनेति शेष. । ४ यदि शब्द सद्भावस्वरूप नाभिदधाति निषेधस्वरूपमभिदधाति चेत्तदभावे क्वचिद्वस्तुनि प्रवृत्तिर्न स्यात् । ५ ब्रह्माद्वैतवादिनाम् । ६ विधिस्वरूपमेव । ७ ननु स एव चिदात्मोभयस्वभावतया स्वात्मान प्रकाशयन्नित्युक्त तावत्, साम्प्रत निरशतैवोच्यतेऽत. पूर्वापरविरोधः इति चेन्न, प्रमेयस्वभाव: काल्पनिक: प्रतिपाद्यार्थमुच्यते न तु वास्तवस्तद्विवर्तत्वात्तस्य ।

---

1 निधेय इति वा पाठ ।

तत्राविरोध इति चेत्, [1]कथमिदानीमन्यापोहः[2] शब्दार्थः प्रतिषिध्यते[3]—संविन्मात्रस्याप्रमाणत्व[4]व्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या च प्रमेयत्वमिति । [5]परैरभिधातुं शक्यत्वात् । [6]वस्तुस्वभावाभिधायकत्वाभावे शब्दस्यान्यापोहा[7]भिधायकत्वेऽपि [8]क्वचित्[1] प्रवर्त्तकत्वायोगान्नान्यापोहः शब्दार्थ इति चेत्, तर्हि वस्तुस्वरूपाभिधायिनोपि शब्दस्यान्यापोहान[9]-

---

भाट्ट—तब तो बौद्धाभिमत शब्द का अर्थ अन्यापोह है उसका आप निषेध कैसे करते है ? क्योंकि "अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण और अप्रमेय की व्यावृत्ति से प्रमेय है" इस प्रकार से संविन्मात्र को ही विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध ने स्वीकार किया है ।

भावार्थ—शंका यह हुई थी कि चिदात्मा प्रमाण एवं प्रमेयरूप उभयस्वभाव से अपने को प्रकाशित करता हुआ युक्त है ऐसा विधिवादी का कहना था पुनः ऐसा कह दिया वह परमब्रह्म निरंश ही है इसलिये परस्पर विरुद्ध हो गया ऐसा कहने पर उसने कहा कि प्रमेय स्वभाव तो काल्पनिक है और वही प्रतिपाद्य अर्थ है वह वास्तविक नही है वह तो उस ब्रह्म की ही पर्याय है । तब उस भाट्ट ने कहा कि प्रमाण और प्रमेय दोनों रूपो को कल्पित कहने पर तो बौद्ध भी शब्द का अर्थ अन्यापोह करता है उसका निषेध आप क्यों करते है क्योंकि बौद्धो के यहा भी संविन्मात्र–विज्ञानमात्र तत्त्व अप्रमाण की व्यावृत्ति मे प्रमाण रूप है और प्रमेय भी अप्रमेय की व्यावृत्ति से प्रमेय रूप है ऐसा सवेदनाद्वैतवादी बौद्ध भी कह सकते है क्या बाधा है ? मतलब—आप विधिवादी प्रमाण प्रमेय दोनों को कल्पना रूप से विधि मे विरुद्ध नहीं मानते हो तब तो "अगोव्यावृत्तिर्गौः, अघटव्यावृत्तिर्घट." इत्यादि लक्षण अभावात्मक–अन्यापोह रूप शब्द का अर्थ क्यो नही मान लेते हो, उसका निषेध क्यों करते हो क्योंकि कल्पित रूप तो प्रमाण और अन्यापोह दोनों में समान है ? जैसे आप वेदांतवादी प्रमाण को कल्पित मानते हो वैसे ही बौद्ध अन्यापोह को कल्पित मानते है इसलिये दोनो में कोई अन्तर नही दीखता है ।

विधिवादी—आप बौद्ध की मान्यतानुसार शब्द अन्यापोह का कथन करने वाले भले ही हो किन्तु वस्तु के स्वभाव का कथन करने वाले नहीं हैं । अतः उन शब्दों की क्वचित्–विधि में प्रवृत्ति नहीं होती है इसीलिये शब्द का अर्थ अन्यापोह नहीं है ।

---

१ प्रमाणप्रमेयरूपद्वयस्य कल्पितत्वाभिधानकाले । २ विधौ कल्पितत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वय घटते चेत्कल्पित किमन्यापोह. ? स एव शब्दार्थस्तत्रापि वाक्यार्थत्वघटनात् । ३ अत्राह सौगतमतमवलम्ब्य भावनावादी विधिवादिन प्रति ।—हे विधिवादिन् कल्पनारूपत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वयं विधौ न विरुध्यते इति त्वया प्रतिपाद्यते चेत् तर्हि कल्पनारूपत्वादगोव्यावृत्तिर्गौः अघटव्यावृत्तिर्घट इत्यादिलक्षण. सौगताभ्युपगतशब्दार्थं अन्यापोह. अभावात्मकस्त्वया विधिवादिना कथं निराक्रियते ? प्रमाणान्यापोहयो कल्पितत्वाविशेषात् । ४ शून्य । ५ सौगतैः सविन्मात्रपक्षग्राहकैः । ६ विधिवादी । ७ तदा शब्दो वस्तुस्वरूपमभिदधाति अन्यापोहस्वरूपं नाभिदधाति चेदन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न स्यात् स्वपररूपयोः सङ्करो भवेदित्यर्थः । ८ विधौ । ९ विधेयत्वात्प्राप्यत्वात् ।

---

1 सर्वत्र निवर्तकत्वात् ।

भिधायित्वे[1]ऽन्य[2]परिहारेण क्वचित्प्रवृत्तिनिबन्धनतापा[1]याद्विधिरपि शब्दार्थो मा भूत् । [3]परमपुरुषस्यैव [4]विधेयत्वात्तदन्य[5]स्यासम्भवान्नान्यपरिहारेण [6]प्रवृत्तिरिति चेत् कथमिदानीं[7] "दृष्टव्यो[2]रेऽयमात्मे" [8]त्यादिवाक्यान्नैरात्म्यादि[9]परिहारेणात्मनि [10]प्रवृत्तिर्नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रसङ्गात् । [11]नैरात्म्यादेरनाद्यविद्योपकल्पितत्वान्न [12]तद्दर्शनादौ प्रवृत्तिरिति चेत्[13] कथमन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न भवेत् ? [14]परमब्रह्मणो [15]विधिरेवान्य[16]स्यानाद्य-

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तब तो वस्तु स्वरूप का कथन करने वाले भी शब्द अन्यापोहका कथन करने वाले नहीं है ऐसा मानने पर तो आपके यहां ब्रह्म को छोडकर अन्य कोई है हो नहीं अतः अन्य का परिहार करके वे शब्द कहीं पर भी प्रवृत्ति के निमित्त नही हो सकेंगे इसलिये विधि भी शब्द का अर्थ मत होवे। अर्थात् विधि तो प्रवर्तनस्वभाव वाली ही है तो फिर अन्य का निषेध करके एक ब्रह्म के विषय में ही नियम रूप से वह प्रवृत्ति कैसे करावेगी ?

विधिवादी—परम पुरुष हो विधेय है क्योंकि ब्रह्म को छोड़कर कोई भिन्न वस्तु है हो नहीं इसलिये अन्य का परिहार करने से विधि में प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो अन्य का परिहार करके प्रवृत्ति के न होने रूप समय में "दृष्टव्योऽरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" अरे मैत्रेय ! यह आत्मा देखने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, अनुमनन करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है, इत्यादि वाक्यों से नैरात्म्य दर्शनादिकों का परिहार करके आत्मा में प्रवृत्ति कसे हो सकेगी ? अन्यथा—यदि नैरात्म्यादि दर्शन का परिहार नहीं मानोगे तो उनका भी प्रसंग आ जावेगा अर्थात् नैरात्म्यादि सिद्धान्त भी मानने पड़ेंगे।

भावार्थ -यहां यदि आप वेदांती के वचन केवल विधि वाक्य को ही कहते है, निषेधवाक्य को नहीं कहते हैं तो फिर आप क्षणिकवाद, शून्यवाद आदि का परिहार भी कैसे करेंगे ? पुन. आपके ब्रह्मवाद में शून्यवाद आदि आ घुसेंगे, आप किसी को भी नही रोक सकेंगे।

वेदांती—नैरात्म्यादि दर्शन तो अनादिकालीन अविद्या मे हो उपकल्पित हैं अतः उन दर्शनों में

१ विधेयत्वात्प्राप्यत्वात । २ अन्यद् ब्रह्मव्यतिरिक्त वस्तु नास्ति विधिवादिनो मते । ३ विधिवादी । ४ प्राप्यत्वात् । ५ परमपुरुषात्किञ्चिद्भिन्नं वस्तु नास्ति यतः । ६ विधौ । ७ अन्यपरिहारेण प्रवृत्त्यभावप्रतिपादनकाले । ८ दृष्टव्योयमात्मा श्रोतव्योनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति श्रुतिः । ९ सौगत आह ।—हे विधिवादिन् अन्यथा नैरात्म्यादि परिहाराभावे पुरुषे शब्दस्य प्रवृत्तिर्घटते चेत्तदा नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रवृत्तिर्घटताम् । १० अन्यथा । ११ विधिवाद्याहानात्मवादिकम् ।—अनाद्यज्ञानोपरूढं यतस्तस्मान्नैरात्म्यादिदर्शनश्रवणादौ प्रवृत्तिर्न घटते । १२ नैरात्म्य । १३ भाट्टः । १४ विधिवादी (परब्रह्मणः) । १५ विधानम् । १६ अन्यापोहस्य ।

(1) अनियामकत्वाद् विधेः प्रवर्तनस्वभावत्वादन्यपरिहारेण क्वचित् प्रवृत्ति. कथं स्यात् ।

(2) दृष्टव्यः श्रुतवाक्येभ्यो मतव्यश्चोपपत्तित. । मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः । इति स्मृति वाक्यं ।

विद्योपकल्पितस्य नैरात्म्यादेः परिहार[1] इति चेत् [2]कथमेवमन्यापोह[3]वादिनोपि परापोहनमेव स्वरूपविधिर्न [4]भवेत् ? [5]तस्यान्यापोहवादविरोधा[1]न्नैवमिति चेत् [6]विधिवादिनोपि [7]तथा विधिवादविरोधादन्यापोहाभ्युपगमो मा भूत् । [8]परमार्थतोन्यापोहो विधिवादिना नैवाभ्युपगम्यते तस्य प्रतिभास[9]समानाधिकरणत्वेन[2] प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वसिद्धेः परमपुरुषत्वात्, प्रतिभासस्वरूपवत् । तस्याप्रतिभासमानत्वे[3] व्यवस्थानुपपत्तेरन्यथातिप्रसङ्गात्[10]।

शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

भाट्ट—यदि ऐसा मानते हो तो पुनः अन्य का परिहार करके शब्द की प्रवृत्ति कैसे नहीं होगी ?

वेदांती—परब्रह्म की विधि ही तो अनादि अविद्या से उपकल्पित—माने गये नैरात्म्यादि अन्यदर्शनों का परिहार है ।

भाट्ट—तब तो अन्यापोह वादी बौद्ध-शून्यवादियों के द्वारा पर का अपोहन—अभाव करना भी स्वरूप की विधि क्यों न हो जावेगा अर्थात् हो ही जावेगा । मतलब यह है कि शून्यवादियों के अन्यापोह से भी स्वरूप का ही विधान होता है ऐसा मान लेना चाहिये ।

विधिवादी—उस विधि का अन्यापोहवाद से विरोध है इसलिये वह अन्यापोह स्वरूप का विधान करने वाला नहीं हो सकता है । अर्थात् बौद्धों के यहां सभी वस्तुएं अपने स्वभाव से शून्य ही हैं क्योंकि स्वरूप की विधि—अस्तित्व को उन्होंने स्वीकार ही नहीं किया है और अन्य के अभाव से वस्तु के स्वरूप का विधान तो होता ही नहीं है ।

भाट्ट—तब तो आप विधिवादियों के यहां भी विधि-कथन के प्रकार से अन्यापोह में विधिवाद का विरोध होने से अन्यापोह की स्वीकृति नहीं होनी चाहिये ।

विधिवादी—हम वेदांतियों ने तो परमार्थ से अन्यापोह को स्वीकार ही नहीं किया है वह अन्यापोह तो प्रतिभास-समानाधिकरण रूप से प्रतिभास के अन्तः प्रविष्ट सिद्ध है क्योंकि वह परम पुरुष रूप है जैसे कि प्रतिभास का स्वरूप । यदि उस अन्यापोह को प्रतिभासमान नहीं मानोगे तब तो व्यवस्था ही नहीं हो

१ निषेधः । २ सौगतः । भाट्ट । ३ शून्यवादिन । ४ अपि तु भवेदेव (विधिवादे दूषणं दत्तम्) । ५ विधिवाद्याह ।—तस्य विधेरन्यापोहवादेन विरोधाद्धे सौगत ! यदुक्तं त्वया अन्यापोहनमेव विधिस्तदेव न स्यात । ६ सौगत । भाट्टः । ७ अन्यापोहस्य विधिकथनप्रकारेण । ८ विधिवादी । ९ विधि प्रतिभासतेऽपोह प्रतिभासते इत्यन्यापोहस्य प्रतिभाससमानाधिकरण्यम् । विधिवादिनोऽनुमानम् ।—अन्यापोह पक्ष प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेन कृत्वा प्रतिभासान्तःप्रविष्टो भवतीति साध्यो धर्मः—प्रतिभासमानत्वात । यत्प्रतिभासमान तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम् । प्रतिभासते चायं तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्ट । विधिवाद्याह ।—अन्यापोह प्रतिभासते न प्रतिभासते वा ? प्रतिभासते चेत्तदा विधौ प्रविष्ट. । न प्रतिभासते चेत्तदा तस्य व्यवस्थितिरपि नास्ति । १० अप्रतिभासमानत्वेप्यन्यापोहस्य स्थितिरुपपद्यते चेत्तदातिप्रसङ्गः स्यात् । असत. स्थितिश्चेत्तदा खरविषाणादेरपि सास्तु ।

(1) सर्वेषां वस्तूनां निःस्वभावत्वं बौद्धानां मते यतः । स्वरूपविधेरनङ्गीकारादन्यस्यापोहनं स्वरूपविधिरिति नास्ति यतः । (2) भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां एकस्मिन्नधिकरणे प्रवृत्तिः समानाधिकरणत्वं । (3) असावन्यापोह इति ।

[१]शब्दज्ञानेस्यानु[२]मानज्ञाने[1] चान्यापोहस्य प्रतिभासनेपि तत्समानाधि[३]करणतया प्रतिभासनान्न [४]ततोन्यत्वम् । तस्य[2] च शब्दानुमानज्ञानस्य प्रतिभासमात्रात्मकत्वान्ना[५]र्थान्तरत्वमिति चेत् कथमिदा[६]नीमुपनिषद्वाक्यं[७] [८]प्रतिभासमात्रादन्यल्लिङ्गं[९] वा[3] यतस्तत्प्रतिपत्तिः [१०]प्रेक्षावतः स्यात् । तस्य[११] परमब्रह्म[१२]विवर्त्तत्वाद्विवर्त्तस्य च [१३]विवर्त्तिनोऽभेदेन[4]

सकेगी, अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा ।

भावार्थ—विधि प्रतिभासित होती है, अन्यापोह प्रतिभासित होता है। इस प्रकार से अन्यापोह प्रतिभास समानाधिकरण है, विधिवादियों के अनुमान में अन्यापोह पक्ष है, प्रतिभास समानाधिकरण रूप से प्रतिभास के अतः प्रविष्ट है यह साध्य है, प्रतिभासमानत्वात् यह हेतु है । वे विधिवादी प्रश्न करते है कि अन्यापोह प्रतिभासित होता है या नहीं ? यदि होता है तो विधि में ही प्रविष्ट है, यदि नही होता है तो उसकी स्थिति ही नहीं हो सकती है । एवं प्रतिभासमान न होने पर भी यह अन्यापोह है इस प्रकार से उसकी स्थिति मानों तो असत् खर विषाणादि की भी स्थिति माननी पड़ेगी ।

शब्दज्ञान और अनुमानज्ञान में इस अन्यापोह का प्रतिभास होने पर भी तत्समानाधिकरण-अभेद रूप से प्रतिभासित होने से वह अन्यापोह प्रतिभास से भिन्न नही है । एव वह शब्दज्ञान और अनुमानज्ञान भी प्रतिभासमात्रात्मक स्वरूप वाला होने से प्रतिभास से भिन्न नही है ।

भाट्ट—प्रतिभास का समानाधिकरण होने से अन्यापोहादि प्रतिभास से भिन्न नही है ऐसा कहने पर तो "सर्व वै खल्विद ब्रह्म" इत्यादि उपनिषद्वाक्य अथवा "प्रतिभासमानत्वात्" हेतु प्रतिभासमात्र—परमब्रह्म से भिन्न कैसे हो सकेंगे कि जिससे उनका ज्ञान विद्वानो को हो सके अर्थात् ऐसी मान्यता में तो विद्वानो को उपनिषद्वाक्य अथवा हेतु का ज्ञान भी नही हो सकेगा ।

विधिवादी—वह हेतु परमब्रह्म की पर्याय है तथा पर्याये अपने पर्यायी परमब्रह्म से अभिन्न मानी गई है, अतः उनका ज्ञान होता है। अथवा पाठातर ऐसा भी है कि ये हेतु आदि परब्रह्म से भेद रूप कल्पित किये जाते है, वास्तव मे उस ब्रह्म से उनमे भेद नही है । अतः भेद रूप से माने जाने से ही उनका ज्ञान होता रहता है ।

१ अन्यापोह इति । २ अन्यापोहोस्ति–अमुक्तत्वात् । ३ अभेदनया । ४ प्रतिभासादन्यापोहस्यान्यत्व न । ५ प्रतिभासात् । विधे. । ६ प्रतिभाससामानाधिकरण्यात्प्रतिभासादन्यापोहादीनामभेदप्रतिपादनकाले । ७ सर्व वै खल्विद ब्रह्मे त्यादि । ८ ब्रह्मणः । ९ प्रतिभासमानत्वम् । १० परमब्रह्मपरिज्ञान विचारकस्य कुतः स्यात् ? न कुतोपि । ११ विधिवादी प्राह ।–लिङ्गस्य । १२ "पूर्वाकारापरित्यागादपर प्रतिभाति चेत् । विवर्त्तः स परिज्ञेयो दर्पणे प्रतिबिम्बवत्" ("पूर्वाकारपरित्यागादिति कपाठ) । १३ ब्रह्मण ।

(1) शब्दज्ञानेऽनुमानज्ञाने इ. पा० । (2) शब्दज्ञानानुमानज्ञानसमानाधिकरणत्वे न द्वैतप्रसग इति शका परिहरति । (3) कथ । (4) भेदेन कल्पनमेव न तु परमार्थता भेद. । भेदेन इति पा० ।

परिकल्पनात्ततस्तत्प्रतिपत्तिरिति चेत् [1]कथं तत्परिकल्पिताद्वाक्याल्लिङ्गाद्वा परमार्थ-पथावतारिणः परमब्रह्मणः प्रतिपत्तिः—परिकल्पिताद्धूमादेः पारमार्थिकपावकादि-प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । [2]पारमार्थिकमेवोपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च परमब्रह्मत्वेनेति[1] चेत् तर्हि[3] यथा तत्पारमार्थिकं [4]तथा साध्यसमं[2] कथं पुरुषाद्वैतं व्यवस्थापयेत्[3] ? यथा[5] च प्रतिपाद्य-[6]जनस्य प्रसिद्धं न तथा[7] पारमार्थिकं[8]—द्वैत[9]प्रसङ्गात् । इति कुतः परमार्थसिद्धिः । [10]तत-स्तामभ्युपगच्छता पारमार्थिकमुपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च[11] प्रतिपत्तव्यम् । [12]तच्चाचित्स्वभावं,

---

भाट्ट—परिकल्पित उपनिषद्‌वाक्य से अथवा कल्पित हेतु से, परमार्थ-पथावतारी—वास्तविक परम-ब्रह्म का ज्ञान कैसे हो सकेगा ? अन्यथा परिकल्पित धूमादि से वास्तविक अग्नि आदि का भी ज्ञान होने लगेगा ।

विधिवादी—उपनिषद्‌वाक्य और हेतु ये दोनों पारमार्थिक ही है, क्योंकि वे परमब्रह्म रूप ही है ।

भाट्ट—तब तो जैसे वे पारमार्थिक है वैसे ही कल्पितरूप से साध्यसम-असिद्ध पुरुषाद्वैत को कैसे व्यवस्थापित कर सकेंगे ? क्योंकि जिस प्रकार से कल्पित रूप से प्रतिपाद्य जनो को प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार से वे पारमार्थिक नहीं है अन्यथा द्वैत का प्रसग आ जावेगा इस प्रकार से परमार्थ की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? इसलिये उपनिषद् वाक्य और हेतु से परमार्थ सिद्धि को स्वीकार करते हुये आप विधिवादी को उपनिषद्‌वाक्य और हेतु को भी पारमार्थिक रूप ही स्वीकार करना चाहिये ।

वे उपनिषद्‌वाक्य एवं हेतु अचित्स्वभाव है । यदि आप इन उपनिषद वाक्य और हेतु को चित्स्वभाव मानेंगे तब तो उपर्युक्त अनुमान के अनुसार पर के द्वारा सवेद्य का विरोध हो जाएगा, क्योंकि वे प्रति-पादक—गुरु के चित्स्वभाव है । जैसे कि उस प्रतिपादक के सुखादि का अनुभव स्वय उसी को होता है पर

---

१ भाट्टः । सौगत. । २ विधिवाद्याह । ३ भाट्टः । सौगतो वदति ।—यथा तथैव वाक्य लिङ्गं वा सत्यभूत तथा सत्यभूतपरब्रह्मसमानमनुमान च कर्तृपुरुषाद्वैत कथ व्यवस्थापयेद् ? अपि तु न । ४ कल्पिततत्त्वप्रकारेण । ५ कल्पिततत्त्वप्रकारेण । ६ येन प्रकारेणोपनिषद्वाक्यं लिङ्ग च प्रतिपादकादिजनस्य प्रसिद्ध तेन प्रकारेण प्रसिद्ध पारमार्थिक न पारमार्थिकम् । भवति चेत् तदा द्वैत प्रसज्यते, इति कुत. पारमार्थिकसिद्धि. ? न कुतोपि । उपनिषद्वाक्य-स्येति शेषः । ७ कोर्थः पारमार्थिकमुपनिषद्वाक्य लिङ्ग चेति त्वयोक्त तथा चेत्साध्यसम यथाप्रसिद्ध तथोपनिषद्वाक्य-मप्यसिद्धम् । असिद्धं साध्यमिति वचनात् । विरुद्धयोरधिकरणात् । ८ अन्यथा । ९ पारमार्थिकत्व प्रतिपाद्यस्य प्रसिद्धं किल तर्हि कुतः चित्स्वभावस्य प्रतिपाद्यादीना प्रसिद्धेरभावात्, प्रतिपादकसुखादिवत् । १० तत उपनिषद्वाक्यात्लिङ्गाच्च परमार्थसिद्धिमङ्गीकुर्वता विधिवादिना उपनिषद्वाक्य लिङ्ग च परमार्थभूत ज्ञातव्यम् । ११ च अङ्गीकर्त्तव्यं प्रतिपत्तव्यमिति कपुस्तकपाठः । १२ विकल्पचतुष्टय मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयन्नाह ।

---

(1) ब्रह्मरूपत्वेन । (2) असिद्ध ।

(3) प्रतिपाद्यभेदेन सिद्धमुपनिषद्‌वाक्यमित्याशंकायामाहुः ।

[1]चित्स्वभावत्वे परसंवेद्यत्वविरोधात् प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात्, तत्सुखादिवत् । प्रतिपाद्यचित्स्वभात्वे वा न प्रतिपादकसंवेद्यत्वं प्रतिपाद्यसुखादिवत् । तस्य[2] तदुभयचित्स्वभावत्वे प्राश्निकादिसंवेद्यत्वविरोधस्तदुभयसुखादिवत् । [3]सकलजनचित्स्वभावत्वे [4]प्रतिपादकादिभावानुपपत्तिः—[5]अविशेषात् । प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वाददोष इति चेत्,[6]यैव प्रतिपाद-

को नही होता है अथवा प्रतिपाद्य—शिष्य का चित्स्वभाव स्वीकार करने पर प्रतिपादक के सवेद्य नहीं होंगे, उस प्रतिपाद्य के सुखादि के समान । यदि उन उपनिषद् वाक्य और लिंग को गुरु और शिष्य दोनों का चित्स्वभाव मानोगे तब तो प्राश्निक—प्रश्न करने वाले मनुष्यादिकों के द्वारा संवेदन का विरोध हो जाता है उन दोनो गुरु शिष्यो के सुखादि के समान । अर्थात् गुरु और शिष्य के सुख दुःख का अनुभव गुरु और शिष्य को ही होगा, किन्तु प्रश्न करने वाले एवं सुनने वाले लोगों को गुरु शिष्य के सुख दुःख का अनुभव नही होता है । तात्पर्य यह है कि उपनिषद्वाक्य और हेतु को चित्स्वभाव मानने पर दूसरों के द्वारा ये सवेद्य-ग्राह्य नही हो सकते है । तथा इन दोनों को गुरु का चित्स्वभाव कहने पर गुरु के सुख दुःखादि के समान उनका भी अन्य शिष्यो के द्वारा सवेदन विरुद्ध होता है । अथवा इन दोनों को यदि शिष्य का चित्स्वभाव कहोगे तो शिष्य के सुखादि के समान गुरु के द्वारा उनका संवेदन विरुद्ध हो जावेगा । यदि उन गुरु और शिष्य का ही चित्स्वभाव इन उपनिषद्वाक्य और हेतु को कहोगे तब तो ये प्रश्न करने वालो के ज्ञान के द्वारा ग्राह्य नही हो सकेंगे ।

सभी प्रतिपाद्यजनो का चित्स्वभाव कहने पर तो प्रतिपादक आदि भाव ही नहीं बन सकेंगे, क्योंकि सभी समान है अर्थात् सभी जनो का चित्स्वभाव इन आगमवाक्य और हेतु को मान लेने पर उसका यह गुरु है, यह शिष्य है ये प्रश्न करने वाले लोग है इत्यादि भाव नही बन सकेंगे क्योकि ये दोनों तो सभी के

१ सौगतो वदति हे विधिवादिन् तत् (उपनिषद्वाक्य लिङ्ग च) अचित्स्वभावं चित्स्वभाव वेति प्रश्नविकल्पः । अचित्स्वभाव चेत्तदा परब्रह्मणो द्वैत व्यवस्थापयति । चित्स्वभाव चेत्तदा प्रतिपादकाद्यनुमानद्वारेण दूषयति । प्रतिपादकवाक्यं पक्षः प्रतिपाद्यसवेद्य न भवतीति साध्यो धर्म. प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात् । यत्प्रतिपादकचित्स्वभाव तत्प्रतिपाद्यसवेद्यं न, यथा प्रतिपादकसुखादिकम् । प्रतिपादकचित्स्वभाव चेद तस्मात्प्रतिपाद्यसवेद्यं न भवति । एवमग्रेपि । २ उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य च चित्स्वभावत्वे सति परेषा ग्राह्यत्व विरुध्यते । उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य गुरोश्च चित्स्वभावत्वमस्तीत्युक्ते तथा सति गुरुसुखदुःखादिवत्तस्यापि परेषा प्रतिपाद्यादीना सवेद्यत्व विरुध्यते । तस्य शिष्यस्य चित्स्वभावत्वे सति वा शिष्यसुखादेर्यथा तथा तस्यापि गुरोः सवेद्यत्व विरुध्यते । तस्य गुरुशिष्योभयचित्स्वभावत्वे सति तत्सुखादेर्यथा तथोपनिषद्वाक्यस्यापि प्राश्निकाना सवेद्यत्वं ज्ञानग्राह्यत्व विरुध्यते । ३ प्रतिपाद्यादि । ४ सर्वजनचित्स्वभावत्वे सति तस्यायं गुरुः, अय शिष्यः, अमी प्राश्निका इत्यादिभावो नोपपद्यते सर्वेषा चित्स्वभावत्वेन विशेषाभावात् । ५ या अविद्या गुरोर्गुरुत्वव्यवस्थापिका सैव शिष्यादेः सकाशादभिन्ना सती शिष्यादेरपि गुरुत्व व्यवस्थापयेत् । ६ सकलजनचित्स्वभावस्याविशेषात् ।

कस्याविद्या प्रतिपादकत्वोपकल्पिका सैव प्रतिपाद्यस्य प्राश्निकादेश्चाविशिष्टा प्रतिपादकत्वमुपकल्पयेत् । प्रतिपाद्यस्य चाविद्या प्रतिपाद्यत्वोपकल्पनपरा प्रतिपादकादेरविशिष्टा प्रतिपाद्यत्वं परिकल्पयेत् प्रतिपादकादीनामभेदात्तदविद्यानामभेदप्रसङ्गात्[१] । भेदे[२] वा प्रतिपाद-

---

चित्स्वभाव हैं पुनः भेद कैसे होगा ?

भावार्थ—प्रश्न यह होता है कि आप विधिवादी "सर्वं वै खल्विद ब्रह्म" इस उपनिषद्‌वाक्य रूप आगम को एवं "प्रतिभासमानत्वात्" इस हेतु को अचेतन स्वभाव मानते हो या चेतन स्वभाव ? यदि कहो कि इन्हें हम अचेतन स्वभाव कहते हैं तब तो चेतन स्वरूप परमब्रह्म से ये भिन्न ही रहेगे पुन आप अद्वैतवादी के यहां द्वैत का प्रसग आ जावेगा और यदि आप इन्हे चेतन स्वभाव कहे तो चार विकल्प उठाये जा सकते हैं कि ये आगम वाक्य और हेतु गुरु के चेतन स्वभाव है या शिष्य के, प्राश्निकजनो के या सभी जनों के चेतन के स्वभाव है ? गुरु के कहने पर तो शिष्य को उनका अनुभव नही होगा अर्थात् गुरु के चेतनस्वभाव रूप आगम और हेतु गुरु के ही सवेदन योग्य है शिष्य के सवेदन करने योग्य नहीं है क्योंकि वे गुरु के ही चैतन्य स्वभाव है । जो जो गुरु का स्वभाव होता है वह वह शिष्य को सवेद्य नहीं होता है जैसे कि गुरु के सुख-दुःखादि का अनुभव गुरु को ही होता है शिष्यो को नही हो सकता है । इसी प्रकार से यदि दूसरे पक्ष में आप इन आगम और हेतु को शिष्य का चैतन्य स्वभाव कहो तो भी वे गुरु के द्वारा अनुभव करने योग्य नहीं रहेंगे एवं तीसरे विकल्पानुसार यदि इन्हे प्रश्न करने वालो का चेतन स्वभाव कहो तो गुरु और शिष्य दोनो को ही इनका ज्ञान नहीं हो सकेगा । तथा इन्हे सभी का चेतन स्वभाव माना जावेगा तब तो ये गुरु है, ये शिष्य है, ये प्राश्निक लोग है एव ये सुनने वाले है इत्यादि रूप से कुछ भी भेदभाव नही बन सकेगा और यदि अविद्या से ही आप यह सब भेद स्वीकार करोगे तो भी आपके यहाँ अविद्या भी सर्वथा निःस्वभाव–स्वभाव से शून्य ही है उसके द्वारा इन कल्पित भेद भावों की व्यवस्था नहीं की जा सकेगी जैसे कि आकाश के गुलाब पुष्पो से माला बना कर वध्या के पुत्र को पहनाना शक्य नहीं है तद्वत् आपके द्वारा कल्पित अविद्या से असत् रूप गुरु शिष्यादि भेद करना सर्वथा असभव ही है । इस अविद्या के विषय में आगे स्वयं ही स्पष्टीकरण किया जा रहा है ।

विधिवादी—प्रतिपादक, प्रतिपाद्य आदि भाव तो अविद्या से ही उपकल्पित है अत. कोई दोष नही आता है ।

भाट्ट—तब तो जो अविद्या प्रतिपादक—गुरु में प्रतिपादकपने को कल्पित कराती है वही अविद्या प्रतिपाद्य—शिष्य और प्राश्निकजनो में समान रूप से है अत. उन्हे भी प्रतिपादक—गुरु बना देने मे क्या बाधा है ? अर्थात् जो अविद्या गुरु में गुरुत्व की व्यवस्था करती है वही अविद्या शिष्यादिकों से अभिन्न

---

१ प्रतिपादकादीना सङ्करप्रसङ्ग । प्रसङ्ग इति कपाठः । २ अविद्याभेदकृतः प्रतिपादकादीना भेद इति ।

कादीनां भेदसिद्धिः —[1] विरुद्धधर्माध्यासात् । अनाद्यऽविद्योपकल्पित एव तदविद्यानां भेदो न पारमार्थिक इति चेत्, परमार्थतस्तर्ह्यभिन्नास्तदविद्या इति स एव प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्गः[2] । यदि पुनरविद्यापि[3] प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वादेव, न भेदाभेद-विकल्पसहा [4]नीरूपत्वादिति मतं तदा परमार्थपथावतारिणः प्रतिपादकादय इति बला-दायातम्—[5]तदविद्यानामविद्योपकल्पितत्वे विद्यात्वविधेरवश्यम्भावित्वात् । तथा च प्रति-

होती हुई शिष्यादिको को भी गुरु रूप से व्यवस्थापित कर सकती है । शिष्य की अविद्या शिष्य में शिष्य की उपकल्पना करने मे तत्पर हुई प्रतिपादक गुरु आदि में समान रूप से विद्यमान है पुन. उन गुरुओं में शिष्य की कल्पना भी करा देगी । एवं प्रतिपादको मे अभेद होने से उस अविद्या में भी अभेद का प्रसग आ जावेगा पुनः सभी प्रतिपादकादिको मे सकर का प्रसग आ जावेगा अर्थात् गुरु जी शिष्य बन जावेंगे एव शिष्य गुरु जी बन बैठेंगे । अथवा अविद्या के भेद से उन प्रतिपादको मे भेद की सिद्धि माननी पड़ेगी तब तो अभेद को सि.द्ध करने मे प्रवृत्त हुये आप भेद को सिद्ध कर देगे तो विरुद्धधर्माध्यास हो जावेगा ।

विधिवादी—उन अविद्याओ का जो भेद है वह भी अनादि अविद्या से उपकल्पित ही हैं पारमार्थिक नही है ।

भाट्ट—तब तो परमार्थ से वह अविद्या अभिन्न ही रही । अतः प्रतिपादक आदिको में वही संकर दोष आ जावेगा अर्थात् गुरु और शिष्यादि का भेद न रहने से गुरु ही शिष्य और शिष्य ही गुरु बन बैठेंगे ।

विधिवादी—प्रतिपादकादिको की अविद्या भी अविद्या से ही उपकल्पित हैं अर्थात् प्रतिपादक आदि केवल अविद्या से हो उपकल्पित है ऐसा ही नही है किन्तु अविद्या भी अविद्या से ही उपकल्पित है । अतः वह भेद और अभेद के विकल्प को सहन हो नहीं कर सकती है क्योंकि वह नीरूप–निःस्वभाव–तुच्छाभाव रूप हैं अर्थात् अविद्यमान रूप हैं ।

[यहा पर भाट्ट जैन मत का आश्रय लेकर विधिवाद का खडन करता है]

भाट्ट—यदि आप ऐसा मानते हैं तब तो प्रतिपादकादि—गुरु, शिष्य आदि परमार्थ पथावतारी ही है यह बात बलपूर्वक आ गई क्योंकि उन प्रतिपादकादिकों की अविद्या को अनादि अविद्या से कल्पित मानने पर विद्या की विधि हो अवश्यंभावी है और इस प्रकार से प्रतिपादकादिकों से उपनिषद्वाक्य भिन्न हैं क्योंकि युगपत् उन गुरु शिष्यादिकों के सवेदन करने योग्य सवेद्य की अन्यथानुपपत्ति है

१ अभेदसाधने प्रवृत्तत्वे भेद साधित इति विरुद्धधर्माध्यास (अध्यास साहित्यम्) । २ य एव प्रतिपादक स एव प्रतिपाद्य इति । ३ न केवल प्रतिपादकादय एवाविद्योपकल्पिता । ४ तस्या अविद्याया नीरूपत्वाद् अविद्यमानत्वा-दित्यर्थः ५ प्रतिपादकाद्यविद्यानामनाद्यविद्योपकल्पितत्वे प्रतिपादकादीना विद्यासद्भावोऽवश्यमेव सम्भवति ।

पादिकादिभ्यो भिन्नमुपनिषद्वाक्यं 'सकृत्त[1]त्संवेद्यत्वान्यथानुपपत्तेः[1] इत्यचित्स्वभावं,[3] सिद्ध[2] बहिर्वस्तु तद्वद्घटादिवस्तुसिद्धिरिति न प्रतिभासाद्वैतव्यवस्था प्रतिभास्य[4]स्यापि सुप्रसिद्धत्वात् । '[5]प्रतिभास[6]समानाधिकरणता पुनः प्रतिभास्यस्य[7] कथञ्चिद्भेदेपि[8] न विरुध्यते ।

इसलिये वह अचित्स्वभाव रूप बहिर्वस्तु सिद्ध है अर्थात् यदि उपनिषद्वाक्य प्रतिपादकादिकों से भिन्न नहीं होवे तो उन सभी को युगपत् सवेदन नहीं हो सकेगा किन्तु एक साथ सबको उसका सवेदन देखा जाता है अतः उपनिषद्वाक्य अचेतन स्वभाव है और बाह्यवस्तु रूप है यह बात सिद्ध हो गई ।

उसी प्रकार से घटादि वस्तुएं भी बाह्यवस्तु हैं इसलिए प्रतिभासाद्वैत—ब्रह्माद्वैत की व्यवस्था नहीं हो सकती क्योंकि प्रतिभासित होने योग्य—प्रतिभास्य बाह्य पदार्थ सुप्रसिद्ध है । अर्थात् उपनिषद्वाक्य और घटादि वस्तुरूप प्रतिभास्य प्रमेय भी जगत् में प्रसिद्ध है न कि प्रतिभास मात्र एक पुरुष । प्रतिभाससमानाधिकरणता भी प्रतिभास्य से कथंचित् भेद होने पर विरुद्ध नहीं है अर्थात् घट प्रतिभासित होता है, पट प्रतिभासित होता है यह समानाधिकरणता है । यदि कोई कहे कि घटादि पदार्थ ज्ञान से अर्थांतरभूत है पुन घटादिपदार्थों की ज्ञान से समानाधिकरणता कैसे घटेगी ? अर्थात् घट और ज्ञान में विषय-विषयी-भाव है घट तो विषय है और ज्ञान विषयी है तब घट प्रतिभासित होता है ऐसा कैसे कह सकेंगे ? इसका उत्तर तो यही है कि प्रतिभास की समानता है । ज्ञान से ज्ञेय पदार्थ उपचार से अभिन्न है किन्तु परमार्थ से भिन्न हैं । इस प्रकार से प्रतिभास से प्रतिभासित होने योग्य-अन्यापोह लक्षण में कथचित् भेद होने पर भी प्रतिभास की समानाधिकरणता विरुद्ध नहीं है । प्रतिभास है समानाधिकरण जिसका उसे प्रतिभास समानाधिकरण कहते हैं ।

घट प्रतिभासित होता है । मतलब घट प्रतिभास का विषय होता है ऐसा कहने से विषय और विषयी मे उपचार से अभेद माना है । अर्थात् "घट प्रतिभासित होता है" यह उपचरित समानाधिकरण है, सवेदन—ज्ञान प्रतिभासित होता है यह मुख्य समानाधिकरण है, सवेदन का प्रतिभासन यह उपचरित वैयधिकरण्य है और पट का प्रतिभास यह मुख्य वैयधिकरण्य है । घट और प्रतिभास मे विषय-विषयी

१ उपनिषद्वाक्य प्रतिपादकादिभ्यो भिन्न न भवतीति चेत्तदा प्रतिपादकादीना युगपदेव सर्वेषा सवेद्यत्व न भवेत् । २ तेषा प्रतिपादकादीनाम् । ३ उपनिषद्वाक्यमचित्स्वभाव सद्बहिर्वस्तु सिद्ध यथा तद्वत् (उपनिषद्वाक्यवत्) घटादिवस्तुनोपि बहिर्वस्तुत्व सिध्यति । ४ उपनिषद्वाक्यं घटादि वस्तुरूपं प्रतिभास्यं प्रमेयमपि सुप्रसिद्धम् । (प्रतिभासस्यापीति खपाठ) । ५ घट प्रतिभासते, ज्ञानं प्रतिभासते इति प्रतिभाससमानाधिकरणता । ६ यदि घटादयो ज्ञानादर्थान्तरभूतास्तदा कथ ज्ञानसामानाधिकरण्य घटादेर्घटेतेत्युक्ते आह प्रतिभाससमानेति । ७ प्रतिभासस्येति खपाठ. । ८ ज्ञानाज्ज्ञेयमुपचारादभिन्न परमार्थतो भिन्नमिति प्रतिभासात्प्रतिभास्यस्यान्यापोहलक्षणस्य कथञ्चिद्भेदेपि प्रतिभाससमानाधिकरणता न विरुध्यते । प्रतिभास समानमधिकरण यस्य स समानाधिकरणस्तस्य भाव. प्रतिभाससमानाधिकरणता ।

(1) प्रत्यक्षरूपतया । (2) तत्सिद्ध । इतिपा. ।

[1]घटः प्रतिभासत इति प्रतिभासविषयो भवतीत्युच्यते[1] विषयविषयिणोर्[2]भेदोपचारात्[3], प्रस्थप्रमितं धान्यं प्रस्थ इति यथा। ततः सामानाधिकरण्यादुपचरितान्नानुपच[4]रितैकत्वसिद्धिः। मुख्य सामानाधिकरण्यं क्व सिद्धमिति चेत्, संवेदनं प्रतिभासते भाति चकास्तीत्यादि व्यवहारे मुख्यम्। ततो [5]वैयधिकरण्यव्यवहारस्तु गौणस्तत्र[6] संवेदनस्य प्रतिभासनमिति पटस्य प्रतिभासनमित्यत्र तस्य[7] मुख्यत्वप्रसिद्धेः। कथञ्चिद्भेदमन्तरेण सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च[2]। तत[8] एव [3]कथञ्चिद्भेदसिद्धिः। [9]शुक्लः पट इत्यत्र सर्वथा शुक्लपटयोरैक्ये हि न समानाधिकरणता[4] पटः[5] पट इति यथा। नापि सर्वथा भेदे हिमवन्मकरा-

भाव है घट प्रतिभासित होता है इसमें अभेदोपचार है जैसे प्रस्थ प्रमाण धान्य को प्रस्थ कह देते हैं इसलिये उपचरित समानाधिकरण से अनुपचरित—वास्तविक एकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।

शंका—मुख्य समानाधिकरण कहां पर सिद्ध है ?

समाधान—संवेदन प्रतिभासित होता है "संवेदनं प्रतिभासते भाति चकास्ति" इत्यादि व्यवहार में मुख्य है। इसलिए वैयधिकरण व्यवहार गौण है मुख्य समानाधिकरण में "सवेदनस्य प्रतिभासनमिति पटस्य प्रतिभासनमिति" सवेदन का प्रतिभासन, पट का प्रतिभासन इस प्रकार से यहाँ प्रतिभासन में वैयधिकरण्य व्यवहार मुख्य है। कथंचित् भेद को माने बिना समानाधिकरण बन नहीं सकता इसलिये उस समानाधिकरण से ही कथंचित् भेद की सिद्धि होती है। अर्थात् प्रतिभासित होने योग्य पदार्थ और प्रतिभास रूप ज्ञान के प्रकार से भेद सिद्ध ही है। "शुक्लः पटः" इसमें यदि सर्वथा शुक्ल और पट में ऐक्य मानो तो समानाधिकरण नहीं बनेगा जैसे पट पट में समानाधिकरण नहीं है। अर्थात् "पटः पटः" इस प्रकार से दो पट शब्द है, वे दोनों एक अर्थ के वाचक है या अनेक अर्थ के वाचक है? यदि एक अर्थ के वाचक है तो भिन्न प्रवृत्ति में निमित्त नहीं हो सकेंगे और यदि भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं तो एक

१ घटः प्रतिभासत इत्युपचरित सामानाधिकरण्य, सवेदन प्रतिभासते इति मुख्य सामानाधिकरण्य, सवेदनस्य प्रतिभासनमिति उपचरित वैयधिकरण्य, पटस्य प्रतिभासनमिति मुख्य वैयधिकरण्यम्। २ यदि घटप्रतिभासयोर्विषयविषयिभावस्तदा कथं घटः प्रतिभासते इत्याशङ्क्याह। "मुख्यबाधाया" सति हि प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्त्तते इतिन्यायानुसाराद् घटः प्रतिभासत इत्यत्राभेद उपचर्यते तत्र घटस्याप्रतिभासत्वं मुख्यबाधाप्रतिभासत्वं निमित्तं तद्व्यवहारः प्रयोजनमिति। ३ घटः प्रतिभासत इत्यत्र घटे ज्ञानस्योपचारो विषयिभावो निमित्तम्। ४ यत एव तत उपचारभूतादन्यापोहस्य प्रतिभाससामानाधिकरण्यान्न परमार्थभूतैकत्वसिद्धिः। ५ भिन्नाधिकरण्यव्यवहारः। ६ मुख्ये सामानाधिकरण्ये। ७ वैयधिकरण्यव्यवहारस्य। ८ सामानाधिकरण्यादेव। ९ सर्वथा भेदे वा किं दूषणमित्युक्ते आह।

(1) यदि घटप्रतिभासयोर्विषयविषयिभावस्तदा कथ घटः प्रतिभासते इत्याशक्याह। (2) सामानाधिकरण्यस्यानुपपत्तेश्च। (3) प्रतिभास्यप्रतिभासकप्रकारेण (4) भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिनिमित्तत्वं। (5) एकस्मिन्। पटशब्दद्वयस्यैकार्थवाचकत्वमनेकार्थवाचकत्व वा इति विकल्प्य दूषणांतरयोरेकार्थवाचकत्वे भिन्नप्रवृत्तिनिमितत्वाघटनात्। भिन्नार्थवाचकत्वे एकार्थवृत्तित्वाघटनात्।

करवत्। [1]तथान्यापोहस्य[2] प्रतिभासमानस्य प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेपि प्रतिभासाद्भेदव्यवस्थितेस्तद्विषयः शब्दः कथं विधिविषय एव [3]समवतिष्ठते। [4]तथाभ्युपगमे च कथमन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवर्त्तकः शब्दो यतो विधिविषयः स्यादिति सूक्तम्–विधेः प्रमाणत्वे तस्यैव प्रमेयत्वकल्पनायामन्यापोहानु[5]प्रवेशो[6]न्यथान्यत्प्रमेयं वाच्यमिति।

[विधिः प्रमेयादिस्वरूपाभ्युपगमेऽपि दोषा सभवन्तीत्याह]

प्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनायामपि प्रमाणमन्यद्वाच्यमिति तस्यैवोभय[7]स्वभावत्व-

अर्थ की वृत्ति नहीं बन सकेगी। तथैव सर्वथा भेद में भी हिमवान् पर्वत और समुद्र के समान समानाधिकरण नहीं है उसी प्रकार से अन्यापोह प्रतिभासमान का प्रतिभास समानाधिकरण होने पर भी प्रतिभास से वह अन्यापोह भिन्न ही सिद्ध होता है पुनः तद्विषयक शब्द विधि को ही विषय करता है यह बात कैसे सिद्ध हो सकेगी और ऐसा स्वीकार कर लेने पर तो शब्द कहीं पर भी अन्य का परिहार करके कैसे प्रवृत्ति करेगा कि जिससे वह विधि को ही विषय करने वाला हो सके? अर्थात् अन्यापोह विषयक शब्द विधि–विषयक होता है ऐसा स्वीकार करने पर तो नैरात्म्यादि-शून्यवादी जनों का परिहार करके परब्रह्म में अथवा अविवक्षित वस्तु का परिहार करके किसी विवक्षित वस्तु में शब्द प्रवृत्ति कैसे कर सकेगा? जिससे कि वह शब्द विधि को विषय करने वाला ही होवे, अर्थात् नहीं होगा। अतएव शब्द परार्थ—अन्य के अर्थको छोड़कर स्व अर्थ में प्रवृत्ति करता हुआ भावाभावात्मक है यही स्याद्वाद प्रक्रिया है। इसलिये यह बात बिलकुल ठीक कही है कि—विधि को प्रमाण रूप स्वीकार करके पुनः उसी में ही प्रमेय की कल्पना भी कर लेने पर अन्यापोहवाद में अनुप्रवेश हो जाता है। अन्यथा आपको "अन्य कोई प्रमेय है" ऐसा कहना चाहिये।

[वेदवाक्य का अर्थ विधि—परमब्रह्म रूप है, ऐसी मान्यता में भाट्ट ने प्रश्न उठाये थे कि आपका यह ब्रह्माद्वैत वाद प्रमाण रूप है या प्रमेय रूप इत्यादि? उसमें से विधि को प्रमाण रूप मानने में उस भाट्ट ने यहां तक उस विधिवादी को दूषण दिया है अब आगे उस विधि को प्रमेय रूप मानने पर दूषण दिखाते हैं।]

(२) द्वितीय पक्ष में विधि 'प्रमेय रूप है" ऐसी कल्पना के करने पर भी किसी भिन्न को प्रमाण

१ षट्प्रकारेण। २ समानाधिकरणता इति सम्बन्धः। ३ कथञ्चिद्भेदे सामानाधिकरण्यव्यवस्थापनद्वारेण प्रतिभासमानोन्यापोहः समानाधिकरणत्वे सत्यपि प्रतिभासाद्भिन्नो व्यवतिष्ठते, यतस्तस्मादन्यापोहविषयः शब्दो विधिविषय एव कथं समवतिष्ठते? न कथमपि। ४ अन्यापोहविषयः शब्दो विधिविषयो भवतीत्यङ्गीकारे कृते सति नैरात्म्यादिपरिहारेणाविवक्षितवस्तुपरिहारेण वा क्वचिद्ब्रह्मणि विवक्षितवस्तुनि वा शब्दः कथं प्रवर्त्तको यतः कुतो विधिविषयः स्यान्न कुतोपि। एव शब्दः परार्थं परिहृत्य स्वार्थे प्रवर्त्तमानो भावाभावात्मको ज्ञेय इति स्याद्वादप्रक्रिया। ५ अन्यापोहवादी आह—अप्रमाणत्वव्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या प्रमेयत्वमित्यन्यापोहावतारः। ६ अन्यापोहस्य प्रमेयत्वकल्पनाभावे। ७ अन्यापोहवादानुप्रवेशेन।

विरोधात्—[1] कल्पनावशाद्विधेः प्रमेयप्रमाणरूपत्वेन्यापोहवादानुषङ्गस्याविशेषात् । प्रमाण-प्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनाप्यनेन निरस्ता । तदनुभयरूपो विधिरिति कल्पनायां तु खर-शृङ्गादिवदवस्तुतापत्तिः—प्रमाणप्रमेयस्वभावरहितस्य विधेः स्वभावान्तरेण व्यवस्थाना-[2] योगात् । [3]प्रमात्रादेरपि प्रमेयत्वोपपत्तेः[4] । अन्यथा तत्र[5] प्रमाणवृत्तेरभावात् सर्वथा वस्तुत्वहानिः ।

[विधेः शब्दादिव्यापाररूपाभ्युपगमे दोषानाह]

शब्दव्यापाररूपो विधिरिति चेत् सा शब्दभावनैव । पुरुषव्यापारः स इति चेत् सार्थ-

---

कहना पड़ेगा क्योंकि वह विधि प्रमाण प्रमेय रूप उभय स्वभाव वाली नहीं हो सकती है, विरोध आ जाता है । अर्थात् प्रमाण को माने बिना विधि —ब्रह्म को प्रमेय रूप कैसे कहोगे ? और यदि आप ब्रह्म को प्रमाण प्रमेय रूप से उभय रूप कह दोगे तब तो एक ही निरंश परमब्रह्म अद्वैत रूप है पुनः वही दो रूप कैसे बन सकेगा ? कल्पना के निमित्त से विधि को प्रमेय और प्रमाण रूप से उभय रूप कहने पर तो अन्यापोहवादी होने का प्रसंग समान ही है । अर्थात् बौद्धों ने शब्दों से वाच्य अर्थ को कल्पना से ही अन्यापोह रूप माना है उसी के समान आपकी मान्यता भी कल्पना से होने से आपके यहां भी अन्यापोहवाद आ जावेगा ।

(३) तृतीय पक्ष में "विधि प्रमाण और प्रमेय से उभय रूप है" यह कल्पना भी इस उपर्युक्त विवेचन से ही निरस्त कर दी गई है ।

(४) चतुर्थ विकल्प में विधि को आप इन प्रमाण प्रमेय से रहित अनुभय रूप कल्पित करोगे तब तो खरविषाणादि के समान वह विधि अवस्तु ही हो जावेगी, क्योंकि प्रमाण और प्रमेय से रहित विधि का भिन्न किसी भी स्वभाव से रहना ही असंभव है । यदि आप कहें कि विधि प्रमाण, प्रमेय से भिन्न, प्रमाता—ज्ञाता एवं प्रमिति—जानने रूप क्रिया रूप से व्यवस्थित होगी सो भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाता—आत्मा आदि भी प्रमेय रूप ही है । अन्यथा—उन प्रमाता—आत्मा अथवा प्रमिति रूप ज्ञप्ति में प्रमाणवृत्ति का अभाव होने से सर्वथा वस्तुत्व की हानि हो जावेगी अर्थात् पुनः वे प्रमाता प्रमिति वस्तुभूत ही नहीं रह सकेंगे, क्योंकि आपके यहां तो एक परम ब्रह्म ही ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञप्ति रूप से अभेद रूप ही है पुनः आप उसे ज्ञान, ज्ञेय रूप से नहीं मानकर यदि ज्ञाता और ज्ञप्ति रूप से मानेंगे तो प्रमाण—ज्ञान रूप न मानने से वह विधि—ब्रह्म वास्तविक सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

---

१ तस्यैवोभयस्वभावत्वविरोधादित्यादिना द्वितीयविकल्पनिराकरणेन । २ स्वभावान्तरेण व्यवस्थानाभावः कुतो यावता प्रमात्रादिरूपेण विधेर्व्यवस्थितिर्भविष्यतीत्याशङ्कयाह । ३ प्रमिति । ४ विधिवाद्याह ।—विधिः प्रमाणं प्रमेयं च मा भवतु किन्तु प्रमातृप्रमितिरूपोस्तीति चेदाहान्यापोहवादी ।—प्रमात्रादेरपि प्रमाणविषयत्वं घटते अन्यथा प्रमेयत्वं न घटते चेत्तदा प्रमाणव्यापारस्याभावात् प्रमात्रादिरूपेणाभ्युपगतस्य विधेर्वस्तुत्वं हीयते । ५ प्रमातरि प्रमितौ वा ।

भावना[१] स्यात् । [२]एतेनोभय[३]व्यापाररूपो विधिरिति प्रत्याख्यातम् । [४]तदनुभयव्यापाररूप स्तु[५] विधिर्विषय[६]स्वभावश्चेत् तस्य[७] वाक्य[८]कालेऽसन्निधानान्निरालम्बनशब्दवादप्रवेशः[९] । [1]फल-[१०]स्वभावश्चेत् स[११] एव दोषः—तस्यापि तदाऽसन्निधानादन्यथा[2] विधेरनवतारात् । निःस्व-भावो विधिरिति कल्पनायां तु विधिर्वाक्यार्थ इति न किञ्चिद्वाक्यार्थ इत्युक्तं स्यात् ।

[विधि को शब्द के व्यापार आदि रूप से ४ विकल्प रूप मानने मे हानि]

(५) यदि विधि को शब्द का व्यापार रूप मानोगे, तब तो वह हमारे द्वारा मान्य शब्दभावना रूप ही सिद्ध होगी।

(६) यदि पुरुष का व्यापार कहो तो वह ब्रह्म अर्थभावना रूप (पुरुष भावना) ही होवेगा।

(७) इसी कथन से उभय व्यापार रूप सातवें पक्ष का भी खडन कर दिया गया है अर्थात् पूर्व मे जैसे नियोग पक्ष का निराकरण करने में—क्रम से या युगपत् ? इत्यादि अनेक विकल्प उठाये है वे सभी यहां पर भी समझना चाहिये।

(८) यदि उन दोनों के व्यापार से रहित अनुभय रूप कहो तब तो प्रश्न उठेंगे कि वह विधि विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है या निःस्वभाव है ? यदि विषय का स्वभाव मानो तब तो "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य के काल में असनिहित—निकट न होने से निरालबन शब्दवाद (सौगत के अन्यापोहवाद) में प्रवेश हो जावेगा।

यदि फल स्वभाव मानो, तो भी अर्थ रहित फल का स्वभाव भी निरालबन शब्दवाद ही हो जावेगा, क्योंकि वह विधि वेदवाक्य के समय विद्यमान नही है अन्यथा विधि का (मनन, निदिध्यासन आदि का) अवतार ही नही होगा। यहां फल स्वभाव से ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होना रूप अर्थ समझना चाहिये।

तथा विधि को निःस्वरूप मानने पर तो "विधि वेदवाक्य का अर्थ है" ऐसा कहने पर तो "कुछ भी वेदवाक्य का अर्थ नही है" ऐसा ही कहा गया हो जावेगा, क्योंकि विधि तो स्वभाव से शून्य है। अर्थात् आपने ही तो विधि को स्वभाव से शून्य कह दिया है।

पुनरपि ये प्रश्न उठेंगे कि वह विधि सत् रूप है या असत् रूप, उभय रूप है या अनुभय रूप ?

१ पुरुषभावना। २ प्रत्येकपक्षद्वयनिराकरणेन। ३ पर्यायेण युगपद्वेत्यादिना नियोगनिराकरणे प्रोक्त दूषणमत्रापि ज्ञातव्य दृष्टव्येत्यादिना। ४ तदुभयाव्यापाररूप इति वा पाठ.। ५ ब्रह्मदर्शनादि । ६ शब्दात्मव्यापाररहितो विधिरिति चेत् सोपि विषयस्वभावो वा स्यान्निःस्वभावो वा फलस्वभावो वेति क्रमेण दूषयति। ७ विषयस्वभावस्य विधेः। ८ सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्यकाले। ९ सौगतमते निरालम्बनशब्दवादोभिप्रेतः १० अर्थरहितः। ११ फलस्वभावस्य विधेः स एव निरालम्बनशब्दवादप्रवेशः। कस्मात् ? तदा वाक्यकाले विधेरसामीप्यात्।

(1) ब्रह्मस्वरूपप्राप्तिः (2) मननिदिध्यासनादिविधानस्य ।

[विधेः सदसदादिरूपाभ्युपगमे दोषानाह]

किञ्च[1] यदि विधिः सन्नेव तदा न [2]कस्यचिद्विधेयः पुरुषस्वरूपवत् । अथासन्नेव तथापि न विधेयः खरविषाणवत्[3] । अथ पुरुषरूपतया सन् [4]दर्शनादिरूपतया त्वसन्निति विधेयः स्यात्[5] [6]तदोभयरूप[7]तापत्तिः[1] । न सन्नाप्यसन् विधिरिति चेत् तदिदं [8]व्याहतम्— सर्वथा सत्त्वप्रतिषेधे सर्वथैवासत्त्वविधिप्रसंगात्[9]—तन्निषेधे वा सर्वथा सत्त्वविधानानुषङ्गात् ।

[विधि को सत् असत् आदि रूप मानने मे दोषारोपण]

(१) यदि सर्वथा सत् रूप ही विधि होगी तब तो विधि किसी भी पुरुष को विधेय–करने योग्य नहीं होगी, पुरुष के स्वरूप के समान । अर्थात् "विधिः कस्यचित् मनुष्यस्य विधेयो न भवति सत्त्वात् । यः सन् स न कस्यचित् विधेयो यथा पुरुषः, सश्चाय तस्माद् न कस्यचिद् विधेयः" इत्यर्थः । विधि—ब्रह्म किसी को करने योग्य नही है क्योकि वह सत् रूप ही है, जो सत् रूप है वह किसी का विधेय नहीं होता है । जैसे आत्मा सत् रूप है अतः वह किसी के लिये करने योग्य—विधेय नही है और यह ब्रह्म सत् रूप है इसलिये किसी को विधेय नहीं है । अर्थात् जो सर्वथा सत् रूप होता है वह किसी के करने योग्य नहीं हो सकता है ।

(२) असत् ही मानो तो भी वह विधि खरविषाण के समान किसी के लिये भी विधेय नहीं होगी । अर्थात् असत् रूप होने से वह विधि किसी को विधेय—करने योग्य नहीं हो सकती । जैसे खरशृंग किसी का विधेय—करने योग्य नही है ।

(३) यदि कहो कि पुरुष रूप से तो वह विधि सत् रूप है किंतु "दृष्टव्योऽयमात्मा" इत्यादि दृश्यत्व, कर्त्तव्य आदि रूप से असत् रूप है इसलिये वह विधेय हो जावेगी तब तो उस विधि के उभय रूप हो जाने से द्वैत का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् स्वसिद्धात का भी व्याघात हो जावेगा, क्योकि वेदातवादियो ने तो विधि को सर्वथा सत् रूप माना है असत् रूप से माना ही नही है । एव सर्वथा निरंश, सन्मात्र स्वरूप ब्रह्म के दो रूप की प्राप्ति का विरोध स्पष्ट है ।

(४) वह विधि न सत् रूप है न असत् रूप । ऐसा चतुर्थ पक्ष लेने पर तो विरुद्ध ही हो जाता है,

१ विधिः सन्नेव वाऽसन्नेव वा उभयरूपो वानुभयरूपो वेति विकल्पक्रमेण दूषयति । २ विधिः पक्षः कस्यचिन्नुर्विधेयो न भवतीति साध्यो धर्मः—सत्त्वात् । यः सन् स न कस्यचिद्विधेयो यथा पुरुषः । सश्चाय तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः (कर्त्तव्य.) । ३ द्वितीयविकल्पानुमानम्—विधिः पक्षः कस्यचिद्विधेयो न भवतीति साध्यः—असत्त्वात् । यदसत्तन्न कस्यचिद्विधेय यथा खरविषाणम् । असश्चायं तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः । ४ दृष्टव्यो रेयमात्मेत्यादिदृश्यत्वकर्तव्यत्वादिना । ५ विधिरिति शेषः । ६ तत. स्वसिद्धान्तव्याघात.—विधेः सर्वथासत्त्वाभ्युपगमात्—असद्रूपस्य कस्यापि वेदान्तिनानभ्युपगमात् । ७ द्वैतापत्तिः । ८ विरुद्धम् । ९ सर्वथा असत्त्वनिषेधे ।

(1) सर्वथा निरशस्य सन्मात्रदेहस्य विधेः रूपद्वयप्राप्तिर्विरोधः ।

सकृदुभयप्रतिषेधे तु कथञ्चित्सदसत्त्वविधानान्मतान्तरानुषङ्गात्[1] कुतो विधिरेव वाक्यार्थः ।

[विधेः प्रवर्तकादिस्वभावस्वीकारे हानिः]

किञ्च विधिः प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रवर्त्तकस्वभावश्चेद्वेदान्तवादिनामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्त्तकः स्यात्[2] । [3]तेषां [4]विपर्यासान्न प्रवर्त्तक इति चेत्तत[5] एव वेदान्तवादिनामप्रवर्त्तक इत्यपि शक्येत[6] । सौगतादीनामेव विपर्यासोऽप्रवर्त्तमानानां, न पुनः प्रवर्त्तमानानां विधिवादिनामित्यप्रामाणिकमेवेष्टम्[7]—उभयेषां समानाक्षेपसमाधानत्वात् । यदि पुनरप्रवर्त्तकस्वभाव एव विधिस्तदा कथं वाक्यार्थः स्यान्नियोगवत् ।

सर्वथा सत्त्व का प्रतिषेध करने पर सर्वथा असत्त्व की ही विधि हो जावेगी, अथवा सर्वथा असत्व का निषेध करने पर सत्त्व का विधान अवश्यभावी हो जावेगा, और एक साथ दोनों का प्रतिषेध करने से कथंचित् सत्व असत्व का विधान हो जाने से मतांतर—स्याद्वाद के आश्रय का प्रसंग आ जावेगा । पुनः विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है यह बात कैसे सिद्ध हो सकेगी ?

[विधि को प्रवर्तक स्वभाव या अप्रवर्तक स्वभाव मानने मे दोष]

दूसरी तरह से भी प्रश्न होगे कि विधि प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव ? यदि प्रवर्तक स्वभाव मानो तब तो वह विधि आप वेदांतवादियों के समान बौद्धादिकों के लिये भी प्रवर्तक स्वभाव हो जावेगी क्योंकि वह सर्वथा ही प्रवर्तक स्वभाव वाली है । यदि कहो कि बौद्धादिकों को प्रवर्तक नही होती है क्योंकि वे विपर्यास रूप—विपरीत बुद्धि वाले है तब तो विपर्यास होने से ही वेदांतवादियों को भी प्रवर्तक नही होगी, ऐसा भी हम कह सकते है । अर्थात् यदि विधि प्रवृत्ति कराने रूप स्वभाव वाली है तब तो आपको और बौद्धों को, दोनो को ही प्रवर्तक होवे अथवा किसी को भी प्रवर्तक न होवे । एक को प्रवर्तक और एक को अप्रवर्तक कहने से तो कथंचित्वाद आ जाता है । यदि आप कहो कि अप्रवर्तमान—प्रवृत्ति न करने वाले सौगतादिकों को ही विपर्यास है किन्तु प्रवर्तमान विधिवादियों को नही है । आपका यह कथन भी अप्रमाणीक ही है आप विधिवादी और सौगत दोनों के प्रति दोष और समाधान सदृश ही लागू होते है । अर्थात् आप वेदवाक्य का अर्थ ब्रह्म रूप करते है और उसे प्रवर्तक मानते है तब वह परम ब्रह्म आप ब्रह्माद्वैतवादी एवं अन्य सौगत आदि सभी को यज्ञादि क्रियाकाण्ड में प्रवृत्ति करावे अथवा किसी को भी प्रवृत्ति न करावे । यदि आप विधि को अप्रवर्तक स्वभाव वाली मानोगे तब तो वह विधि वेदवाक्य का अर्थ कैसे हो सकेगा, नियोगवाद के समान । अर्थात् आप जैसे नियोगवाद को अप्रवर्तक स्वभाव मान करके वाक्य का अर्थ नहीं

१ जैनमता (स्याद्वाद) श्रयणात् । २ तस्य सर्वथा प्रवर्त्तकत्वात् । ३ ताथागतादीनाम् । ४ प्रवर्त्तकस्वभावे विधावप्रवर्तकतया गमनं विपर्यासः । ५ विपर्यासादेव । ६ वक्तुमिति शेषः । ७ इति स्याद्वादी वदति ।—उभयेषां सौगतादीनां वेदान्तवादिना चेष्टं प्रतिपादितं प्रमाणविरुद्धं भवति । कस्मात् ? सदृशप्रत्यवस्थानव्यवस्थानात् ।

[विधिः फलरहितः सहितो वा इत्याद्यभ्युपगमे हानिः]

किञ्च विधिः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेन्न प्रवर्त्तको नियोगवदेव[१] । [२]पुरुषाद्वैते न कश्चित्[1]कुतश्चित्प्रवर्त्तक इति चेत् कथमप्रवर्त्तको विधिः सर्वथा वाक्यार्थः [३]कथ्यते ।—तथा[४] नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात् । तथा दृष्टव्यो रेऽयमात्मेत्यादिवाक्यादात्मनि[५] दर्शनश्रवणानुमननध्यानविधाने प्रतिपत्तुरप्रवृत्तौ [६]किमर्थ-स्तद्वाक्याभ्यासः ? फलसहितो विधिरिति कल्पनायां फलार्थितयैव लोकस्य प्रवृत्तिसिद्धेर्व्यर्थ

मानते हो तथैव आपका परमब्रह्म भी वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकेगा ।

[विधि को फल रहित या सहित मानने में दोषारोपण]

प्रकारांतर से यह भी प्रश्न होता है कि वह विधि फल रहित है या फल सहित ?

फल रहित कहो तो नियोग के समान ही प्रवर्तक नहीं होगी । अर्थात् आपके मत से नियोग फल शून्य होने से ही प्रवर्तक नहीं है अतः वेदवाक्य का अर्थ भी नहीं है ।

विधिवादी—हमारे यहां पुरुषाद्वैतवाद में कोई भी किसी—वेदवाक्य प्रकार से प्रवर्तक है ही नहीं ।

भाट्ट—तब तो सर्वथा अप्रवर्तक विधि वेदवाक्य का अर्थ है यह भी कैसे कहा जावेगा ? अन्यथा—अप्रवर्तक होते हुये नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावेगा और उस प्रकार से 'दृष्ट-व्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मरूप आत्मा का दर्शन, श्रवण, अनुमनन और ध्यान करने में प्रतिपत्ता—मनुष्य की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी पुनः उन वेदवाक्यों का अभ्यास भी किसलिये किया जावेगा ? अर्थात् "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वाक्यों से परमब्रह्म रूप आत्मा का दर्शन, श्रवण, ध्यान करना आदि प्रवृत्ति रूप ही तो है पुनः विधि को फल रहित या अप्रवर्तक मानने पर तो उपर्युक्त प्रवृत्ति कैसे घटित हो सकेगी ? यदि विधि का फलसहित मानो तब तो फलार्थी होने से ही लोक की प्रवृत्ति सिद्ध है पुनः विधि को प्रवर्तक कहना नियोग के कथन के समान व्यर्थ ही हो जाता है । तथापि—अप्रवर्तक होने पर भी यदि आप विधि को वेदवाक्य का अर्थ कहोगे तब तो नियोग भी वाक्य का अर्थ क्यों नहीं होगा ? अर्थात् प्रमाण और प्रमेयादि अनेक विकल्पों के निरसन द्वारा विधि वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा सिद्ध नहीं हुआ फिर भी विधिवादी यदि हठपूर्वक विधि को वेदवाक्य का अर्थ मान ही लेवे तो नियोग भी वेद-वाक्य का अर्थ क्यों नहीं होगा ?

१ विधिः पक्षः वाक्यार्थो न भवतीति साध्यो धर्मः—अप्रवर्तकत्वान्नियोगवत् । २ अत्राह विधिवादी ।—कश्चिद्विधिः कुतश्चित्प्रमाणात्प्रमाणाद्वैते प्रवर्त्तको न स्यात् । ३ अन्यथा । ४ अप्रवर्त्तकत्वेन । ५ ब्रह्मणि । ६ किंप्रयोजनकः । दृष्टव्येत्यादि । विधिः प्रवर्त्तक इति प्रतिपादनम् ।

(1) वाक्यात् ।

[१]विधिकथनं नियोगकथनवत् । तथापि[२] विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वं कुतो न भवेत् । [३] पटादिवत्[1] [४]पदार्थान्तरत्वेना[2]प्रतिभासना[3]न्नियोज्य[५]मानविषय[६]नियोक्तृधर्मत्वेन चानवस्थानान्न नियोगो [4]वाक्यार्थ इति चेत् [5]तदितरत्रापि[७] समानम्[८]—विधेरपि घटादिवत् पदार्थान्तरत्वेनाप्रतिभासनात्—विधाप्य[९]मानविषय[१०]विधायक[११]धर्मत्वेनाव्यवस्थितेश्च ।

विधिवादी—'नियोग' वस्त्रादि (या घटादि पाठ भेद भी है) के समान भिन्न रूप होने से प्रतिभासित नहीं होता है और नियोज्यमान पुरुष के यागादि विषय में "अग्निष्टोमेन" इत्यादि नियोक्ता के धर्म रूप से व्यवस्थित न होने से नियोग वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकता है । अर्थात् घट शब्द से जैसे पृथु बुध्नोदराकार--गोलमटोल रूप "घट" अन्य ही प्रतीति में आता है वैसे ही अग्निष्टोमादि वाक्य से अन्य रूप नियोग प्रतीति में नहीं आता है । इस रीति से अप्रवर्तक स्वभाव मे भी विधि ही वाक्य का अर्थ है नियोग है ऐसा नियम है । यहां "घटवत्" यह दृष्टांत व्यतिरेक में है ।

भाट्ट—यह बात तो आपके विधिपक्ष में भी समान ही है—विधि भी घटादि के समान भिन्न होने से प्रतिभासित नहीं होती है "सर्वं वै खल्विद ब्रह्म' इत्यादि वाक्य से विधीयमान—यागादि रूप विषय, विधायक—आत्मा के धर्म रूप से व्यवस्थित न होने से वह विधि भी वेदवाक्य का अर्थ नही हो सकती है ।

भावार्थ—अद्वैतवादी का कहना है कि जैसे आत्मा से भिन्न कल्पित किये गये घट पटादि पदार्थ भिन्न-२ प्रतिभासित होते हैं, वैसे न तो भिन्न पदार्थ रूप से नियोग ही प्रतिभासित है, न वेदवाक्य रूप नियोग से नियुक्त हुये श्रोता पुरुष ही प्रतिभासित है और न यज्ञ आदि विषय का धर्म रूप नियोग ही प्रत्यक्ष है अतः "भिन्न पदार्थ रूप हेतु" से एव "श्रोता पुरुष के यज्ञादि विषय मे नियोक्ता (वेदवाक्य) के धर्म रूप" हेतु से, इन दोनों ही हेतुओं से नियोग प्रतिभासित नही है अत. वेदवाक्य का अर्थ नियोग नहीं हो सकता है । इस पर भाट्ट कहता है कि इसी आक्षेप का हम आपके ऊपर भी आरोप कर सकते

१ अप्रवर्त्तकत्वेपि । यद्यपि प्रमाणप्रमेयाद्यनेकधा विकल्पखण्डनद्वारेण विधिर्वाक्यार्थो नास्ति तथापि विधिवादिनो बलात्कारेण विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगस्यापि वाक्यार्थत्व कथ न भवेत् ? इत्याशय. । २ व्यतिरेकदृष्टान्त । विधिवाद्याह ।— यथा पुरुषात्पटादिकार्यरूपं भिन्नं प्रतिभासते तथा न नियोगप्रेर्यमाणपुरुषविषयप्रेरकधर्मरूपेण घटादि प्रतिभासते तथा नियोग इति हेतुद्वयान्नियोगस्यानवतारान्न नियोगो वाक्यार्थो न भवति । ३ भिन्नत्वेन । ४ पुरुष । ५ यागादि । ६ अग्निष्टोमेत्यादि । ७ विधिपक्षे । ८ विधिर्न वाक्यार्थ. इत्यादि । ९ अवश्यकरणीयतयाभिमन्यमान । सर्वं वै खल्विद ब्रह्मेत्यादिवाक्याद्विधाप्यमान । १० यागादिरूप । ११ आत्मा ।

(1)घटादिवत् इति पा० । यथा घटशब्दात्पृथुबुध्नोदराकाररूपो घटोऽन्य प्रतीयते तथाग्निष्टोमादिवाक्यादन्यो नियोग. प्रतीयते इति नियामकमनया रीत्याप्रवर्तकस्वभावेऽपि विधिरेव वाक्यार्थो न नियोग. । घटवदिति व्यतिरेकदृष्टात: । (2) नियोगो वाक्यार्थो न भवेदत. कारणात् । (3) नियुज्यमान-इति पा० । (4) अग्निष्टोमेत्यादि । (5) दूषणं ।

[अधुना जैनमतमाश्रित्य भाट्टः विधिवादिन दूषयति]

[1]यथैव[2] हि नियोज्यस्य पुंसो धर्मे नियोगेऽन[3]नुष्ठेयता नियोगस्य सिद्धत्वाद्—अन्यथा[1] तदनुष्ठानोपरमाभावानुषङ्गात्[4]—[5]कस्यचिद्रूपस्यासिद्धस्याभावात्[2]। [6]असिद्धरूपतायां[3] वाऽनियोज्यत्वं-विरोधाद्वन्ध्यास्तनन्धयादिवत्। [4]सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे तस्यैवासिद्धरूपेण[5] वा नियोज्यतायामेकस्य[7] पुरुषस्य[6] सिद्धासिद्धरूप[7]सङ्करान्नियोज्येतरत्वविभागासिद्धिः। [8]तद्रूपा-

हैं। अर्थात् आपका परमब्रह्म भी घट पटादि के समान पुरुष से भिन्न प्रतिभासित नहीं होता है तथा विधान करने योग्य दर्शन, श्रवण, मनन आदि या दृष्टव्य विषय का धर्म, अथवा ब्रह्म को कहने वाले वेदवाक्यों के द्वारा भी विधिरूप परमब्रह्म की व्यवस्था नहीं हो सकती है अतः आपके द्वारा मान्य वेदवाक्य का 'विधि' अर्थ भी सिद्ध नही हो पाता है।

[जैनमत का आश्रय लेकर भाट्ट विधिवादी पर दोषारोपण करता है]

जिस प्रकार से नियोज्य पुरुष का नियोगधर्म में अनुष्ठेयपना न होने से अकर्तव्यता है क्योंकि नियोग की सिद्धि है। अन्यथा उसके अनुष्ठान के उपरम-समाप्ति का अभाव ही हो जावेगा, क्योंकि उसका कुछ भी रूप असिद्ध नहीं है। अर्थात् यदि सिद्ध रूप नियोग की कर्तव्यता है तब तो नियोग को करने में अनवस्था का प्रसंग आता है क्योंकि उस नियोग में कोई भाग असिद्ध नहीं है।

यदि कहो कि असिद्ध रूप भी नियोग नियोज्य है तब तो वंध्या के पुत्रादि भी नियोज्य हो जावेंगे, किन्तु ऐसा तो है नही, लोक में विरोध देखा जाता है। सिद्ध रूप से-पुरुष रूप से नियोज्य को मानने पर अथवा उसी को असिद्ध रूप से नियोज्य कहने पर तो सर्वथा निरंश रूप एक पुरुष में सिद्ध और असिद्ध दो रूप से संकर दोष आ जावेगा। पुन. नियोज्य और अनियोज्य रूप से विभाग ही सिद्ध नही हो सकेगा।

१ एतदेव क्रमेण विव्रियते। २ अग्रे नियोगखण्डनद्वारेण विधिखण्डनार्थं भावनावादी वदति। ३ अकर्तव्यता। ४ सिद्धरूपस्य नियोगस्य यद्यनुष्ठेयता तदा तस्य नियोगस्य करणीयानवस्थाप्रसंगः—यतस्तत्र नियोगे कश्चिद्भागो असिद्धो नास्ति। ५ पुरुषधर्मस्य नियोगस्य सिद्धत्व कथमित्याशंकायामाह कस्यचिदिति। ६ असिद्धरूपोपि नियोग. नियोज्यो भवतीति चेत्तदावन्ध्यास्तनन्धयादेरपि नियोज्यत्वप्रसग.। तथा नास्ति लोके विरोधदर्शनात्। ७ नियोगस्यैक रूप सिद्धमन्यदसिद्धं सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे सति तस्यैव नियोगस्यासिद्धरूपेण कृत्वा अनियोज्यतायां सत्यामित्येकपुरुषस्य सिद्धासिद्धरूपमिश्रणादय नियोज्योयमनियोज्य इति भेदो न सिद्ध्यति। अथवा तद्रूपयोरमिश्रणे सति भेदघटनादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोश्च परस्परसम्बन्धो नास्ति। कस्मात्? उपकाराकरणात्। ८ तद्रूपासंकरे एव भेदप्रसंगादिति वा पाठः।

(1) पुरुषधर्मस्य नियोगस्य सिद्धत्व कथमित्याशंकायामाह। (2) पुरुषस्य। (3) वा नियोज्यत्वविरोधात्। इति पा.। तच्छुद्ध प्रतिभाति। (4) पुरुषरूपतया। (5) अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यसिद्धरूपेण। (6) सर्वथा निरंशस्येत्यर्थ.। (7) अभेदः।

सङ्करे वा[1] [1]भेदप्रसङ्गादात्मनः[2] सिद्धासिद्धरूपयोः सम्बन्धाभावोनुपकारात्। उपकारकल्पनायामात्मनस्तदुपकार्यत्वे[1] नित्यत्वहानिः। तयोरात्मोपकार्यत्वे सिद्धरूपस्य[3] सर्वथोपकार्यत्वव्याघातः। असिद्धरूपस्याप्युपकार्यत्वे गगनकुसुमादेरुपकार्यतानुषङ्गः। सिद्धासिद्धरूपयोरपि[4] कथञ्चिदसिद्धरूपोपगमे प्रकृतपर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्था[3]नुषङ्गादित्युपालम्भ[४]।

[भावनावादिना भाट्टेन प्राग्यथा नियोगवादो निराकृतस्तथैवाधुना विधिवादोपि निराक्रियते]

[५]तथा विधाप्यमानस्य पुरुषस्य धर्मे [६]विधावपि सिद्धस्य पुंसो दर्शनश्रवणानुमननध्यानवि-

अर्थात् नियोग का एक रूप सिद्ध है अन्य रूप असिद्ध है, सिद्ध रूप से नियोज्य मानने पर वही नियोग असिद्ध रूप से अनियोज्य हो जाता है। इस प्रकार से एक पुरुष में सिद्ध, असिद्ध रूप का मिश्रण हो जाने से यह नियोज्य है और यह अनियोज्य है, ऐसा भेद सिद्ध नही हो सकेगा। अथवा उन दोनों रूपों का मिश्रण न होने पर भेद घटित हो जाने से आत्मा में परस्पर में सिद्धासिद्ध रूप सबंध नही रहेगा।

अथवा उन रूपों का संकर न होने पर भेद का प्रसग आ जाने से आत्मा के सिद्ध असिद्ध रूप में संबंध का अभाव है, क्योंकि कोई भी उपकार सबध नहीं है और यदि आप उपकार की कल्पना करोगे तो उन सिद्ध और असिद्ध के द्वारा आत्मा का उपकार मानने पर आत्मा के नित्यत्व की हानि हो जावेगी। एवं उन दोनों सिद्ध असिद्ध रूप नियोगों पर आत्मा के द्वारा उपकार मानने पर जो सिद्ध रूप है उसके तो सर्वथा उपकारपने का विरोध आता है। तथा असिद्ध रूप का भी उपकार मानने पर आकाश फूल आदि के भी उपकारित होने योग्य का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् आत्मा सिद्ध रूप का उपकारक है या असिद्ध रूप का? इन दो विकल्पों को उठाकर उन दोनो मे दोष दिखाया है।

सिद्धासिद्ध रूप नियोग को भी कथंचित् असिद्ध रूप स्वीकार करने पर प्रकृत के-उपर्युक्त प्रश्न दूर नहीं किये जा सकेंगे, प्रश्नो की अनवस्था ही आ जावेगी।

[पूर्व मे भावनावादी भाट्ट ने जैसे नियोग का खण्डन किया है उसी प्रकार से विशेषरूप से अब विधिवाद का भी खण्डन करता है]

भाट्ट—जिस प्रकार से नियोग पक्ष में दूषण आते है तथैव विधाप्यमान—जिसके लिए विधि की जावे अर्थात् "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम" इस वाक्य के द्वारा जिसके लिये यज्ञ का विधान किया गया है

१ आत्मनः सकाशात् सिद्धासिद्धरूपयोर्भेदप्रसङ्गात्। २ ताभ्यां सिद्धासिद्धाभ्यामुपकार्यत्वे किं दूषणं स्यात्? आत्मनो नित्यत्वहानिः। ३ प्रारब्धनियोगप्रश्नस्य निवृत्तिर्न भवतीति तदा किमायातम्? अनवस्थानाम दूषणं स्यात्। ४ अतः प्रभृति नियोगखण्डनवद्विधेः खण्डनं करोति भावनावादी। ५ यथैव हीत्यादिनियोगपक्षे। ६ अवश्यकरणीयदर्शनश्रवणमननादिरूपे।

(1) आत्मनः सकाशात्सिद्धासिद्धरूपयोर्भेदप्रसंगादित्यर्थः। (2) ता (3) आत्मा सिद्धरूपस्योपकारकोऽसिद्धरूपस्य वेति विकल्पद्वयं कृत्वा निराचष्टे। (4) किंचित् इत्यपि पाठ प्रतिभाति।

धानविरोधः[1] । ¹तद्विधाने वा सर्वदा ²तदनुपरतिप्रसक्तिः । दर्शनादिरूपेण ³तस्यासिद्धौ ⁴विधानव्याघात. कूर्मरोमादिवत् । सिद्धरूपेण विधाप्यमानस्य विधाने तस्यैवासिद्धरूपेण चाविधाने सिद्धासिद्धरूपसङ्कराद्विधाप्येतरत्वविभागासिद्धिः । तद्रूपासङ्करे वा भेद-प्रसङ्गादात्मनः⁵ सिद्धासिद्धरूपयोस्तत्संबन्धाभावादि दोषासङ्ग⁶नस्याविशेषः । ⁷तथा विषयस्य

ऐसे उस पुरुष के विधि (अवश्यकरणीय, दर्शन, श्रवण, मननादि) रूप धर्म में भी परमब्रह्म रूप सिद्ध पुरुष के दर्शन, श्रवण, अनुमनन, ध्यान के विधान का विरोध आता है।

अथवा उस सिद्ध पुरुष के भी यज्ञ करने का विधान मान लेने पर हमेशा उसके यज्ञ करने की उपरति नहीं हो सकेगी एव उस विधि रूप ब्रह्म को असिद्ध मानने पर उसके दर्शन, श्रवण आदि के विधान का विरोध हो जाता है। जैसे कूर्म रोमादि है नहीं, तो उससे वस्त्रादि बनाने का विरोध ही है एव सिद्ध रूप से विधाप्यमान—ब्रह्म का विधान करने पर और उसी का असिद्ध रूप से विधान न करने पर सिद्धा-सिद्ध रूप का सकर हो जाने से विधाप्यमान और अविधाप्यमान रूप विभाग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अथवा उन दोनों रूपो का सकर न मानने से भेद का प्रसग आ जाने पर आत्मा से सिद्धासिद्ध का संबध न हो सकना आदि दोषो का प्रसग समान ही है।

भावार्थ— यहा पर भाट्ट विधिवादी को दूषण देते हुये कहते है कि जैसे आप विधिवादी नियोग में दूषण देते हो वैसे ही आपके यहां विधिवाद मे भी दूषण समान ही है। अर्थात् जैसे प्रभाकर का मान्य नियोग नियोज्य-पुरुष का धर्म तथा याग लक्षण-विषय का धर्म, एव नियोक्ता-शब्द का धर्म नही हो सकता है वैसे ही विधि भी विधीयमान-पुरुष का धर्म तथा विधेय-विषय का धर्म एव विधायक-शब्द का धर्म नहीं हो सकता है। देखिये! जिस प्रकार 'नियुक्त होने योग्य पुरुष का धर्म' यदि नियोग माना जावे तो आप अद्वैतवादियो ने प्रभाकर के ऊपर "अनुष्ठान नही करने योग्य" आदि दोषो का आरोप किया है, मतलब नियुक्त होने योग्य पुरुष अनादिकाल से स्वत. सिद्ध है तो उस आत्मा का स्वभाव नियोग भी पूर्वकालों से सिद्ध है और यदि सिद्ध हो चुके पदार्थ का अनुष्ठान माना जावेगा तो अनुष्ठान का कभी भी अत ही नही हो सकेगा, कृत का पुनः करना होते रहने से पुनः पुन. उसी किये हुये को करते चलिये, चर्वित का चर्वण अनत काल तक करते रहिये। अत यही अच्छा है कि बन चुके को पुनः न बनाया जावे। नित्य पुरुष के धर्म रूप नियोग का कोई भाग असिद्ध तो है नहीं। हा! यदि किसी असिद्ध रूप को नियुक्त होने योग्य माना जावेगा तब तो सर्वथा असिद्ध-वंध्यापुत्र, अश्वविषाण आदि को भी नियोज्य मानना पड़ेगा। यदि आप कहें कि आत्मा का धर्म नियोग किसी एक सिद्ध रूप से नियोज्य एवं किसी एक असिद्ध रूप से अनियोज्य

१ तस्य सिद्धस्य पुरुषस्य करणे वा। २ अविश्रान्तिरनवस्था वा। ३ विधेः। ४ यागलक्षणस्य विषयधर्मस्य नियोगस्य। ५ सकाशात्। ६ अनुषङ्गस्य। ७ हे विधिवादिन्!

(1) अनुष्ठेयतेत्यर्थः।

है तब तो एक ही आत्मा में दोनों का संकर हो जाने से नियोज्य और अनियोज्य रूप दो प्रकार का विभाग भी नहीं हो सकेगा। यदि सिद्ध असिद्ध, इन दोनों रूपों का आत्मा में संकर न मानो तब तो इन दोनों स्वभावों से अभिन्न एक आत्मा के भेद का प्रसंग आ जावेगा अथवा नित्य-आत्मा से ये दोनों रूप पृथक् हो जावेंगे ऐसी दशा में ये दोनों सिद्ध असिद्ध रूप आत्मा के है ऐसा नियामक-बताने वाला कोई संबंध आपके यहां है ही नहीं, क्योंकि राजा का पुरुष, गुरु का शिष्य या पुरुष का राजा, शिष्य का गुरु, यहा परस्पर मे आजीविका देना, चाकरी देना, पढ़ाना, सेवा करना आदि उपकार करने से स्वामी-भृत्य संबध, गुरु-शिष्य संबंध, राजा-प्रजा संबध माने जाते है, किन्तु उपकार नही होने से उन सिद्ध असिद्ध रूप और कूटस्थ नित्य आत्मा का कोई षष्ठी विधायक सम्बन्ध नही हो पाता है।

यदि उपकार की कल्पना करो तो प्रश्न यह होता है कि इन सिद्ध असिद्ध दोनो रूपो से आत्मा के ऊपर उपकार किया जाता है या आत्मा के द्वारा दो रूपों पर उपकार किया जाता है? प्रथम विकल्प मानों तो आत्मा नित्य नही माना जा सकेगा क्योंकि जो उपकृत होता है वह कार्य होता है और कार्य अनित्य ही होता है। यदि दूसरे विकल्पानुसार सिद्धासिद्ध रूपो पर आत्मा के द्वारा उपकार मानो तब तो जो सिद्ध रूप हो चुका है उसमें उपकार को धारण करने योग्य कोई अंश शेष नही है। यदि दूसरे असिद्ध रूप को भी उपकार प्राप्त करने योग्य माना जावे तब तो आकाश पुष्प आदि भी उपकार झेलने वाले हो जायेंगे। यदि कथंचित् सिद्धासिद्ध रूप कहो तो उपर्युक्त दोषों की ही अनवस्था चलती रहेगी। इस प्रकार से विधिवादी ने नियोगवादी पर दूषण दिया है अब भाट्ट इन्ही सभी दूषणो को विधिवादी पर आरोपित करते है।

देखिये! विधान कराये जा रहे पुरुष का धर्म विधि है और परिपूर्णतया सिद्ध हो चुका श्रोतापुरुष भी नित्य है वह नित्य पुरुष परमब्रह्म का दर्शन श्रवण आदि कैसे कर सकेगा क्योंकि जो पहले दर्शन आदि से रहित है वह परिणामी पदार्थ ही दर्शनादि का विधान अनुष्ठान कर सकता है, नित्य कृतकृत्य नही है। यदि सिद्ध हो चुका पुरुष भी दर्शन, श्रवणादि का विधान करेगा तो सर्वदा ही उन दर्शन, मनन आदि से विराम नही हो सकेगा क्योंकि दो-चार बार दर्शन कर चुकने पर भी पुनः पुनः सिद्ध हो चुके पुरुष भी यदि दर्शनादि मे प्रवृत्ति करते रहेगे तो पूर्ववत् चर्वित चर्वण ही होता रहेगा। यदि आप कहे कि आत्मा का धर्म रूप जो विधि है उसका दर्शन श्रवण आदि स्वरूप असिद्ध नही है तब तो कछुवे के रोम के समान उस असिद्ध स्वरूप आदि से असत् रूप विधि का विधान नही हो सकेगा। यदि उस विधि को सिद्ध असिद्ध ऐसे दो रूप मानोगे तब तो एक ही परम ब्रह्म सिद्ध रूप होने से विधान करने योग्य होगा और असिद्ध रूप से विधान के योग्य नहीं होगा तो संकर दोष आ जावेगा एवं विधान करने के योग्य-अयोग्य का विभाग नहीं हो सकेगा। तथा एक ब्रह्म में स्वरूप संकर न मानने से दोनों रूपों का आत्मा से भेद हो जावेगा एवं सर्वथा भिन्न सिद्धासिद्ध दोनों रूपों का आत्मा के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं बनेगा। यदि उपकार की कल्पना करोगे तब तो पूर्ववत् दोष आते ही

यागलक्षणस्य धर्मे नियोगे तस्याऽपरिनिष्पन्नत्वात् [1]स्वरूपाभावाद्वाक्येन प्रत्येतुमश[1]क्यत्वस्य [3]विधावपि [4]विषयधर्मे समानत्वात्कुतो [5]विषयधर्मो विधिः ? [6]पुरुषस्यैव [1]विषयतयावभासमानस्य विषयत्वात्तस्य[7] च परिनिष्पन्नत्वान्न तद्धर्मस्य [8]विधेरसम्भव इति चेत् [9]तर्हि यजनाश्रयस्य [2]द्रव्यादेः सिद्धत्वात्तस्य[10] च विषयत्वात्कथं तद्धर्मो नियोगोपि न सिद्ध्येत ? येन रूपेण विषयो विद्यते तेन तद्धर्मो नियोगोपीति, तदनुष्ठानाभावे[11] [3]विधिविषयो येन रूपेणास्ति तेन तद्धर्मस्य विधेः कथमनुष्ठानम् ?

रहेंगे। अतः नियोग के समान आपका ब्रह्माद्वैत भी सिद्ध नहीं हो सकता है। यहां नियोगवादी के ऊपर विधिवादी के द्वारा कटाक्षवर्षा किये जाने पर भट्ट मीमांसको ने विधिवादी की आड़ हाथ लिया है एवं श्लोकवार्तिकालकार में आचार्यों ने नियोगवादी की ओर से विधिवादी के ऊपर दोषारोपण किया है।

तथा हे विधिवादिन् ! यदि आप नियोगवादी को ऐसा कहे कि यागलक्षण विषय का नियोग रूप धर्म मानने पर उसके परिनिष्पन्न होने से उसके स्वरूप का अभाव ही है अतः वाक्य के द्वारा उसका निश्चय करना अशक्य है तब तो यह बात विषय के धर्म रूप विधि में भी समान है अतः विषय का (आत्मा का) धर्म विधि है यह बात कैसे सिद्ध होगी ?

विधिवादी—पुरुष ही विषय रूप से अवभासित होता है क्योकि वह विषय है और वह पुरुष निष्पन्न है इसलिये उस पुरुष का धर्म विधि है यह कथन असभव नही है।

भाट्ट—तब तो यजन—यज्ञ के आश्रयभूत द्रव्यादि सिद्ध है और वे विषय भी है। पुनः उन द्रव्यादिक का धर्म भी नियोग है यह बात भी क्यों नही सिद्ध हो जावेगी ? क्योकि जिस रूप से विषय रहता है उस रूप से उसका धर्म नियोग भी रहता है यदि कहो कि उस नियोग के अनुष्ठान का अभाव है तब तो विधि का विषय जिस रूप से है उस विषय के धर्म रूप विधि का भी अनुष्ठान कसे हो सकेगा।

विधिवादी—जिस अश—दर्शन आदि रूप से विधि नही है उस अंश से विधि का अनुष्ठान घटित होता है।

भाट्ट—ऐसा अनुष्ठान तो नियोग मे भी समान है।

भावार्थ—विधिवादी कहते है कि यदि नियोग को याग स्वरूप विषय का धर्म माना जाता है तो मान लीजिये, किन्तु वह यज्ञ अभी बनकर पूर्ण तो हुआ नही है। उपदेश सुनते समय तो उस यज्ञ का स्वरूप है हो नही, पुनः वेदवाक्य के द्वारा उसका निर्णय कैसे हो सकेगा ? इस पर भाट्ट कहता है कि

१ प्रत्येतुमशक्यत्व कुत इत्युक्ते तत्र समर्थनपर प्रथम साधनम्। २ दूषणस्य। ३ अवश्यकरणीयदर्शनादौ। ४ दर्शनादि। ५ आत्मनः धर्मः। ६ विधिवादी। ७ पुरुषस्य। ८ अवश्यकरणीयदर्शनादेः। ६ नियोगमतमवलम्ब्य भावनावादी वदति। १० द्रव्यादे.। ११ तस्य नियोगस्य करणाभावे सति विधेरप्यनुष्ठान मा भूत्।

(1) दर्शनादिरूपेण। (2) पुरुष। रूपादि। (3) पुरुष।

[1]येनांशेन[1] [2]नास्ति [3]तेनानुष्ठानमिति [2]चेत् [4]तन्नियोगेपि समानम् । [5]कथमसन्नियोगोनुष्ठीयते—अप्रतीयमानत्वात् खरविषाणवदिति [6]चेत्तत एव विधिरपि नानुष्ठेयः । [7]प्रतीयमानत्वादनुष्ठेयतया[8] चासिद्धत्वादनुष्ठेयो विधिरिति चेन्नियोगोपि [9]तथास्तु ।[10]नन्वनुष्ठेय[11]तयैव[3]

"दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वाक्य के सुनने के अवसर पर जब दर्शन श्रवण है ही नहीं तब उनका धर्म विधि भी विद्यमान नही है पुन: उस असद्‌भूत विधि का अनुभव भी वाक्य के द्वारा कैसे हो सकेगा ? अत. जसे यज्ञ रूप विषय का धर्म नियोग सिद्ध नही है वैसे ही विधि भी सिद्ध नही है ।

इस पर विधिवादी कहता है कि—हम दर्शन, श्रवण आदि को विधि का विषय नहीं मानते हैं किन्तु विषय रूप से प्रतिभासित परम ब्रह्म को ही हम विधि का विषय मानते है और पुरुष तो पहले से ही बना बनाया नित्य रूप सिद्ध है, इसलिये विधि को पुरुष रूप विषय का धर्म मानना ठीक ही है । इस पर पुन: भाट्ट कहता है कि तब तो नियोगवादियो के यहा यज्ञ, पूजन आदि के अधिकरण रूप द्रव्य आत्मा पात्र, स्थानादि पदार्थ भी पहले से ही सिद्ध है अत: उन द्रव्य आदिको का विषय होने से नियोग भी क्यों नही सिद्ध हो जावेगा ? पुनरपि विधिवादी आरोप उठाता है कि जिस रूप से द्रव्यादि विषय पहले से विद्यमान है उसी रूप से उनका धर्म नियोग भी पहले से ही मौजूद है अत. बन चुके-सिद्ध रूप नियोग का अनुष्ठान कैसे हो सकेगा ?

इस पर भाट्ट कहता है कि परमब्रह्म का विषय भी जिस रूप से विद्यमान है उसी स्वरूप से उसके धर्म रूप विधि का भी सद्‌भाव है अत. उसका विधान भी कैसे किया जा सकेगा ? यदि आप कहे कि जिस स्वरूप से विधि अविद्यमान है उस रूप से उसका अनुष्ठान होता है तो नियोग मे ऐसा ही समझिये कि जिस अश से नियोग विषयी अविद्यमान है उसी अश से कर्मकाडी मीमासक उसका अनुष्ठान करते है ।

विधिवादी—असत् रूप नियोग का अनुष्ठान कैसे किया जायेगा क्योंकि वह तो अप्रतीयमान है खर-विषाण के समान ।

भाट्ट—उसी हेतु से विधि भी अनुष्ठेय नही हो सकेगी ।

विधिवादी—वर्तमान काल मे विधि प्रतीयमान होने से प्रतीत हो रही है, किन्तु दर्शन, श्रवण आदि अनुष्ठेय रूप से असिद्ध रूप है अतएव वह विधि अनुष्ठेय है । अर्थात् भविष्यत्काल मे उस विधि का विधान करना योग्य है ।

१ अत्र विधिवादी वदति । २ विधिर्नास्ति । ३ विधेः करण घटते । ४ अनुष्ठानम् । ५ विधिवादी । ६ उत्तरम् । अप्रतीयमानत्वादेव । ७ विधिवादी । ८ दर्शनश्रवणादिरूपतया । ९ विधिप्रकारेण प्रतीयमानत्वादनुष्ठेयो भवतु । १० विधिवादी भावनावादिन प्रति । ११ कर्तव्यतया ।

(1) दर्शनादिना । (2) उत्तरं । (3) करणीयतया एव ।

नियोगोवतिष्ठते[१], न प्रतीयमानतया तस्याः [२]सकलवस्तुसाधारणत्वात् । [३]अनुष्ठेयता च यदि प्रतिभाता कोन्यो [1]नियोगो यस्यानुष्ठितिरिति चेत् तर्हि विधिरपि न प्रतीयमानतया प्रतिष्ठामनुभवति[४], किन्तु [2]विधीयमानतया[५] । सा चेदनुभूता कोन्यो विधिर्नाम यस्य

भावनावादी—तब तो नियोग को भी ऐसा ही मानों क्या बाधा है ?

विधिवादी—अनुष्ठेय–कर्त्तव्य रूप से ही नियोग है किन्तु प्रतीयमान रूप से नहीं है क्योंकि वह सकल वस्तुओं में साधारण रूप से है । और प्रश्न यह होता है कि उस नियोग की अनुष्ठेयता—कर्त्तव्यता प्रतिभात है या अप्रतिभात ? यदि प्रतिभात है तो प्रतिभास के अंत प्रविष्ट ही है । यदि अप्रतिभात है तब तो उसकी अवस्थिति ही नहीं है इसलिये कर्त्तव्यता यदि प्रतिभात है तब तो नियोग नाम की अन्य क्या चीज है कि जिसका अनुष्ठान होवे ?

भावनावादी—तब तो विधि भी प्रतीयमान रूप से व्यवस्था को प्राप्त नहीं कर सकती है किन्तु विधीयमान रूप से ही व्यवस्थित हो सकती है, क्योंकि वह भी सकल वस्तु में साधारण रूप से है। अन्यथा अन्यापोह को भी विधिरूप का प्रसग आ जावेगा । यदि कहो कि वह अनुभूत है तो विधि अन्य और क्या चीज है कि जिसका विधान उपनिषद् वाक्य से आप वेदांती सुन लेते है ।

भावार्थ—यदि विधिवादी कहे कि कुछ अंश रूप से असत् नियोग का अनुष्ठान कैसे हो सकता है ? क्योंकि जो सत् रूप नहीं है और गगनकुसुमवत् जिसकी प्रतीति ही नहीं है उसका अनुष्ठान असभव है । तब यह दोष तो आप अद्वैतवादी पर भी लागू हो जाता है क्योंकि आपने भी विषय के असद्भूत अंश वाली विधि का ही अनुष्ठान माना है । यदि आप कहें कि हमारे यहा विधि की प्रतीति हो रही है अतः उस विधिरूप ब्रह्म का स्वरूप सिद्ध है पुन उसके अनुष्ठान में क्या बाधा है ? तब तो हम भाट्ट भी ऐसा कह सकते हैं कि प्रभाकर के यहां वह नियोग भी प्रतीति में आ रहा है वे भी उसको अनुष्ठान करने योग्य मानते है ।

इस नियोग की पुष्टि के कथन पर पुनरपि विधिवादी अपना ही पक्ष पुष्ट करते हुये कहते है कि नियोग अनुष्ठान करने योग्य तो है किंतु उसकी प्रतीति नहीं हो सकती है, क्योंकि केवल वह अनुष्ठेयता मात्र तो सपूर्ण वस्तुओं मे सामान्य रूप से पाई ही जाती है और यदि वह अनुष्ठेयता आप प्रभाकर को प्रतिभासित हो चुकी है तब तो आपका यह कथित नियोग भी प्रतिभास के अतरग में प्रविष्ट हो जाने से नित्य ब्रह्म रूप ही सिद्ध हो गया समझना चाहिये । पुन ब्रह्म से भिन्न दूसरा नियोग कुछ रहा ही नहीं कि जिससे आप उसके अनुष्ठान का विधान कर सके और यदि आप उस नियोग को

१ अथ नियोगो नान्य इति व्यवस्थितिर्भवति । २ जुहुयादित्यादिषु । ३ अनुष्ठेयता प्रतिभाता अप्रतिभाता वा ? यदि प्रतिभाता तदा प्रतिभासान्तःप्रविष्टैव । अप्रतिभाता चेत्तदा तस्यावस्थितिरपि नास्ति । ४ तस्याः सकलवस्तुसाधारणत्वादिति सम्बन्धः । ५ द्रष्टव्योरेयमात्मेत्यादिकर्त्तव्यतया ।

(1) वाक्यात्प्रतीयमानः । (2) अन्यथान्यापोहस्यापि विधित्वप्रसंगात् ।

विधानमुपनिषद्वाक्याद[1]नुकर्ण्यंते[1] । [2]ननु दृष्टव्यादिवाक्येनात्मदर्शनादिकं विहितं[3] ममेति प्रतीतेरप्रतिक्षेपार्हो विधिः कथमपाक्रियते[4] ? [5]किमिदानीमग्निहोत्रादिवाक्येन यागादिविषये

प्रतिभासित नहीं मानोगे तब तो उसका अस्तित्व ही नही रहेगा क्योंकि हम अद्वैतवादियों के यहाँ तो "नरः प्रतिभासते, पटः प्रतिभासते" इत्यादि रूप से मनुष्य, घट पट आदि सभी चेतन अचेतन पदार्थों को ब्रह्म स्वरूप बनाकर ब्रह्माद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिये आकाश के समान विशाल उदर वाला सबसे सुन्दर "प्रतिभासमानत्वात्" हेतु मौजूद है जो कि सभी पदार्थों को बिना श्रम के ब्रह्म स्वरूप बना देता है तथाहि, 'सर्वेऽपि चेतनाचेतनात्मकपदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः सति, प्रतिभासमानत्वात् प्रतिभासस्वरूपवत्" अर्थात् सभी चेतन अचेतन पदार्थ प्रतिभास रूप परम ब्रह्म के अंतः प्रविष्ट है, क्योंकि वे प्रतिभासित हो रहे है जैसे कि प्रतिभास—ब्रह्म का स्वरूप उस ब्रह्म के ही अतः प्रविष्ट है। इस कारण से नियोग भी अनुष्ठान करने योग्य होकर प्रतिभासित हो चुका है और जो प्रतिभासित हो जाता है उसकी वर्तमान काल में प्रतीति नहीं होती है अतः यदि आप ब्रह्माद्वैतवादी नहीं बनना चाहते है तब तो आप नियोग को अप्रतीयमान ही रहने दीजिए। इस पर भाट्ट अपने भाई नियोगवादी को सहारा देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार से आप की विधि का भी तो वर्तमान काल में अनुभव नहीं आ रहा है किन्तु वह वर्तमान में विधीयमान-विधान किए जाने रूप से ही जानी जाती है क्योंकि वह विधीयमानता भी तो सभी पदार्थों में साधारण रूप से पाई जाती है और जब विधि की विधीयमानता का अनुभव हो चुका है तो फिर उससे अन्य कौन सा अंश विधि नाम का शेष रह गया है कि जिसका "दृष्टव्योरेयमात्मा" इत्यादि वाक्यों से विधान कराया जा सके इसलिए विधि भी अप्रतीयमान है ऐसा मान लेना चाहिए अन्यथा उसका विधान नहीं किया जा सकेगा। इस प्रकार से भाट्ट ने विधिवादी पर दोषारोपण किया है। यहां पर अनुष्ठेयता भविष्यत्कालीन है, प्रतीयमानता वर्तमान कालीन है एवं प्रतिभासित्व भूतकाल का वाचक है इस प्रकार से कालों का व्यतिकर (भेद) दिखलाते हुए विद्वानो का अच्छा सघर्ष हो रहा है।

विधिवादी—"दृष्टव्यादि" वाक्यों से आत्मदर्शनादि अवश्यकरणीय कहे गए है क्योंकि 'मम इदं कर्तव्यं' यह मुझे करने योग्य है इस प्रकार से प्रतीति होती है अतः विधि प्रतिक्षेप—निषेध के योग्य नही है पुनः नियोगवादी प्रभाकर उसका निराकरण कैसे करते है ?

भाट्ट—तो क्या विधि की प्रतीति के समय अग्निहोत्रादि वाक्य से यज्ञादि के विषय में 'मैं नियुक्त हूं' ऐसी प्रतीति नहीं आती है कि जिससे नियोग का खंडन आप करते हैं। अर्थात् आप नियोग का खंडन भी नही कर सकेंगे।

१ वेदान्तवादिना। २ विधिवादी। ३ अवश्यङ्करणीयम्। ४ प्रभाकरेण। ५ विधेः प्रतीतिकाले।

(1) उपवर्ण्यंते इति पा.।

नियुक्तोऽहमिति प्रतीतिर्न विद्यते येन नियोगः प्रतिक्षिप्यते ? सा प्रतीतिरप्रमाणमिति चेत् विधिप्रतीतिः कथमप्रमाणं न स्यात् ? विधिप्रतीतेः पुरुषदोषरहितवेदवचनेन जनितत्वादिति चेत्तत एव नियोगप्रतीतिरप्यप्रमाणं मा भूत्—सर्वथाप्यविशेषात्[1]। तथापि नियोगस्य विषयधर्मस्यासम्भवे विधेरपि तद्धर्मस्य न सम्भवः। [1]शब्दस्य[2] [3]विधायकस्य धर्मो विधिरित्यपि न निश्चेतुं शक्यम्[4]—नियोगस्यापि नियोक्तृशब्दधर्मत्वप्रतिघाताभावा-

विधिवादी—वह प्रतीति अप्रमाण है।

भाट्ट—पुनः विधि की प्रतीति भी अप्रमाण क्यों नही हो जावे ?

विधिवादी—विधि की प्रतीति तो पुरुष के दोष से रहित अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होती है है अतः प्रमाण है।

भाट्ट—उसी हेतु से ही नियोग की प्रतीति भी अप्रमाण मत होवे, सर्वथा भी दोनों में समानता है अर्थात् विधि की प्रतीति और नियोग की प्रतीति दोनों भी अपौरुषेय वेदवाक्यो से उत्पन्न होती है अतः दोनो ही प्रमाण हो सकती है दोनो में कोई अतर नहीं है फिर भी यदि आप कहे कि नियोग विषय का धर्म नही है तो विधि भी विषय का धर्म नहीं है।

भावार्थ—विधिवादी कहता है कि दृष्टव्य, मन्तव्य, सोऽह इत्यादि वाक्यो से मुझको आत्मदर्शनादि की विधि हो चुकी है अत. उसका खडन नही किया जा सकता है इस पर भाट्ट कहता है कि अग्निहोत्र, विश्वजित् आदि यज्ञों के कहने वाले वाक्यों से "मैं यज्ञादि विषयों में नियुक्त हुआ हूँ" इस प्रतीति को आप अप्रमाण ही कह सकते है यदि आप विधिवादी कहे कि राग द्वेष अज्ञानादि दोषो से रहित अनादि, अनिधन वेदवाक्यों से उत्पन्न हुई विधि प्रमाणभूत है तब तो अपौरुषेय वेदवाक्यो से ही तो प्रभाकर नियोग को प्रमाण मानता है। यहाँ तक तो नियुक्त होने योग्य पुरुष को नियोग कहना या यज्ञ स्वरूप पुरुष के धर्म को नियोग कहने में आप विधिवादी जो बाधा देते है आपके यहाँ भी विधि कराने योग्य—पुरुष को विधि कहने में या विधेय के धर्म को विधि-ब्रह्मरूप करने में वे ही बाधायें सामान रूप से आ जाती है अतः नियोग और विधि में यहा तक संपूर्ण अंगों में सदृश दोषारोपण किया गया है।

विधिवादी—शब्द—विधायक का धर्म विधि है।

भाट्ट—यह निश्चय करना भी शक्य नहीं है अन्यथा नियोग भी नियोक्ता शब्द का धर्म हो जावेगा उसका आप अभाव नहीं कर सकेंगे शब्द तो सिद्ध रूप है पुन. उनका धर्म नियोग असिद्ध कैसे रहेगा कि जिससे यह वेदवाक्य से अनुष्ठेय है ऐसा प्रतिपादन किया जा सके। ऐसा भी नहीं मानना चाहिए क्योंकि

१ विधिप्रतीतिनियोग प्रतीत्योर्द्वयोरपि पुरुषदोषरहितवेदवचनजनितत्वेन कृत्वा सर्वथापि विशेषाभावात्। २ विधिलक्षणार्थप्रतिपादकस्य। ३ विधिवाद्याह।—विदधातीति विधायको द्रष्टव्योऽयमात्मेत्यादिवाक्यरूप. शब्दस्तस्य धर्मे विधिरपि विधायक इति। ४ अन्यथा।

(1) दृष्टव्योऽयमित्यादिकस्य।

नुषक्तेः । शब्दस्य [1]सिद्धरूपत्वात्तद्धर्मो नियोगः कथमसिद्धो येनासौ [2]सम्पाद्यते [1]कस्यचिदित्यपि न मन्तव्यम्[2]—विधिसम्पादनविरोधात्—तस्यापि[3] सिद्धोपनिषद्वाक्य-धर्मत्वाविशेषात् । [4]प्रसिद्धस्यापि[3] सम्पादने पुनःपुनस्तत्सम्पादनप्रवृत्त्यनुपरमात्[4] कथमु-पनिषद्वाक्यस्य प्रमाणता—तदपूर्वार्थताविरहात्स्मृतिवत्[5] । तस्य वा प्रमाणत्वे नियोग-वाक्यं प्रमाणमस्तु—विशेषाभावात् ।

विधि में भी ऐसा प्रतिपादन करना विरुद्ध है वह विधि का सपादन भी प्रसिद्ध उपनिषद्वाक्य का धर्म है दोनों जगह कोई अन्तर नहीं है । प्रसिद्ध—निष्पन्न को भी संपादित करने मे पुनः पुन· उसके सपादन की प्रवृत्ति का विराम-अभाव ही नहीं होगा पुनः उपनिषद्वाक्य में प्रमाणता कैसे आवेगी क्योंकि वह अपूर्वार्थपने से रहित है जैसे कि स्मृति अपूर्वार्थ का प्रतिपादन नहीं करती है अथवा उसको प्रमाण मानोगे तो नियोग वाक्य को भी प्रमाण मानो कोई अंतर नहीं है ।

भावार्थ—अब तीसरे प्रकार से विधायक शब्द के धर्म को विधि मानने पर नियोजक शब्द के धर्म को भी नियोग कहना पड़ेगा इसका स्पष्टीकरण करते है कि "दृष्टव्योऽयमात्मा" इत्यादि वाक्यो के द्वारा विधायक शब्द के धर्म को विधि कहने पर तो "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्यो के द्वारा नियोक्ता शब्दो के धर्म को भी नियोग मानना पड़ेगा । इस पर विधिवादी यो कहता है कि शब्द को कूटस्थ नित्य मानने वाले मीमांसकों के भाई आप प्राभाकरो के यहां शब्द का परिपूर्ण रूप सिद्ध है अतः उस शब्द का धर्म नियोग असिद्ध कैसे रहेगा कि जिससे उस नियोग को कर्मकांड वाक्यों के द्वारा कोई भी श्रोता संपादित कर सके। इस पर भाट्ट का कहना है कि आप विधिवादी के यहां भी अनादि काल से परिपूर्ण सिद्ध वैदिक उपनिषद् वाक्यों का धर्म विधि है इस मान्यता में भी वेदवाक्य का धर्म विधि भी नित्य ही ठहरी । यदि सर्व अंशों में परिपूर्ण रूप से सिद्ध हो चुके पदार्थ का भी सपादन करना माना जावेगा तो पुनः सिद्ध हो चुके का भी अनुष्ठान किया जावेगा तो कभी भी अनुष्ठान का अन्त ही नहीं हो सकेगा । इस कारण स्मृति के समान अपूर्व अर्थ के ग्राही न होने से आत्म प्रतिपादक वैदिक उपनिषद् वचनों को प्रमाणता नही आ सकती है । यहां पर स्मृति का दृष्टांत नियोगवादी की अपेक्षा से दिया गया है क्योकि स्याद्वाद सिद्धांत में स्मृति को अपूर्वार्थग्राही मानकर प्रमाणीक माना है यदि फिर भी विधिवादी गृहीत के ग्राहक उन उपनिषद् वचनो को प्रमाण मानेंगे तो नियोग वाक्य भी प्रमाण हो जावेंगे ।

१ शब्दस्त्वग्निहोत्रं जुहुयादित्यादि. सिद्धरूप. शब्दधर्म एव नियोगः कथमसिद्धो यतो यागादि कर्त्तव्य. स्यात् । २ वेद-वाक्येनानुष्ठेयो भवतीति प्रतिपाद्यते । ३ विधिसम्पादनस्य । ४ ज्ञातस्यापि । ५ वेदस्य उप समीपे निषदनमुपनिषत् तस्य वाक्यमुपनिषद्वाक्य पक्ष प्रमाण न भवतीति साध्यो धर्म. तस्यापूर्वार्थताविरहात् । यथा स्मृति. । यथा स्मृतेरपूर्वार्थ-ताप्रतिपादन नास्ति श्रुत्यनुसारित्वात् तथेत्यर्थः ।

(1) नुः । (2) अन्यथा । (3) निष्पन्नस्यापि । (4) अनुपरमाङ्गीकारे ।

[विधेर्ग्राहकं वाक्यमप्रधानतया विधिं विषयीकरोति प्रधानतया वा ? इति विकल्प्योभय दूषयति]

किञ्च तद्विधिविषयं वाक्यं गुणभावेन प्रधानभावेन वा विधौ प्रमाणं स्यात् ? यदि गुण-भावेन तदाग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादिरपि [1]तादस्तु[1] —गुणभावेन[2] विधिविषयत्वस्य भावात्—[3]तत्र भट्टमतानुसारिभिर्भावनाप्राधान्येनोपगमात्—प्राभाकरैश्च नियोगगोचर-त्वस्य प्रधानत्वाङ्गीकरणात्[2] । तौ च भावनानियोगौ नासद्विषयौ[4] प्रवर्तेते प्रतीयेते वा सर्वथाप्यसतोः प्रतीतौ प्रवृत्तौ वा शशविषाणादेरपि तदनुषक्तेः[5] । [3]सद्रूपतया[6] च तयोर्विधि-[4]नान्तरीयकत्वसिद्धेः सिद्धं गुणभावेन विधिविषयत्वं वाक्यस्य[5] । इति नाप्रमाणतापत्तिर्येन कर्मकाण्डस्य पारमार्थिकता न भवेत् । [7]प्रधानभावेन विधिविषयं चोदनावाक्यं प्रमाणमिति

[विधि को ग्रहण करने वाले वाक्य अप्रधान रूप से विधि को ग्रहण करते है या प्रधान रूप से ? दोनो विकल्पों का निराकरण ।]

दूसरी बात यह है कि उस विधि को विषय करने वाले वाक्य गौण भाव से विधि को ग्रहण करने में प्रमाण है या प्रधान भाव से ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो "अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम." इत्यादि वाक्य भी उस नियोग भावना रूप हो जावें क्योंकि विधि का विषय गौण रूप से है । विधि में हम भाट्टों ने भावना की प्रधानता से स्वीकार किया है, और प्राभाकरो ने नियोग का विषय प्रधान माना है । वे भावना और नियोग असत् के विषय नहीं है न असत् रूप से प्रतीत ही है, क्योकि सर्वथा भी असत् की प्रतीति मान लेने पर शशविषाणादि को प्रतीति और उनमें प्रवृत्ति होने लगेगी । सत् रूप से वह भावना और नियोग विधि से भिन्न नही है इसलिये वेदवाक्य विधि को गौण रूप से विषय करते है यह बात सिद्ध हो गई । अतः अप्रमाणिकता का प्रसग नही आता है जिससे कि कर्मकांड (क्रियाकाड) को पारमार्थिकपना न होवे अर्थात् कर्मकाण्ड पारमार्थिक ही सिद्ध हो जाते है यदि आप कहें कि हम द्वितीय पक्ष ले करके वेदवाक्य को प्रधान-भाव से विधि को विषय करने वाला मानते हैं इसलिये वे प्रमाण है । यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि विधि को सत्यरूप मान लेवेगे तब तो द्वैत का प्रसग आ जावेगा । अर्थात् श्रोतव्य और श्रोता आदि के भेद से विधायक और विधेय से भी भेद होने से द्वैत हो जावेगा और यदि उस विधि को असत्य मानेंगे तब तो वह प्रधान नहीं हो सकेगो । तथाहि "विधि प्रधानाभाव का अनुभव नहीं करती है क्योकि वह असत्य है

१ नियोगभावनास्तित्वम् । २ नियोगस्योपचारेण विधिविषयत्वघटनात् । ३ विधौ । ४ असतौ च तौ विषयौ च । ५ सर्वथाप्यविद्यमानस्य शशकशृङ्गगगनकुसुमवन्ध्यास्तनन्धयादेरपि तयोः प्रतीतिप्रवृत्तिकयोरनुषङ्गात् । ६ भावना-नियोगयोर्नान्तरीयकत्व (न विच्छेदकत्वमविनाभावित्व वा) तस्य सिद्धेर्घटनात् । ७ वेदवाक्य मुख्य विधिरपि मुख्य इति चेन्न—तथा—सति द्वैताभावात् । * वर्ण्यते इत्यपि पुस्तकान्तरे ।

(1) विधौ प्रमाणत्वमस्तु । (2) प्रधानताङ्गीकरणात् । इति पा. । (3) सद्रूपस्य ब्रह्मत्वस्य प्रतिपादनात् । (4) अस्तित्व । अविनाभाव । (5) अग्निहोत्रादेः ।

चायुक्तम्—विधेः[1] 'सत्यत्वे द्वैतावतारात्[१] । तदसत्यत्वे प्राधान्यायोगात् । तथा[३] हि । यो योऽसत्यः स स न प्रधानभावमनुभवति । यथा [2]तदविद्याविलासः । तथा चासत्यो विधिरिति न प्रधानभावेन [3]तद्विषयत्वोपपत्तिः । स्यान्मतम् ।—न सम्यगवधारितं विधेः स्वरूपं

जो जो असत्य है वह-वह प्रधानभाव का अनुभव नहीं करता जैसे उसकी अविद्या का विलास" और उसी प्रकार से विधि असत्य है इसलिये प्रधानभाव से वह विधि वेदवाक्य का विषय नहीं है ।

भावार्थ—प्रश्न यह होता है कि ब्रह्मरूप विधि को विषय करने वाला वाक्य गौण रूप से विधि को जानता हुआ प्रमाण समझा जाता है या प्रधानभाव से विधि का प्रतिपादन करता हुआ प्रमाण समझा जाता है ? यदि गौण रूप से विधि को कहने वाला वाक्य प्रमाण हो जावे तब तो प्रभाकरों के यहां "स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्र पूजन द्वारा यज्ञ को करे" इत्यादि रूप से कर्मकांड के प्रतिपादक वचन भी प्रमाणिक हो जावेंगे क्योंकि इन अग्निहोत्रादि वाक्यों का अर्थ भी गौण रूप से विधि को विषय कर रहा है। इन कर्मकांड वाक्यों में प्रभाकरों ने नियोग अर्थ प्रधान माना है तथा भट्ट ने भावना अर्थ प्रधान माना है एवं प्रभाकर और भट्ट के द्वारा मान्य नियोग और भावना रूप अर्थ अभाव रूप नहीं है अथवा स्वकर्तव्य के द्वारा ये दोनों भावना और नियोग असत् पदार्थ की प्रतीति कराते हों ऐसा भी नहीं है, अतः यह बात सिद्ध हो जाती है कि ये भावना और नियोग सत् रूप से (सत्सामान्य की अपेक्षा से) विधि के साथ अविनाभाव संबंध रखते है इसलिये प्रभाकरों के द्वारा मान्य अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, विश्वजित्, अश्वमेध आदि वाक्य प्रमाणभूत ही सिद्ध हो जाते है अतः गौण रूप से विधि को कहने वाले इन प्रभाकरो के कर्मकाड वाक्य भी आप अद्वैतवादियो को प्रमाण मानने पड़ेंगे। यदि आप विधिवादी इन दोषों को दूर करने के लिये प्रधान रूप से विधि को विषय करने वाले वाक्य को प्रमाण मानो तब तो वाक्य का अर्थ विधि है ऐसा परमार्थ कथन मान लेने पर एक विधि और दूसरा ब्रह्म इस प्रकार से द्वैतवाद आ जाता है और उस "श्रोतव्य, दृष्टव्य" आदि रूप विधि को असत्य कहोगे तो विधि को प्रधानता नहीं रहेगी क्योंकि जो असत्य है वह प्रधान नहीं हो सकता है अतः यह विधि प्रधान रूप से भी वाक्य का अर्थ सिद्ध नहीं होती है ।

विधिवादी—आपने विधि के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझा ही नहीं है क्योंकि वह विधि ही व्यवस्थित है । प्रतिभास मात्र से पृथक् वह विधि घटादि के समान कार्यरूप से प्रतीति में नहीं आती है और वचनादि के समान प्रेरक रूप से भी वह जानी नहीं जाती है क्योंकि कर्म और करण साधन रूप से उस विधि की प्रतीति के मानने पर तो कार्यता और प्रेरकता प्रत्यय युक्त हैं अन्यथा नहीं—अर्थात् कर्म

१ उपचरितत्वाभावे । २ श्रोतव्यश्रोतृत्वादिभेदेन विधायकतया विधेयतया च । ३ अत्र विधिविषय वाक्य प्रधानभावेन विधौ प्रमाणमस्तीति यदुक्त तत्खण्डनार्थं भावनावादी नियोगमतवलम्ब्याह ।—"विधि. प्रधानभाव नानुभवति—असत्यत्वात् । यो योऽसत्य इत्यादि" ।

(1) तव्यप्रत्ययविषय आत्मा विधिः । (2) सा प्रसिध्दा । (3) वाक्यस्य ।

[१]भवता[२] [1]तस्यैव[३] [2]यतो व्यवस्थितत्वात् । प्रतिभासमात्राद्धि पृथग् विधिः कार्यतया न प्रतीयते घटादिवत्[४] प्रेरकतया च नाध्यवसीयते वचनादिवत्[५] । कर्मकरणसाधनतया हि [६]तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकता[७]प्रत्ययो युक्तो [८]नान्यथा ।

[वेदांतवादी पुनरपि ब्रह्माद्वैतवाद समर्थयति]

किंतर्हि ? द्रष्टव्यो रेयमात्मा श्रोतव्योनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तर[3]विलक्षणेन[९] प्रेरितोहमिति जाताकूतेनाकारेण स्वयमात्मैव प्रतिभाति । स एव विधिरित्युच्यते । [१०]तस्य च ज्ञान[4] विषयतया[5] [११]सम्बन्धमधितिष्ठतीति प्रधानभावविभावना[6] विधेर्न[१२] विहन्यते—[7]तथाविधवेदवाक्यादात्मन[१३] एव विधायकतया[8] प्रतिभासनात् । तद्दर्शनश्रवणानुमननध्यानरूपस्य[9] विधीयमानतयानुभवात् । तथा[१४] च स्वयमात्माऽऽत्मानं

और करण रूप साधन के अभाव मे विधि का ज्ञान मानने पर कार्यता और प्रेरकता प्रत्यय युक्त नही है ।

[यहा विधिवादी पुनरपि ब्रह्माद्वैतवाद का समर्थन करते है ।]

भाट्ट—पुन: वह विधि किस रूप है ?

विधिवादी—सो हम बताते है । "दृष्टव्योरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि शब्दो के सुनने से अवस्थातर से विलक्षण—अप्रेरितावस्था से विलक्षण—अदृष्टव्यादि से विलक्षण रूप से "मैं प्रेरित हुआ हूँ" इस प्रकार के अभिप्राय और आकार से सहित होकर स्वय आत्मा ही प्रतिभासित होता है और वही विधि है इस प्रकार से कहा जाता है । उस विधि का ज्ञान विषय रूप से सबध को प्राप्त कर लेता है इसलिये विधि का प्रधान भाव मानना विरुद्ध नही है अर्थात् दर्शन, मनन आदि विधीयमान रूप से विधि-ब्रह्म से सबध को प्राप्त होते है । 'वृक्ष की शाखा के समान' अभेद अर्थ मे षष्ठी होती है किन्तु ब्रह्म रूप से एकत्व ही है । वह ब्रह्म ही विषयी है और वही विषय है । देखने योग्य और दर्शन करने वाले से उसमे भेद नहीं है । अतः वह विधि मुख्य ही सिद्ध हो जाती है पुन उस

१ प्रभाकरेण । २ (वेदान्त्याह) नियोगमतावलम्बिना भट्टेन त्वया । ३ विधेः । ४ यथा घटादिः कार्यतया पृथक् प्रतीयते तथा विधि· प्रतिभासमात्रात् पृथङ्न प्रतीयते । ५ यथा प्रेरकतया वचनमध्यवसीयते तथा विधिर्न । ६ विधि । ७ कार्यताप्रेरकता (विधे) न युक्तेत्येव सपाठ. । ८ कर्मकरणसाधनाभावे विधिपरिज्ञाने कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो न । ९ अप्रेरितावस्थाविलक्षणेन । अद्रष्टव्यादिविलक्षणेन । १० विधे. । ११ दर्शनादिक विधीयमानतया विधे सम्बन्धमधितिष्ठतीति यावत् । वृक्षस्य शाखेवाभेदे षष्ठीविधिना एकत्वमेवेत्यर्थ· । १२ विधेर्मुख्यत्वनिश्चयो न विरुद्ध्यते । १३ वेदवाक्यादात्मान्य एव न तद्दर्शयति । वेदवाक्यं ज्ञानमेव तच्चात्मनो धर्मोतः कारणाद्वेदवाक्यात्मनोरभेद एवेति । १४ विधायकविधीयमानयोरभेदे ।

(1) तस्यैवमव्यस्थितत्त्वात् । इति पा. । (2) असत्यत्वप्रकारेण । (3) दर्शनादिरूपेण । (4) दर्शनादिक विधीयमानतया विधे. सबधमधितिष्ठतीति यावद् वृक्षस्य शाखेवाभेदे षष्ठी विधिनैकत्वमेवेत्यर्थ (5) स एव विषयी स एव विषय. । दृश्यदृष्टृत्वाद्यो: । (6) निश्चय. (7) सबंधमधितिष्ठतीत्येतस्य समर्थनात् । (8) दृष्टृत्वादितया । (9) आत्मस्वरूपस्य ।

द्रष्टुं श्रोतुमनुमन्तुं ध्यातुं वा प्रवर्त्तते । तथा प्रवृत्त्यसम्भवे [1]ह्यात्मनः प्रेरितोहमित्यव[1]-गतिरप्रामाणिकी[2] स्यात् । ततो नासत्यो विधिर्येन प्रधानता तस्य विरुध्यते । नापि सत्यत्वे द्वैतसिद्धिः—आत्मस्वरूपव्यतिरेकेण [2]तदभावात्—तस्यैकस्यैव तथा[3] प्रतिभासनादिति ।

[भाट्टो नियोगपक्षमाश्रित्य पुनरपि विधिवादिनं दूषयति]

[4]तदप्यसत्यम्—नियोगादि[5]वाक्यार्थस्यापि निश्चयात्मकतया प्रतीयमानत्वात् । तथा हि ।—नियोगस्तावदग्निहोत्रादिवाक्यादिव द्रष्टव्योऽरेयमात्मेत्यादिवचनादपि प्रतीयते एव । नियुक्तोहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो [6]योगः [3]प्रतिभाति—[4]मनागप्ययोगाशङ्कानवतारा-दवश्यकर्त्तव्यतासम्प्रत्ययात्[5] । कथमन्यथा तद्वाक्यश्रवणादस्य[7] प्रवृत्तिरुपपद्यते—[8]मेघध्व-

प्रकार के विधिरूप वेदवाक्य से आत्मा ही विधायक रूप से प्रतिभासित होता है एवं उसका दर्शन, श्रवण, अनुमनन और ध्यान रूप आत्मस्वरूप ही विधीयमान रूप से अनुभव में आता है। उस प्रकार से विधायक-आत्मा और विधीयमान-दर्शन श्रवण आदि कार्य मे अभेद के हो जाने पर स्वयं आत्मा ही आत्मा को देखने, सुनने, अनुमनन करने अथवा ध्यान करने के लिये प्रवृत्त होता है उस प्रकार की प्रवृत्ति के संभव न होने पर "मैं प्रेरित हुआ हूँ" इस प्रकार का आत्मा का ज्ञान अप्रमाणिक हो जावेगा इसलिये विधि असत्य नहीं है कि जिससे उसकी प्रधानता विरुद्ध हो जावे। एवं सत्यरूप मानने पर द्वैत की सिद्धि भी नहीं होती है क्योंकि आत्मा के स्वरूप को छोड़कर अन्य कोई विधि असंभव ही है। वह एक ही विधि विधायक और विधेय रूप से प्रतिभासित होती है।

[यहां भावनावादी भाट्ट पुनरपि नियोगपक्ष का आश्रय लेकर विधिवादी को दूषण देता है]

भाट्ट—यह आपका कथन भी असत् है क्योंकि नियोग और भावना भी वेदवाक्य के अर्थ है वे भी निश्चायक रूप से प्रतीति मे आ रहे है। तथाहि—अग्निहोत्रादि वाक्य के समान ही "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वचन से भी नियोग प्रतीति मे आ रहा है।

"मैं इन वाक्यों से नियुक्त हुआ हूँ" इस प्रकार से निरवशेष योग रूप नियोग ही प्रतिभासित होता है क्योंकि किंचित् भी अयोग की आशंका की गुंजाइश ही नहीं है। अवश्यकर्तव्यता का ही ज्ञान हो रहा है एवं वही स्वीकार की गई है। अन्यथा उन वाक्यों के सुनने से ही इस मनुष्य की प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ? यदि आप कर्तव्यता के ज्ञान का अभाव होने पर भी उस वाक्य के सुनने से प्रवृत्ति होना मानोगे तब तो मेघ के शब्दादिकों से भी प्रवृत्ति का प्रसंग हो जाना चाहिये।

भावार्थ—जैसे घट पटादि पदार्थ भिन्न प्रतिभासित होते है उस प्रकार से प्रतिभासमात्र परमब्रह्म से भिन्न कार्य रूप से विधि का अनुभव नहीं होता है एवं वचन, चेष्टा आदि के समान प्रेरक रूप—करणरूप

१ प्रमितिः । २ विधेरभावात् । ३ विधायकतया विधेयतया च । ४ भाट्टः । ५ आदिशब्देन भावना । ६ दर्शनश्रवणा-दावात्मसम्बन्धः । ७ नु । ८ अन्यथा । कर्तव्यतासम्प्रत्ययाभावेपि तद्वाक्यश्रवणात्प्रवृत्तिरुपपद्यते चेत् ।

(1) ता । (2) प्रामाणिका स्यात् । इति पा. । (3) यत. । (4) असंबध (5) अभ्युपगमात् ।

न्या¹देरपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।

से भी वह विधि नहीं जानी जाती है। कर्म साधन में "विधीयते यः सः विधिः" जो विधान किया जावे वह विधि है एवं "विधीयतेऽनेन स विधिः" जिसके द्वारा विधान किया जावे वह विधि है, इस प्रकार से करण साधन है। निरूक्ति के अनुसार कर्म साधन में कार्यता प्रत्यय के द्वारा एवं करण साधन में प्रेरकता प्रत्यय के द्वारा विधि का अनुभव नहीं आता है। यदि कोई कहे कि विधि का क्या स्वरूप है ? तो हम अद्वैत-वादियों का कहना है कि 'अरे संसारी जीव ! यह आत्मा दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है" "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। "ब्रह्मविदाप्नोति पर" "नाह खल्वयमेव सप्रत्यात्मानं जानामि अहमस्मि इति नो इवेमानि भूतानि" इत्यादि शब्दो के सुनने से अन्य अवस्थाओ से विलक्षण होकर उत्पन्न हुई चेष्टा रूप आकार से मैं प्रेरित हुआ हूँ इस प्रकार से स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित होता है और वह आत्मा ही "विधि" इस शब्द के द्वारा कहा जाता है, अर्थात् विधि का ज्ञान, विधि में ज्ञान ये सब अभेद होने से विधि स्वरूप ब्रह्म ही हैं। अत: विधि को प्रधान रूप से वाक्य का अर्थ कहने से उन विधिवाचक (विधायक) वाक्यों से आत्मा का ही विधान हो जाता है और उस आत्मा के दर्शन, श्रवण आदि से विधि ही कर्मरूप हो जाती है। पुन. स्वय आत्मा ही अपने को देखने के लिये, सुनने के लिये, अनुमनन करने के लिये, एव ध्यान करने के लिये प्रवृत्ति करना है। आत्मा ही वेदवाक्य है, कर्ता, कर्म, क्रिया भी स्वय आत्मा ही है अतएव "मै स्वय आत्मा से प्रेरित हुआ हूँ" ऐसा अनुभव हो रहा है क्योंकि विधायक, विधीयमान और भाव विधि रूप से वह परमब्रह्म ही प्रतिभासित हो रहा है एवं आत्मस्वरूप के अतिरिक्त उस परमब्रह्म का अभाव ही है अतएव यह विधि सत्य ही है इत्यादि रूप से विधिवादी ने अपना पक्ष रखा है।

अब भाट्ट प्रभाकर का मत पुष्ट करते हुये उसका निराकरण करते है अर्थात् अव्यक्त रूप से प्रभाकर के द्वारा विधिवाद का खंडन कराते है। भाट्टो का कहना है कि—आप विधिवादी के कथनानुसार वाक्य के अर्थ नियोग, भावना आदि भी अनुभव में आ रहे है। जैसे "अग्निष्टोमेन यजेत" आदि शब्दों मे नियोग प्रतीत हो रहा है वैसे ही "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि शब्दों के द्वारा भी "मैं इस वाक्य के द्वारा नियुक्त—प्रेरित हुआ हूँ" इस प्रकार से परिपूर्ण रूप से योग हो जाना उसमें लीन हो जाना ही तो नियोग है जो कि इस वाक्य से भी प्रतिभासित हो रहा है क्योंकि इस वाक्य से भी अवश्य कर्तव्यता का ज्ञान हो जाने से किंचित् मात्र भी शका नहीं रह जाती है और यदि आप "दृष्टव्यो रे" इत्यादि वाक्यों से पूर्ण योग-लीनता-प्रेरित अवस्था नहीं मानोगे तो इन वाक्यों के सुनने से श्रोता मनुष्यों की उस ब्रह्म के विषय में दर्शन, श्रवण, मनन, ध्यान आदि की प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी ? यदि

१ का (पञ्चमी)।

[विधिप्रतिपादकवाक्यमन्यार्थस्यापोहं करोति न वेति विकल्प्य दूषयति]

किञ्च शब्दाद् द्रष्टव्योऽयमात्मेत्यादे[1]रात्मद्रष्टव्यतादिविधि[2]स्तदऽद्रष्ट[१]व्यतादि[3]व्यवच्छेदरहितो[२] यदीष्यते तदा न [4]कस्यचित्प्रवृत्ति[३]हेतुः[5]—[6]प्रतिनियतविषय[7]विधिनान्तरीयकत्वात्प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः । तस्य चातद्विषय[४]परिहाराविनाभावित्वात् कटः कर्त्तव्य इति यथा । न हि कटे कर्त्तव्यताविधिरत[५]द्व्यवच्छेदमन्तरेण व्यवहारमार्गमवतारयितुं शक्यः । [६]परपरिहारसहितो विधिः शब्दार्थ इति चेत् [७]तर्हि [८]विधिप्रतिषेधात्मकः[8] शब्दार्थः

"इति कर्तव्यता" यह मेरा करने योग्य कार्य है इस रूप नियोग ज्ञान के बिना ही चाहे जिस शब्द से प्रवृत्ति होना मान लिया जावेगा तो मेघ की गर्जना, समुद्र की पूत्कार आदि शब्दों से भी श्रोताओं की प्रवृत्ति होने लगेगी किन्तु ऐसा तो किसी ने भी नहीं माना है। मेघ की गर्जना सुनकर कोई भी मनुष्य परमब्रह्म के दर्शन, श्रवण आदि का अर्थ करके उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है।

[विधि को कहने वाले वाक्य अन्य अर्थ का निषेध करते है या नहीं ? ये दो विकल्प उठाकर दोष देते है]

दूसरी बात यह है कि "दृष्टव्योऽयमात्मा" इत्यादि शब्द से आत्मा को देखने योग्य आदि की विधि तो होती है किन्तु यदि आप उस विधि को—आत्मा को नहीं देखने योग्य आदि रूप के व्यवच्छेद—निराकरण से रहित मानते है तब तो वह विधि किसी को भी प्रवृत्ति मे हेतु नहीं हो सकेगी अर्थात् अन्य का परिहार करके किसी भी विषय में वह प्रवृत्ति का निमित्त नहीं है। क्योंकि प्रतिनियत विषय की विधि का अविनाभाव होने से ही प्रेक्षावान् प्रवृत्ति करते है और वह अप्रतिनियत रूप—अतत् विषय के परिहार के साथ अविनाभावी है जैसे चटाई बनाना चाहिये, चटाई मे जो कर्तव्यता विधि है वह पट कर्तव्यता आदि अतद् विषय का परिहार किये बिना व्यवहार मार्ग में नहीं आती है। यदि आप कहें कि पर के परिहार से सहित ही विधि वेदवाक्य—शब्द का अर्थ है। तब तो विधि प्रतिषेधात्मक ही शब्द का अर्थ सिद्ध हो गया पुनः विधिरूप एकांतवाद की प्रतिष्ठा-व्यवस्था कहाँ रही जैसे कि सर्वथा प्रतिषेध—अन्यापोहरूप एकांत की व्यवस्था नहीं बनती है।

भावार्थ—यहाँ भाट्ट विधिवादी से प्रश्न करता है कि "दृष्टव्यो" इत्यादि शब्द से आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन आदि रूप जो विधि है वह विधि आत्मा की अदर्शन, अश्रवणादि अवस्थाओं का निषेध नहीं करते हुये आत्मा के दर्शन आदि रूप से होती है या आत्मा के अदर्शनादि का परिहार करते हुये भी होती है ? यदि आप कहे कि यह विधि तो आत्मा के दर्शन, मनन आदि रूप से ही होती है अन्य अदर्शन आदि

१ अश्रोतव्यतादि । २ वेदान्तिना त्वया । ३ आत्मद्रष्टव्यतादौ । ४ अप्रतिनियतविषय ५ पटकर्तव्यतादिपरिहार विना । अकटकर्तव्यतानिराकरण विना । ६ विधिवादी वदति । ७ भाट्ट । ८ अस्तित्व ।

(1) ईप् । (2) विधान । (3) परिहार । (4) नु । (5) अन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवृत्तिनिबन्धनापायात् । (6) विषया अनेके सति एक एक विषय प्रति प्रेक्षावता प्रवृत्तिरतद्विषयपरिहाराविनाभूता कथमदृष्टव्यादिव्यवच्छेदाभावे विवक्षिते प्रवृत्तिरिति भाव । (7) बस । (8) द्वद्व. ।

इति कुतो विध्येकान्तवादस्य प्रतिष्ठा प्रतिषेधैकान्तवादवत्[१] । स्यान्मतम्[२] ।—परपरिहारस्य[३] गुणीभूतत्वाद्विधेरेव प्रवृत्त्यङ्ग[४]त्वेन[1] प्राधान्याद्विधिः शब्दार्थ इति । [५]कथमिदानीं[६] शुद्धकार्यादि[७]रूपनियोगव्यवस्थितिर्न स्यात् ?—कार्यस्यैव शुद्धस्य प्रवृत्त्यङ्गतया प्रधानत्वोपपत्तेः—[८]नियोज्यादेस्तत्रापि[९] गुणीभावात् । तद्वत्प्रेरणादिस्वभावनियोगवादिनां प्रेरणादौ प्रधानताभिप्रायात् तदितरस्य सतोपि गुणभावाध्यवसायाद्युक्तो नियोगः शब्दार्थः ।

का परिहार नहीं करती है तब तो यह विधि किसी भी श्रोता की प्रवृत्ति में हेतु नहीं बन सकेगी क्योंकि हिताहित को जानने वाले विद्वानों की प्रवृत्तियाँ प्रतिनियत विषय की विधि के साथ अविनाभाव संबंध रखती है जैसे घट की विधि यदि अघटों की व्यावृत्ति करेगी तब तो बुद्धिमान् नियत घट को लाने की प्रवृत्ति करेंगे अन्यथा शयन, रुदन, अध्ययन आदि जो भी कार्य कर रहे हैं उनको ही करते हुए कृतकृत्य हो जावेंगे उनको घट लाने या बनाने का कार्य आवश्यक ही नहीं रहेगा क्योंकि पर का परिहार तो नहीं किया गया है। जब इसने अपने से भिन्न अन्य का निषेध नहीं किया तब आत्मा के दर्शन, मनन के समान आत्मा के अदर्शन, अश्रवण, अध्ययन आदि में भी प्रवृत्ति कराने वाली हो जावेगी, मतलब दर्शन, श्रवण आदि में प्रवृत्ति नहीं होगी। जैसे किसी ने कहा कि आपको चटाई बनाना चाहिये यदि इस चटाई की कर्तव्य विधि में वस्त्र के बनाने रूप कर्तव्य का निषेध नहीं है तब तो वह श्रोता मनुष्य या तो चटाई वस्त्र, मकान आदि सभी कुछ बनाने लग जावेगा अथवा कुछ भी नहीं करेगा क्योंकि "कटः कर्तव्यः" यह, वाक्य जब अन्य का निषेध नहीं करता है तब उस श्रोता के सिर पर सभी काम आ पड़ेंगे। यदि दूसरा पक्ष लेकर आप कहें कि "दृष्टव्यो रे" इत्यादि वाक्य आत्मा के अदर्शन, अश्रवण आदि का निषेध करने वाले है तब तो आपने वेदवाक्य का अर्थ विधिप्रतिषेधात्मक रूप से उभय रूप ही मान लिया है पुनः आपका विधि-अस्तित्व रूप ही एकांतवाद कहाँ रहा ? अतएव जैसे शब्द का अर्थ अन्यापोह मात्र है ऐसा बौद्धों का कथन सिद्ध नहीं होता है वैसे ही आपका विधि रूप एकांत भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

विधिवादी—पर का परिहार रूप अन्यापोह गौण रूप है विधि ही प्रवृत्ति का अंग होने से प्रधान है इसलिये विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है।

भाट्ट—इस प्रकार से प्रधानता का आश्रय लेकर विधि को वेदवाक्य का अर्थ करते समय शुद्ध कार्यादि रूप ग्यारह प्रकार के नियोग की व्यवस्था क्यों नहीं हो जावेगी ? क्योंकि शुद्ध कार्य ही प्रवृत्ति का अंग होने से प्रधान रूप होता है, नियोज्यादि—पुरुषादि वहां शुद्ध कार्य रूप नियोग—वाक्य में भी गौण हैं। उसी प्रकार से प्रेरणादि स्वभाव नियोगवादियों के यहां प्रेरणादि में प्रधानता का अभिप्राय होने से विद्यमान

१ यथा सर्वथा प्रतिषेधैकान्त (अन्यापोह) वादस्य प्रतिष्ठा नास्ति । २ विधिवादी । ३ अन्यापोहस्य । ४ हेतुत्वेन । ५ भाट्टः । ६ प्राधान्यमाश्रित्य विधेः शब्दार्थनिरूपणावसरे । ७ शुद्धकार्याद्येकादशप्रकार । ८ पुरुषादेः । ९ शुद्धकार्यरूपे नियोगे । वाक्ये ।

(1) परपरिहारस्य यथागुणीभूतत्त्व तथा विधेरपि भविष्यतीत्याशक्य योजनीयमिदं साधन ।

[5]शुद्धकार्यप्रेरणादिषु[1] [6]स्वाभिप्रायात् कस्यचित्प्रधानभावेपि पराभिप्रायात्प्रधानत्वाभावात् । [7]तदन्यतरस्यापि स्वभावस्याव्यवस्थितेर्न [8]कस्यापि[2] शब्दार्थत्वमिति चेत् [9]तर्हि पुरुषाद्वैतवाद्याशयवशाद्विधेः प्रधानत्वेपि ताथागतमताश्रयणादप्रधानताघटनात् सोपि न प्रतिष्ठामापद्येत विप्रतिपत्तिसद्भावाविशेषात्[6] ।

उससे भिन्न में गौण भाव का निश्चय होने से नियोग को वेदवाक्य का अर्थ कहना युक्त ही है ।

विधिवादी—शुद्धकार्य, प्रेरणादिकों में स्व-प्रभाकर के अभिप्राय से किसी को प्रधान कर देने पर भी पर के—हमारे अभिप्राय से प्रधानता का अभाव है । उन दोनों प्रधान और अप्रधान में से किसी एक शुद्धकार्यादि नियोग स्वभाव की भी व्यवस्थिति न होने से प्रधान या अप्रधान रूप कोई भी एक प्रेरणादि नियोग वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकेगा ।

[यहाँ भावनावादी भाट्ट सौगत मत का अवलंबन लेकर विधिवाद को दूषित करते हैं]

भाट्ट—तब तो आप—पुरुषाद्वैतवादी के अभिप्राय के निमित्त से विधि को प्रधान मानने पर भी बौद्ध मत का आश्रय लेने से तो विधि की अप्रधानता ही घटित होती है अतः वह विधि भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होगी क्योंकि विधिवादी और सौगत दोनों में विवाद का सद्भाव होने से समानता ही है ।

भावार्थ—विधिवादियों का यह मन्तव्य है कि यद्यपि पर पदार्थों का परिहार करना शब्द का अर्थ है, किन्तु वह पर का परिहार गौण है। प्रधान रूप से तो विधि ही प्रवृत्ति का हेतु है क्योंकि पर पदार्थ अनंत हैं, अनंत जन्मों तक भी उनका निषेध शब्दों के द्वारा नहीं किया जा सकता है । हाँ ! कर्तव्य कार्य की विधि कर देने से नियुक्त पुरुष की तत्काल वहाँ प्रवृत्ति हो जाती है अतः शब्द का प्रधान अर्थ विधि ही है । इस पर भाट्ट कहता है कि पुनः आप अद्वैतवादीजन प्रभाकर द्वारा मान्य शुद्धकार्य, शुद्ध प्रेरणा आदि स्वरूप नियोग की भी व्यवस्था क्यों नहीं मान लेते हो क्योंकि प्रवृत्ति कराने का मुख्य अंग होने से शुद्ध कार्य ही प्रधान हो जावेगा और पुरुष, शब्द, फल आदि के विद्यमान होते हुये भी उनका अर्थ गौण मान लिया जावेगा । तथैव शुद्ध प्रेरणा, कार्य सहित प्रेरणा आदि स्वरूप नियोग भी प्रभाकरों के यहाँ प्रधान हैं और उनसे भिन्न, पुरुष, फल आदि के मौजूद होते हुये भी उनको गौणरूप से शब्द के द्वारा जाना जाता है । अतः नियोग को शब्द का अर्थ मानना ठीक ही है । इस पर विधिवादी कहते हैं कि शुद्धकार्य, शुद्धप्रेरणा आदि में प्रभाकरों के अपने अभिप्राय से किसी एक को प्रधानता होते हुये भी भट्ट, वेदांती, बौद्ध आदिकों के अभिप्राय से प्रधानता नहीं मानी गई है अतः शब्द के उन प्रधान, अप्रधान दोनों अर्थों में से किसी एक स्वभाव रूप भी नियोग सिद्ध नहीं हो सकता है अतः एक भी शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है । ऐसा कहने

१ विधिवादी । २ प्राभाकराभिप्रायात् । ३ अत्र विधिवादी वदति ।—तयोः प्रधानत्वाप्रधानत्वयोरन्यतरस्यापि शुद्धकार्यादिनियोगस्य । ४ प्रेरणादिनियोगस्य प्रधानस्याप्रधानस्य वा । ५ भावनावादी सौगतमतमवलम्ब्य विधिवादिनमाह । ६ विधिवादिसौगतयोर्विवादसद्भावेन विशेषाभावात् ।

(1) नियोगेषु (२) शुद्धकार्यादिनियोगस्य प्रधानभूतस्य ।

[विधिरेव वाक्यस्यार्थः सर्वत्र प्रधानमिति मन्यमाने दोषः]

स्यान्मतिरेषा ते[१] विधेरेव [२]सर्वत्र प्रधानता–प्रवृत्त्यङ्गत्वोपपत्तेः[1] । न पुनः प्रतिषेधस्य सर्वथा [३]प्रवृत्त्यङ्ग[४]तानुपपत्तेः । [४]क्वचित्प्रवर्त्तितुकामो हि [2]सर्वस्तद्विधि[६]मन्वेषते [७]तत्र पररूपप्रतिषेधान्वेषणे[८] परिनिष्ठा[९]नुपपत्तेः—[१०]पर[११]रूपाणामानन्त्यात् [१२]क्वचि[3]त्प्रतिषेद्धुमशक्तेश्च[१३] । [१४]तद्धि पररूपं न [4]तावत्स्वयमप्रतिपद्य[5] क्रमशः प्रतिषेद्धुं शक्यम्—प्रतिषेधस्य[6] निर्विषयत्वप्रसङ्गात् । नापि प्रतिपद्य[१५]—तत्प्रतिपत्तेरपि [7]पररूपप्रतिषेधापेक्षत्वात्—[१६]तस्यापि

पर तो आप पुरुषाद्वैतवादी के अभिप्राय से विधि अर्थ को प्रधानता होते हुये भी बौद्ध के मत से विधि को अप्रधानता घटित हो जाती है अतः यह विधि भी अपनी प्रतिष्ठा को कैसे रख सकेगी क्योंकि कई दार्शनिकों की ओर से विवादों के उपस्थित हो जाने पर विधि और नियोग दोनों में समाधान और निषेध में कोई अंतर नहीं दीखता है अतएव या तो आप विधिवादी विधि और नियोग इन दोनों को ही वेदवाक्य का अर्थ मान लीजिये या तो एक को भी न मानिये पक्षपात करने में कोई सार नही है। आगे इसी का और भी स्पष्टीकरण ग्रंथकार स्वय करते है।

[वाक्य का अर्थ विधि ही है वही सर्वत्र प्रधान है ऐसा मानने में दोष]

विधिवादी—हमारे यहाँ विधि ही सर्वत्र-वेदवाक्य में प्रधान है क्योंकि वही प्रवृत्ति का अंग है किन्तु प्रतिषेध प्रवृत्ति का अंग नही है अतः वह प्रधान भी नहीं है। कही जलादि में प्रवृत्ति करने की इच्छा करते हुये सभी पुरुष विधि—जलादि के अस्तित्व को ही खोजते है वहां जलादि में पर रूप के प्रतिषेध की अन्वेषणा के होने पर परिसमाप्ति नहीं होती है क्योंकि पर रूप तो अनंत हैं उनका कहीं जलादि में प्रतिषेध करना अशक्य ही है अर्थात् विवक्षित वस्तु में पर रूप के अभाव का विचार करने पर कहीं भी परिसमाप्ति होना सभव नही है क्योंकि पर रूप तो अनत हैं अतएव उनका किसी भी वस्तु में प्रतिषेध करना शक्य नहीं हो सकता है।

[हम आपसे प्रश्न करते है कि जो आप पर रूप का निषेध करते है वह क्रम से करते हैं या युगपत् ? क्रम से है कहो तो भी वहां पररूप को जान करके उसका निषेध करते है या बिना जाने ही ?]

१ विधिवादिनः। २ वाक्ये। ३ सर्वथा प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेरिति वा पाठ.। ४ कारणता। ५ जलादौ। ६ जलाद्यस्तित्वम्। ७ जलादौ। ८ सति। ९ परिसमाप्ति। १० परिनिष्ठानुपपत्ति. कुत.? ११ अग्निरूपाणाम्। १२ जलादौ। १३ तत्र विवक्षिते वस्तुनि पररूपाभावविचारणे परिसमाप्तिर्न सम्भवति। कस्मात्? पररूपाण्यनन्तानि यतः क्वचिद्वस्तुनि प्रतिषेध. कर्तुं न शक्यते च यत इति हेतुद्वयम्। १४ विधिवादी पृच्छति।—हे सौगतमतावलम्बिन् भावनावादिन्! त्वया यत्पररूप प्रतिषिध्यते तत्क्रमशो युगपद्वा? क्रमशश्चेत्तदा तत्रापि पररूप तदनिश्चित्य निश्चित्य वा प्रतिषिध्यते? इति विकल्पमेव विधिवादी खण्डयति। १५ पररूप ज्ञात्वा स्वय क्रमेण निवारयितु न शक्यते। कस्मात्? तस्य पररूपस्य निश्चितेरप्यन्यपररूपप्रतिषेधाश्रयत्वात्। १६ पररूपस्यापि।

(1) प्रवृत्त्यंगतोपत्तेः। इति पाठ.। (2) जनः। तत्-जलं। (3) जलादौ पररूपाणा प्रतिषेद्धुमशक्तेश्च। (4) स्वरूपेण। (5) अज्ञात्वा। (6) अन्यथा। (7) अपरापररूपस्य।

च प्रतिपन्नस्यैव [1]प्रतिषेधेऽनवस्थानुषङ्गात्। युगपत्सकलपररूपप्रतिषेधे परस्पराश्रयानुषङ्गात्। सिद्धे सकलपररूपप्रतिषेधे [1]प्रतिपित्सि[2]तविधिसिद्धि[3]स्तत्सिद्धौ च [4]तत्परिहारेण[2] तत्प्रतिपत्तिपूर्वकसकलपररूपप्रतिषेधसिद्धिरिति।

[सर्वथा विधिरेव प्रवृत्यंग नास्तीति प्रतिपादयन् भाट्टो विधिवादं परिहरति]

[5]तदेतदनालोचिताभिधानम्—मण्डनमिश्रस्य[6]। सर्वथा विधेरपि प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेः। सर्वो ह्योष्टे वस्तुनि प्रवर्तितुमना जनोनिष्टपरिहार [7]तत्रान्वेषते—अन्यथानिष्टेपि प्रवृत्तौ समीहितव्याघातप्रसक्तेः[3]। अनिष्टप्रतिषेधश्च प्रत्यक्षादिवत्[8] कुतश्चिद्वाक्यादपि शक्यः

यदि आप कहे कि पररूप को स्वयं बिना जाने ही उसका प्रतिषेध करते हैं ऐसा कहना तो शक्य नहीं है अन्यथा प्रतिषेध विषयशून्य—निर्विषयक हो जावेगा। यदि आप कहो कि हम पर रूप को जान करके उसका क्रम से निवारण करते है तो भी पर रूप का निश्चय—ज्ञान होने पर भी अन्य पररूप के प्रतिक्षेप-निषेध की अपेक्षा रहेगी ही और उस अन्य पररूप को भी जानकर उसका निषेध करने पर तो अनवस्था का प्रसग आ ही जावेगा।

यदि कहो कि एक साथ सभी पर रूप का प्रतिषेध करते है तब तो परस्पराश्रय दोष का प्रसग आ जावेगा। सकल पररूप का प्रतिषेध सिद्ध होने पर प्रतिपित्सित—जानने योग्य का सद्भाव सिद्ध हो जावेगा एवं जानने योग्य विधि का सद्भाव सिद्ध होने पर उसका परिहार करके उसकी प्रतिपत्ति-ज्ञान पूर्वक सकल पररूप के प्रतिषेध की सिद्धि होगी।

[सर्वथा विधि भी प्रवृत्ति मे हेतु नही है ऐसा कहते हुये भाट्ट विधिवाद का परिहार करते है]

भाट्ट—आप मडनमिश्र (विधिवादी) का यह सब कथन अविचारित ही है क्योंकि सर्वथा विधि भी प्रवृत्ति का अग नहीं हो सकती है। इष्ट वस्तु मे प्रवृत्ति करने की इच्छा रखने वाले सभी जन वहा इष्ट मे अनिष्ट का परिहार खोजते ही है, अन्यथा—यदि ऐसा न मानो तो अनिष्ट मे भी प्रवृत्ति के हो जाने पर सभी के हित–इष्ट के व्याघात का प्रसग आ जावेगा एव प्रत्यक्षादि के समान अनिष्ट का प्रतिषेध भी किन्हीं वेदवाक्यों से जानना शक्य है क्योंकि केवल विधि का ज्ञान ही अन्य के प्रतिषेध-निषेध की प्रतिपत्ति—ज्ञान रूप है अर्थात् केवलभूतल का ज्ञान होने से ही घट के अभाव का ज्ञान सिद्ध है। यह जानने

१ प्रतिषेधेनानवस्थाप्रसङ्गादिति पाठान्तरम्। २ सद्भाव। ३ प्रतिपित्सितविधिसिद्धौ ४ प्रतिपित्सितवस्तुनिराकरणेन तत्परिज्ञानपूर्वकसर्वान्यरूपनिषेधसिद्धिः। ५ भावनावादी भाट्टः। ६ विधिवादिन.। ७ इष्टे। ८ प्रत्यक्षादेरिव।

(1) प्रतिपत्तुमिष्ट। (2) सकल पररूपेषु विधिनरिस्तीति विधिपरिहारस्तेन। (3) अनिष्टप्रतिषेधो ज्ञातुमशक्यो नन्वित्याशंकायामाह।

प्रतिपत्तुम्[1] —केवलविधिप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्—केवलभूतलप्रतिपत्तेरेव घटाभावप्रतिपत्तिसिद्धेः । न ह्ययं प्रतिपत्ता [1]किञ्चिदुपलभमानः पररूपैः [2]सङ्कीर्णमुपलभते[2]—यतः प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिषेधः [3]साध्यते । न[4] च सर्वथा तैरसङ्कीर्णमेव[3]—[5]सदाद्यात्मनापि तदसङ्करे [4]तस्यासत्त्वप्रसङ्गात् । [6]परस्मात्कथञ्चिद्व्यावृत्त्यव्यावृत्त्यात्मकं[5] च कुतश्चित्प्रमाण[7]ादुपलभमानोऽर्थी [6]परव्यावृत्तिद्वारेण वा प्रवर्तते [7]विधि[8] द्वारेण वेति । विधेरिवान्यापोह[9]स्यापि प्रवृत्त्यङ्गत्वोपपत्तेर्न विधेरेव प्रधान्यम्—[10]विधात्रेव प्रत्यक्षमुपनिषद्वाक्यं चेति नियमस्यासम्भवात्—[11]अन्यथा [12]ततो विद्यावदविद्याविधानानुषङ्गात्[8] ।

वाला पुरुष कुछ जलादि वस्तु को प्राप्त करता हुआ पररूप से संकीर्ण—सहित वस्तु को प्राप्त नहीं करता है कि जिससे भिन्न प्रमाण से उसका प्रतिषेध सिद्ध किया जावे अर्थात् केवल भूतलादि को जानता हुआ अथवा देखता हुआ मनुष्य पररूप घटादिकों से सहित उसको नहीं देखता है कि जिससे अन्य प्रमाण से पररूप का प्रतिषेध सिद्ध किया जावे मतलब स्वयं ही पर रूप का प्रतिषेध हो जाता है ।

[इस पर किसी की शंका यह है कि हे स्याद्वादिन् ! शुद्ध भूतल घटादि पररूप से सर्वथा असंकीर्ण—रहित ही रहेगा । इस पर आचार्य कहते हैं कि]—

सर्वथा घटादिकों से रहित हो हो ऐसा एकांत नहीं है, अन्यथा सत्त्व, प्रमेयत्व, वस्तुत्व आदि से भी उसका संकर न मानने पर तो वे (भूतलादि) भी असत् रूप हो जावेंगे । पररूप से कथंचित् व्यावृत्ति अव्यावृत्ति स्वरूप वस्तु को किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्राप्त करता हुआ प्रयोजनार्थी मनुष्य पर की व्यावृत्ति रूप से अथवा विधि रूप से प्रवृत्ति करता है अर्थात् जलादि में "यह मरीचिका नहीं है" अथवा "जल है" इस प्रकार से प्रवृत्ति करता है इसलिए विधि के समान ही अन्यापोह—प्रतिषेध भी प्रवृत्ति का अंग सिद्ध हो गया है अतः विधि ही प्रधान नहीं है, क्योंकि विधाता—ब्रह्म ही प्रत्यक्ष और उपनिषद्

१ जलादिकम् । २ संहितम् । ३ किञ्चित्केवलभूतलादिकं जानन् पश्यन् वायं प्रमाता पुमान् पररूपैर्घटादिकैः सङ्कुलं न पश्यति यतः कुतोऽन्यस्मात्प्रमाणात्पररूपप्रतिषेधः साध्यते ? अपि तु न कुतोपि । ४ पर आह ।—तर्हि हे स्याद्वादिन् ! शुद्धभूतलघटादिपररूपैः सर्वथाऽसङ्कीर्णमेवेति पृष्टे स्याद्वादी वदति ।—नैवम् । कस्मात् ? सत्त्वप्रमेयत्ववस्तुत्वादिना कृत्वा भूतलस्य पररूपैः सहाऽमेलने सति भूतलस्याप्यसत्त्वमायाति यतः । ५ अन्यथा । ६ इष्टेतरात् । पररूपात् । ७ प्रत्यक्षात् । ८ सदाद्यात्मना । ९ प्रतिषेधस्यापि । १० (प्रथमान्तम्) आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः । नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते इति विधिवादिप्रतिपादितवाक्यस्यार्थस्य नियमस्यासम्भवात् । ११ अन्यथा, नियमः सम्भवति चेत्तदा ततो विधातुः सकाशादविद्याविधानमनुषजति । १२ प्रत्यक्षादुपनिषद्वाक्याद्वा ।

(1) कुतः । (2) पश्यति । (3) अन्यथा । (4) जलादिवस्तुनि सत्तायाः अभावो जायते यतः । (5) व्यावृत्ताव्यावृत्तात्मक इति पा० । पररूपैर्व्यावृत्तं सदाद्यात्मनाऽव्यावृत्तं च । (6) इदं मरीचिकादिकं न भवतीति । (7) इदं जलं भवतीति । (8) विधायकमेवोपनिषद्वाक्यं यतः ।

सो[1]यमविद्या[1]विवेकि[2]सन्मात्रं [3]कुतश्चित्प्रतीयन्नेव न निषेद्धृ प्रत्यक्षमन्य[4]देवेति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः[2]? कथं वा प्रत्यक्षादेर्निषेद्धृत्वाभावं प्रतीयात्[5]? [6]यतस्तत्प्रतिपत्तिः—तस्यैवाभावविषयत्वसिद्धेः[3]। [7]प्रत्यक्षादेर्विधातृत्वप्रतिपत्तिरेव निषेद्धृत्वाभावप्रतिपत्तिरिति चेत्तर्हि सिद्धं भावाभावविषयत्वं [8]तस्येति न [4]परोदितो विधिर्वाक्यार्थः सिद्धयति। नियोगस्यैव वाक्यार्थत्वोपपत्तेः प्रभाकरमतसिद्धिः।

वाक्य है ऐसा नियम करना असभव है, अन्यथा उस प्रत्यक्ष अथवा उपनिषद् वाक्य से विद्या के समान अविद्या का भी विधान हो जावेगा। तथा च आप विधिवादी अविद्या का परिहार करके सन्मात्र को किसी प्रमाण से प्रतीतिगत करते है एव प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है, अथवा अन्य उपनिषद्वाक्य निषेध करने वाले नही है ऐसा कहते हुये स्वस्थ कंसे है? क्योकि अन्य का निषेध करके ही आप विधि में प्रवृत्त है। अथवा प्रत्यक्षादि से निषेध करने वाले के अभाव को कंसे प्रतीत करेगे? अर्थात् प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है यह वचन विरुद्ध है, क्योकि जो विधि का ज्ञान है वही अभाव को विषय करने वाला है, मतलब जिस प्रमाण से विधि का ज्ञान होता है उसी से ही प्रतिषेध का ज्ञान सिद्ध है। इसलिये "प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है" ये आपके वचन विरुद्ध ही है।

विधिवादी—प्रत्यक्षादि से विधाता का ज्ञान होना ही निषेद्धृत्व के अभाव का ज्ञान है।

भाट्ट—ऐसा कहो तब तो यह बात सिद्ध हो गई कि प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय भावाभावात्मक है इसलिये वेदातवादी के द्वारा कही गयी विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है यह कथन सिद्ध नहीं हो सकता है। एवं नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ सिद्ध हो जाने से नियोगवादी प्रभाकर के मत की सिद्धि हो जाती है।

भावार्थ— विधिवादी का कहना है कि प्रधान रूप से वेदवाक्य का अर्थ विधि ही है और वही प्रवृत्ति का अग है किन्तु किसी भी शब्द का अर्थ निषेध नही है जैसे किसी को जल मे स्नान करने को या उसे पीने की इच्छा है तो वह जल चाहता है और 'जल' इस शब्द के सुनने से जल को ही खोजता है। यदि वह व्यक्ति जल में पररूप का निषेध करने लगे तो पररूप तो अनत है "यह जल है" इस शब्द मे यह

१ स्याद्वाद्याह।—सोय विधिवादी अविद्यापृथग्भूत सन्मात्र कुतश्चित्प्रमाणाज्जानन्नेव निषेद्धृ प्रत्यक्ष नान्यत् (विधात्रेव प्रत्यक्ष न) इति जल्पन् कथ स्वस्थ स्यात्? अपि तु न। अविद्याया विवेक पृथग्भाव अविवेक सोम्यास्तीत्यविद्याविवेकि तच्च तत्सन्मात्र चाविद्याविवेकिसन्मात्रम्। अविद्यायाः सन्मात्रे शून्यत्वमित्यत्रैव प्रतिषेध. प्रतीयते। २ अविद्याविवेकेन (अविद्यापरिहारेण) सन्मात्रमिति पाठ: खपुस्तकीयः। ३ प्रमाणात्। ४ उपनिषद्वाक्यम्। अन्यद्वेति खपाठ:। ५ ततश्च न निषेद्धृ प्रत्यक्षमिति वचो विरुध्येत। ६ यस्मात् प्रमाणाद्विधिप्रतिपत्तिस्तस्मादेव प्रतिषेधप्रतिपत्ति. सिद्ध्यति। ७ विधिवादी। ८ प्रत्यक्षादे. प्रमाणस्य।

(1) विवेकेन इति पा.। व्यावृत्त्या (2) अन्यव्यावृत्तिरूपेण सन्मात्रे प्रवृत्तः। (3) ततश्च न निषेद्धृ प्रत्यक्षमिति वाचो विरुद्ध्येत्। (4) वेदांतवादि।

पुस्तक नहीं है, चौकी नहीं है इत्यादि रूप से निषेध करते-करते सारा जीवन ही समाप्त हो जायेगा किंतु पररूप का अभाव नहीं हो सकेगा।

पुनरपि विधिवादी सौगत से प्रश्न करता है कि आप पररूप का निषेध करते हुए क्रम-क्रम से उस जल में एक-एक वस्तु का निषेध करते है या एक साथ ? यदि क्रम-क्रम से कहें तो भी उन अनंतरूपों को समझकर उनका निषेध करते हैं या बिना समझे ? यदि बिना जाने ही उन पररूपों का निषेध करेंगे तो निषेध का विषय क्या रहेगा ? शून्यमात्र ही तो रहेगा। यदि जानकर निषेध करना कहो तो भी एक-एक को जान-जानकर उनका निषेध करने में कहीं पर भी अंत न आने से अनवस्था ही आ जावेगी। यदि आप कहें कि हम एक साथ ही सभी पररूपों का निषेध कर देंगे तब तो परस्पराश्रयदोष आ जावेगा, पहले सभी पररूपों का प्रतिषेध हो जावेगा पुनः जानने योग्य जल का ज्ञान हो सकेगा और जब जल का सद्भाव सिद्ध हो जावेगा तब अनंत पररूपों का प्रतिषेध एक साथ ही सिद्ध होगा। अतः शब्द का अर्थ प्रतिषेध (अन्यापोह) नहीं है विधि ही है ऐसा सत्ताद्वैतवादी ने अपना पक्ष रखा है।

इस पर भाट्ट का कहना है कि सर्वथा विधि ही प्रवृत्ति का हेतु नहीं है क्योंकि इष्ट जल में स्नान आदि की इच्छा रखने वाले मनुष्य वहाँ इष्ट जल मे अनिष्ट अग्नि आदि का परिहार खोजते ही है। अन्यथा अनिष्ट अग्नि आदि मे भी प्रवृत्ति हो जाने से किसी को भी अपने इष्ट की सिद्धि ही नही हो सकेगी अतएव विधि के समान निषेध भी शब्द का अर्थ है और प्रवृत्ति का हेतु है। यदि आप कहे कि "आहुर्विधातृ प्रत्यक्ष न निषेधृ विपश्चितः। नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते"॥ अर्थ—विद्वान् लोग प्रत्यक्ष को विधायक—विधि को विषय करने वाला मानते हैं, किंतु निषेधक—प्रतिषेध को विषय करने वाला नही मानते है। इसलिये एकत्व के समर्थन में जो आगम है, वह प्रत्यक्ष से बाधित नही होता है। यदि ऐसा ही एकांत मानोगे तो आपके यहां प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा उपनिषद्वाक्य भी जैसे अपना विधान करते हैं वैसे ही अविद्या का या अन्य सांख्य, सौगत, जैन के सिद्धांत का भी विधान ही कर देंगे न कि निषेध। पुनः वेदवाक्य का अर्थ अविद्या का परिहार करके मात्र सन्मात्र परमब्रह्मरूप ही है ऐसा आप कैसे कह सकोगे ? एवं 'प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नही है' इस वाक्य के द्वारा आप निषेध का भी निषेध कैसे करेंगे ? यदि आप कहे कि प्रत्यक्ष से की गई परमब्रह्म की विधि ही तो अन्य पदार्थों का अभाव है। तब तो जैनधर्म के अनुसार आपके प्रत्यक्षादि प्रमाण भावाभावात्मक ही सिद्ध हो जाते है पुनः एकांत से वेदवाक्य का अर्थ विधि ही है यह बात सिद्ध नही होती है। भाट्ट कहता है कि इसलिये आप नियोग को ही प्रमाण मान लीजिये ऐसे प्रभाकर का अभी तक पक्ष रखा है। अब प्रभाकर सामने आता है तब उसको बुद्धू बनाकर भाट्ट अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुये भावनावाद को पुष्ट करते है।

विधिवाद के खंडन का सारांश

भाट्ट–आप कहें कि विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है तो आपके विधिवाद में भी हम प्रश्न करेंगे कि—विधि प्रमाण है या प्रमेय, उभयरूप है या अनुभय रूप, शब्दव्यापार रूप है या पुरुष व्यापाररूप, उभयव्यापाररूप है या अनुभय व्यापाररूप है? यदि आप विधि को प्रमाण कहेंगे तो आप ब्रह्माद्वैतवादियों के यहां अन्य प्रमेय और क्या होगा? यदि आप विधि के स्वरूप को ही प्रमेय कहो तो सर्वथा निरंश, सन्मात्र देह वाली विधि प्रमाण और प्रमेय ऐसे दो रूप वाली कैसे होगी? एवं प्रमाण प्रमेय को कल्पित कहने पर तो आप बौद्ध ही हो जावोगे, क्योंकि बौद्ध भी प्रमाण और प्रमेय दोनों को कल्पित—अन्यापोह रूप अर्थ से मानता है किन्तु अन्यापोह को वस्तु का कथन करने वाला नहीं मानता है एवं कल्पित उपनिषद्वाक्य से या हेतु से परब्रह्म का ज्ञान कैसे होगा? यदि इन्हें वास्तविक कहोगे तो द्वैत आ जावेगा। दूसरी बात यह है कि ये उपनिषद्वाक्य अचित्स्वभाव है या चित्स्वभाव? यदि अचित्स्वभाव कहो तो ब्रह्म से भिन्न अचेतन रूप होने से द्वैत हो गया। यदि चित्स्वभाव कहो तो प्रतिपादक–गुरु के चित्स्वभाव है या प्रतिपाद्य—शिष्य के अथवा दोनों के? यदि गुरु का कहो तो शिष्य को ज्ञान नहीं होगा। यदि शिष्य का कहो तो गुरु को ज्ञान नहीं होगा, यदि दोनों का चित्स्वभाव मानो तो प्रश्न करने वाले अनेक मनुष्यों को ज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि कहो कि ये आगम वाक्य और हेतु सभी के चित्स्वभाव है तो यह गुरु है, यह शिष्य है, ये प्राश्निक है इत्यादि भेद नहीं हो सकेंगे। यदि इन भेदों को अविद्या से मानो तो अविद्या गुरु में ही गुरु का बोध न कराकर शिष्य में गुरु का एवं गुरु में शिष्य का भी ज्ञान करा देगी, क्योंकि वह तो अविद्या ही है और वह एक ही है, सभी में अभिन्न रूप से समान काल में रहती है एवं अविद्या को अविद्या से कल्पित कहने पर तो विद्या ही सिद्ध हो गई अतः सभी में संकर दोष हो जावेगा, यदि आगमादि को ब्रह्म से भिन्न ही मानोगे तो बाह्य वस्तु के सिद्ध हो जाने से अद्वैतवाद समाप्त हो जावेगा।

यदि विधि को प्रमेय रूप मानो तो किसी भिन्न प्रमाण को मानना ही होगा पुनः द्वैत आ जावेगा। यदि उभयरूप कहो तो भी विरोध ही है। अनुभयरूप मानने पर तो खरविषाण के समान अवस्तु ही हो जावेगा। यदि पांचवा विकल्प लेवो तो भाट्ट के मत में प्रवेश होगा तथैव छठे में भी वही बात है। उभय के व्यापार से कहो, तो क्रम से या युगपत्? इन दो विकल्पों से दोष आते है। एवं अनुभय व्यापाररूप विधि को कहो तो वे ही प्रश्न मौजूद है कि विधि विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है अथवा निःस्वभाव? विषय का स्वभाव कहो तो निरालंबवाद में प्रवेश हो जाता है। तथैव फल का स्वभाव कहने पर भी वाक्य के काल में स्वर्गादि फल असंनिहित होने से निरालंबवाद हो आता है। निःस्वभाव कहो तो "वेदवाक्य का कुछ भी अर्थ नहीं है" ऐसा हो जाता है।

पुनरपि यह विधि सत् रूप है या असत् रूप, उभयरूप है या अनुभयरूप ? सत्रूप कहो तो किसी को भी विधेय नहीं होगी, पुरुष के समान। असत् कहो तो खरविषाण के समान हो जावेगी। उभयरूप कहो कि "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि से असत्रूप है और पुरुषरूप से सत्रूप है तब तो द्वैत हो जावेगा। चतुर्थ पक्ष में सत् का निषेध होने से असत् की विधि होगी अथवा सर्वथा दोनों का निषेध होने से "कथंचित् सत्त्वासत्त्व" की विधि होगी तो जैनमत में प्रविष्ट हो जावोगे।

तथैव वह विधि प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव ? यदि प्रवर्तक कहो तो बौद्धादिकों को भी विधि प्रवर्तक हो जावेगी। यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो वेदवाक्य का अर्थ वह कैसे हो सकेगी ?

इसी प्रकार वह विधि फल रहित है या फल सहित ? फल रहित कहो तो नियोग के समान प्रवर्तक नहीं होगी। पुन. वेदवाक्यों का अभ्यास भी क्यों किया जावेगा ? फल सहित कहो तो फलार्थीजनों की प्रवृत्ति स्वतः सिद्ध है, पुन विधि के अर्थ से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अतएव जिस प्रकार से वेदवाक्य का अर्थ नियोग करने में अनेक दूषण आते है तथैव विधि अर्थ मानने में अनेक दूषण आते है। यदि आप विधि अर्थ को प्रमाण कहोगे तो नियोग को भी प्रमाण मानना होगा। अतएव हमारे द्वारा मान्य "भावना" ही वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा भाट्ट का कथन है उसका भी जैनाचार्य खंडन करेंगे।

[अधुनापर्यंत भावनावादी भाट्टो नियोगवादं सौगतमतं चाश्रित्य विधिवादमदूषयत् अत:प्रभृति स्वपक्ष भावनावादं पोषयति]

[1]स [2]एव वाक्यार्थोऽस्त्वित्ययुक्तम्—[3]धात्व[4]र्थवन्नियोगस्य [5]परोपवर्णितस्वरूपस्य वाक्यार्थतया प्रतीत्यभावात्—[6]सर्वत्र भावनाया[7] एव वाक्यार्थत्वप्रतीतेः। सा हि द्विधा; शब्दभावनार्थभावना च।

"शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव[8] लिङादयः[9]। [10]इयं [1]त्वन्यैव [11]सर्वार्था [2]सर्वाख्यातेषु [3]विद्यते" ॥

इति वचनात्। तत्र शब्दभावना[4] शब्दव्यापार:[5]। [12]शब्देन हि पुरुषव्यापारो [13]भाव्यते, पुरुषव्यापारेण [6]धात्वर्थो[14], धात्वर्थेन [15]फलमिति।

[यहाँ तक भावनावादी भाट्ट ने नियोगवादी प्रभाकर के मत का अवलंबन लेकर एवं सौगत मत का भी आश्रय करके विधिवादी—वेदान्ती को दूषण दिया है अब स्वयं अपना पक्ष पुष्ट करता है।]

प्रभाकर—अत: आपके ही कथनानुसार हमारे द्वारा मान्य वह नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ हो जावे यही ठीक है। बाधा क्या है?

भावनावादी भाट्ट—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि धातु के अर्थ के समान आप प्रभाकर द्वारा वर्णित स्वरूप वाला नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ है ऐसी प्रतीति नहीं आती है क्योंकि सर्वत्र—नियोग एवं विधि आदि के प्रतिपादक वैदिक एवं लौकिक वाक्यों में भावना ही वेदवाक्य का अर्थ प्रतीति में आ रहा है। उस भावना के दो भेद हैं—(१) शब्दभावना (२) अर्थभावना। कहा भी है—

श्लोकार्थ—लिङ्, लोट् आदि लकार अर्थभावना से भिन्न शब्दभावना और आत्मभावना को कहते हैं क्योंकि यह अर्थभावना सर्वार्थ—सभी लकारों के अर्थों का प्रतिपादन करने वाली है एवं सभी आख्यातों में विद्यमान है॥

उसमें शब्दव्यापार को शब्दभावना कहते हैं "अग्निष्टोमेन" इत्यादि शब्द के द्वारा पुरुष का व्यापार उत्पन्न किया जाता है। पुरुष के व्यापार से धातु का अर्थ सिद्ध होता है तथा उस धातु के अर्थ से फल की सिद्धि होती है।

१ नियोग। प्राभाकर। २ अत:। ३ अत्र भावनावादी वदति।—इति नियोगवादिवचोऽयुक्तम्—विधिवादवत्परोदितनियोगस्याप्यप्रमाणत्वात्। ४ सन्मात्र धात्वर्थात्र विधि। ५ प्रभाकर। ६ नियोगविध्यादिस्वरूपप्रतिपादके वैदिके लौकिके च वाक्ये। ७ तेन (वाक्येन) भूतिषु (यागक्रियासु) कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः (द्रव्यादेः)। प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनां भावनाविदः। ८ अर्थभावनातो भिन्नाम्। ९ लिङ्लोट्तव्या कर्तारः। १० अर्थभावना। करोति धात्वर्थलक्षणा वक्ष्यमाणेयं सर्वार्थप्रतिपादिनी भावना अन्यापूर्वोक्ताया: शब्दभावनातो भिन्ना। कुत: ? सर्वाख्यातेषु विद्यमानत्वात्। ११ सर्वोर्थो यजनादिर्यस्या सा। १२ अग्निष्टोमेत्यादिना। १३ उत्पाद्यते। १४ यथा शब्दव्यापार। १५ धात्वर्थस्य।

(1) शब्दभावनातः (2) लिङादिषु (3) यतः (4) उत्पादकत्वं पुरुषव्यापारस्य। (5) प्रेरणात्पर। (6) धात्वर्था इति पा

भावार्थ—भाट्टों के यहा शब्दभावना और अर्थभावना ये दो प्रकार की भावनाए मानी गई हैं। उनके ग्रन्थों में कथन है कि लिङ्, लोट् और तव्य ये प्रत्यय शब्दभावना और अर्थभावना को ही कहते है। संपूर्ण अर्थों में व्याप्त "करोत्यर्थ" रूप अर्थभावना तो सपूर्ण तिङन्त से आख्यात—दशो लकारों में विद्यमान है। यह अर्थभावना शब्दभावना से भिन्न ही है। इन दोनों भावनाओ में शब्दभावना तो शब्द के व्यापार रूप है क्योंकि शब्द के द्वारा ही पुरुष का व्यापार भावित किया जाता है और पुरुष व्यापार के द्वारा "यज्" "पच्" आदि धातुओं का अर्थ भावनारूप किया जाता है। तथा धातु के अर्थ से फल भावित किया जाता है यह शब्दभावनावादी भाट्टो का मत है, किन्तु उनका यह मत ठीक नही है क्योंकि शब्द का व्यापार शब्द का अर्थ नही हो सकता है। "स्वर्ग की इच्छा रखने वाला पुरुष अग्निष्टोम वाक्य से यज्ञ को करे" इस प्रकार के शब्द से उस शब्द का व्यापार रूप यज्ञ प्रतिभासित नहीं होता है। वही शब्द अपने ही व्यापार का प्रतिपादक भला कैसे हो सकेगा ? एक ही शब्द स्वय प्रतिपाद्य और प्रतिपादक इन दोनों रूप हो यह बात विरुद्ध है। वेदवाक्य के उच्चारण के समय प्रतिपादक शब्द का स्वरूप तो पहले से ही सिद्ध है और भविष्य मे होने योग्य प्रतिपाद्य विषय का स्वरूप तो उस काल में असिद्ध है। अतएव अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम आदि की भावना कराने वाले वाक्यों से अनुष्ठाता पुरुष का यज्ञ मे प्रवृत्ति कराने रूप व्यापार कैसे भावित किया जावेगा तथा पुरुष के व्यापार से यज्ञ करने रूप धातु का अर्थ भी कैसे भावित किया जावेगा ? तथैव धातु के अर्थ से चिरकाल मे होने वाला स्वर्ग नाम का फल कैसे भावनायुक्त किया जावेगा कि जिससे आप भाट्ट के कथनानुसार भावना करने योग्य, भावना करने वाला तथा भावना का कारण इन तीन रूप मे तीन अशो से परिपूर्ण होती हुई भावना का विचार किया जा सके अथवा तीन अश वाली भावना आत्मा मे विशेषतया भायी जा सके ? अत. शब्दभावना वाक्य का अर्थ नही है। यदि पुरुष का व्यापार भावना है तब तो पुरुष यज्ञादि के द्वारा स्वर्ग को भावित करता है, किन्तु इस प्रकार यज्ञ से भावित किया गया फल तो शब्द का अर्थ नहीं है। क्योंकि शब्द के बोलते समय स्वर्ग सन्निहित नही है। शब्द सुनने के पश्चात् न जाने कितने दिन बाद यज्ञ किया जावेगा और बहुत दिन पीछे मरने के बाद कदाचित् स्वर्ग मिल सकेगा अतः अनेक दूषणों से दूषित होने से 'भावना' वेदवाक्य का अर्थ नहीं है।

इस प्रकार से पुरुष के व्यापार में शब्द व्यापार के समान और धातु के अर्थ में पुरुष व्यापार के समान फल में जो धातु का अर्थ है वह भावना हो, ऐसा प्रसंग नहीं आता है। अर्थात् पुरुष के व्यापार में शब्द का व्यापार है तथा धात्वर्थ में पुरुष का जो व्यापार है वह भावना है। उसी प्रकार से फल में धात्वर्थ भावना नही है अन्यथा वह शुद्ध धात्वर्थ सन्मात्ररूप होने से विधि-ब्रह्माद्वैत रूप हो जावेगा किंतु ऐसा है नहीं।

न [1]चैवं पुरुष[2]व्यापारे [1]शब्दव्यापार[3]वद्धात्वर्थे च पुरुषव्यापारवत् फले धात्वर्थो भावनानुपज्यते[4]—[5]तस्य [6]शुद्धस्य सन्मात्ररूपतया विधिरूपत्वप्रसङ्गात् । तदुक्तम् ।—

"सन्मात्रं [7]भावलिङ्गं [2]स्यादसंपृक्तं तु कारकैः[3] । धात्वर्थः[4] केवलः[8] शुद्धो[9] भाव इत्यभिधीयते ॥
[10]तां [5]प्रातिपदिकार्थं[11] च धात्वर्थं च प्रचक्षते । सा सत्ता सा महानात्मा[12] यामाहुस्त्वतलादयः ॥"

इति च [6]प्रतिक्षिप्तश्[13]चैवंविधो विधिवादो नियोगवादिनैवेति नास्माक[14]मत्राति-

[अर्थात् वह धात्वर्थ सन्मात्ररूप है या यजनादि रूप है अथवा क्रियारूप है ? इत्यादि रूप से भाट्ट तीन विकल्प करके क्रम से दूषण दिखाते है ।]

यदि धात्वर्थ को शुद्ध सन्मात्र मानो तो वह विधिरूप ही सिद्ध होगा । कहा भी है—

श्लोकार्थ—जो कारकों के सपर्क से रहित सन्मात्र, भावलिंग है एव केवल—भिन्न अर्थ से रहित शुद्ध (अपने अतर्गत विशेषों से रहित) भाव है वह धात्वर्थ कहलाता है ॥१॥

श्लोकार्थ—ज्ञानीजन प्रातिपदिक अर्थ को और धातु के अर्थ को सत्ता कहते है तथा वह सत्ता ही महान् आत्मा (परब्रह्म) स्वरूप है । उस सत्ता को ही "त्व और तल्" आदि प्रत्यय द्योतित करते है ॥२॥

प्रातिपदिक शब्द का अर्थ—पाणिनि व्याकरण में धातु और प्रत्यय से रहित अर्थवान् शब्द को "प्रातिपदिक" कहते है एव कातंत्रव्याकरण में "धातु विभक्तिवर्ज्यमर्थवल्लिग" सूत्र मे उसे लिग सज्ञा है एवं जैनेन्द्र व्याकरण में इसे "मृत" सज्ञा दी है ।

इस प्रकार के विधिवाद का नियोगवादी के द्वारा निरसन कर दिया गया है अतः हम भावनावादी भाट्टो को इस विधिवाद के निराकरण करने में विशेष आदर नही है । यदि आप कहे कि सन्मात्र से भिन्न यजनादि रूप ही धात्वर्थ है तब तो वह भी प्रत्यय के अर्थ से शून्य होने से किसी अग्निहोत्रादि वाक्य से प्रतीति में नही आता है प्रत्युत प्रत्यय सहित ही वह धातु का अर्थ उस वाक्य से जाना जाता है । अर्थात् प्रत्ययार्थ विशेषणभूत का ही उससे ज्ञान होता है ।

१ धात्वर्थस्य फलजनकत्वप्रकारेण । २ कपुस्तके पुरुषव्यापार इति प्रथमान्तेन पाठ । ३ यथा शब्दव्यापार । ४ पुरुषव्यापारे शब्दव्यापारो यथा धात्वर्थे पुरुषव्यापारो भावना तथा फले धात्वर्थो भावना न । ५ धात्वर्थस्य । ६ स हि धात्वर्थ. सन्मात्ररूपो वा यजनादिरूपो वा क्रियारूपो वति विकल्पत्रय मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयति भाट्ट. । ७ भाव इति निश्चेयम् । ८ अर्थान्तररहित. । ९ स्वान्तर्गतविशेषरहितः । १० सत्ताम् । ११ अर्थवदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकमिति पाणिनिकृता शब्दाना सज्ञा । १२ परब्रह्म । १३ एव नियोगवादिना धात्वर्थभावनावाद प्रतिक्षिप्त. तथा विधिवाद. प्रतिक्षिप्त. । १४ भावनावादिना विधिवादनिराकरणे ।

(1) स्वेन क्रियमाणे पुरुषव्यापारे शब्दव्यापारो यथा शब्दभावना (2) विधिज्ञापक (3) यतः (4) यागादिविशेषणरहितः (5) विभक्त्यादिरहितनामर्थः (6) शुद्धधात्वर्थरूप ।

तरामादरः । [1]अथ[१] [२]ततोन्यो[३] धात्वर्थः[2] सोपि न [४]प्रत्ययार्थशून्यः [५]कुतश्चिद्वाक्यात्प्रतीयते—[६]तदु[७]पाधेरेव तस्य ततः सम्प्रत्ययात् । [८]प्रत्ययार्थस्तत्र[९] प्रतिभासमानोपि न प्रधानं [१०]कर्मादिवदन्य[११]त्रापि भावादिति चेत् [१२]तर्हि धात्वर्थो यजनादि प्रधान मा भूत् [१३]प्रत्ययान्तरेपि[3] भावात् प्रकृत[१४]प्रत्ययापायेपीति समानं पश्यामः[१५] । [१६]यदि पुन [१७]क्रिया सकलव्यापिनी-धात्वर्थः—सर्वधातुषु भावात् तदा सैव [१८]भावना कि नेष्यते—[१९]सर्वार्थेषु सद्भावात् । यथैव हि जुहुयाज्जुहोतु होतव्यमिति लिङादयः[4] क्रिया हवनावच्छिन्ना[२०] प्रतिपादयन्ति तथा सर्वाख्यात-

विधिवादी—प्रत्यय का अर्थ उस धातु के अर्थ में प्रतिभासित होता हुआ भी प्रधान नहीं है क्योंकि वह प्रत्यय का अर्थ कर्म करण आदि के समान अन्यत्र—धात्वतर (भिन्न धातुओं) में भी विद्यमान है।

भाट्ट—तब तो धातु का अर्थ यजन आदि भी प्रधान नही होवे क्योंकि प्रकृत प्रत्यय (लिङ्, लोट् तव्य) के अभाव मे भी प्रत्ययातर मे विद्यमान है। इस प्रकार से हम भावनावादी और आप विधिवादी दोनो के प्रति दूषण समान ही दीखते है।

यदि पुनः सकल व्यापिनी क्रिया धातु का अर्थ है क्योंकि सभी धातुओं में विद्यमान है तो उसी को ही भावना—पुरुषभावना रूप क्यों नही स्वीकार कर लेते हो, क्योंकि वह क्रिया सभी यजनादि लक्षण अर्थों मे मौजूद है। अर्थात् भावनावादी कहता है कि हे विधिवादिन्! आपके द्वारा स्वीकृत सन्मात्र—सत्तामात्र परम ब्रह्म ही धातु का अर्थ नहीं है क्योंकि सकलव्यापिनी—सभी धातुओं में व्याप्त "करोति" इस अर्थ के लक्षण वाली क्रिया सभी धातुओं मे सभव है ऐसा "करोति" क्रिया लक्षण धात्वर्थ यदि आप स्वीकार कर लेते हो तब तो हम लोग भी उसी सर्वव्यापिनी क्रिया को 'भावना-पुरुषभावना रूप" क्यो नही स्वीकार करेंगे अपितु करेंगे ही। क्योंकि सभी अर्थों मे और सभी आख्यातो मे वह क्रिया सभव है।

जिस प्रकार से "जुहुयात्, जुहोतु, होतव्य" (हवन करना चाहिये) इस प्रकार के लिङ्, लोट्, तव्य

१ द्वितीयविकल्प (भाट्ट)। २ भावनावाद्याह—हे विधिवादिन् एव कि तवाभिप्रायः। ततः सन्मात्रादन्य एव धात्वर्थ इति तदा—सोपि धात्वर्थ प्रत्ययार्थरहितो न दृश्यते। ३ यजनादि। ४ लिङाद्यर्थ करोत्यर्थव्याप्त। ५ अग्निहोत्रादे। ६ प्रत्ययसहितस्यैव तस्य धात्वर्थस्य ततो वाक्यात्प्रत्ययो भवति। ७ स प्रत्ययार्थ उपाधिर्विशेषण यस्य स तथोक्तस्तस्य तदुपाधेः प्रत्ययार्थविशेषणभूतस्य सम्प्रत्ययात्। ८ प्रभाकरः। विधिवाद्याह। ९ धात्वर्थे। १० कर्मकरणादेर्यथान्यत्र भावो विद्यते। ११ धात्वन्तरे। १२ भाट्ट। १३ धात्वर्थान्तरे। १४ लिङ्लोट्तव्य। १५ वय भावनावादिनः हे विधिवादिन् तव मम च तुल्य दूषण पश्यामः। १६ (तृतीयो विकल्पः) भावनावादी प्राह।—हे विधिवादिन् भवदभ्युपगतः सन्मात्रस्तावद्धात्वर्थो न। यदि पुन सकलव्यापिनी करोत्यर्थलक्षणा क्रिया सर्वधातुषु सम्भवाद्धात्वर्थस्त्वयाभ्युपगम्यते तदास्माभिः सैव सर्वव्यापिनी क्रिया भावना कि नेष्यते। अपि त्वभ्युपगम्यते। कुतः ? सर्वार्थेषु सर्वाख्यातेषु च तस्याः सम्भवात्। १७ यजनपचनादिक्रिया। १८ पुरुषभावना। १९ यजनादिलक्षणेषु लङादिषु च। २० हवनविशिष्टाम्।

(1) योगाचारः (2) यजनादि। (3) लङादौ (4) लोट् तव्य।

[1]प्रत्यया अपि—पचति पपाच पक्ष्यतीति पचनावच्छिन्नाया क्रियाया एव प्रतिपत्तेः । [2]पाकं करोति चकार करिष्यतीति[1] । [3]तथा च लिङादिप्रत्ययप्रत्याय्य[2] करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इत्यायातम् । [4]स च [5]भावनास्वभाव एवेति न [6]धात्वर्थ एव वाक्यार्थतया प्रतीयते । [7]नापि कार्यादिरूपो[8] नियोगः ।

प्रत्यय हवन से विशिष्ट क्रिया को प्रतिपादित करते है उसी प्रकार से सर्वाख्यात प्रत्यय—लट् लकारादि भी प्रतिपादित करते है क्योंकि "पचति, पपाच, पक्ष्यति" इस प्रकार से पचन से अविच्छिन्न—व्याप्त क्रिया ही जानी जाती है। उस क्रिया से वह पाक को करता है, किया था और करेगा इत्यादि ज्ञान होता है। इस प्रकार से क्रिया को भावना मान लेने पर लिङादि प्रत्यय से जानने योग्य 'करोति' का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ होता है यह बात सिद्ध हो जाती है और वह आत्मा शुद्ध भावना स्वभाव ही है इसलिये यह तीन प्रकार का धात्वर्थ ही वाक्यार्थ–वेद के अर्थ रूप से प्रतीति में नहीं आता है और न कार्यादिरूप नियोग ही वेद के अर्थ रूप से प्रतीति में आता है।

विशेषार्थ—वेदवाक्यो मे विधिलिङ् लोट् और तव्य प्रत्यय पाये जाते है यथा "अग्निष्टोमेन यजेत्"। इस "यजेत" क्रियारूप पद मे विधिलिङ् है तथैव यजताम् और यष्टव्य मे लोट् और तव्य प्रत्यय है। व्याकरण के नियम के अनुसार मूल में दो तरह के शब्द होते है प्रकृति और धातु। पुरुष या धर्म शब्द प्रकृतिरूप है और भू, पच्, पठि आदि धातु कहलाते है। कातत्रव्याकरण मे "धातुविभक्तिवर्ज्यमर्थवल्लिग" इस सूत्र के अनुसार धातु और विभक्ति से रहित अर्थवाले पुरुष, धर्म आदि शब्दो को लिग सज्ञा है। सिद्धातकौमुदो में इसकी प्रातिपदिक सज्ञा है और जैनेन्द्र व्याकरण मे इसी को मृत सज्ञा है। इस मृत सज्ञक शुद्ध प्रकृति रूप शब्दो से विभक्ति सु औ जस् अम आदि आकर इस एक पुरुष शब्द को ही एकवचन, द्विवचन, बहुवचन एव कर्त्ता कर्म करण आदि रूप सिद्ध कर देती है। जसे 'पुरुष.' का अर्थ एक पुरुष है तो "पुरुषौ" का अर्थ दो पुरुष हो जाता है तथा "पुरुष" का अर्थ 'पुरुष को" हुआ, तो "पुरुषेण" का अर्थ "पुरुष के द्वारा" हो जाता है। अतः प्रकृति और विभक्ति अर्थात् प्रत्यय मिलकर ही अर्थ को प्रकट करते है। उसी प्रकार से मिङन्त मे भी 'भू, कृ' आदि धातु है इनसे दश लकार से सबधित मि, वस्, मस् आदि विभक्तियाँ आती है एव कृदत प्रकरण के अनुसार 'तव्य तृच्' आदि प्रत्यय भी आते है तभी इनका अर्थ स्पष्ट होता है। शुद्ध प्रकृति या धातु में यदि प्रत्यय के द्वारा विकार उत्पन्न न होवे तो वे ज्यो-के त्यों पड़े रहेंगे उन शुद्ध प्रकृति या धातु से कोई भी वाक्य रचना नही बनेगी। हा! उनमे प्रत्यय के लग जाने पर विकार के उत्पन्न हो जाने से वे अनेक अर्थों को प्रकट करने लग जाते है। जैसे 'जिन यजेत्', "धर्ममाश्रयामि, अह गच्छामि" आदि वाक्य रचना एक-एक पदो के मिलाने से ही बनी है और "सुप्मिङन्त

१ लडादयः। २ केन प्रकारेण प्रतिपत्तिरित्युक्ते आह। ३ क्रियाया एव भावनात्वे च। ४ आत्मा। ५ शुद्धभावना। ६ त्रिविधोपि धात्वर्थः। ७ भाट्ट.। ८ वाक्यार्थतया न प्रतीयते।

(1) अनेन (2) ज्ञाप्यः (3) पुरुष।

पदं" इस सूत्र के अनुसार सुप् आदि विभक्तियां एवं मिङादि (तिङादि) प्रत्ययों के लगने से ही शब्दों की पद संज्ञा होती है और पदो के समुदाय को वाक्य सज्ञा होती है। अब यहाँ विचार इस बात का करना है कि 'यजेत' पद में जो लिङ् प्रत्यय पड़ा है उसका क्या अर्थ है। प्रभाकर तो शुद्ध मात्र प्रत्यय के अर्थ को ही नियोग कहते है उनका कहना है कि "अग्निष्टोमेन यजेत्" वाक्य सुनकर 'नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन" इस प्रकार मै इस वाक्य के द्वारा यज्ञ कर्म में नियुक्त हो जाता हूँ। विधिवादी कहते हैं कि शुद्ध यज् धातु का जो अर्थ है वह सत्तामात्र है, वही विधि अर्थात् ब्रह्मस्वरूप है। अर्थात् इस 'यजेत' पद में जो धातु का अर्थ है उसी धात्वर्थ को यह वाक्य कहता है।

भावनावादी कहता है कि यह उपर्युक्त वाक्य न केवल धातु अर्थ को ही कहता है और न ही केवल प्रत्यय के अर्थ को ही कहता है किन्तु इसमें जो "यज्ञ को करे" इस रूप मे करोति क्रिया का अर्थ है वही भावना है। अत 'यजेत' यह वाक्य, भावना अर्थ को ही कहता है। उनके ग्रंथों में कथन है कि— लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय मात्र प्रत्यय के अर्थ रूप अर्थभावना से भिन्न ही शब्दभावना और आत्म-भावना को कहते है। हाँ! सपूर्ण अर्थों मे व्याप्त हो रही "करोत्यर्थ" रूप अर्थभावना से भिन्न ही है जो कि गच्छति, पचति, यजति आदि सपूर्ण तिङन्त–आख्यात दशों लकारो में विद्यमान है यह अर्थभावना शब्दभावना से भिन्न है। इन दोनो भावनाओं में शब्दभावना तो शब्द का व्यापार स्वरूप है क्योकि शब्द के द्वारा ही पुरुष का व्यापार भावित किया जाता है और पुरुष के व्यापार से यज्, पच् आदि धातु का अर्थ भावित किया जाता है तथा धातुओ के अर्थ से फल भावित किया जाता है यह शब्दभावनावादी भाट्टो का मत है। इस भाट्ट ने धात्वर्थ के विषय में तीन विकल्प उठाकर दूषण दिखाये है। यथा—

यह धात्वर्थ शुद्ध सन्मात्र रूप है, यजनादि रूप है, या क्रिया रूप है? यदि धात्वर्थ को शुद्ध सन्मात्र अर्थ ही मानो तब तो वह विधि रूप है क्योंकि जो कर्ता, कर्म आदि कारकों से रहित, भिन्न अर्थो से रहित, अपने अतर्गत विशेषो से रहित केवल भावमात्र है वही धात्वर्थ है उस सत्ता को और प्रातिपदिक अर्थ— अर्थवान् शब्द को ही धात्वर्थ कहते है। वह सत्ता ही महान् आत्मा है परमब्रह्म स्वरूप है। त्व, तल् और अण् आदि प्रत्यय उसको प्रकट करते है जैसे ब्राह्मणता, ब्राह्मणत्व, पाडित्य आदि शब्द भाववाची है। त्व, तल्, यण् आदि प्रत्ययों से प्रगट हो रहे है। इस प्रकार से यदि प्रथम पक्ष रूप से धात्वर्थ को शुद्ध सन्मात्र मानो तो विधिवाद ही आ जाता है जो कि हम भाट्टो को इष्ट नही है। यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि सन्मात्र से भिन्न यजनादि रूप धात्वर्थ है तब तो वह प्रत्ययो के अर्थ से शून्य होने से किसी अग्निहोत्रादि वाक्य से प्रतीति मे नही आ रहा है प्रत्युत वाक्य के द्वारा प्रत्यय से सहित ही धातु का अर्थ प्रतीति में आता है।

इसी बीच में विधिवादी बोल पड़ता है कि भले ही यज् धातु के अर्थ मे लिङ् प्रत्यय का अर्थ प्रतिभासित हो रहा हो किन्तु वह प्रत्यय का अर्थ प्रधान नही है क्योंकि वह प्रत्यय का अर्थ भिन्न-भिन्न

अनेकों धातुओं में भी पाया जाता है, अत. धात्वर्थ ही प्रधान है। इस पर पुन भाट्ट कहता है कि हम इससे विपरीत भी कह सकते हैं कि यज्, पच् आदि धातु का अर्थ भी प्रधान नही है क्योंकि प्रकरण प्राप्त लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्ययों के अतिरिक्त भी लट्, लिट्, तृच् आदि अनेको भिन्न-भिन्न प्रत्ययों में आपका यज्, पच् आदि धातु का अर्थ विद्यमान है। अर्थात् जैसे यजेत् यजता आदि में विधिलिङ् लोट् प्रत्यय का अर्थ है यज्ञ करना चाहिये, यज्ञ करो। किन्तु यह प्रत्यय का अर्थ प्रधान नही है, मात्र यज्ञ रूप धातु का भाव अर्थ ही प्रधान है, तब यज् धातु भी लिङादि प्रत्ययों के अतिरिक्त यजति, इयाज, यष्टा आदि के लट्, लिट्, तृच् आदि भिन्न-भिन्न प्रत्ययो में पाया जाता है जिसका अर्थ—यज्ञ को करता है, यज्ञ किया था, यज्ञ करने वाला आदि हो जाता है। यह यज् धातु भी अनेकों प्रत्ययों में चली जाती है अत धातु के प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान मानो क्योंकि अनेकों प्रत्ययों में धातुए व्याप्त रहती है। विधिवादी कहता है कि धातु का अर्थ तो सपूर्ण ही लिङ्, लिट्, लुट् आदि प्रत्ययों में माला मे डाले हुये सूत्र के समान ओत-प्रोत है अत धातु अर्थ प्रधान है इस पर भाट्ट कहता है कि इस प्रकार से तो सपूर्ण यजि, पचि, भू, कृ आदि धातुओ के अर्थों मे पीछे-पीछे चलता हुआ प्रत्यय का अर्थ भी तो अन्वय रूप हो रहा है अत प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान मानना चाहिये। यदि आप अद्वैतवादी यो कहे कि विशेष-विशेष रूप प्रत्यय का अर्थ तो सभी धातुओ के अर्थों मे अन्वय रूप नहीं है जैसे एक विवक्षित तिप् या तस् विभक्ति (प्रत्यय) का अर्थ सभी मिप् वस्, लुट्, क्तिन, तल् आदि प्रत्यय वाले धातु के अर्थों मे अन्वय रूप नहीं है। इस पर हम भाट्टों का भी यही कथन है कि विशेष रूप से एक यज् धातु का अर्थ भी पच, गम् आदि धातुओं के साथ लगे हुये प्रत्ययों के अर्थों में ओत-प्रोत हो करके कहाँ रहता है। हाँ ! सामान्य रूप से धातु का अर्थ सपूर्ण प्रत्ययों के अर्थों में अन्वित है। इसलिये आप धातु के अर्थ को प्रधान कहेंगे तो हम प्रत्ययों के अर्थ को प्रधान कहने लगेंगे यह प्रश्नोत्तरमाला दोनों मान्यताओ मे समान ही है अतएव वेदवाक्य का अर्थ "शुद्ध धात्वर्थ रूप सन्मात्र है" यह कथन भी गलत है एव वेदवाक्य का अर्थ "धातु के प्रत्यय के अर्थ रूप ही है" यह भी गलत है। हा ! यदि आप तृतीय पक्ष लेते हो कि धातु का अर्थ क्रियारूप है तब तो ठीक ही है क्योंकि "करोति" अर्थ लक्षण वाली क्रिया सभी धातुओं में विद्यमान है। ऐसा करोति क्रिया लक्षण धात्वर्थ यदि आप मान लेवे तब तो हमारे भावनावाद का ही पोषण हो जाता है क्योंकि सभी अर्थों मे और सभी लकारो में वह करोति क्रिया व्याप्त है, वही तो भावना है। जैसे जुहोतु, जुहुयात्, होतव्य से लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय हवन मे विशिष्ट क्रिया को बतलाते हैं उसी प्रकार से सभी लट् लिट् आदि लकार भी बतलाते है। जैसे "याग करोति, चकार, करिष्यति" ये क्रियाये भी अथवा "पचति, पाक करोति" आदि क्रियाये भी सर्वत्र करोति अर्थ को ही बताती हैं। पकाता है, पाक को करता है। यजति, याग करोतियजता है, यज्ञ को करता है इत्यादि में करोति क्रिया ही प्रधान है वही वेदवाक्य का अर्थ है। ऐसे भावनावादी ने अपना पक्ष पुष्ट किया है।

[शब्दव्यापाररूपेण शब्दभावनैव नियोग इति प्रभाकरेण मन्यमाने सति भाट्टः तन्निराकरोति]

[1]ननु [2]शब्दव्यापाररूपो नियोगः प्रतीयत[3] एव । शब्दो हि स्वव्यापारस्य पुरुषव्यापारकरण[4]लक्षणस्य प्रतिपादको[5], न पुनः कारकः, शब्दादुच्चरितान्नियुक्तोऽहमनेनेति[6] प्रतिपत्तॄणां प्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तेरिति[7] चेत् [8]तर्हि [9]भावनैव नियोग इति शब्दान्तरेणोक्ता स्यात् । तदुक्तम् ।—

शब्दादुच्चरितादात्मा[10] नियुक्तो गम्यते नरैः(1) । भावनातः[11] परः को[12] वा नियोगः परिकल्प्यताम् ।।

इति ।

[गृहीतसंकेतः शब्दोऽर्थं प्रत्याययति अगृहीतसंकेतो वा ? अस्य विचारः क्रियते]

[13]स्यान्मतम् ।—यदि शब्दव्यापारो भावना कथमगृहीतसङ्केतो[14] नैव[15] गच्छति

["शब्दव्यापाररूप शब्दभावना ही नियोग है" ऐसा प्रभाकर के द्वारा मानने पर भाट्ट कहता है कि आपने भावना को ही नियोग नाम धर दिया है वास्तव में भावना ही प्रतीति में आती है ।]

प्रभाकर—अग्निहोत्रादि शब्द का व्यापार रूप नियोग ही वेदवाक्य के अर्थरूप से प्रतीति में आता है, क्योंकि शब्द पुरुषव्यापारकरण लक्षण (कार्यरूप व्यापार के प्रति साधकतम लक्षण) अपने व्यापार का प्रतिपादक है—"ऐसा करो" इस प्रकार से शब्द ही ज्ञापक है किन्तु कारक नहीं है । अन्यथा उच्चारण किये गये शब्द से "मैं इस शब्द से नियुक्त हुआ हूँ" इस प्रकार से ज्ञाता पुरुषों को ज्ञान नहीं हो सकेगा । अन्यथा—शब्दोच्चारण के अभाव में "नियुक्तोऽहमनेन" इस प्रकार की प्रतिपत्ता—ज्ञाताओं को अनुपपत्ति—प्रतीति नहीं होती है । यह "अन्यथानुपपत्ति" का स्पष्टीकरण है ।

भाट्ट—तब तो भावना ही नियोग है उसी को आपने शब्दान्तर—"शब्दभावना" इस भिन्न शब्द से कह दिया है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—उच्चारण किये गए शब्द से आत्मा नियुक्त है ऐसा मनुष्यों के द्वारा जाना जाता है इसलिए शब्दभावना से भिन्न कोई नियोग है ऐसी कल्पना क्यों करना ? अर्थात् नहीं करना चाहिये ।

[संकेत ग्रहण किये हुए शब्द अर्थ का ज्ञान कराते हैं या बिना संकेत ग्रहण किये हुए ही शब्द अर्थ का ज्ञान कराते हैं ? इस पर विचार किया जा रहा है]

बौद्ध—यदि शब्द के व्यापाररूप भावना है तब तो संकेत को ग्रहण न करने वाला पुरुष "नियुक्तो-

१ प्रभाकरः । २ अग्निहोत्रादि । ३ वाक्यार्थतया । ४ कृतिरूपव्यापारं प्रति साधकतमलक्षणस्येति । ५ ज्ञापकः । एवं कुर्विति । ६ शब्देन । ७ अन्यथा शब्दोच्चारणाभावे नियुक्तोऽहमनेनेति प्रतिपत्तॄणां प्रतिपत्तिर्नोपपद्यते । ८ भाट्टः । ९ शब्दभावना । १० स्वरूपम् । ११ शब्दभावनातः । १२ न कोपीत्यर्थः । १३ सुगतस्य । १४ प्रेरणा । १५ नावगच्छतीति पाठान्तरम् ।

(1) अतः ।

नियुक्तोहमनेनेति स्वभावतस्तस्य[1] नियोजकत्वात् । सङ्केतग्रहण[2]स्यानुपयोगित्वादिति [3]तदसमीचीनमेव–सङ्केतस्य[4] तथाऽवगतौ[5] सहकारित्वात्[1]—सामग्री जनिका नैकं [6]कारणमिति प्रसिद्धेः । [7]ननु च सङ्केतसामग्री[8] न [9]प्रेरणे भावनायां[10] वा व्याप्रियते—[11]अर्थवेदने तस्याः प्रवृत्तेः[2]—[3]अर्थप्रतीतौ[12]पुरुषस्य [13]स्वयमेव [14]तत्र तदर्थितया [15]प्रवृत्तेः । [16]इदं कुर्विति[4]

ऽहमनेन" इस प्रकार से क्यों नहीं जानता क्योंकि आपके मत में शब्द तो स्वभाव से ही नियोजक है। अतः संकेत का ग्रहण करना अनुपयोगी ही है।

भाट्ट—आप बौद्धों का जो यह कथन है वह भी समीचीन नहीं है। "इस शब्द का यह अर्थ है" ऐसा संकेत उस प्रकार के ज्ञान में सहकारी कारण है अर्थात् संकेत को ग्रहण करने की शब्द में योग्यता नहीं है क्योंकि संकेत को ग्रहण करने वाला ज्ञान है न कि शब्द। सामग्री कार्य की जनक होती है तथा कोई भी कार्य एक कारण जन्य नहीं है यह बात प्रसिद्ध है।

बौद्ध—संकेत लक्षण सामग्री प्रेरणा में–नियोग में अथवा भावना-शब्द और पुरुषरूप भावना में व्यापार नहीं करती है किन्तु अर्थसंवेदन–अर्थ के ज्ञान में उस संकेत सामग्री की प्रवृत्ति है अर्थात् सामग्री अर्थ के ज्ञान में ही प्रवृत्ति करती है किन्तु स्थिर, स्थूल, साधारण आकार रूप बाह्य पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं करती है। यदि संकेत लक्षण सामग्री अर्थ ज्ञान में व्यापार न करे तब तो पुरुष की अर्थ में प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी, किन्तु जल का ज्ञान होने पर पुरुष उसमें स्नानादि की प्रवृत्ति करता है ऐसा देखा जाता है। अर्थ की प्रतीति होने पर पुरुष स्वयमेव–नियोग और भावना से निरपेक्ष रूप हो उस अर्थ में तदर्थी रूप से प्रवृत्ति करता है क्योंकि संकेत सामग्री से अर्थ का परिज्ञान होने पर पुरुष की प्रवृत्ति घटित होती है। "इदं कुरु" इस प्रकार से प्रेषण और अध्येषण रूप लिङर्थ की ही प्रतीति होता है। यदि उसकी प्रतीति न मानो तो नियुक्तत्व का ज्ञान नहीं होगा और नियोज्य–पुरुष का कार्य में व्यापार

१ शब्दस्य यतः स्वभावेन नियोजकत्वम् । २ कार्यस्येत्यध्याहारः । ३ सौगतमाशङ्क्य भट्टः प्राह । ४ अयं शब्दस्यायमर्थ इति सङ्केतः । ५ सङ्केतग्रहणे शब्दस्यायोग्यत्वात् सङ्केतग्राहकं ज्ञानं न तु शब्दः । ६ कार्यस्य । ७ बौद्धः । ८ सङ्केतलक्षणा सामग्री । ९ प्रेरणायामिति वा पाठः । नियोगे । १० उभयरूपायाम् । ११ यदि सङ्केतसामग्री न तत्र व्याप्रियते तदा पुरुषस्य कथमर्थे प्रवृत्तिरित्युक्ते आह । १२ सत्याम् । १३ नियोगभावनानिरपेक्षतया । १४ अर्थे । १५ सङ्केतसामग्र्या अर्थपरिज्ञाने सति प्रवृत्तिघटनात् । १६ किञ्च भावना हि प्रेषणाध्येषणारूपा । सा च प्रयोज्यप्रयोजकद्वयी विना तयोश्च बाध्यमानप्रतीतिकत्वेनाऽसत्त्वात्कुतः सा भावना ? यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रियेतेति वक्तुकामः । किञ्च प्रेषणाध्येषणयोरपि बहिरर्थरूपतया न शाब्दी प्रतीतिरस्ति बुद्ध्यारूपस्यैवार्थस्य शब्दवाच्यत्वादतः कथं तद्रूपा भावना शब्दाभिधेयो यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रियेतेति वक्तुकाम इदं कुर्वित्याद्यारभ्य प्रज्ञाकर इतिपर्यन्तं माह ।

(1) एतत्कुतः । (2) अर्थसंवेदने सामाग्र्याः प्रवृत्तिर्न तु स्थिरस्थूलसाधारणाकारे बाह्यार्थे । (3) संकेतसामग्री यदि न तत्र व्याप्रियेत पुरुषस्यार्थे प्रवृत्तिः कथमित्युक्ते आह । (4) अनेन प्रकारेण ।

[1]प्रेपरगाद्धयर्पणयोरेव[1] हि प्रतीतिः—[2]तदप्रतीतौ [3]नियुक्तत्वाप्रतिपत्तेः । नियुक्तत्वं च नाम [2]कार्ये व्यापारितत्वम्[4] । कार्ये [3]व्यापृततामवस्था प्रतिपद्य[4] नियोजको[5] नियुङ्क्ते[5] । सा च तस्य[6] भाविन्यवस्था न स्वरूपेण साक्षात्कर्तुं शक्या । स्वरूपसाक्षात्करणे हि[6] सर्वं तदैव[7] सिद्धमिति न नियोगः[7] स्यात्सफलः । तत प्रयोजको[8] बाध्यमानप्रतीतिक एव । तदुक्तम् ।—

यथा प्रयोजकस्तत्र[9] बाध्यमानप्रतीतिकः । [8]प्रयोज्योपि [9]तथैव [10]स्याच्छब्दो [11]बुद्ध्यर्थवाचकः ॥

यथैव हि [12]प्रयोजकस्य शब्दस्य प्रयोज्येन पुरुषेण [13]स्वव्यापारशून्यमात्मानं प्रतीयता प्रयोजकत्व-

कराना ही नियुक्तत्व है। कार्य मे व्यापृत–प्रवृत्त हुई अवस्था को जान करके नियोजक–शब्द नियुक्त करता है और वह उस नियोजक की भाविनी–भविष्य मे होने वाली अवस्था है उसका स्वरूप से साक्षात्कार करना शक्य नही है। क्योंकि स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने पर तो सभी उस काल में ही सिद्ध हो जावेंगे। अर्थात् "अग्निष्टोम" इत्यादि वाक्यों मे यज्ञादि का करना और स्वर्ग को प्राप्त कराने के लिये निमित्तभूत पुण्य का उपार्जन ये सब कार्य उस काल में निष्पन्न ही है; पुन. नियोग का मानना सफल नही हो सकेगा इसलिए प्रयोजक बाध्यमान प्रतीति वाला ही है। यहा नियोग शब्द से प्रेरणा रूप भावना ग्रहण करना चाहिए। कहा भी है—

श्लोकार्थ—जिस प्रकार से भावीकार्य से व्यापृत अवस्था वाले नियोज्य में बाध्यमान प्रतीतिवाला प्रयोजक है उसी प्रकार से प्रयोज्य–पुरुष भी बाध्यमान प्रतीतिक–काल्पनिक ही है क्योंकि शब्द बुद्धि से परिकल्पित ही अर्थ का वाचक है॥

जिस प्रकार से प्रयोजक (प्रेरक) शब्द में यागविषयक स्वव्यापार से शून्य आत्मा का निश्चय कराते हुए प्रयोज्य पुरुष के द्वारा प्रयोजकत्व की प्रतीति बाध्यमान होती हुई निरालंबन है उसी प्रकार से प्रयोज्यत्व प्रतीति भी बाध्यमान होती हुई निरालंबन है तथा यज्ञलक्षण स्वव्यापार में अप्रविष्ट आत्मा का निश्चय न कराते हुए प्रयोज्य पुरुष के द्वारा ही वह बाधित हो जाती है। अथवा टिप्पणी के आधार से ऐसा भी अर्थ कर सकते है कि "तथा यज्ञ लक्षण स्वव्यापार मे अप्रविष्ट रूप आत्मा का निश्चय

१ लिङर्थयो । २ नियोज्यस्य । ३ व्यापृततामवस्थामिति खपाठः । ४ आत्मना स्वीकृत्य । ५ शब्दव्यापारापरपर्यायप्रेरणादिरूपः शब्द. । ६ नियोजकस्य । ७ अग्निष्टोमेन यागादिकरण स्वर्गप्रापणनिमित्तपुण्योपार्जन च सर्वं निष्पन्नमेव तस्मिन्नेव काले । ८ पुरुष । ९ काल्पनिकः । १० किञ्च शब्दात् प्रेषणादिप्रतीतिरपि न युक्ता । कुत इत्याह । ११ बुद्धिपरिकल्पितो यतः । १२ प्रेरकस्य । १३ यागविषय । स्वव्यापाराविष्टमात्मानमप्रतीयतेति पाठान्तरम् ।

(1) सत्कारपूर्वकव्यापार । (2) कर्मणिस्वरूप । (3) तत्वर्थस्य । (4) नियोज्यस्य (5) अर्थे नियोज्यं (6) व्यापृतावस्त्वकार्यं चेति । (7) स्वव्यापारे अविशिष्ट सहितमित्यर्थ. । नियोगे शब्देनात्र प्रेरणारूपभावना ग्राह्या । (8) शब्दव्यापारापरपर्यायः प्रेरणादिरूपः शब्द. । (9) भाविकार्यव्यापृततावति नियोज्ये ।

प्रतीतिर्बाध्यमाना[१] निरालम्बना तथा प्रयोज्यत्वप्रतीतिरपि[२] तेनैव[३] स्वव्यापारा[1]विष्टमात्मानमप्रतीयता[2] बाध्यते[४]। शब्दात् सा[५] प्रतीतिरिति च न युक्तम[६]—तस्य[७] [3]बुद्धयर्थख्यापनत्वात्[4]। सोपि हि शब्दो बुद्धयर्थमेव [5]ख्यापयति। एवं [८]मया प्रतिपादितमेवं [९]मया प्रतिपन्नमिति—द्वयोरपि प्रतिपादकप्रतिपाद्ययोरध्यवसायात्। पौरुषेयवचनाद्धि मयैव तावत्प्रतिपन्नमस्य[१०] तु वक्तुरय[११]मभिप्रायो भवतु मा वाभूदिति [१२]प्रतिपत्ताध्यवस्यति। अपौरुषेयादपि [१३]शब्दादेवमयमर्थो मया प्रतिपन्नोस्य[१४] भवतु मा वा भूदिति[१५] वक्तृव्यापारविषयो[१६] योर्थः पौरुषेयशब्दस्य यो वा बुद्धौ प्रकाशतेर्थः अपौरुषेयत्वाभिमतशब्दस्य तत्र[१७] प्रामाण्यं न

कराते हुए पुरुष के द्वारा वह प्रतीति बाधित ही है।

यदि आप कहे कि वह प्रतीति शब्द से ही होती है तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि वह शब्द बुद्धि से कल्पित अर्थ को ख्यापित—प्रगट करता है वह शब्द भी बुद्धि के अर्थ का ही ख्यापन करता है। इस प्रकार से मैंने प्रतिपादित किया है और इस प्रकार मैंने समझा है क्योंकि प्रतिपादक–गुरु और प्रतिपाद्य–शिष्य इन दोनों का अध्यवसाय–ज्ञान होता है अर्थात् मैंने यह प्रतिपादन किया, इस प्रकार गुरु में, तथा मैंने समझा, इस प्रकार शिष्य में, ऐसा इन दोनों में प्रतिपादक-प्रतिपाद्य सम्बन्ध पाया जाता है।

प्रतिपत्ता–श्रोता ऐसा निश्चय करता है कि पौरुषेय वचन से ही "मैंने इस प्रकार से जाना है" इस वक्ता–गुरु का यह अभिप्राय हो या न हो। इसी प्रकार से अपौरुषेय वेद वाक्य में भी "इस प्रकार से मैंने यह अर्थ जाना है इस अपौरुषेय शब्द का यह अर्थ हो या न हो"। ऐसा प्रतिपत्ता–पुरुष जानता है। ऐसा वक्ता के व्यापार का विषयभूत जो अर्थ पौरुषेय शब्द का श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित होता है और इसी प्रकार से अपौरुषेय रूप से स्वीकृत शब्द का जो अर्थ बुद्धि में प्रकाशित होता है उसमें वह शब्द व्यापार ही प्रमाण है किन्तु बाह्यार्थ तत्व निमित्तक प्रमाणता नहीं है इसलिए विवक्षा में आरूढ़ अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है किन्तु भावना यह वेदवाक्य का अर्थ नहीं है।

यहां तक प्रज्ञाकर बौद्ध ने कहा है।

विशेषार्थ—यहाँ पर बौद्धों का ऐसा आरोप है कि भाट्ट शब्द के व्यापार को भावना कहते हैं और प्रभाकर को खुश करने के लिए उसी भावना को नियोग कह रहे हैं वे कहते हैं कि भावना से भिन्न

१ सती। २ बाध्यमाना सती निरालम्बनेति शेषः। ३ पुंसा। ४ प्रयोज्यत्वेन। ५ प्रेरणाप्रेयणयोः सम्बन्धिनी। ६ इतो वदति बौद्धः।—सा भाविनी प्रतीतिः शब्दाज्जायते इति हे भट्ट यदुक्तं त्वया तद्वक्तुं युक्तं न। ७ शब्दस्य ८ गुरुणा। ९ शिष्येण। १० गुरोः। ११ बुद्धयारूढ। १२ श्रोता। १३ वेदवाक्यात्। १४ अपौरुषेयस्य। १५। प्रतिपत्ताध्यवस्यतीति सम्बन्धः। १६ प्रतिपन्नार्थाव्यभिचारी। वक्तृव्यापारो विवक्षा। १७ बुद्धयर्थे।

(1) स्वव्यापारे अविष्ट यागलक्षणे व्यापारेऽप्रविष्टमित्यर्थः। (2) आत्मानं प्रतीयता इति पा। (3) बुद्धिशब्देन कल्पना। (4) ख्यापकत्वात् इति पा। (5) कल्पनारूढत्वमुल्लिखति।

पुनर्बाह्यार्थतत्त्वनिबन्धनम्[१] । तदुक्तम् ।—

वक्तृव्यापारविषयो योर्थो [२]बुद्धौ प्रकाशते । [३]प्रामाण्यं [४]तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्व[५]निबन्धनम् ॥

इति वचनात् । ततो विवक्षारूढ एवार्थो वाक्यस्य, न पुनर्भावनेति प्रज्ञाकर:[६] ।

[प्रत्यक्षवच्छब्देनापि बाह्यपदार्थस्य ज्ञानं भवति]

[७]सोपि न परीक्षक:—[८]प्रत्यक्षादिव शब्दाद्बहिरर्थप्रतीतिसिद्धे[1] । यथैव हि प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तृप्रणिधान[2]सामग्रीसव्यपेक्षात्प्रत्यक्षार्थ[८]प्रतिपत्तिस्तथा सङ्केतसामग्रीसापेक्षादेव शब्दाच्छ-

---

नियोग नाम की कोई चीज ही नहीं है इस पर हमारा ऐसा कथन है कि "अग्निष्टोमेन यजेत्" वाक्य से संकेत को न समझने वाला कोई बालक या मूर्ख पुरुष भी यज्ञकार्य में नियुक्त हो जावे क्योंकि शब्द तो स्वभाव से ही नियोजक–प्रेरक है।

इस पर भाट्ट ने उत्तर दिया कि इस शब्द का यह अर्थ है कि पृथुबुध्नाकार—गोल-मटोल को घट कहना, कागज के पन्नों से सहित को पुस्तक कहना इत्यादि संकेत के अनुसार ही कार्य होता है अतः शब्द में संकेत को ग्रहण करने की योग्यता नहीं है क्योंकि संकेत को ग्रहण करने वाला ज्ञान है। अत. वेदवाक्य के द्वारा यज्ञ का संकेत ज्ञान में सहकारी कारण है। इस पर फिर बौद्ध बोल पड़ता है कि संकेत शब्दभावना और पुरुषभावना में व्यापार नहीं करता है वह संकेत अर्थ ज्ञान में व्यापार करता है और पदार्थ रूप अर्थ का ज्ञान होने से ही वह पुरुष जलादि में प्रवृत्ति करता है। मतलब यह है कि शब्द, विवक्षा में आरूढ हुए अर्थको कहते हैं। बौद्धों ने यही बात अपने ग्रन्थों में कही है कि वक्ता-गुरु के व्यापार का विषयभूत जो अर्थ श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित हो रहा है उसी अर्थ को कहने में शब्द प्रमाणीक है किन्तु वास्तविक अर्थ–तत्त्व को कारण मानकर शब्द की प्रमाणता का कोई खास कारण नहीं है। वक्ता की बुद्धि सम्बन्धी व्यापार से जाना गया अर्थ यदि शिष्य की बुद्धि में प्रकाशित हो गया तो उस अंश में शब्द प्रमाण है बाह्य अर्थ हो या न हो कोई आकांक्षा नहीं है।

[प्रत्यक्ष के समान शब्द से भी बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है

भाट्ट—ऐसा कहने वाले आप प्रज्ञाकर बौद्ध भी परीक्षक नहीं है। प्रत्यक्ष के समान ही शब्द से बाह्य पदार्थ की प्रतीति होना सिद्ध है।

जिस प्रकार से प्रत्यक्ष से ज्ञाता के उपयोग रूप अंतरंग और बाह्य सामग्री की अपेक्षा से प्रत्यक्ष

---

१ बाह्यपदार्थस्वरूपकारणकम् । २ श्रोतुर्बुद्धौ । ३ उपाध्यायव्यापारगम्यार्थशिष्यबुद्धिप्रकाशमानार्थे शब्दस्य प्रामाण्यम् । ४ बुद्ध्यारूढेर्थे । ५ बाह्यतत्त्व । ६ बौद्ध. । ७ इतो भाट्टो वदति । ८ प्रत्यक्षविषयार्थ ।

---

(1) प्रतिपत्तिसिद्धे. इति पा. । (2) एकाग्रता ।

ब्दार्थ[1]प्रतिपत्तिः सकलजनप्रसिद्धा—अन्यथा[2] ततो बहिरर्थे[1] प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोगात्। न चार्थ[2]वेदनादेवार्थे पुरुषस्यार्थिनः स्वयमेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्तक इत्येव वक्तुं युक्तम्—[3]प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्—तदर्थेपि[4] [5]सर्वस्याभि[6]लापादेव प्रवृत्ते। [7]परम्परया प्रत्यक्षादिप्रवर्त्तकमिति चेत् तथा[8] वचनमपि प्रवर्त्तकमस्तु—विशेषाभावात्[3]। यथा च प्रत्यक्षस्य सलिलादिरर्थः—तस्य तत्र प्रतीतेस्तथा वाक्यस्य भावना प्रेरणा वा तस्यैव[9] तत्र[10] प्रतीतेरबाध्यमानत्वात्।

के विषयभूत पदार्थ का ज्ञान होता है तथैव सकेत सामग्री की अपेक्षा रखने वाले शब्द से ही शब्द के विषयभूत अर्थ का ज्ञान होता है और यह ज्ञान सकल जनो मे सुप्रसिद्ध है। अन्यथा–यदि आप शब्द मे बहिरग घट पटादि पदार्थों का ज्ञान न मानों तब तो उन शब्दो मे बाह्य पदार्थ का ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और उनकी प्राप्ति नही हो सकेगी और जहाँ पर बाह्य पदार्थ मे प्रवृत्ति और प्राप्ति देखी जाती है वही शब्द का अर्थ है ऐसा समझना।

भावार्थ—शब्द से बाह्य पदार्थ का ज्ञान न मानने पर तो जलादि शब्द से बाह्य पदार्थ जलादि मे प्यासे पुरुष को जलादि का परिज्ञान होना, उसके पास जाना, स्नान करना, पीना, लाना आदि रूप प्रवृत्ति और प्राप्ति कुछ भी नही हो सकेगी।

पदार्थ का ज्ञान होने से ही उस पदार्थ में उसके इच्छुक जनो की स्वयमेव प्रवृत्ति हो जाती है इसलिए शब्द अप्रवर्त्तक ही है ऐसा कहना भी शक्य नही है। अन्यथा प्रत्यक्ष आदि भी इस प्रकार से अप्रवर्त्तक हो जावेगे। क्योंकि प्रत्यक्ष के विषयभूत अर्थ में भी सभी मनुष्यों की शब्द से ही प्रवृत्ति देखी जाती है।

यदि आप कहो कि परम्परा से–प्रत्यक्ष से अर्थ का ज्ञान होता है उस अर्थ के ज्ञान से अभिलाषा होती है पुनः अभिलाषा से प्रवृत्ति होती है अतः परम्परा से प्रत्यक्षादि प्रवर्त्तक है।

ऐसा मानने पर तो उसी प्रकार से वचनो को भी परपरा से प्रवर्त्तक मान लो दोनो मे कोई अतर नहीं है। अर्थात् शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है उस ज्ञान से अभिलाषा होती है और उस अभिलाषा से

१ शब्दविषयार्थ। २ शब्दाद् घटादिबाह्यपदार्थप्रतिपत्तिर्न भवति चेत्तदा तत शब्दाद्बहिरर्थे जलादौ पिपासितादेः पुंसो जलादि परिज्ञान, तत्समीपे गमन, स्नानपानानयनादिरूपा तत्प्राप्तिश्च न घटते। ३ अन्यथा। ४ प्रत्यक्षार्थे। ५ नुः। ६ शब्दात्। अभिलापादिति च क्वचित्पाठ.। ७ प्रत्यक्षादर्थप्रतिपत्तिस्ततोभिलाषस्ततः प्रवृत्तिरिति। ८ भाट्टः। ९ भावनाप्रेरणारूपस्यार्थस्य। १० भावनाप्रेरणयोः।

(1) यत्र हि प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयः समधिगम्यते स शब्दार्थ इति वचनात्। (2) सवेदना इति पा.। (3) शब्दार्थप्रतिपत्तिस्ततोऽभिलाषस्ततः प्रवृत्तिरिति।

[वचनेन कार्यस्य साक्षात्कारो भवति न वेति विचार]

[1]नन्विदं कुर्विति वचनात्कार्ये[2] व्यापारितत्व पुरुषस्य नियुक्तत्वम् । न च कार्ये [1]व्यापृततावस्था भाविनी तेन[2] साक्षात्कर्त्तु शक्या—[3]तत्साक्षात्करणे नियोगस्याफलत्वप्रसङ्गात् । ततो बाध्यमानैव [4]तत्प्रतीतिरिति । [5]तदेतदसमञ्जसमालक्ष्यते—[6]अन्यत्रापि समानत्वात् ।

प्रवृत्ति होती है । जिस प्रकार से प्रत्यक्ष के जलादि पदार्थ विषय है उसकी वहाँ प्रतीति होती है उसी प्रकार से वेदवाक्य का भावना अथवा प्रेरणा अर्थ है उन भावना अथवा प्रेरणा रूप अर्थ की ही वहाँ उनमें प्रतीति होती है इसमें भी बाधा नही है ।

विशेषार्थ—भाट्ट ने कहा कि आप प्रज्ञाकर बौद्ध प्रज्ञाकर न होकर प्रज्ञाशून्य ही है क्योकि जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान मे बाह्य पदार्थो का ज्ञान हो रहा है वैसे ही शब्दो से बाह्य पदार्थों का ज्ञान हो रहा है । जिस प्रकार से पुरुष के उपयोग रूप अतरग सामग्री और इन्द्रिय के सन्निकट पदार्थ आदि रूप बहिरग सामग्री मे प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वैसे ही सकेत सामग्री मे ही शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है । यदि शब्द मे, बाह्य पदार्थो का ज्ञान नही होवेगा तब तो जल शब्द से जल का ज्ञान, उसमे प्रवृत्ति करना, उसे लाना, प्यास बुझाना, स्नान आदि करना कैसे हो सकेगा ? अतः शब्द से बाह्य पदार्थो का ज्ञान मानना उचित है । एव यदि बिना सकेत ग्रहण किये गए ही शब्द वस्तु का ज्ञान करा दगे तब तो बिना सकेत के मनुष्य, तिर्यंच या बालक अथवा गू गे भी कठिन शास्त्रो का अर्थ समझ जावेगे । विद्यालयो मे पाठको की आवश्यकता नही रहेगी । अतएव "इस शब्द का यह अर्थ है" जल शब्द से वाच्य वस्तु जल एव अग्नि शब्द से वाच्य उष्ण अग्नि है । इन इशारो को सकेत कहते है । परीक्षामुख मे भी कहा है कि "सहजयोग्यता सकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्ति हेतव. ॥६६॥ यथा मेर्वादय सन्ति" ॥६७॥" अर्थो मे वाच्य रूप तथा शब्दो में वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता होती है, जिसमे सकेत हो जाने से ही शब्दादिक पदार्थो के ज्ञान मे हेतु हो जाते है । जैसे सुमेरु आदि है ऐसा मेरु शब्द के कहने या सुनने मात्र से ही जबूद्वीप के मध्य स्थित सुमेरु का ज्ञान हो जाता है क्योकि शिष्य को मेरु का सकेत मालूम था उसी प्रकार से सर्वत्र ही शब्द से अर्थ का ज्ञान हो जाता है । अतएव शब्द सर्वथा प्रवृत्ति कराने वाले नही है ऐसा एकात गलत है ।

[शब्द मे कार्य का साक्षात्कार होता है या नही इस पर विचार]

सौगत—"इद कुरु" इस वचन से याग लक्षण कार्य में पुरुष का व्यापार होना ही नियुक्तत्व है । एव कार्य में होने वाली व्यापार की अवस्था उस नियोज्य-पुरुषके द्वारा साक्षात् नही की जा सकती है

१ सौगत । २ यागलक्षणे । ३ भावनाप्रेरणालक्षणार्थस्य । ४ व्यापृतत्व । ५ भट्टः । ६ प्रत्यक्षादावपि बाध्यमान-प्रतीतित्वस्य समानत्वात् ।

(1) व्यापृतावस्था इति पा. । (2) नियोज्येन ।

प्रत्यक्षस्य हि प्रवर्तकत्वं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वमुच्यते । प्रवृत्तिविषयश्चार्थ[१]क्रियाकारी सलिलादि[२] । सा च [३]तस्यार्थक्रियाकारिता भाविनी न साधनावभासिना[1] वेदनेन[३] साक्षात्कर्तुं शक्या[2] [४]तत्साक्षात्करणे प्रवृत्तिवैफल्यात् । ततोऽध्यक्षस्य प्रवर्त्तकत्वं बाध्यमानप्रतीतिक [3]कथमेवेति न शक्यं वक्तुम्[५] । [६]यदि पुनरर्थक्रियाकारिताऽनागतापि साधनावभासिनि [७]वेदने प्रतिभातैव—[4]एकत्वाध्यवसायात्[८] तदा शब्दादपि पुरुषस्य कार्यव्यापृतता[९] [१०]तत एव प्रतिभातैवेति किं नानुमन्यते[११]। [१२]तथा सति बुद्ध्यारूढोर्थः शब्दस्य स्यादिति [१३]चेत्तथापि[5] प्रत्यक्षस्य

यदि भावना अथवा प्रेरणा लक्षण अर्थ को साक्षात् करना मानोगे तब तो नियोग ही निष्फल हो जावेगा। इसलिए यह प्रतीति बाधित ही है।

भाट्ट——यह आपका कथन असमञ्जस ही मालूम पडता है क्योंकि अन्यत्र–प्रत्यक्षादि मे भी यह बाध्यमान प्रतीति समान ही है इसका कारण यह है कि प्रवृत्ति के विषय को दिखलाना ही तो प्रत्यक्ष का प्रवर्तकत्व कहा गया है। एव प्रवृत्ति के विषय जलादि है जो कि स्नान, पानादि रूप से अर्थक्रिया-कारी है और यह जलादि का अर्थक्रियाकारिता भाविनी—भविष्यत् मे होने वाली है। स्नानपान आदि क्रिया के साधन जलादि है, वे साधन जिस ज्ञान मे झलकते है वह ज्ञान साधनावभासी है वह भाविनी अर्थक्रियाकारिता साधनावभासी प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा साक्षात् नही की जा सकती है। यदि आप भाविनी अर्थक्रियाकारिता को साक्षात् करना मानोगे तब तो उसमे प्रवृत्ति ही विफल हो जावेगी, इसलिए प्रत्यक्ष का प्रवर्तकत्व बाधित प्रतीति वाला कैसे है ? ऐसा भी आपको कहना शक्य नही है क्योंकि प्रत्यक्ष भी बाधित प्रतीति वाला ही है।

सौगत -- अनागत -- भविष्य में होने वाली भी अर्थक्रियाकारिता साधनावभासी प्रत्यक्ष ज्ञान मे प्रति-भासित ही होती है क्योंकि भाविनी अर्थ क्रियाकारिता और प्रत्यक्ष इन दोनों मे एकत्व का ज्ञान हो रहा है अर्थात् दृश्य और प्राप्य मे एकत्व का अध्यवसाय होता है। यहा दृश्य कहने से जल समझना और प्राप्य

१ स्नानपानादि । २ सलिलादे । ३ प्रत्यक्षेण । ४ भाविन्यर्थक्रियाकारितायाः प्रत्यक्षीकरणे सति । ५ कुत ? यतो बाध्यमानप्रतीतिकमेवेति । ६ हे सौगत त्वमेव वदसि । ७ प्रत्यक्षे । ८ भाविन्यर्थक्रियाकारिताप्रत्यक्षयोरैक्याधारत्वात् । ९ अनागतता । १० पुरुषव्यापृततावस्थयोरेकत्वाध्यवसायादेव । ११ भवद्भि. सौगतै । १२ बौद्ध । १३ भाट्ट. ।

(1) दृश्य—सलिल। स्नानपानादिक्रियाया साधन जलादि। (2) पुरुषस्य (3) बाध्यमानप्रतीतिकमेव इति शक्य वक्तु। इति पा.। (4) दृश्यप्राप्ययो। दृश्यमित्युक्ते जल प्राप्यमित्यर्थक्रिया, तयोरेकत्वाध्यवसायात्। दृश्ये जले भाविन्यर्थक्रियाया. सद्भावात्। (5) तथापि इति पा.।

बुध्द्ध्यध्यवसितोर्थः किन्न भवति[1]। ततो[2] निरालम्बनमेव प्रत्यक्षं न[१] स्यात्। [२]परमार्थतः प्रत्यक्षमपि न प्रवर्त्तकम् स्वरूपस्य [३]स्वतो गतेः संवेदनाद्वैतस्य वा सिद्धिरिति चेत् [४]पुरुषाद्वैतस्य

कहने से अर्थक्रिया लेना इन दोनो में एकत्व का अध्यवसाय है। मतलब दृश्य जल में भविष्य में होने वाली अर्थक्रिया–स्नान पानादि का सद्भाव है।

भाट्ट—यदि आप सौगत ऐसा कहते हैं तब तो शब्द से भी पुरुष का अनागत कार्य—व्यापार उसी एकत्व ज्ञान रूप हेतु से प्रतिभासित ही होता है ऐसा भी आप क्यों नहीं मान लेते हो ?

यदि आप कहें कि वैसा होने पर बुद्धि से आरूढ़ अर्थ शब्द का विषय होता है तब तो उसी प्रकार से आपके यहां भी प्रत्यक्ष का भी अर्थ बुद्धि से अध्यवसित पदार्थ क्यों नहीं हो जावे क्या बाधा है? क्योंकि स्नान पान आदि क्रियायें तो भाविनी ही है पुनः प्रत्यक्ष भी निरालबन ही क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात् प्रत्यक्ष भी निरालबन रूप ही हो जावेगा।

भावार्थ—बौद्ध कहता है कि "इद कुरू" यह करो इस वचन से यज्ञ में पुरुष की प्रवृत्ति होना ही नियुक्त होना है एव यज्ञ कार्य में होने वाली प्रवृत्ति उस वचन से साक्षात् नहीं की जा सकती है यदि भावना या प्रेरणा लक्षण अर्थ का साक्षात्कार करना मानोगे तब तो नियोग का फल क्या रहेगा ? इस पर भाट्ट ने कहा कि ऐसी बाधा तो प्रत्यक्षादि ज्ञान में भी आ सकती है क्योंकि प्रवृत्ति के विषयभूत जलादि को दिखाना ही प्रत्यक्ष का प्रवर्तकपना है और जलादि की अर्थक्रिया—उसमें स्नान पान आदि करना वह तो कार्य और फल भविष्य मे होता है। अर्थक्रिया के साधनभूत जल को बतलाने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान उस भविष्य की स्नान पान आदि अर्थक्रिया को साक्षात् नहीं करता है यदि बौद्ध कहें कि भविष्य में होने वाली अर्थ क्रिया–कार्य प्रत्यक्ष ज्ञान में झलक रहा है क्योंकि भविष्य के कार्यरूप अर्थक्रिया और प्रत्यक्ष इन दोनों में एकत्व दिख रहा है। तब तो आप बौद्ध ऐसा भी मान लो कि शब्द के द्वारा भविष्य में होने वाला यज्ञ कार्य उस शब्द में झलक रहा है शब्द के बोलने पर प्रतीति में आ रहा है। यदि आप कहें कि ज्ञान में प्रतिभासित अर्थ ही शब्द का विषय है तब तो ज्ञान में झलकते पदार्थ ही प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं ऐसा भी मानो पुनः प्रत्यक्ष ज्ञान निरालंबन हो गया अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय कुछ भी पदार्थ नहीं रहा, "मात्र ज्ञान में ही पदार्थ झलक रहे है कुछ बाह्य पदार्थ है ही नहीं" ऐसी विज्ञानाद्वैत की मान्यता ही सिद्ध हो जावेगी।

बौद्ध—परमार्थ से प्रत्यक्ष भी प्रवर्त्तक नहीं है क्यों कि "स्वरूपस्य स्वतो गतेः" ज्ञान की स्वयं ही प्रवृत्ति हो जाती है अथवा सवेदनाद्वैत की स्वयं ही सिद्धि मानी गयी है।

---

१ कुतो न स्यात् ? अपि तु स्यादेव। २ बौद्ध। ३ ज्ञानस्य स्वस्मादेव प्रवृत्तिर्न तु बहिरर्थात्। ४ भाट्टः।

---

(1) स्नानपानादि क्रिया भाविनी यतः। (2) यतो इति पा.।

कुतो न सिद्धिः ? तस्य नित्यसर्वगतस्यैकस्य[1] [१]संवित्त्यभावादिति चेत् क्षणिकनिरंशस्यैकस्य संवित्तिः किं कस्यचित्कदाचिदस्ति ? यतस्तत्सिद्धिरेव स्यात् । [2]ततः पुरुषाद्वैतवत्संवेदनाद्वैतस्य सर्वथा व्यवस्थापयितुमशक्ते[२]र्भेदवादे[३] च प्रत्यक्षस्य [3]प्रवर्त्तकत्वायोगाद्भिन्नाभिन्नात्मकं[4] वस्तु[5] प्रातीतिकमभ्युपगन्तव्यम्[४] [५]विरोधादेश्चित्रज्ञानेनोत्सारितत्वात् । [६]भेदस्याभेदस्य[७] वा [८]सांवृतत्वे सर्वथार्थक्रियाविरोधात् । तथा[6] च शब्दात्कार्यव्यापृतताया[7] व्यक्तिरूपेण

भाट्ट—ऐसा कहो तो पुरुषाद्वैत की सिद्धि भी क्यों नहीं हो जावेगी ?

बौद्ध—उस नित्य, सर्वगत, एक स्वरूप परम पुरुष का ज्ञान ही नहीं होता है ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तब तो क्षणिक, निरंश, एक ज्ञानाद्वैत रूप का संवेदन—ज्ञान किसी को कदाचित् हुआ है क्या ? जिससे कि उसकी ही सिद्धि हो सके अर्थात् वह संवेदनाद्वैत भी असिद्ध ही है ।

इसलिए पुरुषाद्वैत के समान संवेदनाद्वैत की व्यवस्था करना सर्वथा अशक्य है एवं सर्वथा भेदवाद में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति का अभाव है क्योंकि प्रवर्तकत्व का अर्थ ही अपने विषय को दिखला देना है । अतः आप सौगत को भिन्नाभिन्नात्मक ही वस्तु प्रतीति में आती हुई माननी चाहिए । अर्थात् भिन्नाभिन्नात्मक वस्तु को मानने का कथन भाट्ट जैनमत का आश्रय लेकर कह रहा है ।

दृश्य और प्राप्य रूप आकार से भेद और वस्तु रूप से अभेद मानना चाहिए और उसमें विरोध आदि दोषों का उत्सारण–निवारण चित्र ज्ञान के दृष्टांत से कर ही दिया है अर्थात् एक ही वस्तु भिन्न रूप भी है और अभिन्न रूप भी है इस मान्यता में तो परस्पर विरोध है इत्यादि, इन दोषों का परिहार चित्र ज्ञान को एकानेक सिद्ध करके पहले ही कर दिया है । दृश्य-देखने योग्य जल और प्राप्य-स्नान पानादि से प्रवृत्ति योग्य अर्थ में सर्वथा भेद मानने पर तो हे सौगत ! पूर्व का जल ज्ञान और उत्तर में स्नान, पान आदि प्रवृत्ति रूप ज्ञान में सर्वथा भेद प्रतिपादन करने पर तो पुनः प्रत्यक्ष अपनी प्रवृत्ति के विषय का उपदर्शक—बतलाने वाला भी नहीं हो सकेगा । अतः कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद रूप वाली वस्तु ही स्वीकार करना उचित है ।

सर्वथा भेद रूप क्षणिक वस्तु को अथवा सर्वथा अभेद रूप नित्य वस्तु को सांवृत्त-काल्पनिक मानने पर उसमें सर्वथा ही अर्थक्रिया का विरोध आता है । अर्थात् द्रव्यवादी सांख्य भेद को कल्पित मानता है

१ प्रतीति । २ दृश्यप्राप्ययोरर्थयोः सर्वथा भेदे । ३ हे सौगत पूर्वजलज्ञानोत्तरस्नानपानप्रवृत्तिज्ञानयोः सर्वथा भेदप्रतिपादने तावत्प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकं न स्याद्यतः । ४ भवद्भिः सौगतैः । ५ विरोधादेर्दोषस्य चित्रज्ञानदृष्टान्तेन निराकृतत्वात् । ६ क्षणिकस्य । ७ नित्यस्य । ८ काल्पनिकत्वे सति (असत्यत्वे) द्रव्यवादी साङ्ख्यो भेदं सङ्कल्पितं मनुते । पर्यायवादी बौद्धोऽभेदं सङ्कल्पितं मनुते । एवमुभयोः कल्पितत्वे वस्तुनः सर्वथापि नार्थक्रिया घटते ।

(1) तत्प्रतीतिर्वास्ति यतः । (2) स एव भाट्टः प्राह । (3) प्रवर्तकत्वं नाम स्वविषयोपदर्शकत्वं । (4) दृश्यप्राप्याकारेण भेदो वस्तुत्वेनाभेदः । (5) जलादि । (6) भेदाभेदात्मकत्वेन वस्तुनः प्रतीतिसिद्धत्वे च । (7) अवस्थायाः ।

भाविन्या अपि शक्तिरूपेण पुरुषस्य सतः[१] कथञ्चिदभिन्नाया [1]शब्दज्ञाने तदैव[२] प्रतिभासनेपि न नियोगो निष्फलः स्यात् [३]प्रत्यक्षतः सलिलादौ प्रवृत्तिवत् । [४]तत्र हि सलिलादेरर्थक्रिया-[५]योग्यताप्रतिभासनेपि व्यक्तयर्थक्रियानुभवाभावात्तदर्थप्रवर्त्तनं प्रतिपत्तु.[2] सफलतामियर्त्ति नान्यथा[६] ।[७]एवं शब्दादात्मनः[८] [९]कार्यव्यापृततायोग्यताप्रतिपत्तावपि [१०]व्यक्तकार्यव्यापृततानुभवाभावात् [3]पुरुषस्य [११]नियोग. सफलतामियात्—तथा [१२]प्रतीतेरेव चाध्यक्षत्वसिद्धे. । [१३]ततो

और पर्यायवादी बौद्ध अभेद को कल्पित कहता है। इन दोनों को कल्पित रूप मानने पर वस्तु में सर्वथा ही अर्थक्रिया घटित नही होती है और भेदाभेदात्मक रूप से वस्तु की सिद्धि हो जाने पर उसी प्रकार वह अर्थ क्रिया शब्द से कार्य में व्यापृत है। व्यक्ति रूप से भाविनी-भविष्य मे होने वाली होते हुए भी शक्ति रूप से विद्यमान पुरुष से कथचित् अभिन्न ही है। वह अर्थक्रिया (यज्ञ) शब्द ज्ञान में "अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादि शब्दोच्चारण के काल में प्रतिभासित होने पर भी नियोग निष्फल नही हो सकता है, जैसे प्रत्यक्ष से जलादि मे प्रवृत्ति निष्फल नहीं है उसी प्रकार शब्द से नियोग भी निष्फल नहीं है।

उस प्रत्यक्ष में जलादि की अर्थक्रिया की योग्यता—सामर्थ्य का प्रतिभासन होने पर भी व्यक्ति रूप अर्थ क्रिया का अनुभव नही है अतएव उस व्यक्ति रूप अर्थक्रिया की प्रवृत्ति के लिए उस विषय में प्रवृत्त होना मनुष्य का सफलीभूत ही रहता है अन्यथा—प्रवृत्ति के विना अर्थक्रिया का अनुभव नही हो सकता है। अर्थात् प्रत्यक्ष से जल देखा, उस समय उस जल में स्नान पान आदि की योग्यता है यह बात शक्ति रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान में झलक गयी पुन. स्पष्टतया स्नान पान आदि अर्थ क्रिया तो आगे होती है अत. स्नान पानादि की प्रवृत्ति के लिए उस प्रत्यक्ष ज्ञान से गृहीत जल में स्नानादि से प्रवृत्ति करता है क्योंकि प्रवृत्ति किये बिना अर्थक्रिया का अनुभव नहीं होता है अतः प्रत्यक्ष ज्ञान सफलीभूत है।

इसी प्रकार शब्द से पुरुष की याग लक्षण कार्य-व्यापार की योग्यता के जान लेने पर भी व्यक्त-प्रकट रूप याग लक्षण कार्य रूप व्यापार का अनुभव नही होने से पुरुष का नियोग सफल ही है क्योकि उस प्रकार से प्रतीति भी होती है और वह प्रत्यक्ष से भी सिद्ध है अत. जैसे प्रत्यक्ष से बाह्य पदार्थों की प्रतीति

१ स्वत इति पाठान्तरम् । २ स्वर्गकामोग्निहोत्र जुहुयादित्यादिवाक्योच्चारणकाले । ३ यथा प्रत्यक्षाज्जलादौ प्रवृत्तिर्निष्फला न स्यात्तथा शब्दान्नियोगो निष्फलो न स्यात् । ४ प्रत्यक्षे । ५ सामर्थ्य । ६ प्रवर्त्तनमन्तरेणार्थ-क्रियानुभवो न स्यात्। व्यक्तार्थक्रियानुभवे सति जलक्रियार्थं प्रवर्त्तनं पुरुषस्य सफलता न प्राप्नोति। ७ प्रत्यक्षप्रकारेण (भाट्ट) । ८ पुरुषस्य । ९ यागलक्षण । १० यागलक्षण । ११ कर्तृभूत । १२ प्रतीतेरेवाऽबाध्यत्वसिद्धेरिति पाठा-न्तरम् । १३ प्रत्यक्षादिव शब्दाद्वहिरर्थप्रतिपत्तिसिद्धिर्यत. प्रयोज्यप्रयोजकप्रतीतिश्च सत्या प्रतिपादिता यत ।

(1) शब्दज्ञाने इति पा.। (2) तदर्थं प्रवर्तन। (3) पुरुषस्य तदर्थो नियोगः इति पा.।

न विवक्षारूढ एव शब्दस्यार्थः प्रमाणबलादवलम्बितुं युक्तः सन्मात्रविधिवत् ।

[कारकभेदेन क्रियायाः भेदाभेदविचारः]

[1]यदप्युक्तम् ।—नियोगो यदि शब्दभावनारूपो वाक्यार्थस्तथा सति देवदत्तः [1]पचेदिति कर्त्तु रनभिधाना[2]त्कर्तृ करणयो[1]स्तृतीयेति [3]तृतीया प्राप्नोति[3] । कर्त्तु रभिधाने [4]त्वनभिहिताधिकारात्तिङैव[5] चोक्तत्वान्न[4] [5]भवतीति । [6]तदप्ययुक्त[6]—[7]भावनाविशेषणत्वेन

होती है उसके समान ही शब्द से बाह्य अर्थ का ज्ञान सिद्ध है क्योंकि प्रयोज्य और प्रयोजक–पुरुष एवं शब्द की प्रतीति सत्य ही है इसलिए विवक्षा में आरुढ़ ज्ञान मे प्रतिभासित होना ही शब्द का अर्थ है ऐसा प्रमाण के बल से अवलंबन--स्वीकार करना युक्त नहीं है जैसे कि वेदवाक्य का अर्थ सन्मात्र विधि है यह कथन ठीक नहीं है ।

भावार्थ—जब भाट्ट ने प्रत्यक्ष के विषय को निरालंब—शून्य सिद्ध किया तब तो विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध को अवकाश मिल गया और उसने कहा कि वास्तव में प्रत्यक्ष भी प्रवर्तक नहीं है क्योंकि "स्वरूप का ज्ञान स्वयं ही होता है" अतएव बाह्य पदार्थ कोई चीज ही नहीं है केवल ज्ञानमात्र ही तत्त्व है। इस पर भाट्ट ने कहा कि फिर आप वेदांतियों के ब्रह्माद्वैत को भी मानो। यदि कहो नित्य, एक परम पुरुष दिखता नहीं है तब क्या निरंश, क्षणिक एक रूप ज्ञान किसी को दिखता है ? अतः सौगत के द्वारा मान्य सर्वथा भेदवाद भी गलत ही है। मतलब दृश्य-जल और प्राप्य--पीने के लिए जल का ग्रहण आदि रूप भविष्यत् में होने वाली अर्थक्रिया ये दोनों यदि सर्वथा भिन्न है फिर जो शब्द से जल को सुनकर जल को देखेगा वही मनुष्य उस जल को पीने, लाने या उसमे नहाने की प्रवृत्ति नहीं कर सकेगा। अतः यह स्नानपानादि अर्थक्रिया शब्द से यज्ञ कार्य रूप व्यापार में है, व्यक्त-स्पष्ट रूप से भविष्य में होने वाली है फिर भी शक्ति रूप से पुरुष से अभिन्न है और शब्द के ज्ञान में झलक रही है फिर भी नियोग निष्फल नहीं है।

[कारकों के भेद मे क्रिया मे भेदाभेद का विचार]

और जो आपने कहा है कि शब्द भावना रूप नियोग वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा होने पर तो "देवदत्तः पचेत्" इस प्रकार से कर्ता का कथन नहीं होने से अप्रधान कर्ता और करण मे तृतीया होती है

१ भाट्टो वदति । (प्रज्ञाकरेण स्वग्रन्थे) । २ अप्रधानयो । ३ विभक्ति । ४ कर्त्तरि । ५ तृतीया । ६ भाट्टः । ७ अर्थभावना ।

(1) शब्दभावनारूपस्य नियोगस्य । (2) देवदत्तः पचेदिति वाक्य यदि शब्दभावना रूपं नियोग प्रतिपादयति तदा कर्ता अनुक्तो भवति । पचेदिति क्रिया कर्तारं न प्रतिपादयति नियोगप्रतिपादनपरत्वात्तस्या । (3) अनभिहिताधिकारात्तृतीया भवति अभिहिते कर्तरि तृतीया न भवति तिङोक्तत्वात् । (4) अनभिहिते कर्तरि । (5) पचेदिति । (6) नियोगस्य तच्छेषत्वादप्रधानत्वादवाक्यार्थत्वमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणास्य मुख्यवृत्या वाक्यार्थत्वाभाव मन्वानस्तत्प्रोक्तदोषमपरिहरन्मुख्यवृत्या वाक्यार्थभूतार्थभावनायामेव त परिहरन्नाह । उक्तदोषस्य तत्राप्यनुषंगात् ।

कर्त्तु: प्रतिपादनात् । [1]भावना हि करोत्यर्थ । [2]स च देवदत्ताकर्त्तृकः प्रतिभाति । पचेद् देवदत्तः पाकं कुर्यादिति पाकावच्छिन्नायाः करणक्रियाया देवदत्ताकर्तृकायाः प्रतीतेः—[3]सकृदेव विशेषणविशेष्ययोः प्रतिभासाविरोधात् नीलोत्पलादिवत् । [4]ततो नेदं प्रज्ञाकरवचश्चारु ।

"[5]क्रमप्रतीतेरेवं[1] स्यात् प्रथमं भावनागतिः । तत्सामर्थ्यात्पुनः[6] पश्चाद्यतः[2] कर्त्ता प्रतीयते[3] ॥"

इति यदभ्यधायि[7] "द्विवचन[4]बहुवचने च [5]प्राप्नुतः—एकत्वाद्व्यापारस्य[6] । [7]अथ [8]कारक-

इस कथन से तृतीया विभक्ति प्राप्त होनी है एव कर्ता का कथन करने मे अभिहित का अधिकार न होने से लिङ्ग के द्वारा ही कर्ता को कह देने से तृतीया नहीं होती है अर्थात् "देवदत्तः पचेत्" देवदत्त पकाता है यह वाक्य यदि शब्द भावना रूप नियोग का प्रतिपादन करता है तब कर्ता अनुक्त होता है। "पचेत्" पकाता है यह क्रिया कर्त्ता का प्रतिपादन नहीं करती है क्योंकि यह क्रिया नियोग के प्रतिपादन करने में तत्पर है एव अभिहित अधिकार के न होने से तृतीया होनी है किन्तु कर्ता के अभिहित-कथन कर देने पर तृतीया नहीं होती है क्योंकि तिङ् प्रत्यय के द्वारा ही कथन हो जाता है।

यह सब आपका कथन भी अयुक्त ही है। अर्थ भावना रूप विशेषण से कर्ता का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि "करोत्यर्थ" ही भावना का लक्षण है और करोति क्रिया का अर्थ देवदत्त कर्त्ता रूप प्रतिभासित होता है।

"पचेत् देवदत्तः=पाक कुर्यात्" इस प्रकार से पाक से अवच्छिन्न देवदत्त कर्तृक, करण, क्रिया की प्रतीति हो रही है क्योंकि युगपत् ही विशेषण और विशेष्य का प्रतिभास विरुद्ध नहीं है जैसे कि नीलोत्पल में नील विशेषण और कमल विशेष्य एक साथ ही अनुभव मे आते हैं। इसलिए आप प्रज्ञाकर बौद्ध के ये वचन चारु-सुन्दर नही है अर्थात् विशेषण और विशेष्य की युगपत प्रतीति होती है कहा भी है—

श्लोकार्थ—एव इस प्रकार क्रम से प्रतीति होने से पहले भावना का ज्ञान होता है पुनः उसकी सामर्थ्य से कर्ता और भावना मे विशेषण विशेष्य भाव के प्रकार से पश्चात्—बाद में कर्ता प्रतीति में आता है।

ऐसा जो आप सौगत ने कहा है कि क्रिया लक्षण भावना में द्विवचन और बहुवचन नहीं प्राप्त होता है क्योंकि भाट्ट की स्वीकृति अनुसार व्यापार एक है यह आप सौगत का कथन भी असत्य ही है।

१ भावनायाः किं लक्षणमित्युक्ते आह । २ करोत्यर्थ । ३ यदि भावनाविशेषणत्वेन कर्ता तथापि तयो क्रमप्रतीतिसम्भवेन पूर्वं कर्त्तु प्रतिभासाभावात्तृतीया प्राप्नोतीत्याशङ्कायामाह । ४ भट्टोवदति ।—यत एव तत इदमग्रेतनकारिकादौ वक्ष्यमाणं सौगतवचन मनोज्ञ न स्यात् । ५ क्रमप्रतीतिरेव स्यादिति खपुस्तकपाठ । ६ कर्तृभावनयोर्विशेषणविशेष्यभावप्रकारेण । स्युरेवतुपुनरेवेत्यवधारणवाचका इति वचनात् । ७ भट्टो वदति ।—यदवादि सौगतेन तदप्यसत्यमितिपर्यन्त सम्बन्धः । ८ क्रियालक्षणाया भावनाया ।

(1) कर्तृभावनयोर्विशेषणविशेष्यभावप्रकारेण । (2) वाक्यात् । (3) भवदभ्युपगमप्रकारेण । (4) पचेता । (5) च न प्राप्नुतः इति पा. । तच्चुद्ध प्रतिभाति । (6) पुरुषसबधिक्रियारूपकरणलक्षणस्य भाट्टस्याभ्युपगमप्रकारेण । (7) यदि । (8) कर्त्रादि ।

भेदात् [1]स्वव्यापारभेदो भविष्यति [१]क्रियते कटो [२]देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिति महदसमञ्जसं[2] स्यात् । तथा हि ।—

एकत्वात्कर्मणः[३] प्राप्तं क्रियैकत्वं तथाभिदः[४] । [५]कर्तृ[६]भेदादितीत्थं[3] च किं [७]कर्त्तव्यं विचक्षणैः ।। इति ।

[८]तदप्यसत्यम्—[९]प्रतीतिविरोधात् । प्रतीयते हि धात्वर्थस्य भेदादेकवचनं देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामास्यते[१०] । स च धात्वर्थो न नियोग —नियोगस्य[4] प्रत्ययार्थत्वात्[११] । [१२]स च [१३]धात्वर्थातिरिक्तः कर्तृसाध्यः । [१४]तस्य कर्तृभेदाद्भेद इति । [१५]तत कटं कुरुत[१६] इति द्विवचनम् । धात्वर्थस्तु शुद्धो न कारकभेदाद्भेदी[१७] ।

यदि कहो कि कारक के भेद से अपने व्यापार मे भेद हो जावेगा तब तो देवदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा कट (चटाई) किया जाता है यह कथन भी बहुत ही असमजस युक्त हो जावेगा । तथाहि—

श्लोकार्थ :—कट लक्षण कर्म का एक रूप है अतः क्रिया मे एकत्व प्राप्त हुआ है क्योकि कर्त्ता मे भेद देखा जाता है अतः कर्त्ता के निमित्त से क्रिया भी दो प्रकार की हो जाती है । इस प्रकार से क्रिया में भी एकत्व अनेकत्व प्रकार हो जाने से भेद हो जाता है तो विचक्षण पुरुष क्या कर सकते है ? अर्थात् वे कुछ भी नहीं कर सकते है ।।

इस प्रकार का आप बौद्धो का कथन भी असत्य है क्योकि प्रत्यक्ष से प्रतीति में विरोध आता है "देवदत्तयज्ञदत्ताभ्या आस्यते" ऐसे भाव वाक्य में धात्वर्थ के अभेद से एक वचन ही प्रतीति में आता है और वह धातु का अर्थ नियोग नही है क्योकि नियोग तो प्रत्यय का अर्थ है वह धात्वर्थ से भिन्न है और वह पुरुष का व्यापार धात्वर्थ क्रिया से अतिरिक्त—भिन्न कर्त्ता से साध्य है । उस प्रत्यय के अर्थ में कर्त्ता के भेद से भेद होता है । इसलिए "कट कुरुत." इसमे द्विवचन होता है किन्तु भाव रूप—शुद्ध धात्वर्थ, कारक के भेद से भेद रूप नहीं होता है ।

विशेषार्थ—व्याकरण में जिसमे प्रत्यय (विभक्ति) लगकर क्रिया बन जाती है उन्हें धातु कहते हे जैसे भू पच् आदि । वे धातु दो प्रकार की होती हैं सकर्मक और अकर्मक ।

---

१ तर्हि । २ उदाहरणम् । ३ कटलक्षणस्य । ४ भेदात् । ५ तथाभिदा, कर्तृभेद इतीत्थं चेति पाठान्तरम् । कर्त्रपेक्षया क्रियाया द्वैविध्य जातम् । ६ क्रियाया एकत्वानेकत्वप्रकारेण । ७ न किमपि (काकु) । ८ भट्ट. (सौगतोक्तमसत्यम्) । ९ प्रत्यक्ष । १० भावे । ११ प्रत्ययार्थो धात्वर्थाद्भिन्नः । १२ पुरुषव्यापार. । १३ क्रियात । १४ प्रत्ययार्थस्य । १५ कर्तृसाध्यप्रत्ययत्वात् (भाट्टः) । १६ देवदत्तयज्ञदत्तौ । १७ भावरूपो धात्वर्थ. ।

---

(1) व्यापारभेदो इति पा. । (2) कारकभेदे क्रियावचनभेदो न जायेत । (3) कर्तुर्भेद इतीत्थ इति पा. (4) क्तवति क्रियारूपस्य ।

श्लोक—क्रियापद कर्तृपदेन युक्त, व्यपेक्षते यत्र किमित्यपेक्षां।
सकर्मकं त सुधियो वदंत, शेषस्ततो धातुरकर्मकः स्यात् ॥१॥
सन्मात्र भावलिंगं स्यादसपृक्त तु कारकैः।
धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते ॥२॥

अर्थ—जो कर्त्तापद से युक्त क्रियापद "क्या" इस प्रकार के कर्म की अपेक्षा रखते हैं विद्वान् जन उन क्रियापदों को सकर्मक कहते हैं एव उनमे वची हुई धातुये अकर्मक कही जाती है ॥१॥

जो सन्मात्र रूप भावलिङ्ग है, कारको के सम्बन्ध से रहित है, केवल शुद्ध धात्वर्थ हैं उसे भाव वाची कहते है ॥२॥

यहाँ वे धातु लज्जा, सत्ता, स्थिति, जागरण, वृद्धि, क्षय, भय, जीवन, मरण, शयन, क्रीडा, रुचि और दीप्ति अर्थ वाले धातु अकर्मक कहलाते हैं क्योंकि इनमें कर्म की अपेक्षा नहीं है। इन सकर्मक और अकर्मक धातुओं में विभक्ति के लग जाने से ये तिङन्त अथवा मिङन्त कहलाते है एव दस प्रकार से लकारों से प्रयुक्त किए जाते है। सकर्मक क्रियायें भी कर्त्तरि प्रयोग और कर्मणि प्रयोग से दो प्रकार की मानी गयी हैं एवं अकर्मक क्रियाये कर्त्तरि प्रयोग और भाव प्रयोग के भेद से दो प्रकार की होती हैं सकर्मक क्रियाओं के कर्त्तरि प्रयोग के उदाहरण--

अहं जिनालय गच्छामि—मै जिनालय को जाता हूँ।

आवां अष्टसहस्रीमध्येवः—हम दो जने अष्टसहस्री का अध्ययन करते हैं।

सर्वे जिनपूजां कुर्वंति—सभी जिन पूजा करते है।

देवदत्त: ओदनं पचति—देवदत्त भात को पकाता है।

इन वाक्यो मे जाने वाला, पढने वाला और पकाने वाला कर्त्ता प्रधान—स्वतंत्र है अतः इन वाक्यों को कर्त्तरि प्रयोग कहते है। इन वाक्यो मे कर्त्ता के अनुसार एक वचन, द्विवचन, और बहुवचन रूप क्रिया हो जाती है। अकर्मक धातुओ के कर्त्तरि प्रयोग के उदाहरण —

सः शेते—वह सोता है। जबूद्वीपे सूर्यौ प्रकाशेते—जम्बूद्वीप में दो सूर्य चमकते है। वृक्षा. वर्धंते—अनेक वृक्ष बढते है।

इन अकर्मक धातुओं में कर्म है ही नही, अत क्रिया का सभी भार कर्त्ता पर ही है। सोने वाले, प्रकाशित होने वाले एवं बढ़ने वाले कर्त्ता सर्वतः प्रधान है अतः ये वाक्य अकर्मक कर्तृ प्रयोग है इनमें भी कर्त्ता के अनुसार हो क्रिया एकवचन, द्विवचन, बहुवचन रूप हो जाती है।

सकर्मक धातुओ से कर्मणि प्रयोग के उदाहरण--

देवदत्तेन अष्टसहस्री पठयते—देवदत्त के द्वारा अष्टसहस्री पढी जाती है।

मया व्याकरण पठ्यते—मेरे द्वारा व्याकरण पढी जाती है।

युवाभ्या जिनपूजा क्रियते—तुम दोनो के द्वारा जिन पूजा की जाती है।

अस्माभिः गुरुः सेव्यते—हम सभी के द्वारा गुरु की सेवा की जाती है।

देवदत्तेन कटौ क्रियेते—देवदत्त के द्वारा दो चटाई बनाई जाती हैं।

मया न्यायव्याकरणसिद्धांतशास्त्राणि पठ्यंते—मेरे द्वारा न्याय, व्याकरण और सिद्धांत शास्त्र पढ़े जाते है।

इन वाक्यों के प्रयोग में कर्म प्रधान है और कर्त्ता अप्रधान है अतः कर्त्ता मे तृतीया हो जाती है, और कर्म मे प्रथमा ही रहती है। तथा कर्म के एक वचन, द्विवचन और बहुवचन के अनुसार ही क्रिया मे एक वचन, द्विवचन और बहुवचन हो जाते हैं।

अकर्मक क्रियाओ के भाव प्रयोग के उदाहरण--

देवदत्तेन शय्यते—देवदत्त के द्वारा सोया जाता है।

आवाभ्या आस्यते—हम दोनों के द्वारा बैठा जाता है।

जंतुभिः जन्यते—बहुत से प्राणियों के द्वारा जन्म लिया जाता है।

इन अकर्मक धातुओं के भाव प्रयोग में कर्त्ता में तृतीया होती है एव भाव के अर्थ में धात्वर्थ क्रिया में एक वचन ही रहता है। इन वाक्यो के प्रयोग में कर्त्ता अप्रधान है और धात्वर्थ क्रिया ही प्रधान है क्योंकि यहां कर्म का अभाव है।

यहां पर भाट्ट का ऐसा कहना है कि प्रज्ञाकर बौद्ध ने अपने ग्रन्थो में जो ऐसा कहा है कि यदि शब्द-भावना रूप नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ है—"देवदत्त पकाता है" ऐसा वाक्य यदि शब्दभावना रूप नियोग का ही प्रतिपादन करता है तब कर्त्ता अनुक्त--नही कहा जाता है। "पकाता है" यह क्रिया अपने कर्त्ता का प्रतिपादन नही करती है क्योकि वह क्रिया तो नियोग अर्थ का प्रतिपादन करती है और जब कर्त्ता अप्रधान है तब यहां पर कर्ता में तृतीया होनी चाहिए थी किन्तु यहा कर्ता का कथन होने से तृतीया नहीं हुई है।

इस पर भाट्ट का कहना है कि यह सब आपका कथन अयुक्त है क्योकि हमने अर्थभावना रूप विशेषण के द्वारा कर्त्ता का प्रतिपादन कर ही दिया है एवं करोति क्रिया का जो अर्थ है वही भावना है वह भावना देवदत्त कर्त्ता रूप से ही प्रतिभासित होती है। अर्थभावना तो विशेषण है और कर्त्ता देवदत्त विशेष्य है एवं विशेषण विशेष्य का ज्ञान एक साथ होता है क्रम से नहीं होता है इसलिए कारक के भेद से उसके व्यापार रूप क्रिया में भेद ही होवे ऐसा एकात नही है।

"देवदत्त और यज्ञदत्त इन दोनो के द्वारा एक चटाई बनाई जाती है" इसमें कर्मणि प्रयोग में कर्त्ता अप्रधान होने से उसमे तृतीया का द्विवचन है किन्तु कर्म रूप चटाई प्रधान है और उसमें एक वचन होने से "क्रियते" क्रिया में एकवचन ही है।

इसलिए कर्मणि प्रयोग में कर्म के अनुसार ही क्रिया होती है तथा इसी का कर्त्तरि प्रयोग करनेपर देवदत्तयज्ञदत्तौ कट कुरुतः—देवदत्त और यज्ञदत्त चटाई को बनाते हैं यहा कर्ता की प्रधानता से क्रिया

[शब्दभावनारूपनियोगोऽर्थभावनाया विशेषणमस्य विचार.]

स्यादाकूतम्[1] ।—

सम्बन्धाद्यदि[2] तद्भेदो[3] [4]धात्वर्थस्याप्यसौ[5] भवेत्[1] । सोपि [6]निर्वर्त्य [7]एवेति [8]तद्भेदेनैव भिद्यताम् ।।

[9]अस्माकं तु ।—

[10]विवक्षापरतन्त्रत्वाद्भेदाभेद[11]व्यवस्थितेः । [12]लाभिधानात्कारकस्य[13] सर्वमे[14]तत्समञ्जसम् ।।

में भी द्विवचन हो जाते है ।

किन्तु बौद्ध का यदि ऐसा कहना है कि कर्त्ता के भेद से क्रिया में भेद होवे ही होवे सो ठीक नही है क्योंकि अकर्मक धातु मे कर्त्ता मे भेद होने पर भी धात्वर्थ शुद्ध क्रिया में एकवचन ही रहता है एवं प्रत्यय का अर्थ नियोग माना गया है अत. धातु का अर्थ नियोग नही है और धात्वर्थ शुद्ध है कारक के भेद से भी उसमे भेद नहीं होता है उसमे केवल सर्वत्र एकवचन का ही प्रयोग होता है ऐसा समझना चाहिए ।

[शब्दभावना रूप नियोग अर्थभावना का विशेषण है इस पर विचार]

श्लोकार्थ—योगाचार बौद्ध कहता है कि—यदि सम्बन्ध से उस प्रत्यय रूप नियोग में कर्त्ता सम्बन्धी कारक के भेद से भेद है तो पुनः "आस्यते" इस सत्ता रूप धात्वर्थ में भी प्रत्यय भेद होवे । वह भी पुरुष के द्वारा ही निर्वर्त्य–निष्पाद्य है उस कारक–कर्त्ता के भेद से ही उसमें भेद हो जावे ।।

अर्थात् "जिनदत्तगुरुदत्तयज्ञदत्तैरास्यते" जिनदत्त, गुरुदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा बैठा जाता है । इस भाव रूप क्रिया मे एकवचन ही होता है किन्तु अर्थ के भेद से भाव रूप धातु के अर्थ में भेद नहीं होता है । इस प्रकार से जो आरोप है कि यदि कारक के भेद से प्रत्यय मे भेद है तो यहाँ भी आस्यते क्रिया मे बहुवचन होना चाहिए किन्तु हम लोगों के यहा तो—

श्लोकार्थ— विवक्षा–कल्पना के आधीन होने से कारक व्यापार मे भेदाभेद की व्यवस्था है । दस लकार के कथन से कारक मे–प्रत्यय रूप नियोग मे भेद और अभेद होते हैं इसलिए एक वचनादिक सभी समंजस–ठीक ही है ।।

भाव मे उत्पन्न हुई लकार नाम की क्रिया कर्त्ता और कर्म से भेद रूप से ही विवक्षित की गई है जब वह क्रिया लकार इत्यादि प्रत्यय से कही जाती है तब वह कर्त्ता नही है तब कर्त्ता के अप्रधान में तृतीया

---

१ योगाचारस्य । २ तस्य प्रत्ययरूपनियोगस्य ३ कर्तृसम्बन्धात्कारकभेदाद्यदि प्रत्ययभेदस्तदा । ४ सत्तारूपस्य आस्यते इत्यस्य । ५ प्रत्ययभेदः । ६ पुरुषेण निष्पाद्य । ७ हंतो । ८ कारक । कर्तृ । प्रत्यय । ९ योगाचाराणाम् (सौगतानाम्) । १० कल्पना । ११ व्यापारस्य कारकस्य । १२ दशलकारेण । १३ प्रत्ययरूपनियोगस्य भेदाभेदौ भवतः । १४ एकवचनादिकम् ।

---

(1) भावरूपस्य देवदत्तजिनदत्तयज्ञदत्तैरास्यते एतदेकमेव भवति नार्थभेदाद् भावरूपस्य धात्वर्थस्य भेदः ।

[१]क्रिया[1] हि कर्त्तुः [२]कर्मणश्च भेदेन हि विवक्ष्यते [३]सा यदा [४]लकारेणाभिधीयते, न कर्त्ता तदा [५]कर्त्तरि तृतीया भवति। यदा कर्त्ताभिधीयते तदा प्रथमार्थत्वात्प्रथमा भवति। [६]क्रियते महात्मना, करोति महात्मेति, [७]तदेतदपि पक्षपातमात्रम् सौगतस्य। भेदाभेदयोर्वस्तुरूपयोः प्रतीतिसिद्धत्वेन तद्विवक्षावशात् तथा व्यवहारस्य पारमार्थिकत्वोपपत्तेः। [८]ततो युक्ता शब्दव्यापाररूपा शब्दभावना, पुरुषव्यापाररूपाऽर्थभावना च। तत्र हि कर्त्तृव्यापारस्तिङा[९] प्रतिपाद्यते। [१०]स एव च भावना[११]। [१२]तथा चाह।—भावार्थाः[१३] [१४]कर्मशब्दाः। भावनं भावो [१५]ण्यन्ताद्घञ्प्रत्ययः। तथा च सति भावनैवासौ। भावना च[2] कर्त्तृव्यापारः स[१६] चोदितः[3] [१७]स्वव्यापारे प्रवर्त्तते[१८] इति। [4]नियोग्यस्य[१९] च [२०]तच्छेषत्वादप्रधानत्वा-

होती है जब कर्ता कहा जाता है तब प्रथमार्थ का अर्थ होने से प्रथमा होती है जैसे क्रियते महात्मना—महात्मा के द्वारा किया जाता है इसमें भाव में क्रिया होने से कर्त्ता में भेद है क्योंकि कर्त्ता महात्मा यहां स्वाधीन नहीं है। "करोति महात्मा"—महात्मा करता है। यहां प्रथमान्त कर्त्ता है। यहां कर्त्ता प्रधान है।

भाट्ट—यह आपका कथन भी पक्षपात मात्र ही है आप सौगत के यहाँ तो वस्तुरूप—वास्तविक भेद और अभेद की प्रतीति सिद्ध होने से उसकी विवक्षा के निमित्त से उस प्रकार का व्यवहार पारमार्थिक हो जावेगा और उस प्रकार से "करोत्यर्थ" देवदत्त कर्तृक होता है अतः शब्द व्यापार रूप ही शब्द भावना युक्त है एवं पुरुष के व्यापार रूप अर्थ भावना भी युक्त है। वहाँ ही कर्ता का व्यापार तिङ् प्रत्यय—आख्यात से प्रतिपादित किया जाता है और वह कर्ता का व्यापार ही अर्थ भावना है। उसी को कहते है—कर्म शब्द, भाव अर्थ वाले है। अर्थात् क्रियावाचक शब्द भी भाव अर्थ वाले है। भावनं भावो ण्यत्—प्रेरणार्थक से घञ् प्रत्यय हुआ है और उस प्रकार से व्युत्पत्ति करने पर वह भावना ही है और भावना ही कर्त्ता का व्यापार है अर्थात् भाव्यनिष्ठ जो भावक का व्यापार है वही भावना है। वह पुरुष "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" इत्यादि वेदवाक्य मे प्रेरित होता हुआ याग लक्षण अपने

१ भावे समुत्पन्ना लकाराभिधेया। २ का (पञ्चमी)। ३ क्रिया। ४ त्यादिप्रत्ययेन। ५ अप्रधाने। ६ भावे क्रियायाः कर्त्तुः सकाशादत्र भेदः। ७ भाट्ट। ८ देवदत्तकर्त्तृक, करोत्यर्थो भवति यत। ९ आख्यातेन। १० कर्त्तृव्यापार। ११ अर्थभावना। १२ कर्तृव्यापारस्य भावनात्वेन। १३ भाव एव अर्थो येषा ते। १४ कर्मशब्दा (क्रियावाचकाः) इत्यत्र कर्मशब्दा एव भावार्था इत्येवकारो द्रष्टव्यः। १५ ण्यन्तस्य घञिति पाठान्तरम्। १६ स पुरुषोऽग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवेदवाक्येन प्रेरितः सन्। १७ यागे। १८ पुरुषः। १९ नियोगस्येति पाठान्तरम्। नियोगशब्देन शब्दभावना। (शब्दव्यापाररूपप्रेरणस्य)। २० अर्थभावनाया विशेषणत्वात्।

(1) क्रिया इति पा. (2) भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना। (3) शब्दभावनया प्रेरित। (4) शब्दव्यापाररूपप्रेरणस्य। शब्दभावनाया अप्रधानत्व मयाप्यगीकृत गौणत्वेन वाक्यार्थत्व भवतु प्रधानत्वं अर्थभावनाया एव वाक्यार्थत्व तर्हि कर्तुस्तृतीया प्राप्नोतीति शकामग्रे निराकरोति।

[१]दवाक्यार्थत्वम्[1] । नियोगविशिष्टत्वाच्च भावनायास्तथा[२] प्रतिपादने [३]नियमेन प्रवर्त्तते । [४]कथ चासौ कर्त्ता स्वव्यापार प्रतीयन्नेव प्रवर्त्तते । [५]अन्यथा स्वव्यापारे एव न [६]चोदितो भवेत् ।

व्यापार में प्रवृत्त होता है । और नियोग तत् शेष होने से अप्रधान है अत. वह वेदवाक्य का अर्थ नही है । अर्थात् नियोग शब्द से शब्द भावना लेना वह शब्द भावना अर्थ भावना का विशेषण है वह अप्रधान होने से मुख्यतया वेदवाक्य का अर्थ नही हो सकती है । "इद कुरु" इस प्रकार से भावना नियोग से विशिष्ट है ऐसा प्रतिपादन करने से नियम से प्रवृत्त होता है अर्थात् विशेषण विशेष्य भाव परस्पर मे अविना-भावी हैं ।

यदि प्रेरित किया जाने पर भी प्रवृत्त नही होता है ऐसा मानो तो यह कर्त्ता अपने व्यापार का अनुभव करता हुआ ही कैसे प्रवृत्ति करेगा अन्यथा–यदि स्वव्यापार की प्रतीति न मानो तो अपने व्यापार मे भी वह पुरुष प्रेरित नही हो सकेगा ।

भावार्थ – प्रभाकर नियोग को प्रत्यय (विभक्ति) के अर्थ रूप ही मानता है अत "देवदत्तयज्ञदत्तौ कटं कुरुत " देवदत्त और यज्ञदत्त दोनो चटाई को बनाते है । इसमे कारक के भेद से प्रत्यय "कुरुत:" क्रिया में भेद हो गया है इसी प्रकार से "आस्यते" यह सत्ता रूप धात्वर्थ क्रिया है किसी ने कहा कि "देवदत्तजिनदत्तयज्ञदत्तै आस्यते" देवदत्त, जिनदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा बैठा जाता है ।

इस वाक्य में भी कारक तीन पुरुष है और बैठने रूप क्रिया का तीनो से सम्बन्ध है अतः यहाँ भी कारक के भेद से क्रिया के प्रत्यय मे भेद होना चाहिए–एकवचन रूप क्रिया न होकर बहुवचन होना चाहिए क्योंकि यह बैठने रूप क्रिया भी तो पुरुष के द्वारा ही निष्पाद्य–करने योग्य है । हम योगाचार बौद्धो के यहाँ तो ये दोष नहीं आते है क्योकि हम लोग विवक्षा के निमित्त से ही कारक के व्यापार रूप क्रिया में भेद और अभेद की कल्पना करते है । इस पर भाट्ट ने उत्तर दिया कि आप बौद्धों का कथन श्रेयस्कर नही है क्योंकि वास्तविक रूप से भेद और अभेद का व्यवहार नही है यदि मानोगे तब तो भेद और अभेद की विवक्षा से उस प्रकार का भेद-अभेद रूप व्यवहार भी सत्य ही मानना पडेगा । "पुन: करोति" क्रिया का अर्थ देवदत्तकर्तृक ही है, वही शब्द का व्यापार है, उसे ही तो हम शब्द भावना कहते हैं और कर्ता रूप पुरुष के व्यापार को अर्थ भावना कहते हैं क्योंकि पुरुष ही "अग्निष्टोमेन यजेत् स्वर्ग काम:" ऐसे वाक्य से प्रेरित होता हुआ यज्ञ करने रूप अपने व्यापार में प्रवृत्ति करताहै । अत. नियोग ही शब्द भावना है जो कि पुरुष के व्यापार रूप अर्थ भावना का विशेषण है अतः शब्द भावना अप्रधान है

---

१ मुख्यत्वेनेति शेषः । गुणवृत्त्या चेदस्ति तर्हि कथम् ? २ इदं कुर्विति नियोगनिष्ठत्वेन । ३ विशेषणविशेष्यनान्तरीयकत्वादिति भावः । ४ प्रेर्यमाणोपि न प्रवर्तते चेत् । ५ स्वव्यापाराप्रतीयमानत्वे । ६ पुरुष. ।

---

(1) स चोदितः कथं स्वव्यापारे प्रवर्तत इति ।

[वेदवाक्येन यज्ञकार्ये प्रवर्त्तमानः पुरुषः स्वर्गादि फलमपश्यन् कथं प्रवर्तेत इति शंकाया भाट्टस्य प्रत्युत्तरं]

[1]स्यान्मतम् ।—

व्यापार[2] एष मम [3]किमवश्यमिति मन्यते । फलं विनैव नैवं[4] चेत् सफलाधिगमः [5]कुतः ।। इति ।

[6]तदप्यसमीक्षिताभिधानम्—अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादिवेदवाक्यसामर्थ्यादेव पुरुषेण [7]तदा मम एष व्यापार इति प्रत्येतुं शक्यत्वात् । ममेदं[8] कर्त्तव्यमिति फलमपश्यन् कथं [1]प्रत्येतीति चेत् प्रत्यक्षतः[9] कथं प्रत्येति ? [10]फलयोग्यतायाः प्रतीतेरिति चेद्वाक्यादपि [11]तत एव तथा प्रत्येतु । [12]फलस्यातीन्द्रियत्वात्कथं तद्योग्यता

अर्थ भावना प्रधान है इस प्रकार से हमने वेदवाक्य का अर्थ भावना किया है जो कि नियोग से विशिष्ट है और विशेषण विशेष्य भाव परस्पर मे अविनाभावी है अतएव वेदवाक्य से प्रेरित होने पर पुरुष अपने यज्ञ रूप व्यापार में प्रवृत्ति करता है यह अर्थ हुआ ।

[वेदवाक्य से यज्ञकार्य मे प्रवृत्त हुआ पुरुष स्वर्ग रूप फल को देखे बिना कैसे प्रवृत्त होगा ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर]

बौद्ध—श्लोकार्थ—पुनः यह व्यापार मेरा अवश्य करणीय है इस प्रकार से ही कैसे मानता है अर्थात् वेद के द्वारा कहा गया यागादि लक्षण व्यापार अवश्य ही मेरा है यह बात पुरुष स्वर्गादि फल को देखे बिना जानता है या फल को देखकर के ? यदि वाक्य के उच्चारण काल मे स्वर्गादि फल का अभाव है तो मेरा व्यापार है यह बात कैसे मानता है ?

यदि फल को देखे बिना नही मानता है तो ज्ञान और प्रवृत्ति की सफलता कैसे होगी ?

भाट्ट—यह आपका कथन भी अविचारित ही है । क्योंकि "अग्निष्टोमेन यजेत् स्वर्ग काम." इत्यादि वेदवाक्य की सामर्थ्य से तो पुरुष के द्वारा उस वाक्य के उच्चारण काल मे यह मेरा व्यापार है ऐसा निश्चय करना शक्य है ।

सौगत—यह मेरा कर्त्तव्य है इस प्रकार से फल को (स्वर्ग को) नही देखते हुए पुरुष कैसे निश्चय करेगा ?

भाट्ट—ऐसा कहो तो आप सौगत भी फल के बिना (स्नान पान आदि फल को देखे बिना) प्रत्यक्ष प्रमाण से यह "जल" है इस प्रकार से कैसे जानते हो क्योंकि स्नानादि फल तो वहाँ भी प्रत्यक्ष ज्ञान मे देखा नही जाता है ।

१ सौगतस्य । २ वेदेनोक्तो यागादिलक्षणो व्यापारोऽवश्यं ममेदं स्वर्गादिफलं विना पुरुषोऽवैति न वा । ३ वाक्योच्चारणकाले फलाभावश्चेन्ममैष व्यापारः कथं मन्यते । ४ फलं विनापि मन्यते चेत् । ५ प्राप्तिस्वर्गनिश्च । ६ भाट्ट. ७ वाक्योच्चारणकाले । ८ सौगत । ९ भट्टो वदति । सौगत फलं विना प्रत्यक्षप्रमाणादिदं जलमिति कथं जानाति स्नानादिफलमपश्यन् भवान् कथं प्रत्येति । १० सौगत । (स्नानपानादि) । ११ फलयोग्यताया प्रतीतेरेव । १२ फलस्य स्वर्गादेः ।

(1) स्नानपानादिफलमपश्यन् ।

स्वव्यापारस्य [1]कर्त्रा प्रतीयते इति चेत् [2]प्रत्यक्षविषयस्य कथम् ? प्रतिपत्तुरभ्याससामर्थ्या-त्प्रत्यक्षस्य [3]विषये फलयोग्यतानिश्चय इति चेत् [4]तत एव च [5]कर्त्तुः [6]स्वव्यापारे [7]तद्योग्यता-निश्चयोस्तु—सर्वथा विशेषाभावात् ।

[बौद्धो भेद काल्पनिक वक्ति, किंतु भाट्टो वास्तविक मन्यते]

[8]यदप्यवादि प्रज्ञाकरेण

सौगत—फल की योग्यता अनुभव में आती है।

भाट्ट—पुनः वेदवाक्य से भी उसी प्रकार से—फल की योग्यता के अनुभव से ज्ञान हो जावे क्या बाधा है ?

सौगत—स्वर्गादि फल तो अतीन्द्रिय हैं—इन्द्रियों से नहीं जाने जाते हैं अतः अपने यागादि लक्षण व्यापार की यह योग्यता है इस प्रकार से यज्ञकर्ता को कैसे अनुभव आयेगा ?

भाट्ट—प्रत्यक्ष के विषय की योग्यता का अनुभव कैसे आता है अर्थात् प्रत्यक्ष से जलादि को देख लेने पर तत्क्षण ही इस जल में स्नान पान आदि की योग्यता है सभी को ऐसा कैसे मालूम होता है ?

बौद्ध—जानने वाले के अभ्यास की सामर्थ्य से प्रत्यक्ष के विषय जलादि में फल-स्नान-पानादि की योग्यता का निश्चय हो जाता है।

भाट्ट—उसी प्रकार से शांतिक, पौष्टिक आचरण रूप फल के अभ्यास से यज्ञकर्ता को याग लक्षण अपने व्यापार में उस फल की योग्यता का निश्चय हो जावे, दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

भावार्थ—बौद्ध ने भाट्ट के सामने यह समस्या रखी है कि जिस समय "अग्निष्टोमेन यजेत" ऐसा वेदवाक्य सुना और उसका अर्थ यह समझा कि यज्ञ रूप कार्य मेरा अवश्य करणीय कर्त्तव्य है, क्या उस समय उस समझने वाले पुरुष को उस यज्ञ के फल स्वर्गादि दीखते हैं ? यदि नहीं दिखते हैं तो फल को देखे बिना, समझे बिना वह पुरुष यज्ञ को करने में प्रवृत्ति कैसे करेगा ?

और यदि करेगा तो भी उसकी यज्ञ क्रिया की सफलता भी कैसे मानी जावेगी ? इस पर भाट्ट ने बौद्धों को समझाया है कि भाई ! आप बौद्ध भी तो प्रत्यक्ष से जब जल को देखते हो तो क्या उस जल का स्नान पान आदि फल आपको दिख रहा है ? यदि फल के नहीं दीखने पर भी आप उस फल की योग्यता का अनुभव करके प्रत्यक्ष से हुए जल के ज्ञान को सत्य मानते हो और उसमें प्रवृत्ति करते-कराते हो तब तो हमारे वेद वाक्यों से भी यज्ञ कार्य में प्रवृत्ति मान लो क्योंकि उसका फल स्वर्ग है, इस प्रकार से फल की योग्यता वेदवाक्य के श्रवण के समय अनुभव में आ जाती है जैसे कि जल को प्रत्यक्ष से देखने से उस जल से प्यास बुझाना, स्नान करके स्वच्छ-शुद्ध होना आदि रूप फल की योग्यता

१ यज्ञकर्त्रा। २ (भट्ट.) तर्हि प्रत्यक्षस्य सलिलादे पुरुषेण स्वव्यापारस्य स्नानपानादिक्रियायोग्यता कथं निश्चीयते ? ३ जलादौ। ४ शान्तिकपौष्टिकाचरणफलाभ्यासात्। (ऐहिकामुत्रिकेपि)। ५ यज्ञकर्त्तुः। ६ यागलक्षणे। ७ फलयोग्यतानिश्चयः। ८ भट्ट आह।—यदपि वक्ष्यमाणमवादि प्रज्ञाकरेण। (तदपि न परीक्षाक्षममिति सम्बन्धः)।

"यजते पचतीत्यत्र भावना[1] न प्रतीयते। [2]यज्याद्यर्थातिरेकेण[1] तस्या वाक्यार्थता कुतः?
पाकं करोति यागं च यदि भेदः प्रतीयते। एवं सत्यनवस्था स्यादसमञ्जसताकरी"[3] ॥

[2]करोति यागं स्वव्यापारं निष्पादयति यागनिष्पत्तिं निर्वर्त्तयति [3]व्यपदेशा एते [4]यथाकथञ्चिद्भेदपरिकल्पनपुरस्सराः[5]। [6]नैतेभ्योस्ति [7]पदार्थतत्त्व[8]व्यवस्थेति। शिलापुत्र-[9]कस्य शरीरमिति भेदव्यवहारो भेदमन्तरेणापि दृश्यते।

"यथा द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते। ततः [10]परापुनर्दृष्टा करोतीति न हि क्रिया॥
यजि क्रिया च [11]द्रव्यस्य [12]विशेषादपरा न हि[13]। [14]सामानाधिकरण्येन देवदत्ततया गतेः॥ इति॥"

तदपि न परीक्षाक्षमम्।

अनुभव में आ रही है। अतः पुरुष के द्वारा किया गया यज्ञ स्वर्गादि फल सहित है निष्फल नहीं है।

[बौद्ध भेद को काल्पनिक सिद्ध करना चाहता है किन्तु भाट्ट भेद को वास्तविक मान रहा है]

प्रज्ञाकर बौद्ध—**श्लोकार्थ**—यजते, पचति इसमें भावना का अनुभव नहीं आता है क्योंकि यज्ञादि अर्थ के अतिरिक्त उस भावना की वाक्यार्थता कैसे होगी? ॥१॥

श्लोकार्थ—यदि "पाकं करोति", "यागं करोति" पकाता है, यज्ञ करता है ऐसा भेद प्रतीति में आता है ऐसा मानोगे तब तो असमंजसता को करने वाली अनवस्था आ जावेगी ॥२॥

याग को करता है, अपने यज्ञरूप व्यापार को निष्पन्न करता है, याग की निष्पत्ति को बनाता है ये शब्द यथाकथंचित्—प्रकृति प्रत्ययादि भेद बिना भी भेद की कल्पना पूर्वक होते हैं। इन व्यपदेशों से भी पदार्थ-तत्व की व्यवस्था नहीं हो सकती है क्योंकि शिला पुत्रक-केतु का यह शरीर है ऐसे भेद का व्यवहार बिना भेद के भी देखा जाता है।

श्लोकार्थ—"जिस प्रकार से द्विज—ब्राह्मण का व्यापार याग—यज्ञ है ऐसा कहा जाता है पुनः उससे भिन्न करोति यह क्रिया नहीं देखी जाती है" ॥१॥

श्लोकार्थ—"यजि क्रिया—यज्ञ की क्रिया द्रव्य-पुरुष के विशेषण से भिन्न नहीं है क्योंकि समानाधिकरण होने से देवदत्त रूप से ज्ञान होता है" ॥२॥ अर्थात् देवदत्त के द्वारा ही वह क्रिया प्राप्त की

---

१ अतिरेको नामाऽऽधिक्यम्। २ कथमत्रवस्थेत्याशङ्कायामाह। ३ शब्दाः। ४ प्रकृतिप्रत्ययादिभेदमन्तरेणापि। ५ वर्त्तन्ते इति शेषः। ६ व्यपदेशेभ्यः। ७ यदि यागं करोतीत्यत्र भावनाख्यपदार्थतत्त्वव्यवस्था तदा स्वव्यापारं निष्पादयतीत्यत्रापि भावनान्तराणां व्यवस्था भविष्यतीति भावः। (यजते यागं करोतीति भेदव्यवहारे सत्यपि तदभिधेयतत्त्व (भावनाख्य) स्य कथं भेदेऽनवस्था न स्यादित्याशङ्कायामाह)। ८ यजते यागं करोतीत्यत्राभेदेपि भेदस्त्वया दर्शितो यजनार्थस्त्वेक एवेत्यभेदं दर्शयन्नाह। ९ केतोः। १० यागात्। यागस्य व्यापाररूपत्वात्ततो भिन्ना करोतीति क्रिया न दृश्यते इति भावः। ११ पुरुषस्य। १२ विशेषणात्। १३ देवदत्तत्वेन प्रापणात्। १४ केन कृत्वा प्रापणमित्याह सामानाधिकरण्येति।

---

(1) करोतीत्यर्थः। (2) पचन। यज्ञाद्यर्थस्य इति वा पाठः क्वचित् लभ्यते। (3) वितथ।

"यजतेपचतीत्यत्र भावनायाः[1] प्रतीतितः[2] । यजाद्यर्थातिरेकेण युक्ता वाक्यार्थता ततः ।।
पाकं करोति यागं चेत्येवं भेदेऽवभासिते । क्वाऽनवस्था भवेत्तत्र तत्प्रतीत्यनुसारिणाम्[१] " ।।

यजते यागं करोतीति हि यथा [3]प्रतिपत्तिस्तथा स्वव्यापारं निष्पादयतीत्यपि सैव प्रतिपत्तिः– स्वव्यापारशब्देन यागस्याभिधानात्–निष्पादयतीत्यनेन तु करोतीति प्रतीतेः । यागं करोति स्वव्यापारं निष्पादयतीति नार्थभेदः । यागनिष्पत्तिं निर्वर्त्तयतीत्यत्रापि यागनिष्पत्तिर्याग एव । निर्वर्त्तनं करणमेव । ततो यागं करोतीति प्रतीतं स्यात् । [२]ततो नैते व्यपदेशा[३] यथाकथञ्चिद्भेदपरिकल्पनपुरस्सरा –प्रतीयमानकरोत्यर्थविषयत्वात् । यागं करोति विदधात्येवमादिव्यपदेशवत् । ततो युक्तैवैतेभ्यः[४] पदार्थतत्त्वव्यवस्था अनवस्थानवतारात्[५] ।

जाती है ।

भाट्ट– यह सब आप प्रज्ञाकर बौद्ध का कथन भी परीक्षा को सहन करने में समर्थ नहीं है क्योंकि —

श्लोकार्थ—"यजते, पचति" यहाँ पर भावना की प्रतीति होने से यज्ञादि अर्थ से अतिरिक्त—भिन्न वाक्यार्थता युक्त है ।

श्लोकार्थ —पाक करोति, याग च, इस प्रकार से भेद के अवभासित होने पर उस प्रतीति का अनुसरण —अनुभव करने वालों को अनवस्था कैसे आयेगी ? जिस प्रकार से "यजते पाक करोति" यज्ञ करता है, पाक को करता है इत्यादि ज्ञान होता है उसी प्रकार से अपने व्यापार को निष्पादित करता है इस प्रकार से भी उसी का ज्ञान होता है, क्योंकि "स्व व्यापार" शब्द से यज्ञ का कथन किया जाता है और "निष्पादयति" इस शब्द से करोति इस क्रिया की प्रतीति होती है । याग करोति, स्वव्यापार निष्पादयति—यज्ञ को करता है, अपने व्यापार को निष्पादित करता है इसमें अर्थ भेद नहीं है ।

"यागनिष्पत्ति निर्वर्तयति" इसमें भी याग निष्पत्ति का अर्थ याग ही है और निर्वर्त्तन का अर्थ करना ही है । इसलिए इसमें याग करोति ऐसा ज्ञान होता है अतः इनमें एकार्थता होने से ये व्यपदेश-शब्द यथा कथंचित—अर्थ भेद के बिना भेद की कल्पना पुरस्सर-पूर्वक होते हैं क्योंकि प्रतीति में आते हुए करोत्यर्थ के विषय हैं । जैसे याग करोति, विदधाति, इत्यादि व्यपदेश-शब्द भेद के बिना ही होते है इसलिए "याग करोति, स्वव्यापार निष्पादयति, यागनिष्पत्ति निर्वर्तयति" इन वचन व्यवहारों से पदार्थ-तत्त्व-भावनातत्त्व की वास्तविक व्यवस्था होती है । अनवस्था दोष नहीं आता है अर्थात् ये सभी वचन भेद, "करोति" क्रिया रूप अर्थ भावना की ही व्यवस्था करते हैं ।

[पुनरपि बौद्ध भेद कल्पना के मानने मे अनवस्था दोष देता है, भाट्ट उसका परिहार करता है]

१ व्यपदेशानाम् । २ एकार्थता यत. । ३ अर्थ विना । ४ याग करोति स्वव्यापारं निष्पादयति यागं निर्वर्त्तयतीत्ये-तेभ्यो वाग्व्यवहारेभ्य (भट्ट सविदद्वैतवादिन प्रत्याह) । ५ एते व्यपदेशभेदा. सर्वेपि करोतिक्रियारूपार्थभावनामेव व्यवस्थापयन्ति—अर्थभेदेनाऽनवस्थाभावादिति भावः ।

(1) करोति क्रियारूपाया. । (2) प्रतीतिरस्ति यतः । (3) प्रतीतिस्तथा इति पा. ।

[पुनरपि बौद्धो भेदकल्पनायामनवस्था दर्शयति भाट्टश्च निराकरोति]

[1]अथ यजते यागं करोति यागक्रियां करोतीत्येवमनवस्थोच्यते[2] [3]तर्हि स्वरूपं[4] संवेदयते स्वरूपसंवेदनं संवेदयते इत्यप्यनवस्था[5] स्यात्। अथ स्वरूप संवेदयते इत्यनेनैव स्वरूपसंवेदनप्रतिपत्तेः स्वरूपसंवेदनं संवेदयते इत्यादि निरर्थकत्वादयुक्तं [6]तर्हि याग करोतीत्यनेनैव [1]यागावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्तेर्यागक्रियां करोतीत्यादिवचनमनर्थकमेव [7]व्यवच्छेद्याभावात्[2]। यजते इत्यनेनैव यागावच्छिन्नक्रियाप्रतीतेर्यागं करोतीत्यपि वचनमनर्थकमिति चेत्सत्य[8] यदि तद्वचनादेव तथा प्रत्येति। यस्तु न प्रत्येति त प्रति विशेषणविशेष्यभेदकथनपरत्वात् तथाभिधानस्य नानर्थक्यम्। शिलापुत्रकस्य[3] शरीरं राहो शिर इत्यादिभेदव्यवहारा अपि न कथञ्चिद्भेदमन्तरेण

प्रज्ञाकर बौद्ध—"यजते, याग करोति, यागक्रिया करोति", इस प्रकार से अनवस्था दोष आता हो है।

भाट्ट—तब तो आपके यहाँ "स्वरूप संवेदयते"—स्वरूप का संवेदन करता है। स्वरूपसंवेदन संवेदयते—स्वरूप संवेदन का संवेदन करता है। इस कथन में भी अनवस्था हो जावेगी। यदि आप कहे कि 'स्वरूप वेदयते" इस कथन से ही स्वरूप संवेदन का ज्ञान हो जाने से "स्वरूपसंवेदन संवेदयते" इत्यादि वाक्य निरर्थक है अतः अयुक्त है। तब तो "याग करोति" इस वाक्य से ही यागावच्छिन्न क्रिया-यज्ञ से सहित क्रिया का ज्ञान हो जाने से "यागक्रिया करोति" इत्यादि वचन अनर्थक हो है, क्योंकि परिहार करने योग्य का अभाव है।

बौद्ध—पुनः "यजते" इस पद से ही यागावच्छिन्न—यज्ञ से सहित क्रिया की प्रतीति होने से "याग करोति" यह वचन भी अनर्थक हो जावेगा ?

भाट्ट - आपका कहना सत्य है यदि उस 'यजते', वचन से ही वैसा ज्ञान हो जाता है तो वे 'याग करोति' वचन व्यर्थ ही है किन्तु जो उतने मात्र से नही समझता है उसके लिए विशेषण, विशेष्य भेद को कहने वाले वाक्य प्रयुक्त किये जाते है इसलिए वैसा कथन अनर्थक नही है यह शिलापुत्रक का शरीर है, यह राहु का शिर है इत्यादि भेद व्यवहार भी कथंचित् भेद के बिना नही होते है अन्यथा इन्हे गौणपने का प्रसग आ जावेगा। अर्थात् कथंचित् भेद के बिना भी यदि भेद व्यवहार प्रवृत्त होते है तब तो भेद व्यवहार गौण हो जावेंगे, किन्तु इनका औपचारिक—गौण ता माना नही है क्योंकि भेद वास्तविक है इसका आगे ही वर्णन किया है।

शिलापुत्रक का, राहु का, इतना कहने पर 'क्या' इस प्रकार का संदेह हो जाता है और उस

१ प्रज्ञाकरः। २ यदि त्वया सौगतेनेति शेषः। ३ भट्ट। ४ कर्तृ। ५ सौगतस्येति शेषः। ६ भट्टः। ७ परिहार्य। ८ भट्ट।

(1) विशिष्ट। (2) विशेषितुं योग्यस्य। (3) केतोः ग्रहस्य।

प्रवर्त्तन्ते– [1]गौणत्वप्रसङ्गात्[2] । शिलापुत्रकस्य, राहोरित्युच्यमाने हि किमिह[3] सन्देहः । तद्व्यवच्छित्तये शरीरं, शिर इत्यभिधानमन्यस्य कार्यादेर्व्यवच्छेदकमुपपन्नम्[4] । तस्मिंश्च[5] सति कस्येति संशयः स्यात् । तद्व्यपोहनाय शिलापुत्रकस्य राहोरित्यभिधानं श्रेयः—अवस्थातद्वतोः[6] [7]कथञ्चिद्भेदात् । शरीर हि शिलापुत्रकस्यावस्था [8]अवयवोपचयलक्षणावस्थान्तर[9]व्यावृत्ता । शिलापुत्रक पुनरवस्थाता[10]—[11]खण्डाद्यवस्थान्तरेष्वपि प्रतीते । एतेन राहुरवस्थाता शिरोवस्थायाः [12]व्यात[1]।

[अवस्थामतरेणावस्थावान् कश्चिन्नास्ति इति बौद्धेन मन्यमाने भाट्ट प्रत्युत्तरयति]

[13]सांवृतोऽवस्थाता—अवस्थाव्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति चेन्न—[14]उभयासत्त्वात् । अवस्था-

---

संदेह की व्यवच्छित्ति-दूर करने के लिए शरीर, शिर, इस प्रकार का उत्तर रूप कथन होता है, अतः अन्य कार्यादि का व्यवच्छेदक होना सुघटित है अर्थात् अन्य योग का व्यवच्छेद न करने पर सदेह बना ही रहता है और शरीर एव शिर के कहने पर "किसके है" ऐसा सशय होता है। उस सशय को दूर करने के लिए शिलापुत्रक का, राहु का, ऐसा कथन करना भी श्रयस्कर है क्योकि अवस्था और अवस्थावान्– शरीर और शरीरवान् में कथंचित् भेद स्वीकार किया गया है। शरीरवान् तो एक जीव विशेष है और शरीर पुद्गल की पर्याय है, बहुत ही अतर है। शरीर यह शिलापुत्रक की अवस्था है और वह अवयवों के उपचय–परिपूर्णता लक्षण वाला है एवं अवस्थातर से व्यावृत्त है—ऊर्ध्व स्थिति खण्ड आदि भिन्न २ अवस्था से रहित है किन्तु शिलापुत्रक स्थितिमान् है और खण्डादि अवस्थातरों—भिन्न-भिन्न अवस्थाओं मे भी प्रतीत होता है।

इसी कथन मे राहु अवस्थावान् है शिर अवस्था है ऐसा कथन सिद्ध हो गया। अर्थात् राहु अवयवी है और शिर आदि उसके अवयव है।

[अवस्था को छोडकर अवस्थावान् कोई चीज नही है ऐसी बौद्ध की मान्यता पर भाट्ट के द्वारा समाधान]

बौद्ध—अवस्थावान्–स्थितिमान् काल्पनिक है क्योकि अवस्था को छोड़कर उसकी उपलब्धि नही होती है।

भाट्ट—ऐसा नही कहना, अन्यथा अवस्था और अवस्थावान् इन दोनों का ही अभाव हो जावेगा।

---

१ कथञ्चिद्भेदमन्तरेणापि भेदव्यवहारा प्रवर्त्तन्ते चेत्तदा भेदव्यवहाराणा गौणत्व स्यात् । २ औपचारिक चैतन्नेष्टम्—तात्त्विकभेदस्यानन्तरं निरूपितत्वात् । ३ किमिति सन्देह इति पाठान्तरम् । ४ अन्ययोगव्यवच्छेदाभावे सन्देहविच्छित्तिर्न स्यात् । ५ शरीरे शिरसि चोच्यमाने सति । ६ शरीरशरीरवतोः । ७ अवस्थापेक्षया । ८ सर्वावयवसम्पूर्णता । ९ ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि । १० स्थितिमान् । ११ ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि । १२ व्याख्यात इत्यपि पाठः । १३ (बौद्धः) कल्पितः । १४ अवस्थावस्थावतो. ।

---

(1) व्याख्यात. इति पा. ।

तुरसत्त्वे सांवृतत्वे वावस्थायाः सत्त्वाऽसांवृतत्वविरोधात् [1]खपुष्पसौरभवत् कृत्रिमफणिफटादिवच्च । [2]ततो वस्तुस्वभावाश्रय[3] एव यागं करोतीति [4]व्यपदेशः—सत्यप्रतीतिकत्वात् । संविदमनुभवतीत्यादि व्यपदेशवत्[1] ।

तथा[5] द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते । ततः परा च निर्बाधा करोतीति क्रियोच्यते ।।
यजि क्रियापि [2]भावस्याऽ[6]विशेषादपरैव[7] [8]हि । [3]सामानाधिकरण्येन[3] देवदत्ततया[9] गतेः ।।

[करोतिक्रिया सामान्य यजादिक्रिया विशेषः तयोः सामान्यविशेषयोर्भेदोऽस्ति इति भाट्टेनोच्यमाने बौद्धो दोषानारोपयति]

द्विजो हि व्यापृतेतरावस्थानुयायी[4] [5]स [6]एवायमित्येकत्वप्रत्यवमर्षवशान्निश्चितात्मा[10]

अर्थात् स्थितिमान् का अभाव मान लेने पर अथवा उसे काल्पनिक मान लेने पर अवस्था का भी सत्त्व, वास्तविकत्व विरुद्ध हो जावेगा । जैसे आकाश पुष्प का अभाव कहने पर अथवा उसे काल्पनिक मान लेने पर उसकी सुगन्धि का सत्त्व और वास्तविकत्व विरुद्ध है मतलब न आकाश पुष्प ही है न सुगन्धि ही है । एवं कृत्रिम फणि के फटाटोप के समान व्यर्थ है । अर्थात् जैसे कागज या मिट्टी का बनाया हुआ सर्प फण को उठाकर डरा नहीं सकता है वैसे ही स्थितिमान् वस्तु को काल्पनिक कहने पर उसके अवयव आदि भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे । इसलिए 'याग करोति' यह व्यपदेश वस्तु स्वभाव का ही आश्रय लेने वाला है क्योंकि सत्य प्रतीति आ रही है अर्थात् यागकृति—यज्ञक्रिया लक्षण पदार्थ अपने स्वरूप के आश्रित ही है, भावना लक्षण जो वस्तु है वह स्वभावाश्रित ही है अर्थ शून्य नहीं है । जैसे "संविद अनुभवति"— ज्ञान का अनुभव करता है इत्यादि कथन पाये जाते हैं । और दूसरी बात यह है कि —

श्लोकार्थ— द्विज—ब्राह्मण का व्यापार यज्ञ है ऐसा कहा जाता है । और उससे भिन्न बाधारहित "करोति" यह क्रिया स्वीकार की गई है ।

श्लोकार्थ—यजि क्रिया भी द्विज लक्षण भाव (पुरुष) से अभेद रूप होने से भिन्न है अथवा यज्ञ क्रिया भी द्विज-पुरुष से भिन्न होने से भिन्न ही है । ऐसा भी अर्थ टिप्पणी के आधार से होता है क्योंकि देवदत्त के साथ ज्ञान का समानाधिकरण है, सर्वथा एक्यरूप समानाधिकरण नहीं है ।।

१ खपुष्पस्यासत्त्वे सांवृतत्वे च सौरभस्य सत्त्वमसांवृतत्वं च विरुद्धयते यथा । २ शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यादि व्यवहार. कथञ्चिद्भेदमन्तरेण घटते यतः । ३ यागकृतिलक्षणः पदार्थ आत्मस्वरूपाश्रय एव । ४ भावनालक्षणा यद्वस्तु तत्स्वभावाश्रय इत्युक्तेऽर्थशून्यत्वं नेत्यर्थः । ५ किञ्च । ६ द्विजलक्षणस्य द्रव्यस्य । ७ अभेदात् । ८ यजि क्रिया च द्रव्यस्य विशेषादपरा नहीति च पाठः । ९ सहार्थे तृतीया । १० प्रत्यभिज्ञान ।

(1) कर्तृकर्मरूपमवस्तु । यथा एकस्य संवेदनस्य कर्तृत्वं कर्मत्वं । (2) भावस्य विशेषात् इति पा । विशेषात्—भेदात्। (3) सर्वथा ऐक्ये सामानाधिकरण्यं नास्ति यतः । (4) यो द्विज पूर्वं यागं कुर्वन् स्थितः स एवायं यागमकृत्वा स्थित इति । (5) व्यापृतावस्थाव्यापी । (6) अव्यापृतावस्थाव्यापी ।

परमार्थात्सन्नेकः[१]। यागस्तु तद्व्यापारः प्रागभूत्वा भवन् पुनरप[२]गच्छन्ननित्यतामात्मसात्कुर्वन् भेदप्रत्ययविपयस्ततोऽपर[३] एव—[४]कथञ्चिद्विरुद्ध[५]धर्माध्यासात्[६]। [७]तथा [८]यागेतरव्यापारव्यापिनी[१] करोतीति [९]क्रियानुस्यूतप्रत्ययवेद्या [१०]तद्विपरीतात्मनो यागादर्थान्तरभूता सर्वथाप्यप्रतिक्षेपा[११]र्हानुभूयते—[१२]यजते याग करोति देवदत्त इति [१३]समानाधिकरणतया देवदत्तेन [१४]सहावगते.। [१५]सर्वथा तदैक्ये तद्विरोधात् पटनत्स्वात्मवत्। [१६]कि करोति देवदत्तः ?

[करोति क्रिया सामान्य रूप है और यजनपचनादि क्रियाये विशेष रूप है। इनमे भेद है, ऐसा भाट्ट के कहने पर बौद्ध के द्वारा दोष आरोपित किये जाते है]

यहाँ द्विज, व्यापार और अव्यापार दोनों ही अवस्था का अनुयायी—"यह वही है" इस प्रकार से एकत्व के प्रत्यवमर्ष-प्रत्यभिज्ञान मे निश्चित स्वरूप वाला है और वह द्विज परमार्थ से सत् रूप एक है अर्थात् जो ब्राह्मण पहले यज्ञ को करते हुए स्थित था यह वही यज्ञ को न करते हुए स्थित है।" किन्तु याग उसका व्यापार है वह प्राग्—पहले नही होकर वर्तमान मे होता हुआ पुन. नष्ट होता हुआ अनित्यपने को आत्मसात् करता हुआ भेद के ज्ञान का विषय है इसलिए उस द्विजपुरुष से वह याग लक्षण व्यापार भिन्न ही है क्योंकि कथचित्—उत्पाद विनाश की अपेक्षा से विरुद्ध धर्माध्याम देखा जाता है।

तथा द्विज से याग लक्षण भिन्न है एव याग और पचन व्यापार में व्याप्त होकर रहने वाली "करोति" यह क्रिया अनुस्यूतप्रत्यय—अन्वय रूप ज्ञान से वेद्य है—यजन पचन आदि में करोति के अर्थ का सद्भाव होने से अनुगत प्रत्यय से जानी जाती है और करोति क्रिया से विपरीत स्वरूप याग से अर्थातरभूत–भिन्न सर्वथा भी निराकरण नही करने योग्य यह करोति क्रिया अनुभव में आती है। "यजते, याग करोति देवदत्त." इस प्रकार मे देवदत्त के साथ याग का समानाधिकरण है। यदि सर्वथा इन दोनो मे एकत्व मानोगे तो उसमे विरोध आ जावेगा क्योकि जैसे वस्त्र और उसके स्वरूप में एकता है वैसी यहाँ नही है किसी ने कहा—कि करोति देवदत्तः ? इस प्रश्न के होने पर "यजते पचति" इस प्रकार से निश्चित हो जाने पर भी यज्यादिकों मे सदेह देखा जाता है। तथाहि—

१ परमार्थ. सन्नेक इति पाठान्तरम्। २ नश्यन्। ३ द्विजात्तद्व्यापारो यागरूपो भिन्न एव। ४ उत्पादविनाशापेक्षया। ५ द्विजात्। ६ अनित्यत्वलक्षण। ७ द्विजाद्यागलक्षणक्रिया भिन्ना यथा। ८ पचन। ९ यजनपचनादौ करोत्यर्थसद्भावेनानुगतप्रत्ययवेद्या। १० करोत्यर्थविपरीतात्मकाद्यजनात् करोतीति क्रियार्थान्तरभूतास्ति। ११ अनिराकरणीया। १२ यागस्तु तद्व्यापारस्ततो देवदत्तादपर एवेति करोतीति क्रिया यागादर्थान्तरभूतेत्यनन्तरोक्तसाध्यद्वये यथाक्रम यजते याग करोति देवदत्त. यजतिपचतीत्यादिना च साधनद्वयमुपदर्शयन् यजते इत्याह। १३ देवदत्तस्य करोतेश्च समानाधिकरणता। १४ यागस्य। १५ भो बौद्ध। तयो करोतीतिक्रियायागयो. देवदत्तेन सह सर्वथैकत्वे तत्सामानाधिकरण्यं विरुद्ध्येत यथा पटपटस्वरूपयोः सर्वथैक्ये सामानाधिकरण्य विरुद्ध्यते (न तु कथञ्चिदैक्ये)। १६ यागादन्या क्रियेति साधनद्वयेण स्थापयति।

(1) अव्यापकव्यापकभेदात् कथचिद् भेदः।

यजति पचतीति प्रश्नोत्तरदर्शनात् करोतीति निश्चितेपि यज्यादिषु [१]सन्देहाच्च । तथा हि ।— [२]यस्मिन्निश्चीयमानेपि यन्न निश्चीयते तत्तत: कथञ्चिदन्यत् । यथान्यदेहे निश्चीयमानेप्यनिश्चीयमाना बुद्धि: । करोतीति निश्चीयमानेप्यनिश्चीयमानश्च यज्यादिरिति । [३]स्यान्मतम् ।—

करोत्यर्थयज्याद्यर्थौ[1] विभिन्नौ यदि तत्त्वत. । अन्यत्सन्दिग्धमन्यस्य [2]कथने दुर्घट:[3] क्रम:[4] ।।

न हि करोतीति क्रियातो विभिन्नायां यज्यादिक्रियाया सन्देहे [४]ततोन्यत्र करोत्यर्थे निश्चिते प्रश्न: श्रेयान्— [५]अनिश्चिते एव प्रश्नस्य साधीयस्त्वात् । तत. करोत्यर्थयज्याद्य-

जिसके निश्चित हो जाने पर भी जो निश्चित नही किया जाता है वह उससे कथंचित् भिन्न है, जैसे अन्य का शरीर निश्चित हो जाने पर भी उसकी बुद्धि निश्चित नही है । "करोति" इस क्रिया के निश्चित हो जाने पर भी यज्यादिक निश्चित नही होते है इसलिए करोति क्रिया से यजनादिक क्रियाये भिन्न ही है ।

बौद्ध—श्लोकार्थ—"करोति" क्रिया का अर्थ और यजनादि क्रिया का अर्थ ये दोनो यदि वास्तव मे भिन्न-भिन्न है तब तो एक के संदिग्ध होने से दूसरे का कथन करने में क्रम दुर्घट हो जावेगा ।।

करोति इस क्रिया से भिन्न यज्यादि क्रिया से अन्यत्र—करोति अर्थ के निश्चित हो जाने पर प्रश्न श्रेयस्कर नही है क्योंकि सामान्य की अपेक्षा मे अनिश्चित में ही प्रश्न करना श्रेयस्कर है । इसलिए करोति क्रिया के अर्थ मे और यज्यादि क्रिया के अर्थ मे तादात्म्य ही मानना चाहिए । वहाँ पर प्रश्नोत्तर देखे जाते है करोति अर्थ और यज्यादि अर्थ यदि वास्तव मे सामान्य-विशेष होने से भिन्न है तब तो जब यज्यादि अर्थ संदिग्ध होगा तब करोति क्रिया के अर्थ का कथन करने मे यह क्रम नही बन सकेगा । एवं किसी ने प्रश्न किया कि गौ कैसी है ? उत्तर मिला कि सफेद है । इस उदाहरण से ऐसा समझना कि तादात्म्य में ही प्रश्नोत्तर देखे जाते है ।

[जैनमत का आश्रय लेकर भाट्ट उत्तर देता है]

भाट्ट—आपका यह कथन भी सुघटित नही है क्योंकि करोति क्रिया का अर्थ सामान्य रूप है और यज्यादि उसके विशेष रूप है तथा सामान्य और विशेष मे कथंचित्—सामान्य की अपेक्षा से अभेद स्वी-

१ समानाधिकरणताविरोध । २ यज्यादि करोत्यर्थाद्भिन्न -तस्मिन्निश्चीयमानेपि तस्याऽनिश्चीयमानत्वात् । ३ बौद्ध आह । करोत्यर्थयज्याद्यर्थौ सामान्यविशेषौ तत्त्वस्वरूपेण यदि भिन्नौ तदान्यो यज्याद्यर्थ.सन्दिग्ध अन्यस्य करोत्यर्थस्य कथने प्रश्नोत्तरे तदाय क्रमो दुर्घट: । ४ यज्यादिक्रियात. । ५ सामान्यापेक्षयाऽनिश्चितेर्थे ।

(1) करोत्यर्थयजत्यर्थौ इति पा. । (2) प्रश्न । (3) अन्यथा देवदत्ते निश्चिते यज्ञदत्ते सदेहापत्ति: । (4) प्रश्नोत्तरक्रम: ।

र्थयोस्तादात्म्यमेषितव्यम्—[1] तत्रैव प्रश्नोत्तरदर्शनादिति । [1]तदेतदनुपपन्नम्— करोत्यर्थस्य सामान्यरूपत्वात्— तद्विशेषरूपत्वाच्च यज्यादेः । सामान्यविशेषयोश्च [2]कथञ्चिदभेदोपगमात् । [3]सन्दिग्धस्यैव [3]कथनात् । प्रश्नोत्तरक्रमस्य दुर्घटत्वाघटनात्[4] । [5]नदभेदैकान्ते एव तस्य दुर्घटत्वात् । स्यादाकूतं ते[6] ।—

[7]न सामान्यं विशेषेण विना [3]किञ्चित्प्रतीयते[8] । सामान्याक्षिप्य माणस्य[4] न हि [10]नामाऽप्रतीतता ॥

[11]केवलसामान्यप्रतीतौ हि विशेषांशे सन्देह [12]इत्ययुक्तम्—[13]तस्याऽप्रतीतत्वात् । [5]घटप्रतीतौ हिमवदादिवत्[6] । [14]अथ [15]सामान्येन विशेष[16] आक्षिप्यते । तथा [17]सति सोपि

कार किया गया है।

संदिग्ध—यज्यादि अर्थ में ही प्रश्न देखे जाते है। अत प्रश्नोत्तर का क्रम दुर्घट नही होता है। अर्थात् सामान्य विशेष मे कथचित् सामान्य की अपेक्षा से अभेद के स्वीकार करने से एकतर - दो में से एक रूप के संदिग्ध का कथन होने से प्रश्नोत्तर का क्रम बन जाता है। उन सामान्य विशेष में सर्वथा-एकात से अभेद स्वीकार करने पर ही वह क्रम दुर्घट है।

बौद्ध (प्रज्ञाकर)—श्लोकार्थ—"विशेष के बिना सामान्य कुछ भी प्रतीति में नही आता है विशेष युक्त ही प्रतीति मे आता है। एव जो सामान्य से स्वीकृत की गई है उसकी निश्चय से अप्रतीति नहीं होती है।" केवल सामान्य की प्रतीति के हो जाने पर विशेषाश मे सदेह होता है आप भाट्ट के यहा जो ऐसा कथन है वह अयुक्त है क्योंकि वह विशेष प्रतीति नही होता है जैसे घट की प्रतीति मे हिमवन् आदि प्रतीत नही होते है।

भाट्ट—सामान्य (करोति) अर्थ से विशेष (यज्यादि) अर्थ ग्रहण किये जाते हैं। उस सामान्य के प्रतीत होने पर वह विशेष भी प्रतीत होता ही है अत: सशय कैसे हो सकेगा ? क्योकि प्रतीति को छोड़ कर और अन्य कोई स्वीकृति है ही क्या ?

वह सामान्य—करोति अर्थ से प्रतीत ही है किन्तु विशेष—यज्यादि अर्थ रूप से नही है क्योंकि वह विशेष सामान्य रूप से ही जान लिया जाता है।

बौद्ध—वह सामान्य ही आक्षेपक—ज्ञापक—बतलाने वाला हो और वही आक्षेप्य—ज्ञाप्य—बत-

---

१ आह भट्ट । — सामान्यविशेषयोर्वस्तुस्वरूपयो सर्वथैक्यमित्येतद्वचो बौद्धस्य प्रमाणविरुद्धम् । २ यज्याद्यर्थस्य । ३ प्रश्नात् । ४ सामान्यविशेषयो: कथञ्चित्सामान्यापेक्षया अभेदोपगमादेकतरस्य सन्दिग्धस्य कथनात् प्रश्नोत्तरक्रमो घटते । ५ तयोः सामान्यविशेषयोः सर्वथाऽभेदे सत्येव तस्य प्रश्नोत्तरक्रमस्य दुर्घटत्वं स्यात् । ६ प्रज्ञाकरस्य । ७ भट्टेन यदि सामान्यविशेषयो. कथञ्चिद्भेदोऽभ्युपगम्यते तदा न सामान्यमित्यादि । ८ विशेषयुक्तमेव प्रतीयते इत्यर्थः । ९ सामान्येन स्वीक्रियमाणस्य (ज्ञाप्यमानस्य) । १० निश्चयेन । ११ कारिकाया. पूर्वांशस्य सुगमत्वादुत्तरार्द्धं व्याचष्टे । १२ भट्टवचनम् १३ विशेषस्य । १४ भट्टः । १५ करोत्यर्थेन । १६ यज्याद्यर्थ । १७ (बौद्ध.) सामान्ये प्रतीते सति ।

---

(1) गौ कीदृशीति प्रश्ने धवलेति उत्तरमुदाहरणं । (2) सामान्यापेक्षया । (3) ततः कथं विशेषे सदेहः । (4) विशेषस्य प्रतीतस्य । (5) सामान्यविशेषयोः सर्वथा भेदविवक्षायां वक्ति । (6) सदेह. स्यान्न च तथा ।

संशीतावतिप्रसङ्गः---सामान्यविशेषयोः [1]कथञ्चिदभेदात् ।—हिमवद्घटादीनां तु परस्परमत्यन्तभेदात् । [2]एकत्र निश्चयेपि [3]नानवगततदन्यतमे[1] संशीतिर्यतोतिप्रसङ्गः स्यात् । नापि सामान्येनाक्षिप्ते[2] [3]तद्विशेषसंशयो[4]पामोस्ति[5] [6]यतस्तदाक्षेपपक्षनिक्षिप्तदोषो[7]पक्षेपः[४] । न [8]चैवमनभिमततद्विशेषेष्वविशेषेण संशयोनुषज्यते—स्मरणविषये एव विशेषेनेकत्र[9] [5]संशयप्रतीतेः ।

[संशयलक्षणस्य विचार]

सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशय इति वचनात् । सामान्ये ह्युपलभ्यमाने [6]तदविनाभाविनो विशेषस्यानुपलम्भेपि नाभावः सिद्ध्यति—तदभावे तस्याप्यभावप्रसङ्गात्[७] । तदुक्तम् ।—

एकत्र—घट का निश्चय होने पर भी हिमवन् पर्वत आदि के नहीं जानने पर संशय नहीं हो सकता है कि जिससे अति प्रसंग दोष आ सके अर्थात् नहीं आ सकता है । एवं सामान्य से स्वीकृत में उस विशेष का संशय भी नहीं है, कि जिससे उस आक्षेप पक्ष में निक्षिप्त दोषों का प्रसंग हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है । मतलब हमारे स्वीकार किये गये पक्ष में दिये गये दोषों का प्रसंग नहीं हो सकता है और इस प्रकार से अनभिमत उन विशेषों में सामान्य रूप से संशय का प्रसंग नहीं है क्योंकि स्मरण के विषयभूत अनेक विशेष में ही संशय होता है । अर्थात् विवक्षित वस्तु में सामान्य के साथ अविनाभावी बहुत से विशेषों के होने पर एक स्मरण के विषयभूत विशेष में संशय घटित होता है अनभिमत अविवक्षित वस्तु के उन विशेषों में संशय नहीं होता है ।

[संशय के लक्षण का विचार]

क्योंकि "सामान्य का प्रत्यक्ष होने से और विशेष का प्रत्यक्ष न होने से एवं विशेष की स्मृति के होने से संशय होता है" ऐसा हमने कहा है । सामान्य के उपलभ्यमान होने पर उस सामान्य से अविनाभावी विशेष की अनुपलब्धि से भी अभाव सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि उस विशेष के अभाव में तो सामान्य के भी अभाव का प्रसंग आ जावेगा । कहा भी है—

श्लोकार्थ—निर्विशेष सामान्य खरगोश की सींग के समान है और सामान्य रहित विशेष भी उसी प्रकार से—शश विषाण के समान ही है । इस प्रकार से विशेष में अदृश्यानुपलब्धि के होने से ही संशय

१ क्रियान्वयलक्षणसामान्यरूपेण । २ घटे । ३ हिमवदादौ । ४ अपि तु न । ५ विवक्षितवस्तुसामान्याविनाभाविविशेषेषु बहुषु सत्स्वेकस्मिन् स्मरणगोचरे विशेषे संशयो घटते । अनभिमतस्याविवक्षितस्य वस्तुनस्तेषु विशेषेषु संशयो नास्ति । ६ सामान्य । ७ विशेषाभावे सामान्यस्याप्यभावप्रसङ्गात् ।

(1) तदन्यतमसंशीतिः इति पा । (2) ज्ञाते । (3) तद्विशेषे इति पा । (4) सामान्यरूप । विशेषमात्रे इत्यर्थः । (5) कथंचिदभिन्ने । (6) भास विशेषस्य । (7) अवस्थादि प्राप्ति. । (8) सामान्येनाक्षिप्ते तद्विशेषे संशयानुपगमप्रकारेण । विवक्षितविशेषप्रकारेण । अविवक्षित । (9) विशेषे अनेकत्र ।

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥

[1]न [2]चैव विशेषेऽदृश्यानुपलब्धेरेव सशय.—स्मृतिनिरपेक्षत्वप्रसङ्गात् । विशेषस्मृतिरेव संशय इति चेन्न—साध्यसाधनव्याप्तिस्मृतेरपि संशयत्वप्रसङ्गात् । सर्वसाधनानां [3]संशयित-साध्यव्याप्तिकत्वापत्तेस्तत्स्मृतेरचलितत्वान्न संशयत्वमिति चेत्तर्हि चलिता[4] [5]प्रतीतिः संशयः। सा[1]चोभयविशेषस्मृत्युत्तरकालभाविनी—[6]तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् । न [2]पुनर्विशेषस्मृति-

है ऐसा भी नही कहना, अन्यथा—वह स्मृति से निरपेक्ष हो जावेगा ।

विशेषार्थ—यहां पर भाट्ट ने संशय का लक्षण किया है कि "सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने से, और विशेष धर्म के प्रत्यक्ष न होने से एवं विशेष की स्मृति होने से सशय होता है ।" एवं जैनाचार्यों के संशय का लक्षण इस प्रकार है "विरुद्धानेककोटिस्पर्शि ज्ञान सशय" यथा स्थाणुर्वा पुरुषोवेति । स्थाणुपुरुष-साधारणोर्ध्वतादिधर्मदर्शनात्तद्विशेषस्य वक्रकोटरशिरःपाण्यादे साधकप्रमाणाभावादनेककोटचवलंबित्व ज्ञानस्य । अर्थात् विरुद्ध "अनेक पक्षों के अवलबन करने वाले ज्ञान को सशय कहते है" । जैसे—यह स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष ? यहा स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव पुरुषत्व और पुरुषत्वाभाव इन चार अथवा स्थाणुत्व और पुरुषत्व इन दो पक्षो का अवगाहन होना है । प्राय सन्ध्या आदि के समय मंद प्रकाश होने के कारण दूर से मात्र स्थाणु और पुरुष दोनो में सामान्य रूप से रहने वाले ऊंचाई आदि साधारण धर्मों के देखने से और स्थाणुगत टेढ़ापन, कोटरत्व आदि तथा पुरुषगत शिर पैर आदि विशेष धर्मों के साधक प्रमाणो का अभाव होने से नाना कोटियों का अवलबन करने वाला यह सशय ज्ञान होता है । मतलब चलायमान ज्ञान को सशय कहते हैं, यह ऐसा है या ऐसा ? इत्यादि । यहा पर भाट्ट द्वारा मान्य लक्षण भी प्राय मिलता जुलता है । इस पर बौद्ध की अनेक कल्पनायें है "विशेष की अदृश्यानुपलब्धि रूप अभाव से सशय होता है" या विशेष की स्मृति से सशय होता है इत्यादि मान्यतायें ठीक नही है ।

शंका—विशेष की स्मृति होना ही सशय है ।

भाट्ट—ऐसा भी नही कहना । अन्यथा साध्य साधन की व्याप्ति का स्मरण भी सशय हो जावेगा । पुन. सभी हेतुओं को सशयित साध्य से व्याप्त मानना होगा । यदि आप कहे कि उन हेतुओं की स्मृति अचलित है अतः उनमे सशय नही होता है तब तो चलित प्रतीति ही सशय है यह बात सिद्ध हो गई । और वह चलित प्रतीति उभय (यजन और पचन रूप उभय) विशेष स्मृति के उत्तर काल मे होती है क्योंकि उसका अन्वय व्यतिरेक माना गया है । किन्तु सामान्य की उपलब्धि के समान विशेष की स्मृति

१ (भट्ट) विशेषाणामनुपलम्भादभावासिद्धप्रकारेण । २ एव विशेषे सामान्याविनाभाविनि सति अदृश्यानुपलब्धेः सकाशात्संशयो न भवति किन्तु दृश्यानुपलब्धेरेव संशय । अदृश्यानुपलब्धौ स्मृतेर्निरपेक्षत्व भवति किन्तु दृश्यानुपलब्धौ सापेक्षा स्मृति । ३ सशयिता सशयप्राप्ता साध्ये व्याप्तिर्येषा तानि सशयितसाध्यव्याप्तिकानि तेषा भाव इत्यादि । ४ अनिश्चिता ५ प्रतिपत्तिरिति पाठान्तरम् । ६ सशयस्य ।

(1) यजनपचनयो । (2) तर्हि चलिता प्रतिपत्ति सशयो न पुनर्विशेषे स्मृतिरेवेति सबधो दृष्टव्य ।

रेव[१] सामान्योपलब्धिवत् । तदुभयांशावलम्बिनी स्मृतिः संशीतिरित्यपि [२]फल्गुप्रायम्— [३]तदविचलनेपि सशीति प्रसङ्गात् । [४]सामान्याप्रत्यक्षतायामपि कन्याकुब्जादिषु प्रथमतरमेव [1]स्मरणात् संशयदर्शनान्न सामान्योपलम्भः संशयहेतुरिति चेन्न—असिद्धत्वात् । तत्रापि हि [५]प्रासादादिसन्निवेशविशेषविषयः[2] संशयः कन्याकुब्जनगरसामान्योपलम्भन [६]पुरस्सर एव— [७]सर्वथानुपलम्भे संशयविरोधात् सर्वथोपलम्भवत्[3]। योपि [८]तद्भावाभावविषयः[4] संशयः सोपि नगरादिसामान्योपलम्भपूर्वक एव । नगरादिकं सामान्यतस्तावत्प्रसिद्धम् । कन्याकुब्जादि नामकं तु [5]तदस्ति किं वा नास्तीत्युभयाशावलम्बिनः प्रत्ययस्योत्पत्तेर्न च नगरत्वं[6] नाम न किञ्चिदिति वक्तुं शक्यम्—

ही सशय नही है ।

उन उभय अशो का अवलबन लेनें वाली स्मृति सशय है यह आप बौद्ध का कथन भी फल्गु प्राय. है क्योंकि ऐसा मानने पर तो साध्य-साधन रूप उभय अशावलवी निश्चल भूत में भी—अविचलन मे भी सशय का प्रसंग आ जावेगा ।

बौद्ध— सामान्य की प्रत्यक्षता के न होने पर भी कान्यकुब्जादिको में प्रथमतर ही स्मरण होने से सशय देखा जाता है अत. सामान्य का प्रत्यक्ष होना सशय मे हेतु है यह कथन ठीक नही है ।

भाट्ट—नही । क्योंकि आपका यह कथन असिद्ध है । वहा पर भी प्रासादादि रचना विशेष को विषय करने वाला सशय है और वह कन्याकुब्ज नगर सामान्य की उपलब्धि पूर्वक ही है । क्योंकि सामान्य रूप से भी विशेष की अनुपलब्धि होने पर अर्थात् सर्वथा अनुलब्धि होने पर सशय का विरोध है सर्वथा उपलब्धि के समान ।

जो भी सामान्य के भाव और विशेष के अभाव रूप—भावाभाव का विषयभूत सशय है वह नगरादि सामान्य की उपलब्धि पूर्वक ही है । सामान्य से नगरादि तो प्रसिद्ध ही है किन्तु कान्यकुब्जादि नाम वाले है या नही ? इस प्रकार से उभयाशावलवी ज्ञान उत्पन्न होता है । किन्तु नगर का नाम कुछ नही है ऐसा कहना तो शक्य नही है । प्रत्यासत्ति विशेष होने से प्रासादादि के समूह को ही नगर कह दिया जाता है । वहाँ "नगर नगर" इत्यादि रूप से अनुस्यूत ज्ञान का हेतु होने से नगर सामान्य सिद्ध है । उस नगर सामान्य की उपलब्धि पूर्वक उन महलादि विशेष में सशय उत्पन्न होता है यह बात विरुद्ध

१ संशय इति शेष । २ बौद्धोक्तम् । ३ साध्यसाधनेस्युभयाशाविचलनेपि (निश्चलभूतेपि) । ४ बौद्ध । ५ रचना-विशेष । ६ पूर्वक एव । ७ सामान्यरूपेणापि विशेषस्यानुपलम्भे । ८ सामान्यस्य भावः विशेषस्याभावस्तयोर्विषयः । संशय ।

(1) विशेष । (2) स्वस्तिक सर्वतोभद्रादि । (3) सामान्यविशेषप्रकारेण । (4) कन्याकुब्जादिनगरम् । कन्याकुब्जादि नगरम् भवति न वा । (5) भवति । (6) नगरं इति पा. ।

प्रत्यासत्तिविशेषस्य[1] प्रासादादिसमूहस्य नगरत्वोपवर्णनात् । [१]तत्रानुस्यूतप्रत्ययहेतोर्नगरत्व-सामान्यस्य सिद्धेस्तदुपलम्भपूर्वकस्तद्विशेषे[२] संशयो न विरुध्यत एव । ततः करोत्यर्थसामान्यो-पलम्भात्तद्विशेष[३]यज्याद्यर्थस्यानुपलब्धेरनेक[2]विशेषस्मरणाच्च[४] युक्तस्तत्र [५]सन्देहः । न हि तदेव यज्यादिकमनियमेन[६] [७]करोतीत्युपलब्धुं शक्यम् । [८]करोत्यर्थसामान्यासम्भवे[3] सत्त्व-सामान्यासम्भवे घटादिकमिवास्तीत्यनियमेन[4] [९]पराऽपरसामान्येषु[5] पुनः सामान्यमित्यनिय-मेनोपलम्भो गौण एव—सामान्येषु सामान्यान्तरासम्भवात् । तत्सम्भवे वानवस्थाप्रसङ्गात् । न चैवं[१०] [११]सर्वत्र सामान्यमन्तरेणैवानियतप्रत्ययो[१२] गौण इति वक्तुं [१३]शक्यम्—[१४]मुख्या-भावे गौणस्यानुपपत्तेः । [१५]विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानः [१६]सामान्याकारो मुख्यः [१७]स्वलक्षणेषु

नही है ।

इसलिए करोति क्रिया के अर्थ सामान्य की उपलब्धि होने से यजति पचति रूप विशेष यज्यादि अर्थ की अनुपलब्धि होने से एव यजते, पचति इत्यादि अनेक विशेषो का स्मरण होने से वहाँ सदेह होना युक्त ही है । क्योकि वे ही यज्यादिक क्रियाये बिना नियम से करोति इस क्रिया के अर्थ को प्राप्त करने मे समर्थ नही है ।

बौद्ध— करोति क्रिया का अर्थ सामान्य न होने पर सत्त्व सामान्य के असभव मे वह घटादि के समान है । इस प्रकार के अनियम से पर सामान्य—महासत्ता और अपर सामान्य - यजति पचति इत्यादि उस विशेष भाव रूप विशेष सत्ता है । पुन यह सामान्य है इस प्रकार की उपलब्धि गौण ही है क्योकि सामान्य मे भिन्न सामान्य असभव है । अथवा यदि सामान्य मे भी सामान्यातर मानो तो अनवस्था का प्रसग आ जावेगा ।

भाट्ट—इस प्रकार से परापर सामान्यो में सामान्य की उपलब्धि को गौणता से सभी वस्तुओं में सामान्य के बिना ही अनियत—सामान्य प्रत्यय गौण है ऐसा आप सोगत का कहना शक्य नही है । क्योकि मुख्य सामान्य के अभाव मे गौण हो ही नही सकता है ।

१ नगर नगरमिति । २ प्रासादादौ । ३ यजति पचतीत्यादि । ४ नगरेऽनुगतज्ञानकारणात् । ५ तस्मादित्युपसहार-ग्रन्थं निराकुर्वन्नाह भाट्टः । ६ अभेदेन सामर्थ्येन । ७ करोत्यर्थेन । ८ सौगत. । ९ ननु परापरेषु सामान्येषु पर सामान्य महासत्ता अपर करोति पचति यजतीत्यादि तद्विशेषस्वभाव एव तदभावेपि (सामान्यभावे) इद सामान्यमिद सामान्यमिति सामान्यमन्तरेणापि सामान्यमुपलब्धुं शक्यत एवेत्युक्ते आह । १० परापरसामान्येषु सामान्योपलम्भस्य गौणत्वप्रकारेण । ११ वस्तुषु । १२ सामान्यप्रत्यय । १३ हे सौगत ! १४ मुख्यसामान्यस्य । १५ सौगतः । १६ अन्यापोहो वहिरर्थ (सत्याकार इति पाठान्तरम् ।) १७ असाक्षणिकेषु ।

(1) बसः । संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वलक्षण । (2) यजते पचतीत्यादि । (3) पूर्वपक्षानुमाने हेतुर्विरुद्ध प्रतिभाव । हेतुगर्भितं विशेषण । (4) सामान्येन । (5) बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति ।

पुनरारोप्यमाणो गौण इति [1]चेन्न—विशेषाकारस्यापि[2] [3]तत्र गौणत्वप्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुम्—प्रत्यक्षबुद्धौ[4] प्रतिभासमानो विशेषाकारो [5]मुख्यो, बहि. स्वलक्षणेषु स एवाध्यारोप्यमाणो गौण इति । नन्वेवमपि[6] ज्ञानविशेषाः [7]परमार्थत. सन्तः सिद्धाः ? बहिरर्थविशेषास्तु न वास्तवा इति [8]विज्ञानवादिमतमायात [9]तर्हि[1]—विज्ञानसामान्य वस्तुभूतं न बहिरर्थसामान्यमिति [10]सामान्यविशेषात्मक विज्ञान परमार्थसदायातं [11]न [2]क्षणिकविज्ञानस्वलक्षणवादि-

सौगत—विकल्प बुद्धि मे प्रतिभास मान सामान्याकार—(अन्यापोह बाह्यार्थ) मुख्य है पुनः अणु-क्षणिक रूप स्वलक्षणो मे आरोपित किया गया सामान्य गौण है।

भाट्ट—ऐसा नही कहना । अन्यथा—उन अणु क्षणिको में विशेषाकार—स्वलक्षण गौण हो जावेगा। हम ऐसा भी कह सकते है कि प्रत्यक्ष बुद्धि—निर्विकल्प ज्ञान मे प्रतिभास मान विशेषाकार मुख्य है, क्योंकि वह निर्विकल्प ज्ञान का ही विशेषाकार है बाह्य पदार्थ का नही है, बाह्य स्वलक्षणो में "यह वही है" ऐसा अध्यारोपित किया गया आकार गौण है ।

सौत्रान्तिक बौद्ध—इस प्रकार से भी सामान्य और विशेष का बाह्य मे सत्त्व न होने से ज्ञान विशेष परमार्थ सत् सिद्ध है किन्तु बाह्य अर्थ विशेष वास्तविक नही है ।

इस प्रकार से विज्ञानवादियों का मत आ जाता है जो हमें इष्ट नहीं है ।

भाट्ट—तव तो विज्ञान सामान्य ही वास्तविक है किन्तु बाह्य अर्थ सामान्य वस्तु भूत नही है इस प्रकार से सामान्य विशेष ज्ञान ही पारमार्थिक सत् है किन्तु क्षणिकविज्ञान स्वलक्षणवादी सौत्रान्तिक का मत सिद्ध नही होता है अर्थात् ज्ञान में पूर्व मे सामान्य को स्वत स्वीकार किया है। विकल्प बुद्धि मे प्रतिभास मान सामान्याकार मुख्य है इसलिए परमार्थसत् है यह बात सिद्ध हो जाती है—क्योकि विकल्प ज्ञान में सामान्य का आकार स्वीकृत किया है निर्विकल्प मे नही माना है अत. कोई दोष नही है ऐसा भी नही मानना, विकल्प ज्ञान के स्वरूप मे निर्विकल्प रूप से बाह्य सामान्याकार भी मुख्यत्व रूप मे स्वीकृत किया गया होने से परमार्थ मे सामान्य विशेषात्मक ज्ञान सिद्ध हो गया इसलिए अन्तर्बाह्य वस्तु के सिद्ध न होने से सौत्रान्तिक का मत सिद्ध नहीं होता है ।

सौगत—विकल्प ज्ञान में भी होने वाले सामान्याकार—घट पटादि आकार वास्तविक नही है

१ भाट्टः । २ स्वलक्षणलक्षणेष्य । ३ अणुक्षणिकेषु । ४ निर्विकल्पकज्ञाने । ५ निर्विकल्पज्ञानस्यैव विशेषाकारो न तु बहिरर्थस्य । ६ (सौत्रान्तिक.) सामान्यविशेषयोर्बहिरसत्त्वप्रकारेण । ७ परमार्थसन्त इति पाठान्तरम् । ८ योगाचारमतम् । ९ भाट्ट: । १० ज्ञाने पूर्व सामान्यस्य स्वयमभ्युपगतत्वात् विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमान. सामान्याकारो मुख्य इति परमार्थसदायातम् —विकल्पज्ञाने सामान्याकारस्याभ्युपगमात् निर्विकल्पके तदनभ्युपगमाददोष इति न मन्तव्यम्—विकल्पज्ञानस्य स्वरूपे निर्विकल्पकत्वेन बहि सामान्याकारस्यापि मुख्यत्वाभ्युपगमेन परमार्थतः सामान्यविशेषात्मनो ज्ञानस्य समायातत्वात् । ११ सौत्रान्तिकस्य ।

(1) सौत्रान्तिकमतमाशक्य भट्टेनोच्यते । (2) स्वलक्षण ।

मतम्[१] । [२]विकल्पविज्ञानेपि न वास्तवः [३]सामान्याकारः—तस्याऽनाद्यविद्योपपादितत्वात् । संवेदनस्वरूपस्यैवासाधारणस्य[1] परमार्थसत्त्वादिति [४]चेन्न—विपर्ययस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात् । संवेदनेपि नासाधारणाकारः पारमार्थिकः—तस्यानाद्यविद्योदयनिबन्धनत्वात् [५]संवेदनसामान्यस्यैव वास्तवत्वादिति [६]वदतोऽन्यस्यापि निवारयितुमशक्यत्वात्[७] । [८]न वस्तुभूतं संवित्सामान्यम्[2]—[९]वृत्तिविकल्पान[3]वस्थादिदोषानुषङ्गात् बहिरर्थसामान्यवत्[4] इति चेत्तर्हि[१०] न संविद्विशेषः परमार्थः सन्—[5]विचार्यमाणा[११]योगाद्बहिरर्थविशेष[6]वदित्यप्यन्यो ब्रूयात्[१२]। तथा च [१३]सत्याऽऽश्रयासिद्धो हेतुरित्युभयत्र[१४] समानं दूषणम् । साध्य[१५]साधनविकलं

क्योंकि वे सामान्याकार अनादि अविद्या से उपकल्पित है। किंतु असाधारण संवेदन स्वरूप ही परमार्थ सत् है।

भाट्ट—ऐसा नहीं कहना। क्योंकि इसमें विपरीत कल्पित करना भी शक्य है। संवेदन में भी असाधारणाकार पारमार्थिक नहीं है वे अनादि अविद्या के निमित्त से ही हैं, अतः संवेदन सामान्य निर्विकल्प ज्ञान ही वास्तविक है ऐसा कहने वाले हम भाट्ट का भी आप सौगत निवारण नहीं कर सकते हैं।

सौगत—संवित् (ज्ञान) सामान्य वस्तुभूत नहीं है। क्योंकि वृत्ति, विकल्प अनवस्था आदि अनेक दोषों का प्रसंग आ जाता है। जैसे कि बाह्यार्थ सामान्य को स्वीकार करने पर अनेक दोष आ जाते है।

भाट्ट—तब तो संवित् विशेष भी परमार्थ सत् सिद्ध नहीं होगा क्योंकि विचार करने पर बाह्य पदार्थ के समान उसका भी अभाव ही सिद्ध होगा। इस प्रकार से संवित्सामान्यवादी भी कह सकते है और ऐसा कहने पर तो आपका हेतु आश्रयासिद्ध हो जाता है। इस प्रकार से संवितसामान्य और संवित्-विशेष दोनों में दूषण समान ही है। और हमारा जो "बहिरर्थवत्" दृष्टांत है वह साधन शून्य है ऐसा भी आप नहीं कह सकते है क्योंकि वह भी समान ही है।

सौगत—संवित् स्वलक्षण—विशेष अद्वैत को स्वीकार करने से माध्यमिक के प्रति सिद्ध साधन

---

१ सौत्रान्तिकवादिमतम् । २ सौगत. प्राह । ३ घटपटाद्याकारः । ४ भाट्ट. । ५ निर्विकल्पकज्ञान । ६ भाट्टस्य । ७ सौगतेनेति शेष. । ८ सौगतः । ९ एकस्यानेकवृत्तिर्नेत्यादिकारिकाव्याख्याने चतुर्थपरिच्छेदे निरूपितत्वात् । १० भाट्ट. । ११ यद्यसत्सर्वथा कार्यमित्यादिकारिकाव्याख्याने तृतीयपरिच्छेदे विचार्यमाणस्यायोगात् । १२ संवित्सामान्यवादी भाट्टः । १३ संवित्सामान्य प्रमाणसिद्धमसिद्ध वा ? प्रमाणसिद्ध चेन्न—वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषानुषङ्गात् । अप्रमाणसिद्धं चेत्तर्हि आश्रयासिद्धो हेतु । एवं संविद्विशेषः प्रमाणसिद्धोऽप्रमाणसिद्धोवेत्यत्रापि योज्यम् । १४ संवित्सामान्यसंविद्विशेषयो. । १५ सौगत आह—हे भट्ट बहिरर्थविशेषवदिति त्वयोक्तो दृष्टान्त साध्यसाधनविकल इति । भट्टो वदति—इत्यपि सौगतेन न चोद्यम्—तवापि बहिरर्थसामान्यवदिति दृष्टान्ते तुल्यदूषणत्वात् ।

---

(1) विशेषस्य । (2) ईद् । (3) सामान्यस्य व्यक्तिरहितप्रदेशे सत्त्व । (4) घटादि । (5) ता । (6) भवन्मते यथा बहिरर्थः परमार्थसन्न भवति ।

निदर्शनमित्यपि न चोद्यम्–समानत्वात्। 'संवित्स्वलक्षणा[2]द्वैतोपगमात्[3] सिद्धसाधनमिति[4] चेत् 'संवित्सामान्याद्वैतोपगमात्परस्यापि[5] सिद्धसाधन कुतो न भवेत् ? [6]संवित्सामान्याद्वैतं प्रतीतिविरुद्धम्—विशेषसंविदभावे जातुचिदसवेदनादिति चेत् [7]संवित्स्वलक्षणाद्वैतमपि तर्हि प्रतीतिविरुद्धमेव— संवित्सामान्यसंवेदनाभावे तद्विशेषसवेदनस्य [8]सकृदप्यभावात् । सर्वाक्षेपसमाधीनां समानत्वात् । [10]ततो [11]निर्बाधप्रतीतिबलाद्भेदव्यवस्थायां सामान्यव्यस्थाऽस्तु[12] सुघटै[13]व । [14]अन्त:संवेदनेषु तद्वद्बहिरर्थेषु च सामान्यविशेषव्यवस्थोररीकर्त्तु[15] युक्ता—निर्बाधप्रतीतिसिद्धत्वाविशेषात् । एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं धर्मकीर्त्तिना—

[16]अतद्रूपपरावृत्त[17]वस्तुमात्रप्रवेदनात् । सामान्यविषयं प्रोक्तं [18]लिङ्गं [19]भेदाप्रतिष्ठितेः ।। इति ।

ही है।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो संवित् सामान्य को स्वीकार करने वाले संवित् सामान्यवादी भाट्ट को भी सिद्ध साधन क्यों नहीं हो जावेगा ।

सौगत—संवित् सामान्याद्वैत तो प्रतीति से विरुद्ध है क्योंकि विशेष सवेदन के अभाव में कदाचित् भी सवेदन नहीं होता है ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तब तो संवित् स्वलक्षणाद्वैत भी तो प्रतीति से विरुद्ध ही है क्योंकि संवित सामान्य के सवेदन का अभाव होने पर तो संवित् विशेष का सवेदन सर्वथा—एक बार भी सभव नहीं है अर्थात् ज्ञान सामान्य का अनुभव न होने पर ज्ञान विशेष का भी अनुभव नहीं हो सकता है। अत: आप दोनो सवेदन वादी के यहाँ आक्षेप और समाधान तो समान ही है। इसलिए सामान्य के अभाव मे विशेष का भी अभाव हो जाता है अत निर्बाध प्रतीति के बल से भेद व्यवस्था-विशेषावस्था के सिद्ध हो जाने पर सामान्य व्यवस्था भी सुघटित ही है अर्थात् जसे भेद व्यवस्था मे विशेष प्रतिभासित होता है वैसे ही अत सवेदन मे सामान्य आभासित होता है ।

अत: अत:—सवेदन में और उसी के समान वाह्य पदार्थों मे सामान्य विशेष व्यवस्था स्वीकार करना आप सौगत को युक्त ही है क्योंकि निर्बाध प्रतीति से सिद्ध होना दोनों जगह समान है ।

इसी कथन से उसका भी निरसन हो जाता है जो कि धर्म कीर्ति आचार्य ने कहा है कि—

श्लोकार्थ—"अतद्रूप से परावृत—अन्य रूप से व्यावृत्त वस्तुमात्र का प्रवेदन होने से सामान्य विषयक ही अनुमान कहा गया है क्योंकि अनुमान से भेद का ग्रहण नहीं होता" ।।

१ सौगतः । २ विशेष । ३ मध्यक्षणैकाभ्युपगमात् (मध्यमक्षणिकाभ्युपगमात्) । ४ माध्यमिक प्रति । ५ भाट्ट. । ६ विधिवादिनो भट्टस्य । ७ सौगतः । ८ भाट्टः । ९ सर्वथा । १० भाट्ट. (सामान्याभावे विशेषस्याप्यभावो यतः) । ११ विशेषावस्थायाम् । १२ सामान्यव्यवस्था तु इति पाठान्तरम् । १३ प्रतिभासते विशेषो भेदव्यवस्थायां यथा तथान्त.सवेदनेषु सामान्यमाभासते । १४ अत इति पाठान्तरम् । १५ सौगतैः । १६ अन्यरूपेण । १७ अन्यापोह । १८ लिङ्गजनितत्वाल्लिङ्गमनुमानम् । १९ भेदस्याग्निस्वलक्षणस्यानुमानेनाग्रहणात् ।

[1]तद्रूपानुवृत्तस्य[2] वस्तुमात्रस्य निर्बाधबोधाधिरूढस्य[3] [1]सिद्धे र्भेदमात्रस्याप्रतिष्ठितत्वात्[4]—सर्वदा बहिरन्तश्च[5] भेदाभेदात्मनो[6] वस्तुन. प्रतिभासनात् ।

[भेदाभेदौ विवक्षावशवर्तिनौ इति बौद्धस्य मान्यताया निराकरण]

[7]न चैतौ भेदाभेदौ विवक्षामात्रवशवर्त्तिनौ—[8]सर्वत्र तत्सङ्करप्रसङ्गात्[2] [3]येनात्मना[9] भेदव्यवस्था तेनैवाभेदव्यवस्थिति. स्यात्—तद्विवक्षाया[1] निरंकुशत्वात् । [10]पूर्ववासना[5]प्रतिनियमाद्विवक्षाया. प्रतिनियमसिद्धेर्न तद्वशाद्भेदाभेदव्यवस्थितौ सङ्करप्रसङ्ग इति चेत्[11]कुतस्त[12]द्वासनाप्रतिनियम ? [13]प्रबोधकप्रत्ययप्रतिनियमादिति चेन्न—[14]तदनियमे तदनियमप्रसङ्गात् । पूर्वस्ववासनाप्रतिनियमात्प्रकृतवासनाप्रतिनियम इति चेन्न—[15]तस्या सविदव्यभिचारे [6]वस्तु-

अतएव तद्रूप से अनुवृत्त—युक्त वस्तु मात्र निर्बाध ज्ञान से अधिरूढ है—सामान्य-विशेष विषयक ही सिद्ध है किंतु सामान्य निरपेक्ष विशेष रूप भेद मात्र वस्तु व्यवस्थित नही है। क्योंकि सर्वदा बाह्य घटादि और अतर्ज्ञान रूप बाह्याभ्यंतर वस्तु भेदा-भेदात्मक-सामान्य विशेषात्मक ही प्रतिभासित होती है ।

[भेद और अभेद को विवक्षा के आश्रित मानने रूप बौद्ध की मान्यता का निराकरण]

ये दोनो भेदाभेद विवक्षा के वशवर्ती भी नही है । अन्यथा-सर्वत्र सकर दोष का प्रसग आ जावेगा । अर्थात् जिस स्वरूप से भेद व्यवस्था है उसी स्वरूप से अभेद व्यवस्था भी हो जावेगी क्योंकि वह विवक्षा तो निरङ्कुश है अत भेदाभेद विवक्षा के वशवर्ती नही है ।

सौगत—पूर्व की वासना के प्रतिनियम से विवक्षा का प्रतिनियम सिद्ध है अत उसके निमित्त से भेदाभेद की व्यवस्था में सकर दोष का प्रसग नही आता है ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो उस वासना का प्रतिनियम किस प्रकार से है ?

सौगत—प्रबोधक-निर्विकल्प ज्ञान के प्रतिनियम से उस वासना का प्रतिनियम सिद्ध है ।

भाट्ट—ऐसा नही कहना । अन्यथा उस प्रबोधक प्रत्यय में पूर्व वासना का प्रतिनियम न करने पर प्रबोधक प्रत्यय का भी प्रतिनियम नही बन सकेगा ।

सौगत—पूर्व स्ववासना के प्रतिनियम से प्रकृत वासना का प्रतिनियम बन जाता है ।

१ नन्वभेद एव नास्ति ततो भेदाभेदात्मक कुत इत्याशङ्कायां स्याद्वादमाश्रित्य भट्टो वदति । २ युक्तस्य । ३ सामान्यविशेषरूपस्य विषयस्य । ४ सामान्यनिरपेक्षस्य विशेषस्य । ५ बहिर्घटादिरन्तर्वस्तुज्ञानम् । ६ सामान्यविशेषात्मकस्य । ७ सौगत आह अभेदवद्भेदोपि विवक्षावशवर्त्त्येव--सर्वविकल्पातीतत्वादग्येति । ८ भा (तृतीया) । ९ कथमस्तथाहि । १० सौगत । ११ भाट्ट । १२ पूर्व । १३ प्रकट निर्विकल्पकज्ञान । १४ प्रबोधकप्रत्यये पूर्ववासनाया अनियमे प्रबोधकप्रत्ययस्यानियमत्वप्रसङ्गात् । १५ निर्विकल्पकज्ञानेन सह तस्या वासनाया व्यभिचारोऽव्यभिचारो वेति विकल्पद्वय करोति भाट्टः ।

(1) बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति । (2) कथ । (3) स्वरूपेण । (4) ईदृशबाह्यार्थभावात् । (5) सस्कार । (6) वासनायाः वस्तुत्व नागीकरोषि ।

[1]स्वभावतापत्तेः । कदाचित्तद्व्यभिचारे[2] भेदाभेदव्यवस्थितेरपि[3] व्यभिचारप्रसक्तेः कुतो न तत्सङ्करप्रसक्तिः ? सुदूरमपि गत्वा [(1)]वस्तुस्वभावावलम्बनादेव तत्परिहारमिच्छता वस्तुस्वभावावेव [4]भेदाभेदौ [5]परेणाभ्युपगन्तव्यौ । [6]ततो यदभिन्नं [7]साधारणं वस्तुस्वरूपं तदेव सामान्यं सिद्धम् । न पुनरन्यापोहमात्रं[8] [9]विकल्पबुद्धिपरिनिष्ठितम्—यतः करोति—सामान्यं यज्यादिविशेषव्यापि वास्तवं न भवेत् । तदुपलम्भेपि च विशेषे सन्देहोनुपलभ्यमानेपि स्मृतिविषये न [10]स्यात् ।

[बुद्धिभेदमन्तरेण पदार्थस्य भेदव्यवस्था न भवतीति बौद्धमान्यताया निराकरणं]

[11]ननु च स्थाणुपुरुष[12]विविक्तमपरमूर्ध्वतासामान्यं यज्यादिविशेष[13]व्यतिरिक्तं च

भाट्ट—नहीं ! हम ऐसा प्रश्न करेंगे कि निर्विकल्प ज्ञान के साथ वह वासना व्यभिचरित है या नहीं ? यदि उस वासना को निर्विकल्प ज्ञान से व्यभिचारित नहीं कहोगे तब तो वह वस्तु का स्वभाव हो जावेगी । अर्थात् जो जिससे अभिन्न है वह उस स्वरूप है इस तरह वासना को वस्तु स्वभाव मान लेने पर बौद्धमत का व्याघात हो जावेगा । यदि कदाचित् ज्ञान के साथ उस वासना को व्यभिचार-भिन्न मानोगे, तब तो भेदाभेद की व्यवस्था से भी व्यभिचार का प्रसंग आ जावेगा पुनः उनमें संकर दोष कैसे नहीं आवेगा ?

बहुत दूर जाकर भी वस्तु स्वभाव का अवलंबन लेकर ही उन दोषों का परिहार करने की इच्छा रखते हुए आप सौगत को भेदाभेद विशेष सामान्य इन दोनों को वस्तु का स्वभाव ही स्वीकार करना चाहिए । इसलिए जो अभिन्न रूप है, सभी वस्तुओं में साधारण वस्तु का स्वरूप है वही सामान्य है यह बात सिद्ध हो गयी । किन्तु अन्यापोह मात्र अवस्तु विकल्प बुद्धि में परिनिष्ठित नहीं है कि जिससे "करोति" यह सामान्य पद यज्यादि विशेष में व्यापी और वास्तविक न हो सके, अर्थात् वास्तविक ही सिद्ध होता है और जिससे कि उस विशेष के उपलब्ध होने पर भी एवं स्मृति के विषय की उपलब्धि न होने पर भी संदेह न हो सके, अर्थात् संदेह होगा ही होगा ।

[बुद्धि भेद के बिना पदार्थ में भेद की व्यवस्था नहीं हो सकती है इस बौद्ध की मान्यता का निराकरण किया जाता है]

सौगत—स्थाणु और पुरुष के विशेष से रहित अपर ऊर्ध्वता-सामान्य और यज्यादि विशेष से भिन्न करोति सामान्य वास्तविक नहीं है क्योंकि बुद्धि से अभेद होता है अर्थात् सामान्य को ग्रहण करने वाली

१ यद्यस्मादभिन्नं तत्तदात्मकम् । वस्तुस्वरूपा वासना यदि तर्हि बौद्धमतव्याघातः वस्तुस्वभावतापत्तेर्वासनायाः । २ भिन्नत्वे । ३ पञ्चम्येकवचनम् । ४ विशेषसामान्ये । ५ सौगतेन । ६ बाह्यवस्तुस्वभावावलम्बनादेव—सङ्कर-परिहारो यतः । ७ सकलपदार्थेषु साधारणम् । ८ अवस्तुरूपम् । ९ सामान्यं नेति विकल्पबुद्धिपरिगृहीतम् । १० वक्रोक्त्या वाच्यम् । ११ सौगतः । १२ विशेषौ । १३ भिन्नम् ।

(1) बाह्य ।

[१]करोतिसामान्य न वास्तवमस्ति—[1]बुद्ध्यभेदात् । न हि बुद्धिभेदमन्तरेण पदार्थभेद-व्यवस्थितिः—[२]अतिप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

न [2]भेदाद्भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेदतः[३] । [3]बुद्ध्याकारस्य भेदेन पदार्थस्य विभिन्नता । इति ॥

तदेतदसदेव[४] — [५]सामान्यभेदयोर्बुद्धिभेदस्य सिद्धत्वात् । सामान्यबुद्धिर्हि तावदनुगताकारा[६] विशेषबुद्धिः [७]पुनर्व्यावृत्ताकारानुभूयते ? दूरादूर्ध्वतासामान्यमेव च प्रतिभाति न स्थाणु-पुरुषविशेषौ—तत्र सन्देहात् । तद्विशेषपरिहारेण प्रतिभासनमेव [८]सामान्यस्य [१०]ततो व्यतिरेकावभासनम्—एतावन्मात्रलक्षणत्वात्तद्व्यतिरेकस्य यदप्युक्तम्[११]—

[१२]ताभ्यां [१३]तद्व्यतिरेकश्चेत् किन्न[4] दूरेवभासनम् । दूरेवभासमानस्य[१४] सन्निधानेति[१५]भासनम् ।

"करोति" क्रिया और विशेष को ग्रहण करने वाली "यज्यादि" क्रिया है, इस प्रकार की बुद्धि का अभाव है । और बुद्धि मे भेद के विना पदार्थ के भेद की व्यवस्था नही हो सकती है । अन्यथा—अति प्रसग दोष आ जावेगा । अर्थात् एक घट ज्ञान से सभी का ज्ञान हो जावेगा अथवा एक घट ज्ञान से सभी घटों की प्रतीति का प्रसग आ जावेगा । कहा भी है—

श्लोकार्थ—भेद से भिन्न अन्य कोई सामान्य नही है क्योंकि बुद्धि मे अभेद है । एव बुद्ध्याकार के भेद से ही पदार्थ का भेद देखा जाता है । अर्थात् यह बुद्धि सामान्य को ग्रहण करने वाली है एव यह विशेष को ग्रहण करने वाली है इस प्रकार से बुद्धि मे भेद का अभाव है ।

भाट्ट—आपका यह सब कथन असत् रूप ही है । क्योंकि सामान्य और विशेष मे बुद्धि का भेद सिद्ध ही है । "इद सत् इद सत्" इस प्रकार के अनुगताकार को सामान्य ज्ञान कहते है । एव "इद न इद न" इस प्रकार से व्यावृत्ताकार को विशेष ज्ञान कहते है ये दोनो ज्ञान अनुभव सिद्ध है, दूर से ऊर्ध्वता सामान्य ही प्रतिभासित किन्तु स्थाणु और पुरुष विशेष प्रतिभासित नही होते है क्योंकि वहाँ सदेह देखा जाता है । और विशेष का परिहार करके सामान्य का प्रतिभासन ही उस सामान्य से व्यतिरेक का अवभासन है और इतना मात्र ही उस व्यतिरेक का लक्षण है जो कि आपके यहां धर्मकीर्ति ने कहा है—

श्लोकार्थ—स्थाणु और पुरुष मे जो भेद है वही व्यतिरेक है यदि ऐसा कहो तो निकट में अवभासन

१ करोति सामान्यग्राहिका यज्यादिर्विशेषग्राहिकेति प्रकारेण बुद्ध्यभावात् । २ एकेन घटज्ञानेनान्येषा ज्ञान स्यात् । अथवा एकेन घटज्ञानेन सर्वेषा घटाना प्रतीतिप्रसङ्गात् । ३ इय सामान्यग्राहिकेय विशेषग्राहिकेत्यनेन प्रकारेण बुद्धेर्भेदाभावात् । ४ भाट्ट । ५ सामान्यविशेषयो (ईप्) (सप्तमी) । ६ इद सदिद सदिति । ७ नेद नेदमिति । ८ दूरादूर्ध्वतासामान्यस्यैव प्रतिभासन भवतु । एतावता तस्यास्ततो (विशेषात) व्यतिरेकावभासन कृत इत्याह । ९ व्यतिरेकस्य । १० सामान्यात् । ११धर्मकीर्तिना । १२ स्थाणुपुरुषाभ्याम् । १३ भेद । १४ सामान्यस्य । १५ विशेष-तया प्रतिभासनम् ।

(1) विशेषग्राहिका सामान्यग्राहिकेति अनेन प्रकारेण बुद्धेर्भेदाभावात् । (2) विशेषात् । (3) स्वरूपस्य ।
(4) किन्नादूरे इति पा ।

इत्येतदप्ययुक्तं[1]—विशेषेपि समानत्वात् । सोपि हि यदि [2]सामान्याद्व्यतिरिक्तस्तदा दूरे वस्तुन स्वरूपे [1]सामान्ये प्रतिभासमाने किन्न प्रतिभासते ? न हीन्द्रधनुषि नीले[3] रूपे प्रतिचकासति[2] पीतादिरूप दूरान्न प्रतिचकास्ति । [4]अथ निकटदेशसामग्रीविशेषप्रतिभासस्य जनिका न दूरदेशवर्त्तिना प्रतिपत्तृणामिति न विशेषप्रतिभासन[3], [5]तर्हि [6]सामान्यप्रतिभासस्य जनिका दूरदेशसामग्री काचिन्निकटदेशवर्त्तिना नास्ति । ततो न निकटे तत्प्रतिभासनमिति समः समाधि । अस्ति[4] च निकटे सामान्यस्य[7] प्रतिभासन स्पष्ट विशेषप्रतिभासनवत् । यादृश तु दूरे तस्यास्पष्ट प्रतिभासन तादृश न निकटे विशेषप्रतिभासनवदेव विशेषो[5] हि यथा दूरादस्पष्ट. प्रतिभाति न तथा [8]सन्निधाने— [9]स्वसामग्र्यभावात्[10] । [11]अत एव च न

क्यों नहीं होता है क्योंकि दूर में अवभासित सामान्य का सन्निधान होने पर विशेष रूप से प्रतिभासन होता है । यह आपका कथन भी विशेष में समान ही है अत अयुक्त है ।

वह भी यदि ऊर्ध्वता लक्षण सामान्य से भिन्न है तब तो दूर मे वस्तु का स्वरूप प्रतिभासित होने पर वह (विशेष) प्रतिभासित क्यों नहीं होता है ? इन्द्र धनुष में सामान्य नील रूप के प्रतिभासित होने पर पीतादि रूप दूर से प्रतिभासित नहीं होते है ऐसा तो है नहीं ।

सौगत – निकट देशरूप सामग्री विशेष प्रतिभास को उत्पन्न करती है किन्तु दूरदेशवर्ती पुरुषों को विशेष प्रतिभास उत्पन्न नहीं करती है इसलिए विशेष का प्रतिभास नहीं होता है ।

भाट्ट—तब तो ऊर्ध्वता लक्षण सामान्य प्रतिभास को उत्पन्न करने वाली कोई दूरदेशवर्ती सामग्री निकट देशवर्ती जनों को नहीं है । इसलिए निकट मे उसका प्रतिभास नहीं होता है । इस प्रकार से समान ही समाधान है । एवं निकट मे ऊर्ध्वताकार सामान्य का प्रतिभासन स्पष्ट देखा जाता है जैसे कि विशेष का प्रतिभासन स्पष्ट है ।

किन्तु दूर में जैसा उसका अस्पष्ट प्रतिभासन है वैसा निकट मे नहीं है, विशेष प्रतिभासन के समान । और जिस प्रकार से विशेष दूर से अस्पष्ट प्रतिभासित होता है उस प्रकार से निकट मे नहीं होता है किन्तु स्पष्ट ही प्रतिभासित होता है क्योंकि अपने अस्पष्ट प्रतिभासन की सामग्री का

१ भाट्ट । २ ऊर्ध्वतालक्षणात । ३ सामान्ये । ४ सौगत । ५ भाट्ट । ६ ऊर्ध्वतालक्षण । ७ ऊर्ध्वताकारस्य । ८ किन्तु स्पष्ट एव । ९ स्वस्यास्पष्टप्रतिभासनस्य । १० सामान्यवद्विशेषेप्यस्पष्टप्रतिभासनमेव को दोष इत्युक्ते आह । ११ सामान्यविशेषयोर्दूरादस्पष्टतया प्रतिभासनादेव ।

(1) ऊर्ध्वताकारे । (2) सति । (3) प्रतिभासः इति पा. । (4) कि च । (5) अत्र विशेषो हि प्रतिनियतदेशत्वादि ग्राह्यो न तु स्थाणुपुरुषादिरन्यथा संशयोत्पत्तिविरोधात्तथा वक्ष्यमाणत्वाच्च ।

सामान्यस्य प्रतिभासने विशेषेष्वप्रतिभासमानेष्व'स्पष्टप्रतिभास[1]व्यवहारः[२]—प्रतिभासमानरूपे[2] एव सामान्ये[३] विशेषे वा अस्पष्टव्यवहारदर्शनात् । न ह्यप्रतिभासितान्य[४]प्रतिभासिता वा 'कस्यचिदस्पष्टप्रतिभासिता[५] । किं तर्हि ?

[स्पष्टास्पष्टव्यवहारौ ज्ञानस्य धर्मौ स्तः न च पदार्थस्य । स्पष्टज्ञानवच्च अस्पष्टज्ञानमपि सत्यमेव]

कुतश्चि[७]द् दृष्टा[3]दृष्टकारणकलापादस्पष्टज्ञानस्योत्पत्तिरर्थेष्व[८]स्पष्टता[4]—विषयिधर्मस्य विषयेषूपचारात् । संवेदनस्यैव ह्यस्पष्टता धर्मः स्पष्टतावत् । [९]तस्या विषयधर्मत्वे [१०]सर्वदा [११]तथाप्रतिभासप्रसङ्गात् [१२]कुतः प्रतिभास[5]परावृत्तिः [१३]स्यात् ? न [१४]चास्पष्टं सवेदनं निर्विषयमेव—[१५]संवादकत्वात् [१६]स्पष्टसंवेदनवत् । [१७]क्वचिद्विसंवाददर्शनात् सर्वत्र विसंवादे—स्पष्ट-

अभाव है।

अतएव सामान्य और विशेष का दूर से अस्पष्ट प्रतिभासन होने से ही सामान्य का प्रतिभास होने पर और विशेषों के प्रतिभासित न होने पर अस्पष्ट प्रतिभास व्यवहार नहीं है, क्योंकि प्रतिभासमान स्वरूप सामान्य अथवा विशेष ज्ञान में ही अस्पष्ट व्यवहार देखा जाता है। सामान्य और विशेष में से किसी एक की अप्रतिभासिता अथवा अन्य की प्रतिभासिता किसी सामान्य अथवा विशेष की अस्पष्ट प्रतिभासिता नहीं है।

शंका—तो क्या है ?

[स्पष्टता और अस्पष्टता ज्ञान के धर्म हैं पदार्थ के नहीं । एवं स्पष्ट ज्ञान के समान अस्पष्ट ज्ञान भी प्रमाण है]

समाधान- किसी दृष्ट कारण—देशकालादि और अदृष्ट कारण—मति ज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष रूप कारण कलाप से अर्थ में-पदार्थ में अस्पष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होना ही अस्पष्टता है क्योंकि विषयी धर्म का विषयों में उपचार किया जाता है। अतः अस्पष्टता संवेदन - ज्ञान का ही धर्म है जैसे कि स्पष्टता संवेदन का धर्म है।

और उस अस्पष्टता को विषय का धर्म मानने पर तो सर्वदा अन्धकार अवस्था में भी तथा—उद्योत अवस्था के समान प्रतिभास का प्रसंग आ जावेगा। एवं स्पष्टता ही सर्वथा वस्तु का धर्म है ऐसा स्वीकार करने पर पुनः प्रतिभास की परावृत्ति कैसे हो सकेगी ?

१ सर्वथा। २ सर्वदा। ३ सामान्यज्ञाने विशेषज्ञाने वा। ४ सामान्यविशेषयोर्मध्ये एकस्य। ५ सामान्यस्य विशेषस्य वा। ६ अस्पष्टस्पष्टप्रतिभासिताभेदेपि ज्ञानाश्रिते स्तो न तु वस्त्वाश्रिते। ७ दृष्टकारण देशकालादि अदृष्ट कारण मतिज्ञानावरणक्षयोपशमविशेष। ८ भवति। ९ अस्पष्टतायाः। १० अन्धकारावस्थायामपि। ११ उद्योतावस्थायामिव। १२ वस्तुनः स्पष्टताधर्मस्य सर्वदा प्रतिभासस्याङ्गीकारे दूषणमाह। १३ बौद्धाभिप्रायमनूद्य वक्ति। १४ (भाट्टः) सविकल्पकम्। १५ सत्यत्वात्। १६ निर्विकल्पकवत्। १७ अस्पष्टज्ञाने।

(1) नैयायिकोक्तः। (2) प्रतिभासमानस्वरूपे। इति पा। (3) दृष्ट—चक्षुरादि। अदृष्ट—पुण्यपापादि। (4) ईषत्प्रतिभासनं सूक्ष्मवस्त्राच्छादितवस्तुवत्। (5) निवृत्तिः।

संवेदनेपि तत्प्रसङ्गात् । [1]ततो [2]नैतत्साधु—

बुद्धिरेवातदाकारा[3] [4]तत उत्पद्यते [5]यदा । तदास्पष्टप्रतीभासव्यवहारो जगन्मतः ॥

इति—[1]चन्द्रद्वयादिप्रतिभासे[6] तद्व्यवहारप्रसक्तेः । [7]न च मीमांसकानां सामान्यं विशेषेभ्यो[8] भिन्नमेव वाऽभिन्नमेव[8] वा—तस्य [2]कथञ्चित्ततो भिन्नाभिन्नात्मनः प्रतीतेः । प्रमाणसिद्धे च सामान्यविशेषात्मनिजात्यन्तरे वस्तुनि तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य सामान्यविशेषात्मकत्वोपपत्तेर्न काचिद्बुद्धिरविशेषाकारा[10] सर्वथास्ति, नाप्यसामान्याकारा सर्वदोभयाकारायास्तस्याः प्रतीतेः । न चार्थाकारा[11] बुद्धिः—तस्या निराकारत्वात् तत्र[12] प्रतिभासमानस्याकारस्यार्थधर्मत्वात् । न[13] च[3] निराकारत्वे संवेदनस्य [4]प्रतिकर्मव्यवस्था ततो विरुध्यते—

एवं अस्पष्ट संवेदन—सविकल्पज्ञान निर्विषयक ही है ऐसा भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि स्पष्ट संवेदन—निर्विकल्प संवेदन के समान वह अस्पष्ट संवेदन भी संवादक है—सत्य है ।

यदि अस्पष्ट प्रतिभास (अविशदज्ञान) में कहीं पर विसंवाद दिख जाने से सर्वत्र विसंवाद स्वीकार करोगे तब तो स्पष्ट संवेदन में भी वही प्रसंग आ जावेगा । अतः अस्पष्ट संवेदन भी विषय को ग्रहण करने वाला है निर्विषयक नहीं है यह बात सिद्ध हो गई । अतएव आपका यह कथन भी सम्यक् नहीं है कि—

श्लोकार्थ—अतदाकार (अस्वलक्षणाकार, अविशेषाकार, बहिः स्वलक्षणाकार) बुद्धि ही जब स्वलक्षण अर्थ से उत्पन्न होती है तभी जगत्मान्य अस्पष्ट प्रतिभास व्यवहार होता है । इस प्रकार से तो तैमिरिक रोग वाले के चंद्रद्वयादि के प्रतिभास में वह व्यवहार हो जावेगा ।

मीमांसकों के यहाँ स्थाणु पुरुषादि विशेषों से सामान्य सर्वथा भिन्न ही हो अथवा अभिन्न ही हो, ऐसा तो है नहीं क्योंकि वह सामान्य उन विशेषों से कथंचित् भिन्नाभिन्नात्मक रूप से ही प्रतीति में आ रहा है ।

इस प्रकार से सामान्य विशेषात्मक, जात्यंतर वस्तु की प्रमाण से सिद्धि हो जाने पर उसको ग्रहण करने वाला ज्ञान भी सामान्य विशेषात्मक सिद्ध हो जाता है । अतः विशेषाकार से व्यावृत्त अविशेषा-

---

१ अस्पष्टसंवेदनं सविषयं यतः । २ वक्ष्यमाणम् । ३ अस्वलक्षणाकारा, अविशेषाकारा, बहिः स्वलक्षणाकारा । ४ स्वलक्षणलक्षणादर्थात् । ५ यदा तु प्रतिभासते तदेत्यादि पाठान्तरम् । ६ जाततैमिरिकस्य । ७ नहि भवता मीमांसकानां भेदाभेदे सतीदं दूषणं समानं तत्र किम् ? इति प्रश्ने आह । ८ स्थाणुपुरुषादिभ्यः । ९ अत एवास्पष्टता लक्षणं निर्विषयलक्षणं दूषणं न । १० विशेषाकाराद्व्यावृत्ताविशेषाकारा । ११ सौगताभ्युपगताद्द्रव्यसहिता न भवतीत्यर्थः । १२ विषये । बुद्धेर्निराकारत्वे तर्हि आकारः कथं प्रतिभासते इत्युक्ते आह । १३ हे सौगत ।

---

(1) एकस्माच्चन्द्रादुत्पन्ना अतदाकारा चंद्रद्वयाकाररूपा बुद्धिरस्पष्टप्रतिभासा भवतु । न च तथास्ति । (2) अशक्यविवेचनं । (3) बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति । (4) प्रतिनियतविषयः ।

प्रतिनियत [1]सामग्रीवशात्[१] प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकतया[२] तस्योत्पत्तेः प्रतिकर्मव्यवस्थानसिद्धेः[2] साकारज्ञानवादिनामपि[३] तथाभ्यु[४]पगमस्यावश्यम्भावित्वात् । [४]अन्यथा सकलसमानाकार-[3] व्यवस्थापकत्वा[४]नापत्तेः[६]संवेदनस्य [७]तदसिद्धेः । [८]ततोऽसामान्याकारा बुद्धिः सामान्याव-भासिनी [९]कुतश्चिदस्पष्टा कस्मिंश्चिद्वस्तुन्यविशेषाकारा[१०] च विशेषावभासिनीति दूरे सामान्यस्य प्रतिभासोऽस्पष्टः स्याद्विशेषस्य च [5]कस्यचित्—[११]सकलविशेषरहितस्य सामा-न्यस्य प्रतिभासासंभवात् । [१२]न चोर्द्ध्वतासामान्ये विशेषे च [१३]प्रतिनियतदेशत्वादौ प्रति-

कार रूप कोई ज्ञान सर्वथा नही है । तथैव असामान्याकार भी नही है किन्तु सर्वदा उभयात्मक रूप ही ज्ञान अनुभव मे आता है ।

एव अर्थाकार—सौगताभ्युपगत ताद्रूप सहित ज्ञान भी नही है क्योकि ज्ञान को हमने निराकार माना है तथा उस विषय मे प्रतिभासमान आकार पदार्थ के धर्म है । हम यदि ज्ञान को निराकार मानते है तो प्रतिकर्म व्यवस्था विरुद्ध हो जावेगी ऐसा भी आप सौगत नही कह सकते है क्योकि प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से प्रतिनियत पदार्थ को ग्रहण करने रूप से वह ज्ञान उत्पन्न होता है अत प्रतिकर्म की व्यवस्था सिद्ध है । साकारज्ञानवादी सौत्रातिक के यहाँ भी उस प्रकार से ज्ञान को निराकार रूप स्वीकार करना अवश्यभावी है । अर्थात् बौद्ध ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न होने वाला मानते है एव पदार्थ के आकार को धारण करके ही वह ज्ञान पदार्थ को जानता है ऐसा कहते है किन्तु भाट्ट इस तदुत्पत्ति और तदा-कारता का खण्डन कर देते है । अन्यथा प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से प्रतिनियत व्यवच्छेदक का अभाव मानने पर सम्पूर्ण नील पीतादिज्ञानो में तुल्याकार प्राप्त हो जाता है । अत सकल समानाकार की व्यवस्था कर देने की आपत्ति आ जावेगी पुन संवेदन में वह प्रति कर्म व्यवस्था असिद्ध हो जावेगी ।

इसलिए असामान्याकार ज्ञान सामान्यावभासी किसी दृष्टअदृष्ट कारण समूह से अस्पष्ट है और किसी वस्तु मे अविशेषाकार—सामान्याकार ज्ञानविशेषावभासी किसी दृष्टादृष्ट कारण कलाप से अस्पष्ट है । इस प्रकार से दूर में सामान्य का प्रतिभास अस्पष्ट है और किसी विशेष का प्रतिभास भी अस्पष्ट है क्योकि सकल विशेष से रहित सामान्य प्रतिभासित ही नही होता है ।

१ भाट्ट । २ ग्राहकतया । ३ सौत्रान्तिकानाम् । ४ प्रतिनियतसामग्रीवशात्प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकतय ज्ञानस्याङ्गी-कारस्य । ५ प्रतिनियतसामग्रीवशात् प्रतिनियतव्यवच्छेदकत्वाभावे सकलनीलपीतादिनिर्भासाना तुल्याकारत्वमापद्यते सवेदनस्य (विवक्षितनीलाकारवदशेषनीलाकारग्रहणप्रसक्ते) । ६ व्यवस्थापकत्वापत्तेरिति पाठान्तरम् । ७ प्रतिकर्म-व्यवस्थापनस्य सिद्धिर्न स्यात् । ८ योग्यतावशात्प्रतिनियतार्थव्यवस्था यत । ९ दृष्टादृष्टकारणकलापात् । १० सामान्या-कारा । ११ कोपि विशेषो दूरे न प्रतिभासते इत्युक्ते आह । १२ सौगताभिप्रायमनूद्याह । १३ स्थाणुपुरुषोचितदेश । आदि-शब्दात्प्रकाशान्धकारकलुषवेलाश्च गृह्यन्ते ।

(1) अदृष्टादि । (2) ता । (3) ज्ञानस्य समस्वसदृशघटानां । (4) तथागीकारे निराकरोति भाट्ट । (5) पुरुषस्य ।

भासमाने स्थाणुपुरुषविशेषयोः सन्देहानुपत्ति —तयोरप्रतिभासनात् । [1]तत्प्रतिभासनसामग्र्यभावादनुस्मरणे[1] सति सन्देहघटनात् । [2]तद्वत्पचति यजतीत्यादिक्रियाविशेषाप्रतिभासने करोतीतिक्रियासामान्यस्य प्रतिनियतदेशादिरूपस्य[3] प्रतिभासने युक्त. सन्देहः कि करोतीति । [4]तथा प्रश्ने च पचति यजते इत्यादि प्रतिवचन न दुर्घटम्—[5]कथञ्चिपृष्टस्यैव प्रतिपादनात् । एवं यजनादिक्रियाविशेषाणां साधारणरूपा करोतीति क्रिया [6]कथञ्चित्ततो[7] [2]व्यतिरेकेणोपलभ्यमाना [8]कर्तृव्यापाररूपार्थभावना विभाव्यते[3] एवशब्दव्यापाररूपशब्दभावनावत्

ऊर्ध्वता सामान्य और विशेष मे प्रतिनियत देश आदि के प्रतिभासमान होने पर अर्थात् स्थाणु पुरुषोचित देश मे प्रकाश और अधकार से कलुषित समय मे उन सामान्य और विशेष दोनो के दिखने पर स्थाणु और पुरुष विशेष में सदेह नही होवे, ऐसा नही है क्योंकि वे दोनों प्रतिभासित नही होते है । अत उस प्रतिभासन की सामग्री-देश की निकटता का अभाव होने से और अनुस्मरण के होने पर सदेह हो जाता है । उसी प्रकार से—"सामान्य के प्रत्यक्ष से तथा विशेष के अप्रत्यक्ष मे और विशेष की स्मृति होने से सदेह होना युक्ति युक्त ही है" इस लक्षण के सिद्ध हो जाने से "पचति यजति" इत्यादि क्रिया विशेष के प्रतिभासित न होने पर "करोति" इस प्रकार की प्रतिनियत देशादि रूप क्रिया सामान्य के प्रतिभासित होने पर "कि करोति" ऐसा सदेह होना युक्त ही है । एव "कि करोति" ऐसे प्रश्न के होने पर "पचति यजते" इत्यादि प्रत्युत्तर दुर्घट नही है, क्योंकि कथचित् पूछा गया पुरुष ही उत्तर देता है ।

इस प्रकार से यजनादि क्रिया विशेषो मे साधारणरूप "करोति" यह क्रिया कथचित्—शक्य विवेचन रूप से उन यजनादि क्रिया विशेषों से भिन्न ही उपलब्ध होती हुई "करोति" अर्थ लक्षण वाली कर्ता के व्यापार रूप है, एव उस क्रिया को ही अर्थ भावना कहते हैं क्योंकि वह शब्द व्यापाररूप शब्द-भावना के समान सकल बाधाओं से रहित है ऐसा निर्णय सिद्ध है ।

और वही वेदवाक्य का अर्थ है किंतु अन्यापोहादि के समान नियोग वेदवाक्य का अर्थ नही है । इसलिए हम भावनावादी भाट्टों का सम्प्रदाय ही सवादक सिद्ध होता है यह निश्चित हो गया । क्योंकि सत्यरूप कार्य और भावनालक्षण अर्थ में वेदवाक्य प्रमाण है उसी प्रकार से स्वरूप (विधि) मे वे प्रमाण नही है अर्थात् लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय से युक्त वेदवाक्य भावनाअर्थ मे ही प्रमाण है विधिवाद अर्थ में प्रमाण नही है कारण वहाँ बाधा का सद्भाव है । इस प्रकार से सभी वेदांतवाद का निराकरण कर देने

१ देशनैकट्यम् । २ सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च सन्देहो युक्त इत्युक्तवत् । ३ विशेषालिङ्गितस्य । आदिशब्देनातिप्रकाशान्धकार । ४ कि करोतीति । ५ पृष्ट एव पुमानुत्तर प्रतिपादयतीत्यर्थ । ६ शक्यविवेचनत्वेन । ७ यजनादिक्रियाविशेषेभ्यो भिन्नत्वेन । ८ करोत्यर्थलक्षणा ।

(1) अथ कथ तयोः अप्रतिभासने सदेह इत्याह । (2) भेदेन । (3) निश्चीयते एव ।

सकलबाधकरहितत्वनिर्णयात् । मैत्र च [1]वाक्यार्थो न पुनर्नियोगोऽन्यापोहादिवत् । इति [1]भट्टसम्प्रदाय एव संवादक सिद्ध । [2]कार्ये [3]चार्थे चोदनाया.[2] प्रामाण्यं तत एव म [4]स्वरूपे—तत्र बाधकसद्भावात् । सर्ववेदान्तवाद[3]निराकरणान्न भट्टस्य कश्चिदपि प्रतिघात इति [4]कश्चित् ।

[अत्रत्यात् जैनाचार्या भाट्टस्य भावनावादमपि निराकुर्वंति]

अत्र प्रतिविधीयते[6] । यत्तावदुक्त[7], शब्दव्यापार शब्दभावनेति । तत्र शब्दात्तद्व्यापारोनर्थान्तरभूतोर्थान्तरभूतो वा स्यात् ?

[शब्दात् शब्दव्यापारस्याभिन्नपक्षे दोष प्रतिपादन]

यद्यनर्थान्तरभूतस्तदा कथमभिधेय ? शब्दस्य स्वात्मवत् । न[8] ह्येकस्यानंशस्य[9] प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो युक्तः ? संवेद्यसवेदकभाववत् । [10]स्वेष्ट[11] विपर्यासेन तद्भावापत्ते.—[12]प्रति[4]नियम[13]हेत्वभावात् । [14]तद्भेदपरिकल्पनया प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावे [15]तस्य [16]सावृत्तत्वप्रस-

मे हम भाट्टो के यहाँ कोई भी बाधा उपस्थित नही हो सकती है ।

यहाँ तक भावनावादी भाट्ट ने अन्य विधिवादी का खण्डन करके अपना पक्ष पुष्ट किया है ।

[अब यहा से जैनाचार्य भावनावादी भाट्ट का खण्डन करते है]

जैन—जो आप भाट्टो ने कहा है कि "शब्द व्यापार ही शब्द भावना है" उसमें हम आपसे प्रश्न करते है कि शब्द का व्यापार शब्द से अभिन्न है या भिन्न ?

[शब्द से शब्द के व्यापार को अभिन्न मानने मे दोष]

यदि अभिन्न है तो वाच्य कैसे होगा ? जैसे कि शब्द का स्वरूप वाच्य नही है । क्योकि एक अनश-अश कल्पना रहित में प्रतिपाद्य और प्रतिपादक भाव युक्त नही है, जैसेकि एक निरश ज्ञान में संवेद्य और संवेदक भाव मानना युक्त नही है । यदि अनश मे भी प्रतिपाद्य–प्रतिपादक भाव मानोगे तब तो आपके इष्ट से विपरीत भी कहा जा सकेगा अर्थात् आपने शब्द को प्रतिपादक और उसके स्वरूप को प्रतिपाद्य माना है, उससे विपरीत शब्द को प्रतिपाद्य भी कह सकगे क्योकि इस विषय मे प्रतिनियत हेतु का अभाव है । यदि शब्द में अश की कल्पना करके प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव मानोगे तो वह शब्द

---

१ स्फोटादि । २ सत्यरूपः । ३ भावनालक्षणे । ४ विधौ । ५ भट्टमतानुसारी । ६ जैनेन । ७ हे भट्ट त्वया । ८ व्यापार शब्दस्यार्थो न भवति—ततोनर्थान्तरत्वात् तत्स्वात्मवत् । अत्राशङ्का—ननु शब्दस्य स्वात्मा शब्दाभिधेयो भवतु । को दोष. ? तथा सति सन्दिग्धानैकान्तिकत्व हेतोरित्युक्ते आह नहीति । ९ शब्दस्य ज्ञानापेक्षया निरशस्य । १० एकानशस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्व चेत् । ११ भट्टस्य स्वेष्ट शब्दस्य प्रतिपादकत्व स्वरूपस्य प्रतिपाद्यत्वमिति । तद्वैपरीत्येन शब्दस्य प्रतिपाद्यत्वेन । १२ कुत । १३ शब्द प्रतिपादक स्वरूप प्रतिपाद्यमिति प्रतिनियमहेतोरभावात् । १४ शब्दस्य साशत्वपरिकल्पनया । १५ शब्दस्य । १६ कल्पितत्व ।

(1) अन्वय । (2) लिङ्लोट्तव्यप्रत्यययुक्तस्य चोदनारूपस्य वाक्यस्य । (3) विधिरूपे । (4) एकानशे नियमाभावात् ।

ङ्गात् । [1]स्वरूपमपि शब्द[1] श्रोत्रेण गमयति[2] [3]बहिरर्थवत्[2] स्वव्यापारेण । [3]ततस्तस्य[4] प्रतिपादक इति चेन्न[5]—रूपादीनामपि स्वरूपप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात्[6] । [7]तेपि हि स्वं स्वं स्वभाव [8]चक्षुरादिभिर्गमयन्ति—[9]चक्षुरादीनां स्वातन्त्र्येण [10]तत्र प्रवर्त्तनात् [11]तत्प्रयोज्यत्वात् तेषां च रूपादीनां निमित्तभावेन [12]प्रयोजकत्वात् स्वयमधीयानानां[4] कारीषाग्न्यादिवत् । [13]अथ रूपादयः प्रकाश्या एव ततोर्थान्तरभूतानां चक्षुरादीनां प्रकाशकादीनां सद्भावादिति मतम् । तथैव[14] शब्दस्वरूपं प्रकाश्यमस्तु—ततोन्यस्य श्रोत्रस्य प्रकाशकस्य भावात् ।

सवृत्ति रूप – कल्पित ही हो जावेगा ।

भाट्ट – शब्द अपने स्वरूप को भी श्रोत्र-कर्णेन्द्रिय से बता देता है जैसे कि वह अपने व्यापार से बाह्य पदार्थों को बताता है । इसलिए वह स्वरूप का प्रतिपादक भी है अर्थात् यह शब्द स्वरूप की अपेक्षा से प्रतिपाद्य बन जाता है और बाह्य अर्थ की अपेक्षा से प्रतिपादक बन जाता है । एवं जैसे शब्द स्व-व्यापार से बाह्य पदार्थ का ज्ञान कराता है वैसे ही शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से पुरुष के स्वरूप को बतला देता है यह भी कैसे ? ऐसा प्रश्न होने पर बतलाते है कि पुरुष शब्द के स्वरूप को प्राप्त करता है । और श्रोत्रेन्द्रिय उस पुरुष को प्रेरित करती है पुनः शब्द उस श्रोत्रेन्द्रिय को प्रेरित करता है । इस प्रकार से गम् धातु से प्रेरणार्थ में णिच् प्रत्यय होकर "गमयति" बनता है । जिसका ऐसा अर्थ समझना चाहिये ।

जैन— ऐसा नही कहना । अन्यथा रूपादि भी अपने स्वरूप के प्रतिपादक हो जावेंगे, पुनः वे रूपादि भी भावना बन जावेंगे । वे रूपादि भी अपने-अपने स्वभाव को चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा पुरुष को बतला देते है क्योंकि वे चक्षु आदि इन्द्रिया स्वतन्त्र रूप से उन रूपादि विषयों मे प्रवृत्ति करती है । वे रूपादि प्रयोज्य है और चक्षु आदि–निमित्त भाव से प्रयोजक है जैसे कि स्वयं पढने वालों को कारीषाग्नि (कंडे) की अग्नि निमित्त मात्र से प्रयोजक है मुख्य रूप से नही ।

भाट्ट—वे रूपादि प्रकाश्य—प्रकाशित होने योग्य ही है क्योकि उनसे भिन्न चक्षु आदि इन्द्रिया प्रकाशक रूप से विद्यमान है ।

जैन— उसी प्रकार से शब्द का स्वरूप भी प्रकाश्य ही होवे क्योकि उनसे भिन्न श्रोत्रेन्द्रिया प्रकाशक

१ भाट्ट । २ यथा शब्द स्वव्यापारेण बहिरर्थं गमयति । ३ शब्द श्रोत्रेण स्वरूप गमयति यत । ४ स्वरूपस्य । ५ जैन । ६ ततो रूपादिर्भावना स्यात् । ७ रूपादय । ८ पुरुषम् । ९ तद्देश भावयति । १० रूपाद्यवगमे । ११ ते रूपादय प्रयोज्याश्चक्षुरादय प्रयोजका निमित्तमात्रकृत तत्प्रयोज्यत्व, न तु मुख्यवृत्त्या । १२ स्वस्वरूपवेदन प्रति । १३ भाट्ट । १४ जैन ।

(1) स्वरूपमपेक्ष्य प्रतिपाद्यत्व बहिरर्थमपेक्ष्य प्रतिपादकत्व शब्दस्येति भाव । (2) यथा । तथा शब्दः श्रोत्रेण पुरुषं स्वरूप गमयति इत्यत्रापि कथमिति चेत् शब्दस्वरूप गच्छति पुरुषस्तं पुरुष श्रोत्र प्रयुङ्क्ते तच्च श्रोत्र शब्द प्रेरयति इति णिच् इत्यनेन प्रकारेण । पुरुष । (3)कर्म बहिरर्थ यथा श्रोत्रेण गमयति । (4) अधीयानादीना इति पा । स्वयं अध्ययन कुर्वता ।

[5]सत्यमेतदिन्द्रिय[6]बुद्धे विषयभावमनुभवन् प्रकाश्य एव शब्दो रूपादिवत् । प्रतिपादकस्तु स्वरूपे शाब्दीं बुद्धिमुपजनयन्नभिधीयते इति [3]चेन्न—तत्र वाच्यवाचकभावसम्बन्धाभावात्[1] । तस्य द्विष्ठत्वेनैकत्रानवस्थिते.[4] ।

[शब्दात् शब्दव्यापारस्य भिन्ने मन्यमाने दोषानाह]

यदि पुनरर्थान्तरभूत[5] एव शब्दात्तद्व्यापार इति मत [6]तदा स शब्देन[2] प्रतिपाद्यमानो[3]

विद्यमान है ।

भाट्ट—आपका कहना सत्य है । श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान मे विषय भाव का अनुभव करते हुए रूपादि के समान शब्द प्रकाश्य ही है । किन्तु वे शब्द स्वरूप मे शाब्दिक ज्ञान को उत्पन्न करते हुए प्रतिपादक भी कहे जाते है ।

जैन—ऐसा नही कहना । वहाँ पर तो वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध का अभाव है । क्योकि वाच्य-वाचक भावरूप सम्बन्ध द्विष्ठ (दो मे स्थित) होने से वह एकत्र-अनश रूप शब्द में नही रह सकता है अर्थात् आपने शब्द को तो अश रहित माना है पुन उसमें वाच्य-वाचक रूप दो भाव कैसे बनगे ।

भावार्थ—भाट्ट का कहना है कि शब्द अपने स्वरूप को श्रोत्रेन्द्रिय के ज्ञान मे अर्पण कर देता है । अत वह शब्द अपने शब्द भावना के स्वरूप का प्रतिपादक हो जाता है । इस पर आचार्य कहते है कि तब तो रूप, रस, गध और स्पर्श भी अपने-अपने स्वरूपो के प्रतिपादक हो जावेगे क्योकि ये रूप रसादि भी अपनी-अपनी चक्षु, रसना, घ्राण और स्पर्शन इन्द्रियो के ज्ञान मे अपने स्वरूप का समर्पण करते ही है अर्थात् ये रूपरसादि भी चक्षु रसना आदि इन्द्रियो के विषय है जैसे कि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है । इस पर भाट्ट कहता है कि शब्द अपने वाच्य अर्थ के प्रतिपादक है इसलिए ये शब्द अपने स्वरूप के प्रतिपादक है । किन्तु रूप रसादि वैसे नही है वे तो चक्षु आदि इन्द्रियो के द्वारा प्रकाशित होने योग्य है और वे चक्षु आदि इन्द्रियाँ उन रूपादि से भिन्न प्रकाशक है । आचार्य कहते है कि आप भाट्टो का यह कहना अयुक्त ही है क्योकि शब्द अपने वाच्य का प्रतिपादक रूप स्वय ही प्रसिद्ध नही है । अन्यथा पर के द्वारा उपदेश देना, व्याख्यान करना, अर्थ का समझाना आदि व्यर्थ हो जावेगे । क्योकि "मेरा यह प्रतिपाद्य अर्थ है" ऐसा वे शब्द श्रोताओ को स्वय तो कहते नही है । यदि शब्द स्वय ही कह देगे तो मूर्ख, बालक आदि भी कठिन कठिन शास्त्रो के अर्थों को स्वय ही समझ जावेगे । विद्यालयो मे अध्यापको की कोई भी आवश्यकता नही रहेगी । किन्तु ऐसा तो है नही ।

१ भाट्ट । २ श्रोत्रेन्द्रियस्य । ३ जैन । ४ अनशरूपे शब्दे । ५ द्वितीयपक्षे । ६ (जैन) यथा च छेदकस्य कुठारस्य छेद्यस्य वृक्षस्य तयोरन्तरालेऽवान्तरव्यापारेणोत्पतननिपतनेन भाव्यम् ।

(1) निरशत्वात् । (2) कर्तृ । (3) यदि शब्दव्यापार. शब्देनोत्पाद्यमानस्तदा शब्देन पुरुषव्यापारो भाव्यते इति वचो विरुद्धयेत् ।

[1]व्यापारान्तरेण प्रतिपाद्यते चेत्तर्हि[2] [3]तद्भाव्यः स्यात् । तद् व्यापारान्तरं तु भावनानुषज्यते । [4]तदपि यदि शब्दादर्थान्तरं तदा तद्भाव्यं व्यापारान्तरेण स्यात् । तत्तु भावनेत्यपरापरभाव्यभावनापरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गः ।

[भाट्टः शब्दात्तस्य व्यापारं भिन्नाभिन्नं मन्यते तत्रापि दोषानुद्भावयंति जैनाचार्याः]

[5]अथ [6]वाक्यात्तद्व्यापारः कथञ्चिदनर्थान्तरम् [7]विष्वग्भावेनानुपलभ्यमानत्वात् [8]कुण्डादेर्बदरादिवत् । कथञ्चिदर्थान्तरं च विरुद्धधर्माध्यासात्—[9]तदनुत्पादे[10]प्युत्पादात्तदविनाशेपि[11] च विनाशादाकाशादन्धकारवदिति[1] मतम् । [12]तदाप्युभय[13]दोषानुषङ्गः । [14]स्यान्मतम्—

[शब्द से शब्द के व्यापार को भिन्न मानने में दोष]

यदि पुन द्वितीय पक्ष लेवें कि शब्द से शब्द का व्यापार भिन्न ही है तब तो वह शब्द के द्वारा प्रतिपाद्यमान व्यापार कारणभूत—व्यापारन्तर से यदि प्रतिपादित किया जाता है तब तो उस शब्द व्यापार से पुरुष का व्यापार संभव हो सकता है। किन्तु वह व्यापारांतर ही भावना कहलायेगा। और यदि उस व्यापारांतर को भी शब्द से भिन्न मानो तब तो वह भी अन्य व्यापार से ही भाव्य होगा, पुन. वह भी भावना कहलायेगा इस प्रकार अपरा पर भाव्य-भावना की कल्पना करते रहने से अनवस्था दोष आ जावेगा।

[भाट्ट शब्द से उसके व्यापार को भिन्न और अभिन्न दोनों रूप मानता है उस पर भी जैनाचार्य दोषारोपण करते हैं]

भाट्ट—शब्द से उसका व्यापार कथंचित् अभिन्न है क्योंकि विष्वग्भाव पृथक् भाव से उस व्यापार की उपलब्धि नहीं होती है। जैसे कुंडादि से बदरी फल (बेर) पृथक् रूप से उपलब्ध हो रहे हैं अतः वे कथंचित् कुंडादि से अभिन्न नहीं हैं। एवं शब्द से शब्द का व्यापार कथंचित् भिन्न है क्योंकि विरुद्ध धर्माध्यास देखा जाता है। उस शब्द के उत्पन्न न होने पर भी उसका पृथक् उत्पाद देखा जाता है एवं उस शब्द के विनष्ट न होने पर भी उस व्यापार का विनाश देखा जाता है। जैसे आकाश के उत्पन्न एवं विनष्ट न होने पर भी अन्धकार उत्पन्न होता हुआ और नष्ट होता हुआ देखा जाता है।

जैन—आपकी ऐसी मान्यता में भी उभय पक्ष में दिये गये सभी दोष आ जाते हैं। क्योंकि आप स्याद्वादी नहीं हैं, आप अपेक्षाकृत कथंचित् का अर्थ नहीं समझते हैं।

भावार्थ—भाट्ट ने शब्द के व्यापार को शब्द भावना कहा है। इस पर आचार्य ने प्रश्न किया कि

१ कारणभूतेन । २ जैनः । ३ शब्दव्यापारेण हि पुरुषव्यापारो भाव्यते इत्युक्तं पूर्वं तथा तद्वदित्यर्थः । ४ व्यापारान्तरम् । ५ भाट्टः । ६ शब्दात् । ७ पृथग्भावेन । ८ व्यतिरेकदृष्टान्तः । यत्र कथञ्चिदनर्थान्तरत्वं न भवति तत्र विष्वग्भावेनोपलभ्यमानत्वं भवति । यथा कुण्डादेर्बदरादि । ९ शब्द । १० पृथक् । ११ शब्दव्यापारस्य । १२ जैनः । १३ अनर्थान्तरार्थान्तरोक्तदोषः स्यात् । १४ भट्टस्य ।

(1) अन्धकारादिवत् इति पा. ।

अग्निष्टोमादिवाक्यमुपलभ्यमानं[१] पुरुषव्यापारस्य [२]साधकमिदमित्यनुभवाद्वाक्यस्थ[1] एव तद्व्यापारो भावना वाक्यस्य विषयता [३]समश्नुति—तथा प्रतीते । अन्यथा[४] [५]सर्वत्र विषयविषयिभावसंभावनाविरोधात् ।

[भाट्टो वदति य (जैनैर्मान्य ज्ञानमपि स्वव्यापाराद् भिन्नमभिन्नं भिन्नाभिन्न वेति त्रिषु पक्षेषु दोषावतार·]

संवेदनमपि[६] हि [७]भवतां [८]स्वव्यापारं विषयी [2]कुर्वन् तदनर्थान्तरभूतमर्थान्तरभूतं

शब्द से उस शब्द का व्यापार अभिन्न है या भिन्न ?

शब्द से उसके व्यापार को अभिन्न मानने मे आचार्य ने दोष दिया है कि आप भाट्ट के यहां शब्द अश कल्पना से रहित है पुन· उनमें वाच्य वाचक सम्बन्ध कैसे बनेगा ? यदि शब्द में अ श की कल्पना करके वाच्य-वाचक भाव मानो तो भी अश कल्पना के काल्पनिक होने से शब्द और उसका अर्थ भी कल्पित ही रहेगा ।

यदि शब्द से उसके व्यापार को भिन्न मानोगे तो भी वह शब्द के द्वारा प्रतिपादित किया गया शब्द का व्यापार उस शब्द से भिन्न होने से यह उस शब्द का व्यापार है ऐसा कैसे कहा जावेगा । एव यदि वह शब्द का व्यापार भिन्न व्यापार से प्रतिपादित किया जावेगा तो अनवस्था आ जावेगी । इस पर भाट्ट ने शब्द से उसके व्यापार को भिन्नाभिन्न मान लिया । तब आचार्य ने कहा कि दोनो ही पक्ष में दिए गए दोष पुन· आपके ऊपर एक साथ आ जावेगे क्योकि आप अपेक्षा कृत भिन्नाभिन्न की व्यवस्था नही समझते है और यदि अपेक्षा को समझ लेगे तब तो स्याद्वादी के पक्ष मे सामिल हो जावेगे फिर एकान्तवादी नही रहेगे ।

भाट्ट—उपलब्ध होते हुए अग्निष्टोमादि वाक्य पुरुष व्यापार के साधक है इस प्रकार से अनुभव आता है अत शब्द में स्थित ही शब्द का व्यापार भावना है और वही शब्द भावना वेदवाक्य के विषयपने को प्राप्त करती है क्योकि वैसा ही अनुभव आ रहा है । अन्यथा—ऐसा न मानो तो सर्वत्र-ज्ञान और अर्थ में विषय-विषयिभाव की सभावना ही विरुद्ध हो जावेगी । एव जैसे आपने हमारे से प्रश्न किए है वैसे ही हम आप जैनियो से भी प्रश्न करेगे कि—

[भाट्ट कहता है कि आप जैनो के द्वारा मान्य ज्ञान भी अपने व्यापार से भिन्न है या अभिन्न या भिन्नाभिन्न है ? इन तीनो पक्षो मे दोषारोपण]

आपके यहाँ ज्ञान भी अपने स्वार्थग्रहण लक्षण व्यापार को विषयभूत करता हुआ उस ज्ञान से भिन्न अपने स्वभाव को जानता है या अभिन्न स्वभाव को अथवा कथचित् उभय स्वभाव को जानता है ?

१ गृह्यमाणम् । २ भावकमिति पाठान्तरम् । ३ प्राप्नोति । ४ भावनाया वाक्यविषयत्वाभावे । ५ ज्ञानार्थयो· । ६ यथास्माक (भाट्टाना) विकल्पेन पृष्टं तथास्माभिरपि पृच्छ्यते जैन । ७ जैनानाम् । ८ स्वार्थग्रहणलक्षणम् ।

(1) उल्लेखेन । (2) स्वीकुर्वन् ।

वा कथञ्चिदुभयस्वभावं वा [1]संवेदयेत्—गत्यन्तराभावात् । प्रथमपक्षे न सवेद्यसंवेदकभावः—संवेदनतद्व्यापारयोः सर्वथानर्थान्तरत्वाद्वाक्यतद्व्यापारयो[2] प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाववत् । द्वितीयपक्षेपि न तयोस्तद्भाव—[3]अनवस्थानुषङ्गात्तद्वत् । तृतीयपक्षे तु तदुभयदोषप्रसक्तेस्तद्वदेव कुत सवेद्यसवेदकभाव. सिध्येत् [4]अथ स्वार्थसवेदन[1]व्यापारविशिष्ट सवेदनमबाधमनुभूयमान विकल्पशतेनाप्यशक्यनिराकरण[2] सवेद्यसंवेदकभाव साधयतीत्यभिधाने[5] [6]परस्यापि शब्दः स्वव्यापारविशिष्ट पुरुषव्यापार[7] [8]भावयतीत्यबाधप्रतीतिसद्भावाद्वाक्यव्यापारो भावना [9]वाक्यस्य विषयो व्यवतिष्ठते एवेति ।

एव इन तीन विकल्पो को छोडकर और तो कोई गति उस ज्ञान की नही है । यदि पहला पक्ष लेवो तो सवेद्य—सवेदक भाव उस ज्ञान मे नही बनेगा, क्योकि आपने तो ज्ञान और उसके व्यापार मे सर्वथा अभेद मान लिया है जैसे कि हमारे यहा शब्द और उसके व्यापार मे सर्वथा अभेद मानने पर प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव नही हो सकता है ।

दूसरे पक्ष में भी उन दोषो का सद्भाव सभव ही है पूर्ववत् अनवस्था का प्रसग आ जाता है, अर्थात् यदि ज्ञान से ज्ञान का व्यापार भिन्न ही है तब वह ज्ञान का व्यापार ज्ञान मे अनुभव किया जाता हुआ व्यापारातर से जाना जायेगा तो व्यापारातर भाव्य होगा और वह व्यापारातर भी ज्ञान से भिन्न होगा तो वह भी भिन्न-व्यापार से भाव्य होगा ऐसे अनवस्था आ जावेगी ।

तृतीय पक्ष मे भी उन दोनो पक्षो मे दिये गये दोष आ ही जावेगे पुन. उसी प्रकार से सवेद्य—सवेदक भाव—ज्ञेय-ज्ञान भाव कैसे सिद्ध हो सकेगा ?

यदि आप जैन ऐसा कहे कि--

"स्वार्थसवेदन व्यापार से विशिष्ट, अनुभूयमान ज्ञान बाधा रहित है, सैकडो विकल्पो के द्वारा उसका निराकरण करना शक्य नही है अत वह ज्ञान सवेद्य सवेदक भाव को सिद्ध कर देता है ।" ऐसा आपके द्वारा मानने पर तो हम भाट्टो का भी शब्द अपने व्यापार से विशिष्ट होता हुआ यागलक्षण पुरुष व्यापार को भावित करता है । इस प्रकार से बाधा रहित प्रतीति का सद्भाव होने से शब्द का व्यापार ही भावना है वह पुरुष के व्यापार को कराती है अत वह भावना ही वेदवाक्य का विषय है

१ स्वार्थग्रहणलक्षणम् । २ ज्ञेयवस्तुग्रहणलक्षणो व्यापार । ३ यदि पुनरर्थान्तरभूत एव सवेदनात्सवेदनव्यापार इति मत तदा स सवेदनव्यापार सवेदनेन संवेद्यमानो व्यापारान्तरेण सवेद्यते नैतर्हि व्यापारान्तरभाव्य स्यात् । व्यापारान्तर तु यदि सवेदनादर्थान्तर तदा तद्व्यापारान्तर व्यापारान्तरेण भाव्यमिति सत्यनवस्था । ४ भट्टो वदति । ५ जैनै । ६ भाट्टस्य । ७ यागलक्षणम् । ८ (प्रेरयति) स्वपरग्राहिकातीन्द्रियशक्ति करणरूपा । ९ शब्द पुरुषव्यापार भावयतीत्यादि वचनम् ।

(1) एव । (2) सत् ।

[भाट्टेनारोपितान् दोषान् जैनाचार्याः निराकुर्वंति]

[१]तदनुपपन्नम्—[२]वैषम्यात्[३] । संवेदनेन हि[1] [४]संवेद्यमानः [५]स्वात्माऽर्थो[2] वा [६]तस्य विषयो न पुनः संवेदकः स्वात्मा [७]तत्संवेद्यत्वेन्यस्य[८] [९]संवेदनस्यात्मनः[१०] [3]संवेदकत्वोपपत्ते-[4]राकाङ्क्षा[११]परिक्षयादनवस्थानवतारात्[5] । [१२]वाक्येन[6] तु भाव्यमानः[१३] पुरुषव्यापारो न तस्य

यह बात व्यवस्थित ही है।

[भाट्ट के द्वारा दिये गये दोषों का जैनाचार्य निराकरण करते है]

जैन– यह आपका कथन ठीक नही है क्योंकि दृष्टांत और दार्ष्टांत मे विषमता है। ज्ञान के द्वारा संवेद्यमान—जाना गया स्वपरग्राहक अतीन्द्रियकरण शक्ति रूप स्वात्मा अथवा पदार्थ उस वाक्य के विषय है किन्तु संवेदक स्वात्मा उसका विषय नही है। यदि स्वात्मा को भी संवेद्य रूप मान लेओगे तो अन्य संवेदन के स्वरूप को संवेदकपना आ जावेगा पुनः अवान्तर व्यापार की आकांक्षा का परिक्षय-अभाव न होने से अनवस्था आ जावेगी।

विशेषार्थ– जैनाचार्यों ने "शब्द से उस शब्द का व्यापार भिन्न है या अभिन्न ?" इत्यादि विकल्प उठाकर भाट्टों पर दोषारोपण किया था। तो भाट्ट भी उसी पद्धति से जैनाचार्य के प्रति दोषारोपण करते हुए कहता है कि आप जैनों के यहाँ ज्ञान स्वपर को जानने वाला प्रसिद्ध है पुनः जब ज्ञान अपने स्वरूप को जानता है तब वह ज्ञान अपने से अभिन्न अपने स्वरूप को जानता है या अपने से भिन्न अपने स्वरूप को जानता है या अपने से भिन्नाभिन्न अपने स्वरूप को जानता है ?

इन तीन विकल्पों के सिवा चौथा विकल्प संभव ही नही है। यदि ज्ञान अपने से अभिन्न स्वरूप को जानता है तो वह ज्ञान ज्ञेय—जानने योग्य और ज्ञापक—जानने वाला इन दोनों रूप कैसे हो सकेगा क्योंकि ज्ञान और उसका स्वरूप सर्वथा अभिन्न रूप ही है। जब दूसरा भिन्न पक्ष लेवोगे तो अनवस्था आ जावेगी। एवं तृतीय पक्ष मे दोनों पक्षों के दोष आ जाते है। यदि आप जैन कहें कि हमारे यहाँ ज्ञान

१ जैनः । २ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः । ३ वैषम्यं भावयति । ४ स्वात्मा तु न संवेदकः किन्तु संवेद्य एव । ५ स्वपर-ग्राहिकातीन्द्रियशक्तिः करणरूपा स्वात्मा । ६ तस्य वाक्यस्य । ७ स्वात्मनः । ८ करणरूपस्य । ९ विषयरूपतया ग्राह्यत्वे । १० स्वरूपस्य । ११ अवान्तरव्यापारस्याकाङ्क्षा नास्ति ततो नानवस्था । १२ अन्यत्संवेदनं ह्यात्मानं स्वरूपं परिच्छिनत्ति । अतोन्यत्संवेदनं संवेदकं स्वात्मा तु संवेद्य इत्यायातम् । १३ उत्पाद्यमानः ।

(1) कर्तृ । (2) बाह्यार्थः । (3) येन ज्ञानेन करणं संवेद्यं तस्य ज्ञानस्य संवेदकत्वोपपत्ते । स्वार्थग्रहणलक्षणस्यापरव्यापार-स्याकाक्षा परिक्षयादनवस्था नास्ति । वैशद्येऽपि परोक्षं मीमासकस्य करणं ज्ञानं तथा जैनानामनगीकारात् । (4) स्वार्थग्रहण-लक्षणपरव्यापारस्य । (5) संवेद्यमानः स्वात्मार्थो वा तस्य विषय इति तदेव साध्यं । (6) शब्दव्यापारेण हि पुरुषव्यापारो भाव्यते तदानीमेव पुरुषव्यापार एव शब्दस्य विषयः न तु शब्दव्यापारः तस्य करणत्वात् तथागीकाराद्वैषम्यं शब्दस्य व्यापारो विषयः न तु पुरुषव्यापार इति कारणात् ।

विषयः । [1]स्वव्यापारस्तु [2]भावकत्वलक्षणो भावनाख्यो [3]विषयोऽभ्युपगम्यते इति मनागपि न [1]साम्यम्—तथाप्रतीत्यभावाच्च[2] । न हि कश्चिद्वाक्यश्रवणादेवं[4] प्रत्येति [5]स्वव्यापारोनेन[3] वाक्येन मम प्रतिपादित[4] इति । किं तर्हि ? [6]जात्यादिविशिष्टोर्थः [7]क्रियाख्योनेन[8]

स्वपर को जानने वाला अनुभव से सिद्ध है अत सैकडो विकल्पों से उसमें दोषारोपण करना शक्य नही है । तब तो हम भाट्टो के यहाँ भी शब्द अपने व्यापार से सहित होता हुआ पुरुष के यज्ञ रूप व्यापार को भावित कराता है । इसमें भी बाधा रहित अनुभव आ रहा है अत शब्द का व्यापार ही शब्द भावना है और वह पुरुष के व्यापार को करा देता है इत्यादि । इस पर जैनाचार्य कहते है कि भाई ! हमारे ज्ञान मे भिन्न, अभिन्न आदि रूप से दोष नही आते है क्योंकि हम अपेक्षा से ज्ञान को उसके जानने रूप व्यापार से भिन्न भी मानते है और अभिन्न भी मानते है । हमारे यहाँ ज्ञान शब्द व्याकरण से व्युत्पत्ति अर्थ में तीन प्रकार से सिद्ध होता है । यथा—कर्तरि प्रयोग मे "जानातीति ज्ञान आत्मा" । जो जानता है वह ज्ञान है इस अर्थ मे ज्ञान और आत्मा अभिन्न—एक रूप हो जाते है "ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञान" । इस करण साधन मे जिसके द्वारा जाना जावे वह ज्ञान है ऐसा अर्थ करने से ज्ञान और आत्मा मे करण और कर्त्ता की अपेक्षा से कथचित् भेद भी हो जाता है । एव "ज्ञप्तिमात्र वा ज्ञान" । कहने से जानना मात्र क्रिया ही ज्ञान है ऐसा सिद्ध हो जाता है । यहा पर ज्ञान को करण रूप से विवक्षित कर लेने से आपके द्वारा आरोपित दोषो का उन्मूलन हो जाता है । ज्ञान के द्वारा स्व और पर का ज्ञान होना है । मतलब 'स्व' शब्द से यहाँ ज्ञान रूप करण शक्ति मे सहित आत्मा, और पर शब्द से सभी जीव-अजीव आदि पदार्थ ग्रहण किये जाते है । जब ज्ञान स्वपर को जानने वाला है तब वह ज्ञान सवेद्य—जानने योग्य नही है क्यो कि ज्ञान तो जानने वाला सिद्ध है । अत ज्ञान करण शक्ति रूप मे सवेद्य नही है किन्तु सवेदक है अत. हमारे यहा ज्ञान कथचित् अपने से अभिन्न स्वभाव वाली आत्मा को जानता है । कथचित् कर्त्ता करण मे भेद की विवक्षा मे अपने से भिन्न अपने स्वभाव को जानता है एव क्रम से भिन्नाभिन्न की विवक्षा करने से सप्तभगी के तृतीय भग रूप कथचित्—भिन्नाभिन्न रूप अपने आत्म स्वभाव को जानता है ।

वाक्य के द्वारा भाव्यमान—उत्पन्न कराया गया पुरुष का व्यापार उसका विषय नही है। किन्तु स्वव्यापार भावक-लक्षण उस शब्द का भावना-नाम का विषय है ऐसा आपने स्वीकार किया है इसलिए किंचित् भी उदाहरण में साम्य नही है । कारण उस प्रकार की प्रतीति नही आ रही है। कोई भी मनुष्य "अग्निष्टोमेन यजेत" इत्यादि शब्द के सुनने मात्र से ही इस प्रकार से नही समझता है कि "इस वाक्य ने मेरा व्यापार प्रतिपादित किया है" इत्यादि ।

१ तर्हि भाट्टाभिहितविषय. क इत्युक्ते आह । २ उत्पादकत्वलक्षण । ३ तस्य वाक्यस्य । ४ अग्निष्टोमेन यजेतेत्यादि । ५ पुरुषव्यापार । ६ आदिशब्दाद् गुणद्रव्ये । ७ यजेत आलभेतेत्यादि । ८ अनेन वाक्येन ।

(1) वैषम्यादित्यनेन संबध. । (2) न केवल वैषम्यात् । (3) वाक्यस्य । (4) प्रकाशित ।

प्रकाशित इति प्रतीतिः—सर्वेण वाक्येन क्रियाया एव कर्मादिविशेषणविशिष्टायाः प्रकाशनात् । देवदत्त गामभ्याज [1]शुक्लां [2]दण्डेनेत्यादिवत् । [3]सैवाभ्याजनादिव्यवच्छिन्ना[1] क्रिया भावना अभ्याज अभ्याजन कुर्विति प्रतीतिरिति चेन्न[4]—तस्याः पुरुषस्थत्वेन सम्प्रत्ययाच्छब्दात्म[2]भावनारूपत्वायोगात् । [5]तथा च कथमिदमवतिष्ठते—"शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव[6] लिङादय" इति ।

[अत्रपर्यंत शब्दभावना निराकृत्य इदानीमर्थभावनामपाकुर्वंति जैनाचार्याः]

[7]यदप्युक्तम्—अर्थभावना पुरुषव्यापारलक्षणा[8] वाक्यार्थ इति तदप्ययुक्तम्—नियो-

शंका—तो शब्द क्या प्रतिपादित करता है ?

जैन- जाति आदि से विशिष्ट अर्थ "यजेत" इत्यादि क्रिया नाम से इस वाक्य के द्वारा प्रकाशित किया गया है ऐसा अनुभव आता है क्योंकि सभी वाक्य कर्मादि विशेषण से विशिष्ट क्रिया को ही प्रकाशित करते है । जैसे "हे देवदत्त ! इस श्वेत गाय को डंडे के द्वारा भगावो" इत्यादि वाक्य जाति, गुण, द्रव्य से विशिष्ट ही अर्थ का प्रतिपादन करते है—तथैव ।

भाट्ट-- वही अभ्याजन आदि से अवच्छिन्न क्रिया ही तो भावना है क्योंकि "अभ्याज, अभ्याजन कुरु"—भगाओ, भगाने की क्रिया करो इस प्रकार से प्रतीति आ रही है ।

जैन—नही । वह प्रतीति तो पुरुष में स्थित रूप से जानी जाती है । शब्दभावना और अर्थभावना रूप से नही जानी जाती है । और उस प्रकार से यह बात भी कैसे व्यवस्थित होगी कि "लिङादि लकार शब्दभावना और आत्मभावना को अर्थभावना से भिन्न ही कहते है" अर्थात् यह कथन ठीक नही है ।

[शब्दभावना का निराकरण करके अब यहाँ से आचार्य अर्थभावना का निराकरण करते है]

जैनाचार्य-- और जो आपने कहा है कि "पुरुष व्यापार लक्षण अर्थभावना वेदवाक्य का अर्थ है" यह कथन भी अयुक्त है, अन्यथा नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावेगा क्योंकि "नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन यागादौ" मै इस वेद वाक्य के द्वारा यज्ञादि कर्म में नियुक्त हुआ हू । इस प्रकार से ज्ञाता को अनुभव हो रहा है ।

भाट्ट—इस प्रकार से शब्द व्यापार रूप से शब्दभावना ही सिद्ध होती है अतः ऐसा शब्दभावना रूप नियोग हमें इष्ट है हमने तो शुद्ध कार्यादिरूप ही नियोग का निराकरण किया है ।

१ गुण. । २ द्रव्यम् । ३ भाट्ट । ४ जैन. । ५ लिङादीना शब्दव्यापारविषयत्वाभावे सति । ६ अर्थभावनातः । ७ इदानीमर्थभावना निराकर्तुमुपक्रमते । ८ देवदत्त करोतीत्यादिलक्षणा ।

(1) विशिष्ट. । (2) स्वरूप ।

गस्य वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात् । नियुक्तोहमनेन वाक्येन यागादाविति प्रतिपत्तुः प्रतीते । [१]इष्टस्तादृशो नियोगो [२]भावनास्वभावः [1]शुद्धकार्यादिरूपस्यैव नियोगस्य निराकरणादिति [३]चेन्न तस्यापि प्रधानभावार्पितस्य[४] करोत्यर्थादिविशेषणस्य[५] वाक्यार्थत्वोपपत्तेः । निरपेक्षस्य[2] तु करोत्यर्थस्यापि वाक्यार्थत्वानुपपत्तेः । न च करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इति युक्तम्—[3]यज्याद्यर्थस्यापि वाक्यार्थतयानुभवात् ।

[भाट्टा करोति सामान्यक्रियामेव वाक्यस्यार्थं मन्यते, किंतु जैनाचार्या भवति क्रिया सामान्यरूपा सर्वव्यापिनी मत्वा दोषारोपणं कुर्वंति]

[६] करोतिसामान्यस्य [19]सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वम्-नित्या[७] शब्दार्थसम्बन्धा इति वचनात् । न पुनर्यज्यादिक्रियाविशेषास्तेषामनित्यत्वाच्छब्दा[20]र्थत्वाऽवे-

जैन—ऐसा नही कहना । क्योकि "करोति इस अर्थआदि विशेषण से विशिष्ट, प्रधान भाव से विवक्षित वह नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ हो जाता है किन्तु निरपेक्ष करोति क्रिया का अर्थ भी वेदवाक्य का अर्थ नही हो सकता है एवं "करोति" अर्थ ही वेद वाक्य का अर्थ है, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योकि यज्यादि अर्थ भी वेदवाक्य के अर्थरूप से अनुभव में आते है ।

[भाट्ट ने करोति क्रिया को सामान्य मानकर उसे ही वेदवाक्य का अर्थ माना है । उस पर जैनाचार्य "भवति" क्रिया को सर्वव्यापी मानकर उसे वेद का अर्थ सिद्ध करते है]

भाट्ट—सकल यज्यादि क्रिया विशेष मे व्यापी "करोति" सामान्य नित्य है अतः वह शब्द का अर्थ है । क्योकि "नित्या शब्दार्थसम्बन्धाः" ऐसा वाक्य पाया जाता है किन्तु यज्यादि क्रिया विशेष वेद के अर्थ नही है क्योकि वे अनित्य है वे वेदवाक्य के अर्थ घटित नही होते है ।

जैन—ऐसा नही कहना—क्योकि सकल यज्यादि क्रिया विशेषो मे व्यापी यज्यादिक्रिया-सामान्य नित्य है वह भी वेदवाक्य का अर्थ हो सकता है इसमें कोई विरोध नही है ।

भाट्ट—सभी क्रियाओ मे व्यापी होने से "करोति" सामान्य ही शब्द का अर्थ है न कि यज्यादि विशेष ।

जैन यदि ऐसा मानते हो तो भवन-क्रिया-रूप "सत्ता-सामान्य" भी शब्द—वेदवाक्य का अर्थ हो जावे क्या बाधा है ? करोति क्रिया मे भी उसका सद्भाव है । क्योकि महाक्रिया में सामान्य-

१ भाट्ट आह "भो जैन" २ शब्दव्यापार इत्युक्ते शब्दभावनैवेति भावनास्वभाव । ३ जैन । ४ विवक्षितस्य । ५ बस । ६ भाट्टो वदति । ७ "नित्या शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभि । सूत्राणा सानुतन्त्राणा भाष्याणा च प्रणेतृभि" । ८ वाक्यार्थता ।

(1) यागमात्र । (2) विशेषणे । (3) पचनादि । (4) सूत्राम्नाता महर्षिभि सूत्राणा सानुतन्त्राणा भाष्याणां च प्रणेतृभि. । तन्त्राणा—विषमपदव्याख्यानमनुतन्त्र तेन सह वर्तन्ते यानि सूत्राणि तानि सानुतन्त्राणि तेषा । (5) शब्दार्थत्वाघटनात् इति पा. ।

[१]दनात्। इति चेन्न[२]—(1)यज्यादिक्रियासामान्यस्य[३] सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वाविरोधात्, [४]सर्वक्रियाव्यापित्वात्करोतिसामान्यं शब्दार्थ इति चेत्तर्हि[५] सत्तासामान्यं[६] [७]शब्दार्थोस्तु, करोतावपि तस्य सद्भावात्। [८]महाक्रियासामान्य(2)व्यवस्थितिरूपत्वात्[९]। यथैव हि पचति पाकं करोति, यजते यागं करोतीति प्रतीतिस्तथा पचति पाचको भवति, यजने याजको भवति, करोतीति कारको भवतीत्यपि प्रत्ययोस्ति। ततः करोतीत[१०]रार्थव्यापित्वाद्भव[११]त्यर्थस्यैव शब्दार्थत्वं[१२] युक्तमुत्पश्यामः[१३]।

[निष्क्रियवस्तुनि अपि भवत्यर्थो विद्यतेऽत. क्रियास्वभावो नास्तीति भाट्टेनोच्यमाने जैनाचार्या निराकुर्वंति]

स्यान्मत "निर्व्यापारेपि[१४] वस्तुनि भवत्यर्थस्य प्रतीतेर्न क्रियास्वभावत्वं, [१५]निष्क्रियेषु गुणादिषु [१६]भवनाऽभावप्रसङ्गात्" इति चेन्न, करोत्यर्थेपि समानत्वात्। [१७]परिस्पन्दात्मक-

व्यवस्थितरूप ही है। अर्थात् सत्ता-सामान्य सर्वत्र व्यवस्थित ही रहता है।

जिस प्रकार से "पचति—पाक करोति, यजते—याग करोति" यह प्रतीति आ रही है उसी प्रकार से "पचति, पाको भवति, यजते, याजको भवति, करोतीति कारको भवति" यह ज्ञान भी हो रहा है। इसलिए "भवति" यह क्रिया इतर पचन आदि अर्थ मे भी व्यापी होने से हम "जैन भवति" इस क्रिया के अर्थ को ही वेद–वाक्य का अर्थ युक्त समझते है किन्तु 'करोति' अर्थ को नही।

[निष्क्रिय वस्तु मे भी भवति क्रिया का अर्थ देखा जाता है अतः वह क्रिया स्वभाव नही है ऐसी भाट्ट की मान्यता का निराकरण]

भाट्ट—निर्व्यापार––निष्क्रिय—वस्तु में भी भवति क्रिया का अर्थ देखा जाता है इसलिए वह क्रिया स्वभाव नही है अन्यथा निष्क्रिय गुणादिकों में सत्त्व के अभाव का प्रसग आ जावेगा।

जैन—ऐसा भी नही कहना। क्योंकि यह बात तो करोति क्रिया के अर्थ मे भी समान ही है। देखिये ! परिस्पदात्मक व्यापार मे रहित में भी करोति क्रिया का अर्थ विद्यमान है "तिष्ठति, स्थान करोति," ठहरना है, स्थान करता है। ऐसी प्रतीति आती है और दूसरी वात यह भी है कि गुणादिकों मे करोति अर्थ का अभाव होने पर सर्वथा उनमें कारकपने का भी अभाव हो जावेगा पुन वे गुणादि अवस्तु हो जावगे। इसीलिए वह करोत्यर्थ भी व्यापक है क्योंकि विद्यमान वस्तु मे उसका सद्भाव है। अन्यथा वह कारक न होने से अवस्तु हो जावेगा पुनः उसका सत्त्व नही रहेगा। एवं महासत्ता रूप भवन क्रिया है इत्यादि रूप से व्यवहार भी देखा

१ अघटनात्। २ जैनः। ३ करोत्यर्थविशेषस्य। ४ भाट्ट.। ५ जैनः। ६ भवनक्रिया। ७ वाक्यार्थः। ८ महाक्रिया सत्तालक्षणा सैव मामान्य तदेव रूप यस्या करोतिक्रियाया। ९ सत्तामामान्यस्य। १० इतरः=पचनादिः। ११ न पुन. करोत्यर्थस्य। १२ वाक्यार्थत्वम्। १३ वय जैना। १४ निष्क्रिये। १५ अन्यथा। १६ सत्त्वस्य विनाशाद्गुणादीनामभाव आयातः। १७ [पर. प्राह] क्रिया द्विविधा परिस्पन्दात्मिका (चलनात्मिका) भाववती च।

(1) यजतिसामान्यपचतिसामान्यादे.। (2) महाक्रिया सामान्यरूपत्वात्।

व्यापाररहितेपि करोत्यर्थस्य भावात्, तिष्ठति स्थानं करोतीति प्रतीतेः, गुणादिषु [1]च करोत्यर्थाभावे सर्वथा [1]कारकत्वायोगादवस्तुत्वप्रसक्तेः । [2]तत एव करोत्यर्थो व्यापकः, [3]सति सर्वत्र भावात् । अन्यथा[4] तस्याकारकत्वेनावस्तुत्वात् सत्त्वविरोधात् । [5]भवनक्रियेत्या[2]-दिव्यवहारदर्शनाच्च[6] सत्ता करोत्यर्थविशेषणमेव । करोत्यर्थस्यैव सर्वत्र प्राधान्याद्वाक्यार्थत्वम् । इति चेन्न[7], [8]तस्य नित्यस्यैकस्यानंशस्य सर्वगतस्य सर्वथा विचार्यमाणस्यासम्भवात् ।

जाता है। इसलिए 'सत्ता' करोति क्रिया के अर्थ का विशेषण ही है।

भावार्थ—भाट्ट का कहना है कि "करोति–करता है" इस क्रिया का अर्थ सभी क्रियाओं में व्याप्त है। अतः यह करोति क्रिया का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है। जैसे—यजते, यागं करोति, गच्छति गमनं करोति इत्यादि। यज्ञ करता है, यज्ञ को करता है, जाता है गमन को करता है, यह करने रूप क्रिया सर्वत्र व्याप्त होने से ही नित्य है और वही वेद वाक्य का अर्थ है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार से तो भू धातु सत्ता अर्थ में है और अस् धातु भी सत्ता अर्थ में है "भवति, अस्ति" क्रियायें तो वास्तव में सर्वत्र व्याप्त है। "यजते, याजको भवति, पचति, पाचको भवति"। यज्ञ करता है याजक होता है, पकाता है पाचक होता है। इत्यादि रूप से भू धातु की भवति क्रिया को भी सर्वत्र व्याप्त होने से वेदवाक्य का अर्थ मान लो क्योंकि यह भवति क्रिया तो करोति में भी व्याप्त है जैसे—करोति, कारको भवति। तब भाट्ट ने कहा कि यह 'भवति' निष्क्रिय वस्तु गुण आदि में भी पाई जाती है यथा "आकाशोऽस्ति, रूपादयः सति।" आकाश है, रूपादि है इत्यादि। अतः यह वेदवाक्य का अर्थ नहीं होगी क्योंकि वेदवाक्य का अर्थ तो यज्ञ को करने की क्रिया रूप है। इस पर जैनाचार्य पुनरपि कहते हैं कि इस प्रकार से तो परिस्पंदात्मक व्यापार से रहित में भी करोति क्रिया का अर्थ पाया जाता है जैसे—तिष्ठति, स्थान करोति। ठहरता है स्थान करता है इन अकर्मक धातुओं में भी करोति क्रिया चली गई। इसलिए सर्वव्यापी महा सत्ता रूप भवति क्रिया ही वेद वाक्य का अर्थ हो जावे। तब उसने कहा कि यह "भवति" क्रिया तो "करोति" क्रिया के अर्थ का विशेषण है। अतः करोति क्रिया ही विशेष्य रूप होने से एवं सर्वत्र प्रधान रूप होने से वेद वाक्य का अर्थ है। इस पर और भी आगे ऊहापोह चलता है।

भाट्ट—करोति क्रिया का अर्थ ही सर्वत्र प्रधान होने से वेदवाक्य का अर्थ है।

जैन—ऐसा नहीं कहना। क्योंकि आपके द्वारा मान्य वह करोति क्रिया सामान्य, नित्य, एक, अनंश और सर्वगत है इस पर विचार करने से सर्वथा ही वह करोति सामान्य, असंभव ही है अर्थात् भाट्ट करोति क्रिया को सामान्य, नित्य, एक, निरंश और सर्वगत मानते है आगे क्रमशः इन मान्यताओं का खण्डन किया गया है।

१ किञ्च। २ पर एव। ३ विद्यमाने वस्तुनि। ४ असति सर्वत्रभावे। ५ महासत्ता। ६ हेत्वन्तरमिदम्। ७ जैन आह। ८ करोतिसामान्यस्य।

(1) क्रिया कुर्वद्धि कारक। (2) करण।

[करोत्यर्थसामान्य नित्यमस्ति इति भाट्टे न मन्यमाने जैनाचार्यास्तस्य निराकरणं कुर्वंति]

[1]नित्य करोत्यर्थसामान्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्छब्दवदिति [2]चेन्न, हेतोर्विरुद्धत्वात्, कथञ्चिन्नित्यस्येष्ट[3]विरुद्धस्य साधनात्, सर्वथा नित्यस्य प्रत्यभिज्ञानायोगात्, तदेवेदमिति पूर्वोत्तरपर्यायव्यापिन्येकत्र[4] प्रत्ययस्योत्पत्तेः, [5]पौर्वापर्यरहितस्य[1] [2]पूर्वापरप्रत्यय[6]विषयत्वासम्भवात्। [7]धर्माविव[3] पूर्वापरभूतौ, न धर्मसामान्यमिति चेत् [8]कथं तदेवेद[9]मित्यभेदप्रतीतिः[4]? पूर्वापरस्वरूपयोरतीतवर्त्तमानयोस्तदित्यतीतपरामर्शिना स्मरणेनेदमिति वर्त्तमानोल्लेखिना प्रत्यक्षेण च विषयीक्रियमाणयोः परस्परं [10]भेदात्। [11]करोतिसामान्यादेकस्मात्तयोः कथञ्चि-

[करोति क्रिया का अर्थ सामान्य और नित्य है ऐसा भाट्ट के द्वारा कहने पर जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं]

भाट्ट—'करोति' क्रिया का अर्थ सामान्य और नित्य है क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है शब्द के समान।

जैन—नही। आपका हेतु विरुद्ध है यह "प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्" हेतु आपके इष्ट सर्वथा नित्य से विरूद्ध कथंचित् नित्य को सिद्ध करता है क्योकि सर्वथा नित्य का प्रत्यभिज्ञान होना ही असभव है। "तदेवेद" यह वही है इस प्रकार से पूर्वोत्तर पर्याय मे व्यापी एक वस्तु में वह प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है, एव पौर्वापर्य से रहित वस्तु पूर्वापर ज्ञान–प्रत्यभिज्ञान का विषय नही हो सकती है।

भाट्ट—पूर्व और अपर ये दो धर्म ही है, धर्मी सामान्य नही है।

जैन—यदि ऐसा कहो तो "तदेवेदं" यह अभेद प्रतीति कैसे होती है? अर्थात् जिस सामान्य को मैंने यजनादि में प्राप्त किया था वही पचनादि में करोति अर्थ का सामान्य है क्योंकि 'तत्' इस प्रकार से अतीत के परामर्शी स्मरण से और 'इद' इस प्रकार से वर्तमानोल्लेखी प्रत्यक्ष से विषय किए गये अतीत और वर्तमान पूर्वापर स्वरूप में परस्पर में भेद है इसलिए इस प्रत्यभिज्ञान में अभेद प्रतीति नही है।

भाट्ट—एक करोति सामान्य से उन पूर्वापर में कथचित् भेदाभेद की प्रतीति आती है। अथवा कथंचित् भेद से अभेद की प्रतीति आती है ऐसा भी टिप्पणीकार का कहना है।

---

१ (भाट्ट आह) घटादौ व्यभिचारश्चेत्तर्हि "सर्वथा" पद हातव्यम्। २ जैनः। ३ भाट्टमते करोत्यर्थस्य सामान्य सर्वथा नित्यमिति। ४ वस्तुनि। ५ ज्ञानमेव पूर्वापरीभूत नार्थ इत्याशङ्कायामाह। ६ प्रत्ययो ज्ञानम्। ७ भाट्टः। ८ जैनः। ९ यदेव मया यजनादावुपलब्ध तदेव पचनादौ करोत्यर्थस्य सामान्यम्। १० ततो नाभेदप्रतीतिः। ११ भाट्टः।

---

(1) अर्थस्य। (2) स्मरणप्रत्यक्ष। (3) पूर्वापरप्रत्ययहेतू। (4) पूर्वापरभूतधर्मयोः। ईप् द्विः।

द्भेदा[1]भेदप्रतीतिरिति चेत् [1]सिद्धं तस्य कथञ्चिदनित्यत्वम्, अनित्यस्वधर्माव्यतिरेकात्[2]। [3]न ह्यनित्यादभिन्नं नित्यमेव युक्तमनित्यस्वात्मवत्[2], सर्वथा नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्च। तदनित्यं सामान्यं, [4]विशेषादेशाच्छब्दवत्। तत एवानेकं तद्वत्।

[करोति क्रिया एकास्तीति भाट्टो वदति तस्य परिहार]

[5]करोतीति [3]स्वप्रत्ययाविशेषादेकं करोतिसामान्यं सदिति स्वप्रत्ययाविशेषादेकसत्तासामान्यवदिति चेन्न, सर्वथा स्वप्रत्ययाविशेषस्या[6]सिद्धत्वात्[7]। प्रतिकरोत्यर्थ[8]व्यक्ति करोतीति=प्रत्ययस्य[9] विशेषात्[10] प्रतिसद्व्यक्ति सदितिप्रत्ययवत्। तद्व्यक्तिविषयो विशेषप्रत्यय[11]

जैन— यदि ऐसा कहो तो उस प्रत्यभिज्ञान को कथंचित्—अनित्यत्व सिद्ध ही हो गया। क्योंकि वह अनित्य रूप अपने धर्म से अभिन्न है। और अनित्य से अभिन्न होकर नित्य ही है ऐसा कहना युक्त नहीं है, अनित्य के स्वरूप के समान। क्योंकि सर्वथा नित्य में क्रम अथवा युगपत् से अर्थ क्रिया का विरोध है।

इसलिए वह सामान्य अनित्य है क्योंकि उसमें विशेषादेश—पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भेद का कथन होता है, शब्द के समान। और उसी प्रकार से शब्द के समान वह सामान्य अनेक भी है।

[करोति क्रिया एक है ऐसा भाट्ट कहना है उसका परिहार]

भाट्ट—"करोति" इस प्रकार से स्वप्रत्यय-अपने ज्ञान से समान होने से करोति सामान्य एक है जैसे "सत्" इस अपने ज्ञान सामान्य से सत्ता सामान्य एक है।

जैन—नहीं। सर्वथा स्वप्रत्यय से समानता असिद्ध है अर्थात् पर्यायार्थिक नय से भेद का कथन भी देखा जाता है। करोति अर्थ के व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति को—'प्रतिकरोति अर्थव्यक्ति' कहते है अर्थात् करोति अर्थ के व्यक्ति व्यक्ति के प्रति करता है। इस प्रकार से ज्ञान विशेष होने मे (घटकरण पट करणादि ज्ञान) भेद है जैसे 'सत्' 'सत्' इस प्रकार से व्यक्ति—व्यक्ति के प्रति सत् ज्ञान मे भेद देखा जाता है।

भाट्ट—उन व्यक्ति को विषय करने वाला तो विशेष ज्ञान है।

जैन—ऐसा कहो तो यदि वे घटपटादि रूप व्यक्तियाँ—भिन्न २ वस्तुए करोति सामान्य से सर्वथा भिन्न प्रतिपादित की गई है तब तो आप मीमासक यौगमत में प्रवेश कर जावेगे। यदि आप कहो कि वे व्यक्तियाँ करोति सामान्य से कथंचित् अभिन्न है तब तो सामान्य विशेष ज्ञान को विषय करता है यह

१ जैनः। २ अव्यतिरेक.अभेदः। ३ संदिग्धा नैकान्तिकत्वे सत्याह जैनः। ४ पर्यायार्थिकनयाद्भेदकथनात्। ५ घटं करोति पटं करोतीत्यादो। ६ हेतोः। ७ पर्यायार्थिकनयेन भेदस्यापि कथनात् ८ करोत्यर्थस्य व्यक्ति प्रतीति प्रतिकरोत्यर्थव्यक्ति। ९ घटकरणपटकरणादिप्रत्ययस्य। १० भेदात्। ११ घटकरणं पटकरणमिति।

(1) भेदादभेद प्रतीतिः इति पा.। (2) स्वस्वरूपवत्। (3) अभेदात्।

इति चेत्तर्हि[1] ता व्यक्तयः[2] [3]सामान्यात्सर्वथा यदि भिन्नाः प्रतिपाद्यन्ते तदा यौगमतप्रवेशो मीमांसकस्य । [4]अथ कथञ्चिदभिन्नास्तदा[5] सिद्धं सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वं विशेषप्रत्ययविषयेभ्यो विशेषेभ्य. कथञ्चिदभिन्नस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वोपपत्तेर्विशेषस्वात्मवत् । ततोऽनेकमेव[6] करोतिसामान्यं सत्तासामान्यवत् ।

[करोति क्रियानशेति मन्यमाने दोषानाह]

नाप्यनंशं[7], कथञ्चित्सांशत्वप्रतीतेः सांशेभ्यो[8] [9]विशेषेभ्योनर्थान्तरभूतस्य[10] सांशत्वोपपत्तेस्तत्स्वात्मवत् ।

[तत्सामान्य सर्वगतमिति मन्यमाने दोषानाहुराचार्या]

[11]तथा न सर्वगतं तत्सामान्यं, व्यक्त्यन्तरालेनुपलभ्यमानत्वात् । [12]तत्रानभिव्यक्तत्वात्तस्या-

---

बात सिद्ध हो गई ।

क्योंकि विशेष ज्ञान के विषय भूत विशेषो से कथंचित् अभिन्न सामान्य ही विशेषज्ञान का विषय हो सकता है जैसे कि विशेष का स्वरूप कथंचित् अभिन्न होने से विशेषज्ञान का विषय है। इसलिए करोति सामान्य अनेक ही है सत्ता सामान्य के समान । अर्थात् जितने विशेष हैं उतने ही सामान्य है न कि एकसामान्य ।

[करोति सामान्य निरंश है ऐसा भाट्ट का कहना है उसका जैनाचार्य परिहार करते है]

वह करोति सामान्य अनंश भी नही है क्योकि कथंचित अंशसहित ही प्रतीति मे आ रहा है। अंशसहित — अवयवसहित घट पटादि विशेषभेद लक्षणों से अभिन्न सामान्य अंशसहित देखा जाता है जैसे कि उसका स्वरूप ।

[वह सामान्य सर्वगत है ऐसा कहने पर जैनाचार्य दूषण दिखलाते है]

उसी प्रकार से वह सामान्य–सर्वगत भी नही है क्योकि व्यक्ति-व्यक्ति के अंतरालों में उपलब्ध नही होता है ।

भावार्थ—यह भाट्ट करोति क्रिया सामान्य को महासत्ता रूप मानता है और कहता है कि यह करोतिक्रिया नित्य है, एक है, निरंश है और सर्वव्यापी है इन चारो विशेषणों का जैनाचार्य ने क्रम-क्रम से निराकरण किया है। पहले भाट्ट ने करोतिक्रिया को नित्य सिद्ध करने के लिए "प्रत्यभिज्ञान होता है" ऐसा हेतु दिया है। उस पर जैनाचार्य ने कहा कि यह "प्रत्यभिज्ञायमान" हेतु कथंचित् नित्य को सिद्ध करता है, सर्वथा नित्य को नही। क्योंकि "तदेवेद" यह वही है इस प्रकार पूर्व के स्मरण और वर्तमान

---

१ जैनः । २ घटपटादिरूपा. । ३ करोतिसामान्यात् । ४ भाट्ट. । ५ सामान्यात् । ६ यावन्तो विशेषास्तावन्ति सामान्यानि न त्वेकमित्यर्थः । ७ करोतिसामान्यम् । ८ सावयवेभ्यो घटपटादिभ्य. । ९ भेदलक्षणेभ्य. । १० सामान्यस्य । ११ जैनः । १२ भाट्टः ।

नुपलम्भ इति चेत्तन[1] एव व्यक्तिस्वात्मनोपि[2] तत्रानुपलम्भोस्तु। तस्य तत्र सद्भावावेदकप्रमाणाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भ इति चेत् सामान्यस्यापि [1]विशेषाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भोस्तु, व्यक्त्यन्तराले तस्यापि सद्भावावेदकप्रमाणाभावात् प्रत्यक्षतस्तथा[3]ननुभवात् खरविषा-

के प्रत्यक्ष इन दोनों के जोड रूप में यह प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है जैसे—जिस करोति क्रिया सामान्य के अर्थ को मैंने यजन आदि क्रिया मे पूर्व में देखा था वही इस समय पचन आदि क्रिया में करोति अर्थ पाया जा रहा है। यह प्रत्यभिज्ञान कथंचित् नित्यानित्य वस्तु मे ही होता है क्योंकि सर्वथा नित्य में क्रम से या युगपद् अर्थ क्रिया का ही अभाव है। पुन भाट्ट कहता है कि "करोति" इस प्रकार का ज्ञान सभी जगह समान है अत यह करोति क्रिया सामान्य एक है जैसे—सत् अपने सत् रूप सामान्य ज्ञान से सत्ता सामान्य एक ही है। इस पर जैनाचार्य कहते है कि हमारे यहाँ "सत् सामान्य" भी व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति अनन्त भेद रूप है।

जैन सिद्धांत मे सत्ता को अनन्त पर्यायात्मक माना है। उसी प्रकार से करोति क्रिया भी व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति भेद रूप है, जैसे—याग करोति, पाक करोति, गमन करोति। इन सभी करोति क्रियाओं मे भिन्न-भिन्न पुरुष की अपेक्षा से भेद स्पष्ट है जो यज्ञ करना है वह पकाता नही है और वह गमन नही कर रहा है इन तीनो क्रियाओं को करने वाले तीन व्यक्ति पृथक्-पृथक् देखे जाते है। अत. करोति सामान्य अनेक रूप ही है। उसी प्रकार से वह करोति सामान्य अश रहित भी नही है क्योंकि घट पटादि अवयव सहित पदार्थो मे वह करोति सामान्य पाया जाता है तथव करोति सामान्य सर्वगत भी नही है क्योकि व्यक्ति-व्यक्ति के अतरालो मे दिखता ही नही है। इस प्रकार से जैनाचार्य ने करोति सामान्य को अनित्य, अनेक, अश सहित और असर्वगत सिद्ध कर दिया है।

भाट्ट—उस अतराल में वह करोति सामान्य अभिव्यक्त नही है इसलिए उसको अतराल मे उपलब्धि नही है।

जैन—उसी हेतु से व्यक्ति का स्वरूप भी वहा अंतराल मे अनुपलब्ध हो जावे पुन. व्यक्तियों को भी सर्वगत मान लो क्या बाधा है? किन्तु आप तो ऐसा मानने को तैयार नहीं है।

भाट्ट—व्यक्ति विशेष के सद्भाव को अतराल में सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है अतः उसको अतराल मे अनुपलब्धि है।

जैन—यदि ऐसा मानो तो सामान्य के भी सद्भाव का आवेदक कोई प्रमाण न होने से उसका

१ जैनः। २ ततश्च व्यक्तीनामपि सर्वगतत्वं समायातम्। न च तथा स्वीक्रियते। ३ व्यक्त्यन्तराले सत्त्वरूपेण।

(1) सद्भावावेदकप्रमाणाभावस्य।

णादिवत् । [1]व्यक्तयन्तरालेस्ति सामान्यं, [2]युगपद्भिन्नदेश[3]स्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वाद्वंशादि[4]वदित्यनुमानात्तत्र तत्सद्भावसिद्धिरिति [5]चेन्न, हेतोःप्रतिवाद्यसिद्धत्वात् [6]। न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकं यथा स्थूणादिषु [7]वंशादिरिति प्रतीयते, यतो युगपद्भिन्नदेशस्वाधार[1]वृत्तित्वे सत्येकत्वं[8] तस्य[9] सिध्यत् स्वाधारान्तरालेऽस्तित्वं साधयेत्, प्रतिव्यक्ति सदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य भेदाद्विसदृशपरिणामलक्षणविशेषवत् । [10]यथैव हि [11]काचिद्व्यक्तिरुपलभ्यमाना [12]व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा[13] विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणामदर्शनात्किञ्चित्केन[14]चित्समानमवसीयते[15] इति निर्बाधमेव, तेनायं समानः सोनेन समान इति

भी अन्तराल में असत्त्व होने से ही अनुपलब्धि होवे क्या बाधा है ? क्योंकि व्यक्ति के अंतराल में उस सामान्य के भी सद्भाव का आवेदक कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष से व्यक्ति के अंतराल में सत्त्वरूप का अनुभव नहीं आता है जैसे कि खर विषाणादि का कहीं पर अनुभव नहीं आता है।

भाट्ट—व्यक्ति विशेष के अंतराल में भी सामान्य रहता है। क्योंकि युगपत् भिन्न देश और स्वाधार में रहने से एक रूप है, बांसादि के समान"। इस अनुमान से वहाँ उस सामान्य का सद्भाव सिद्ध है।

जैन—नहीं। आपका हेतु प्रतिवादी को असिद्ध है। क्योंकि भिन्न-भिन्न देश के विशेषों में सामान्य एक है जैसे "स्थूणादि में बांसादि"। ऐसा प्रतीति में नहीं आता है कि जिससे युगपत् भिन्न देश एवं स्वाधार वृत्तित्व के होने पर उस सामान्य में एकत्व हेतु सिद्ध होता हुआ अपने आधार के अंतराल में अस्तित्व को सिद्ध कर सके। अर्थात् नहीं कर सकता है। प्रतिव्यक्ति (विशेष-विशेष के प्रति) सदृश परिणाम लक्षण सामान्य भिन्न-भिन्न है जैसे विसदृश परिणाम लक्षण विशेष प्रत्येक भिन्न-भिन्न वस्तु में भिन्न-भिन्न है।

जिस प्रकार से कोई घट पटादि लक्षण विशेष उपलब्ध होता हुआ व्यक्त्यंतर-मुकुटलक्षणादि विशेष से भिन्न होता हुआ विसदृश परिणाम के देखने से निश्चित होता है उसी प्रकार से सदृश परिणाम के देखे जाने से कोई वस्तु किसी वस्तु के समान निश्चित की जाती है यह बात बाधा रहित सिद्ध ही है "यह उसके समान है, वह इसके समान है" इस प्रकार से समान ज्ञान देखा जाता है।

१ भाट्ट । २ सामान्य व्यक्तयन्तरालेस्ति—एकत्वादित्येवास्तु इत्युक्ते देवदत्तेन व्यभिचारस्तत्परिहारार्थं स्वाधारवृत्तित्वविशेषणम् । तथा प्येकविष्टरोपविष्टेन तेनैव व्यभिचारो मा भूदिति भिन्नदेशविशेषणम् । तथापि क्रमेणानेकासनासीनेन तेन व्यभिचारः स्यात् । तत्परिहारार्थं युगपद्विशेषणं कृतमनुमानेस्मिन् । ३ भिन्नदेशश्चासौ स्वाधारश्च । ४ स्थूणादिषु वंशादिवदित्यर्थः । ५ जैन । ६ सामान्यस्यैकत्वं नाङ्गीक्रियते जैनैः । ७ प्रतीयते यथा । ८ हेतु । ९ सामान्यस्य । १० एतदेव भावयति । ११ घटपटादिलक्षणा । १२ मकुटादिलक्षणात् । १३ भिन्ना । १४ वस्तु । १५ निश्चीयते ।

(१) तथापि क्रमशस्तथा वृत्तिमता देवदत्तेन व्यभिचारस्ततो युगपदिति विशेषणं ।

समानप्रत्ययात् । [1]ननु पूर्वमननुभूतव्यक्त्यन्तर[2]स्यैकव्यक्तिदर्शने समानप्रत्ययः कस्मान्न भवति ? तत्र सदृशपरिणामस्य भावादिति चेत्तवापि विशिष्टप्रतीतिः[3] कस्मान्न भवति ? वैसादृश्यस्य[4] भावात् । [5]परापेक्षत्वाद्विशिष्टप्रतीतेरिति चेत्तत एव 'तत्र समानप्रत्ययोपि[6] मा भूत् । न हि स परापेक्षो न भवति, परापेक्षामन्तरेण [3]क्वचित्कदाचिदप्यभावाद् [7]द्वित्वादिप्रत्ययद्दूयवरत्वादिप्रत्ययवद्वा । द्विविधो हि वस्तुधर्मः परापेक्षः परानपेक्षश्च [9]वर्णादिवत् स्थौल्यादिवच्च । [10]ननु च [11]सादृश्ये सामान्ये स एवायं गौरिति प्रत्ययः कथं शवलं[12] दृष्ट्वा धवलं पश्यतो घटेतेति [13]चेदेकत्वोपचारादिति ब्रूमः[14] ।

भाट्ट—पूर्व में जिसने भिन्न-भिन्न विशेष का अनुभव नहीं किया है उस पुरुष को एक विशेष के देखने के समान प्रत्यय क्यों नहीं होगा ? क्योंकि वहाँ पर सदृश परिणाम देखा जाता है।

जैन—यदि ऐसा कहो तो आपको भी एक विशेष के देखने मे विशेष प्रतीति क्यो नही होती है ? क्योकि भिन्न प्रतीति रूप विशेष में वैसादृश्य परिणाम भी देखे जाते है।

भाट्ट—वह भिन्न प्रतीति पर की अपेक्षा रखती है।

जैन—उसी प्रकार से वहा-एक विशेष के देखने में समान ज्ञान भी मत होवे। अर्थात् यह उसके समान है एव वह इसके समान है इसमें भी तो पर की अपेक्षा है और वह परापेक्ष नही है ऐसा तो आप कह नही सकते। पर की अपेक्षा के बिना कही पर किसी काल मे भी वह सामान्य हो नही सकेगा जैसे--द्वित्वादि ज्ञान अथवा दूरत्वादि ज्ञान पर की अपेक्षा के बिना हो नही सकते है। अर्थात् द्वित्वादि ज्ञान एकत्वादि से निष्ठ है अत पर की अपेक्षा के बिना नही होते है एव दूरत्व आदि ज्ञान भी निकट की अपेक्षा के बिना नही होते है।

वस्तु का धर्म दो प्रकार का है पर की अपेक्षा रखने वाला और पर की अपेक्षा नही रखने वाला। जैसे वर्णादि-श्वेत पीतादि पर की अपेक्षा नही रखते है एव स्थूलता, सूक्ष्मतादि एक दूसरे की अपेक्षा से होते है।

भाट्ट—सादृश्य सामान्य में "यह वही गौ है" इस प्रकार का ज्ञान होता है वह ज्ञान शबल-चितकबरी गाय को देख कर श्वेत गाय को देखते हुए मनुष्य को "यह वही गौ है" ऐसा ज्ञान कैसे होगा ?

१ भाट्ट । २ पुंस । ३ एकव्यक्तिदर्शने । ४ विशिष्टप्रतीतौ विशेषे । ५ भाट्ट । ६ एकव्यक्तिदर्शने । ७ अनेन देवदत्तेन समानोयं जिनदत्तो, जिनदत्तेन समानो देवदत्तो बेत्यत्रापि परापेक्षत्वं यत. । ८ द्वित्वादिप्रत्यय एकत्वादिनिष्ठा परापेक्षां विना नोपपद्यन्ते । ९ श्वेतपीतादिवत् । १० भाट्ट । ११ सास्नादिमत्त्वे गोत्वे । १२ शवलं गां दृष्ट्वा धवलं गां पश्यतः पुंसः स एवायं गौरिति प्रत्ययः कथं घटते ? १३ शवलेन सदृशो धवल इत्येकत्वोपचारात् । १४ जैनाः ।

(1) व्यक्तौ ।

[एकत्वं द्विधा मुख्यमुपचरितं चेति विभज्य स्पष्टीकरणं कुर्वन्ति जैनाचार्याः]

द्विविधं ह्येकत्वं मुख्यमुपचरितं चेति । मुख्यमात्मादिद्रव्ये[1] । सादृश्ये तूपचरितमिति । मुख्ये [१]तु तत्रै[२]कत्वे [२]तेन [2]समानोयमिति प्रत्ययः कथमुपपद्येत[3] ? [३]तयोरेक[४]सामान्ययोगादिति [५]चेन्न—[4]सामान्यवन्तावेताविति प्रत्ययप्रसङ्गात्[६] । अभेदोपचारे[७] तु सामान्यतद्वतोः [5]सामान्यमिति [6]प्रत्ययः स्यात् । न तेन समानोयमिति । यष्टिसहचरितः पुरुषो यष्टिरिति यथा, यष्टिपुरुषयोरभेदोपचारात्[८] । [९]मृन्मये गवि सत्यगवयसदृशे गोसादृश्यस्य सामान्यस्य भावाद्गोत्वजातिप्रसङ्ग इति [१०]चेन्न, [११]सत्यगवयव्यवहारहेतोः[7] सादृश्यस्य [१२]तत्राभावात् तद्भावे तस्य सत्यत्वप्रसङ्गात् । [१३]भावगवादिभि.[8] स्थापनागवादे.[१४] सादृश्यमात्रं तु

जैन—इसमें भी एकत्व का उपचार होने से "यह वही है" ऐसा ज्ञान हो जाता है अर्थात् सबल के सदृश धवल गाय है इस प्रकार से एकत्व का उपचार हो जाता है। एकत्व के दो भेद हैं—मुख्य और उपचरित।

आत्मा आदि द्रव्यो में तो मुख्य एकत्व होता है जैसे कि जो आत्मा नरक पर्याय में था यह वही आत्मा मनुष्य पर्याय में दिख रहा है। जो आत्मा बचपन में था वही इस जवानी और बुढ़ापे में है इत्यादि में मुख्य एकत्व ज्ञान है। और सादृश्य वस्तु मे उपचरित एकत्व होता है जैसे कि काटने के बाद पुनः उत्पन्न हुये नख और केश। किन्तु वहाँ मुख्य गोत्व लक्षण एकत्व में उस गौ के समान यह गौ है ऐसा ज्ञान कैसे हो सकेगा ?

भाट्ट—उस श्वेत और चितकबरे मे गोत्व लक्षण एक सामान्य का योग होने से वहाँ वैसा ज्ञान होता है।

जैन—ऐसा नही कहना। अन्यथा ये दोनो सामान्यवान् है ऐसा ज्ञान हो जावेगा। पुनः यह उसके समान है ऐसा ज्ञान नही हो सकेगा और अभेदोपचार के स्वीकार करने पर तो सामान्य और सामान्यवान् मे "यह सामान्य है" ऐसा ज्ञान हो जावेगा। किन्तु यह उसके समान-सदृश है ऐसा नही हो सकेगा। जैसे यष्टि से सहचरित पुरुष को यष्टि कह देते है क्योकि वहाँ यष्टि और पुरुष मे अभेद का उपचार किया गया है। किंतु यह पुरुष यष्टि के समान है ऐसा ज्ञान तो नही होता है।

१ मुख्ये गोत्वलक्षणे इत्यर्थः । तत्र—शवलधवलयोः । २ गवा । ३ पर (शवलधवलयोः) । ४ एकं गोत्वमित्यर्थः । ५ जैन आह । ६ न तु तेन समानोयमिति प्रत्ययः स्यात् । ७ (जैन. प्राह) अङ्गीक्रियमाणे । ८ न यष्ट्या समानः पुरुष इति प्रत्ययो भवति । ९ पर । १० जन । ११ चैतन्यदोहनादेः । १२ मृन्मये । १३ भाव. सत्य. । १४ साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम् । सोयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥

(1) यो नारकपर्याय. स एवाय मनुष्यपर्याय आत्मा । (2) यद्युपचरित न भवेत् । (3) स एवायं प्रत्ययो घटात् यतः । (4) यथा द्वौ पुरुषौ एकराज्ययोगादेकराज्यवतौ । (5) शवलधवलयोः । (6) स प्रत्ययः इति पा. । (7) सत्यगोव्यवहारहेतोः इति वा क्वचित् पाठः । (8) तत्कालपर्यायाक्रांतं वस्तु भावोऽभिधीयते । सह ।

¹गवादिमात्रव्यवहारकारणं तदेकजातित्व²निबन्धनमनुरुध्यते³ एव सत्त्वादिसादृश्यवत् ।

भाट्ट—वास्तविक गवय के सदृश मिट्टी की गाय मे गोत्व सादृश्य-सामान्य मौजूद है वहाँ भी गोत्व जाति का प्रसग आ जावेगा ।

जैन—ऐसा नही कहना । क्योंकि वास्तविक गवय व्यवहार का हेतु सादृश्य सामान्य वहा—मिट्टी की गाय में नही है यदि वह वहाँ है तो उसे सत्य मानना पड़ेगा । स्थापना रूप गो आदि मे भाव—वास्तविक गो आदि के द्वारा जो सादृश्य मात्र सामान्य है वह लागूल पूछ, ककुद विषाणादि रूप, गवादिमात्र से व्यवहार का कारण है इसलिए उसमे एक जातित्व कारण जैनियो ने माना ही है जैसे सत्त्वादि सामान्य ।

भावार्थ—भाट्ट "करोति सामान्य" को सर्वगत मानता है, किन्तु आचार्य उसकी मान्यता का निराकरण करते हुए कहते है कि जो विशेष—व्यक्ति रूप मख्याती क्रियाये है जैसे—भुक्ते, भुनक्ति, गच्छति यजते, पचति आदि । खाता है, भोगता है, जाता है, यज्ञ करता है, पकाता है इत्यादि क्रियाओं मे करोति, सामान्य व्याप्त है । आप भाट्ट की मान्यता के अनुसार "करता है" यह करोतिसामान्य तो नित्य है और यज्ञ करता है इत्यादि विशेष क्रियायें अनित्य है जब अनित्य क्रियाये नष्ट होती है या उत्पन्न होती है तब यह "करता है" यह सामान्य उनके साथ विनष्ट या उत्पन्न होता है या नही ? एव गच्छति, पचति आदि क्रियाओं के अतराल में भी करोतिसामान्य दिखता नही है जैसे कि आप उसे सर्वगत मानकर अतराल मे भी उसका अस्तित्व मान रहे है । इस पर भाट्ट ने कहा कि वह अन्तरालो में अप्रगट है । तब जैनाचार्य ने कहा कि वैसे ही भिन्न-भिन्न क्रियाओ का भी अतरालो में अप्रगट रूप से अस्तित्व मानकर उन विशेषो को भी सर्वगत मान लो क्या बाधा है? तब भाट्ट ने कहा कि विशेषो को सर्वगत मानकर उन्हे अतरालों मे सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नही है । इस पर जैनाचार्यों ने पूछा कि करोतिसामान्य को अतरालो मे सिद्ध करने वाला प्रमाण भी कहाँ है ? इस प्रश्न पर तुरन्त ही उस भाट्ट ने अनुमान प्रमाण को उपस्थित कर दिया । यह 'करोति सामान्य' गमन करता है, भोजन करता है, यज्ञ करता है, इत्यादि विशेषों में भी व्याप्त है और इनके अतरालो मे भी व्याप्त है, क्योंकि एक साथ यह करोति सामान्य भिन्न-भिन्न देश मे और अपने आधार मे 'करता है' इस प्रकार से एक रूप ही है, जैसे कि स्थूण आदि में बाँसादि । इस अनुमान से "करोतिसामान्य" सर्वत्र व्याप्त है । इस पर जैनाचार्य बोले कि आपका हेतु हम जैनों को असिद्ध है । क्योकि भिन्न-भिन्न क्रियाओ के प्रति होता हुआ सदृश परिणाम रूप सामान्य पृथक्-पृथक् है जैसे कि विसदृश परिणाम लक्षण विशेष सभी के भिन्न-भिन्न ही है । देखिये ! जैसे "यजते" क्रिया से भिन्न गच्छति क्रिया का विशेष है वैसे ही दोनों क्रियाओ का करोति सामान्य यद्यपि

१ लाङ्गूलककुदविषाणादिरूपेण । २ तेन भावगवादिनैका जातिर्यस्य स्थापनागवादेस्तस्य भावस्तदेकजातित्वम् । तस्य निबन्धनम् । ३ (जैनैरनुगृह्यते) भावगव्यपि मृन्मयेन सह सत्त्वसादृश्य यथास्ति ।

ततो न मीमांसकाभ्युप [1]गतस्वभावं करोतिसामान्यमुपपद्यते [2]यत्सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिकर्तृ व्यापाररूपभावनाख्या प्रतिपद्यमान वाक्येन[3] विषयीक्रियेत(1)। प्रतिनियतक्रियागतस्य[4] तु करोतिसामान्यस्य शब्दविषयत्वे(2) यज्यादिसामान्यस्य[5] कथं [6]तद्विनिवार्येत; येन [7]तदपि वाक्यार्थो न स्यात् । तदेव भावना वाक्यार्थसम्प्रदायो न श्रेयान्, बाधकसद्भावान्नि(3)योगादिवाक्यार्थसम्प्रदायवत् ।

सदृश परिणाम वाला है फिर भी भिन्न-भिन्न ही है। इस पर भाट्ट ने कहा कि विसदृश परिणाम तो पर की अपेक्षा रखता है किन्तु सदृश परिणाम रूप सामान्य पर की अपेक्षा नही रखता है। आचार्य कहते है कि सदृश परिणाम भी पर की अपेक्षा के बिना असम्भव है। सदृश शब्द के कहते ही 'यह इसके सदृश है' इस प्रकार से बिना अपेक्षा के सदृश परिणाम भी कहाँ रहा ?

आगे चलकर जैनाचार्य ने एकत्व के दो भेद कर दिये है एक मुख्य दूसरा उपचरित। यह वही आत्मा है जो नरक पर्याय, देव पर्याय आदि में थी, यह एकत्व मुख्य है। एव जैसे चितकबरी गाय में गोत्व सामान्य है वैसे ही श्वेत गाय मे भी है यह उपचरित एकत्व है। इस प्रकार से करोति सामान्य को सर्वगत मानने मे अनेक दोष आ जाते है।

इसलिए मीमासक के द्वारा स्वीकृत यह 'करोति सामान्य' नित्य, निरश, एक, और सर्वगत स्वभाव रूप हो नही सकता है, जो कि सपूर्ण यज्यादि क्रिया विशेषों मे व्यापी कर्त्ता के व्यापार रूप 'भावना' इस नाम को प्राप्त करते हुए वेद वाक्य के द्वारा विषय किया जा सके। अर्थात् ऐसी भावना वेदवाक्य का विषय नही हो सकता प्रतिनियत क्रिया में रहने वाले करोतिसामान्य को शब्द का विषय मानने पर तो यज्यादि सामान्य को भी आप शब्द का विषय क्यो नही मानते है - उसका निवारण क्यो करते है, जिससे कि वह यजन सामान्य भी वेदवाक्य का अर्थ न हो सके। अर्थात् है ही है। इसलिए 'भावना' वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा भावनावादी भाट्ट का सप्रदाय श्रेयस्कर नही है। क्योंकि नियोग, विधि आदि रूप से वेदवाक्य का अर्थ करने पर जैसे बाधाये आती है वैसे ही इस भावनावाद में भी अनेक बाधाये आ जाती है।

विशेषार्थ-- जगत के सपूर्ण पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होते है। और ऐसे ही पदार्थों को प्रमाण जानता है। प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही है इस बात को सिद्ध करने के लिए समर्थ हेतु उपस्थित है।

"अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ॥२॥

"यह वही है" ऐसे ज्ञान को अनुवृत्त प्रत्यय कहते है "यह वह नही है" ऐसे ज्ञान को व्यावृत्त प्रत्यय कहते हैं।

प्रत्येक वस्तु अनुवृत्त ज्ञान और व्यावृत्त ज्ञान के विषयभूत है। एव पदार्थ के पूर्व आकार का विनाश

---

१ नित्यनिरंशैकसर्वगतस्वभावम्। २ यदिति काकुः। ३ वेदवाक्येन। ४ करोतिक्रियाविशेषगतस्य स्वव्यक्तिसर्वगतस्येत्यर्थः। ५ देवयजनगुरुयजनादियजनसामान्यस्य। ६ शब्दविषयत्वम् (वाक्यार्थत्वमित्यर्थः)। ७ यजनसामान्यम्।

---

(1) वाक्यार्थः कथ स्यात्। (2) वाक्यार्थत्वे। (3) विधि।

उत्तर आकार का प्रादुर्भाव इन दोनो अवस्थाओ में ध्रौव्य रूप से स्थिति का रहना, इन तीनों सहित अवस्था विशेष को परिणाम कहते है । इस परिणमन स्वभाव से ही वस्तु में अर्थ क्रिया होती है अतः प्रत्येक वस्तु मे सत् आदि रूप से समानता के होने से अनुवृत्त ज्ञान एव विसदृशता के होने से व्यावृत्त ज्ञान पाया जाता है । अनुवृत्तज्ञान को सामान्य एव व्यावृत्त ज्ञान को विशेष कहते है । उस सामान्य के दो भेद हैं—तिर्यक् सामान्य, ऊर्ध्वता सामान्य । "सदृश परिणामस्तिर्यक्खडमुण्डादिषु गोत्ववत् ।" समान परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते है जैसे काली, चितकबरी, खाँडी, मुण्डी आदि सभी गायो में गोत्व सामान्य विद्यमान है । "परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ।" पूर्व और उत्तर पर्याय में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं जैसे—स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायों में मिट्टी व्याप्त रहती है, यहाँ मिट्टी रूप द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य है । अथवा महा सत्ता और अवातर सत्ता के भेद से भी सत् सामान्य के २ भेद है ।

"सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणतपज्जाया ।
भगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥ पचास्तिकाय गाथा ८ ॥

अर्थ—सत्ता एक है, वह सब पदार्थो में वर्तमान है, विश्व रूप है, अनन्त पर्याय वाली है, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है और अपने प्रतिपक्षी से सहित है ।

इस प्रकार से समस्त पदार्थो मे रहने वाली सत्ता को महासत्ता कहते है और प्रत्येक वस्तु की पृथक्-पृथक् सत्ता अवातर सत्ता कहलाती है । मतलब यह है कि जब हम सत्सामान्य को व्यापक दृष्टि कोण से देखते है तब सभी पदार्थ सत् रूप ही प्रतीत होते है यही महासत्ता हे । जब प्रतिनियत वस्तु के अस्तित्व को देखते है तब यह सत्ता अवातर सत्ता कहलाती है ,

विशेष के भी दो भेद है—"पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥"

पर्याय और व्यतिरेक ।

पर्याय विशेष का लक्षण—

"एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत्" ॥८॥

अर्थ—एक ही द्रव्य मे क्रम से होने से परिणामों को पर्याय कहते है । जैसे कि आत्मा में हर्ष और विषाद आदि परिणाम । व्यतिरेक का लक्षण—

"अर्थांतरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्" ॥ ९ ॥

अर्थ—एक पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते है जैसे कि गो से महिष मे एक विलक्षण -- भिन्न ही परिणमन देखा जाता है ।

यहाँ तक जैनो की मान्यता रखी गयी है अब इन सामान्य और विशेष में जो अन्य मतावलंबी बौद्ध, नैयायिक और मीमासक (भाट्ट) विसंवाद करते है उन पर विचार किया जा रहा है ।

बौद्ध वस्तु में सामान्य धर्म को नहीं मानते है उनका कहना है कि सामान्य और विशेष दोनों एक

ही इन्द्रिय से जाने जाते है अत: इनमें अभेद है। सामान्य काल्पनिक—संवृत्ति सत्य है, अनुमानका विषय है, आरोपित धर्म मात्र है और विशेष वास्तविक है, निर्विकल्प बुद्धि में झलकता है, वह क्षणवर्ती पर्यायमात्र है।

इस पर जैनाचार्य कहते है कि यदि एक इन्द्रिय से गम्य होने से सामान्य और विशेष में अभेद मानोगे तब तो वायु और आतप भी एक स्पर्शन इन्द्रिय से गम्य है इन्हे भी एक ही मानो। देखो! दूर से वस्तु का सामान्य धर्म ही झलकता है। किसी पुरुष या स्थाणु विशेष को दूर से देखने पर उसकी ऊंचाई मात्र से सामान्य ही झलकता है। विशेष रूप वक्र कोटर आदि या शिर, हाथ, पैर आदि नहीं झलकते है। वैसे ही निकट में भी "यह भी गो है, यह भी गो है"। इस प्रकार से ५० गायो में भी एक गोत्व सामान्य दिख रहा है। सभी गायो में या सभी पुस्तको मे गोत्व या पुस्तकत्व सामान्य रूप से जो अन्वय ज्ञान है वह सामान्य के बिना नही हो सकता है। उसी प्रकार से यह राजवार्तिक है, श्लोकवार्तिक या अष्टसहस्री नही है, यह व्यावृत्त ज्ञान भी विशेष धर्म को माने बिना असभव है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में विशेष मात्र झलकता है यह बात प्रतीति विरुद्ध है। क्योंकि न निर्विकल्प ज्ञान ही सिद्ध है और न एक क्षणवर्ती पर्याय रूप आप बौद्धों का माना हुआ विशेष ही सिद्ध है। किन्तु सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही ज्ञान का विषय है।

नैयायिको के द्वारा मान्य सामान्य नित्य एव सर्वगत है तथा निरश है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि पहली बात तो यह है कि सर्वथा नित्य सामान्य मे अर्थक्रिया असंभव है। दूसरी बात यह है कि यदि सामान्य सर्वगत है तो व्यक्ति-व्यक्ति—विशेष-विशेष मे पृथक्-पृथक् कैसे रहेगा? वह सामान्य तो उन अतरालो मे भी दीखना चाहिए। तथा यदि वह सामान्य एक है तो एक गो के मर जाने पर उसका गोत्व सामान्य कहाँ जावेगा, क्या नष्ट हो जावेगा? अनेक आपत्तियां आ जावेगी। यदि सामान्य सर्वगत है तो अकेला ही सर्वत्र अन्वय रूप अपना ज्ञान करायेगा अथवा व्यक्ति कर सहित होकर करावेगा? यदि अकेला ही करायेगा तो व्यक्तियो के अतराल में भी "गो है, गो है" ऐसा अनुगत ज्ञान होना चाहिए। यदि व्यक्ति सहित सामान्य, अन्वय ज्ञान करायेगा तब तो सभी व्यक्तियो को जान लेने पर उनका ज्ञान करायेगा या बिना जाने ही? यदि जान कर कहो तो असभव है क्योंकि असर्वज्ञ जनो को सपूर्ण अनत विशेषों का ज्ञान होना शक्य ही नही है। यदि बिना जाने कहो तो एक व्यक्ति को जानते ही उसमें "यह गाय-है, यह गाय है" ऐसा अन्वय होना चाहिए किन्तु होता नही है। जब गोत्व एक है तब एक गाय में तो हो और बीच में न होकर दूर खड़ी हुई दूसरी गाय में भी हो, इस प्रकार अनेकों गायों में अंतरालों को छोड़कर वह गोत्व सामान्य होवे फिर भी एक ही माना जावे यह बात असभव है। अत: एक अकेला सामान्य सर्वगत है निष्क्रिय है। पुन: एक को छोड़कर जब दूसरे में जाने लगेगा तो पहली गो सामान्य रहित हो जावेगी तथा वह सामान्य निष्क्रिय न होकर क्रियाशील हो जावेगा। इसलिए नैयायिक का सामान्य एक, सर्वगत, नित्य और निष्क्रिय रूप सिद्ध नही होता है।

मीमासक भाट्ट सामान्य-विशेष में सर्वथा तादात्म्य मानते है किन्तु यह मान्यता भी असंभव है यदि

दोनो का सर्वथा तादात्म्य होगा तब तो एक विशेष रूप व्यक्ति के नष्ट होने पर सामान्य भी नष्ट हो जावेगा पुन: वह सामान्य असाधारण नही रहेगा । आप भाट्ट भी नैयायिक के समान ही सामान्य को एक, निरंश, नित्य और सर्वगत स्वीकार करते हो तब तो सबसे बडी आपत्ति यह है कि आपका निरंश सामान्य कही जा नही सकता । पहले के पकडे हुए विशेष अश को छोडता नही, कही से आता नही, पहले से रहता नही, ऐसा विचित्र सामान्य क्या वस्तु है ? समझ में नही आता है । यहाँ मध्य में ही उद्योतकर नामक आचार्य कहते है कि गायो मे गोत्व ज्ञान गोपिडसे न होकर किसी भिन्न ही नित्य, सर्वगत सामान्य से होता है । यह गोत्वादि सामान्य गायो से भिन्न ही है । इस पर जैनाचार्य कहते है कि यह मान्यता बिल्कुल गलत है देखो ! अनेक गायो में गोत्व सामान्य ज्ञान सदृश परिणाम निमित्तक ही है । वह गायों से भिन्न नही है क्योकि सामान्य और विशेष दोनो ही धर्म वस्तु में ही पाये जाते है। वृक्षो मे वृक्षत्व सामान्य है वह अनत वृक्षो मे व्याप्त है एव आम, नीम, अशोक आदि विशेष धर्म है वे विशेष धर्म एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को पृथक् करा देते है अन्यथा अशोक की छाल लेकर औषधि बनाने वाला व्यक्ति आम की छाल को ले आवेगा, किन्तु ऐसा है नही । अत सामान्य विशेष एक तादात्म्य रूप भी नही है । इसका और विशेष स्पष्टोकरण "प्रमेयकमल मार्तंड" से समझ लेना चाहिए । निष्कर्ष यह निकला कि भाट्टो के द्वारा मान्य "करोतिसामान्य" अनित्य, अनेक, असर्वगत और साश—अवयवो से सहित है । जैसे कि यजन, पचन आदि विशेष उसी भाट्ट के द्वारा मान्य अनित्य, अनेक, असर्वगत, अश सहित है उसी प्रकार से करोति सामान्य भी एक आदि रूप सिद्ध न होने से वेदवाक्य का अर्थ नही है । जिसको आप भावनावाद के नाम से स्वीकार करते है वह आपका सिद्धात सिद्ध नही होता है ।

भावनावाद के खण्डन का सारांश

भावनावादी भाट्ट कहते है कि सर्वत्र भावना ही वेदवाक्य का अर्थ प्रतीति मे आ रहा है भावना के २ भेद है-शब्द भावना और अर्थ भावना । शब्द के व्यापार को शब्द भावना कहते है "अग्निष्टोमेन" इत्यादि के द्वारा पुरुष का व्यापार होता है । उस पुरुष के व्यापार से धातु का अर्थ सिद्ध होता है और उसमे फल होता है अर्थात् पुरुष के व्यापार मे शब्द का व्यापार है तथा धात्वर्थ में पुरुष का व्यापार है वही भावना है, धातु का शुद्ध अर्थ भावना नही है अन्यथा विधि ही अर्थ हो जावेगा ।

क्योकि "धात्वर्थ. केवल शुद्धो भाव. इत्यभिधीयते" सत्ता को धातु अर्थ कहने पर वह सत्ता ही परब्रह्म स्वरूप है नियोगवादी ने इस विधिवाद का खण्डन कर ही दिया है अतः वह सन्मात्र अर्थ प्रतीति में नही आता है । किन्तु सकल व्यापिनी "करोति" क्रिया लक्षण वाली क्रिया सभी धातुओ मे सभव है वही सर्वव्यापिनी क्रिया भावना है "पचति, पपाच, पक्ष्यति" इन क्रियाओ में भी 'पाकं करोति' इत्यादि अर्थ ही व्याप्त है अतः "करोति" क्रिया का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है । वह "करोति" क्रिया का अर्थ सामान्य

रूप है और यज्यादि उसके विशेष रूप हैं यह सामान्य क्रिया कर्त्ता के व्यापार रूप है इसे ही अर्थ भावना कहते हैं, शब्द का व्यापार भावना है वह पुरुष के व्यापार को कराती है अतः वह भावना ही वेदवाक्य का विषय है।

इस पर जैनाचार्य कहते है कि—यदि शब्द का व्यापार ही शब्द भावना है तो शब्द से उसका व्यापार भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो वाच्य कैसे होगा ? एक अनश में वाच्य-वाचक भाव सभव नही है यदि कहो कि शब्द अपने स्वरूप को भी श्रोत्रेन्द्रिय से बता देता है जैसे कि वह अपने व्यापार से बाह्य पदार्थ को बताता है तब तो रूपादि भी अपने विषय को बताने वाले होने से भावना बन जावेगे।

यदि शब्द से उसका व्यापार भिन्न मानों तो शब्द के साथ उसका सम्बन्ध कैसे होगा ? एव पुरुष व्यापार लक्षण अर्थ भावना भी मानना ठीक नही है अन्यथा "नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन' इस प्रकार से नियोग वेदवाक्य का अर्थ सिद्ध हो जावेगा वह भी पुरुष के व्यापार रूप है। यदि आप कहो "सकल यज्यादि क्रिया विशेष" में व्यापी "करोति" सामान्य नित्य है वही शब्द का अर्थ है। क्योकि "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धा." ऐसा वाक्य पाया जाता है किन्तु यज्यादि क्रिया विशेष वेद के अर्थ नही हैं क्योंकि वे अनित्य है। यदि ऐसा कहो तब तो भवन क्रिया रूप सत्ता सामान्य भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावे क्योकि वह तो करोति क्रिया में भी व्यापक है वह महा क्रिया सामान्य है क्योंकि "पचति, पाचको भवति" इत्यादि से भवति क्रिया ही सर्वव्यापक है।

भाट्ट—निर्व्यापार, निष्क्रिय वस्तु में भी 'भवति' क्रिया का अर्थ देखा जाता है इसलिए वह क्रिया स्वभाव नही है अन्यथा निष्क्रिय गुणादिको में सत्त्व का अभाव हो जावेगा।

जैन—यह कथन ठीक नही है, क्योकि परिस्पदात्मक व्यापार से रहित में भी करोति क्रिया का अर्थ विद्यमान है 'तिष्ठति, स्थान करोति' ऐसी प्रतीति आती है अत करोति क्रिया सामान्य, नित्य, निरश एक और सर्वगत है यह बात असभव है, आप कहे कि 'करोतिसामान्य' नित्य है क्योकि उसका प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है। किन्तु यह प्रत्यभिज्ञान हेतु तो कथचित् नित्य को ही सिद्ध करता है सर्वथा नित्य को नही, एव वह करोति सामान्य एक न होकर अनेक है क्योकि वह 'करोति' अर्थ व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति व्याप्त होने से अनेक है। अनश भी नही है क्योकि अश सहित रूप प्रतीति है, तथा सर्वगत भी नही है क्योकि व्यक्ति-व्यक्ति के अतरालो मे दिखता नही है। अतः आप भाट्ट के द्वारा स्वीकृत नित्य, निरश, एक सर्वगत स्वभाव रूप 'करोति सामान्य' हो नही सकता जो कि सम्पूर्ण यज्यादि क्रियाओ में व्यापी कर्त्ता के व्यापार रूप 'भावना' इस नाम को प्राप्त कर सके और वेदवाक्य का अर्थ हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है। अतः भावनावादी की मान्यता भी श्रेयस्कर नही है।

❖

विशेष सूचना

पृष्ठ २१ से १६७ तक नियोगवाद, विधिवाद एवं भावनावाद का विषय अतीव क्लिष्ट एवं नीरस होते हुए भी भावार्थ-विशेषार्थ के द्वारा सरल बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया।

अब आगे पृष्ठ १६६ से अपौरुषेय वेद खंडन, चार्वाक मत खंडन आदि का सरल एवं मधुर प्रकरण प्रारम्भ हो रहा है।

[अत्रपर्यंत जैनाचार्यैर्भावनावादो निराकृतोऽधुना वेदस्यापौरुषेयत्व निराक्रियते]

इति [1]श्रुति[1]सम्प्रदायावलम्बिना मतेऽत **एव[2] न कश्चित्सर्वज्ञ [2]इत्ययुक्तं, श्रुतेर-विशेषादप्रमा[3]णतापत्तेः** । इति सूक्तं "[4]यथैव हि सुगतादयः परस्परविरुद्धक्षणिकनित्याद्ये-कान्तसमयाभिधायिनः सर्वे न सर्वदर्शिन इति न कश्चित्सर्वज्ञस्तथा श्रुतयोपि [3]परस्परविरुद्ध-कार्यार्थ[4]स्वरूपा[4]द्यर्थाभिधायिन्यः सर्वा न प्रमाणभूताः"। [5]इति न काचिदपि श्रुतिः प्रमाणं स्यात् । न हि कार्येऽर्थे श्रुतिरपौरुषेयी, न पुनः [6]स्वरूपे, येनापौरुषेयत्वात्तदन्यतर-[4]श्रुतिजनितमेव ज्ञान प्रमाणं दोषवर्जितैः [5]कारणैर्जनितत्वादुपपद्येत । [6]बाध[10]वर्जितत्वं[11] तु [12]नैकत्राप्यस्ति हिंसाद्यभिधायिनः "श्वेतमजमालभेत[7] भूतिकामः[8]" [13]इत्यादेः[9] "सधनं

[जैनाचार्य वेद को अपौरुषेय एवं प्रमाण मानने का खण्डन करते है]

मीमांसक—इस प्रकार से श्रुति—वेद सप्रदाय का अवलबन लेने वालों के मत—सिद्धांतो में **इसीलिए सवज्ञ नहीं है अर्थात् तीर्थंकरत्व लक्षण हेतु सुगत आदिकों में चला जाने से अनैकांतिक है इस कारण ही कोई सवज्ञ नहीं है ।**

जैन—यह आप मीमांसक का कथन सर्वथा ही अयुक्त है क्योंकि वेद भी परस्पर विरुद्ध अर्थ को कहने वाले होने से अप्रमाण ही हैं ।* इसलिए बिल्कुल ठीक ही कहा है कि—

"जिस प्रकार से सुगत आदि परस्पर विरुद्ध क्षणिक, नित्यादि एकात समय—मत को कहने वाले है अतः वे सभी सर्वदर्शी—सर्वज्ञ नही है इसलिए कोई सर्वज्ञ नही है । उसी प्रकार से वेद भी परस्पर विरुद्ध कार्य स्वरूप- नियोग, विधि आदि अर्थ को कहने वाले होने से वे भी सभी प्रमाणभूत नही है ।"

इसलिए कोई भी वेद प्रमाणीक नहीं है ।उसी का और भी स्पष्टीकरण करते है ।

'कार्य अर्थ मे श्रुति अपौरुषेय है, किन्तु ब्रह्म स्वरूप मे नही है' ऐसा भी आप नही कह सकते कि जिससे "अपौरुषेय होने से" इस हेतु से किसी एक वेद से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही दोषों से रहित कारणों से अपौरुषेय वेदवाक्यो से उत्पन्न होने से प्रमाण हो सके, अर्थात् नही हो सकता है । हिसादि का कथन करने वाले वेदवाक्यों मे से किसी एक वेद वाक्य मे भी "बाधा से रहितपना रूप हेतु" नही है । "श्वेत-मजमालभेत भूतिकाम" विभूति की इच्छा करता हुआ मनुष्य श्वेत बकरे को मारे "इत्यादि वेदवाक्य"

१ इत कारिकार्थमाहुराचार्या । २ मीमासकेनोक्तम् । ३ परस्परविरुद्धार्थाभिधायित्वेन । ४ सूक्त भावयति । ५ स्वरूपो नियोग । ६ आदिना विध्यादिग्रह । ७ हेतो । ८ अपौरुषेयवाक्यै ९ ब्रह्मस्वरूपे । १० तदेव दर्शयति । ११ श्रुतेः । १२ वचसि (कार्येऽर्थेस्वरूपे वा) । १३ वाक्यस्य ।

(1) वेद । (2) तीर्थंकरत्वलक्षणस्य साधनस्य सुगतादिभिरनैकांतिकत्व यत. । (3) परस्परविरुद्धकार्यस्वरूपाद्यर्था-इति पा । (4) प्रतिपादक । (5) अपौरुषेयवाक्यै. । (6) तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जित । अदुष्टकारणारब्ध प्रमाण लोकसम्मत ॥ (7) हन्यात् । (8) ऐश्वर्य । (9) अपौरुषेयवाक्यस्य ।

हन्यात्[1] "इत्यादेरिव [2] धर्मे [3]प्रमागात्वानुपपत्तेः, 'पुरुषाद्वैताभिधायिनश्च "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"

"सधनं हन्यात्" धन सहित को मारे। इत्यादि वचन के समान ही होने से धर्म में प्रमाण नहीं है। अर्थात् "सधन हन्यात्" यह खारपटिक जनों का सिद्धान्त है वह प्रमाण नहीं है इसका विशेष विवरण श्लोकवार्तिकालंकार में है।

विशेषार्थ—अन्य लोगों के प्रमाण का लक्षण है कि—"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितं। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसंमतं॥"

इस प्रमाण के लक्षण में "बाधा से रहित होना" "अदुष्टकारणों से उत्पन्न होना" आदि जो हेतु दिये गये हैं वे घटित नहीं होते हैं। ऐसा श्लोक वार्तिक ग्रंथ प्रथम खण्ड पेज ११४ में कहा है। यथा "खरपट मत" के शास्त्रों में लिखा है कि स्वर्ग का प्रलोभन देकर जीवित ही धनवान को मार डालना चाहिए। एतदर्थ काशीकरवत, गंगा प्रवाह, सतीदाह आदि कुत्सित क्रियायें उनके मत में प्रकृष्ट मानी गई हैं। किन्तु हम और आप मीमांसक लोग उक्त खरपट के शास्त्रों को रागी, द्वेषी अज्ञानी वक्ता रूप दुष्टकारणों से जन्य मानते हैं अतः वे अप्रमाण हैं। "नाग्निहोत्रं स्वर्गसाधनं हिंसाहेतुत्वात् सधनवधवत्। सधनवधो वा न स्वर्गसाधनस्तत एव अग्निहोत्रवत्।" आप मीमांसक के यहाँ अग्नि होत्र-यज्ञ स्वर्ग का साधन नहीं है क्योंकि हिंसा का हेतु है जैसे कि खारपटिक मत में धनवान का वध कर देना स्वर्ग का हेतु माना गया है। अथवा धनसहित का वध स्वर्ग को देने वाला नहीं है क्योंकि वह हिंसा का हेतु है जैसे कि अग्नि होत्र-यज्ञ। जैनाचार्य के इस कथन पर मीमांसक कहता है कि "विधिपूर्वकस्य पश्वादिवधस्य विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वाभावात् असिद्धो हेतुरिति चेत्, तर्हि विधिपूर्वकस्य सधनवधस्य खारपटिकानां विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वं मा भूदिति सधनवधात् स्वर्गो भवतीति वचनं प्रमाणमस्तु"। अर्थात् क्रियाकाण्ड विधान करने वाले शास्त्रों में लिखी गई वैदिक विधि के अनुसार किया गया पशुओं का वध तो शास्त्रोक्त क्रियाओं का ही अनुष्ठान है वह लौकिक हिंसा का कारण होकर पाप को पैदा करने वाला नहीं है अतः आप जैनों का "हिंसाहेतुत्वात्" हेतु असिद्ध है हमारे अग्निहोत्र रूप पक्ष में नहीं जाता है। यदि मीमांसक का ऐसा कहना है तो इस पर पुनः जैन कहते हैं कि खरपट मतानुसायायियों ने धनवान को विधिवत् मार डालने का विधान भी शास्त्रोक्त क्रिया का अनुष्ठान माना है अतः विधिवत् धनी का मार डालना भी हिंसा का हेतु न होवे और पुनः सधनवध के प्रतिपादक शास्त्र भी आप मीमांसकों को प्रमाणीक मानना चाहिए।

अनेक पुरुषों का ऐसा भी कहना है कि संसार में प्रायः धनवान पुरुष ही अधिक अनर्थ करते हैं हिंसा झूठ आदि पाप, जुआ मांस आदि दुर्व्यसन करते हैं, विधवा अनाथ, दीन गरीब आदि को दुःखी

१ [जैनो नैकत्रापि बाधवर्जितत्वं प्रदर्शयितुं हेत्वन्तरमाह]।

(1) लौकिकवाक्यस्य। (2) खारपटिकमित्यस्यायं प्रसंगः श्लोकवार्तिकालंकारे दृष्टव्यः। (3) कार्येर्थे दूषणं।

इत्यादेः[1] "सर्वं 'प्रधानमेव" इत्यादेरिव स्वविषये प्रमाणत्वायोगात् । 'अपूर्वार्थत्व[2] पुनः

करते हैं, धन के मद में अंधे होकर अनेको कुकृत्य कर डालते है अत: उनके मार देने से लोक के अनेक पापाचार दूर हो जावेगे एव सज्जनों के बचे रहने से वात्सल्य प्रेम आदि बढ़ेगे अत. धनिको का वध भी कर्त्तव्य रूप है जैसे कि होम में पशुओ को हवन करना कर्त्तव्य रूप है इन दोनों मे कोई अतर नही है। इस पर पुन. मीमासक कहता है कि वेद में लिखी हुई हिंसा को करने से या युद्ध में मरने से अवश्य ही स्वर्ग मिलता है, किन्तु खरपट के यहा कही गई हिंसा से स्वर्ग नही मिलता है। आचार्य कहते है इस प्रकार से आप के कहने में कोई प्रमाण नही है, दोनो ही समान रूप से हिंसा के कारण है अत: या तो दोनों ही प्रमाण होंगे, अथवा दोनो के ही कथन अप्रमाण हो जावेगे। इस पर पुनः मीमांसक कहता है कि कल्याण की इच्छा करने वालो के द्वारा यज्ञ किए जाते है अत वे यज्ञ श्रेयस्कर है किंतु सधनवध उससे विपरीत होने से श्रेयस्कर नही है। एव 'यज्ञ'धर्म शब्द से कहा जाता है जो यज्ञ करता है वह "धार्मिक" कहलाता है। आचार्य कहते है आपका यज्ञ भी सुगत जैन आदिको के द्वारा अधर्म शब्द से भी कहा जाता है। एवं सधन वध भी खारपटिक और हिंसक जनो के द्वारा धर्म कहा जाता है। एवं लोक गर्हितपना दोनों में भी समान है अत. सधन वध और अग्नि होत्र दोनो ही समान है। बाध वर्जित हेतु से रहित है, अत: अप्रमाण है। ऐसा समझना चाहिए। इसका विशेष स्पष्टीकरण श्लोकवार्तिकालकार प्रथम पुस्तक में देखिये।

पुरुषार्थ सिद्धय्युपाय में अमृतचंद सूरि ने भी कहा है कि—

"धनलवलपिपासिताना विनेयविश्वासनाय दर्शयितां।
झटिति घटचटकमोक्ष श्रद्धेय नैव खारपटिकानां ॥८८॥

अर्थ—थोड़े से धन के प्यासे और शिष्यो को विश्वास करने के लिए दिखलाने वाले शीघ्र ही घड़े के फूटने मे चिडियो के मोक्ष के समान मोक्ष का श्रद्धान नही करना चाहिए। कत्थे के रग के कपड़े पहनने वाले एक प्रकार के सन्यासी खारपटिक है वे लोग घट के फूटने से चिडियों के उड जाने के समान ही शरीर के छूट जाने को ही मोक्ष कहते है। अतएव इन लोगों ने सधनवध आदि कारणो से शरीर के नष्ट हो जाने से सुख की प्राप्ति मान ली है ऐसा मालूम पड़ता है।

और पुरुषाद्वैत को कहने वाले "सर्व वै खल्विद ब्रह्म" इत्यादि वाक्य "सर्व प्रधानमेव" इत्यादि के समान ही अपने विषय को बतलाने में प्रमाण नही हैं।

अर्थात् जैसे साख्य कहता है कि सभी जगत प्रधान रूप है वैसे ही वेदवाक्य कहते हैं कि सभी जगत परम ब्रह्म रूप ही है जैसे आप सांख्य के कथन को अप्रमाणीक कहते हो तथैव आपके वेद वचन भी

१ साङ्ख्यमते सर्वं प्रधानमेव। २ अपूर्वार्थग्राहित्वम्।

(1) संप्रदायस्य। (2) धर्मादौ परब्रह्मादौ प्रत्यक्षादिकं न प्रवर्तते अतएव श्रुतेरनधिगतार्थाधिगतृत्वं। भट्टप्रतिपादितं।

अप्रमाणीक ही हो जाते हैं।

विशेषार्थ—साख्य ने मूल में दो तत्त्व माने है एक प्रकृति दूसरा पुरुष। प्रकृति को वे अचेतन या जड़ मानते है और पुरुष को चेतन। प्रकृति से महान् उत्पन्न होता है। (सृष्टि से लेकर प्रलय काल तक स्थिर रहने वाली बुद्धि को महान् कहते है) महान् से अहकार उत्पन्न होता है। अहकार से सोलह गण पैदा होते हैं (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाच ज्ञानेन्द्रिया, वचन, हस्त, पाद पायु—मल द्वार और उपस्थ—मूत्रद्वार ये पाच कर्मेन्द्रिया, मन तथा स्पर्श, रस, गध, रूप और शब्द ये पाच तन्मात्रायें ये सोलह गण कहलाते है) इन सोलह गण के अन्तर्गत जो पाच तन्मात्राये है उनसे पचभूत उत्पन्न होते है।

अर्थात् शब्द से आकाश उत्पन्न होता है अत. उसमें एक शब्द गुण पाया जाता है। शब्द सहित स्पर्श से वायु उत्पन्न होती है अत. वायु मे शब्द और स्पर्श पाये जाते है। शब्द, स्पर्श से सहित रूप से अग्नि उत्पन्न होती है अत. उस अग्नि मे शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण पाये जाते है। शब्द, स्पर्श और रूप से सहित रस से जल बनता है। अतः जल में ये चारों गुण पाये जाते है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस से सहित गध से पृथिवी उत्पन्न होती है अत. पृथ्वी मे ये पाचो गुण पाये जाते है। प्रकृति से लेकर पचभूत तक ये २४ तत्त्व अचेतन है एव एक पुरुष तत्त्व चेतन है। प्रकृति इस सपूर्ण सृष्टि को करने वाली है और पुरुष उसका भोक्ता है। इस प्रकृति का दूसरा नाम प्रधान भी है। सृष्टि के प्रारम्भ काल में प्रधान अपने भीतर से ही सारे ससार को उत्पन्न करता है और प्रलय काल मे सारे ससार को अपने भीतर ही प्रलय रूप से समाविष्ट कर लेता है। यह प्रधान स्वय किसी से उत्पन्न नही होता है अत अजन्मा है। इसका मूल स्वरूप किसी के दृष्टिगोचर नही है अतः यह अव्यक्त है और इसके कार्य दृष्टि गोचर होते हैं अतः इसे ही व्यक्त भी कहते है। पुरुष को छोडकर शेष समस्त तत्त्वो को (विश्वको) उत्पन्न करने में यह प्रमुख कारण है अतएव यह प्रधान कहलाता है। पुरुष इससे विपरीत स्वभाव वाला है सत्त्व, रज, तम आदि तीन गुणों से रहित है, अन्य-प्रधान को विषय करने वाला चेतन है, प्रधान तो एक है, किन्तु पुरुष अनेक हैं।

प्रधान अचेतन है, सामान्य है। पुरुष चेतन है, कूटस्थ नित्य है, चेतना गुण का अनुभव करने वाला है, ज्ञान से शून्य है, ज्ञान तो प्रधान का धर्म है। जब तक पुरुष के साथ प्रधान का ससर्ग है तभी तक वह पुरुष ज्ञानी दीखता है।

कार्यों के एक रूप अन्वय देखे जाने से तथा महत् आदि भेदो का परिणाम पाये जाने से उन कार्यों का एक प्रधान कारण से उत्पन्न होना सिद्ध है जैसे घट, घटी, सराव, उदञ्चन आदि में मिट्टी एक अन्वय रूप से मौजूद है उसी प्रकार से महान् अहकार आदि कार्यों मे—सारे सृष्टि रूप जगत में एक प्रधान का ही अन्वय पाया जाता है अत. यह सारा जगत प्रधानात्मक ही है। साख्य ने उत्पाद और विनाश को भी नही माना है क्योंकि यह कूटस्थ नित्यैकान्तवादी है। उसका कहना है कि वस्तु में जो उत्पाद, विनाश

सर्वस्याः श्रुतेरविशिष्टं, [1]प्रमाणान्तराप्रतिपन्ने धर्मादौ परब्रह्मादा च प्रवृत्तेः ।

दिखता है वह केवल आविर्भाव, तिरोभाव रूप है न कोई वस्तु नष्ट हुई है, न उत्पन्न हुई है, मृत्पिंड से घड़ा नही बना है किन्तु मिट्टी में घडा सदैव विद्यमान था कुम्हार चाक आदि व्यञ्जक कारणों से मिट्टी में घट प्रकट हो गया है, पहले मिट्टी में तिरोभूत था। अतएव यह साँख्य प्रागभाव, प्रध्वसाभाव को भी नही मानता है जिसका आगे कारिका १० वीं ११ वी में अच्छा निराकरण किया गया है। अत: यहाँ जैनाचार्यो का यही कथन है कि जैसे आप "सर्व वै खल्विदं ब्रह्म" कहते हो वैसे ही सांख्य सारे विश्व को प्रधानात्मक कहते है पुन. आप उनके भी सिद्धात को प्रमाण क्यो नही मानते हैं ? आप जिन-जिन हेतुओं से उनके प्रधान तत्त्व को दूषित करेंगे हम जैन भी उन्ही-उन्ही हेतुओ से आपके ब्रह्मवाद को भी दूषित कर देंगे। यदि आप आगम प्रमाण से अपनी मान्यता सिद्ध करेंगे तो वे साँख्य भी अपने आगम को प्रमाण मानकर अपनी मान्यता पुष्ट करेंगे। अत: या तो आप और साँख्य इन दोनो के वचन भी प्रमाणिक माने जाने चाहिए या तो दोनों के वचनों को अप्रमाणिक कहना चाहिए क्योकि और तो कोई उपाय है नही ।

मीमांसक—पुन सभी वेद अपूर्वार्थ को ही विषय करते है अत समान है प्रमाणातर से नही जाने गये धर्मादि और पर-ब्रह्मादि मे उनकी प्रवृत्ति है। अर्थात् धर्म अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थो को और परम-ब्रह्म को अन्य प्रमाण नही बता सकते है ये वेदवाक्य ही इनका ज्ञान कराते है अत. प्रत्यक्षादि प्रमाणो की धर्मादि मे एव ब्रह्मा आदि में प्रवृत्ति नही होती है। इसीलिए ये वेद "अनधिगत"—पूर्व मे नही जाने गये अर्थ का ज्ञान कराने वाले होने से प्रमाण है क्योकि भाट्ट ने प्रमाण का लक्षण यही माना है।

विशेषार्थ—"अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायक प्रमाण" (न्यायदीपिका पृ. १२३) इस प्रकार से भाट्टों ने प्रमाण का लक्षण माना है वे कहते है कि यह लक्षण मीमासक के एक भेद रूप हम भाट्टो के यहा अपौरुषेय वेद मे पाया जाता है क्योंकि धर्मअधर्म और परमब्रह्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण नही बता सकते है किन्तु ये वेद उनको भी बता देते है अत: हमारे वेद पूर्व में नही जाने गये अपूर्वार्थ को ही विषय करने वाले है और ये वेद अपौरुषय होने से प्रमाण है। ऐसा सर्वज्ञ का अभाव करने वाले मीमाँसक स्वीकार करते है। इस कथन पर जैनाचार्यो ने इस भाट्ट द्वारा मान्य प्रमाण के लक्षण का न्यायदीपिका मे सुन्दर खण्डन किया है आचार्य कहते है कि आप भाट्ट—मीमासको का यह प्रमाण का लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है क्योकि आपके द्वारा ही प्रमाण रूप से मान्य धारावाहिक ज्ञान अपूर्वार्थ ग्राही नही है। "यह घट है, यह घट है, यह घट है" इत्यादि रूप से जाने हुए को जानते बैठना धारावाहिक ज्ञान का लक्षण है। भाट्ट कहता है कि धारावाहिकज्ञान भी अगले-अगले क्षण से सहित अर्थ को ही विषय करते है अत: अपूर्वार्थ विषयक ही है। इस पर आचार्य कहते हैं कि क्षण

(1) प्रत्यक्षादि ।

[कानिचित् वेदवाक्यानि स्वयं स्वस्यार्थं न प्रतिपादयन्त्यतः वेदस्य प्रामाण्यं न सिद्धयति]

[1]न च काचिच्छ्रुतिः[2] स्वयं स्वार्थं प्रतिपादयत्यन्य[1]व्यवच्छेदेन कार्ये एवार्थे [3] अहं प्रमाणं न स्वरूपे; स्वरूपे एव वा न कार्येऽर्थे सर्वथेत्यविशेषः सिद्धः[2]। [4]ननु[3] च "पदानि[4]

अत्यन्त सूक्ष्म हैं उनको लक्षित करना—जानना संभव नहीं है अतः धारावाहिकज्ञानों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति निश्चित है।

[कोई भी वेद वाक्य स्वयं अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। अतः वेद की प्रमाणता सिद्ध नहीं होती है]

जैन—कोई वेद चाहे विधि अर्थ ग्राही हो चाहे नियोग या भावना अर्थ ग्राही हों वे वेद **स्वयं अन्य का व्यवच्छेद** करके अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं।

"कार्य-नियोग" अर्थ में ही मैं—वेद प्रमाण हूं स्वरूप में नहीं, अथवा स्वरूप अर्थ में ही मैं प्रमाण हूं कार्य अर्थ में सर्वथा नहीं। इस प्रकार से वेद वाक्य स्वयं अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। अतः सभी की मान्यता में वे अविशेष-समान रूप से सिद्ध हैं।

विशेषार्थ—वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में प्रमेयरत्न माला में भी बहुत ही सरल एवं सुन्दर विवेचन है। "प्रवाहनित्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वं" मीमांसकों ने प्रवाह की नित्यता से वेद को अपौरुषेय माना है। इस पर जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि आप मीमांसक सभी शब्दों को अनादि नित्य मानते हो या कुछ वेद विशिष्ट शब्दों को ही अनादि नित्य मानते हो यदि सभी को अनादि नित्य कहो तो जो शब्द लौकिक हैं वे ही वैदिक हैं,पुनः वेद ही अपौरुषेय है, लौकिक या कृत्रिम शास्त्रादि के शब्द अपौरुषेय नहीं है यह आपने कैसे कहा? आप तो अपनी मान्यतानुसार संसार के सभी सच्चे झूठे जैन, बौद्धआदि शास्त्रों को अपौरुषेय मानकर सच्चे कहो। यदि आप यह पक्ष न लेकर विशिष्ट आनुपूर्वी से आये हुए विशिष्ट वैदिक शब्दों को ही अनादि नित्य कहो, तब तो हम पुनः प्रश्न करते हैं कि जिन शब्दों का अर्थ जान लिया है उनको अनादिता है या जिनका अर्थ नहीं जाना है उनको? इसमें यदि दूसरा पक्ष लेवो तब तो आपको अज्ञान रूप अप्रमाणता ही रही। यदि प्रथम पक्ष लेवो, तब हम पुनः प्रश्न करते हैं कि उन वेदों के व्याख्यान करने वाले अल्पज्ञ है या सर्वज्ञ? सर्वज्ञ रूप दूसरा पक्ष तो आपको अनिष्ट ही है एवं अल्पज्ञ को वेद का व्याख्याता मानने से तो अन्यथा विपरीत अर्थ की भी संभावना हो सकती है।

अयमर्थो नायमर्थ इति शब्दा वदंति न। कल्प्योऽयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिविप्लुताः ॥

अर्थ—"मेरा यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है" इस प्रकार से शब्द तो स्वयं बोलते नहीं हैं। शब्दों का यह अर्थ तो पुरुषों के द्वारा ही कल्पित किया जाता है। और पुरुष रागादि दोषों से दूषित होते हैं

---

१ पराभिप्रायं निराकरोति जैनः। २ विधिग्राहिणी नियोगग्राहिणी वा। ३ श्रुतिः। ४ मीमांसकः।

(1) स्वरूप। (2) श्रुतेरविशेषादप्रमाणतापत्तेरित्यत्र भाष्येऽविशेषपदं व्याख्यातं। (3) श्रुतेः स्वयमेवान्यव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादनं युक्तमित्याह परः। यथा घटशब्दः पटस्य व्यवच्छेदने पृथुबुध्नोदराकारे घटस्वरूपे प्रवर्तते तथा वेदवाक्यमिति शंकामनूद्य वदति। (4) पचति भवतीत्यादीनि।

तावल्लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि तेष्वेव वेदे, [1]तेषामध्या[2]हारादिभिर[3]र्थस्यापरिकल्पनीयत्वादपरिभाषितव्यत्वाच्च[3] । सति [4]सम्भवे लौकिकपदार्थज्ञश्च विद्वानश्रुतपूर्व काव्यादिवाक्यार्थमवबुध्य-

अतः वे रागद्वेष के वशीभूत होकर अन्यथा भी अर्थ कर सकते है ।।

दूसरी बात यह है कि अल्पज्ञ पुरुष के द्वारा व्याख्यान किए गये अर्थ विशेष से "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:" इत्यस्य खादेच्छ्वमांसम् इत्यपि वाक्यार्थ: किं न स्यात् ।

(प्रमेयरत्नमाला पृ. २२०)

टिप्पणी—अग्निं हतीति अग्निहा श्वा तस्यात्र मांस जुहुयात्खादेत् । अथवा अगति गच्छति इत्यग्निःश्वा, हूयतेऽद्यते खाद्यते यत्तत् होत्रं मांस । अग्नेर्होत्रमित्यग्निहोत्रं श्वमांसं तज्जुहुयात् खादेत् स्वर्गकामः पुमान् द्विज ।

अर्थ - "स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्र करे—हवन करे" इस वाक्य का अर्थ 'कुत्ते का मास खावे" ऐसा भी अर्थ क्यो न संभव मान लिया जावे ?

अल्पज्ञ पुरुष रागादि के वशीभूत होकर उक्त वेद वाक्य का ऐसा अर्थ कर सकता है कि अग्नि को जो हने वह "अग्निहा" अर्थात् कुत्ता है, उसका 'अत्र' जो मांस उसे 'जुहुयात्' अर्थात् खावे । अथवा "अगति गच्छति" इस निरुक्ति के अनुसार जो चले उसे 'अग्नि' अर्थात् कुत्ता कहते है । "हूयते अद्यते खाद्यते यत्तत् होत्र" इस निरुक्ति के अनुसार 'होत्र' का अर्थ मांस है । अग्नि अर्थात् कुत्ते के मांस को खावे, इस प्रकार भी वही अर्थ निकल आता है । किन्तु ऐसा अर्थ आपको भी मान्य नही होगा, अत: अल्पज्ञ व्याख्याता का मानना ठीक नही है । थोडी देर के लिए आप वेद का अर्थ अनादिकाल से चली आ रही व्याख्यान परपरा द्वारा आया हुआ मान भी लेवे, तो भी किसी वक्ता के द्वारा गुरु से गृहीत अर्थ का विस्मरण हो जाने से या वचन बोलने की चतुराई न होने से अथवा दुष्ट अभिप्राय से गलत अर्थ का प्रतिपादन भी हो सकता है । आजकल भी ऐसे लोग देखे जाते है जो ज्योतिष आदि शास्त्रो के रहस्य को अच्छी तरह जान करके भी दुष्ट अभिप्राय से गलत बता देते है या प्रतिपादन की शैली न होने से अथवा कितने ही व्याख्याता वाक्यार्थ का सम्बन्ध भूल जाने से उलटा सुलटा अर्थ भी कर देते है । अत: वेद अपौरुषेय होने से प्रमाण नही है ।

१ वेदगतपदानाम् । २ आदिना प्रकरणादिग्रह. । ३ गण्डकाश्चतुरो गुञ्जा इत्यादि-गणितपरिभाषावद्व्यवहारकालात्पूर्वमस्य शब्दस्यायमर्थ इति सङ्केतस्योत्तरकाल व्यवहारनिमित्तस्य कारण परिभाषण तस्याविषयत्वाच्चेत्यर्थः । ४ येष्वर्थेषु लौकिकपदानां सम्भवस्तेष्वेवार्थेषु वैदिकपदाना सम्भवे सति ।

(1) प्रकरण—"प्रस्तावादयवौचित्याद्देशकालविभागत. । शब्दैरर्था. प्रतीयते न शब्दादेव केवलात् ।" प्रस्तावे—भोजनप्रस्तावे सैंधवमानीयतामित्युक्ते लवणमेव न तु सिंधुदेशीयोश्वः । औचित्ये—मातंगगामिनी गच्छतीत्युक्ते हस्तिनी न तु चाडाल: । देशे—अयोध्यायां रामलक्ष्मणौ इत्युक्ते दशरथसुतौ न तु शुकसारसौ । काले—रात्रौ पतगो भ्रमतीत्युक्ते खद्योत एव न तु सूर्य: ।

मानो दृष्टः । 'तद्वच्छ्रुतिवाक्यार्थमपि कश्चित्स्वयमेवाश्रुतपूर्वमवबोद्धुमर्हतीति युक्तं श्रुतेः स्वयमेवान्यव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादनम्'' इति कश्चित्[२] सोपि न परीक्षाचतुरः, सर्वस्याः श्रुतेस्तथा[३]भावाविशेषात् । [४]न च भावनैव नियोग एव वा लौकिकवाक्यस्यार्थः शक्यः [1]प्रतिष्ठापयितुं, येन वैदिकवाक्यस्यापि स एवार्थः स्यात् । नापि सन्मात्रविधिरेव कस्यचिद् वाक्यस्यार्थः शक्यप्रतिष्ठो, येन श्रुतिवाक्यस्यापि स एवार्थोऽन्ययोगव्यवच्छेदेन स्यात्, [५]तत्रानेकबाधकोपन्यासात् । ततः सुगतादिवच्छ्रुतयोपि न प्रमाणमित्यायातम् ।

मीमांसक—लोक में जिन अर्थों मे पद प्रसिद्ध है उन्ही अर्थों मे ही वे पद वेद मे है । उन वेदगत पदो का अध्याहारादि-प्रकरण आदि से अर्थ परिकल्पित नही किया जा सकता है और न वे परिभाषितव्य ही हैं अर्थात् वेदवाक्य परिभाषण के विषय नही है । जिन अर्थों मे लौकिक पदो का अर्थ सभव है उन्ही अर्थों में वैदिक पदो के अर्थ भी सभव है जिस प्रकार से लौकिक पद के अर्थ को जानने वाला विद्वान् अश्रुतपूर्व काव्यादि वाक्यो के अर्थ को समझता हुआ देखा जाता है । उसी प्रकार से कोई मनुष्य स्वय ही अश्रुतपूर्व वेदवाक्य के अर्थ को भी समझने में समर्थ हो सकता है । इसलिए वेद स्वयमेव अन्य का व्यवच्छेद करके अपने अर्थ का प्रतिपादन करते है यह कथन युक्त ही है ।

जैन—ऐसा कहने वाले आप मीमासक भी मीमासा-परीक्षा करने मे कुशल नही है । क्योंकि सभी वेदो मे तथाभाव-लौकिक वाक्यार्थ के अनुसार अर्थ का प्रतिपादन करना समान ही है । लौकिक वाक्य का अर्थ भावना ही है अथवा नियोग ही है, ऐसा अर्थ व्यवस्थापित करना शक्य नही है कि जिससे वैदिक वाक्य का भी वही अर्थ हो सके अर्थात् नही हो सकता है एव किसी वेद वाक्य का अर्थ सन्मात्र विधि ही है ऐसा भी कहना शक्य नही है कि जिससे वैदिक वाक्य का भी अन्य का व्यवच्छेद करके वही अर्थ हो सके अर्थात् नही हो सकता क्योकि उन वेद वाक्यो मे तो अनेक बाधाये दी गई है । इसलिये सुगत आदि के समान वेद भी प्रमाण नही है यह बात सिद्ध हो गई ।

विशेषार्थ—श्लोकवार्तिक मे इस अपौरुषेय वेद के खण्डन मे विशेष रूप में विचार किया गया है । मीमांसक ने अनादिनिधन अपौरुषेय वेदवाक्यो से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होना माना है वे सर्वज्ञ को तो मानते नही है । इस पर जैनाचार्य ने प्रश्न किया कि तुम्हारे वेदवाक्य का व्याख्याता रागी है या वीतरागी ? तब उन्होने बताया कि हमारे वेद के अर्थ के व्याख्यान करने वाले मनु, याज्ञवल्क, व्यास आदि ऋषियों को उस वेद के अर्थ का पूर्ण ज्ञान था अत उनको वेद के विषय मे रागद्वेष का अभाव था। इस पर जैनाचार्य कहते है कि भाई ! यदि आप मूल मे सर्वज्ञ मान लेवे तब तो ठीक है अन्यथा

१ लौकिककाव्यादिवाक्यार्थमिव । २ मीमासक । ३ लौकिकवाक्यार्थानुसारेणार्थस्य प्रतिपादकत्वभावाविशेषात् । ४ एतदेव भावयति जैनः । ५ सर्वश्रुतिषु ।

(1) घटशब्दस्य यथा घटार्थो न तथा भावनानियोगावर्थ ।

तो अन्ध-परंपरा न्याय ही लागू होता है। इस अंध परम्परा से तो वेद के अर्थ का निर्णय होना बनता नहीं है। एक अंधे ने दूसरे अंधे का हाथ पकडा, दूसरे ने तीसरे का, तीसरे ने चौथे का इत्यादि रूप से करोडों भी अंधों की पंक्ति लगा दी जावे तो क्या सबको दीखने लग जावेगा ? हाँ ! उन पंक्तियों में यदि एक प्रधान चक्षुष्मान्-आंख सहित व्यक्ति को जोड़ दीजिए तो वह सबको भी इच्छित स्थान पर पहुंचा सकता है। तथैव मूल में आप सब एक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी मान लीजिए। उसी सर्वज्ञ की मान्यता से उनके वचनों से भी सभी छद्मस्थों को आज तक भी अर्थ का निर्णय हो जावेगा। किन्तु मीमांसक सर्वज्ञ को न मानकर केवल अपने वेद को ही प्रामाणिक सिद्ध करने में लगा हुआ है। उसका कहना है कि व्याकरण, कोष और व्यवहार आदि से शब्दों का वाच्य अर्थ जाना जाता है जो विद्वान् पुरुष व्याकरण, न्याय आदि के अभ्यास से लोक में बोले जाने वाले घट, पट, आत्मा आदि पदों के अर्थ का निश्चय कर लेते हैं। उसी के समान-लौकिक पदों के अर्थ के समान ही वेदों में भी "अग्निमीडे पुरोहितं यजेत" आदि पद पाये जाते हैं। अतः वेद के पदों का अर्थ भी व्युत्पन्न विद्वान् को अपने आप ही हो जावेगा और पदों के अर्थ का निश्चय कर लेने पर वाक्य के अर्थ का निश्चय भी हो जावेगा। जैसे कि कोई विद्वान् चन्द्रप्रभ, गद्यचिंतामणि आदि काव्य ग्रन्थों के पढ़ लेने पर अश्रुतपूर्व-महापुराण, धर्मशर्माभ्युदय आदि काव्यों का अर्थ स्वयं कर लेता है या अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों को गुरु मुख से पढ़ लेने पर न्यायकुमुदचंद्रोदय, प्रमेयकमलमार्तंड आदि न्यायग्रन्थों का अर्थ भी स्वयमेव समझकर समझा सकता है या गणित के नियमों को जानकर नवीन-नवीन गणितके प्रश्नों का उत्तर झट दे देता है। इसी तरह से व्याकरण आदि के विशेषज्ञान से वेद का अर्थ भी समझ लिया जावेगा, अतः अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान के लिए सर्वज्ञ की कोई आवश्यकता भी नहीं है और वेद के अर्थ का निश्चय करने में सर्वथा वीतरागी की भी आवश्यकता नहीं है और हमारे यहाँ अंधपरंपरा भी नहीं है।

लोक में आजकल हम लोगों में बोले हुए पद और वेद में लिखे हुए पद यद्यपि एक ही हैं। किन्तु उन पदों के अनेक अर्थ भी व्यवस्थित हो सकते हैं। अतः एक अर्थ को छोड़कर दूसरे इष्टअर्थ में ही कारण बताकर उसकी व्याख्या करनी चाहिए, अन्य अर्थ में नहीं, इस प्रकार शब्दों के अर्थ का निश्चय करना अशक्य है।

टिप्पणीकार श्री लघुसमंतभद्र स्वामी ने भी कहा है कि प्रकरण आदि से अनेक अर्थ देखे जाते हैं—

"प्रस्तावादथवौचित्याद्देश-काल-विभागतः। शब्दैरर्थाः प्रतीयन्ते न शब्दादेव केवलात्" ॥

अर्थ—प्रकरण से अथवा उचितरूप से या देश और काल के निमित्त से शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध किया जाता है, किन्तु केवल शब्द मात्र से ही अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

प्रकरण से—भोजन के समय किसी ने कहा कि—"सैंधवमानीयतां" सैंधव लावो तो सैंधव शब्द से यहाँ नमक ही लाया जाता है, किन्तु सिन्धु देशीय घोड़ा नहीं लाया जाता है।

औचित्य अर्थ में—"मातंगगामिनी गच्छति" मातग गामिनी जाती है इतना कहने पर हस्तिनी जा रही है यह अर्थ होता है न कि चांडाल की स्त्री।

देश के प्रसंग में—"अयोध्यायां रामलक्ष्मणौ" ऐसा कहने पर दशरथ के पुत्र ही समझा जाता है न कि शुक और सारस पक्षी। अर्थात् राम लक्ष्मण का अर्थ शुक, सारस भी होता है किन्तु 'अयोध्या में' ऐसा देश शब्द का प्रयोग करने पर शुक सारस नही समझा जाता है।

काल अर्थ में—"रात्रौ पतगो भ्रमति" रात्रि में पतग भ्रमण करता है। इतना कहने पर रात्रि शब्द काल वाची होने से पतग का अर्थ खद्योत ही करना चाहिए न कि सूर्य। यद्यपि पतग का अर्थ सूर्य है फिर भी रात्रि में सूर्य नही रहता है। इत्यादि रूप से प्रकरण से भी शब्द से अर्थ का निश्चय किया जाता है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि कही-कहीं प्रकरण मे भी अनेक प्रकार के अर्थ उपयोगी दीखते हैं जैसे कोई राजकुमार सज्जीभूत होकर बाहर जाने के लिए तैयार बैठा है और ककडी खा रहा है ऐसी दशा में "सैंधवलावो" कहने पर सैंधव शब्द के उस समय घोडा और नमक दोनो ही अर्थ प्रकरण प्राप्त है। 'द्विसधान' काव्य में एक साथ ही प्रत्येक शब्द के पाडव और रामचन्द्र के चरित्र पर घटित होने वाले दो दो अर्थ किए गये है। अत अल्पज्ञ, लौकिक विद्वान, प्रकरण आदि के द्वारा अनेक अर्थों को प्रतिपादन करने वाले वेद के शब्दों की ठीक, ठीक एक ही अर्थ में व्यवस्था नही कर सकेंगे और यदि एक ही अर्थ व्यवस्थित होता तो यह प्रभाकर, भाट्ट और ब्रह्माद्वैतवादी जनो का इतना विसवाद भी क्यों होता ? देखो ! कोई तो कामधेनु के समान उन वेदवाक्यो से कर्मकाण्ड अर्थ निकालते है, कोई चार्वाक "अन्नाद्वै पुरुषः" आदि श्रुतियो से अपना जडवाद पुष्ट करते है, कोई अद्वैतवादी उन मत्रों मे ब्रह्मवाद सिद्ध करते है। आप मीमासक भी नियोग और भावना रूप अर्थ मे परस्पर में विवाद कर रहे है। यदि वेद का अर्थ पहले से ही निर्णीत होता तो इतने हिसापोषक या हिसा के निषेधक तथा केवल जडवाद या केवल आत्म-वाद रूप विरुद्ध व्याख्यानो के द्वारा परस्पर में झगडे क्यों देखे जाते है ? यदि आप कहे कि वेद के अर्थों को जानने वालों का ज्ञान मद है अत झगडे देखे जाते है किन्तु प्रतिभाशाली मनु आदि ऋषि एक ही अर्थ करते है वे सातिशय प्रज्ञाशाली है। वेदों के अर्थों को स्मरण रखने की पूर्ण रूप से विशेषता उनमे है। पुन. जैन प्रश्न करते है कि उन मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियो की बुद्धि मे विशेषता कैसे आई है ? तब मीमासक ने कहा कि उन ऋषियो ने पूर्व जन्म मे श्रुत का अभ्यास किया है। तब प्रश्न यह होता है कि इन मनु आदिकों ने पूर्व जन्म में श्रुत का अभ्यास स्वय किया है या गुरु की सहायता से ? यदि स्वतः कहो तो सभी ही पूर्व जन्म में स्वत· वेद का अभ्यास कर सकते है। यदि गुरु से कहो तो गुरु कौन है ? चतुर्मुख ब्रह्मा को कहो तो भी ब्रह्मा को भी अनादि कालीन वेदो का ज्ञान कैसे हुआ ? क्योंकि आप ब्रह्मा को भी अनादि कालीन सर्वज्ञ नही मानते है। फिर भी मीमासक बोलता ही जाता है कि यद्यपि वेद एक है किन्तु उसकी हजारो शाखाये है, स्वर्ग में ब्रह्मा बहुत दिनों तक वेद को पढ़ते हैं

[अत्रस्यात् चार्वाकः सर्वज्ञस्याभाव साधयति तस्य निराकरण]

[1]तथेष्टत्वाददोष [2]इत्येकेषामप्रमाणिकंवेष्टिः[3][4]।[1]न कश्चित्तीर्थकरः प्रमाणं, नापि [2]समयो वेदोन्यो [3]वा [4]तर्कः, [5]परस्परविरोधात् ।

फिर वहा से अवतार लेकर वे मनुष्य लोक में मनु आदि ऋषियों के लिए वेद का प्रकाशन करते है फिर ब्रह्मा स्वर्ग को चले जाते है और वहाँ हजारो वर्ष तक वेद का स्मरण, चिंतन, अभ्यास करते रहते हैं। पुन. स्वर्ग से उतर कर मर्त्य लोक में आकर उन्ही मनु आदि ऋषियों को वेद के ज्ञान का प्रकाशन करते हैं और वे मनु आदि ऋषीश्वर उस समय में अनेक जीवों को वेद का ज्ञान करा देते हैं। इस प्रकार से ब्रह्मा और मनु आदि की परपरा भी अनादि काल से चली आ रही है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि आपका कथन "वदतो व्याघात" नाम के दोष से दूषित है। जैसे कोई पुरुष जोर-जोर से कहे कि "मैं मोनव्रती हूँ" यह वचन स्व वचन बाधित है। क्योंकि आप मीमांसको ने सभी ही पुरुषों को अतीन्द्रिय पदार्थो के ज्ञान से रहित ही माना है। ब्रह्मा, मनु, बृहस्पति, जैमिनी आदि को भी सूक्ष्म परमाणु, आकाश, पुण्य-पाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थो का ज्ञान कहना शक्य नही है। पुनः ब्रह्मा ने भी स्वर्ग में क्या पढा, किसमे पढा ? इत्यादि प्रश्न उठते ही चले जावेंगे।

एक किवदन्ती है कि "ढेकी स्वर्ग मे चली जाय तो भी धान ही कूटेगी ?" अत. तुम्हारा कथन सिद्ध नही हो पाता है कि वेद "अपौरुषेय" होने से प्रमाण है।

वेद की प्रमाणता के खण्डन का साराश

सुगत आदि सभी परस्पर में विरुद्ध अर्थ का कथन करने वाले होने से सभी सर्वदर्शी, सर्वज्ञ नही है अत. कोई भी सर्वज्ञ नही है ऐसा भी नही कहना क्योंकि आपके अपौरुषेय वेद भी प्रमाण नही है जैसे आपने "सर्व वै खल्विद ब्रह्म" कहा है वैसे ही सांख्य ने कहा है कि "प्रधानमेव सर्व" सभी जगत प्रधान रूप है। तथा कोई भी वेद चाहे विधि अर्थ ग्राही हो चाहे नियोग एव भावना अर्थ ग्राही हो वे स्वयं अन्य का परिहार करके अपने अर्थ का प्रतिपादन नही करते हैं "नियोग अर्थ में हो मैं प्रमाण हूं, विधि मे नही या भावना मे ही मै प्रमाण हूँ नियोग मे नही" इत्यादि एवं कोई भी मनुष्य अश्रुत-पूर्व—पहले नही सुने हुए वेद वाक्य के अर्थ को समझने मे समर्थ नही हो सकता है अतः सुगत आदि के समान आपके वेद भी अप्रमाण ही है। क्योंकि परस्पर मे विरोधी है।

[चार्वाक सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करना चाहता है उसका निराकरण]

चार्वाक—हमे वैसा ही इष्ट है अतः कोई दोष नहीं है। अर्थात् कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, यही बात हमें इष्ट है इस मान्यता मे तो कोई भी दोष नहीं है।

१ इतश्चार्वाकमतप्रसङ्ग. । २ प्रत्यक्षमेवैक प्रमाणमिच्छन्ति एके चार्वाकास्तेषाम् । ३ प्रमाणरहिता । ४ तर्कोनुमानम् । ५ सर्वथा नित्यत्वानित्यत्वादिसमर्थनार्थं सौगतकापिलादिप्रयुक्तानुमानाना परस्परविरोधात्तर्कस्य परस्परविरोधः ।

(1) मूल व्याख्याति । (2) आगमः । (3) सुगतादि ।

[1]"**तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो [2]विभिन्ना [1]नैको [3]मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।**
[4]धर्मस्य तत्त्वं [2]निहितं गुहायां [3]महाजनो [5]येन गतः स पन्थाः" ।। इति वचनात्

कश्चिद्[4] देवतारूपो गुरुर्बृहस्पतिर्भवेत् [6]संवादक, प्रत्यक्षसिद्धपृथिव्यादितत्त्वो-पदेशात्। इति[7] प्रत्यक्षमेकमिच्छन्ति ये तेषां लौकायतिकानामिष्टिरप्रमाणिकैव, प्रत्यक्षतस्तद[8]-व्यवस्थापनासम्भवात् । **न खलु प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्त[9]राभावविषयम् अतिप्रसङ्गात्*** । [10]सर्वज्ञस्य हि मुनेः प्रमाणान्तरस्य च वेदाद्यागमस्यानुमानस्य च तर्काख्यस्याभावं यदि [5]किञ्चिद्"[11]व्यवस्थापयेत्, [12]तत्राप्रवर्त्तमानत्वात्, तदा[13]पुरुषान्तरादिप्रत्यक्षान्तराणामप्यभावं

जैन—यह आपकी मान्यता भी प्रमाण रहित ही है ।*

चार्वाक—हमारे यहाँ ऐसा वचन है कि—

कोई तीर्थंकर प्रमाण नही है, न कोई आगम है, न वेद है, अथवा न कोई तर्क–अनुमान ही प्रमाण है । बस ! हम एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करते है । क्योंकि तीर्थंकर आदि सब में परस्पर में विरोध देखा जाता है क्योंकि कहा भी है—

श्लोकार्थ—तर्क—अनुमान अव्यवस्थित है, शास्त्र नाना अर्थो का प्रतिपादन करते है, सुगत, कपिल अथवा जिन कोई एक भी भगवान–तीर्थंकर नही हे कि जिनके वचन प्रमाण हो सके । इसलिए धर्म का स्वरूप गुफा में रखा हुआ है जिस मार्ग से महापुरुष गये हुए हे वही मार्ग है ।।

अत. कोई देवता रूप बृहस्पति गुरु ही सवादक-प्रमाण भूत हो सकता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष से सिद्ध पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय का उपदेश देता है । अत. हम चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं । टिप्पणी मे ऐसा भी पाठ है कि कोई अदेवता रूप–असर्वज्ञ रूप बृहस्पति नामक गुरु है वही प्रमाणभूत है इत्यादि ।

जैन इस प्रकार से आप एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही स्वीकार करते है अत आप "लौकायतिक" इस सार्थक नाम वाले है किन्तु आपकी मान्यता भी अप्रमाणीक ही है । क्योंकि प्रत्यक्ष से आपके सिद्धान्त की भी व्यवस्था करना सभव नही है ।

आपका वह प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञ एवं प्रमाणांतर के अभाव को विषय करने वाला नहीं है, अन्यथा अति प्रसंग आ जावेगा ।*

सर्वज्ञ-मुनि और प्रमाणांतर अर्थात् वेदादि आगम, अनुमान एव तर्क इनके अभाव को यदि कोई

१ अव्यवस्थितः । २ नानार्थप्रतिपादकत्वेन । ३ सुगत कपिलो जिनो वा । ४ ततश्च । ५ पथा । ६ प्रमाणभूतः । ७ इतो जैन आह । ८ सर्वज्ञादिपरोक्षार्थाभावस्य प्रमाणस्य । ९ नाद्धि. (सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोरभाव·) । १० अतिप्रसङ्गमेव विवृणोति । ११ चार्वाकाभिमतम् । १२ प्रत्यक्ष सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोरभाव व्यवस्थापयति—तत्राप्रवर्त्तमानत्वात् । यद्यत्राप्रवर्त्तमान तत्तस्याभाव व्यवस्थापयति खरविषाणादिवत् । १३ देशान्तरकालान्तरवर्त्ती पुरुषोत्र ग्राह्य ।

(1) नासौ मुनिः इति पा. । (2) अप्रयोजकत्वात् । (3) गोपालादि । (4) कश्चिददेवतारूपो इति पा. । अदेवतारूपः—असर्वज्ञतारूप इत्यर्थो भवति । (5) किंचित् प्रत्यक्षं व्यवस्थापयेत् इति पा. ।

तदेव गमयेत् तद्विषयाणां च [1]क्ष्मादीनाम् । इत्यतिप्रसङ्गः स्वयमिष्टस्य बृहस्पत्यादिप्रत्यक्षस्यापि [1]विषयस्याभावसिद्धेः ।

[चार्वाकं कथयति अस्मदीयबृहस्पतिगुरो प्रत्यक्षं स्वस्य पृथिव्यादिचतुष्टयस्य ज्ञानं कारयति इति मान्यतायां जैनाना प्रत्युत्तरं वर्तते]

[2]अथ प्रत्यक्षान्तरं स्वयमात्मानं[3] व्यवस्थापयति पृथिव्यादिस्वविषयं च, तत्र प्रवर्त्तनात् । अतो न तदभावप्रसङ्ग इति मतं [4]तर्हि सर्वज्ञोपि स्वसंवेदनादात्मानं स्वर्गापूर्वादिविषयं[5] च व्यवस्थापयतीति कथं तदभावसिद्धिः[6] ? [7]प्रमाणान्तरस्य च तद्वचनस्य [8]हेतुवाद-

प्रत्यक्ष व्यवस्थापित करे तो वहाँ उन विषयो मे उस प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नही है । अन्यथा पुरुषातरादि—देशातर, कालातरवर्ती पुरुषो के प्रत्यक्षातर के अभाव को वही प्रत्यक्ष बतला देगा और उनके विषय पृथ्वी आदि विषयो को भी वही प्रत्यक्ष बतला देगा ।

पुन. स्वय इष्ट बृहस्पति आदि के प्रत्यक्ष के भी स्वविषय का अभाव सिद्ध हो जाने से अति प्रसग आ जावेगा ।

[चार्वाक कहता है कि हमारे बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्व और पृथ्वी आदि चतुष्टय को बतलाता है । अत सर्वज्ञ कोई नही है—इस पर जैनाचार्य का उत्तर]

चार्वाक—प्रत्यक्षातर—बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्वय अपने स्वरूप को और पृथ्वी आदि स्वविषयो को व्यवस्थापित करता है क्योंकि वह उन विषयों में प्रवृत्ति करता है । इसलिए उस प्रत्यक्ष के अभाव का प्रसग नही आता है ।

जैन - सर्वज्ञ भगवान भी स्वसवेदन से अपने को एव स्वर्गादि, अपूर्व—धर्माधर्मादि विषयो को व्यवस्थापित करता है इसलिए उस सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

एव वही सर्वज्ञ, प्रमाणातर—तर्क, उसके वचन हेतुवाद रूप- अनुमान रूप तथा अहेतुवाद रूप- आगम प्रमाण की व्यवस्था कर देता है । इसलिए भिन्न प्रमाणो का अभाव भी कैसे सिद्ध होगा ?

चार्वाक—आपका सर्वज्ञ स्वपर का व्यवस्थापक है इस विषय को सिद्ध करने के लिए कौन सा प्रमाण है ?

जैन—पुनः आप स्वप्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण मानने वाले चार्वाक के यहाँ भी प्रत्यक्षातर-बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्वपर को विषय करने वाला है इसमें भी क्या प्रमाण है ?

चार्वाक—उस प्रकार से प्रसिद्धि है अर्थात् बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्व पर को ग्रहण करने वाला है

१ बृहस्पतिप्रत्यक्षान्तरगोचराणाम् । २ चार्वाक. । ३ स्वय स्वस्वरूपम् । ४ जैनः । ५ अपूर्व धर्माधर्मादि । ६ तस्य सर्वज्ञस्य । ७ तर्करूपस्य । ८ हेतुवादरूपस्यानुमानस्येत्यर्थ. । अहेतुवादरूपस्य आगमस्येत्यर्थ. ।

(1) सविषयस्य इति पा. । स्वविषयस्येति वा प्रतिभाति ।

रूपस्याहेतुवादरूपस्य[1] च स एव व्यवस्थापक. स्यादिति [1]कुतस्तदभावसिद्धिः ? [2]सर्वज्ञः स्वपरव्यवस्थापकोस्तीत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत् [3]स्वप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिन.[4] प्रत्यक्षान्तरं[5] स्वपरविषयमस्तीत्यत्र किं प्रमाणम् ? [6]तथा प्रसिद्धिरन्यत्रापीति न प्रत्यक्षं तदभावावेदकम्, [7]अतिप्रसङ्गस्य दुष्परिहारत्वात् । [8]नानुमानम्, असिद्धेः[9] । [9]प्रत्यक्षमेकमेव[2] प्रमाणम्[10], [11]अगौणत्वात्प्रमाणस्य[12] अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभ । [13]सामान्ये सिद्धसाधनाद्[14] विशेषेनुगमाभावात् [15]सर्वत्र विरुद्धाव्यभिचारिणः[16] संभवात् । इति स्वयमनुमान निराकुर्वन्ननुमानादेव सर्वज्ञप्रमाणान्तराभाव व्यवस्थापयतीति कथमनुन्मत्त ? प्रतिपत्तुः[17] प्रसिद्धं हि प्रमाणं

इस प्रकार से हमारे यहाँ गुरु परम्परा से प्रख्याति है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो अन्यत्र-हमारे यहाँ भी सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष में भी ऐसी गुरु परम्परा से प्रसिद्धि है । इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण उस सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाला नही है । अन्यथा-अतिप्रसग का परिहार करना कठिन हो जावेगा । एव **अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता है क्योंकि आपके यहां असिद्ध है अर्थात् आपने अनुमान प्रमाण को माना ही नहीं है** * ।

आपने कहा है कि "प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाण" अत वही प्रत्यक्ष प्रमाण ही मुख्य है पुन. अनुमान से इस प्रत्यक्ष के विषय भूत अर्थ का निश्चय कैसे होगा ? अर्थात् होना दुर्लभ ही है । हे चार्वाक ! आपने तो अनुमान का निराकरण करने के लिए कहा है कि—"अनुमान सामान्य को सिद्ध करता है या विशेष को ?" यदि सामान्य को कहो तो सिद्ध साधन ही है क्योंकि व्याप्ति के निश्चय के काल में ही सामान्य सिद्ध हो चुका है ।

एव दूसरा पक्ष लेवो तो विशेष पर्वतादि साध्य मे "जहा धूम है वहा पर्वताग्नि है" ऐसा अनुगम-अन्वय ज्ञान नही है अतः सभी जगह अनुमान मे विरुद्धादि दोष आते है ।

इस प्रकार से आप स्वय अनुमान का निराकरण करते हुए भी अनुमान से ही सर्वज्ञ और अनुमान,

१ प्रमाणान्तराभावसिद्धिः । २ चार्वाक । ३ जैन । ४ चार्वाकस्य । ५ बृहस्पतिप्रत्यक्षम् । ६ चार्वाको वदति—बृहस्पतिप्रत्यक्ष स्वपरग्राहकमित्यस्माक गुरुपरम्परया प्रख्यातिरस्तीति चेत्तदन्यत्रापि सर्वज्ञप्रत्यक्षेप्येव भवतु । ७ अन्यथा । ८ चार्वाक आह—अहमनुमानेन सर्वज्ञाभावं साधये । पर आह—भवन्मतेनुमान नास्ति सिद्धेरघटनात् । ९ चार्वाक. । १० "प्रमाण तर्हि गौणत्वात्" इत्यादि पाठान्तरम् । ११ अमुख्या (अनुमानत) न्मुख्यप्रत्यक्षप्रमाणस्यार्थनिश्चयो दुर्लभः । १२ प्रत्यक्षस्य । १३ हे चार्वाक अनुमाननिराकरणार्थं त्वमेव वदसि । एव किम् ? अनुमान सामान्य साधयति विशेष वा ? सामान्य चेत्सामान्ये सिद्धसाधनादित्यादि । १४ व्याप्तिनिश्चयकाले एव सामान्यस्य सिद्धत्वात् । विशेषे पर्वतादौ साध्ये यत्र धूमस्तत्र पर्वताग्निरित्यनुगमाभाव. । १५ अनुमाने । १६ विरुद्धस्येत्यर्थः हेतोरित्यर्थ. । १७ चार्वाकस्य ।

(1) तर्कशास्त्रस्य, परमागमस्य । (2) ननु अनुमानाद्यसिद्धावपि सर्वज्ञाद्यभावो भविष्यतीत्याशक्य कथमनुन्मत्त इत्याद्यारभ्य योज्य ।

स्वप्रमेयस्य निश्चायकं, नाप्रसिद्धम्,[1] अतिप्रसङ्गादेव ।

तर्क आदि भिन्न प्रमाणो के अभाव को व्यवस्थापित करते है इसलिए आप अनुनमत्त कैसे हैं ? अर्थात् आप उन्मत्त सदृश ही है ।

क्योंकि जानने वाले प्रतिपत्ता के यहाँ प्रसिद्ध ही प्रमाण अपने प्रमेय का निश्चय कराता है किन्तु अप्रसिद्ध प्रमाण नही कराता है अन्यथा अति प्रसग आ जाता है अर्थात् खरविषाणादि भी प्रमेय की व्यवस्था करने लग जावेंगे ।

भावार्थ– चार्वाक पृथिवी, जल, अग्नि और वायु रूप भूत चतुष्टय को मानता है और इन्ही के सयोग से चैतन्य स्वरूप आत्मा का प्रादुर्भाव भी मान लेता है और जीव के मरने के बाद उस चैतन्य की भी समाप्ति कहता है । आत्मा नाम के तत्त्व को वह चार्वाक नही मानता है अतएव ईश्वर के अस्तित्व को भी वह स्वीकार नही करता है । तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवाय अनुमान, आगम एव तर्क नाम के प्रमाण भी उसके सिद्धान्त में नही है, न सर्वज्ञ का अस्तित्व ही है क्योकि आत्म तत्त्व को माने बिना सर्वज्ञ को मानना तो कथमपि शक्य नही है जैसे बॉस के बिना बासुरी नही बजती है । इन नास्तिक वादी चार्वाक जनो को जो कुछ इन्द्रिय प्रत्यक्ष से दिखता है वही विद्यमान है इन्द्रिय ज्ञान से परे जो वस्तुएं है वे सब अप्रमाण है । क्या पता—यदि चार्वाक के घर में बालक जन्मे और उसके पिता या पितामह का बाहर मे ही मरण हो जावे तब वह बालक शायद बड़ा होकर अपने पिता और पितामह आदि के अस्तित्व को भी नही मानेगा । इतना सब कुछ होने पर भी वह चार्वाक एक बृहस्पति नाम के अपने गुरु को मान रहा है जबकि वे गुरु भी हम और आपको इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नही हो रहे है । अत: जैनाचार्यो ने उस चार्वाक से यह प्रश्न किया कि भाई ! तुम किस प्रकार से वृहस्पति गुरु देव का अस्तित्व मानते हो और किस प्रमाण से सर्वज्ञ, अनुमान, तर्क और आगम तथा आत्म तत्त्व का अभाव सिद्ध करते हो ? क्योकि तुम्हारा मान्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो न बृहस्पति को देख सकता है और न अनुमानादि के या सर्वज्ञ के अभाव को ही कर सकता है कारण जब वस्तु—घट एक बार प्रत्यक्ष दीखे और पुन. न दीखे तब हम या आप "उस घट का अभाव है" ऐसा कह सकते है । अत: तुम चार्वाक तो प्रत्यक्ष प्रमाण से इन बातों को अभाव रूप कैसे कहोगे और अपने गुरु के अस्तित्व को भी कैसे मानोगे ? तब उसने कहा कि हम गुरु के अस्तित्व को तो गुरु परम्परा से ही मान लेते है । बस ! आचार्य ने कह दिया कि ऐसे ही परपरा से हमारे द्वारा मान्य सर्वज्ञ भी आप क्यो नही मान लेते हो क्योंकि हमारे यहा भी परम्परा अविच्छिन्न रूप से प्रामाणिक मानी गयी है । दूसरी बात यह है कि आप चार्वाक अनुमान, तर्क आदि प्रमाण को माने बिना केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ के अभाव को कैसे कहेंगे ? क्योकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा तो सभी पुरुष न देखे जा सकते है न जाने जा सकते है पुनः सभी पुरुषो में "विश्व में कोई भी

१ खरविषाणादिकं व्यवस्थापयेदप्रसिद्धानुमानमित्यर्थः ।

[चार्वाको ब्रूतेऽहं भवद्भिर्मान्येनानुमानेन स्वप्रत्यक्षप्रमाणमन्तरेण सर्वज्ञस्य भिन्नप्रमाणानां च अभावं साधयामीति मान्यतायां जैनाः प्रतिबोधयंति]

[1]परप्रसिद्धमनुमानं सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावग्राहकमिति चेत् तत् [2]परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाणमन्तरेण वा ? **यदि: प्रमाणतः सिद्धं नाऽनात्मसिद्धं नाम्**,* परस्येवात्मनोपि[3] वादिनः सिद्धत्वात् [4]प्रमाणसिद्धस्य [1]सर्वेषामविप्रतिपत्तिविषयत्वाद्[5], अन्यथातिप्रसङ्गात्, [6] प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणसिद्धस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वापत्तेरनात्मसिद्धत्वप्रसङ्गात् [7]। ततो यत्परस्य[8] प्रमाणतः सिद्धं तच्चार्वाकस्यात्मसिद्धम् । यथा प्रत्यक्षम् । प्रमाणसिद्धं च परस्यानुमानम् ।

सर्वज्ञ नहीं है" यह कहना सर्वथा असम्भव है । एवं अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ के अभाव को कहते हुए भी आप चार्वाक अनुमान प्रमाण को मानने को तैयार नहीं है तो शायद आप उन्मत्त-पागल ही हो रहे हैं ऐसा मालूम पड़ता है क्योंकि जिस प्रमाण से आप अपने जिस नास्तित्व सिद्धान्त की व्यवस्था करते है उस अनुमान को तो आपको पहले मानना पड़ेगा । असत्यभाषी—झूठे व्यक्ति की साक्षी से किसी को अपराधी—झूठा साबित करना अशक्य ही है ।

[चार्वाक कहता है कि हम आप लोगों के द्वारा मान्य अनुमान को लेकर उससे सर्वज्ञ को और प्रत्यक्ष के सिवाय भिन्न सभी प्रमाणों का अभाव सिद्ध कर देते है । इस पर जैनाचार्य उसे समझाते है ।]

चार्वाक—आप जैनादि के यहाँ जो प्रसिद्ध अनुमान है वही सर्वज्ञ और प्रमाणान्तरों के अभाव को ग्रहण करने वाला है ।

जैन—यदि ऐसा है कि वह अनुमान प्रमाण जैनादिकों के यहाँ प्रसिद्ध है तो प्रश्न यह होता है कि अनुमान उनको प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण के बिना सिद्ध है ? "यदि प्रमाण से सिद्ध है तो वह अनात्म सिद्ध नहीं है" पर के समान आप चार्वाक वादी को भी स्वयं सिद्ध है क्योंकि जो प्रमाण से सिद्ध है वह सभी के संवाद का विषय है अर्थात् उस प्रमाण से सिद्ध में किसी को भी विसंवाद नहीं हो सकता है । अन्यथा अति प्रसंग आ जावेगा । यदि प्रमाण से सिद्ध प्रत्यक्ष भी विसंवाद का विषय हो जावे तो वह अनात्म सिद्ध हो जावेगा, अर्थात् आत्म सिद्ध चार्वाक के द्वारा मान्य प्रत्यक्ष भी असिद्ध हो जावेगा ।

इसलिए जो पर—हम जैनादिकों को प्रमाण से सिद्ध है वह चार्वाक को भी आत्मसिद्ध है । जैसे प्रत्यक्ष और पर का अनुमान प्रमाण सिद्ध है इसलिए अनात्म सिद्ध नहीं है । **अन्यथा–प्रमाण के बिना हम जैनादि को भी सिद्ध नहीं होगा*** । क्योंकि अति प्रसंग ही आता है । तथाहि ।

"जो प्रमाण के बिना सिद्ध है वह पर—हम जैनादिकों को भी सिद्ध नहीं है जैसे उसका **अनभिमत**

---

१ चार्वाक आह—जैनादिप्रसिद्धम् । २ जैनादे । ३ चार्वाकस्यापि । ४ कुत. ? यत । ५ यथा प्रत्यक्षम् । ६ अतिप्रसङ्गं विवृणोति । ७ आत्मसिद्धस्य चार्वाकस्वीकृतस्य प्रत्यक्षस्याप्यसिद्धत्वं घटेतेत्यर्थः । ८ जैनादे ।

(1) वादिप्रतिवादिना ।

तस्मान्नानात्मसिद्धम् । [1]अन्यथा परस्यापि[2] न सिद्धयेत्,* अतिप्रसङ्गादेव । तथा हि ।— यत् प्रमाणमन्तरेण सिद्धं तत्परस्यापि न सिद्धम् । यथा तदनभिमततत्त्वम् । प्रमाणमन्तरेण सिद्धं च परस्यानुमानम् । [1]तन्न सिद्धं [3]स्वयमनभिमततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्[4] ।

[चार्वाक इन्द्रियप्रत्यक्षेण सर्वत्र सर्वज्ञाभाव कथं साधयेत् ? अस्य विचारः क्रियते ।]

[5]तदिमे स्वयमेकेन प्रमाणेन[6] सर्वं सर्वज्ञरहितं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं[7] निरस्यन्तीति व्याहतमेतत्,[2]* अतिप्रसङ्गादेव । [8]स्वयमनिष्टं ह्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमेषां[9]स्यात्, [10]इन्द्रियप्रत्यक्षेण

तत्त्व । और पर का अनुमान, प्रमाण के बिना सिद्ध है इसलिए सिद्ध नही हैं अन्यथा स्वय को अनभिमत तत्त्व की सिद्धि का प्रमग आ जावेगा । अर्थात् चार्वाक के लिये अनभिमत तत्त्व अनुमान और पर लोकादि है उनकी भी सिद्धि का प्रसग आ जावेगा ।

भावार्थ—यहाँ चार्वाक ने कहा कि हम स्वय अनुमान तो मानते नहीं हैं किन्तु बौद्ध, वैशेषिक आदिकों ने तो अनुमान प्रमाण माना ही है हम उन्ही के अनुमान को उनसे लेकर शस्त्र बनाकर उन्ही लोगों के मान्य अनुमान, तर्क, आगम आदि प्रमाणो को और सर्वज्ञ, ईश्वर, कपिल, बुद्ध के अस्तित्व को धराशायी कर देते है अत हमारे ऊपर कोई दोषारोपण नही कर सकता है । तब जैनों ने प्रश्न किया कि भाई ! आप हम लोगों के द्वारा स्वीकृत अनुमान को ही लेकर यदि सर्वज्ञ आदि का अभाव कर रहे हो तब यह तो बताओ कि वह अनुमान हम और आप लोगो को प्रमाणीक है या नही ? यदि प्रमाणीक है तब तो प्रमाणीक वस्तु जैसे हमें प्रमाणीक है वैसे तुम्हे भी उसे प्रमाणीक ही मानना पड़ेगा क्योकि मिश्री को मिश्री अमृत को अमृत जैसे हम कहते है वैसे ही आप भी तो कहते है और आपको भी उसका मधुर ही स्वाद आता है । यदि आप कहे कि वह अनुमान प्रमाण के बिना ही सिद्ध है अर्थात् अप्रमाणीक है तब तो हम लोग भी उसे प्रमाण की कोटि में कैसे रखेगे और आप हमारे द्वारा मान्य समझ कर उसे लेकर उसी से सर्वज्ञ का अभाव कैसे करेंगे ? अत. भाई ! यदि आप स्वय अनुमान को स्वीकार न करते हुए भी उस अनुमान से सर्वज्ञ का अभाव करते है तब तो आपको परलोक, आत्मतत्व, सर्वज्ञ आदि भी यद्यपि इष्ट नही है तो भी अनुमान के समान इन्हे भी मान लेना चाहिए पुनः आप नास्तिकवादी नहीं रहेंगे आस्तिकवादी ही बन जावेंगे ।

[चार्वाक इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सभी जगह सर्वज्ञ का अभाव कैसे करेगा ? इस पर विचार किया जाता है]

इस प्रकार से ये चार्वाक स्वयं एक इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सभी पुरुष समूह को सर्वज्ञ रहित समझते हुए—जानते हुए ही अपना—इन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप एक प्रमाणवादी के स्वरूप का ही निरसन कर देते

१ प्रमाणमन्तरेण २ जैनस्य । ३ अन्यथा । ४ चार्वाकेणानभिमतं तत्त्वमनुमानं परलोकादिश्च तस्य सिद्धिप्रसङ्गात् । ५ चार्वाकाः । ६ इन्द्रियप्रत्यक्षेण । ७ इन्द्रियप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिस्वरूपम् । ८ स्वयमस्वीकृतमनभिप्रेतं वा । ९ चार्वाकाणाम् । १० अन्यथा ।

(1) तस्मात् । (2) विरुद्धं ।

सर्वज्ञरहितस्य पुरुषसमूहस्य [1]संवेदनानुपपत्तेः [2]प्रमाणान्तराभावस्येव प्रमाणान्तरमन्तरेण। इति सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञत्वाभावं प्रत्यक्षतः संविदन् स्वयं सर्वज्ञः स्यात्। तथा सति व्याहतमेतत् [3]सर्वज्ञप्रमाणान्तराभाववचनं चार्वाकस्य। प्रत्यक्षैकप्रमाणैषण [4] वा व्याहत-

---

हैं इसलिए यह सिद्धान्त विरुद्धही है * एव अति प्रसंग दोष आ जाता है। क्योंकि स्वयं अनिष्ट-अस्वीकृत अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान ही पुन· आप चार्वाक लोगों को हो जावेगा।

अन्यथा—इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा तो 'सभी पुरुष सर्वज्ञ रहित है' यह ज्ञान हो नही सकता है, जैसे प्रमाणांतर-तर्क, अनुमान, आगम आदि के बिना प्रमाणातर के अभाव का भी ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के बिना मात्र इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हो नहीं सकता है।

इस प्रकार से सर्वत्र—सभी जगह, सर्वदा—सभी काल में सभी के सर्वज्ञपने के अभाव को प्रत्यक्ष से जानते हुए वे चार्वाक स्वयं ही सर्वज्ञ हो जावेगे। पुनः ऐसा होने पर सर्वज्ञ और भिन्न प्रमाणों के अभाव को कहने वाले आप चार्वाक के वचन विरुद्ध ही हो जाते है।

भावार्थ—जैनाचार्य चार्वाक से प्रश्न करते हैं कि—आप चार्वाक महोदय! सारे विश्व के सभी पुरुषों को इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ रहित सिद्ध करते है या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से? अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो आप मानते ही नही। एव इन्द्रिय प्रत्यक्ष से कहो तो आप और हम सभी का इन्द्रिय प्रत्यक्ष विश्व के सभी पुरुषो को देखने में समर्थ ही नही है और यदि जबरदस्ती समर्थ मानो तब तो पहले आप अपने प्रत्यक्ष से सारे विश्व के कोने-कोने को देखकर सारे पुरुषो के ज्ञान को प्रत्यक्ष करके आवो और निर्णय देवो कि यहां विश्व भर में कही पर कोई भी सर्वज्ञ नही है। और तब सारे विश्व को देख लेने से एव जान लेने से आप ही तो सर्वज्ञ बन गये पुनः आप सर्वज्ञ का अभाव कैसे कह रहे है। अपने आप अपने अस्तित्व को समाप्त करना, अपने आप अपने पैर पर कुल्हाडी मारना तो आपको उचित नही है। इसी प्रकार से आपका इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अनुमान, आगम, तर्क परलोकादि को भी नही जान सकता है पुन· उन सबको जाने बिना उनका अभाव भी कैसे कर सकेगा? यदि आप कहे कि जो वस्तु प्रत्यक्ष गम्य नहीं है उसी का हम अभाव करते है तब तो आपके दादा, पड़दादा आदि पुराने पुरुष (पुरुखाजन) दिखते तो है नही उनका भी अभाव मानना पडेगा। और बाप, दादा की परपरा माने बिना आप की उत्पत्ति भी कैसे हो सकेगी? अत सर्वज्ञ भगवान्, अनुमान, तर्क, आगम आदि प्रमाण एव परलोकादि का अस्तित्व आपको प्रेम से मान लेना चाहिये और अपनी एव सभी की आत्मा के अस्तित्व को भी मान लेना चाहिये। बस! आप आस्तिक्यवादी बन जावेगे झगड़ा समाप्त हो जावेगा।

अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसी इच्छा भी आपकी विरुद्ध ही है क्योंकि देश, कालवर्ती

---

१ संवेदनं ज्ञानम्। २ अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण विना इन्द्रियप्रत्यक्षेणैव प्रमाणान्तराभावस्य संवेदनानुपपत्तिर्यथा। ३ ताद्वि। ४ वाञ्छनम्।

मस्य देशकालनरान्तरप्रत्यक्षाणां स्वयं प्रत्यक्षतः प्रामाण्यस्य साधने सर्वसाक्षात्कारित्वप्रसंगात्, संवादकत्वादिलिङ्गजनितानुमानात्तत्साधने अनुमानप्रामाण्यसिद्धिप्रसक्तेः[1], परस्य[1] प्रसिद्धेनानुमानेन तत्प्रमाणताव्यवस्थापने [2]स्वस्यापि तत्सिद्धेरनिवार्यत्वात्। अन्यथा[3] परस्यापि तदप्रसिद्धेः कुतः प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणं न [2]पुनरन्यदिति व्यवस्था स्यात् ?

नरान्तर-भिन्न देश कालवर्ती मनुष्यो के प्रत्यक्ष को स्वय प्रत्यक्ष से प्रमाणभूत सिद्ध करने पर सभी को साक्षात्कार करने का प्रसग आ ही जाता है। सवादक आदि हेतु से उत्पन्न अनुमान से उनको सिद्ध करने पर अनुमान को प्रमाणता की सिद्धि का प्रसग आ जाता है।

हम जैनादिको के यहाँ प्रसिद्ध अनुमान से उनको प्रमाण व्यवस्थापित करने में आप चार्वाक भी अनुमान को प्रमाणता की सिद्धि का निवारण नही कर सकते हैं अन्यथा हम जैनादिको के यहाँ भी उसकी प्रसिद्धि न होने से प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, किंतु अन्य कोई प्रमाण नहीं है यह व्यवस्था भी कैसे हो सकेगी ? अर्थात् कुछ भी व्यवस्था नही बनेगी।

चार्वाक मत के खंडन का सारांश

चार्वाक—हमारे यहाँ ऐसा कथन है कि कोई तीर्थंकर प्रमाण नही है, न कोई आगम है, न वेद है अथवा न कोई तर्क, अनुमान आदि ही प्रमाण हैं। बस ! एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है कहा भी है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथाः॥

अत एक देवता रूप बृहस्पति-गुरु ही प्रमाणभूत हैं क्योकि वही प्रत्यक्ष से सिद्ध पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय का उपदेश देता है।

जैन—आपका यह कथन भी अप्रमाणीक ही है क्योकि आपका प्रत्यक्ष सर्वज्ञ के अभाव को तथा अन्य आगम, अनुमान आदि के अभाव को सिद्ध नही कर सकता है। तथा आप स्वप्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण मानते है अत. आपके यहाँ स्वपर को ग्रहण करने वाला बृहस्पति-गुरू का ज्ञान प्रत्यक्ष है इसमें क्या प्रमाण है ? यदि आप कहो कि यह गुरू परंपरा से सिद्ध है तो हमारा भी सिद्धांत गुरू परपरा से सिद्ध है क्या बाधा है ? तथा अनुमान को तो आपने माना ही नही है जो कि सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध कर सके। आप कहे कि जैनादिकों के प्रसिद्ध अनुमान से हम सर्वज्ञादि का अभाव करेंगे तो यह बताओ कि प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण से असिद्ध ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो सभी के संवाद का विषय होगा क्योंकि प्रमाण से सिद्ध है अत आप चार्वाक को भी प्रमाण मानना होगा। हम जैनादिकों को प्रमाण से सिद्ध आप चार्वाक को भी प्रमाणीक मानना होगा। यदि प्रमाण से असिद्ध कहो तो हम जैनादिकों को भी सिद्ध नही रहा। तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा सभी पुरुष सर्वज्ञ रहित हैं यह ज्ञान तो हो नही सकता यदि आप चार्वाक "सर्वत्र सभी काल में कोई

१ जैनादेः। २ चार्वाकस्यापि। ३ (प्रमाणमन्तरेण प्रसिद्धेऽनुमाने सति जैनादेरपि। तत्प्रसिद्धिर्न स्यात् तत)।

(1) प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी व्याहतः। (2) अतीन्द्रियप्रत्यक्षानुमानादिकं।

[1]**तथेष्टत्वाददोष [१]इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः** * । एके हि तत्त्वोपप्लववादिनः सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं [2]चोपप्लुतमेवेच्छन्ति । तेषां प्रमाणरहितैव तथेष्टिः [3]सर्वमनुपप्लुतमेवेतीष्टेर्न[२] विशिष्यते[4] । न[5] खलु प्रत्यक्षं [३]सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविषयम्, अतिप्रसंगात् । नानुमानम्, असिद्धेः । [6]सर्वं हि [४]प्रत्यक्षमनुमेयमत्यन्तपरोक्षं[7] च वस्तु जानन्तीति सर्वज्ञानि प्रमाणान्तराणि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणविशेषाः । तेषामभावं [५]स्वयमसिद्धं प्रत्यक्षमनुमानं वा कथं व्यवस्थापयेद्यतस्तद्विषयं स्यात् ? तथा[६] सति सर्वं प्रमाणं

पुरुष सर्वज्ञ नही है" ऐसा कहेगे तो आप स्वयं ही सभी देश, काल और पुरुष को जानने वाले होने से **सर्वज्ञ हो गये क्योंकि** "सर्वं जानातीति सर्वज्ञ." अतएव आप चार्वाक सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नही कर सकते हैं।

[तत्त्वोपप्लववादी का खंडन]

जो शून्यवादी ऐसा कहते हैं कि ऐसा ही हमें इष्ट है अर्थात् हम कुछ भी प्रमाणादि नहीं मानते हैं इसीलिये कोई दोष नहीं है यह उनकी मान्यता भी अप्रमाणीक ही है। *

तत्त्वोपप्लववादी—सभी प्रत्यक्षादि प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्व उपप्लुत—अभाव रूप ही है ऐसा हम स्वीकार करते है।

जैन—आपकी यह मान्यता प्रमाण से रहित ही है। "सभी तत्त्व उपप्लुत है" इस प्रकार की मान्यता "सभी तत्त्व अनुपप्लुत ही है" इस मान्यता से विशिष्ट भिन्न नही है। जिस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी का "सभी तत्त्व उपप्लुत ही है" यह तत्त्व वचन मात्र से सिद्ध है उसी प्रकार से अन्य अतत्त्वोपप्लववादी जैनादिकों का "सभी तत्त्व अनुपप्लुत ही है" यह तत्त्व भी वचन मात्र से सिद्ध ही है क्योकि प्रमाणता या अप्रमाणता दोनो जगह समान ही है।

प्रत्यक्ष प्रमाण तो सर्वज्ञ और प्रमाणातर के अभाव को विषय नही करता है, अन्यथा अति प्रसग आ जावेगा।

अनुमान भी विषय नही करता क्योकि वह असिद्ध है। "सभी—प्रत्यक्ष, अनुमेय और अत्यतपरोक्ष वस्तु को जो जानते हैं वे सर्वज्ञ अर्थात् भिन्न प्रमाण कहलाते है वे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण विशेष है मतलब प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण विषय करता है, अनुमेय को अनुमान एवं अत्यंत

१ एक शून्यमिच्छन्तीत्येकेषस्तेषामेकेषाम् (साख्याभिप्रायेण जैना ब्रूते)। २ इत्यपि वक्तु शक्यत्वान्न विशिष्यते। यथा हि तत्त्वोपप्लववादिना सर्वमुपप्लुतमेवेति वचनामात्रात् सिद्ध तथान्येषामतत्त्वोपप्लववादिना सर्वमनुपप्लुतमेवेत्यपि वचनमात्रात् सिद्ध भवतु—अप्रामाण्यस्योभयत्र समानत्वात्। ३ सर्वज्ञानि च तानि प्रमाणान्तराणि तेषामभावः। ४ प्रत्यक्षविषयम्। ५ (स्वयमसिद्ध प्रत्यक्षमनुमान वेति कर्तृपदम्)। ६ (अतिप्रसङ्गादिति) भाष्यपद व्याख्याति) तदभावविषयत्वे सति।

(1) प्रत्यक्षानुमानयोर्निराकरणेन। (2) बाधित। (3) साख्याभ्युपगत। (4) यतः। इत्यपि वक्तु शक्यत्वात्। (5) तत्त्वोपप्लववादिनं प्रति वदति तव सर्वं शून्य केन प्रमाणेन सिद्धं न तावत् प्रत्यक्षात् नाप्यनुमानात्तयोरनङ्गीकारात्। (6) प्रत्यक्षानुमानयोरसिद्धावपि किमिति सर्वज्ञप्रमाणातराभावविषयतेत्याह। देशकालनरातर। (7) स्वर्गादि।

सर्वस्य[1] स्वेष्टतत्त्वविषयं[2] भवेदिति कुतस्तत्त्वोपप्लवः ?

[परैर्मान्येन प्रमाणेन सर्वस्य तत्त्वस्याभावं करोति तत्त्वोपप्लववादी तस्य निराकरणं]

[3]परस्य सिद्धं प्रमाणं तदभावविषयमिति चेत्[4] तत् [5]परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाण-

परोक्ष को आगम प्रमाण विषय करता है अतः ये तीनों प्रमाण सर्वज्ञ कहलाते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण अपने प्रत्यक्षभूत विषय को पूर्णतया जानता है, अनुमान प्रमाण अपने अनुमेय विषय को पूर्णतया विषय करता है एवं आगम प्रमाण अत्यन्त परोक्ष श्रुतज्ञान के विषय को पूर्णतया विषय करता है। अपने-अपने विषय में ये पूर्णतया ज्ञान कर लेते हैं अतएव ये तीनों प्रमाण यहाँ सर्वज्ञ कह दिये गये हैं। "सर्वं हि प्रत्यक्षमनुमेयमत्यन्तपरोक्षं च वस्तु जानन्तीति सर्वज्ञानि प्रमाणान्तराणि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणविशेषाः"।

आप शून्यवादियों के यहाँ स्वयं ही असिद्ध, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण इन तीनों प्रमाणों के अभाव को कैसे व्यवस्थापित करेंगे कि जिससे वे उस अभाव को विषय कर सकें ? अर्थात् नहीं कर सकते हैं। मतलब कोई भी प्रमाण जब अभाव को विषय ही नहीं कर सकता है तब वह प्रमाण तत्त्वों के अभाव को कैसे कर सकेगा ?

इस प्रकार से मानने पर सभी प्रमाण सभी जैनादि के अपने-अपने इष्ट तत्त्व को विषय करने वाले हो जावेंगे पुनः तत्त्व का उपप्लव कैसे हो सकेगा ?

विशेषार्थ—इस अष्टसहस्री ग्रंथ में आचार्य श्री विद्यानन्द महोदय ने तत्त्वोपप्लववादी का खंडन विशेष रूप में किया है। इसी प्रकार इन्होंने श्री श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में भी इसका खंडन किया है। स्थूल रूप से तो शून्यवाद और तत्त्वोपप्लववाद समान ही मालूम पड़ते हैं, किन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर दोनों में कुछ अंतर झलकता है। इसी बात को स्वयं विद्यानन्द स्वामी ने श्लोकवार्तिक में प्रकट किया है। यथा—पदार्थों को सर्वथा नहीं मानना, विचार के पीछे-पीछे सबको शून्य कहते जाना शून्यवाद है और विचार से पहले व्यवहार रूप से सत्य मानकर विचार होने पर प्रमाण, प्रमेय आदि सभी पदार्थों को स्वीकार न करना तत्त्वोपप्लववाद है।

यह तत्त्वोपप्लववादी स्वयं स्वसंवेदन को भी प्रमाण स्वरूप से इष्ट होने का निर्णय नहीं करता है, तत्त्वों का समूल चूल अभाव कहने वाला उपप्लववादी एक तत्त्व को भी इष्ट नहीं करता है। केवल दूसरों के माने हुए तत्त्वों में कुप्रश्न उठाकर उनके खंडन करने में ही तत्पर रहता है। स्वयं अपनी गांठ का मत कुछ भी नहीं रखता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि अपने प्रमाण का कुछ भी निर्णय किये बिना दूसरे वादियों के तत्त्वों का खंडन करने के लिये केवल प्रश्नों की भरमार या आक्षेप उठाना भी तो नहीं बन सकेगा। जिसके यहाँ स्वयं कोई भी इष्ट तत्त्व निर्णीत नहीं किया गया है उसको कहीं भी संशय करना नहीं बन सकता है। भू भवन में जन्म लेकर वहीं पाला गया मनुष्य तो ठूंठ या पुरुष का अथवा चांदी या सीप का संशय नहीं कर पाता है।

१ जैनादेः। २ स्वकीयस्वकीयमतानुसारितत्त्वग्राहकम्। ३ आह तत्त्वोपप्लववादी। ४ जैन। ५ जैनस्य।

मन्तरेण वा ? यदि प्रमाणतः सिद्धं नानात्मसिद्धं नाम, प्रमाणसिद्धस्य नानात्मनां वादिप्रतिवादिनां सिद्धत्वाविशेषात् । [1]अन्यथा परस्यापि[2] न सिद्धयेत्, प्रमाणमन्तरेण सिद्धस्यासिद्धत्वाविशेषात् । तदिमे तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन केनचिदपि प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा सकलतत्त्वपरिच्छेदकप्रमाणविशेषरहितं(1) सर्वं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं[3] निरस्यन्तीति (2)व्याहतमेतत्—तथा[4] तत्त्वोपप्लववादित्वव्याघातात् ।

[उपप्लववादी तत्त्ववादिन दूषयति]

[5]ननु चानुपप्लुततत्त्ववादिनोपि[6] [7]प्रमाणतत्त्व च प्रमेयतत्त्वं प्रमाणतः सिद्धयेत् प्रमाण-

[तत्त्वोपप्लववादी जैनादिको के द्वारा मान्य प्रमाण को लेकर उन्ही के तत्त्वो का अभाव सिद्ध कर रहा है, उसका निराकरण]

तत्त्वोपप्लववादी— पर—जैनादि के यहां सिद्ध प्रमाण से हम उन सभी वस्तुओं के अभाव को विषय कर लेंगे।

जैन—यदि ऐसा कहो तो वे पर के यहां सिद्ध प्रमाण, प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण के बिना ही सिद्ध हैं ?

यदि प्रमाण से सिद्ध है तब तो नाना आत्माओं को सिद्ध है, क्योंकि जो प्रमाण से सिद्ध है वह नाना आत्माओ को-वादी, प्रतिवादी सभी को ही सिद्ध है, कोई अतर नही है । नानात्म शब्द से 'सभी जनों को' ऐसा अर्थ कर सकते है अथवा "अनात्म सिद्ध नही है" मतलब सभी आत्माओं को सिद्ध है। अन्यथा यदि कहो प्रमाण बिना प्रमाण के ही सिद्ध है तब तो वह जैन के यहां भी सिद्ध नही होगा क्योंकि जो प्रमाण के बिना सिद्ध है वह असिद्ध के समान ही है । उसे जैनादि भी कैसे मानेगे ?

इस प्रकार से आप तत्त्वोपप्लववादी स्वय किसी भी एक प्रमाण से अथवा स्व प्रसिद्धि मात्र से सकल तत्त्वो को बतलाने – जानने वाले प्रमाणो से रहित सभी पुरुषो के समूह को जानते हुए स्वय अपने आपका ही खडन कर देते हैं, इसलिये यह कथन व्याहत—विरुद्ध ही है । अर्थात् "सभी पुरुषो का समुदाय सभी तत्त्वों के ग्राहक प्रमाण से रहित है" इस प्रकार से जिसके द्वारा जान लिया गया वही तो प्रमाण है अतएव उसका भी खण्डन करता हुआ अपना ही विघात कर लेता है।

और यदि आप प्रमाण को स्वीकार करे तब तो तत्त्वोपप्लववादी ही नही रहेंगे, किन्तु प्रमाण को मान लेने से आस्तिकवादी ही हो जावगे ।

[उपप्लववादी तत्त्ववादियो को दोष दे रहे है]

तत्त्वोपप्लववादी- अनुपप्लुत तत्त्ववादी आप जैनादिको का भी प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्व

१ प्रमाणं प्रमाणमन्तरेणसिद्ध चेत् । २ जैनस्य । ३ पुरुषसमूह सकलतत्त्वविरहित इत्येवं येनावबुद्ध तदेव प्रमाणम् अत एवात्मानं निरस्यन्तीति । ४प्रमाणाङ्गीकारे । ५ तत्त्वोपप्लववादी प्राह । ६ जैनादेः । ७ "प्रमाणत्वं प्रमेयत्वम्" इति पाठान्तरम् ।

(1) भेद । (2) विरुद्ध ।

मन्तरेण वा ? प्रमाणतश्चेत्तदपि प्रमाणान्तरतः सिद्धयेदित्यनवस्थानात्कुतः प्रमाणतत्त्व-व्यवस्था ? यदि पुनः प्रथमं प्रमाणं द्वितीयस्य व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथमस्येष्यते तदेतरेतराश्रयणान्नैकस्यापि व्यवस्था । [1]स्वतः प्रमाणस्य प्रामाण्यव्यवस्थितेरयमदोष इति चेन्न—सर्वप्रवादिनां तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । कुतश्चित्प्रमाणात्तद्विप्रतिपत्तिनिराकरणे तत्रापि प्रमाणान्तराद् विप्रतिपत्तिनिराकरणेन भाव्यमित्यनवस्थानमप्रतिहतप्रसरमेव । [2]परस्परं विप्रतिपत्तिनिराकरणे चान्योन्यसंश्रयणं दुरुत्तरम् । प्रमाणमन्तरेण तु प्रमाणादितत्त्वं यदि सिद्धयेत्तदा तदुपप्लवव्यवस्थापि तथा दुःशक्या निराकर्त्तुम् । [3]स्यान्मतम्[(1)] ।

प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण के बिना सिद्ध है ? यदि कहो कि प्रमाण से सिद्ध है तब तो वह प्रमाण भी प्रमाणांतर से सिद्ध होगा इस प्रकार से अनवस्था के आ जाने से प्रमाणतत्त्व की व्यवस्था कैसे हो सकेगी ?

यदि आप कहे कि प्रथम प्रमाण द्वितीय प्रमाण का व्यवस्थापक होगा और द्वितीय प्रमाण प्रथम की व्यवस्था कर देगा तब तो इतरेतराश्रय दोष आ जाने से एक की भी व्यवस्था नही हो सकेगी। अर्थात् प्रमाण ज्ञान सच्चा है इसको बतलाने वाला दूसरा प्रमाण आया और वह दूसरा भी सच्चा है इस बात को बतलाने वाला तीसरा इत्यादि से अनवस्था होती है और यदि दूसरे ने पहले को सच्चा सिद्ध किया एवं दूसरे को पहले ने सच्चा कहा तब तो भाई ! दोनो मित्र एक दूसरे को सच्चा कह रहे है, किन्तु ये दोनो सच बोलते है यह बात हम कैसे मान लेवे ? यदि आप कहे कि प्रमाण की प्रमाणता स्वतः ही व्यवस्थित है अतः कोई दोष नही है, किन्तु आप ऐसा भी नहीं कहना अन्यथा सभी प्रवादियों को भी विसंवाद का अभाव हो जावेगा अर्थात् सभी के सभी इष्ट तत्त्व स्वतः ही सिद्ध हो जावेगे ।

यदि आप कहे कि किसी एक प्रमाण से उस विसवाद को दूर करेगे तो वहा भी प्रमाणांतर से विसवाद को दूर करने के लिये भी प्रमाण चाहिए इस तरह मे अनवस्था का प्रसार बिना रोक टोक के ही हो जाता है ।

एव प्रथम का द्वितीय से और द्वितीय का प्रथम प्रमाण से विसवाद दूर करना मानने पर तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, उसका निवारण भी आप नही कर सकते है ।

और यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि प्रमाण के बिना प्रमाणादि तत्व सिद्ध होते है, तब तो तत्त्वोपप्लव की व्यवस्था का निराकरण करना भी शक्य नही है वह प्रमाण के बिना सिद्ध है ऐसा हम मानते हैं ।

---

१ (जैनपक्षमुपपाद्य तत्त्वोपप्लववादी इति चेन्नेत्यनेन खण्डयति) । २ प्रथमं द्वितीयस्य व्यवस्थापक द्वितीय तु प्रथमस्येष्यते । ३ जैनादेः ।

---

(1) परः मीमासकादीनामभिप्रायमनूद्य दूषयति ।

"विचारोत्तरकालं प्रमाणादितत्त्वव्यवस्थितिः । विचारस्तु [1]यथाकथञ्चित्क्रियमाणो [2]नोपालम्भार्हः—सर्वथा[3] वचनाभावप्रसङ्गात्" इति । [4]एवं तर्हि तत्त्वोपप्लववादिनामपि विचारादुत्तरकालं तत्त्वोपप्लवव्यवस्था तथैवास्तु सर्वथा विशेषाभावात् ।

[तत्त्वोपप्लववादी आस्तिक्यवादिना प्रमाणतत्त्वं दूषयति]

एवं च[1] तत्र [2]प्रमाणतत्त्वमेव तावद्विचार्यते[5] । —कथं प्रमाणस्य प्रामाण्यम् ? [6]किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन, बाधारहितत्त्वेन[7], [8]प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा[9] वा ?

[प्रथमस्य निर्दोषकारणजन्यत्वं हेतोर्निराकरणं]

[10]यद्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन तदा सैव कारकाणामदुष्टता कुतोवसीयते ? न

यदि आप जैन ऐसा कहे कि "विचार के अनन्तर—उत्तरकाल में प्रमाणादि तत्त्व की व्यवस्था है और यथा कथचित् प्रमाण से अथवा प्रमाण के विना हम लोगो के द्वारा स्वीकृत तत्त्व व्यवस्था उलाहना के योग्य नही है । अन्यथा सर्वथा वचनो के अभाव का ही प्रसग आ जावेगा ।" ऐसा कहने पर तो हम तत्त्वोपप्लववादी जनो के यहा भी विचार से उत्तरकाल मे तत्त्वोपप्लव व्यवस्था उसी प्रकार से हो जावे सर्वथा दोनों में कोई अतर नही है । अर्थात् जब हम विचार करते है तब प्रमाणादि तत्त्व हमें दिखाई देने लगते है ऐसा जैनादिको की तरफ स्वय तत्त्वोपप्लववादी ने समाधान किया है और पुन. उसमे दोषारोपण करने लगा कि इस प्रकार से तो हमारे यहाँ भी विचार करने के अनन्तर तत्त्वो का अभाव दिख रहा है उसे ही मान लीजिये क्या बाधा है ?

[अब तत्त्वोपप्लववादी आस्तिक्य वादियो के प्रमाण तत्त्व को दूषित करने की चेष्टा करता है]

तत्त्वोपप्लववादी— इस प्रकार से अब आपके प्रमाण तत्त्व का विचार किया जाता है । हम आप जैन लोगो से प्रश्न करते हैं कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे सिद्ध है ? अदुष्टकारक सदोह के द्वारा उत्पन्न होने से, बाधा रहित होने से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अन्यथा और किसी प्रकार से ?

[निर्दोष कारणजन्यत्व हेतु का खण्डन]

यदि निर्दोष चक्षु आदि की निर्मलता आदि कारक समूह के द्वारा प्रमाण में प्रमाणता उत्पन्न होती है, ऐसा आप कहो तब तो आपने उन कारको की निर्दोषता कैसे जानी है, प्रत्यक्ष से या अनुमान से ?

प्रत्यक्ष से तो आप कह नही सकते क्योकि नेत्रो की निर्मलतादि ज्ञान के कारण अतीन्द्रिय हैं । वह

१ प्रमाणेन प्रमाणमन्तरेण वा । २ जैनादिकृत । ३ अन्यथा । ४ तत्त्वोपप्लववादी । ५ प्रमेयतत्त्वं च तिष्ठतु । ६ अदोषः चक्षुरादिनैर्मल्यम् । ७ एतत्पर्यन्तं विकल्पद्वयमिदं मीमांसकापेक्षया । ८ अथ तृतीयविकल्पो नैयायिकमतापेक्षया । ९ अन्यथा—अविसंवादकत्वेनेत्ययं चतुर्थो विकल्पः सौगतमतापेक्षया । १० तत्त्वोपप्लववादिमतमालम्ब्य जैनः प्राह ।

(1) च प्रमाणतत्त्व इति पा । (2) न प्रमेयतत्त्वं ।

तावत्प्रत्यक्षान्नयन[1]कुशलादे:[१] संवेदनकारणस्यातीन्द्रियस्यादुष्टतायाः प्रत्यक्षीकर्तुमशक्तेः। नानुमानात्, [2]तदविनाभाविलिङ्गाभावात्। विज्ञानं[२] तत्कार्यं लिङ्गमिति चेन्न[१], [3]विज्ञान-

प्रत्यक्ष ज्ञान उनकी निर्दोषता को प्रत्यक्ष करने मे असमर्थ है। अनुमान से भी वह निर्दोषता ग्रहण नही की जाती है क्योंकि उसके अविनाभावी लिंग का अभाव है अर्थात् इंद्रियो से जिसे देख नही सकते उसका इसके साथ सम्बन्ध है इत्यादि कैसे निर्णय करेंगे और हेतु किसे बनायेंगे ?

विशेषार्थ—तत्त्वोपप्लववादी स्वयं कुछ तो मानता नही है फिर भी बैठे-बैठे जैन, मीमासक आदि तत्त्ववादियों से कुतर्क कर रहा है। इसी बात को श्लोकवार्तिक ग्रथ में श्री विद्यानन्द स्वामी ने अच्छी तरह से बतलाया है। यथा—"कथमव्यभिचारित्वं वेदनस्य निश्चीयते ? किमदुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वेन बाधारहितत्वेन प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वेति प्रमाणतत्त्वे पर्यनुयोगाः संशयपूर्वकास्तदभावे तदसंभवात्, किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इत्यादि पर्यनुयोगवत्। संशयश्च तत्र कदाचित् क्वचिन्निर्णयपूर्वकः स्थाण्वादिसंशयवत्। तत्र यस्य क्वचित् कदाचिददुष्टकारकसंदोहोत्पाद्यत्वादिना प्रमाणत्वनिर्णयो नास्त्येव तस्य कथं तत्पूर्वकः संशयः, तदभावे कुतः पर्यनुयोगाः प्रवर्तेरन्निति न परपर्यनुयोगपराणि बृहस्पते सूत्राणि स्युः।"

उपप्लववादी जन अतरंग बहिरंग प्रमाण, प्रमेयतत्त्वो को मानने वाले जैन, मीमासक, नैयायिक आदि के प्रति उपाय, उपेयतत्त्वो का खडन करने के लिए इस प्रकार से कुप्रश्न उठाते है कि आप जैनादि अव्यभिचारी (मिथ्याज्ञान से भिन्न सच्चे) ज्ञान को प्रमाण मानते है। पुन: यह बतलाइये कि इस ज्ञान की सचाई का निर्णय आप लोग कैसे करते है ? क्या निर्दोष कारणों के समुदाय से ज्ञान बनाया गया है, इस कारण प्रमाण है या बाधाओ से रहित है अत: प्रमाण है ? अथवा जिसको जाने, उसमें प्रवृत्ति करे और उसी ज्ञेय रूप फल को प्राप्त करे या उस ज्ञान का सहायक दूसरा ज्ञान पैदा कर ले, इस प्रवृत्ति की सामर्थ्य से वह ज्ञान प्रमाण है ? अथवा दूसरे प्रकारों से अविसंवादी आदि रूप से वह प्रमाण है ? आखिर प्रमाण की प्रमाणता का निश्चय आप लोग इन चार कारणों के सिवा तो कर नहीं सकते है अत: बतलाइये क्या बात है ?

इन चार प्रश्नो मे प्रथम के दो प्रश्न तो मीमासक के प्रति है क्योंकि मीमासक ही इन दो बातो से प्रमाण की प्रमाणता मानता है अत: इसी मीमासक और उपप्लववादी के कुछ देर तक प्रश्नोत्तर चलते रहेंगे।

---

१ कौशलं नैर्मल्यम्। २ मीमांसकः। ३ तत्त्वोपप्लववादिमतमालम्ब्य जैन प्राह।

---

(1) भावेन्द्रियरूप। द्वंद्वः। पुण्यादेः। (2) अदुष्टकारक। (3) शुक्तिकाया रजतज्ञानं कार्यलिङ्गं कारणादुष्टता साधयतीति व्यभिचारः।

तीसरा प्रश्न नैयायिकों की मान्यता को लक्ष्य में रख कर किया गया है। एवं चौथा प्रश्न बौद्धों पर लागू हो जाता है। क्रमश. इन सभी पर विचार विमर्श करके उत्तर देने वाले वे लोग स्वयं ही उपस्थित हो जाते है। उपप्लववादी सभी की बात को समाप्त कर देता है। तब जैनाचार्य इन चारो प्रश्नों को महत्त्व न देकर अपना पक्ष रख देते है। खैर ! यहाँ पर तो आचार्य मुख्य रूप से इसी बात को बता रहे है कि आप उपप्लववादी के ये सभी प्रश्न उठाना संशय पूर्वक ही हो सकते है क्योंकि सशय के बिना ये प्रश्न उठाना ही असभव है। जैसे कि यह स्थाणु है या पुरुष ? और जहाँ कही भी किसी पदार्थ का आश्रय लेकर किसो को सशय होता है उस पदार्थ में पहले कभी न कभी किसी स्थल पर निर्णय अवश्य ही कर लिया गया है। जिस मनुष्य ने कही भी स्थाणु और पुरुष का ठीक-ठीकपूर्व में निश्चय कर लिया है वही मनुष्य कदाचित् सायकाल के समय दूसरे ठूठ को देखकर उसमे मनुष्य की ऊचाई आदि के साधारण धर्मो को देखकर और विशेष धर्मों को न देखकर प्रत्युत स्मरण करके संशय कर लेना है। मतलब यह है कि जिसको कही भी कभी सशय होगा उसे किसी का पहले निर्णय अवश्य होना चाहिये और आप शून्यवादी या उपप्लववादी तो कुछ भी प्रमाण आदि का निर्णय ही नही मान रहे है पुन यह प्रमाण निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ है या बाधा रहित है इत्यादि रूप से हम लोगों के प्रति आपको सशय उठाने का भी क्या अधिकार है ? मतलब पूर्व मे अपने कुछ तत्त्व या निर्णय को माने बिना आप सशय भी नही कर सकते है। बस ! इतना ही कहते चलिये कि "प्रमाण नही है, प्रमाण नहीं है" इत्यादि।

इस प्रकार दूसरे आस्तिकों के इष्ट किये गये प्रमाण, प्रमेय को खडन करने के लिये बृहस्पति के सूत्र दूसरे मतों के ऊपर कुप्रश्न करने के लिये तत्पर नही हो सकते है। यहां सभवत बृहस्पति ने चार्वाक दर्शन का पोषण करके पीछे से सर्व तत्त्वो का उपप्लव स्वीकार किया है ऐसा मालूम पडता है एव जब प्रमाण, प्रमेयतत्त्व, प्रश्न करना, सशय करना आदि व्यवस्थायें आपके यहा असभव है तब तो यो ही पोल चलती जावेगी, सभी लोग अपने-अपने मतों को पुष्ट करते हुये मनमानी करते रहेंगे। पुन. आप यह भी नही कह सकेंगे कि सारा जगत् शून्य रूप है और देखिये !

"शून्योपप्लववादेऽपि नानेकांताद्विना स्थिति. ।
स्वयं क्वचिदशून्यस्य स्वीकृतेऽनुपप्लुते ।। १४७ ।।
शून्यातायां हि शून्यत्वं जातुचिन्नोपगम्यते ।
तथोपप्लवन तत्त्वोपप्लवेऽप्पीतरत्र तत् ।। १४७ ।। [श्लोकवार्तिक]

अर्थ-- शून्यवाद और उपप्लववाद का सिद्ध करना बिना अनेकांत के नही हो सकता है क्योंकि स्वय के शून्यवाद का समर्थन और अशून्यवाद—आस्तिकवाद का खंडन तो आप करेंगे ही करेंगे। बस ! स्वपक्षसाधन और परपक्ष दूषण यही तो अनेकांत है और अनेकांत है क्या ? दूसरी बात और है कि आप अपने शून्य तत्त्व को अशून्य—सच्चा मानेंगे ही नहीं अन्यथा शून्य का शून्य होकर तो क्या बचेगा ? सोचिये !

सामान्यस्य तदव्यभिचारित्वाभावात्[१]। [२]प्रमाणभूतं [1]विज्ञानं तल्लिङ्गमिति चेत् [३]कुतस्तस्य प्रमाणभूततावसायः ? [2]तददुष्टकारणारब्धत्वादिति चेत् सोयमन्योन्याश्रयः । सिद्धे विज्ञानस्य प्रमाणभूतत्वे निर्दोषकारणारब्धत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च प्रमाणभूतत्वसिद्धिरिति । [४]किञ्च

भाई ! यदि आप शून्यवाद को अशून्य न कहकर शून्य कह देंगे तब तो सभी तत्त्व व्यवस्था सच्ची हो जावेगी।

और शून्यवाद को अशून्य कहेंगे तो अनेकांत होकर भी कुछ तत्त्व व्यवस्था बन जाने से सर्वथा शून्यवाद नहीं रहेगा। वैसे ही उपप्लव को उपप्लव रहित मानने से ही आपकी इष्ट सिद्धि होगी अन्यथा उपप्लववाद का प्रलय होकर सभी तत्त्व सच्चे सिद्ध हो जावेंगे।

देखिये ! यदि झूठ बोलना झूठ सिद्ध हो जावे तो सत्यता का निर्णय हो जाता है। शत्रु का शत्रु अपना मित्र ही सिद्ध होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि इस उपप्लववादी का कर्त्तव्य जैन, मीमांसक आदिकों से प्रश्न करने का नहीं था फिर भी वह कर रहा है क्योंकि "उलटा चोर कोतवाल को डाँटे" इस लोकोक्ति के अनुसार वह धृष्ट है। अच्छा ! अब प्रश्नोत्तर के ढंग को पढ़ते चलिये।

मीमांसक—विज्ञान उसका कार्य है वही हेतु है। बस ! हेतु से अनुमान बन जावेगा और अनुमान से हम कारणों की निर्दोषता जान लेते हैं।

तत्त्वोपप्लववादी—नहीं ! विज्ञान सामान्य उससे अव्यभिचारी नहीं है अर्थात् शुक्तिका में रजत—ज्ञान कार्य लिंग है वह कारण के दोष को सिद्ध करता है अतः व्यभिचारी है क्योंकि जो विज्ञान सामान्य है वह दुष्टता—सदोष ज्ञान में भी पाया जाता है।

मीमांसक—प्रमाणभूत विज्ञान उसका हेतु है सदोष ज्ञान नहीं।

तत्त्वोपप्लववादी—वह विज्ञान प्रमाणभूत है यह निश्चय किससे होगा ? यदि कहो निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से यह विज्ञान प्रमाण है ऐसा निश्चय होता है तब तो अन्योन्याश्रयदोष आ जाता है। विज्ञान के प्रमाणभूत सिद्ध हो जाने पर यह निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ है यह बात सिद्ध होगी और निर्दोष कारणों से उत्पत्ति की सिद्धि होने पर ज्ञान प्रमाणभूत सिद्ध होगा। मतलब एक दूसरे के आश्रित होने से दोनों ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

दूसरी बात यह है कि चक्षु आदि कारणों को गुण और दोषों का आश्रय स्वीकार करने पर उससे

१ शुक्तिकाया रजतज्ञानं कार्यलिङ्गं कारणदुष्टतां साधयतीति व्यभिचारो, यतो विज्ञानसामान्यं दुष्टतायामपि वर्त्तते। २ मीमांसकः। ३ तत्त्वोपप्लववादी। ४ दूषणान्तरं तत्त्वोपप्लववादी (शून्यवादी) प्राह।

(1) विशेष.। (2) अदुष्टकारकारब्धत्वात् इति पा.।

चक्षुरादिकारणानां गुणदोषाश्रयत्वे[१] तदुपजनितसंवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तिर्न स्यात् गुणदोषाश्रयपुरुषवचनजनितवेदनवत् । गुणाश्रयतयैव[२] तन्निश्चये तदुत्थविज्ञाने [1]दोषाशङ्कानिवृत्तौ पुंसोपि कस्यचिद्गुणाश्रयत्वेनैव निर्णये तद्वचनजनितवेदने दोषाशङ्कानिवृत्ते[2] किमपौरुषेयशब्दसमर्थनायासेन[३]? अथ[४] पुरुषस्य गुणाधिकरणत्वमेवाशक्यनिश्चय, परचेतोवृत्तीनां [५]दुरन्वयत्वात् तद्व्यापारादे. साङ्कर्यदर्शनात्,निर्गुणस्यापि गुणावत इव[3] व्यापारादिसंभवादुपवर्ण्यते [७]तर्हि चक्षुरादीनामप्यतीन्द्रियत्वात्तत्कार्यसाङ्कर्योपलब्धे कुतो गुणाश्रयत्वनियमनिश्चयः

उत्पन्न होने वाले ज्ञान में दोषो की आशका निवृत्त नहीं हो सकेगी जैसे गुण और दोष के आश्रित पुरुषों के वचन से उत्पन्न हुये ज्ञान में शका की निवृत्ति नहीं होती है । अर्थात् किसी पुरुष में गुण और दोष दोनों ही है पुन· उसके वचन निर्दोष हैं यह बात कैसे बनेगी ? उसके वचनों मे दोषो की शका बनी ही रहेगी ।

यदि आप चक्षु आदि में गुणो का ही निश्चय मानोगे तो उससे उत्पन्न हुये विज्ञान मे दोष की आशका निकल जावेगी और तब किसी पुरुष के भी गुणो का आश्रय निश्चित होने पर उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान में दोषों की आशका नही रहेगी पुन आप मीमासक को अपौरुषेय शब्द—वेद के समर्थन के प्रयास से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

मीमांसक—पुरुष को गुणो का आधार निश्चित करना अशक्य है पर के मन की प्रवृत्तियो को जानना बहुत ही कठिन है उनके कार्य तथा व्यापारादि मे सकर देखा जाता है । निर्गुणी मे भी गुणवानो के समान व्यापारादि सभव है ऐसा कहा जाता है । अर्थात पुरुष गुणो का आधार है उसमे गुण ही पाये जाते है यह कहना ठीक नही है । किसी निर्दोष पुरुष के व्यवहार सदोष पुरुष के समान दिख जाते है और किसी सदोष पुरुष के भी व्यवहार निर्दोष पुरुष के समान दिखते हे पुन. पुरुष को भी गुणी निश्चित करना असभव ही है ।

शून्यवादी (तत्त्वोपप्लववादी)—तब तो चक्षु आदि भी अतीद्रिय है । उनके भी कार्य मे सकर दोष उपलब्ध होने से चक्षु आदि इद्रियो में गुणो के आश्रितत्त्व नियम का निश्चय करना कैसे शक्य होगा ? किसी अपौरुषेय भी ग्रहोपरागादि को शुक्ल वस्त्रादि मे पीत ज्ञान का हेतु मानना उपलक्षण है । अपौरुषेय वेद में भी मिथ्या ज्ञानत्व हेतु की सभावना करने पर आप याज्ञिक - मीमासको को उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय नि शक रूप से कैसे होगा ? इसलिये निर्दोष कारणो से उत्पन्न होने से किसी प्रमाण को प्रमाणता है यह कहना शक्य नही है अर्थात् यदि आप ऐसा कहे कि वेद अपौरुषेय हैं

१ अङ्गीकृते । २ भो मीमासक चक्षुरादीनां गुणाश्रयतयैव । ३ मीमासकस्य । ४ मीमासक । ५ दुरधिगमत्वात् । ६ कुत ? यत । ७ तत्त्वोपप्लववादी । ८ चक्षुरादीनाम् ।

(1) अगीक्रियमाणाया सत्या । (2) हेतो. । (3) व्याहार ।

शक्यः कर्त्तुम् ? 'कस्यचिदपौरुषेयस्यापि च ग्रहोपरागादेः[1] शुक्लवस्त्रादौ पीतज्ञानहेतोरुपलक्षणाद्व[2]दस्यापौरुषेयस्यापि मिथ्याज्ञानहेतुत्वसंभावनायां कथमिव[3] निःशङ्कं याज्ञिकानां तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चयः ? ततो नादुष्टकारकजन्यत्वेन कस्यचित्प्रमाणता ।

अतः प्रमाण है तब तो ग्रहोपरागादि (चद्रमा के परिवेष आदि) भी बिना पुरुष कृत अपौरुषेय ही हैं किंतु उन उपरागादि के निमित्त से श्वेतवस्त्रादि मे पीत का ज्ञान हो जाता है अत अपौरुषेयवेद में भी मिथ्याज्ञान की संभावना हो सकती है ।

विशेषार्थ— मीमांसक ज्ञान की प्रमाणता—सचाई का निर्णय कई कारणों से मानता है । निर्दोष कारणो से उत्पन्न होना और बाधा का न होना । यहाँ पर इन दो बातो पर तत्त्वोपप्लववादी ने बडी आपत्ति उठाई है । श्लोकवार्तिकालंकार मे भी ग्रंथकार ने इसी विषय में स्पष्टीकरण किया है । तथाहि—

अदुष्टकारणारब्धमित्येतच्च विशेषणम् ।
प्रमाणस्य न साफल्यं प्रयात्यव्यभिचारतः ।।७७।।

मीमांसक— मीमासक ने प्रमाण के लक्षण में "निर्दोष कारणो से उत्पन्न होना" यह विशेषण दिया है, वह विशेषण उसके प्रमाण को निर्दोष सिद्ध करने में सफल नही हो सकता है । जो ज्ञान दुष्ट कारणों से उत्पन्न होना है उसके द्वारा स्व और अर्थ का निर्णय होना ही असंभव है, अत विद्यानंदस्वामी प्रमाण का लक्षण "स्वार्थव्यवसायात्मक" स्व, अर्थ का निश्चायक इतना ही पर्याप्त मानते है, किन्तु मीमासकों का कथन है कि—

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ।।"

अर्थात्—जो अपूर्व अर्थ का ग्रहण करने वाला है, निश्चित है, बाधा से रहित है, निर्दोष कारणो से जन्य है और लोक सम्मत हे वही प्रमाण हे ।

इस प्रकार की मान्यता के कहने पर तो श्री विद्यानंद स्वामी स्वयं श्लोकवार्तिक मे इन सभी विशेषणों को सदोष सिद्ध करते हुये अपने सम्यग्ज्ञान के लक्षण को निर्दोष सिद्ध करते है ।

"तत्स्वार्थव्यवसायात्मं ज्ञानं मानमितीयता ।
लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद् विशेषणम् ।।७८।।
गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ।।७९।।"

अर्थ—स्व और अर्थ को निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है इस प्रकार से इतने ही लक्षण से सभी

---

१ अपौरुषेयत्वाददुष्टकारणं वेदवाक्यम् । ।तस्तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चयो भविष्यतीत्याशंकायामाह ।

---

(1) विग्रहो इति पा. । विग्रहो–युद्ध, उपरागो–ग्रहो राहुग्रस्ते त्विदौ पूष्णि चन्द्रः । (2) प्रतीतेः । (3) वाक्यालंकारे ।

प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। अन्य—सर्वथा अपूर्व अर्थ का ग्राहक होना, बाधा से रहित होना, लोक सम्मत होना, निर्दोषकारणों से जन्य होना इत्यादि विशेषण व्यर्थ ही है। जो ज्ञान गृहोत अथवा अगृहात भी अपना और अर्थ का यदि निश्चय करता है तो वह ज्ञान लोक में और शास्त्रो में भी प्रमाणपने को नहीं छोड़ता है।

यहाँ इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिये कि आचार्य विद्यानद महोदय "अपूर्वार्थ" विशेषण को महत्त्व न देकर केवल 'स्वार्थ' विशेषण को ही महत्व दे रहे है, फिर भी स्वय आचार्य ने इसी ग्रथ में स्थान-स्थान पर केवलज्ञान को भी अपूर्वार्थग्राही सिद्ध कर दिया है।

किसी ने कहा कि केवलज्ञान गृहीतग्राही होने से अप्रमाण है तब आचार्य ने कहा कि नही सभी ज्ञान सुनयों की अपेक्षा से अपूर्वार्थ ग्राही है और भी देखिये—

"तत्रापि केवलज्ञान नाप्रमाण प्रसज्यते।
साद्यपर्यवसानस्य तस्यापूर्वार्थतास्थितेः ॥६०॥
प्रादुर्भूतिक्षणादूर्ध्व परिणामित्वविच्युतिः।
केवलस्यैकरूपित्वादिति चोद्य न युक्तिमत् ॥६१॥
परापरेण कालेन संबधात्परिणामि च।
सबधिपरिणामित्वे ज्ञातृत्वे नैकमेव हि ॥

अर्थ—अपूर्वार्थ को जानने वाले उन ज्ञानो में केवलज्ञान अप्रमाण नही है, क्योंकि ज्ञानावरण के पूर्ण क्षय से विवक्षित काल में उत्पन्न हुये सादि और अनतकाल तक स्थित रहने वाले उस केवलज्ञान को अपूर्वार्थ का ग्राहक होना सिद्ध है। मतलब विशेषणों की अत्यल्प परावृत्ति हो जाने से उनको जानने वाले ज्ञान अपूर्वार्थ ग्राहक हो जाते है। थोडा विचार तो करो कि ससार में अपूर्व अर्थ कौन समझे जाते है? सभी द्रव्य पूर्वार्थ ही है, किंतु फिर भी सौन्दर्य, अधिक धनवत्ता, रूपवत्ता, प्रतिभा, विलक्षण तपश्चर्या, अद्भुत शक्ति, विशेष चमत्कार आदि धर्मों को धारण कर लेने से वे यथार्थ अपूर्वार्थ मान लिये जाते है। सूक्ष्म विचार करने पर तो अत्यत छोटे अश को भी नवीनता धारण करने पर पदार्थ को अपूर्वार्थता आ जाती है। जितनी जहाँ अपूर्वार्थ सभवती है उस पर सतोष करना चाहिये। अन्यथा, भक्ष्य, अभक्ष्य विचार, पतिव्रतापन, अचौर्य आदिक लोक व्यवहार सभी समाप्त हो जावेगे। कोई कुतर्क कर रहा है कि "केवलज्ञान अपनी उत्पत्ति क्षण के अनन्तर परिणामी नही होता है ज्यों का त्यों रहता है क्योंकि त्रिकाल त्रिलोकवर्ती सपूर्ण पदार्थों को एक साथ जानकर पुनः एक रूप ही बना रहता है अतः उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणामित्व लक्षण वहाँ अघटित है पुन. अपूर्वार्थग्राही कैसे रहा? आचार्य कहते है कि यह शका भी ठीक नही है क्योंकि उत्तर-उत्तरवर्ती काल के साथ सबध हो जाने से उत्पाद और व्ययरूप परिणाम घटित हो जाते है। केवलज्ञान की पूर्व समयवर्ती पर्याय का नाश हो जाता है और उत्तरकाल में नवीन

[द्वितीयस्य बाधारहितत्वहेतोः खंडन]

नापि बाधानुत्पत्त्या, 'मिथ्याज्ञानेपि [1]स्वकारणवैकल्या[2]द्बाधकस्यानुत्पत्तिसंभवात्[3]

पर्याय की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार से सबध विशिष्ट और परिणाम सहित होने से भी केवलज्ञानी ज्ञाता रूप से एक है यही ध्रुवता है एव परिणमनशील ज्ञेय द्रव्यों के परिणमन से भी ज्ञान परिणामी होता है अत अपूर्वार्थग्राही सिद्ध है।

एव आचार्य श्री माणिक्यनदी ने "परीक्षामुख सूत्र" मे कहा है कि 'अपूर्वार्थ' विशेषण भी निष्फल नही है क्योंकि धारावाहिक ज्ञानो से अज्ञान की निवृत्ति नही हो पाती है अतः धारावाहिक ज्ञान को व्यावृत्ति करना ही उसका फल है। यो तो वह विशेषण केवल स्वरूप के निरूपण करने में तत्पर है फिर भी परस्पर विरोध दोष नही है।

यहाँ पर "निर्दोष कारणजन्यत्व" का निराकरण करते है। यदि ज्ञान के उत्पादक कारणों को निर्दोषता अन्य ज्ञान से जानी जाती है तब तो उस अन्य ज्ञान की निर्दोषता भीअन्य ज्ञान से जानी जावेगी पुन यही धारा असख्य ज्ञानों तक चलते-चलते बहुत बडी अनवस्था आकाश पर्यंत फैल जावेगी। यदि आप मीमासक प्रथम ज्ञान के उत्पादक कारणो की निर्दोषता द्वितीय ज्ञान से जानेगे और द्वितीय ज्ञान की निर्दोषता प्रथम ज्ञान से जानेगे तब तो अन्योन्याश्रय दोष तैयार खड़ा है। अतः ज्ञान के उत्पादक चक्षु आदि इद्रियो की निर्दोषता—निर्मलता आदि को न कोई प्रत्यक्ष (इद्रिय-प्रत्यक्ष) से जान सकते है न अनुमान ज्ञान से।

दूसरी बात यह है कि अनेक भ्रांत ज्ञानों को उत्पन्न करने वाले कारणो को भी लोग निर्दोष समझ बैठे है। इसीलिये अनुमान से भी इस प्रकार सपूर्ण ज्ञानो की निर्दोषकारणो से उत्पत्ति होना नही जान सकते है क्योकि उस अनुमान की भी निर्दोष कारणो से उत्पत्ति हुई है इस बात को भी जानना कठिन है। व्याप्ति ज्ञान की निर्दोषता का ज्ञान तो और भी कठिन है। चक्षु आदिक अतीद्रिय इद्रियो की निर्दोषता जानना कठिन है। बाहर से किसी की निर्दोष चक्षु भी सदोष सदृश दीखती है और दूषित भी चक्षु निर्दोष सदृश दिख जाती है।

बौद्धादि भिन्न २ दार्शनिक सत्त्व हेतु से पदार्थों को क्षणिक, नित्य आदि सिद्ध करते है और जैनाचार्य इसी सत्त्व हेतु से सभी पदार्थो को "नित्यानित्य" सिद्ध कर देते हैं क्योकि जैनों ने सत् का लक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य माना है। तथा कामधेनु के समान इच्छित अर्थ को कहने वाले वेदवाक्यो से ब्रह्मवादी अद्वैत को, कर्मकाडी क्रियाकाड को, हिंसा पोषकजन यज्ञ को आदि २ रूप से अनेक विद्वानों ने अपने २ मत पुष्ट कर लिये है। ये सभी अपने २ आगम ज्ञान के कारणो को निर्दोष मान बैठे है। अतः प्रत्यक्ष अनुमान, आगम ज्ञान के कारणों की निर्दोषता को समझना कठिन समस्या है।

---

१ मरीचिकाया जलज्ञाने। २ तद्दोषपसर्पेण स्वकारण बाधककारणमित्यर्थः। ३ नेद जलमिति।

---

(1) बाधस्य इति पा.।

प्रमाणत्वप्रसक्तेः । अथ[1] [1]यथार्थग्रहणनिबन्धना बाधानुत्पत्तिरप्रमाणाऽसंभविनी प्रमाणत्वसाधिनीति मतं, [2]कुतस्तस्या[3] सत्यार्थग्रहणनिबन्धनत्वनिश्चयः ? [4]संविदः प्रमाणत्वनिश्चयादिति चेत् [5]परस्पराश्रयः । सति प्रमाणत्वनिश्चये संवेदनस्य यथार्थग्रहणनिबन्धनबाधानुत्पत्तिनिर्णयस्तस्मिंश्च सति प्रमाणत्वनिश्चय इति । [6]अन्यतः प्रमाणत्वनिश्चये किमेतया बाधानुत्पत्त्या ? [7]न च बाधानुत्पत्तेर्यथार्थग्रहणनिबन्धनत्वं स्वत एव निश्चीयते, [8]सन्देहाभावप्रसङ्गात् । दृश्यते च सन्देहः, किं [2]यथार्थग्रहणान्नोत्र[9] बाधानुत्पत्तिराहोस्वि-

पुनः यदि आप प्रश्न करें कि आप जैन प्रमाण की प्रमाणता कैसे मानते है तो इस पर ग्रंथकार स्वयं आगे समाधान करेंगे कि प्रमाण की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः है और अनभ्यास दशा में पर से होती है ।

[बाधा रहितत्व हेतु का खंडन]

यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि "बाधा की उत्पत्ति न होने से प्रमाण में प्रमाणता आती है" तो यह कहना भी ठीक नहीं है । मरीचिका में जल रूप मिथ्याज्ञान में भी अपने बाधक कारणों की विकलता—न्यूनता होने से "यह जल नहीं है" इस प्रकार से बाधक की उत्पत्ति असंभव होने से प्रमाणता का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् जैसे किसी ने दूर चमकती हुई बालू का ढेर देखा और वहां जाकर स्नान, पान आदि के लिये पानी का निर्णय नहीं किया अपने काम में लग गया । उस बाधा की उत्पत्ति तो नहीं हुई कि "यह जल नहीं है" पुनः यह मिथ्याज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा किन्तु ऐसी बात तो है नहीं ।

मीमांसक यथार्थ को ग्रहण करने में कारणभूत अप्रमाण में असंभवि अर्थात् प्रमाण में संभव रूप बाधा का उत्पन्न न होना ही प्रमाणता को सिद्ध करता है ।

शून्यवादी यदि ऐसा आपका मत है तब तो वह बाधा की अनुत्पत्ति सत्यार्थ को ग्रहण करने में कारणभूत है यह निश्चय भी कैसे होगा ?

मीमांसक ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय होने से हो जावेगा ।

शून्यवादी—ऐसा मानने पर तो परस्पराश्रय दोष आता है प्रमाणता का निश्चय होने पर ज्ञान में यथार्थ ग्रहण निमित्तक बाधा की उत्पत्ति नहीं है ऐसा निर्णय होगा और बाधा की उत्पत्ति नहीं है इस बात का निश्चय हो जाने पर प्रमाणता का निश्चय होगा । इस प्रकार से दोनों की सिद्धि नहीं हो सकेगी । यदि अन्य प्रमाणांतर से प्रमाणता का निश्चय होना कहो तो पुनः इस बाधा की अनुत्पत्ति से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अर्थात् आपने बाधा की उत्पत्ति न होना इसी से ज्ञान को वास्तविक माना

१ मीमांसकः । २ तत्त्वोपप्लववादी । ३ तर्हीति शेषः । ४ मीमांसकः । ५ तत्त्वोपप्लववादी । ६ प्रमाणान्तरात् । ७ मीमांसकाभिप्रायं निराकुर्वन्नाह तत्त्वोपप्लववादी । ८ अन्यथा । ९ नः अस्माकम् ।

(1) ननु स्वकारणवैकल्यनिबंधना । (2) अन्यथा । न चैव ।

त्स्व[1]कारणवैकल्यादित्युभयसंस्पर्शिप्रत्ययोत्पत्तेः । [1]क्वचिद्दूरे मरीचिकायां जलज्ञाने स्वकारणवैकल्याद्बाधकप्रत्ययानुत्पत्तिप्रसिद्धेरभ्यासदेशे[2] तत्कारणसाकल्याद्बाधकज्ञानोत्पादात् ।

[अर्थज्ञानानन्तरमेव बाधानुत्पत्तिः ज्ञानस्य प्रमाणतां ज्ञापयति सर्वदा वा ?]

[3]किञ्चार्थसंवेदनानन्तरमेव बाधानुत्पत्तिस्तत्प्रामाण्यं व्यवस्थापयेत् सर्वदा वा ? न तावत्प्रथम-

है। अब ज्ञान में यथार्थता को ग्रहण करने से बाधा की उत्पत्ति नही है इस बात का निर्णय आप अन्य प्रमाण से मान रहे हैं। पुन. ज्ञान वास्तविक है इस बात को आप अन्य प्रमाण से हो क्यों न मान लीजिये, तब तो बाधा की अनुत्पत्ति हेतु से क्या कार्य सिद्ध होगा ? अर्थात् इससे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नही होगा क्योंकि बाधा की उत्पत्ति न होने से यथार्थ ग्रहण निबधनत्व स्वतः ही निश्चित नही होता है। अन्यथा सदेह का ही अभाव हो जावेगा, किन्तु संदेह तो देखा जाता है। उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

हम लोगों को इस विषय में यथार्थ ग्रहण करने से क्या बाधा की उत्पत्ति नही है ? अथवा अपने बाधक कारणो की विकलता से बाधा की उत्पत्ति नही है ? इस प्रकार से उभय सस्पर्शि—संशय ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है। कही दूर स्थान पर मरीचिका में जल ज्ञान के होने पर अपने बाधक कारणों की विकलता से बाधक ज्ञान की उत्पत्ति न होना प्रसिद्ध है और समीप देश में अपने बाधक कारणों की सकलता—पूर्णता होने से बाधक ज्ञान उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। जैसे किसी ने दूर से चमकती रेत को देखकर उसे जल समझ लिया कितु वहाँ से पानी मंगाने का, स्नान आदि करने का उसे प्रसंग नही आया अतः उसमें बाधक कारण न मिलने से उस मिथ्याज्ञान में भी बाधा नही आती है और कोई मनुष्य निकट के तालाब के एक तरफ सूखी हुई चमकती रेत देख कर उसमें पानी भरने के लिये चल पडा, गया तो लज्जित होकर वापस आया, खिन्न होकर सोचने लगा कि मेरा जल ज्ञान गलत निकल गया। अतः इस व्यक्ति को निकट में बाधा के उत्पन्न हो जाने से जल ज्ञान में सचाई नही रही अतः हम लोगों को "बाधा की अनुत्पत्ति" में सशय बना ही रहता है ।

[बाधा की अनुत्पत्ति पदार्थ के ज्ञान के अनतर ही ज्ञान की प्रमाणता को बतलाती है या हमेशा ही ? पुनरपि तत्त्वोपप्लववादी दूसरी तरह से प्रश्न कर रहे है]

दूसरी बात यह है कि अर्थ ज्ञान के अनंतर ही बाधा का न होना उस ज्ञान की प्रमाणता को व्यवस्थापित करता है अथवा सर्वदा ही बाधा की उत्पत्ति का न होना ? प्रथम विकल्प तो सभव नहीं है क्योंकि किसी मिथ्याज्ञान में भी अनतर ही बाधा की उत्पत्ति नही देखी जाती है। किसी ने सीप को चादी समझा और तत्काल ही उसे गलाने, जेवर आदि बनाने का प्रसग नही आया तो भी इस मिथ्याज्ञान को सच्चा नही माना जाता है ।

---

१ तद्देशोपसर्पणरूपबाधककारणस्य । २ समीपे । ३ तत्त्वोपप्लववादी ।

(1) स्वकारणवैकल्यावस्थानं प्रदर्शयति ।

विकल्पः संभवति, मिथ्याज्ञानेपि क्वचिदनंतरं बाधानुत्पत्तिदर्शनात् । सर्वदा बाधानुत्पत्तेः संविदि प्राामाण्यनिश्चयश्चेन्न[१], [२]तस्याः प्रत्येतुमशक्यत्वात्, संवत्सरादि[३] विकल्पेनापि [1]बाधोत्पत्तिदर्शनात् । चिरतरकालं बाधस्यानुत्पत्तावपि स्वकारणवैकल्यात् कालान्तरेप्यसौ[४] नोत्पत्स्यते इति कुतो [५]निश्चयनीयः[2] ? क्वचित्तु मिथ्याज्ञाने [3]तज्जन्मन्यपि बाधा नोपजायते, [६]स्वहेतुवैकल्यात् । न [७]चैतावता [८]तत्प्रामाण्यम् ।

यदि दूसरा विकल्प लेवो कि सर्वदा ही बाधा की उत्पत्ति न होने से ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय होता है तब तो यह कथन भी ठीक नही है। सर्वदा ही बाधा की उत्पत्ति का नही होना यह समझना ही अशक्य है। सवत्सर-वर्ष आदिकों के भेद से भी बाधा की उत्पत्ति देखी जाती है। बहुत काल तक बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी अपने कारणो की विकलता होने से कालातर में भी वह "बाधा का न होना" नहीं हो सकेगा—बाधा का न होना असंभव है। यह बात भी आप मीमासक किस प्रमाण से निश्चित करेंगे ? अर्थात् सीप में चांदी का ज्ञान हो गया और यह कल्पना बहुत दिनो तक बनी रही। यह सीप है इस प्रकार की प्रतीति कराने वाला कारण नही मिल सका तो बाधा की उत्पत्ति नही भी होती है और बाधक कारण मिलने पर बाधा उत्पन्न हो भी जाती है। कही पर मिथ्याज्ञान मे तो उस जन्म मे भी बाधा उत्पन्न नही होती है क्योंकि अपने हेतु की विकलता है। अर्थात् बाधक कारण नही भी मिलते है। एतावन्मात्र से—हमेशा बाधा की उत्पत्ति न होने मात्र से वह अर्थ ज्ञान प्रमाण हो जावे ऐसी बात भी नही है।

[एक देश मे स्थित मनुष्य के ज्ञान मे बाधा की अनुत्पत्ति प्रमाणता का हेतु है या सर्वत्र बाधा की उत्पत्ति न होना प्रमाणता का हेतु है ?]

दूसरी तरह से पुनः हम प्रश्न करते है कि किसी देश में स्थित ज्ञाता—मनुष्य को बाधा की उत्पत्ति न होना अर्थ ज्ञान में प्रमाणता का कारण है ? या सभी स्थान मे रहने वाले पुरुषों की बाधानुत्पत्ति अर्थ ज्ञान में प्रमाणता का कारण है ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है अन्यथा किसी मिथ्याज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है कही दूर मे ठहरे हुए पुरुष को बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी समीप में बाधा की उत्पत्ति देखी जाती है। सर्वत्र स्थित सभी देशों में रहने वालों को बाधा की उत्पत्ति नही है इसमें सदेह है क्योंकि समीप मे बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी दूर मे बाधा की उत्पत्ति सभव है।

१ तत्त्वोपप्लववादी। २ बाधानुत्पत्ते। ३ भेदेन। ४ बाधानुत्पत्तिः। ५ तत्त्वोपप्लववादी मीमांसकं प्रत्याह—हे मीमासक त्वया कुतः प्रमाणान्निश्चयनीयो द्वितीयोपि विकल्पः ? । ६ हेतुः बाधककारणम्। ७ सर्वदा बाधानुत्पत्त्या। ८ अर्थवेदनस्य।

(1) स्वकारणसाकल्यात्। शुक्तिकायां रजतज्ञाने। (2) असर्वविदेद प्रत्येतुमशक्यमिति भावः (3) विवक्षितभवे ।

[एकस्मिन् देशे स्थितस्य मनुष्यस्य ज्ञाने बाधानुत्पत्ति प्रामाण्यहेतु सर्वत्र वा ?]

किञ्च क्वचिद्देशे स्थितस्य बाधानुत्पत्तिः प्रतिपत्तुः [1]सर्वत्र वार्थसंविदि प्रामाण्यहेतुः ? न तावत्प्रथमः पक्षः— [2]कस्यचिन्मिथ्यावबोधस्यापि [3]प्रमाणत्वापत्तेः । नापि द्वितीयः, कस्यचिद्दूरे स्थितस्य [1]बाधानुत्पत्तावपि समीपे बाधोत्पत्तिप्रतीतेः सर्वत्र स्थितस्य बाधानुत्पत्तिसन्देहात् । समीपे [2]बाधानुत्पत्तावपि दूरे बाधोत्पत्तिसंभावनाच्च ।

[कस्यचित् मनुष्यस्य बाधानुत्पत्ति सर्वस्य वा ?]

किञ्च [3]कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः सर्वस्य वा ? न तावत्कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः[4] संविदि

दूसरा प्रश्न यह है कि—

[किसी को बाधा का उत्पन्न न होना ज्ञान मे प्रमाणता का हेतु है या सभी को बाधा का न होना प्रमाणता का हेतु है ?]

किसी को बाधा की उत्पति नही है या सभी को ? किसी को बाधा की उत्पत्ति नही है यह बात ज्ञान में प्रमाणता का हेतु नही हो सकती है क्योंकि विपर्यय ज्ञान में भी यह बात मौजूद है। मरीचिकादि के जलज्ञान में देशातर के गमन आदि से बाधा को उत्पत्ति न होने पर भी प्रमाणता का अभाव है।

यदि दूसरा विकल्प लेवो की सभी को बाधा की उत्पत्ति का न होना ही अर्थज्ञान में प्रमाणता का हेतु है यह पक्ष भी ठीक नही है "सभी को बाधा को उत्पत्ति नही है" इस बात को अल्पज्ञ जनों के द्वारा जानना शक्य नही है अथवा शक्य मानों तो जो जानेगा वही मनुष्य सर्वज्ञ हो जावेगा। पुनः सभी के सर्वज्ञ हो जाने से "यह असर्वज्ञ (अल्पज्ञ) है।" यह व्यवहार ही समाप्त हो जावेगा क्योकि सभी देश, कालवर्ती पुरुष की अपेक्षा से बाधकाभाव के निर्णय की सर्वज्ञ के साथ अन्यथानुपपत्ति है। इसलिए बाधा से रहित होने से ज्ञान प्रमाण है यह कथन ठीक नही है।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी ने मीमासक से प्रश्न किया कि आप ज्ञान को सच्चा कैसे मानते है ? तब मीमासक ने कहा कि ज्ञान मे बाधा की उत्पति नही होती है इसलिए उस ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध है। तब तत्त्वोपप्लववादी अनेको प्रश्न उठा रहा है। पहले उसने कहा कि मिथ्याज्ञान में भी कभी-कभी बाधा की उत्पत्ति नही होती है तो क्या वह ज्ञान प्रमाण हो जावेगा ? देखिये ! कोई मनुष्य सीप को चाँदी समझकर उसे तिजोरी मे रख देता है बहुत दिनो तक उसे चादी ही मान रहा है तो क्या यह ज्ञान प्रमाण है ? यदि कहो कि बाधा का न होना— मतलब जैसे को तैसा ग्रहण करना, तब तो यह बात भी आप कैसे समझेंगे ?

यदि कहो ज्ञान में प्रमाणता है इस बात के निश्चय से हम समझ लेंगे कि यह सत्यार्थ को ग्रहण

१ दूरे समीपे च स्थितस्य प्रतिपत्तुर्बाधानुत्पत्तिः । २ पुंसः । ३ बाधककारणवैकल्यात् ।

(1) मरीचिकाया। (2) आसन्नतैमिरिकस्य (3) संविदि प्रामाण्यहेतु (4) संविदि प्रामाण्यहेतुः ।

प्रामाण्यहेतुः, [1]विपर्ययेपि भावात् । मरीचिकादौ तोयज्ञाने [2]देशान्तरगमनादिना बाधानुत्पत्तावपि प्रमाणत्वाभावात् । सर्वस्य[१] बाधानुत्पत्तिरर्थसंवेदने प्रामाण्यकारणमिति चेन्न, तस्याः किञ्चिज्ज्ञैर्ज्ञातुमशक्तेः, शक्तौ वा तस्य सर्वज्ञत्वापत्तेरसर्वज्ञव्यवहाराभावप्रसङ्गात्[२] [3]सर्वदेशकालपुरुषापेक्षया[4] बाधकाभावनिर्णयस्यान्यथानुपपत्तेः[5] । इति न बाधारहितत्वेन संवेदनस्य प्रामाण्यम् ।

करने वाला है तो भी ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय,बाधा के न होने से है और बाधा का न होना ज्ञान की प्रमाणता से है मतलब अन्योन्याश्रय दोष आ गया। यदि ज्ञान की प्रमाणता बाधा के उत्पन्न होने से है और बाधा का न होना सत्यार्थ ग्रहण से है पुनः सत्यार्थ ग्रहण का निर्णय अन्य प्रमाण से है तब तो अनवस्था, चक्रक दोष आते ही रहेंगे ।

प्रश्न ऐसा भी होता है कि चादी को चांदी और सीप को सीप रूप से ग्रहण करने से बाधा की उत्पत्ति नही है अथवा बाधक कारण नही मिलने से बाधा नही है ?

यह चादी को चादी ही समझ रहा है यह निर्णय भी कौन देवे ? यदि कहो बाधक कारण नहीं मिले हैं तब तो किसी ने सीप को चादी मानकर बहुत दिनो तक पेटी में रख रखा, उसका उपयोग करने का अवसर नही मिला, बाधक कारण नही बने फिर भी वह ज्ञान प्रमाणीक नही है ।

ऐसा भी प्रश्न होता है कि किसी पदार्थ को देखते ही जो ज्ञान होता है उसमें उसी क्षण बाधा उत्पन्न नही हुई इसलिए प्रमाणीक है या उसमें कभी भी बाधा उत्पन्न होगी ही नही इसलिये प्रमाणीक है ?

इस पर समाधान यह है कि किसी ने पुरुष को कुछ अधेरे मे ठूठ समझा, उसी क्षण वा कुछ क्षण तक उसे उस ज्ञान में बाधा नही दिखी तो क्या वह ज्ञान सच्चा माना जावेगा ? अथवा किसी ने अपने शरीर और कुटुम्बियो को जीवन भर अपना मान रखा है तो क्या यह ज्ञान सच्चा है ?

दूसरी बात यह भी है कि कभी भी बाधा उत्पन्न नही होगी यह निर्णय कौन देवे ? हो सकता है कुछ दिन बाद उसे पुत्र की स्वार्थपरता देखकर वैराग्य हो जावे अतः मिथ्याज्ञान मे कभी बाधा की उत्पत्ति हो भी जाती है और कभी नही भी होती है । कभी किसी को मिथ्याज्ञान में जन्म भर बाधा उत्पन्न ही नही होती है । सीप को चांदी ही समझता रहता है, किन्तु इतने मात्र से—बाधा के न होने मात्र से वह ज्ञान प्रमाणीक नही है ?

पुनः प्रश्न होता है कि कलकत्ते आदि किसी एक देश में रहने वाले मनुष्य को उस ज्ञान मे बाधा नहीं है या सर्वत्र दिल्ली, बम्बई आदि में भी रहने वाले को उस ज्ञान में बाधा नहीं है ? इसका भी बड़ा मजेदार ही उत्तर है । कलकत्ते के मनुष्य ने सीप को चादी समझा उसमें उसे बाधा नहीं दिखी तो क्या

---

१ द्वितीयविकल्पः । २ सर्वे सर्वज्ञा भवेयुरिति ।

---

(1) मिथ्याज्ञाने । (2) मरीचिकादेशतोऽन्यदेशातर । (3) निराकृतहेतूनां सग्रहो दर्शितः (4) पुरुषापेक्षबाधकाः इति पा. । (5) सर्वज्ञमन्तरेण

[तृतीयेन प्रवृत्तिसामर्थ्यहेतुना ज्ञानस्य प्रमाणत्वनिराकरणं]

[१]नापि प्रवृत्तिसामर्थ्येन, [२]अनवस्थाप्रसक्तेः । [३]प्रवृत्तिसामर्थ्यं हि [४]फलेनाभिसम्बन्धः[५] [६]सजातीयज्ञानोत्पत्तिर्वा ? [७]यदि फलेनाभिसम्बन्धः सोवगतोनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेत् ? न तावदनवगतः, अतिप्रसङ्गात्[८] । सोवगतश्चेत् [1]तत एव प्रमाणादन्यतो वा ? न तावत्तत एव, परस्पराश्रयानुषङ्गात्[2] सति फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमे[3] [९]तस्य प्रमाणा-

---

वह ज्ञान प्रमाण हो गया ? अथवा सर्वत्र भ्रमणशील मनुष्य ने या बहुत से जनो ने सीप को चांदी माना और सच्चानिर्णय नही कर सके, कुछ दिन बाधा नही आई, तो क्या वह ज्ञान प्रमाण हो गया ?

पुनरपि प्रश्न होता है कि एक व्यक्ति को किसी ज्ञान में बाधा नही आई, तो क्या इतने मात्र से वह ज्ञान प्रमाण हो गया या सभी को उसमें बाधा नही आई ?

यदि एक व्यक्ति के सबंध में बात है तो वही सीप में चादी के विपर्यय ज्ञान में उसे बाधा नही दिखी तो क्या वह ज्ञान प्रमाण है ? यदि सभी को बाधा नही है ऐसा कहो तब तो आप मीमासक पहले सर्वज्ञ बनो, सारे विश्व में सभी को देखो, फिर निर्णय दो । यदि आपको यह बात स्वीकार नही है तब तो आप अल्पज्ञ "सभी को इस ज्ञान में बाधा नहीं है" ऐसा निर्णय कैसे करोगे ? इस प्रकार से "बाधा की उत्पत्ति न होने से" ज्ञान में प्रमाणता आती है यह बात प्रमाण की कोटि मे नही उतरती है इसप्रकार से तत्त्वोपप्लववादी के मुख से जैनाचार्यो ने मीमासक का खडन कराया है ।

अब जैनाचार्य इस बात का निश्चय कराते है कि जहा पर "स्वार्थ निश्चायक ज्ञान" है वहा पर कोई भी बाधा नही आती है, वही ज्ञान प्रमाण है और जहा स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान का लक्षण नही है वहां पर बाधाये नही होते हुए भी ज्ञान प्रमाण नही है अप्रमाण ही है । इसलिये ज्ञान की प्रमाणता को बाधानुत्पत्ति से मानना ठीक नही है ।

[नैयायिक प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ज्ञान की प्रमाणता मानते है उनका खडन]

यदि आप नैयायिक तीसरा पक्ष मान्य करे कि प्रवृत्ति की सामर्थ्य से प्रमाण में प्रमाणता है सो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनवस्था का प्रसग आता है । अच्छा आप यह तो बताइये कि वह प्रवृत्ति की सामर्थ्य है क्या ? फल (स्नानपानादि रूप) से अभिसबध होना या पुरुष को सजातीय ज्ञान की उत्पत्ति का होना ?

यदि फल से अभिसंबध कहो तो वह अवगत–जानी गई होकर ज्ञान की प्रमाणता को बतलाती है

---

१ प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रमाणस्य प्रामाण्यमिति नैयायिको ब्रूते । त प्रत्याह तत्त्वोपप्लववादी । २ चक्रकप्रसङ्गदूषणं तदप्यनवस्था । ३ तत्त्वोपप्लववादी काणादं प्रति पृच्छति । ४ सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्ध इति पक्षिलभाष्यात् । ५ स्नानपानादिना । ६ पुंसः । ७ तत्त्वोपप्लववादी । ८ पर्वतादौ धूमापरिज्ञानेप्यग्निनिश्चयप्रसङ्गात् । ९ विज्ञानस्य ।

---

(1) विवक्षितात् (2) अयणानुषगात् इति पा. । (3)प्रकृतज्ञाने ।

त्वनिश्चयात् तस्मिंश्च सति [१]तेन [२]तदवगमात्। अन्यतः प्रमाणात्सोवगत इति [1]चेत्तदन्यत्प्रमाणं कुत; प्रामाण्यव्यवस्थामास्तिघ्नुते[३] ? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति [2]चेत् तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदावगतोऽनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेदित्यादि पुनरावर्त्तत इति [४]चक्रकप्रसङ्गः । [3]एतेन[५] सजातीयज्ञानोत्पत्तिः प्रवृत्तिसामर्थ्यं संवित्प्रामाण्यस्यागमकं प्रतिपादितं, सजातीयज्ञानस्य प्रथमज्ञानात्प्रामाण्यनिश्चये परस्पराश्रयणस्याविशेषात्, [६]प्रमाणान्तरात्तत्प्रमाण्यनिर्णयेनवस्थानुपङ्गात् ।

या अनवगत—नही जानी गई को ? अनवगत (अज्ञात) तो आप कह नही सकते अन्यथा अतिप्रसग आ जावेगा अर्थात् पर्वतादि पर धूम को नही देखकर भी अग्नि का निश्चय हो जावेगा।

यदि कहो कि जो फल से अभिसबधित-जाना हुआ होकर ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध करता है तो वह उसी प्रमाण से अवगत—ज्ञात है या अन्य प्रमाण से ? उसी से ज्ञात तो आप कह नही सकते अन्यथा परस्पराश्रय दोष आ जावेगा। फल से अभिसबध का ज्ञान हो जाने पर उस ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होगा और उसमें प्रमाणता का निश्चय होने मे उस ज्ञान से फल के अभिसबध का निश्चय होगा। दूसरा पक्ष लेवो कि अन्य प्रमाण से वह जाना गया है तो वह अन्य प्रमाण भी किस प्रमाण से प्रमाणता को प्राप्त करता है ? यदि आप कहे कि प्रवृत्ति की सामर्थ्य से, तो पुनः वह प्रवृत्ति की सामर्थ्य भी यदि फल से अभिसंबंधित है तो वह अवगत होकर ज्ञान की प्रमाणता को कराती है या अनवगत—अज्ञात रहकर ? इत्यादि रूप से पुनः-पुन उन प्रश्नो की आवृति होने से चक्रक दोष का प्रसग आता है।

दो बार की आवृत्ति को परस्पराश्रय दोष एवं तीन बार की आवृति को चक्रक दोष कहते हैं।

इसी उक्त कथन से 'सजातीय ज्ञान की उत्पत्ति रूप प्रवृत्ति की सामर्थ्य ज्ञान की प्रमाणता को बतलाती है" इस कथन का भी निराकरण कर दिया है क्योंकि सजातीय ज्ञान मे प्रथम ज्ञान से प्रमाणता का निश्चय मानने पर परस्पराश्रयदोष समान ही है। तथा उस सजातीय ज्ञान की प्रमाणान्तर-अन्य ज्ञान से प्रमाणता का निश्चय करने पर अनवस्था का प्रसग दुर्निवार है।

१ विज्ञानेन। २ फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमात्। ३ प्राप्नोति। ४ चक्रक विवृणोति।—तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदा सोवगतोनवगतो वा सविद. प्रामाण्य गमयेत् ? यद्यनवगतस्तदातिप्रसङ्ग। सोवगतश्चेत्तत एव प्रमाणादन्यतो वा ? न तावत्तत एवं परस्पराश्रयानुपङ्गात्। अन्यत प्रमाणात्सोवगत इति चेत्तदन्यत्प्रमाण कुतः प्रामाण्यव्यवस्थामास्तिघ्नुते ? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति चेत्तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्य यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदावगतोनवगतो वेत्यादिप्रकारेण वारत्रयमावर्त्तने चक्रकं दूषण भवति। ५ प्रवृत्तिसामर्थ्यस्य फलेनाभिसम्बन्धस्य निराकरणद्वारेण। ६ तत्र सजातीयज्ञाने।

(1) चेत्तदा तदन्यत्प्रमाण इति पा.। (2) चेत्तत्प्रवृत्ति इति पा.। (3) फलाभिसबधलक्षणप्रवृत्तिसामर्थ्यनिराकरणपरेण ग्रथेन।

[प्रवृत्तिशब्दस्य कोऽर्थ इति तत्त्वोपप्लववादी नैयायिकं पृच्छति]

[1]प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुः प्रमेयदेशोपसर्पणं प्रमेयस्य प्रतिपत्तौ स्यादप्रतिपत्तौ वा ? न तावदप्रतिपत्तौ, [2]सर्वत्र सर्वस्य[1] प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । [3]तत्प्रतिपत्तौ [4]चेन्निश्चितप्रामाण्यात्[2] संवेदनात्तत्प्रतिपत्तिरनिश्चितप्रामाण्याद्वा ? प्रथमपक्षे परस्पराश्रयणमेव, सति प्रवर्त्तकस्य[3] संवेदनस्य प्रामाण्यनिश्चये ततः प्रमेयप्रतिपत्तिः, सत्यां च प्रमेयप्रतिपत्तौ प्रवृत्तेः सामर्थ्यात्तत्प्रामाण्यनिश्चयात् । [5]प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ प्रथमसंवेदनस्य वैयर्थ्यं, स एव च [6]पर्यनुयोगोनवस्थापत्तिकरः । [7]द्वितीयपक्षे तु प्रामाण्यनिश्चयानर्थक्य, स्वयमनिश्चितप्रामाण्यादेव संवेदनात्प्रमेयप्रतिपत्तिप्रवृत्तिसिद्धेः । [8]सशयात्प्रवृत्तिदर्शनाददोष इति चेत् [9]किमर्थमिदानीं

[प्रवृत्ति शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी नैयायिक से प्रश्न करता है ।]

अच्छा ! आप यह तो बतलाइये कि प्रवृत्ति शब्द का अर्थ क्या है ?

नैयायिक– ज्ञाता मनुष्य का प्रमेय–जानने योग्य देश को प्राप्त करना प्रवृत्ति है ।

तत्त्वोपप्लववादी– तब तो वह ज्ञाता की प्रवृत्ति प्रमेय का ज्ञान होने पर प्रमेय देश को प्राप्त करती है या प्रमेय का ज्ञान नही होने पर ?

द्वितीय पक्ष लेवो तो सभी प्रमेयो (जानने योग्य पदार्थों) में सभी की प्रवृत्ति हो जावेगी । यदि प्रथम पक्ष लेवो कि प्रवृत्ति प्रमेय को जान कर उसमें प्रवृत्ति करती है तो प्रमाणभूत सवेदन से–सच्चे ज्ञान से उस प्रमेय का ज्ञान हुआ या अनिश्चित है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से ?

प्रथम पक्ष में तो परस्पराश्रय ही है । प्रवर्तक ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होने पर उससे प्रमेय का ज्ञान होगा और प्रमेय का ज्ञान हो जाने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से उसकी प्रमाणता का निश्चय होगा । मतलब दोनों में से एक भी सिद्ध नही होगे ।

यदि आप नैयायिक प्रमाणातर से उसका ज्ञान माने तो प्रथम ज्ञान व्यर्थ ही हो जावेगा एव वे ही पूर्वोक्त प्रश्न उठते रहने से अनवस्था आ जावेगी ! द्वितीय पक्ष लेवो कि अनिश्चित है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से निश्चय होता है तो प्रमाणता का निश्चय करना ही व्यर्थ हो जावेगा क्योकि आपने स्वय अनिश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से ही प्रमेय ज्ञान में प्रवृत्ति स्वीकार कर ली है ।

नैयायिक—सशय ज्ञान से भी तो प्रवृत्ति देखी जाती है अतः कोई दोष नही है ।

शून्यवादी—पुन किसलिये यहा प्रमाण की परीक्षा करना है, जबकि सच्चे और झूठे-सशयादि

१ तत्त्वोपप्लववादी इतः पर प्रवृत्ति विचारयति । २ प्रमेये । ३ नैयायिक. । ४ तत्त्वोपप्लववादी । ५ भो नैयायिक । ६ प्रमाणान्तरस्यापि । प्रामाण्यप्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुरित्यादिग्रन्थावतार. । ७ अनिश्चित प्रामाण्यादिति । ८ नैयायिकः । ९ तत्त्वोपप्लववादी ।

(1) सर्वत्र स्थितस्य पु स. । (2) बस. । (3) प्रवृत्तिहेतुत्वात् ।

प्रमाणपरीक्षणम् ? [1]लोकवृत्तानुवादार्थमिति[2] चेत्तर्हि[3] लोकवृत्तं[4] [5]कुतो निर्विवादं प्रसिद्धं यस्यानुवादार्थं प्रमाणशास्त्रप्रणयनम् ? न तावत्स्वत[6] एव, (1)प्रमाणतोर्थप्रतिपत्तौ(2) प्रवृत्ति-सामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमिति(3) परतः (4)प्रामाण्यानुवादविरोधात् । [8]स्वतः प्रसिद्धं हि[9] प्रमाण-प्रमेयरूपं लोकवृत्तं तथैवानुवदितुं [9]युक्तं [10]नान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । [11]यथानूद्यतेस्माभि-स्तथैव[12] लोकवृत्तं प्रसिद्धं [13]स्वत इति चेन्न, स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमित्य[14]न्यैर्लोक-वृत्तस्यानुवादात् [15]तथैव प्रसिद्धिप्रसङ्गात् । [16]स मिथ्यानुवाद इति चेत् तवापि[17] मिथ्या-नुवादः कुतो न भवेत् ? [18]तथा लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वादिति चेत् [19]परोप्येवं ब्रूयात् । (5)तथैव

सभी ज्ञान प्रवृत्ति करा देते है।

नैयायिक—लोक की प्रवृत्ति को सार्थक करने के लिये ही प्रमाण की परीक्षा है। मतलब प्रवृत्ति तो सच्चे और झूठे-संशयादि सभी ज्ञानों से होती रहती है फिर भी लोक व्यवहार के लिये प्रमाण की परीक्षा की जाती है।

शून्यवादी—तब तो प्रमाण प्रमेय रूप लोक व्यवहार भी किस प्रकार से निर्विवाद सिद्ध है जिसका अनुवाद—जिसको सार्थक करने के लिये प्रमाण शास्त्र की रचना की जावे। यदि आप कहे कि स्वत. है तो यह कथन भी आप कह नही सकते, क्योंकि प्रमाण से अर्थ का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अर्थवान् प्रमाण है इस प्रकार सिद्ध हो जाने से तो आपके सिद्धान्तानुसार ज्ञान में पर से प्रमाणता का मानना विरुद्ध हो जावेगा, क्योंकि स्वरूप से स्वत ही प्रसिद्ध प्रमाण और प्रमेय के स्वरूप लोक व्यवहार को उसी प्रकार से आपके प्रमाण शास्त्र में कहना युक्त है अन्यथा पर से प्रमाणता कहना युक्त नही होगा, क्योंकि अति प्रसग आ जाता है।

नैयायिक - जिस प्रकार से (पर से प्रमाणता प्रकार से) हम लोग कहते है उसी प्रकार से ही लोक व्यवहार प्रसिद्ध है स्वत नही है।

शून्यवादी—ऐसा नही कहना अन्यथा स्वत. ही सभी प्रमाणों में प्रमाणता आती है। इस प्रकार से अन्य मीमांसक जनों ने जो लोक व्यवहार स्वीकार किया है उसी प्रकार से उसकी भी सिद्धि का प्रसग

१ नैयायिक.। २ सार्थकम्। ३ तत्त्वोपप्लववादी। ४ प्रमाणप्रमेयरूपो व्यवहारो लोकवृत्तम्। ५ स्वतो वा परतो वा। ६ स्व-रूपत.। ७ तत्त्वोपप्लववादी। ८ परत. प्रामाण्यानुवादविरोध विवृणोति तत्त्वोपप्लववादी। ९ भवदीये प्रमाणशास्त्रे। १० परत प्रकारेण। ११ नैयायिक। १२ परत प्रकारेण। १३ "नस्वतः" इति भाति। १४ मीमासकै। १५ सर्व-प्रमाणानां स्वत. प्रामाण्यमिति प्रसिद्धिप्रसङ्गात् १६ स्वतोनुवाद.। १७ नैयायिकस्य। १८ नैयायिक.। परत. प्रामाण्य-प्रकारेण। १९ मीमासक।

(1) प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणमितीद नैयायिकप्रसिद्ध परत प्रामाण्यापादकं वचनं। (2) सत्या। (3) निश्चितप्रामाण्यं। (4) नैयायिकस्य। (5) परपरिकल्पितप्रकारेण।

लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वे तथानुवादस्य सत्यत्व, तत्सत्यत्वाच्च तथैव लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्व-मितीतरेतराश्रयत्वमप्युभयोः[1] समानम् । [2]तथा [3]लोकवृत्तान्तरात्तस्य[4] प्रसिद्धौ पुनरनवस्था दुर्निवारैव । इति न प्रवृत्तिसामर्थ्यात्संविद. प्रामाण्यनिश्चयानुवादो[5] युक्तः । ततो न प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रामाण्यं व्यवतिष्ठते ।

आ जावेगा ।

नैयायिक - प्रमाणों की प्रमाणता स्वतः मानना मिथ्या है ।

शून्यवादी—आप नैयायिक की मान्यता (प्रमाणो की प्रमाणता पर से मानना) भी मिथ्या क्यों नही हो जावे ?

नैयायिक—नही ! क्योंकि पर से ही प्रमाण मे प्रमाणता आती है यह लोक व्यवहार प्रसिद्ध है ।

शून्यवादी—तब तो मीमांसक भी इसी प्रकार से कह सकता है कि स्वत. ही प्रमाण की प्रमाणता प्रसिद्ध है । इस प्रकार सेआप दोनों—नैयायिक और मोमासक समान ही है । दोनों ही अपनी-अपनी बात को सत्य कह रहे है ।पुनः पर से या स्वत· प्रमाण की प्रमाणता रूप से प्रमाण-प्रमेय रूप लोक व्यवहार के प्रसिद्ध हो जाने पर उसका वैसा ही कथन करना सत्य होगा और उसका वैसा ही कथन करना सत्य सिद्ध होने से उस प्रकार का प्रमाण-प्रमेय रूप लोक व्यवहार सिद्ध होगा । इस प्रकार से इतरेतराश्रय दोष तो नैयायिक और मीमासक दोनो के यहा समान ही है ।

यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि प्रमाण-प्रमेय रूप लोकव्यवहार पर से निर्विवाद प्रसिद्ध है तब तो यह लोक व्यवहार अन्य लोक व्यवहार से सिद्ध होगा पुन· उसका कथन अन्य लोक व्यवहार से, इस प्रकार अनवस्था दुर्निवार ही है । इसलिये प्रवृति की सामर्थ्य से ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय सिद्ध नही हो सकता अत प्रवृत्ति सामर्थ्य मे प्रमाणता की व्यवस्था कथमपि शक्य नही है ।

भावार्थ— नैयायिक और वैशेषिक ज्ञान की प्रमाणता को प्रवृत्ति की सामर्थ्य से मानते हैं । उनका कहना है कि "प्रमाणतोऽर्थप्रतीतौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाण" अर्थात् ज्ञान से जलादि अर्थ को जानकर उसमें स्नान, पान, अवगाहन आदि रूप से प्रवृत्ति हो जाने की सामर्थ्य से प्रमाण ज्ञान अर्थवान्—प्रयोजनभूत प्रमाणीक है, किन्तु यहा तत्त्वोपप्लववादी उसकी इस मान्यता में अनेक दोष दिखाता है । नैयायिक का अभिप्राय है कि 'तालाब में जल है' इस प्रकार से ज्ञान हुआ अब यह ज्ञान सच्चा है या नही, इसका निर्णय कौन देवे ? उस तालाब के जल में प्रवृत्ति की सामर्थ्य है या नहीं अर्थात् स्नान पानादि क्रियायें हो सकती है या नही ? यदि हो सकती है तब तो उस प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ही वह जलज्ञान सच्चा सिद्ध हुआ है अन्यथा नही, यदि उस जल में स्नानादि क्रियाये नही हो सकती है मतलब वहां जल न होकर चमकता हुआ बालू का ढेर है अत. वह ज्ञान झूठा सिद्ध है । इस प्रकार से यह नैयायिक

१ नैयायिकमीमासकयो. । २ परत· प्रामाण्यप्रकारेण (द्वितीयविकल्पः) । ३ अन्यस्माल्लोकवृत्तात्तस्य । प्रकृतलोकवृत्तस्य ४ अनुवादस्य । ५ अनुकथनम् ।

प्रमाण की प्रमाणता को सर्वथा पर से ही मानता है ।

इस विषय में जैनाचार्यों का तो इतना ही अभिप्राय है कि अभ्यस्त दशा में जलादि पदार्थों के ज्ञान की प्रमाणता स्वतः होती है और अनभ्यस्त दशा में पर से होती है ।

यहां पर जैनाचार्यों ने तत्त्वोपप्लववादी के मुख से नैयायिक की मान्यता का खंडन कराया है। पहले प्रश्न यह हुआ है कि यह प्रवृत्ति की सामर्थ्य है क्या ? जल के ज्ञान से स्नान पानादि रूप फल से संबंधित होना या जल ज्ञान से सजातीय ज्ञान का होना ?

यदि स्नानादि रूप फल से सबध होने को प्रवृत्ति की सामर्थ्य कहो तब तो वह जल ज्ञान से फल का सम्बन्ध जाना गया है या नही ? यदि अज्ञात कहो तो प्रवृति होना असभव है । यदि कहो कि फल से सम्बन्धित प्रवृति की सामर्थ्य ज्ञात रूप होकर ज्ञान की प्रमाणता मे हेतु है तब तो वह प्रवृति की सामर्थ्य किस ज्ञान से जानी गई है ? उसी ज्ञान से कहो तो अन्योन्याश्रय आयेगा और अन्य ज्ञान से कहो तो अनवस्था । यदि सजातीय ज्ञान का उत्पन्न होना प्रवृत्ति की सामर्थ्य है अर्थात् जलज्ञान की दृढता को बतलाने के लिये जलज्ञान के समान दूसरे विज्ञान की उत्पत्ति हो जाना सामर्थ्य है तब तो इसमें भी अनवस्था दोष आ जाता है क्योंकि सजातीयज्ञान रूप प्रवृत्ति सामर्थ्य की प्रमाणता अन्य सजातीय ज्ञान से होगी, पुनः उसकी प्रमाणता अन्य से, क्योंकि जब तक प्रवृत्ति सामर्थ्य के विज्ञान में प्रमाणता का निर्णय न होगा तब तक उस प्रवृति की सामर्थ्य से प्रथम ज्ञान की प्रमाणता भी सिद्ध नही होगी और अन्य ज्ञानो से प्रवृत्ति सामर्थ्य के ज्ञान में प्रमाणता मानने पर अनवस्था तैयार खडी है ।

पुनरपि यह प्रश्न होता है कि प्रवृत्ति शब्द का क्या अर्थ है ? तब नैयायिक ने कहा कि मनुष्य जानने योग्य—जल के स्थान को प्राप्त कर लेवे इसका नाम प्रवृत्ति है, तब यह भी प्रश्न उठता है कि मनुष्य उस प्रमेय (जलाशय स्थानादि) को जानकर वहा जाता है या बिना जाने ? यदि बिना जाने कहो तब तो सभी के लिए सभी स्थान को प्राप्त करना प्रवृत्ति हो जावेगी । यदि जानकर कहो तो भी उस मनुष्य ने प्रामाणिक ज्ञान से उस प्रवृत्ति के प्रमेय—जल को जाना है या अप्रमाणीक ज्ञान से ? प्रथम पक्ष मे अन्योन्याश्रय है । पहले ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध हो तब उससे जल का ज्ञान होगा और जल का ज्ञान हो जाने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से उस ज्ञान की प्रमाणता होगी और अन्य ज्ञान से प्रवृत्ति के ज्ञान की प्रमाणता मानने पर तो अनवस्था आ ही जाती है और अप्रमाणीक ज्ञान से जलादि प्रमेय ज्ञान में प्रवृति मानने पर तो ज्ञान को प्रमाणीक सिद्ध करना व्यर्थ ही है, तब नैयायिक ने यह बात भी मजूर करली है उसने कहा कि हम सशयज्ञान से भी प्रवति मानते है । केवल प्रमाण प्रमेय रूप लोक व्यवहार बताने के लिये प्रमाणता का विचार करते है । इसी बात को श्लोकवार्तिक मे भी कहा है यथा—

"अविज्ञातप्रमाणत्वात् प्रवृत्तिश्चेद् वृथा भवेत् ।
प्रामाण्यवेदन वृत्ते क्षौरे नक्षत्रपृष्टिवत् ॥१२०॥
अर्थसशयतो वृत्तिरनेनैव निवारिता ।
अनर्थसशयाद्वापि निवृत्तिर्विदुषामिव ॥१२१॥"

[सौगतः अविसंवादित्वेन ज्ञानस्य प्रमाणता मन्यते तस्य निराकरण]

[1]नाप्यविसंवादित्वेन, [2]तदविसंवादस्यार्थक्रियास्थिति[3]लक्षणस्यानवगतस्य[1] प्रामाण्यव्यवस्था—हेतुत्वायोगात् । तस्यावगतस्य तद्धेतुत्वे [2]कुतस्तदवगमस्य प्रामाण्यम् ? संवादान्तरा-

अर्थ—नही जानी गई है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से यदि प्रवृत्ति होना माना जावे तो सर्वत्र प्रमाणता का निश्चय होना व्यर्थ है जैसे कि बालक का मुडन कराकर फिर नक्षत्र पूछना व्यर्थ है । यदि नैयायिक कहे कि सशय ज्ञानों से भी प्रवृत्ति देखी जाती है तो यह कथन ठीक नही है क्योंकि यदि सशय-ज्ञान से ही प्रवृत्ति होने लगे तो प्रमाण ज्ञान को कौन खोजेगा ? अत. जैसे अनर्थ के सशय (सभावना) से भी विद्वानों की अनुचित कार्यो से निवृत्ति हो जाती है वैसे ही इष्ट अर्थ के सशय से पदार्थों मे प्रवृत्ति हो जानी चाहिए किन्तु ऐसा तो है नही । प्रेक्षापूर्वकारी-समझदार पुरुष सशय से प्रवृत्ति नही करते है । और तो क्या घास खोदने वाला मनुष्य भी विचार कर अपने इष्ट कार्य मे प्रवृति करता है । अत. सशय आदि ज्ञान प्रवृत्ति को कराने वाले नही है, किन्तु नैयायिक की ऐसी विचारधारा है कि परलोकार्थ नित्य नैमित्तिककर्म, दीक्षा, तपश्चर्या आदि क्रियाओं के अनुष्ठान करने में निश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से प्रवृत्ति होती है और महायात्रा, सघ चलाना, विवाह, प्रतिष्ठादि कार्यो में अनिश्चित प्रमाणता वाले सदेह ज्ञान से प्रवृत्ति होती है । यद्यपि लौकिक और पारलौकिक दोनो ही कार्यो में क्लेश की बहुलता और धन का खर्च समान है तो भी प्रामाणिक ज्ञान और अप्रमाणीक ज्ञान की अपेक्षा अतर है । नैयायिक की इस मान्यता में भी आचार्यो ने यही समझाया है कि परलोकार्थ निश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से प्रवृत्ति मानने मे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है और अनिश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से लौकिक कार्यों में प्रवृत्ति हो जाने पर तो ज्ञानो में प्रमाणता का ढूढना ही व्यर्थ हो जाता है । ससार में जीव दो प्रकार के होते है । विचार कर प्रवृत्ति करने वाले पुरुष प्रेक्षावान्—बुद्धिमान् कहलाते हैं और बिना विचारे प्रवृति करने वाले पुरुष अप्रेक्षावान्—मूर्ख कहलाते है । इसलिए प्रमाणीक सच्चे ज्ञान की अपेक्षा, सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानो में अंतर है ये ज्ञान मिथ्या कहलाते है इसका विशेष विवरण श्लोकवार्तिक से देखना चाहिये ।

नैयायिक और मीमासक के प्रमाणतत्त्व का विचार करके अब तत्त्वोपप्लववादी सौगत के प्रमाण तत्त्व का विचार करता है ।

[सौगत अविसवादित्व होने से ज्ञान की प्रमाणता मानता है उसका खडन]

प्रारभ में प्रमाणतत्त्व की विचारणा में चार प्रश्नो में अतिम प्रश्न है कि क्या अन्यथा-अविसंवादी

१ मीमांसकनैयायिकयोर्मतस्य प्रमाणतत्त्व विचार्यदानी सौगतप्रमाणतत्त्व विचारयन्ति ग्रन्थकृत । २ यसः (कर्मधारयः)
३ अर्थक्रियासद्भावलक्षणस्य ।

(1) प्रमाणस्वरुपेण । (2) अविसवादावगमस्य ।

दिति चेन्न, तदवगमस्यापि संवादान्तरात्प्रामाण्यनिर्णयेनवस्थाप्रसङ्गात् । [1]अथार्थक्रियास्थिति-[1]लक्षणाविसंवादज्ञानस्याभ्यासदशायां स्वत. प्रामाण्यसिद्धेरदोषः ।

[अभ्यासदशाया अविसवादज्ञानस्य प्रमाणता स्वत. सिद्धचति इति बौद्ध मन्यते तस्य निराकरण]

[2]कोयमभ्यासो नाम ? भूयः संवेदने[2] संवादानुभवनमिति चेत् [3]तज्जातीयेऽतज्जातीये[4] वा ? तत्रातज्जातीये[5] न तावदेकत्र[6] सवेदने भूयः सवादानुभवन सभवति [7]क्षणिकवादिनः ।

रूप से प्रमाण की प्रमाणता मानी जाती है । तो उस पक्ष को बौद्ध के द्वारा स्वीकार कर लेने पर तत्त्वोपप्लववादी कहते है कि यह मान्यता भी ठीक नही है क्योकि अर्थ क्रिया का सद्भाव लक्षण (अर्थक्रिया को करने में समर्थ) जो अविसवाद है वह ज्ञान की प्रमाणता को व्यवस्थापित करने मे हेतु नही हो सकता है क्योंकि प्रश्न उठता है कि वह अर्थक्रिया लक्षण अविसवाद अज्ञात रूप – नही जाना गया रूप है या ज्ञात-जाना गया रूप है ? यदि कहो कि अविसवाद नही जाना गया है तब तो वह ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध नहीं कर सकेगा ।

यदि कहो कि वह अविसवाद अवगत (ज्ञात) होकर प्रमाणता की व्यवस्था में कारण है तब तो यह बताओ कि उस अवगत अविसवाद ज्ञान की प्रमाणता किससे है ? यदि कहो भिन्न सवाद से है तब तो उस अवगम (अविसवादज्ञान) की भी भिन्न सवाद से प्रमाणता निश्चित होने से अनवस्था आ जाती है ।

बौद्ध—अर्थ क्रिया के सद्भाव रूप अविसवाद ज्ञान की अभ्यास दशा में स्वत. प्रमाणता सिद्ध है अतः कोई दोष नही है ।

[अभ्यास दशा मे अविसवाद ज्ञान की प्रमाणता स्वत सिद्ध है इस प्रकार से बौद्ध मानता है उसका निराकरण]

शून्यवादी—तब तो आप बौद्धों के यहा यह अभ्यास क्या बला है ? यदि आप कहे कि ज्ञान में पुनः पुनः सवाद का अनुभव होना अभ्यास है तब तो वह सवाद तज्जातीय सत्यरूप सामान्य ज्ञान में होता है या अतज्जातीय रूप विशेष में ? उसमें अतज्जातीय ज्ञान में पुन. पुनः सवाद का अनुभव मानने पर तो स्वलक्षण रूप एक क्षणवर्ती एक सवेदन में पुन पुन. सवाद का अनुभव सभव ही नही है क्योंकि आप क्षणिक वादियों के यहा तो ज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है अर्थात् आपके वहा एक क्षणवर्ती पर्याय को स्वलक्षण विशेष कहा है उसे जानकर ज्ञान उसी क्षण मे समाप्त हो जाता है, क्योकि वह वस्तु ही क्षणिक है पुनः उसमे बार-बार अनुभव कैसे बनेगा ?

बौद्ध—सतान की अपेक्षा से पुनः-पुनः अनुभव सभव है । अर्थात् बौद्ध वासना-सस्कार को सन्तान कहता है और वासना की अपेक्षा से तो पुन.-पुन. अनुभव शक्य है ।

शून्यवादी—ऐसा भी नही कहना, क्योंकि आपने तो स्वय ही सन्तान को अवस्तु माना है अतः

१ बौद्ध. । २ तत्त्वोपप्लववादी । ३ सत्यरूपे सामान्यरूपे । ४ विशेषरूपे । ५ सवेदने । ६ स्वलक्षणे । ७ उत्पन्नविनष्टत्वात् ।

(1) अर्थक्रियास्थितिलक्षणश्चासावविसवादश्च । (2) जायमाने ।

[1]संतानापेक्षया[1] संभवतीति चेन्न, संतानस्यावस्तुत्वादपेक्षानुपपत्तेः। वस्तुत्वे वा तस्यापि क्षणिकत्वसिद्धेः कुतस्तदपेक्षया सोऽभ्यासः ? [2]सन्तानस्याक्षणिकत्वे वा यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति न सिद्धयेत्[2]। [3]तज्जातीये भूयः [4]संवादानुभवनमिति [5]चेन्न, [6]जातिनिराकरणवादिनः[7] [8]क्वचित्तज्जातीयत्वानुपपत्तेः। [9]अन्यापोहलक्षणया जात्या [10]क्वचित्तज्जातीयत्वमुपपन्नमेवेति [11]चेन्न, अन्यापोहस्यावस्तुरूपत्वात्, तस्य वस्तुरूपत्वे वा [12]जातित्वविरोधात् स्वलक्षणस्यासाधारणस्य[13] वस्तुत्वोपगमात्[14]। तदेव[15] सामान्यतः प्रमाणलक्षणानुपपत्तौ विशेषेणापि प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपपत्तेर्न प्रमाणतत्त्वं विचार्यमाणं व्यवतिष्ठते। तदव्यवस्थितौ

उसकी (काल्पनिक की) अपेक्षा ठीक नही है अथवा उस सन्तान को वास्तविक मान भी लेवें तो वह सतान भी क्षणिक रूप ही सिद्ध हो जावेगी।

पुनः उस सन्तान की अपेक्षा से यह अभ्यास कैसे हो सकेगा अथवा यदि आप सतान को नित्य मान लेवे तो "यत् सत्तत् सर्व क्षणिक" यह प्रतिज्ञा वाक्य कैसे सिद्ध होगा ?

बौद्ध— तज्जातीयज्ञान में पुन पुनः सत्यरूप सवाद का अनुभव होता है।

शून्यवादी—ऐसा नही कहना। आप जातिसामान्य का निराकरण करने वाले है अर्थात् अन्वयरूप द्रव्य का निषेध करने वाले है अत. आपके यहा कही पर भी अन्वय रूप से जातीय—सामान्य सिद्ध नही हो सकता है।

बौद्ध—अन्यापोह लक्षण जाति से किसी स्थिर, स्थूल आदि वस्तु में जातीयत्व बन ही जाता है।

शून्यवादी—ऐसा नही कहना, क्योकि अन्यापोह तो अवस्तु है अथवा उसको वस्तु रूप मान लेने पर जाति का विरोध हो जावेगा क्योकि आपने असाधारण—विशेषरूप स्वलक्षण को ही वस्तु रूप माना है।

भावार्थ—बौद्ध के यहा प्रमाण का लक्षण है "अविसवादिज्ञान प्रमाण" उसी प्रकार से बौद्ध ने ज्ञान की प्रमाणता को अविसवादी होने से सिद्ध किया है और अविसवाद का अर्थ है अर्थक्रिया का सद्भाव। जैसे जल की अर्थक्रिया स्नानपानादि है। न्यायदीपिका में भी बौद्धों के द्वारा प्रमाण ज्ञान को अविसवादी मानने में दोषारोपण किया गया है यथा"जो ज्ञान विसवाद रहित है वह प्रमाण है" बौद्ध की इस मान्यता में

१ बौद्धः। २ हे बौद्ध। ३ बौद्धः। सवेदने। ४ सत्यरूपस्य सवादस्य। ५ तत्त्वोपप्लववादी। ६ सामान्यनिराकरणवादिनः। ७ अन्वयरूपद्रव्यनिषेधवादिनस्तव सौगतस्य क्वचिद्वस्तुनि अन्वयरूपता नोपपद्यते। ८ घटत्वपटत्वादिरूपेण। ९ बौद्ध। १० स्थिरस्थूलवस्तुनि। ११ तत्त्वोपप्लववादी १२ (जातिविरोधादिति पाठान्तरम्)। १३ विशेषस्य। १४ तव सौगतस्य मते। १५ पूर्वोक्तविकल्पचतुष्टयप्रकारेण।

(1) अपरामृष्टभेदाना पूर्वोत्तरक्षणाना मेलन संतानः। (2) संतानेनानैकान्तिकत्वमिति भावः।

असंभव दोष आता है क्योंकि बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं उनके यहां न्यायबिंदु में कहा है "द्विविध सम्यग्ज्ञान, प्रत्यक्षमनुमानञ्च" [न्याय बिन्दु पृ० १०] उसमें प्रत्यक्ष में तो अविसवादोपना सभव नही है क्योंकि वह निर्विकल्प होने से अपने विषय का निश्चायक नही है अतः सशयादि रूप समापरो का निराकरण नहीं कर सकता है और न उनके मान्य अनुमान में अविसंवादीपना सभव है। उनके मतानुसार वह अनुमान भी अवास्तविक सामान्य को विषय करने वाला है इस तरह से बौद्धो के प्रमाण का लक्षण असभव दोष से दूषित होने से सम्यक् लक्षण नही है।

यहां तत्त्वोपप्लववादी यह प्रश्न कर सकता है कि जो अर्थक्रिया रूप अविसवाद ज्ञान की प्रमाणता में कारण है वह अविसवाद तुम्हे ज्ञात है या नही ? यदि वह अविसवाद अज्ञात रूप है तब तो वह ज्ञान की प्रमाणता को कैसे बतलायेगा ? यदि कहो वह ज्ञात रूप है तो भी उस जाने गये अविसवाद ज्ञान की प्रमाणता किससे है ? यदि भिन्न सवादक ज्ञान से कहो तब तो अनवस्था आ जाती है। बौद्ध कहता है कि अर्थक्रियारूप जलज्ञान में स्नान, अवगाहन आदि का जो ज्ञान है वह अविसवाद ज्ञान है और अभ्यास दशा मे इसकी प्रमाणता स्वतः सिद्ध है तब तो प्रश्न यह हो जाता है कि अभ्यास का लक्षण आप बौद्ध क्या करते है ? यदि कहो कि ज्ञान में पुनः पुन. सवाद का अनुभव होना अभ्यास है तो इस मान्यता मे भी अनेको दोष आ जाते है क्योंकि प्रश्न ये होगे कि वह पुन. पुन अनुभव ज्ञान सामान्यज्ञान में हो रहा है या स्वलक्षणभूत एक क्षणवर्ती विशेष मे ?

प्रथम पक्ष में तो आपके द्वारा मान्य सामान्य अवास्तविक है. उसमे पुनः पुनः अनुभव मानना अवास्तविक ही होगा। यदि द्वितीयपक्ष लेवो तो भी एकक्षणवर्ती पर्याय के ज्ञान में बार-बार क्या अनुभव आयेगा ? यदि आवेगा तो वह ज्ञान स्थिर—नित्य हो जावेगा क्षणिक नही रहेगा। श्लोकवार्तिक में भी इसका खडन किया है। "निश्चय करने की शक्ति को उत्पन्न न करते हुए ही अर्थ का अनुभव प्रमाण है क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान में अभ्यास की पटुता है" इस प्रकार से बौद्ध के कहने पर आचार्य कहते है कि इस मान्यता से तुम्हारी "यत्रैव जनयेदेना तत्रैवास्य प्रमाणता" इस नियम में विरोध आता है। अर्थात् निर्विकल्पज्ञान जिस विषय मे इस निश्चय रूप सविकल्प बुद्धि को उत्पन्न करा देगा उस ही विषय मे यह निर्विकल्प ज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा। जैसे कि घट का प्रत्यक्ष हो जाने पर पीछे से उसके रूप, स्पर्श आदि में निश्चय ज्ञान उत्पन्न हो गया है अतः रूप और स्पर्श को जानने में निर्विकल्पज्ञान प्रमाण माना गया है किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तुभूत क्षणिकत्व को जान लेने पर भी पीछे से क्षणिकपने का निश्चय नही हुआ है अतः क्षणिक को जानने में प्रत्यक्ष की प्रमाणता नही है और यदि निश्चय को उत्पन्न नही करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रमाण मान लिया जावे तो "यत्रैव जनयेदेना" इस ग्रथ से विरोध आ जावेगा। "कश्चायमभ्यासो नाम ? पुनः पुनरनुभवस्य भाव इति चेत् क्षणक्षयादौ तत्प्रमाणत्वापत्तिस्तत्र सर्वदा सर्वार्थेषु दर्शनस्य भावात् परमाभ्याससिद्धेः"। हम बौद्धो से प्रश्न करते है कि आपके द्वारा मान्य अभ्यास क्या चीज है ? विद्यार्थी कई बार बोल बोल कर घोषणा करते हुए पाठ याद करते है, मल्ल

कुतः प्रमेयतत्त्वव्यवस्थेति विचारात्तत्त्वोपप्लवव्यवस्थितिः ।

[अधुना जैनाचार्या तत्त्वोपप्लववाद निरस्य स्वमतेन प्रमाणस्य प्रमाणता साधयति]

इत्येतदपि [1]सर्वमसारं, तत्त्वोपप्लवस्यापि [2]विचार्यमाणस्यैवमव्यवस्थितेरनुपप्लुत[3]तत्त्व-सिद्धिनिराकरणायोगात्[4] । अथ[5] "तत्त्वोपप्लवः[6] सर्वथा न विचार्यः, तस्योपप्लुतत्वादेव[7] (1)विचारासहत्वादन्यथानुपप्लुततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्[8] । केवलं[9] तत्त्ववादिभिरभ्युपगतस्य प्रमाण-

व्यायाम का अभ्यास करते है । इसी प्रकार आपके प्रत्यक्षज्ञान का अभ्यास क्या है ? यदि पुनः पुनः प्रत्यक्ष रूप अनुभव की उत्पत्ति हो जाना तो क्षणिकत्व आदि में यह निर्विकल्पज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा क्योकि सपूर्ण अर्थों में तदात्मक हो रहे उस क्षणिक रूप विषय में निर्विकल्प ज्ञान सदा होते रहते हैं। स्वलक्षणों से क्षणिकपन अभिन्न है । अत क्षणिकत्व में तो बहुत बढिया अभ्यास सिद्ध हो रहा है किन्तु आप बौद्धो को तो ऐसा इष्ट नही है ।

अत में निष्कर्ष यह निकला है कि बौद्ध के यहां प्रमाण की प्रमाणता को अविसवादीपने से स्वीकार करना ठीक नहीं है।

बौद्ध लोग प्रमाण की प्रमाणता स्वत. मानते है,नैयायिक प्रमाण की प्रमाणता पर से मानते है । मीमांसक उत्पत्ति और निश्चय दोनो ही अवस्थाओ में प्रमाणता स्वत. और अप्रमाणता पर से मानते है । साख्य प्रमाणता को पर से और अप्रमाणता को स्वत. मानते है । इन विभिन्न मतावलबियों का आचार्यों ने अन्यत्र प्रमेयरत्नमाला आदि मे विशेषरूप से खडन किया है और इस बात को सिद्ध कर दिया है कि ज्ञान में प्रमाणता की उत्पत्ति तो पर से ही होती है किन्तु प्रमाण में प्रमाणता का निश्चय तो अभ्यास दशा में स्वत होता है एव अनभ्यास दशा में पर से होता है ऐसा समझना चाहिये ।

उपर्युक्त प्रकार मे चारों प्रश्नो के उत्तर असिद्ध हो जाने पर तो सामान्य से प्रमाण का लक्षण सिद्ध न होने पर विशेष रूप से भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकते हैं अत विचार करने पर प्रमाण तत्त्व की व्यवस्था करना कथमपि शक्य नही है और प्रमाण तत्त्व की व्यवस्था न होने पर प्रमेय तत्त्व की व्यवस्था भी कैसे हो सकेगी क्योकि प्रमाण के अभाव मे प्रमेय कहाँ रहेगा ? इसलिये विचार करने पर तो सभी तत्त्वो का उपप्लव-प्रलय ही हो जाता है इस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी ने अपना पूर्वपक्ष रखा है अब आचार्य उसका खडन करते है ।

[अब जैनाचार्य तत्त्वोपप्लववाद का खडन करके अपने मत मे मान्य ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध करते है]

जैन—आप शून्यवादी का यह सभी कथन असार (शून्यवत्) ही है । आपका तत्त्वोपप्लववाद भी विचार करने पर व्यवस्थित नही हो सकता है इसलिये आप अनुपप्लुत अबाधिततत्त्व की सिद्धि-निराकरण नही कर सकते हैं ।

१जैनो वक्ति । २ वक्ष्यमाणप्रकारेण । ३ उपप्लुतो बाधितः । ४ तत्त्वोपप्लववादिन । ५ परः । ६ शून्यवादः । ७ अभावरूपत्वादेव । ८ भो जैन । ९ तथापि विचारासहत्वे तत्त्वोपप्लवसिद्धिः कथमिति जैनेनोक्ते स आह ।

(1) तत्त्वोपप्लवलक्षणं । तत्त्वशब्दस्यैव प्रतिपदमिद न तु अनुपप्लुतशब्दस्य ।

प्रमेयतत्त्वस्य विचाराक्षमत्त्वात्तत्त्वोपप्लवसिद्धिः'' इति मतं तदपि[१] फल्गुप्रायं, [२]यथातत्त्वमविचारितत्वात्[३] । न ह्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन[1] संवेदनस्य प्रमाणत्वं स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते, [2]बाधारहितत्वमात्रेण वा । नापि [3]प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा[४] [4]वा, प्रतिपादितदोषोपनिपातात् । किं तर्हि ? [५]सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वेन । [६]न चेदं स्वार्थव्यवसायात्मनो ज्ञानस्य [७]दुरवबोधम् ।

[प्रमाणस्य प्रामाण्यमभ्यस्तविषये स्वतोऽनभ्यस्तविषये परतः इति मन्यमानेऽनवस्था परस्पराश्रयो वा न संभवति]

[5]सकलदेशकालपुरुषापेक्षया[6] सुष्ठु निश्चितमसम्भवद्बाधकत्वं हि प्रमाणस्याभ्यस्तविषये

शून्यवादी—हमारा तत्त्वोपप्लव सर्वथा विचार करने योग्य नही है क्योकि उपप्लुत—बाधित—अभावरूप होने मे ही परीक्षा को सहन करने में असमर्थ है अन्यथा अनुपप्लुत-सद्भाव रूप तत्त्व की सिद्धि का प्रसग आ जावेगा। केवल तत्त्ववादी—आप जैनो के द्वारा स्वीकृत प्रमाण और प्रमेयतत्त्व विचार—परीक्षा को सहन नही कर सकता है अत हमारे द्वारा मान्य तत्त्वोपप्लववाद ही सिद्ध होता है।

जैन—आप शून्यवादी का यह कथन फल्गुप्राय—व्यर्थ ही है क्योकि यथातत्त्व—तत्त्व के अनुरूप आपने परीक्षा नही की है। हम स्याद्वादी जन ज्ञान की प्रमाणता का विचार उपर्युक्त चार विकल्पो से नहीं मानते हैं। अर्थात् अदुष्ट कारक सदोह से उत्पन्न होने से, बाधा रहित मात्र से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा अविसवादित्वादि प्रकार से हम जैन ज्ञान की प्रमाणता नही मानते है। अत. आपके द्वारा प्रतिपादित दोषों के प्रसग हमारे यहाँ नही आते है।

शून्यवादी—तो फिर आप जैन किस तरह से ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध करते हे।

जैन—हम जैन सुनिश्चितासभवद्बाधक रूप से प्रमाण की प्रमाणता व्यवस्थापित करते है क्योकि स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को इस प्रमाण से जानना कठिन नहीं हे।

[प्रमाण की प्रमाणता अभ्यस्त दशा मे स्वतः एव अनभ्यस्त दशा मे पर से है ऐसी मान्यता मे अनवस्था अथवा परस्पराश्रय दोष नहीं आता है।]

कारण कि संपूर्ण देश काल के पुरुषों की अपेक्षा से प्रमाण का "सुष्ठु निश्चितमसंभवद्बाधकत्व" अभ्यस्त विषय में स्वतः ही निश्चित किया जाता है। जैसे स्वरूप का निश्चय स्वत ही होता है और अनभ्यस्त विषय में पर से प्रमाणता आती है इस प्रकार मे अनवस्था और इतरेतराश्रय दोष का प्रसग

---

१ आह जैनः। २ तत्त्वमनतिक्रम्येत्युक्ते किं तत्त्वमुल्लङ्घ्य विचारितमित्यर्थः। ३ अविचारितत्वमग्रे दर्शयति। ४ अविसवादित्वादिना। ५ प्रमाणस्य प्रामाण्यं स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते इति शेषः। ६ जैन पराभिप्रायं निराकरोति। ७ किन्तु सुघटमेवेत्यर्थः।

---

(1) मीमांसकाभ्युपगतेन। (2) न बाधा इति पा। (3) नैयायिकाभ्युपगतेन। (4) अविसवादित्वेन वा किमिति न प्रदिपादित प्रमाणनिर्णये प्रतिपादितत्वात्। अन्यथा वा कथन। (5) ईप्। (6) वर्तमान।

स्वत एवावसीयते स्वरूपवत्[1]। अनभ्यस्तविषये तु परत इति नानवस्थेतरेतराश्रयदोषोपनिपातः। स्वार्थव्यवसा[१]यात्मकत्वमेव हि सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वम्। तच्चाभ्यासदशायां न परतः प्रमाणात्साध्यते, येनानवस्था स्यात्, परस्पराश्रयो वा, तस्य स्वत एव सिद्धत्वात्। तथानभ्यासदशायामपि परत.[२] स्वयंसिद्धप्रामाण्याद्वेदनात् पूर्वस्य [३]तथाभावसिद्धेः कुतोनवस्थादिदोषावकाशः?

[नित्यानित्यात्मन्यात्मनि अभ्यासानभ्यासौ उभौ अपि संभवत·]

[४]क्वचिदभ्यासानभ्यासौ[५] तु [२]प्रतिपत्तुरदृष्ट[६]विशेषवशाद्देशकालादिविशेषवशाच्च[3] भवन्तौ [७]सम्प्रतीतावेव, [८]यथावरणक्षयोपशममात्मन सकृदसकृद्वा स्वार्थसंवेदनेऽभ्यासो-

---

नही आता है क्योंकि स्वार्थव्यवसायात्मकत्व ही सुनिश्चितासभवद्बाधकत्व है अर्थात् व्यवसायात्मक पद से सशय, विपर्यय एव अनध्यवसाय का व्यवच्छेद हो जाता है और वह अभ्यास दशा मे पर प्रमाण से सिद्ध नही किया जाता है कि जिससे अनवस्था आ सके अथवा परस्पराश्रय दोष आ सके अर्थात् ये दोनों दोष नही आ सकते है क्योंकि वह असभवद्बाधकत्व स्वत ही सिद्ध है उसी प्रकार से अनभ्यास दशा में भी स्वय सिद्ध प्रमाणता वाले ज्ञानरूप अन्य प्रमाण से पूर्व को तथाभाव–प्रमाणता सिद्ध है पुनः अनवस्था आदि दोषो को अवकाश कैसे मिल सकता है? अर्थात् पर से प्रमाणता में वह पर प्रमाण स्वतः प्रमाणातर रूप है अत. उसके लिये तृतीय की आवश्यकता न होने से अनवस्था असभव ही है।

[कथचित् नित्यानित्यात्मक आत्मा मे अभ्यास–अनभ्यास दोनो ही सभव है।]

किसी विषय में अभ्यास और अनभ्यास ज्ञाता—पुरुष के अदृष्ट विशेष—भाग्य विशेष के निमित्त से और देश, कालादि की विशेषता मे विद्यमान रूप प्रतीति में आ रहे है। अर्थात् ज्ञान में पुनः पुनः सवाद का अनुभव होना अभ्यास है और न होना अनभ्यास है। वे दोनो दृष्ट—देश, कालादि और अदृष्ट—भाग्य के निमित्त की विचित्रता से प्राणियो में देखे जाते है।

[अभ्यास और अनभ्यास का लक्षण]

आत्मा के स्वार्थ सवेदन में अपने-अपने आवरणों का क्षयोपशम एकबार या पुनः-पुनः होना अभ्यास कहलाता है। अथवा स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञानावरण कर्म के उदय में ज्ञान के नही होने पर अथवा एक बार ज्ञान के होने पर या पुनः-पुन ज्ञान के होने पर भी अनभ्यास देखा जाता है। अर्थात् मतिज्ञान में जो चौथा भेद है उसका नाम धारणा है, उस धारणा से सस्कार बने रहते है, शीघ्र विस्मरण नही होता है उसी का नाम अभ्यास है। एवं एकेन्द्रिय आदि जीवों के ज्ञानावरण कर्म का उदय विशेष-

---

१ व्यवसायात्मकत्वपदेन सशयविपर्ययानध्यवसायव्यवच्छेद। २ अन्यप्रमाणात्। ३ प्रामाण्यसिद्धेः। ४ विषये। ५ ज्ञाने भूय. सवादानुभवनमभ्यासस्तदभावोनभ्यासः। दृष्टादृष्टनिमित्ताना वैचित्र्यादिह देहिनाम्। जायते क्वचिदभ्यासोनभ्यासो वा कथञ्चन। ६ अदृष्ट·पुण्यादिर्ज्ञानावरणादिश्च। ७ बहुधानुभवविषयत्वं नीतावित्यर्थः। ८ क्रियाविशेषणम्।

(1) प्रमाण। (2) दृष्टादृष्टनिमित्ताना वैचित्र्यादिह देहिनां। जायते क्वचिदभ्यासोऽनभ्यासो वा कथचन। (3) बाह्यात्।

पपत्तेः । ¹स्वार्थव्यवसायावरगोदये² वाऽसंवेदने सकृत्संवेदने वा संवेदनपौनःपुन्येपि वाऽन-भ्यासघटनात् । ³पूर्वापरं [1]स्वभावत्यागोपादाना[2]न्वितस्वभावस्थितिलक्षणत्वेनात्मनः[3] ⁴परि-णामिनोभ्यासानभ्यासाविरोधात् । सर्वथा क्षणिकस्य नित्यस्य वा ⁵प्रतिपत्तुस्तदनुपपत्तेर-भीष्टत्वात् ⁶ । ⁷नन्विदं मुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वं संवेदनस्य कथमसर्वज्ञो ज्ञातुं समर्थ इति चेत् ⁸सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वं संवेदनमसुनिश्चितासम्भवद्बाधकमित्यप्यसकलज्ञः कथं जानीयात् ?

रूप से देखा जाता है अतः वे ज्ञान शून्य के सदृश मालूम पड़ते है, तथैव किसी को एक बार ज्ञान होना मतलब अवग्रह, ईहा, अवाय तक ज्ञान हो गया, धारणा नही बनी या बार-बार ज्ञान होने पर भी धारणा नही बनने से सस्कार दृढ नही हो सकते है इसी का नाम अनभ्यास है।

तथा हम आत्मा को सर्वथा नित्य नही मानते है अत एक ही आत्मा मे अभ्यास और अनभ्यास दोनो ही सभव है। पूर्व स्वभाव का त्याग और अपर स्वभाव का उपादान उन दोनों मे अन्वितस्वभाव की स्थिति इन तीन लक्षणो से नित्यानित्य रूप—परिणमन शील आत्मा मे अभ्यास और अनभ्यास विरुद्ध नही है—अविरोध रूप से सिद्ध है। सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक रूप आत्मा में वे अभ्यास, अनभ्यास दोनों ही असभव है ऐसा हमें अभीष्ट ही है क्योंकि सर्वथा नित्य या क्षणिक मे अनभ्यासात्मक ज्ञान का परिहार करके अभ्यासात्मक ज्ञान को प्राप्त करने मे विरोध ही है।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी ने आस्तिक्य वादियो के प्रमाणतत्त्व की परीक्षा करने के लिये चार प्रश्न रखे थे कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे है निर्दोष कारणो से जन्य होने से ? इत्यादि। इन प्रश्नो को उठाकर उसने स्वय सभी को दूषित कर दिया तब जैनाचार्य कहते है कि यदि हम इन कारणो से प्रमाण की प्रमाणता माने तो ये उपर्युक्त दोष आवेगे किंतु हम तो प्रमाण की प्रमाणता मे अन्य ही कारण मानते है। वह अन्य कारण क्या है ? तब आचार्य ने कहा कि "जिसमें बाधा का न होना सुनिश्चित है ऐसे "सुनिश्चितासभवद्बाधकत्व" से हम प्रमाण की प्रमाणता मानते है एव प्रमाण का लक्षण विद्यानद स्वामी ने "स्वार्थव्यवसायात्मक" किया है, जिसका अर्थ है स्व और अर्थ को निश्चय कराने वाला ज्ञान ही प्रमाण है। आचार्य अभ्यस्त-परिचित दशा मे ज्ञान की प्रमाणता स्वत मानते है एव अनभ्यस्त—अपरिचित दशा में पर से मानते है। आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने पर अभ्यास और अनभ्यास बन नही सकते है, एव सर्वथा नित्य मान्यता मे भी अभ्यास, अनभ्यास असभव है क्योंकि एक अवस्था का त्याग करके दूसरी अवस्था को ग्रहण करना सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक

१ पूर्वस्यैव हेत्वन्तरम्। २ व्यवसायो ज्ञानं, तस्य। ३ ननु भो जैन नित्यस्यात्मनोभ्यासानभ्यासौ कथं स्यातामित्युक्ते जैनः प्राह। ४ नित्यानित्यरूपस्य। ५ आत्मनः। ६ जैनस्य (अनभ्यासात्मकज्ञानपरिहारेणाभ्यासात्मकज्ञानप्राप्ति-विरोधात् क्षणिकस्य नित्यस्य वा) ७ तत्त्वोपप्लववादी। ८ जैनः।

(1) पूर्वापरस्वभाव इति पा.। (2) ईप् द्वि.। (3) बसः।

[तत्त्वोपप्लववादी सशय कृत्वा प्रमाणस्य प्रलय कर्तुमिच्छति तस्य निराकरणं]

तत[१] एव सशयोस्त्विति चेत् सोपि[२] तथाभावेतरविषयः सर्वस्य[1] सर्वदा सर्वत्रेति[2] कथमसर्वज्ञः[३] शक्तोवबोद्धुम ? स्वसंवेदने [४]तथावबोधात्सर्वत्र[3] तथावबोध इति चेत् [५]तर्ह्य-नुमानमायातं, विवादाध्यासितं संवेदनं सुनिश्चितासभवद्बाधकत्वेतराभ्यां सन्दिग्ध, सवेदन-त्वादस्मत्सवेदनवदिति । [६]तच्च [७]यदि सुनिश्चितासभवद्बाधक सिद्धं तदा तेनैव साधनस्य व्यभिचार. । [७]अथ न तथा सिद्धं, [७]कथं साध्यसिद्धिनिबन्धनम ? अतिप्रसङ्गात् । स्वसंवेदनं च प्रतिपत्तु [१०]किञ्चित् क्वचित् कदाचित् सुनिश्चितासम्भव द्बाधकं [११]किञ्चित्तद्विपरीतं

में असभव है ।

शून्यवादी— असर्वज्ञ मनुष्य ज्ञान के इस सुनिश्चितासभवद्बाधकत्व को जानने मे कैसे समर्थ हो सकते है ?

जैन— यदि आप ऐसा कहो तो, सभी जगह सर्वदा सभी जीवो का सभी ज्ञान सुनिश्चितासभवद्-बाधक नही है इस बात को भी असर्वज्ञ—अल्पज्ञ कैसे जान सकेगे ?

[तत्त्वोपप्लववादी सशय को करके प्रमाण का प्रलय करना चाहता है उसका निराकरण,]

शून्यवादी—इसीलिये दोनो मे सशय होने से दोनो के ही पक्ष असिद्ध हैं ।

जैन—तथाभाव-बाधा से रहित और अतथाभाव—बाधा से सहित को विषय करने वाला सशय सभी जीव को, सर्व काल मे सर्वत्र है इस बात को भी अल्पज्ञ कैसे जान सकेगा ?

शून्यवादी—स्वसवेदन में सुनिश्चितासभवद्बाधकत्व और असुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व के द्वारा सदिग्ध प्रकार से सर्वत्र वैसा ही ज्ञान होता है ।

जैन— तब तो अनुमान ही आ गया । "विवाद की कोटि में आया हुआ सवेदन सुनिश्चितासभवद् बाधकत्व और इतर के द्वारा सदिग्ध है क्योकि सवेदन है जैसे हम अल्पज्ञ लोगो का सवेदन ।" और वह यदि सुनिश्चितासभवद्बाधकत्व सिद्ध है तब तो उसी से ही हेतु व्यभिचरित हो जाता है । यदि वैसा नही है अर्थात् सुनिश्चितासभवद्बाधक सिद्ध नही है तब तो साध्य की सिद्धि में कारण ही हो जाता है, अन्यथा अतिप्रसंग आ जाता है ।

और प्रतिपत्ता का कोई स्वसवेदन ज्ञान क्वचित् कदाचित् सुनिश्चितासभवद्बाधक रूप से प्रसिद्ध

---

१ (तत्त्वोपप्लववादी) उभयपक्षासिद्धेः । २ जैन आह । ३ तत्त्वोपप्लववाद्यादिः । ४ सुनिश्चितासम्भवद्बा-धकत्वेतराभ्या सन्दिग्धत्वप्रकारेण । ५ जैन प्राह । ६ जैन । ७ सवेदनसाधनं सिद्धमसिद्ध वा ? यदि सिद्धं तदा तेनैव सन्दिग्धं न साध्यते अतः साधनस्य व्यभिचार । अथ न सिद्ध तदा स्वयमसिद्ध साधनकारणम् । यद्यसिद्धमपि साधनं साध्य साधयति तदातिप्रसङ्ग इति भाव. । ८ असुनिश्चितासम्भवद्बाधक चेदित्यर्थः । ९ तर्हीति शेपः । १० सवेदनम् । ११ असुनिश्चितासभवद्बाधकम् ।

(1) ज्ञानस्य । (2) विषये । (3) ज्ञाने ।

प्रसिद्धं न वा ? यदि न [1]प्रसिद्धं, कथं सन्देहः[2] ? [3]क्वचिदप्रसिद्धोभय[1]विशेषस्य[4] [5]तत्सामान्य[2] दर्शनेनैव तत्परामर्शिप्रत्ययस्य सन्देहस्यासम्भवाद्भूभवनसंवर्द्धितोत्थितमात्रस्य तादृशः स्थाणु-पुरुषविषयसन्देहवत्[3] । [4]यदि [5]पुनस्तदुभयं प्रसिद्धं [6]तदा स्वतः परतो वा ? अभ्यासदशायां स्वतोनभ्यासदशायां परत एवेति चेत् सिद्धमकलङ्कशासनं, [6]सर्वस्य संवेदनस्य [7]स्यात्स्वतः स्यात्परतः[7] प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्व्यवस्थानात्, [8]अन्यथा [8]क्वचिद्व्यवस्थातुमशक्तेः ।

है अथवा किंचित् उससे विपरीत—असुनिश्चितासंभवद्बाधक रूप से प्रसिद्ध नहीं है क्या ? यदि प्रसिद्ध नहीं है तो संदेह कैसे होगा ? जिसको किसी वस्तु में उभय—स्थाणु और पुरुष दोनों की विशेषता अप्रसिद्ध है उसे उनके सामान्य को देखने से ही उसको परामर्श करने वाला संदेह ज्ञान असंभव है जैसे भूभवन संवर्द्धित—तलघर में पलकर बड़ा हुआ पुरुष उसमें निकलते मात्र ही उस प्रकार के स्थाणु और पुरुष उभय विषय को देखकर संशय नहीं कर सकता है।

यदि आप शून्यवादी कहें कि स्थाणु और पुरुष दोनों ही प्रसिद्ध हैं। तब तो हम आप से पूछते हैं कि वे दोनों स्वतः प्रसिद्ध है या पर से ? यदि आप कहें कि अभ्यास दशा में स्वतः प्रसिद्ध है और अन-भ्यास दशा में पर से प्रसिद्ध है तब तो अकलंकशासन—निर्दोष शासन सिद्ध हो गया अथवा अकलंक देव का न्याय शासन सिद्ध हो गया। सभी ज्ञान में कथंचित् स्वतः और कथंचित् पर से प्रामाण्य और अप्रामाण्य की व्यवस्था मानी गई है। अन्यथा केवल स्वतः अथवा केवल पर से व्यवस्था करना अशक्य है।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी का कहना है कि साधारण अल्पज्ञ मनुष्य यह कैसे समझेंगे कि यह ज्ञान निश्चित रूप से बाधा रहित है। तब जैनाचार्यों ने कहा कि भाई अल्पज्ञजन इस बात को भी कैसे जानेंगे कि सभी का ज्ञान बाधा से रहित है यह बात अनिश्चित है। बस ! उपप्लववादी को मौका मिला उसने कहा इसलिये ज्ञान में सर्वत्र संदेह देखा जाने से ही हम ज्ञान तत्त्व का प्रलय कह रहे हैं। तब आचार्य ने कहा कि सभी को सर्वत्र ज्ञान में संदेह ही है यह बात भी अल्पज्ञ कैसे जान सकते हैं ? फिर दूसरी बात यह है कि जिस विषय में जिसको संदेह होता है उस विषय का पहले कभी उसे निश्चय अवश्य ही होना चाहिये था जैसे पहले जिसने ठूंठ और मनुष्य को देखा है वही अकस्मात् किसी एक चीज को देखकर दूसरे का

१ क्वचिद्वस्तुनि । अज्ञातस्थाणुपुरुषस्वादे । २ तत्सामान्यादर्शिन इव इति पाठान्तरम् । सामान्यादर्शिनो विशेषो-पलम्भे सति सन्देहस्यानुपपत्तिर्यथा तथा प्रकृतेपि । अथात्र दृष्टान्तोऽप्रसिद्ध इति न मन्तव्य, भूभवनेत्यादिलौकिकोदाहरण-प्रदर्शनात् । ३ तादृशो नरस्य यथा तत्र सन्देहो नोदेति । ४ तत्त्वोपप्लववादी । ५ स्थाणुपुरुषत्वे । ६ जैन । ७ कथञ्चित्-विवक्षितप्रकारेणाभ्यासदशापेक्षयेत्यर्थः । ८ केवलं स्वत एव परत एव वेति स्वीकारे ।

(1) तर्हि । (2) संदेहानुपपत्तिं दर्शयति । (3) ज्ञाने । (4) बसः । (5) नुः । (6) अकलकशासनसिद्धिं प्रदर्शयति । (7) अनभ्यासावस्थापेक्षया । (8) ज्ञाने ।

[उपप्लववादी कश्चित् तत्त्वनिर्णयमनाश्रित्य परस्य तत्त्वस्य कथमुपप्लवं करोति संदेहो वा कथं विधत्ते ?]

एतेन तत्त्वोपप्लववादिनः किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन बाधकानुत्पत्त्या प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा [1]वेत्यादिविकल्पसन्दोहहेतुकप्रश्नानुपपत्तिः[2] प्रकाशिता, [3]स्वयमन्यत्रान्यदा [१]कथञ्चिदप्रतिपन्नतद्विकल्पस्य[२] पुनः [4]क्वचित्तत्परामर्शिसंशयप्रत्ययायोगात् । [5]क्वचित्कदाचिददुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वादिविशेषप्रतिपत्तौ तु [6]कुतस्तत्त्वोपप्लवसिद्धिः ? [३]पराभ्युपगमात्तत्प्रतिपत्तेरदोष इति चेत् स [४]र्तांह पराभ्युपगमो यदि प्रमाणात्प्रतिपन्नः [५]स्वयं तदा कथं [7]प्रमाणप्रमेयतत्त्वोपप्लवः ? पराभ्युपगमान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ तदपि पराभ्युपगमान्तरमन्यस्मात् [8]पराभ्युपगमान्तरात्प्रतिपत्तव्यमित्यनवस्था ।

स्मरण करके सशय कर सकता है सर्वथा अज्ञात वस्तु में या गधे के सीग, आकाश के फूल मे क्या सदेह होगा ? अतएव ज्ञान की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वत. एव अनभ्यास दशा में पर से होती है। तथैव ज्ञान की अप्रमाणता भी अभ्यास दशा में स्वतः अनभ्यासदशा में पर से होती है, यह बात सुनिश्चित सिद्ध है।

[उपप्लववादी कुछ भी तत्त्व का निर्णय न करके पर के तत्त्वों का उपप्लव या पर के तत्त्व मे सदेह कैसे कर सकता है ?]

इस कथन से तत्त्वोपप्लववादी के जो प्रश्न हुए थे "ज्ञान की प्रमाणता अदुष्टकारक समूह से उत्पन्न होती है या बाधक की अनुत्पत्ति से या प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा अन्यथा अविसवादित्वादि प्रकार से होती है ? इत्यादि प्रश्न विकल्पों की व्यवस्था कथमपि शक्य नही—यह बात प्रकाशित कर दी गई है।

स्वय अन्यत्र, अन्यकाल मे कथचित् जिसने उन विकल्पो को नहीं जाना है उसको तत्परामर्शि सशय ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता है। कही पर कदाचित् अदुष्ट कारक समूह से उत्पन्न होना आदि विशेष का ज्ञान हो जाता है ऐसा कहो तो आप शून्यवादी के यहा तत्त्वोपप्लव की सिद्धि कैसे हो सकेगी ?

शून्यवादी— पर की स्वीकृति मात्र से उसका ज्ञान मानने से हमें कोई दोष नही है।

जैन—यदि वह पर की स्वीकृति प्रमाण से स्वय जानी गई है तो प्रमाण और प्रमेयतत्त्व का उपप्लव कैसे होगा ? यदि कहो कि वह पर की स्वीकृति अन्य पर की स्वीकृति से जानी जाती है तब तो वह पर की स्वीकृति भी अन्य पर की स्वीकृति की अपेक्षा रखेगी इस प्रकार से अनवस्था ही आ जावेगी।

१ अनधिगतवस्तुविकल्पस्य पुरुषस्य क्वचित्प्रदेशे वस्तुविचारे संशयो न घटते इति । २ तत्त्वोपप्लववादिनः ।३ तत्त्वोपप्लववादी प्राह । ४ जैनः । ५ तत्त्वोपप्लववादिना ।

(1) वसः । (2) यसः । (3) ज्ञाने । (4) ज्ञाने । (5) ज्ञाने । (6) विकल्पचतुष्टय प्रमेय तद्ग्राहक च विज्ञान प्रमाणं । (7) पराभ्युपगमस्य ग्राहकं प्रमाणं । (8) पराभ्युपगमात् इति पा. ।

[अधुनोपप्लववादिनः मतस्योपप्लव कुर्वन्ति जैनाचार्या]

पराभ्युपगमं [1]च स्वयं प्रतीयन्नेव न प्रत्येमीति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? [1]स्वयमप्रतीयंस्तु पराभ्युपगमं [2]ततः [2]किञ्चित्प्रत्येतीति[3] दुरवबोध—सोयं[4] किञ्चिदपि[3] स्वयं निर्णीतमनाश्रयन् [4]क्वचिद्विचारणाया व्याप्रियत इति[5] न [6]बुध्यामहे, किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारस्यानिर्णीतेर्थे प्रवृत्तेः । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिद्विचारणानवतारात् । तदुक्तं **"किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोन्यत्र[6] वर्त्तते । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा"*** इति । [7]ततः सूक्तं, तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा विचारोत्तरकालमपि प्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं चोपप्लुतं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहतिः[8] ।

[अब जैनाचार्य उपप्लववादी के मत का ही उपप्लव कर रहे हैं ।]

इस प्रकार से पर की स्वीकृति को स्वय अनुभव करते हुये ही आप "मै अनुभव नही करता हूँ" इस प्रकार बोलते हुये स्वस्थ कैसे है ? अर्थात् अस्वस्थ ही है । तथा यदि आप स्वय पर की स्वीकृति को विषय न करते हुए भी "कोई उस पर स्वीकृति से किंचित् वस्तु मात्र का अनुभव करता है" इस प्रकार से कहते है तब तो यह बात अत्यन्त दुष्कर ही है ।

इस प्रकार से आप शून्यवादी कुछ भी स्वय निश्चित (गाठ के तत्त्व) का आश्रय न लेते हुये किसी भी विषय की परीक्षा में प्रवृत्त होते है यह बात हमारी समझ मे नही आती है । अर्थात् आप शून्यवादी के यहा कुछ प्रमाणादि की प्रसिद्धि हुये बिना अन्य हम लोगों के यहा परीक्षा और संदेह करना कदापि शक्य नही है क्योकि किंचित् भी निश्चित् का आश्रय लेकर अनिर्णीत विषय मे परीक्षा होती है किन्तु सभी जगह विसवाद हो जाने पर तो कही पर परीक्षा भी नही हो सकती है अथवा अक्षर ज्ञान से शून्य मूर्ख क्या शास्त्रीय परीक्षा में बैठे हुये विद्यार्थियो की परीक्षा कर सकता है ? कहा भी है—**कहीं कुछ निश्चित का आश्रय लेकर अन्यत्र—अनिश्चित अर्थ में विचार—परीक्षा होती है और यदि सभी जगह विसंवाद हो जावे तो कहीं पर भी परीक्षा नहीं हो सकती है*** ।

इसलिये यह ठीक ही कहा है कि ये तत्त्वोपप्लववादी स्वय स्वप्रसिद्ध एक प्रमाण से अथवा पर प्रसिद्ध एक प्रमाण मे विचार—परीक्षा के उत्तरकाल मे भी प्रमाण तत्त्व और प्रमेयतत्त्व को उपप्लुत—नष्ट—प्रलय—अभाव—शून्यरूप जानते हुये अपनी आत्मा का ही अभाव कर लेते है । आपकी इस बात से

---

१ अप्रतिपत्तिविषयीकुर्वन् । २ पराभ्युपगमात् । ३ वस्तुमात्रम् । ४ तत्त्वोपप्लववादी । ५ शून्यवादिनः स्वप्रसिद्धेन विनान्यत्र विचारः सन्देहश्च न प्राप्नोतीत्यर्थः । ६ अनिर्णीतेर्थे ।

---

(1) किं च । (2) विकल्पचतुष्टयविशेष । (3) वस्तुमात्र । (4) ज्ञानप्रामाण्ये । (5) च न इति पा. । (6) तत्स्वरूप । (7) शून्यवादिनः स्वप्रसिद्धेन विनान्यत्रविचारः सदेहश्च न प्राप्नोति यतः । (8) व्याहतमेतदिति इति पा. ।

यह शून्यवाद नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी का कहना है कि सभी प्रमाण तत्त्व एवं प्रमेयतत्त्व अभाव रूप ही हैं क्योंकि किंचित् भी तत्त्व न तो प्रमाण से सिद्ध है न अनुमान से। इत्यादि प्रकार से तत्त्वों का अभाव करके वह कहता है कि हम आस्तिकवादी लोगों के द्वारा मान्य प्रमाण तत्त्व पर विचार करते हैं कि आप सभी जन प्रमाण की प्रमाणता को किस प्रकार से सिद्ध करते है निर्दोष कारणो से उत्पन्न होने से या बाधा के उत्पन्न न होने से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा अविसवादी पने से ? इन चारो हेतुओं से ज्ञान मे प्रमाणता नही आ सकती है । अत: ज्ञान की प्रमाणता की सिद्धि न होने से प्रमेयतत्त्व-ज्ञेय पदार्थ भी सिद्ध नही हो सकते है। क्योकि ज्ञान के बिना ज्ञेय पदार्थ कहा मे सिद्ध होगे ? पुन: उसने इस बात को भी सिद्ध किया कि हम शून्यवादियो का तत्त्व सर्वथा ही परीक्षा करने योग्य नही है क्योंकि वह अभाव—शून्य रूप है, हम तो तत्त्ववादी जैनादिको के द्वारा स्वीकृत प्रमाण, प्रमेयतत्त्व की परीक्षा करके उसका अभाव सिद्ध कर देते है उसी से ही हमारे शून्यवाद की सिद्धि हो जाती है।

इस पर जैनाचार्यो ने उत्तर दिया है कि हम लोग निर्दोषकारक जन्य आदि हेतुओ से प्रमाण की प्रमाणता नही मानते है किन्तु सुनिश्चितासंभवद्बाधकरूप स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान की प्रमाणता अभ्यास दशा मे स्वत. एव अनभ्यासदशा मे पर से मानते है अत प्रमाणतत्त्व भी सिद्ध है एव प्रमेयतत्त्व भी षड्द्रव्यरूप अखिल जगत्रूप से सिद्ध ही है क्योंकि "प्रतीतिरपलाप कर्त्तु न शक्यते केश्चित्" इस सूक्तिके अनुसार जो स्पष्ट रूप सेअनुभव मे आ रहा है उसका लोप करना शक्य नही है। एव जो शून्यवादी किसी वस्तु को मानने को ही तैयार नही है तो उन्हे किसी भी विषय मे परीक्षा करने का भी अधिकार नही है क्योंकि जो स्वय अपने आपके ही अस्तित्व को नही मानते है वे किसी भी विषय में अस्ति-नास्ति की परीक्षा भी कैसे कर सकेगे ? यदि जबरदस्ती करेगे तो फिर बन्ध्या का पुत्र भी आकाश के फूलो की सुगधि या दुर्गधि की परीक्षा कराते बैठेगा या वह आकाशपुष्प भी किसी के गले का हार बनेगा ओर किसी के सिर पर चढने का प्रयत्न कर डालेगा किंतु ऐसा तो सभव नही है अत. शून्यवादी जन भी अपना शून्यवाद स्थापन करते है यह कथन हास्यास्पद ही है।



तत्त्वोपप्लववादी के खंडन का सारांश

तत्त्वोपप्लववादी—हम प्रमाण प्रमेयादि कुछ भी तत्त्व नही मानते है क्योंकि सभी तत्त्व उपप्लुत-नष्ट-अभाव रूप ही हैं।

जैन—"सभी तत्त्व उपप्लुत है" यह कथन प्रमाण के बिना केवल वचनमात्र से ही सिद्ध है तथैव "सभी तत्त्व अनुपप्लुत है" यह बात भी वचन मात्र से ही क्यों न सिद्ध हो जावे ? आप शून्यवादी के यहां कोई प्रमाण तो है नही। प्रत्यक्ष को विषय करने वाला प्रत्यक्ष, अनुमेय को विषय करने वाला अनुमान और अत्यंत परोक्ष को विषय करने वाला आगम ये तीनो प्रमाण—सर्वज्ञ कहलाते हैं। यदि आप कहे कि पर के यहाँ प्रसिद्ध प्रमाण से हम अभाव—शून्यवाद सिद्ध कर देगे तो वह पर के यहा प्रसिद्ध प्रमाण प्रमाण से सिद्ध है या नही ? यदि सिद्ध है तो वादी प्रतिवादी सभी को सिद्ध है अन्यथा—असिद्ध है तो सभी को असिद्ध है क्योंकि बिना प्रमाण के सिद्ध हम जैनो को कुछ भी मान्य नही है। इस प्रकार से आप शून्यवादी सकल तत्त्वों के जानने वाले प्रमाणो से रहित सभी पुरुषो को जानते हुए स्वय आपका ही खंडन कर लेते है क्योंकि "सभी पुरुष तत्त्वों के ग्राहक प्रमाण से रहित है" ऐसा जिसने जान लिया वही तो प्रमाण—सर्वज्ञ सिद्ध हो गया और यदि आप प्रमाण को स्वीकार कर लेवे तब तो तत्त्वोपप्लव ही समाप्त हो जावेगा।

यदि आप कहे कि प्रमाण की प्रमाणता स्वतः व्यवस्थित है तो सभी के इष्ट तत्त्व सिद्ध हो जावेंगे। अच्छा ! हम शून्यवादी आप जैनो से पूछते हैं कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे जानी जाती है ? निर्दोषकारक से जन्य होने से, बाधा की उत्पत्ति न होने से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से या अविसवादी पने से ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो कारकों की निर्दोषता कैसे जानी ? प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? प्रत्यक्ष से तो अतीन्द्रिय निर्दोषता का ग्रहण नही है एव अविनाभावी लिंग न होने से अनुमान भी नही बता सकता। दूसरा पक्ष लेवो तो मरीचिका में भी "यह जल नही है" ऐसा बाधक कारण न होने से प्रमाणता आ जावेगी।

प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ज्ञान मे प्रमाणता मानने से भी अनवस्था आती है तथा चतुर्थ पक्ष भी बाधित ही है। यहाँ पूर्व के दो पक्ष मीमासक की अपेक्षा है। तीसरा पक्ष नैयायिक से सबधित है एव चौथा पक्ष बौद्धों के खंडन के लिये है।

मीमासक प्रमाण की प्रमाणता स्वतः मानता है, नैयायिक पर से मानता है एव बौद्ध अर्थक्रिया सद्भाव लक्षण अविसवाद ज्ञान को अभ्यास दशा में स्वतः प्रमाण कहता है किन्तु बौद्ध के यहा उत्पन्न होते ही ज्ञान उसी क्षण में नष्ट हो जाता है अतः अभ्यास असम्भव है, यदि सन्तान से कहो तो वह अवस्तु है।

इस पर जैनाचार्य कहते है कि आप शून्यवादी का कथन शून्यरूप व्यर्थ ही है। हम स्याद्वादी ज्ञान की प्रमाणता "अदुष्टकारकसदोहजन्य" इत्यादि चार कारणों से नही मानते हैं। हम तो "सुनि-

श्चिता संभवद्बाधक प्रमाण" से प्रमाण को प्रमाणता सिद्ध करते हैं क्योंकि "ज्ञान स्वार्थव्यवसायात्मक है" वह उपर्युक्त हेतु से सिद्ध है। तथा हमारे यहा अभ्यस्त विषय में स्वतः और अनभ्यस्त विषय में पर से प्रमाणता आती है तथा असभवद्बाधकत्व" स्वत सिद्ध है इसलिये अनवस्था एव इतरेतराश्रय दोष संभव नहीं है। पर से प्रमाणता मानने में वह पर प्रमाण स्वतः प्रमाण रूप है इसलिये भी अनवस्था नही आती है।

आत्मा का स्वार्थ सवेदन में अपने २ आवरणो का क्षयोपशम एक बार या पुनः पुनः होना अभ्यास है इससे विपरीत अनभ्यास है। हम आत्मा को कथंचित् नित्यानित्य मानते हैं अत अभ्यास-अनभ्यास दोनों ही सभव है। पूर्व स्वभाव का त्याग और अपर स्वभाव का उपादान तथा दोनों में अन्वित स्वभाव स्थिति इन तीनों लक्षणों में नित्यानित्य आत्मा मे अभ्यास अनभ्यास दोनो ही सभव हैं। अतः आप शून्यवादी कुछ भी स्वय निश्चित तत्त्व का आश्रय न लेते हुये भी हम जैनो के यहा तत्त्व में परीक्षा या सदेह करते है या नही मानकर शून्य कहते है यह कथमपि शक्य नही है क्योकि कही अपने यहां कुछ निश्चय का आश्रय लेकर ही अन्यत्र अनिश्चित विषय में परीक्षा होती है। इसलिये सभी प्रमाण प्रमेय तत्त्व को उपप्लुत—बाधित या प्रलयरूप कहते हुये आप अपनी आत्मा का ही घात कर लेते है। अतः तत्त्वोपप्लववादैकात श्रेयस्कर नही है।

[जैनमतमन्तरेण सर्वेऽपि मतावलम्बिनस्तीर्थच्छेदसप्रदाया भवतीति साध्यते जैनाचार्यैः]

[1]तदेवं कारिकाव्याख्यानमनवद्यमवतिष्ठते । [2]**तीर्थच्छेदसम्प्रदायानां तथा सर्वमवगतमिच्छतामाप्तता[1] नास्ति, परस्परविरुद्धाभिधानात्, एकानेकप्रमाणवादिनां [2]स्वप्रमाव्यावृत्ते[3]रिति[4]*** । [5]एकप्रमाणवादिनो हि संवेदनाद्वैतावलम्बिनश्चित्राद्वैताश्रयिणः परब्रह्मशब्दाद्वैतभाषिणश्च सुगतादयो यथा तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदन्तोपि चार्वाकाः, परमागमनिराकरणसमयत्वात्[3] । यथा च कपिलादयोनेकप्रमाणवादिन-

[सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि मे विसंवाद करने वाले मीमासक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादियो के यहाँ आत्मा के सद्भाव को सिद्ध करके इस समय उस सर्वज्ञ विशेष में विसंवाद करने वाले सौगत, साख्यादि के प्रति सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करते है । एव जैनमत के सिवाय अन्य सभी मतावलबी जन तीर्थच्छेद सप्रदाय वाले है इस बात को जैनाचार्य सिद्ध करते है ।]

उपर्युक्त प्रकार से कारिका का व्याख्यान निर्दोष सिद्ध हो जाता है ।

"तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले तथा सभी को सर्वज्ञ मानने वालों के आप्तता नही है क्योंकि उनके कथन परस्पर में विरुद्ध है तथा एक और अनेक प्रमाणवादियों के यहां अपने प्रमा-ज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है ।*

[एक ही प्रमाण को मानने वाले कौन-कौन है ?]

सवेदनाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी, परमब्रह्माद्वैतवादी और शब्दाद्वैतवादी बौद्ध आदि एक प्रमाणवादी हैं । जैसे ये एक प्रमाण मानने वाले तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले है वैसे ही प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण है ऐसा कहने वाले चार्वाक भी तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले है क्योंकि वे परमागम के समय-सप्रदाय का निराकरण करने वाले हैं ।

[अनेक प्रमाण को मानने वाले कौन कौन हैं ?]

जैसे कपिल आदि अनेक प्रमाणवादी तीर्थच्छेद सप्रदाय वाले है वैसे ही तत्त्वोपप्लववादी भी है क्योंकि उन लोगों ने एक भी प्रमाण नही माना है । "नैक प्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाणवादिन" ऐसा व्याख्यान है । अर्थात् "न एक प्रमाण अनेकप्रमाण" ऐसा नञ् समास करने पर यहा प्रसज्यप्रतिषेध अर्थ लेना अर्थात् सर्वथा ही निषेध अर्थ होता है ।

तथा सभी आप्त, आगम और पदार्थ के समूह को स्वीकार करने की इच्छा करते हुए भी अनेक प्रमाणवादी वैनयिकजन तीर्थच्छेदसप्रदाय वाले है । उन सभी में आप्तपना नही है क्योंकि वे सभी

१ वक्ष्यमाणप्रकारेण । २ सर्वज्ञसामान्ये विप्रतिपत्तिमतां मीमासकचार्वाकतत्त्वोपप्लववादिनामात्मत्वसद्भाव प्रसाध्येदानी तद्विशेषविप्रतिपत्तिमता सौगतादीना निर्वचन साधयति तीर्थेत्यादिना । ३ समयः सम्प्रदायः ।

(1) कारिकास्थितस्य सर्वेषामिति पदस्य विवरणमिद, सर्वमिच्छतीति सर्वेषस्तेषामिति निर्वचनात् । (2) स्वेन स्वकीयपरिच्छित्त्यभावात् । (3) प्रमितिः । (4) विघटनात् । (5) एकतत्त्ववादिन. ।

स्तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा तत्त्वोपप्लववादिनोपि, तैरेकस्यापि प्रमाणस्यानभिधानात्, [1]नैक-प्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाणवादिन इति व्याख्यानात् । तथा [2]सर्वमाप्तागमपदार्थ[3]जातमवगत-मिच्छन्तोप्यनेकप्रमाणवादिनो[3] वैनयिकास्तीर्थच्छेदसम्प्रदायाः । तेषामशेषाणामाप्तता[4] नास्ति, परस्परविरुद्धयोरर्थयोरभिधानात् ।

परस्पर विरुद्ध दो अर्थों का कथन करने वाले है ।

भावार्थ—विश्व में दो प्रकार के दर्शन प्रचलित है । १ आस्तिक २. नास्तिक । आत्मा के अस्तित्व को मानने वाले सभी आस्तिक कहलाते है एव जो आत्मा का अस्तित्व तथा परलोक आदि नही मानते है वे नास्तिक कहलाते है । इस व्याख्या से चार्वाक भूतचतुष्टयवादी होने से आत्मा का अस्तित्व नही मानते है अत. नास्तिक है तथा तत्त्वोपप्लववादी तो आत्मा, परमात्मा, स्वय की आत्मा एव जड़ पदार्थ आदि किसी का भी अस्तित्व नही मानते है अतः ये भी नास्तिक है इन दोनो के यहा सर्वज्ञ मानने का प्रश्न ही नही उठता है किन्तु वैदिक सप्रदाय में एक मीमासक सप्रदाय वाले हैं जो किसी भी पुरुष को अतीन्द्रिय सर्वज्ञ मानने को तैयार नही है । ये तीनो सर्वथा ही सर्वज्ञ के अभाव को करने वाले है और बौद्ध साख्य एव वैशेषिक ये लोग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तो मानते है किन्तु इनकी मान्यताये सुघटित नही है, इनके द्वारा मान्य बुद्ध भगवान् महेश्वर आदि सच्चे सर्वज्ञ नही हो सकते है । इसलिए इन सभी के सिद्धात-धर्मतीर्थ का विनाश करने वाले होने से ये सभी लोग तीर्थच्छेद सप्रदाय वाले कहे गये है । ब्रह्माद्वैतवादी आदि सभी अद्वैतवादी एक अद्वैत रूप ही जगत् मानते है कोई ब्रह्मरूप, कोई शब्दरूप एव कोई ज्ञानरूप इत्यादि । इसलिए ये सभी अद्वैतवादी एक प्रमाणवादी कहलाते है इसी प्रकार चार्वाक भी एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है क्योंकि उसके यहा पाच इन्द्रियों के ज्ञान के सिवाय कोई बात प्रमाणीक है ही नही अतः यह चार्वाक भी एक प्रमाणवादी है ।

बौद्ध, साख्य, मीमासक आदि दो, तीन, चार आदि प्रमाण मानते है इसलिए ये सभी अनेक प्रमाण-वादी है । यहा पर तत्त्वोपप्लववादी को अनेक प्रमाणवादी कहने का मतलब यह है कि वह एक भी प्रमाण नही मानता है इसलिए व्याकरण के नञ् समास के अनुसार ही यह व्याख्या है जैसे "न उदर यस्या असौ अनुदरा कन्या" जिसके उदर नही है वह अनुदरा है मतलब जिसका पेट छोटा है यहा पर नञ् का अर्थ किंचित् रूप है और ऊपर अनेक प्रमाणवादी में नञ् का अर्थ सर्वथा निषेध रूप है । अतः "अनेक" शब्द का बहुत वाची अर्थ न "एक भी नही" ऐसा अर्थ हो जाता है । यह लक्षण मात्र तत्त्वोपप्लववादी के लिये ही घटित करना है ।

१ तथापि तत्त्वोपप्लववादिनामनेकप्रमाणत्व कथमित्यत आह नैकेति । प्रसज्यप्रतिषेधोत्र । २ समूहम् । ३ अभ्युपगतम् । स्वीकृतमित्यर्थः । ४ सत्यता सवादकता ।

(1) अभ्युपगतं । सर्वं विद्यते सर्वंसमीचीनमस्तीति भाव. ।

[सर्वेषामद्वैतवादिना निराकरण]

तत्र संवेदनाद्वैतानुसारिण[1] स्वपक्षसाधनस्य परपक्षदूषणस्य [2]वा संविदद्वैतविरुद्ध-स्याभिधानं[3], १तथा[4] द्वैतप्रसिद्धेः। संवृत्या२ तदुपगमे न परमार्थतः संविदद्वैतसिद्धिः, [5]अतिप्रसङ्गात्। एतेन चित्राद्वैतपरब्रह्माद्यवलम्बिनां परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिवर्णितम्।

एक वैनयिक मतवाले है जो कि सभी के भगवान् को सभी के गुरु और आगम को मानते हैं तथा सभी के मान्य पदार्थ भी स्वीकार कर लेते है और सभी की विनय भक्ति करते हे किन्तु ये भी तीर्थ का विनाश करने वाले है क्योंकि प्राय. सभी के मत परस्पर मे एक दूसरे के विपरीत ही है अत. सभी को तो सर्वज्ञ माना नही जा सकता है।

[अद्वैतवादियों का खण्डन]

सवेदनाद्वैतवादी के यहा स्वपक्ष साधन अथवा परपक्षदूषण वचन सवेदनाद्वैत से विरुद्ध ही है क्योंकि उस प्रकार मानने पर तो द्वैत का ही प्रसंग आ जाता है और सवृति से उसे स्वीकार करने पर परमार्थ से सवेदनाद्वैत सिद्ध नही होगा अन्यथा अतिप्रसग आ जावेगा। अर्थात् स्वपक्ष साधन अथवा पर-पक्ष दूषण के होने पर द्वैत का प्रसग आता है। इस दोष को दूर करते हुये यदि आप बौद्ध कल्पना से द्वैत को स्वीकार करें तब तो सवेदनाद्वैत की सिद्धि भी कल्पना से ही होगी न कि निश्चय से।

इसी कथन से चित्राद्वैतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी के यहाँ भी परस्पर विरुद्ध कथन पाया जाता है उसका भी निराकरण कर दिया है।

विशेषार्थ—जो एक रूप ही सारे विश्व को मान लेते है वे एक प्रमाणवादी कहलाते है। ये सभी अद्वैतवादी है, इनमें पाँच भेद हैं—विज्ञानाद्वैतवाद, चित्राद्वैतवाद, शून्याद्वैतवाद, ब्रह्माद्वैतवाद और शब्दाद्वैतवाद। यहाँ संक्षेप से इनका वर्णन करते हैं यथा—

[विज्ञानाद्वैतवाद का खंडन]

विज्ञानाद्वैतवादी का कहना है कि अविभागी एक बुद्धि मात्र को छोडकर जगत् में और कोई पदार्थ है ही नही, इसलिये एक विज्ञानमात्र तत्त्व ही मानना चाहिये। ऐसे एक विज्ञानमात्र तत्त्व को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है। उसका कहना है कि हम अर्थ का अभाव होने से ज्ञान मात्र तत्त्व मानें ऐसी बात नही है, किन्तु अर्थ और ज्ञान एकत्र उपलब्ध होते है अत. इनमे अभेद माना है। "जो प्रतिभासित होता है वह ज्ञान है क्योंकि प्रतीति मे आ रहा है जैसे सुखादि और नीलादि प्रतीत हो रहे है अतः वे भी ज्ञान ही है" इस अनुमान के द्वारा समस्त पदार्थ एक ज्ञानरूप सिद्ध हो जाते है।

१ तथा सति। २ स्वपक्षसाधने परपक्षदूषणे वा सति द्वैतप्रसङ्गं निराकुर्वन् यदि कल्पनया द्वैतमङ्गीकुर्यात्तदा संविद-द्वैतसिद्धिरपि कल्पनयैव सिद्ध्येन्न निश्चयेनेत्यर्थः।

(1) ता। (2) वा स्थाने च इति पाठांतर व्यावरपुस्तके। (3) विद्यते। एकानेकप्रमाणवादिना स्वप्रमाण्याबूत्तेरिति सबध:। (4) प्रमाणप्रमेयभेदेन। (5) कल्पितात्कस्यचित् सिद्धा वितरस्यापि तत्त्वस्य कल्पितात्सिद्धिप्रसगः।

आप द्वैतवादी—जैन आदि लोग "अह प्रत्यय" से आत्मा को सिद्ध करते है, किन्तु वह अहं प्रत्यय क्या है ? गृहीत है या अगृहीत, निर्व्यापार है या व्यापार सहित, निराकार है या साकार ? इत्यादि रूप से अनेक प्रश्न उत्पन्न होते है ।

यदि आप जैन कहे कि "अह प्रत्यय" गृहीत है तो भी प्रश्न उठेगा कि स्वगृहीत है या पर से ? इत्यादि प्रश्नमालाओ का विराम नही हो सकेगा ।

विज्ञानाद्वैतवादी के इस सिद्धान्त को सुनकर जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि भाई ! आप ज्ञानमात्र ही तत्त्व मानते हो तो केवल वचन मात्र से ही मानते हो या प्रमाण से ? यदि वचन मात्र से कहो तो सभी अपने-अपने वचनो से अपने-अपने तत्त्वो की मान्यता को सच्ची कह रहे है, पुन: सारा विश्व एक विज्ञान रूप ही कहा रहा ? यदि कहो कि प्रमाण से हम एक विज्ञान तत्त्व को सिद्ध करते है तब तो प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? प्रत्यक्ष प्रमाण से तो आप सम्पूर्ण पदार्थो का अभाव सिद्ध नही कर सकते है, क्योकि प्रत्यक्ष तो बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को ही सिद्ध कर रहा है न कि बाह्य पदार्थो के अभाव को। अनुमान से भी आप अतरग, बहिरग पदार्थो (चेतनाचेतन) को समाप्त नही कर सकते है क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष से बाधित है। यदि अनुमान उसमे प्रवृत्ति करेगा तो बाधित पक्षवाला अनुमानाभास हो जावेगा ।

आपने जो कहा कि पदार्थ और ज्ञान एक साथ उपलब्ध हो रहे है अत: एक है यह मान्यता भी गलत है क्योकि जो पदार्थ एक साथ हो वे एक ही हो यह नियम बन नही सकता है । रूप और प्रकाश एक साथ है किन्तु एक नही है । इसके अतिरिक्त ! बाह्य पदार्थ न होते हुये भी अतरग में सुखादि का अस्तित्व पाया जाता है । सामने महल भोजन आदि समान होते हुये भी उनका ज्ञान पाया जाता है । तथा सर्वज्ञ का ज्ञान और ज्ञेय एक साथ होने से क्या एकमेक हो जावेगे ? अर्थात् नही । आपने जो "अह प्रत्यय" का खडन किया है वह भी गलत है "मै ज्ञानमात्र तत्त्व को जानता हूं" इस आपकी मान्यता मे तो "अह— मै" शब्द आ ही गया है फिर आपने जो प्रश्न उठाये है वे भी कुछ विशेष महत्त्व नही रखते है । देखिये ! आपने जो प्रथमत. प्रश्न किया है कि अह प्रत्यय गृहीत है या अगृहीत ? सो अह प्रत्यय स्वय ही सबको गृहीत है "मैं जानता हू, मै जाता हू, मै खाता हू, मैं पढता हू, मै सुखी हूं, मै दु:खी हू" इत्यादि से सभी को मै शब्द का अनुभव स्वय ही आ रहा है एव अपने को और पर को जानने वाला होने से यह "अह प्रत्यय" व्यापार सहित है इत्यादि ।

दूसरी बात यह है कि एक ज्ञान मात्र ही तत्त्व को मानने पर तो सबसे बड़ी आपत्ति यह आती है कि वही ज्ञान ग्राह्य और ग्राहक रूप से दो रूप सिद्ध हो जाता है पुन: अद्वैतवाद सिद्ध न होकर द्वैत सिद्ध हो जाता है । तथा एक यह भी बाधा आती है कि ज्ञान ही जब ग्राह्य और ग्राहक बन गया तब बाह्य पदार्थों में उठाना, रखना, फोड़ना, पकड़ना आदि जो कार्य देखा जाता है वह कैसे सभव होगा ? ज्ञान मात्र मे लड्डू के झलकने से किसी को आज तक उसका स्वाद नही आया है । जब सभी पदार्थों के आकार

ज्ञानमात्र में ही हैं तब तो पदार्थ के अभाव में अनेको क्रियायें सभव नही हो सकेगी।

इस पर बौद्ध ने कहा है कि भाई ! जितने भी कार्य दिख रहे है वे सब कल्पना मात्र हैं केवल संवृत्ति से ही दिख रहे है। तब तो भाई ! आप का विज्ञान तत्त्व भी कल्पना मात्र ही रहा। यदि एक ज्ञान तत्त्व को वास्तविक कहोगे और सभी को कल्पना मात्र कहोगे तब भाई ! कहने वाले आप और सुनने वाले हम सभी कल्पित ही रहेंगे तो आपका तत्त्व प्रतिपादन एव उसकी व्यवस्था भी कल्पित ही सिद्ध होगी। इसलिये जगत् को चेतन अचेतन से अतरग, बहिरग तत्त्व रूप मानना ही पड़ेगा और विज्ञान मात्र तत्त्व को कल्पित सिद्ध करके वास्तविक द्वैत को सिद्धि ही निर्बाध सिद्ध हो जावेगी।

"चित्राद्वैतवाद"

बौद्धों के यहां विज्ञानाद्वैतवाद के समान ही चित्राद्वैतवाद भी है। इन दोनो में भेद इतना ही है कि विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान में होने वाले नीलादि, घटपटादि आकारो को भ्रान्त-कल्पित-झूठ मानते हैं और चित्राद्वैतवादी उन आकारो को सत्य मानता है, किंतु दोना के यहाँ अद्वेत का साम्राज्य है।

चित्राद्वैतवादी का कहना है कि अनेक नीलादि आकार को धारण करने वाली एक बुद्धि ही एकमात्र तत्त्व है। ससार मे और कुछ भी तत्त्व नही है।

इस मान्यता पर जैनाचार्यो का कहना है कि भाई ! चित्र ज्ञान भी कहो और एक ज्ञान भी कहो यह बात तो परस्पर विरुद्ध ही है। जब चित्रज्ञान है तब उसमे अनेको आकार पाये जाते है। पुन: आप उसे अद्वैत नही कह सकते है। यदि चित्रज्ञान के अनेक आकारो को सवृत्तिरूप कहो तब तो आपका अद्वैत भी सवृत्ति रूप ही सिद्ध होगा। इसलिये क्रम तथा अक्रम से नीलादि अनेक पदार्थ के आकार को ग्रहण करने वाले ज्ञान से युक्त एक आत्मा का ही अस्तित्व मान लो, साथ ही साथ बाह्य पदार्थो को भी वास्तविक मानकर द्वैत सिद्धांत में आ जाओ, क्योंकि चित्राद्वैत की सिद्धि होना कथमपि शक्य नहीं है।

"शून्याद्वैतवाद"

बौद्ध के चार भेदों में से एक माध्यमिक है, यह सकल जगत् को शून्यरूप ही मानता है इसका कहना है कि जगत् में चेतनाचेतन आदि सभी पदार्थ काल्पनिक है, इन्द्रजाल के समान है अतएव यह सारा जगत् शून्यरूप ही है। यह शून्यवादी एक ज्ञान मे अनेक आकार भी नही मानता है।

इस पर जैनाचार्य ने समझाया है कि भाई ! यदि एक ज्ञान में अनेक आकार नही मानोगे तो नील कमल के एक अश का ग्राहक ज्ञान उसी कमल के दूसरे अश को ग्रहण नही कर सकेगा अन्यथा एक ज्ञान में अश की अपेक्षा अनेक आकार आ जावेगे और यदि एक ज्ञान एक समय में कमल के एक ही अंश को ग्रहण करेगा तो अन्य सभी अशो को ग्रहण न कर सकने से उस कमल का अस्तित्व नही सिद्ध होगा और न कमल दीखेगा एव प्रमाण जिसे ग्रहण नही करेगा वह प्रमेय रूप भी कैसे होगा, और जब प्रमेय का अस्तित्व नही मानोगे तो ये ग्राम, नगर, बगीचे, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जो दिख रहे है उनका लोप आप कैसे करेगे ? ससार में प्रतीति के बल से सभी वस्तुओं का अस्तित्व प्राय: सभी वादी प्रतिवादी मान

लेते है आप दिखते हुये सारे विश्व को शून्य रूप कहते हुये तो पहले आप अपने आपको समाप्त कर लेंगे एव शून्यवाद का अस्तित्व भी सिद्ध नही हो सकेगा। यदि शून्यवाद का अस्तित्व मानोगे तब तो सर्वथा इसका खडन तो अभावैकान्त का निरसन करते समय आचार्य स्वय ही बहुत ही सुदर ढग से करेंगे।

"ब्रह्माद्वैतवाद"

ब्रह्माद्वैतवादी का कहना है कि यह सम्पूर्ण विश्व एक परमब्रह्मस्वरूप ही है। जगत् में जो कुछ भी प्रतिभासित हो रहा है वह सब परमब्रह्म की पर्याय है। सभी वस्तुएं सत् रूप है बस ! इस सत् का जो प्रतिभास है वही परमब्रह्म है। इस ब्रह्मवाद का खडन आगे चलकर अद्वैतवाद के खडन में स्वय आचार्य ने बहुत ही विशेष रूप से किया है यहा पर केवल सक्षेप से दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

ब्रह्मवादी का कहना है कि "ये सभी चेतन अचेतन पदार्थ प्रतिभासस्वरूप परमब्रह्म में ही अंत:-प्रविष्ट है क्योंकि प्रतिभासित हो रहे है जैसे कि परमब्रह्म का स्वरूप उसी के अन. प्रविष्ट है। सारे जगत् के पदार्थ प्रतिभासित हो रहे है अत वे परमब्रह्म के ही अत प्रविष्ट है।"

इस पर जैनाचार्यो का कथन है कि ये जो चेतन अचेतनादि अनेक पदार्थ दिखाई दे रहे हैं ये सर्वथा असत्य—काल्पनिक नही है क्योंकि जैसे स्वप्न के राज्य से सुख नही मिलता है, स्वप्न में भोजन करने से पेट नही भरता है वैसी बात तो साक्षात् राज्य का उपभोग करने मे या भोजन करने में नहीं है प्रत्युत वास्तविकता दृष्टिगोचर होती है अतएव सर्वथा इन सभी व्यवहारो को अविद्या का विलास कहना उचित नही है।

दूसरी बात यह भी है कि आप अपने ब्रह्मवाद को सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि तो मानोगे ही फिर भला सर्वथा अद्वैत कहा रहा ? यदि इन प्रमाणो को भी काल्पनिक कहोगे तो काल्पनिक उपायो से परमब्रह्म की सिद्धि भी काल्पनिक होगी न कि वास्तविक, क्योंकि झूठ बोलने वाला व्यक्ति किसी बात को झूठी ही कहेगा न कि सत्य, यदि सत्य भी कहेगा तो वह असत्यभाषी नही कहलायेगा। इसलिये अविद्या मे आपका परमब्रह्म भी अविद्या का ही विलास रह जाता है।

"शब्दाद्वैतवाद"

शब्दाद्वैतवादी का कहना है कि यह सारा जगत् शब्दब्रह्म स्वरूप है, यह शब्दब्रह्म तो अनादिनिधन है और अक्षरादि उसके विवर्त है। जितने चेतनाचेतन पदार्थ हैं वे सभी इसी शब्द ब्रह्म के भेद प्रभेद है। ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही पदार्थ का निश्चय कराता है। मतलब जगत् में जितना भी ज्ञान है वह शब्द के द्वारा ही होता है। उनके यहा शब्द के चार भेद माने है। वैखरीवाक्, मध्यमावाक्, पश्यतीवाक् और सूक्ष्मावाक्। कहा भी है—

"वैखरी शब्दनिष्पत्तिः मध्यमा श्रुतिगोचरी।
द्योतितार्था च पश्यती सूक्ष्मावागनपायिनी ॥"

अर्थ—वक्ता के कठ, तालु आदि स्थानो से प्राणवायु के सहारे जो ककारादि वर्ण या स्वर उत्पन्न होते हैं उसे वैखरीवाक् कहते है।

अंतरग में जो जल्परूप वचन है वे मध्यमावाक् है। जो ककारादि के क्रम से रहित है तथा ज्ञान-रूप है जिसमें वाच्य, वाचक का विभाग नही होता है वे पश्यतीवाक् है।

परम ज्योतीस्वरूप, अत्यत दुर्लक्ष्य, कालआदि भेद से रहित ऐसी सूक्ष्मावाक् है। इसी सूक्ष्मावाक् से सारा विश्व व्याप्त है। यदि ज्ञान शब्द ब्रह्म की वचनरूपता का उलघन करे तब तो कुछ भी ज्ञान का प्रकाश ही नही रहेगा।

इस शब्दाद्वैतवाद का प्रमेयकमलमार्तण्ड में श्री प्रभाचद्राचार्य ने बड़े ही सुन्दर ढग से खडन कर दिया है। आचार्य ने कहा है कि यह सारा जगत् शब्दमय है ऐसा अनुभव कहाँ होता है ? सारे ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही होते है यह बात भी नही दिख रही है। नेत्रादि इंद्रियो से जो ज्ञान होता है उसमे शब्द का सबध है ही नही। एक कर्ण ज्ञान को छोडकर किसी भी ज्ञान मे शब्द का सबंध नही है फिर भी यदि जबरदस्ती ही मानो तब तो हम आपसे प्रश्न करते है कि ज्ञान से शब्द का सबध आपको कैसे हो रहा है, प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमान प्रमाण से ? प्रत्यक्ष से कहो तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नेत्र के द्वारा जो भी नीलादि पदार्थो का प्रतिभास है वह शब्द से रहित है। स्वसवेदन प्रत्यक्ष भी शब्द को विषय नही करता है।

उपर्युक्त यह सब दोषारोपण देखकर शब्दाद्वैतवादी कहता है कि शब्द का सबंध पदार्थ से है अर्थात् सभी चेतनाचेतन पदार्थ शब्द से अनुविद्ध है। इस पर भी यह प्रश्न होता है कि पदार्थ का स्थान और शब्द का स्थान एक है क्या ? यदि एक कहो तो बहुत बडी आपत्ति आ जावेगी। अग्नि, जल आदि पदार्थ और शब्द एकमेक होने से अग्नि शब्द के सुनते ही कान जल जावेगे एव जल शब्द से कान मे पानी भर जावेगा तब तो कान से कुछ सुनाई भी नही देगा, किन्तु ऐसा तो होता नही है अत शब्द और पदार्थ का तादात्म्य सबध नही है क्योकि पदार्थ और शब्द भिन्न २ इंद्रियो से ग्रहण किये जाते है शब्द केवल कर्णेन्द्रिय गम्य है।

दूसरी बात यह है कि यदि आप जगत् को शब्द रूप मानते हो तब तो यह भी प्रश्न होता है कि यह शब्दब्रह्म जगत् रूप परिणत होता है तब अपने स्वभाव को छोड़कर होता है या बिना छोड़े ? यदि छोड़ कर कहो तो शब्दब्रह्म अनादि निधन कहाँ रहा ? यदि शब्द अपने स्वभाव को छोड़े बिना भी जगत् रूप होता है तब तो बहिरे को, एकेन्द्रिय आदि को, और तो क्या पत्थर को भी सुनाई देना चाहिए क्योंकि सभी चेतन अचेतन पदार्थ शब्द से तन्मय ही तो हैं, किन्तु ऐसा दिखता तो है नहीं। पुनरपि एक प्रश्न उठता है कि आपके शब्द ब्रह्म से यह जगत् रूप पर्याय भिन्न है या अभिन्न ? प्रथम पक्ष लेवो तो अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है। यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो ये नानाभेद क्यों दिखाई देते हैं ?

[प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिचार्वाकस्य निराकरणं क्रियते जैनैः]

प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदतां[१] [1]प्रमाणेतरसामान्यव्यवस्थापनस्य[2] [२]संवादेतरस्वभावलिङ्गजानुमाननिबन्धनस्य[3] परचित्तावबोधस्य च व्यापारादिकार्यलिङ्गोत्थानुमान[4]निमित्तस्य परलोकादिप्रतिषेधस्य चानुपलब्धिलिङ्गोद्भूतानुमानहेतुकस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणविरुद्ध-

इस प्रकार से जैनाचार्यों के द्वारा दिये गये इन सभी दोषों से घबराकर उस शब्दाद्वैतवादी ने कहा कि भाई ! हमारे यहाँ ये कुछ भी दोष नहीं आते हैं क्योंकि हमारी मान्यता है कि शब्दब्रह्म से भिन्न जो नाना पदार्थ दिखाई दे रहे हैं यह केवल अविद्या का ही विलास है। हमारे यहाँ योगीजन तो शब्द ब्रह्म को नाना रूप से न देखकर एक रूप ही देखते है तब प्रश्न यह होता है कि वह अविद्या शब्दब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो द्वैत हो गया और यदि अभिन्न है तो आपका शब्दब्रह्म अविद्या रूप ही रहा।

और दूसरी आपत्ति यह आती है कि यदि आपकी मान्यता के अनुसार पदार्थ शब्दमय हैं तब तो 'गिरि' शब्द तो इतना छोटा है और 'गिरि' शब्द का वाच्य पहाड़ कितना बड़ा दिख रहा है ऐसा क्यों ? शब्दमय गिरि पदार्थ कहा रहा ? किसी भी पदार्थ के वाचक शब्द क्या उस वस्तु के बराबर बड़े हो सकते हैं अणु शब्द और आकाश, मेरु आदि के वाचक शब्द अपने वाच्य के बराबर हो जावे फिर क्या होगा ? तथा यदि शब्दमय पदार्थ हैं तो संकेतादि के बिना भी प्रत्येक बालक, मूर्ख आदि को उसका ज्ञान होना चाहिये, किंतु ऐसा होता नहीं है बाल्यकाल से ही बालकों को हजारों बार पदार्थों में संकेत कराया जाता है। देखो बालक ! "यह पुस्तक है, यह पेंसिल है" इत्यादि प्रत्येक वस्तु में बार-बार संकेत के सुनने से बालक उस नाम से उस पदार्थ को जानने लगता है। इन बातों से यह निश्चित हो जाता है कि आपका शब्दाद्वैतवाद प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है, इसका दुराग्रह छोड़ देना चाहिये।

[चार्वाक का खण्डन]

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसा कहने वाले चार्वाक के यहां संवाद और विसंवाद रूप स्वभाव हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान के निमित्त से होने वाली प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था और वचन व्यापारादि कार्य हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान के निमित्त से होने वाला पर के चित-चैतन्य का ज्ञान तथा अनुपलब्धि हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान हेतुक परलोकादि का निषेध है ऐसा कथन प्रत्यक्षैक प्रमाण के विरुद्ध है ऐसा समझना चाहिये और इनके मानने पर तो प्रमाणांतर—अनुमान प्रमाण सिद्ध हो जाता है। अर्थात् चार्वाक प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था को संवाद और विसंवाद से ही मानता है बस ! यही स्वभाव हेतु है। उसी प्रकार से दूसरों की बुद्धि का ज्ञान उसके वचन बोलने आदि कार्य हेतु से होता है तथैव परलोकादि का निषेध अनुपलब्धि हेतु से होता है अतः इन तीन हेतुओं से उत्पन्न हुये अनुमान को मान लेने से यह चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है यह बात नहीं बन सकती है।

१ चार्वाकाणाम्। २ इतरत् = असत्यम्। ३ इतर = विसंवाद.।

(1) अप्रमाणमनुमानादिक।(2) समर्थनस्य। (3) ब्यास:।(4) ब्यास:।

स्याभिधानं[1] प्रतिपत्तव्यं, [1]तथा [2]प्रमाणान्तरसिद्धेः[2]। परोपगमात्तत्स्वीकरणे [3]स्वयं प्रमाणेतरसामान्यादिव्यवस्थानुपपत्तेः कुतः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादः[3], [4]अतिप्रसङ्गात्।

यदि आप कहे कि पर की स्वीकृति से हम प्रमाणांतर को स्वीकार करके निषेध करते हैं तब तो स्वयं प्रमाण और प्रमाणाभास रूप सामान्य की व्यवस्था नही हो सकने से आपके यहाँ प्रत्यक्ष रूप ही एकप्रमाणवाद कैसे सिद्ध होगा ? अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा। अर्थात् अनुमान के सद्भाव में भी एकप्रमाणवाद को यदि चार्वाक माने तब तो अनेक प्रमाणवादी वैशेषिकादिकों को भी एकप्रमाणवादिता का प्रसंग आ जावेगा।

भावार्थ—चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानता है उसके प्रति आचार्य कहते है कि—

प्रमाणेतरसामान्य स्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणातरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥

अर्थ—प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य की स्थिति होने से शिष्यादि की बुद्धि के ज्ञान से और परलोकादि के प्रतिषेध से प्रमाणान्तर अर्थात् अन्य प्रमाणरूप अनुमान का सद्भाव सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि अनुमान प्रमाण के माने बिना न तो प्रमाण सामान्य ही सिद्ध हो सकता है और न अप्रमाण सामान्य ही, क्योकि किसी भी ज्ञान सामान्य को प्रमाण सिद्ध करने मे उसका अविसवादी होना आवश्यक है तथैव मिथ्याज्ञान का विसवाद के साथ अविनाभाव सबध है। अतः प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण का मानना आवश्यक ही हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि यह चार्वाक "एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" इस प्रकार जब दूसरो को समझावेगा तब अन्य पुरुष के वचन चातुर्य आदि के द्वारा उसकी बुद्धि रूप कार्य का अनुमान करके ही तो समझावेगा क्योकि वचन चातुर्य आदि बुद्धि के कार्य है तथैव पुण्य, पाप परलोकादि का निषेध करने के लिए उस चार्वाक को अनुपलब्धि रूप हेतु का आश्रय लेना ही पडेगा। अर्थात् प्रमाण और अप्रमाण सामान्य की व्यवस्था संवाद और विसवाद रूप स्वभाव हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान से होती है तथा वचन व्यापारादि कार्य हेतु से उत्पन्न हुआ जो अनुमान है उस अनुमान से पर की बुद्धि आत्मा आदि का ज्ञान होता है पुनः उसको समझाया जाता है एवं अनुपलब्धि हेतुक अनुमान से परलोक, पुण्य, पापादि का निषेध किया जाता है अतः चार्वाक के यहा अनुमान प्रमाण बिना माने ही जबरदस्ती आ जाता है। चार्वाक उसका निषेध नहीं कर सकते है और यदि करते है तो उनके यहा प्रत्यक्ष प्रमाण भी सिद्ध नही हो सकता है।

१ तथा सति। २ 'प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः। प्रमाणान्तरसद्भाव. प्रतिषेधाच्च कस्यचित्" इति वचनात्। ३ अन्यथा। ४ अनुमानसद्भावेप्येकप्रमाणवादिता चार्वाकस्य यदि स्यात्तदानेकप्रमाणवादिना वैशेषिकादीनामप्येकप्रमाणवादिताप्रसङ्गात्।

(1) अस्तीति। (2) अनुमान। (3) स्वस्य।

[तर्केण विनानेकप्रमाणवादिना प्रमाणव्यवस्थापि न तत्त्वव्यवस्थां कर्तुं क्षमा]

तथानेकप्रमाणवादिनां 'कपिल[1]कणभक्षाक्षपाद[3]जैमिनिमतानुसारिणां[4] स्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमविरुद्धस्य सामस्त्येन साध्यसाधनसम्बन्धज्ञानस्याभिधानं[5] बोद्धव्यं, प्रमाणान्तरस्योहस्य सिद्धेः। यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति प्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षस्य सामर्थ्यं, 'तस्य सन्निहितविषयप्रतिपत्तिफलत्वात्। नाप्यनुमानस्य[7], अनवस्थानात्, तद्व्याप्तेरप्यपरानुमानगम्यत्वात्। इति वैशेषिकस्योहः [8]प्रमाणान्तरमनिच्छतोप्यायातम्। 'एतेन सौगतस्य प्रमाणान्तरमापादितम्[10]। तथागमस्यापि व्याप्तिग्रहणेऽन-

[तर्क प्रमाण के न मानने से हानि]

तथा अनेक प्रमाणवादी कपिल—साख्य, कणभक्ष—वैशेषिक, अक्षपाद—नैयायिक, जैमिनि—प्रभाकरभट्ट के मत का अनुसरण करने वालों को अपने द्वारा स्वीकृत प्रमाण की संख्या के नियम से विरुद्ध समस्त रीति से साध्य साधन के सम्बन्ध का ज्ञान रूप तर्क नाम का प्रमाण अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये। वह भिन्न प्रमाण रूप ऊह नाम से प्रसिद्ध ही है। अर्थात् इन सभी ने दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि रूप से प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव रूप जो प्रमाण माने है उनमें तर्क प्रमाण न होने से साध्य साधन के अविनाभाव को ग्रहण करने वाला कोई भी प्रमाण नही है, एक तर्क ही ऐसा प्रमाण है जो व्याप्ति को विषय कर सकता है। इसीलिये आचार्य उस तर्क को पृथक् प्रमाण सिद्ध करते हैं।

जितना कुछ भी धूम है वह सभी अग्नि से उत्पन्न हुआ है अथवा अनग्नि से उत्पन्न नही हुआ है इस प्रकार के ज्ञान को कराने में प्रत्यक्ष की सामर्थ्य नही है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष सन्निहित-वर्तमान विषय के ज्ञान का फलस्वरूप है। अनुमान भी उस व्याप्ति को जानने में समर्थ नही है, क्योकि अनवस्था आ जाती है कारण यह है कि वह व्याप्ति भी अन्य अनुमान से गम्य होगी। इस प्रकार से वैशेषिक के यहा तर्क नाम का प्रमाण स्वीकार न करने पर भी आ ही जाता है।

इसी कथन से सौगत के यहां भी तर्क नाम का भिन्न प्रमाण आ ही जाता है।

तथा आगम भी व्याप्ति को ग्रहण करने का अधिकारी नहीं है अतः कपिल—साख्य को तर्क प्रमाण मानना ही पड़ेगा एव व्याप्ति को ग्रहण करने में उपमान प्रमाण भी असमर्थ है अत आप नैयायिक को भी इस तर्क को मानना ही होगा। प्रभाकर के यहां भी अनुमान के समान अर्थापत्ति से व्याप्ति का ज्ञान न होने से तथा भट्टमतानुसारी को मान्य अभाव प्रमाण भी उसे नही जान सकता है अतएव इन प्रभाकर

१ कपिलः=साङ्ख्यः। २ कणभक्षो=वैशेषिकः। ३ अक्षपादो=नैयायिकः। ४ जैमिनिः=प्रभाकरभट्टः। ५ ऊहाख्यस्य। ६ प्रत्यक्षस्य। ७ ऊहपरिज्ञाने सामर्थ्यम्। ८ अनिष्टम्। ९ वैशेषिकस्य प्रमाणान्तरप्रतिपादनेन। १० सौगतेनापि प्रत्यक्षानुमानाख्यप्रमाणद्वयस्याभ्युपगमात्।

धिकारात्कापिलस्योहः प्रमाणं नैयायिकस्य च [1]तत्रोपमानस्याप्यसमर्थत्वात् [2]प्राभाकरस्य चार्थापत्तेरप्यनुमानवत्तत्राव्यापाराद्भट्टमतानुसारिणश्चाभावस्यापि तत्रानधिकृतत्वात्[1] । तथैकमपि प्रमाणमनभ्युपगच्छतां तत्त्वोपप्लवावलम्बिनामनेकप्रमाणवादिनां तत्त्वोपप्लवोपगमस्य प्रमाणसिद्धयविनाभाविनः सकलतत्त्वोपप्लवविरुद्ध[3]स्याभिधानमवगन्तव्यम् ।

[परस्परविरोधदोषस्य स्पष्टीकरणं]

वैनयिकानां तु सर्वमवगतमिच्छतां परस्परविरुद्धाभिधानं विरुद्धसंवेदनं प्रसिद्धमेव, [4]सुगतमतोपगमे [2]कपिलादिमतस्य विरोधात् । ततः सिद्धो हेतुः परस्परविरोधत इति

और भाट्ट को भी तर्क प्रमाण मानना ही पड़ेगा अर्थात् चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है, बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते है। सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इस प्रकार तीन प्रमाण मानते है। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान ये चार प्रमाण मानते है। इन्ही चार प्रमाणो में अर्थापत्ति मिलाकर प्रभाकर पाच प्रमाण मानता है एव मीमासक और जैमिनोय इन्ही पाच प्रमाणों मे एक अभाव प्रमाण मिलाकर छह प्रमाण मानते है।

तथा एक भी प्रमाण को न स्वीकार करते हुए तत्त्वोपप्लववादी अनेक प्रमाणवादी हो जाते है "न एकः अनेकः" से जहां एक नही वहा अनेक सिद्ध हो जाता है। उनकी तत्त्वोपप्लव–शून्यवाद की स्वीकृति प्रमाणसिद्धि से अविनाभावी है वह सपूर्णतत्त्वोपप्लव से विरुद्ध–तत्त्व के सद्भाव का ही कथन कर देती है ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् तत्त्वोपप्लवग्राही प्रमाण सत्यभूत सिद्ध हो जाता है एव तत्त्वोपप्लव रूप प्रमेय भी सत्य रूप सिद्ध हो जाता है। अतः सम्पूर्ण तत्त्व के अभाव का कथन ही विरुद्ध हो जाता है।

[परस्पर विरोध दोष का स्पष्टीकरण]

सभी को अवगत रूप–मान्य रूप स्वीकार करते हुये वैनयिको का परस्पर विरुद्ध कथन करने वाला विरुद्ध ज्ञान प्रसिद्ध ही है क्योकि सुगत मत की स्वीकृति में सांख्य के द्वारा स्वीकृत मत विरुद्ध हो जाता है।

इसलिये "परस्पर विरोधतः" यह हेतु सिद्ध ही है और यह सभी तीर्थंकृत् सप्रदायों में आप्त के

१ ऊहग्रहणे। २ प्रत्यक्षमनुमान च शाब्द चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिने.॥ जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः। साङ्ख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयो ॥ श्लोकानुक्तमपि प्रभाकरस्य पञ्च प्रमाणानीति ज्ञेयम्। ३ यतस्तत्त्वोपप्लवग्राहि प्रमाणं सत्यभूतमायात तत्त्वोपप्लवरूप प्रमेयश्च ततः सकलतत्त्वोपप्लवकथनस्य विरोधः। ४ कुत ?

(1) अनधिकरणात्। अत्रोपयोगिश्लोकद्वयमिद। प्रत्यक्ष चानुमानञ्च शाब्द चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः॥ १॥ जैमिने षट्प्रमाणानि चत्वारि न्यायवेदिनः। साख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः ॥ २॥ प्राभाकरस्य पचप्रमाणानीति श्लोकानुक्तमपि ज्ञातव्य। (2) कपिलादिगतोगमस्य इति पा.।

अभाव को सिद्ध कर देता है।

विशेषार्थ—ब्रह्माद्वैतवादी और चार्वाक ये दोनों परस्पर सर्वथा विपरीत बातों को लिये हुए हैं। ब्रह्माद्वैतवादी तो चेतन अचेतन सभी पदार्थों को ब्रह्म की ही पर्याय मानता है और चार्वाक सम्पूर्ण चेतन अचेतन पदार्थों को भूतचतुष्टय रूप जड़ के ही गुण धर्म मानता है। अद्वैतवादी कहता है कि पदार्थों में जन्म, मरण, उत्पाद, व्यय आदि जो भी परिणमन पाया जाता है वह सब अविद्या का विलास है। सभी पर्यायें अंत में ब्रह्म में ही विलीन हो जाती है किन्तु चार्वाक सर्वथा इससे विपरीत जीव के प्रति जन्म मरण के अस्तित्व को न मानकर जड से ही चेतन की उत्पत्ति मानता है और मरण के अनन्तर चैतन्य का सर्वथा अभाव मानकर भूतचतुष्टय में ही चैतन्य की परिसमाप्ति मान लेता है। ब्रह्माद्वैतवादी चेतन स्वरूप एक परमब्रह्म से ही चेतन की एवं विजातीय स्वरूप अचेतन की भी उत्पत्ति मान रहा है तथैव चार्वाक अचेतन रूप पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूतचतुष्टयों से अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति मान-कर पुनरपि इन्हीं भूतचतुष्टयों से चेतन स्वरूप विजातीय द्रव्य की उत्पत्ति मान रहा है।

इसी प्रकार से सांख्य और बौद्ध सिद्धांत भी सर्वथा परस्पर विरुद्ध है। सांख्य सभी चेतनअचेतन पदार्थों को सर्वथा कूटस्थ नित्य अपरिणामी मानता है, बौद्ध सभी चेतनअचेतन पदार्थों को प्रतिक्षणध्वंसी, सर्वथा क्षणिक मान लेता है, सांख्य पर्यायों को भी नित्य कह रहा है और बौद्ध द्रव्य को भी उत्पाद, व्यय रूप कह रहा है।

सांख्य सत्कार्यवादी है उसका कहना है कि कारण में कार्य सर्वथा विद्यमान है केवल तिरोभूत है, निमित्त कारणों से उस कार्य का प्रादुर्भाव हो जाता है। यथा—मिट्टी में घट विद्यमान है कुंभकार, दंड, चाक आदि कारणों से प्रकट हो जाता है न कि उत्पन्न, किन्तु बौद्ध सर्वथा इससे विपरीत असत्कार्यवादी है। वह कहता है कि कारण तो उसी क्षण जड़ मूल से विनष्ट हो जाता है पुनः कार्य उत्पन्न होता है। जैसे—मृत्पिंड का सर्वथा विनाश होकर ही घट का उत्पाद हुआ है, विनष्ट हुये कारण से कार्य को उत्पन्न हुआ मानने वाला यह बौद्ध तो अपनी बुद्धिमत्ता की ही डींग मार रहा है। सांख्य आविर्भाव और तिरोभाव मानकर के किसी भी वस्तु में उत्पाद-व्यय नहीं मानता है तो बौद्ध द्रव्य में भी स्थिर—ध्रौव्यावस्था को न मान कर के सर्वथा द्रव्य का प्रतिक्षण जड मूल से नाश मान रहा है और वासना—संस्कार से सभी वस्तुओं की व्यवस्था स्मृति आदि व्यवहार मानता है।

निरीश्वरवादी सांख्य प्रकृति रूप अचेतन के द्वारा ही सारे संसार का उत्पाद मानता है तो वैशेषिक एक सदाशिव स्वरूप महेश्वर के द्वारा इस सृष्टि का उत्पाद मानते हैं मतलब सांख्य ने जड़ को सृष्टि का कर्त्ता माना है तो वैशेषिक महेश्वर चेतन भगवान् को सृष्टि का कर्त्ता मान रहे है। इन सभी सिद्धांतों में परस्पर में विरोध वैसे ही पाया जाता है जैसे कि हिंदू-मुस्लिम में देखा जाता है। यदि हिंदू संप्रदाय वाले शिर पर शिखा रूप चोटी रखना धर्म कहते हैं तो मुसलमान चोटी कटाकर धर्म मानते हैं। हिंदू दिन में भोजन करना व्रत समझते है तो मुसलमान रात्रि में रोजा खोलते है। हिन्दू सूर्य को अर्घ चढ़ाते है तो मुसलमान चन्द्र को मानकर व्रत करते है, इत्यादि।

[1]तीर्थकृत्समयानां सर्वेषामाप्तत्वाऽभावं साधयति। [६]यदि पुनः संविदद्वैतादीनां[१] [३]स्वतः प्रमितिसिद्धेः [2]प्रमाणान्तरतः स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनाभावान्न परस्परविरुद्धाभिधानं स्वसंवेदनैकप्रमाणवादिनां, [४]नापीन्द्रियजप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनां, प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य प्रत्यक्षत एव सिद्धेः, अनुमानादिप्रामाण्याभावस्यापि तत एव प्रसिद्धेः प्रमाणान्तराप्रसङ्गात्, तथानेकप्रमाणवादिनामपि स्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमस्य स्वत एव सिद्धेः प्रमाणान्तरस्योहस्याप्रसङ्गान्न विरुद्धाभिधानं संभवतीति मतं [५]तदापि न तेषामाप्ततास्ति, **स्वप्रमाण्यावृत्ते[4]रन्यथा[६]नैकान्तिकत्वात्[5]।***

यहां पर कहने का मतलब यह है कि यदि वैनयिक सप्रदाय वाले सभी मतों को प्रमाण मानेंगे तो क्या होगा ? क्योकि सभी में परस्पर में विशेष रूप से विरोध दिख रहा है। इसलिये वैनयिक भी तीर्थ विनाश संप्रदाय वाले ही सिद्ध हो जाते है।

सवेदनाद्वैतवादी आदि चारों अद्वैतवादी कहते हैं कि सवेदनाद्वैत आदि का ज्ञान स्वतः सिद्ध है, प्रमाणातर से स्वपक्ष साधन, परपक्ष दूषण रूप वचनो का अभाव है इसलिये स्वसवेदन रूप एक प्रमाण मानने वालो का कथन परस्पर विरुद्ध नही है। इद्रिय से उत्पन्न होने वाला ही एक प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा मानने वालो का भी कथन परस्पर विरुद्ध नही है क्योंकि प्रत्यक्ष की प्रमाणता तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। अनुमानादि की प्रमाणता का अभाव भी प्रत्यक्ष से ही प्रसिद्ध है क्योकि प्रमाणातर का प्रसग नही है।

तथैव अनेक प्रमाणवादी लोगो की भी स्व स्व स्वीकृतप्रमाण की सख्या का नियम स्वतः ही सिद्ध है। ऊह नाम के भिन्न प्रमाण का प्रसग नही आता है अतः परस्पर विरुद्ध कथन सभव नही है ऐसा जिन लोगों का मत है उन लोगो में भी आप्तता नही है **क्योंकि उनके यहां स्वप्रमा की (अपने ज्ञान की) व्यावृत्ति हो जाती है। "अन्यथा अनैकांतिक दोष आ जावेगा***।

---

१ सवेदनाद्वैतादयो वदन्ति स्याद्वादिन प्रति।—हे स्याद्वादिन् यत्त्वयाऽस्माक परस्परविरुद्धाभिधान प्रतिपादित स्वस्वोपगतप्रमाणसख्यानियमविरोधश्च प्रतिपादितस्तद्द्वयमपि नास्त्यस्माक मिति। अस्योत्तरमाह स्याद्वादी 'तथापि तेषामाप्तता नास्ति, स्वप्रमाणफलज्ञानलक्षणाया. प्रमाया अभावात्' इति। २ चतुर्णामद्वैतवादिनाम्। ३ आत्मनः सवेदनात् स्वस्मात्प्रमितिः प्रमाणस्य साध्य फल सिद्ध्यतीत्यर्थं। ४ परस्परविरुद्धाभिधानमिति सम्बन्धो योजनीयः। ५ तथापीत्यर्थः। ६ अन्यथा प्रमाऽभावाभावे अनैकान्तिकत्वमायाति।

---

(1) वसः। (2) संविदद्वैतमेव साध्वर्थसंविद इहोपलंभनियमात्। चित्राभासापि एकैव बुद्धिः श्रेयसी तस्याः बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् सर्वे भावाः शब्दमया एव एतेषा तदाकारानुस्यूतत्वात् यथा घटसरावादयो मृद्विकारा मृदाकारानुस्यूता मृन्मयत्वेन प्रसिद्धास्तथा सर्वे भावा इत्यादेः प्रमाणातरतः। (3) प्रमितिः। (4) स्वेन स्वकीयरूपपरिच्छित्यभावात्। (5) अनकधर्मसहितत्वात्।

[अन्यसिद्धांतेषु स्वयं स्वस्यैव ज्ञानं न संभवति]

न हि संविदद्वैतेन्यत्र[1] वा स्वस्य स्वेनैव प्रमा संभवति, [2]निरंशत्वात्प्रमातृप्रमाणप्रमेयस्वभावव्यावृत्तौ प्रमाया [3]व्यावृत्तेस्तदव्यावृत्तौ प्रमात्रादिस्वभावाव्यावृत्तेरैकान्तिकत्वाभावात्[4] प्रमात्राद्यनेकस्वभावस्यैकसंवेदनस्यानेकान्तात्मनोनुमननात्[5], संवित् स्वयं स्वेन स्वं संवेदयत इति प्रतीतेः ।

[अन्य सिद्धांतों में स्वयं को स्वयं का ज्ञान संभव नहीं है]

विज्ञानाद्वैत में अथवा अन्य अद्वैतों में स्वयं का स्वयं के द्वारा ही ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि बौद्धों की अपेक्षा तो वह ज्ञान निरंश है--अनेक धर्मों से रहित है और दूसरी बात यह भी है कि प्रमाता–आत्मा प्रमाण और प्रमेय स्वभाव की व्यावृत्ति मानने पर तो प्रमा—ज्ञप्ति की भी व्यावृत्ति हो जाती है और उस प्रमा—ज्ञप्ति की व्यावृत्ति न मानने पर प्रमाता आदि स्वभाव की भी व्यावृत्ति नहीं होने से तो एकांत का अभाव हो जाता है एवं अनेकांत की ही सिद्धि हो जाती है क्योंकि प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति आदि अनेक स्वभाव रूप एक ज्ञान अनेकांतात्मक ही स्वीकार किया गया है । अतएव हम जैनों के यहां ज्ञान स्वयं स्वयं के द्वारा स्वयं का संवेदन करता है ऐसी प्रतीति हो रही है ।

भावार्थ प्रमाण शब्द व्याकरण के अनुसार जैन सिद्धांत में तीन तरह से सिद्ध होता है । जब कर्तृ-साधन में कर्त्ता—आत्मा प्रधान रहता है उस समय "यः प्रमिमिणोति स. प्रमाण" जो जानता है वह प्रमाण है । जब करणसाधन में आत्मा अप्रधान है तब "प्रमीयते अनेन इति प्रमाण" यहां पर आत्मा जिसके द्वारा जानता है वह प्रमाण है एवं भाव साधन में 'प्रमिति मात्र प्रमाण" के अनुसार जानना मात्र प्रमाण है । यहां पर चार बातें है प्रमाता आत्मा, प्रमाण ज्ञान, प्रमेय -ज्ञेयपदार्थ और प्रमा—जानना मात्र । जैनसिद्धांत में आत्मा को इन चारों रूप से सिद्ध किया है यथा आत्मा ही प्रमाता—जानने वाला है, आत्मा ही ज्ञान रूप है, आत्मा ही स्वयं ज्ञान के द्वारा जाना जाता है अतः प्रमेय—ज्ञेय रूप भी है तथैव आत्मा ही भाव साधन में प्रमा मात्र—जानना मात्र रूप से प्रमा रूप भी है । जो बौद्ध आदि लोग ज्ञान को एक निरंश मानते है उनके यहाँ स्वयं का ज्ञान भी सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि जब ज्ञप्ति स्वयं ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से रहित है तब स्वयं की आत्मा (ज्ञाता) का ज्ञान कैसे करावेगी एवं जब स्वयं को स्वयं का ज्ञान नहीं हो सकेगा तब वह व्यक्ति किसी का ज्ञान भी कैसे कर सकेगा ? ये सब दूषण ज्ञान को अंश रहित एक रूप मानने से ही आते है । हम जैनों के यहां तो एक ज्ञान को ही कर्त्ता की अपेक्षा ज्ञाता, करण की अपेक्षा से ज्ञानरूप माना है एवं उसी को ज्ञेय और ज्ञप्ति रूप से भी माना है । अतः कुछ भी बाधा नहीं आती है क्योंकि ज्ञान स्वयं ही स्वयं के द्वारा स्वयं का वेदन—अनुभव कर रहा है और ऐसा अनुभव से सिद्ध है ।

१ अद्वैतान्तरे । २ अनेकधर्मरहितत्वात् (बौद्धमतापेक्षया) । ३ तस्याः प्रमायाः भावे सति । ४ स्याद्वादसिद्धेरित्यर्थः । ५ कुतः ? यतः ।

[चार्वाकादिमते ज्ञान स्वसंविदितं नास्ति अत प्रमाणस्य व्यवस्था तेषा न घटते]

नापीन्द्रियजप्रत्यक्षे स्वप्रमा घटते, 'भूतवादिभिस्तस्यास्वसंविदितत्वोपगमात्[1]। इति सिद्धा [2]तत्र स्वप्रमाया व्यावृत्तिः। ततो न प्रत्यक्षत एव प्रमाणेतरसामान्यस्थित्यादिः। तदव्यावृत्तौ वा स्वार्थव्यवसायात्मकत्वसिद्धेः स्याद्वादाश्रयणादैकान्तिकत्वाभावादनैकान्तिकत्वम्[2]। [3]एतेनानेकप्रमाणवादिनामनेकस्मिन् प्रमाणे स्वप्रमाव्यावृत्तिर्व्याख्याता। तदव्यावृत्तौ वानैकान्तिकत्वप्रसक्तिः, [4]अनेकशक्त्यात्मकस्वार्थव्यवसायात्मकानेकप्रमाणसिद्धेः[5]। तत्त्वोपप्लववादिनां तु तत्त्वोपप्लवे स्वप्रमाया व्यावृत्तिः सिद्धैव। तदव्यावृत्तौ [3]तत्त्वोपप्लवैकान्तिकत्वाभावप्रसक्तिश्च[6]। ततो नैतेपामाप्तता। किञ्च[7] '**सर्वप्रमाणविनिवृत्तेरितरथा**[8]

[चार्वाक आदि के मत मे ज्ञान स्वसंविदित नही है अत उनके यहा प्रमाण की व्यवस्था नही बनती है]

इन्द्रियज प्रत्यक्ष में भी अपने को अपना ज्ञान नही हो सकता है, क्योंकि भूतचतुष्टयवादी चार्वाकों ने उस ज्ञान को अस्वसंविदित स्वीकार किया है। अतः उस प्रत्यक्ष प्रमाण में अपने ज्ञान की व्यावृत्ति (अभाव) सिद्ध ही है अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रमाण और अप्रमाण सामान्य की स्थिति आदि नही हो सकती है। अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण में ज्ञान की व्यावृत्ति न मानने पर तो ज्ञान स्वार्थ व्यवसायात्मक सिद्ध हो जाता है पुन. स्याद्वाद का आश्रय ले लेने से एकात का अभाव होकर अनेकात ही सिद्ध हो जाता है।

इसी कथन से अनेक प्रमाणवादियो के अनेक प्रमाणो मे अपने-अपने ज्ञान की व्यावृत्ति सिद्ध ही है ऐसा व्याख्यान किया गया है अथवा यदि ज्ञान की व्यावृत्ति न मानो तो अनेकांत का प्रसग आ ही जाता है क्योकि अनेक शक्त्यात्मक रूप मे स्वार्थव्यवसायात्मक स्वरूप अनेक प्रमाण सिद्ध है। अर्थात् ज्ञान को स्वार्थ निश्चायक माने बिना किसी के यहाँ ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध नही हो सकता है।

तत्त्वोपप्लववादी के यहा सपूर्ण तत्त्व का उपप्लव—नाश मान लेने पर तो अपने ज्ञान की व्यावृत्ति (अभाव) सिद्ध ही है। यदि अपने ज्ञान की व्यावृत्ति (अभाव) न मानो तो तत्त्वोपप्लवरूप एकांत का ही अभाव हो जायेगा। अर्थात् अपने ज्ञान का सद्भाव मानने पर पुन अपना ज्ञान ही तो प्रमाण प्रमेयरूप सिद्ध हो जाता है पुन· शून्यवाद कहा रहा ?

१ चार्वाकैः। २ प्रत्यक्षे। ३ बौद्धापेक्षया निरंशत्वात् प्रमाणादिव्यावृत्तौ प्रमाया व्यावृत्तेरित्याद्युक्तप्रकारेण। अन्येषामपेक्षया अस्वसविदिततत्त्वोपगमादित्याद्युक्तप्रकारेण च। ४ एताः शक्तयः कारणरूपाः। ५ एतत्कार्यरूपम्। ६ स्वप्रमायाः सद्भावे स्वप्रमाया एव प्रमाणप्रमेयरूपत्वात्। ७ पूर्वं तु परस्य प्रमाणमभ्युपगम्य दूषणमुक्तमिदानी तदपि निराकरोति। ८ सूत्रे परस्परविरोधत इत्येतदुपलक्षणम्। तेन सर्वप्रमाणविनिवृत्तेरित्यादेरपि ग्रहणम्। ९ कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्वेन।

(1) कुतो स्वसविदितत्व। भूतचतुष्टयोत्पन्नत्वात्। भूतचतुष्टयमस्वसविदितमचेतनत्वात् कारणगुणा हि कार्यगुणानारभते। (2) स्वार्थव्यवसायरूपसाधनत्व। (3) तत्त्वमुपप्लुतमेवेतिनियमाभावः।

संप्रतिपत्तेः ।* ये[१] तावदेकं नित्यं[२] प्रमाणं स्वभावभेदा[३]भावाद्वदन्ति तेषां सर्वप्रमाणविनिवृत्तिः [४]येप्यनेकमनित्यं प्रतिक्षण स्वभावभेदादाचक्षते [५]तेषामपि, प्रत्यक्षादिप्रमाणानां [1]नित्यै-कान्ता[६]च्चेत[७]रेणैव[८] प्रकारेण कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्वेन सप्रतिपत्तेः । ततो नैतेषां नित्यानित्यैकान्तप्रमाणवादिनां तीर्थकृत्समयानामाप्तता ।

[आवरणरहितज्ञानवत सर्वज्ञस्य वागादिव्यापारा असाधारणा सति न तु साधारणाः]

किञ्च [९]**वागक्षबुद्धीच्छापुरुषत्वादिकं**[१०] [११]**क्वचिदनाविलज्ञानं**[2] **निराकरोति न पुनस्तत्प्रतिषेधवादिषु**[१२] **तथेति** [१३]**परमगहनमेतत्** ।* तथाहि । [3]तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथैकान्तवा-

इसलिये इन सभी में आप्तता नही है **क्योंकि इन सभी के यहाँ सभी प्रमाणों की विनिवृत्ति (अभाव) हो जाती है पुनः अन्यथा—कथंचित् नित्यानित्यात्मक रूप से ही सिद्धि हो जावेगी ।***

जो नित्यैकातवादी साख्य और ब्रह्माद्वैतवादी कहते है कि वस्तु मे स्वभाव भेद का अभाव होने से एक नित्य ही प्रमाण है, उनके यहा भी सभी प्रमाणो का अभाव हो जाता है ।

और जो अनित्यवादी सौगत प्रतिक्षण स्वभाव के भेद से एक अनित्य प्रमाण को कहते है उनके यहा भी सभी प्रमाणो का अभाव हो जाता है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणो का ज्ञान नित्यैकात और अनित्यैकान्त से भिन्न ही कथंचित् प्रकार से कथंचित्-नित्यानित्यात्मक रूप से देखा जाता है। इसलिए इन नित्यानित्यैकात प्रमाणवादियो के तीर्थकृत्—तीर्थविनाश सप्रदायो मे आप्तता नही है ।

[आवरण रहित ज्ञान वाले सर्वज्ञ के वचन आदि व्यापार असाधारण है, साधारण नही है ।]

दूसरी बात यह है कि **वचन, इन्द्रिय, बुद्धि, इच्छा पुरुषत्वादि किन्हीं—सुगत, कपिलादि एकांत-वादियों में ही अनाविल—निरावरण ज्ञान का निराकरण करते है, किन्तु उनके प्रतिषेधवादियों—जैनो में उस प्रकार से निरावरण ज्ञान का निषेध नहीं है इस प्रकार से यह समझना बहुत ही गहन है ।***

तथाहि – "तीर्थच्छेदसप्रदाय वाले उस प्रकार से एकातवादी ही है वे निरावरणज्ञानधारी नही है क्योंकि वे एकातवादी अविशिष्ट वचन—सामान्य वचन इन्द्रियज्ञान, इच्छादिमान् है अथवा अविशिष्ट-सामान्य पुरुष आदि है जैसे रथ्या पुरुष" । इसलिए इन लोगो में आप्तता नही है ।

१ नित्यवादिनः साख्या. ब्रह्माद्वैतवादिनश्च । २ ब्रह्मादेरुपादानकारणस्य नित्यत्वे एकत्वे चोपादेयस्यापि नित्यत्वमेकत्व चेति भाव. । ३ युगपत्क्रमेण वा । ४ अनित्यवादिनः सौगताः । ५ सर्वप्रमाणविनिवृत्तिरिति सम्बन्ध. । ६ सकाशात् । ७ चकारेणानित्यैकान्तग्रहणम् । ८ कथञ्चित्प्रकारेण । ९ मीमांसकेनाभिधीयमानस्य न क्वचिदनाविलज्ञानमिति दूषणस्य परिहारद्वारेणैव परेषा सुगतादीनामाप्तता नास्ति पर त्वस्माक त्वस्तीति वक्तुकामा वागक्षेत्याद्याहुराचार्या । १० कर्तृपदम् । ११ सुगतकपिलादावेकान्तवादिषु । १२ जैनेषु । १३ दुरवबोधम् ।

(1) नित्यैकातादनित्यैकाताच्चैतरेणैव इति पा. । (2) निर्दुष्टज्ञान । (3) सुगतादयः ।

दिनो[1] नाऽनाविलज्ञाना[१] अविशिष्टवागक्षबुद्धीच्छादिमत्त्वादविशिष्टपुरुषत्वादेर्वा रथ्यापुरुषवत् । इति नैतेषामाप्तता । [२]तत्प्रतिषेधवादिनां पुनः स्याद्वादिनां नातः[2] कश्चिदविशिष्टवागादिमानविशिष्टपुरुषो वा[3], तस्य युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेनाभ्युपगतत्वात्[३], [४]करणक्रम[५]-व्यवधाना[4]द्यतिवर्तिबुद्धित्वात् [६]इच्छारहितत्वाद्वि[७]शुद्धपुरुषातिशयत्वादिति । [८]यथा वागादिकं निर्दोषज्ञाननिराकरणसमर्थं न तथा स्याद्वादन्यायवेदिभिरभिष्टूयमाने [5]भगवतीति परमगहनमेतत्, [९]अयुक्तिशास्त्रविदामगोचरत्वाद[१०]कलङ्कधिषणाधिगम्यत्वात्[6] । **इत्थं सिद्धं**

उन अविशिष्ट वचन आदि का प्रतिषेध करने वाले स्याद्वादियो में इस प्रकार से कोई सर्वज्ञ अविशिष्ट—सामान्य वचनादिमान् अथवा अविशिष्ट—सामान्य पुरुष नही है क्योंकि वे सर्वज्ञ युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन वाले है ऐसा स्वीकार किया गया है। वे इन्द्रियों के क्रम और व्यवधान से रहित ज्ञान वाले हैं, इच्छा से रहित है एवं विशुद्ध अतिशयशाली पुरुष है। जिस प्रकार से सुगतादिकों के वचन आदि निर्दोष ज्ञान के निराकरण में समर्थ है उस प्रकार के वचन आदि स्याद्वादन्यायवेदी हम जैनियो के द्वारा स्तुति किये जाने वाले भगवान् मे नही है यह परम गहन—दुष्कर ही है।

भावार्थ—मीमासक कहता है कि "कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ नही हो सकता है क्योंकि वह वक्ता है, इन्द्रियज्ञान से सहित है, इच्छावान् है, एव पुरुष है। जैसे कि हम लोग वक्ता है, इन्द्रियज्ञान सहित है, इच्छावान् है एव पुरुष है।

इस पर जैनाचार्यो का कहना है कि ये वक्तृत्व आदि जैसे हम और आप मे पाये जाते है वैसे ही साधारण रूप से हम जैनों के द्वारा मान्य सर्वज्ञ में नही पाये जाते है। हमारे सर्वज्ञ भगवान् के जो वचन आदि व्यापार है वे साधारण लोगो में असंभवी—विशेष रूप ही है। सर्वज्ञ भगवान् के वचन युक्ति और आगम से अविरोधी है, दिव्यध्वनि से उत्पन्न द्वादशांग वाणी रूप है। यद्यपि सर्वज्ञ भगवान् की भाषा अनक्षरी है फिर भी श्रोताओं के कान में प्रविष्ट होकर सातसौ अठारह भाषा रूप अथवा सख्यातो भाषा रूप परिणत हो जाती है। ज्ञानावरण का पूर्णतया नाश हुये बिना साधारण छद्मस्थ जीवो में ऐसे वचन असम्भव ही है।

सर्वज्ञ भगवान् का ज्ञान इद्रियों से उत्पन्न हुआ क्षयोपशम ज्ञान रूप नही है किंतु अतीन्द्रिय ज्ञान है। अतः इन्द्रियो की अपेक्षा न होने से वह केवलज्ञान क्रम की अपेक्षा नही रखता है युगपत् ही सारे

१ निरावरणज्ञानाः। २ अविशिष्टवागादिप्रतिषेधवादिनाम्। ३ अविशिष्टवाक्त्व निराकृतमनेन। ४ अक्षबुद्धिनिराकरणमनेन। ५ आदिना देशकालद्रव्यादिव्यवधानग्रहः। ६ इच्छावत्त्व निराकृतमनेन। ७ अविशिष्टपुरुषत्वमनेन निराकृतम्। ८ सुगतादिषु। ९ युक्तिर्न्यायः। शास्त्रमागम.। १० निष्कलङ्कबुद्धिः, पक्षेऽकलङ्कदेवानां बुद्धिः।

(1) नित्यादि। (2) नाप्तः इति पा.। (3) कुतः (4) व्यवधानातिवर्ति इति पा.। द्वद्वः। द्रव्यादिना। (5) वागादिक निर्दोषज्ञाननिराकरणसमर्थं। (6) तीर्थच्छेदसप्रदायानां सर्वेषामाप्तता नास्ति यतः।

सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वम् । [1]तेन कः परमात्मा चिदेव [2]लब्ध्युपयोगसंस्काराणा-मावरणनिबन्धनानामत्यये[3] भवभृतां[4] प्रभुः ।* सकलस्याद्वादन्यायविद्विषा[5]माप्तप्रतिक्षेपप्रकारेण[1] हि स्याद्वादिन एवाप्तस्याप्रतिक्षेपार्हत्वेन सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं सिद्धयति ।

[अर्हद् भगवानेव सर्वज्ञो न चान्य इति साधन]

तेनैवं[2] कारिकायास्तुरीयपादो व्याख्यायते । कः परमात्मा, पराऽऽत्यन्तिकी मा लक्ष्मी-

---

पदार्थों को एक साथ जान लेता है और तो क्या केवली भगवान् के ज्ञानावरण, दर्शनावरण दोनों ही कर्मों का विनाश हो जाने से ज्ञान और दर्शन भी एक साथ ही उत्पन्न हो जाते है। इसीलिये इस ज्ञान में किसी भी प्रकार अंतराल भी नहीं पड़ता है। सर्वज्ञ भगवान् के मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश हो जाने मे मोह की पर्याय स्वरूप इच्छा का भी अभाव हो गया है। अतएव वीतराग भगवान् की वाणी इच्छा रहित है यथा—

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् ।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शात् मुरजः किमपेक्षते ।।

इसी प्रकार से वे भगवान् हम और आप जैसे साधारण पुरुष भी नहीं हैं, परमौदारिक दिव्य शरीर के धारक महान् पुरुष है। अतएव हमारे सर्वज्ञ भगवान् में आप आवरण रहित—पूर्ण ज्ञान का निषेध नही कर सकते है। हा ! इतना जरूर है कि अन्य बुद्ध, कपिल, महेश्वर आदि में ये असाधारण वचन, इंद्रिय-जन्य ज्ञान (क्षयोपशम ज्ञान) से रहित क्षायिक ज्ञान, इच्छा का अभाव, असाधारण पुरुषत्व आदि बाते नहीं पाई जाती है अतः इनमें ही निरावरण ज्ञान का अभाव है ऐसा समझना चाहिये।

जो युक्ति—तर्क और शास्त्र के जानी नही हैं वे सर्वज्ञ उनके अगोचर हैं वे केवल अकलक—निर्दोष बुद्धि के ही गम्य हैं अथवा भट्टाकलंकदेव की बुद्धि के ही गम्य है। **इस प्रकार से सुनिश्चितासंभवद्-बाधक प्रमाणत्व हेतु सिद्ध हो गया।**

जिस कारण से सभी तीर्थच्छेद संप्रदायवादियो में आप्तता नहीं है उसी कारणसे "कः—परमात्मा चित्— चैतन्य पुरुष एव—ही आवरण निमित्तक लब्धि और उपयोग के संस्कारों के नाश हो जाने पर संसारी प्राणियों के गुरु हैं।*

संपूर्ण स्याद्वादन्याय के विद्वेषियों में आप्त का खडन कर देने से स्याद्वादियों के यहा आप्त का निराकरण करना शक्य नही है इस प्रकार से सुनिश्चितासभवद् बाधक प्रमाण सिद्ध हो जाता है।

[अर्हंत भगवान् ही सर्वज्ञ हैं अन्य कोई सर्वज्ञ नही हो सकता है।]

इस प्रकार से अब कारिका के चतुर्थ पाद का व्याख्यान करते है। "कः-परमात्मा, परा आत्यतिकी

---

१ येन कारणेन तीर्थच्छेदसम्प्रदायाना सर्वेषामाप्तता नास्ति तेन कारणेन । २ इन्द्रियानिन्द्रियान्यतमावरणक्षयोपशमो लब्धिः । अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः । तयोः सस्कारास्तेषाम् । ३ आवरण निबन्धनं येषां ते तेषाम् । ४ भवं यन्तीति क्विपि भवेतो भवभृतस्तेषा गुरुः प्रभुर्भवेद्गुरुरिति कारिकापदस्य व्युत्पादनम् । ५ सुगतादीनाम् ।

---

(1) आप्तत्वप्रति इति पा. । (2) कारणेन ।

र्यस्येति विग्रहात् । चिदेव[1] ज्ञ[2] एव[1] न पुनः कथञ्चिदप्यज्ञः, चिदिति शब्दस्य मुख्यवृत्त्या-श्रयणात् कथञ्चिदचित्यपि[3] चिच्छब्दस्य प्रवृत्तौ गौणत्वप्रसङ्गात्[2] ।

[सर्वज्ञः इन्द्रियज्ञानेन सर्वं जानात्यतीन्द्रियज्ञानेन वा ?]

ननु[4] च 'परमात्मा साक्षाद्वस्तु[3] जानन्निन्द्रियसंस्कारानुरोधत[4] एव जानीयान्नान्यथा [5]तद्वेदनस्य [5]प्रत्यक्षत्वविरोधात् । न चेन्द्रियसंस्काराः सकृत्सर्वार्थेषु ज्ञानमुपजनयितुमलं, सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयत्वात् "सम्बद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" इति वचनात् ।

मा—लक्ष्मीर्यस्येति" । कः अर्थात् परमात्मा, पर अर्थात् आत्यतिकी, मा—लक्ष्मी है जिनको, उन्हे परमात्मा कहते है ऐसा विग्रह होता है । "चेतयते इति चित्—चित् ही ज्ञ ही सर्वज्ञ है, किन्तु कथचित् भी अज्ञ सर्वज्ञ नही है । चित् यह शब्द मुख्य वृत्ति का आश्रय लेता है कथंचित् अचित्—अचेतन स्वरूप अर्हत, सिद्ध, साधु आदि के प्रतिबिबादि मे भी चित् शब्द की प्रवृत्ति होने पर गोण का प्रसग आ जाता है । अर्थात् अचेतन स्वरूप जो जिन प्रतिमा आदि है उन्हे गौण रूप से यहा भगवान् परमात्मा कहा गया है ।

भावार्थ—मीमासक का कहना है कि सब तीर्थ का विनाश करने वाले है, सभी के आगम और आम्नाय परस्पर मे विरोधी है अत. कोई भी सर्वज्ञ परमात्मा हो ही नही सकता है ।

इस पर जैनाचार्य कहते है कि ऐसी बात नही है । कारिका के चतुर्थ पाद "कश्चिदेव भवेद्गुरु." के अनुसार कोई न कोई चित् चैतन्य स्वरूप भगवान् परमात्मा है जो कि सभी ससारी प्राणियो के स्वामी हैं । 'चित्' शब्द से चैतन्य स्वरूप आत्मा एव अर्हत, सिद्ध, साधु आदिकों की प्रतिमाये भी ग्रहण की जाती है, किन्तु यहां कारिका के अर्थ मे मुख्य रूप मे जीवन्मुक्त अर्हत परमात्मा को ही मुख्यवृत्ति से लेने का उपदेश है और गौण रूप से अचित् स्वरूप से प्रतिमादिको को भी ले सकते है परन्तु यहा प्रधानता साक्षात् अर्हत भगवान् की है ऐसा समझना चाहिये ।

[सर्वज्ञ भगवान् इन्द्रियज्ञान से सभी पदार्थों को जानते है या अतीन्द्रिय ज्ञान से ?]

मीमांसक—परमात्मा साक्षात् सभी पदार्थो को जानते हुये इद्रिय सस्कार के अनुरोध-अनुग्रह से ही जानते है अन्यथा नही जानते है क्योंकि अन्यथाज्ञान-अतीन्द्रियज्ञान का होना ही प्रत्यक्ष से विरुद्ध है और इद्रिय संस्कार एक साथ सभी पदार्थों में ज्ञान को उत्पन्न करने मे समर्थ नही है क्योकि वे इद्रियां सबद्ध वर्तमान पदार्थ को ही विषय करती है 'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" ऐसा वचन है इसलिये ज्ञ—सर्वज्ञ ही नही है क्योकि भविष्यत् और अतीत से असबधित पदार्थ के ज्ञान का अभाव होने से अल्पज्ञ

१ चेतयते इति चित् । २ सर्वज्ञः । ३ प्रतिबिम्बादौ । ४ मीमांसकः । ५ अन्यथावेदनस्य ।

(1) अन्ययोगव्यवच्छेदार्थं । (2) प्रतिबिबादौ । (3) ता बहु । (4) अर्थग्रहणोन्मुखता । (5) प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्ष-मित्यभिधानात् ।

ततो न ज्ञ एव, भाव्यतीतासम्बद्धार्थज्ञानाभावादज्ञत्वस्यापि भावात्' इति न [1]मन्तव्यं, लब्ध्युपयोगसंस्काराणामत्यये इति वचनात् । लब्ध्युपयोगौ [1]हीन्द्रियं, "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" इति वचनात्[2] । [3]तयोः संस्काराः [4]स्वार्थधारणाः । तेषामत्यये सति ज्ञ एव स्यात् ।

[सर्वज्ञस्य भावेन्द्रियवत् द्रव्येन्द्रियाणां विनाशो कथं न भवति ?]

'कुतः पुनर्भावेन्द्रियसंस्काराणामत्यये सति ज्ञ एव स्यान्न तु [2]द्रव्येन्द्रियाणामत्यये, अतीन्द्रियप्रत्यक्षतोऽशेषार्थसाक्षात्कारित्वोपगमात्' इत्यपि न शङ्कनीयं '[5]भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वात् । कात्स्न्यंतो ज्ञानावरणक्षये हि[6] भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक् सिद्धः । [7]न च सकलावरणक्षये भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनानां सम्भवः—[8]कारणाभावे [9]कार्यानु-

ही सिद्ध होते है ।

जैन—ऐसा नही मानना चाहिये क्योंकि "लब्धि और उपयोग के सस्कारों का नाश हो जाने पर" ऐसा हमने वचन दिया है । एवं लब्धि और उपयोग को इद्रिय कहते है "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" ऐसा सूत्र है । उन दोनों का सस्कार स्वार्थ धारणा रूप है । अर्थात् लब्धि और उपयोग का प्रकर्ष सस्कार अपने ग्राह्य-ग्रहण करने योग्य का ग्राहक परिमित रूप ही होता है । उन लब्धि और उपयोग के सस्कार–क्षयोपशम ज्ञान का नाश हो जाने पर सर्वज्ञ होता है ।

[सर्वज्ञ भगवान् के भावेन्द्रियो के समान द्रव्येन्द्रियों का विनाश क्यों नही हो जाता है ?]

शंका—भावेन्द्रिय सस्कार के नाश होने पर ही सर्वज्ञ होना है किन्तु द्रव्येन्द्रियो के नाश से नही—यह बात कैसे सिद्ध होगी ? क्योंकि आपने तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष मे अशेष पदार्थ का साक्षात्कार होना स्वीकार किया है।

समाधान—ऐसी शंका भी नही करना चाहिये क्योंकि भावेन्द्रिया तो आवरण के निमित्त से होती है किन्तु द्रव्येन्द्रिया आवरण निमित्तक नही है क्योंकि वे अगोपाग नाम कर्म के निमित्त से होती है। अतः सपूर्णतया ज्ञानावरण का क्षय हो जाने पर ही भगवान् अतीद्रियप्रत्यक्षज्ञानी सिद्ध है। अर्थात् सर्वज्ञ में अष्ट कर्म का नाश कारण नही है ज्ञानावरण, दर्शनावरण का अभाव ही कारण है । इसलिये सपूर्ण आवरण का नाश हो जाने पर आवरण निमित्तक भावेन्द्रिया सभव नही हैं क्योंकि कारण के अभाव में कार्य

१ स्याद्वाद्याह । २ तत्त्वार्थाधिगमवचनात् । ३ लब्ध्युपयोगयोः प्रकर्षा (सस्काराः) स्वग्राह्यार्थग्राहकाः परिमितरूपा भवन्ति । ४ धारणाज्ञानरूपा न तु स्वरूपार्थग्रहणोन्मुखता सस्कारे, उपयोगसस्कारयोरेकत्वप्रसङ्गात् । ५ न तु द्रव्येन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वं तेषामङ्गोपाङ्गनामकर्मनिबन्धनत्वात् । ६ एवार्थे । न तु तत्राष्टकर्मविनाशः कारणम् आवरणापायस्यैव कारणत्वोपगमात् । ७ ज्ञानावरणक्षये भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाग्भवत्येतावता भावेन्द्रियाणामभावादेवेति कथमित्याशङ्कायामाह । ८ कारणानामावरणाभावरूपाणाम् । ९ कार्यस्य=भावेन्द्रियरूपस्य ।

(1) ज्ञानावरणक्षये भगवानतीद्रियप्रत्यक्षभाग्भवेत् एतावता भावेद्रियाणामभावः कथमित्याशकायामाह । (2) द्रव्येद्रियाणामप्यपायः कुतो न शक्यते स्याद्वादिभिः सर्वज्ञस्यातीद्रियप्रत्यक्षतोपगमादिति पराशका ।

पपत्तेः । [1]ननु चावरणक्षयोपशमनिबन्धनत्वाद्भावेन्द्रियाणां कथमावरणनिबन्धनत्वमिति

हो नहीं सकता है ।

भावार्थ—इन्द्रियों के २ भेद है—द्रव्येंद्रिय और भावेन्द्रिय । तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में "निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्" और "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" के अनुसार दोनों ही इन्द्रियों का लक्षण किया गया है । निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते है । निर्वृत्ति—नाम कर्म के उदय से होने वाली रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं । निर्वृत्ति के २ भेद है—आभ्यतरनिर्वृत्ति और बाह्यनिर्वृत्ति । आत्मा के प्रदेशों का इद्रियाकार होना आभ्यतर निर्वृत्ति कहलाती है । पुद्गल के परमाणुओं का इद्रियाकार होना बाह्य निर्वृत्ति कहलाती है । उपकरण—निर्वृति के सहायक-उपकारक को उपकरण कहते हैं । उपकरण के दो भेद है आभ्यतर और बाह्य । जैसे—नेत्रों मे जो काला और सफेद मडल है वह आभ्यतर उपकरण है और पलकें तथा रोम वगैरह बाह्य उपकरण है । इसी प्रकार से शेष इद्रियो में भी जानना चाहिये । लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते है । लब्धि—ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते है । उपयोग—लब्धि के निमित्त से आत्मा का जो परिणमन होता है उसे उपयोग कहते है । अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो जानने की शक्ति प्रकट होती है वह तो लब्धि है और उसके होने पर आत्मा का ज्ञेयपदार्थ की ओर अभिमुख होना उपयोग कहलाता है । लब्धि और उपयोग के मिलने से ही पदार्थ का ज्ञान होता है ।

इसलिये इन द्रव्येन्द्रियों की रचना नाम कर्म के भेद में अंगोपाग नामक नाम कर्म के उदय से होती है और मतिज्ञानावरण कर्म के स्पर्शनेद्रियावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशम विशेष से भावेन्द्रिया होती है । केवली भगवान् के ज्ञानावरण कर्म का पूर्णतया नाश हो जाने से भावेन्द्रियां और भावमन नही पाये जाते हैं किंतु परमौदारिक दिव्य शरीर का अस्तित्व आयु नाम कर्म आदि अघातिया कर्म के शेष रहने तक चौदहवे गुणस्थान के अत तक पाया जाता है अत. अर्हंत के द्रव्येंद्रियां मौजूद है । सिद्धों में शरीर और अगोपाग आदि नाम कर्म के अभाव से यद्यपि शरीर नही है फिर भी अतिम शरीर से किंचित् न्यून सिद्धों के आत्म प्रदेशों का आकार—पुरुषाकार तो रहता ही है अतः वहा पर भी द्रव्येन्द्रियों का आकार विद्यमान है ।

शंका—भावेन्द्रिया तो आवरण के क्षयोपशम के निमित्त से होती है पुनः उन्हे आवरण निमित्तक ही कैसे कह दिया ?

जैन—यदि ऐसा कहो तो देशघाति ज्ञानावरण कर्म के स्पर्धकों का उदय होने पर एवं सर्वघाति ज्ञानावरण के स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने पर तथा उन्ही सर्वघाति स्पर्धको का सदवस्था रूप उपशम होने से वे भावेन्द्रियां होती हैं अतः उनके आवरण निमित्तकत्त्व सिद्ध ही है इसलिये यहां ऐसा प्रश्न करना ठीक नही है । अर्थात् ज्ञानावरण के स्पर्धकों में कुछ का उदय, कुछ का उदयाभावी क्षय और कुछ का

१ आह कश्चित्स्वमतवर्ती ।

चेद् [1]देशघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकोदये[2] सति [3]सर्वघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकाना[4]मुदयाभावे[5] [6]सदवस्थायां च तेषां भावादावरणनिबन्धनत्वसिद्धेरचोद्यमेतत् ।

[अर्हंद् भगवान् सर्वससारिजीवाना प्रभुरतोऽस्मादृशो नास्तीति प्रतिपादनं]

[7]न कश्चिद्भवभृदतीन्द्रियप्रत्यक्षभागुपलब्धो यतो भगवांस्तथा संभाव्यते इत्यपि न शङ्का श्रेयसी, तस्य भवभृतां प्रभुत्वात् । न हि (1)भवभृत्साम्ये दृष्टो धर्मः (2)सकलभवभृत्प्रभौ सम्भावयितुं शक्यः, [8]तस्य संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतत्वात्(3) ।

[मीमासको ब्रूते-प्रत्यक्षादि प्रमाणैः सर्वज्ञो न सिद्धयत्यतो नास्त्येव ।]

[9]ननु च सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्तथाविधो भवभृतां प्रभुः साध्यते । [10]तच्चा-

सत्ता की अवस्था में उपशम होने से भावेंद्रिया होती है अतः इन्हें आवरण के निमित्त से होने वाली कहने से कोई बाधा नही है ।

[आपके सर्वज्ञ मे अतीन्द्रिय ज्ञान कैसे है एव सभी ससारी जीवो के वे प्रभु कैसे हैं ?]

मीमांसक—कोई ससारी प्राणी अतीन्द्रियज्ञान वाला उपलब्ध नहीं है अर्थात् देखा नही जाता है कि जिसमे आपके भगवान् अतींद्रिय ज्ञानी हो सके अर्थात् नहीं हो सकते है ।

जैन—यह शका भी श्रेयस्कर नही है क्योंकि वे भगवान् तो संसारी जीवों के प्रभु-स्वामी है । ससारी जीव के सदृश मे देखा गया धर्म सकल ससारी जीवो के स्वामी में सभावित करना—घटित करना शक्य नही है क्योंकि सकल ससारी जीवो के स्वामी ससारी जीवो के स्वभाव का उलंघन कर चुके है ।

[मीमांसक कहता है कि प्रत्यक्षादि पाच प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नही होता है अतः सर्वज्ञ नही है]

मीमांसक—सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण से उस प्रकार से अर्हंत भगवान् को आप संसारी जीवों के स्वामी सिद्ध करते हो किन्तु आपका हेतु असिद्ध है क्योंकि उसको बाधित करने वाला "सुनिश्चिता-

१ णाणावरणचउक्क तिदसण सम्मग च सजलण । णवणोकसायविग्घ छब्बीसा देसघादीओ ॥ [ज्ञानावरणचतुष्कं त्रिदर्शन सम्यक्त्व चतु सज्वलनम् । नवनोकषाया. विघ्न षड्विंशतिर्देशघातीमाः] । देश [आत्मगुणस्यैकदेश] घ्नन्तीति देशघातिन इति व्युत्पत्ति । देशघातिनश्च ते ज्ञानावरणाश्च ते स्पर्द्धकाश्चेति देशघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकास्तेषामुदये । २ वर्ग. शक्तिसमूहोणोरणूना (शक्ति समूह) वर्गणोदिता । वर्गणानां समूहस्तु स्पर्द्धक. स्पर्द्धकापहैः ॥ इत्युक्तलक्षणो बहूना कर्मत्वमापन्नाना पौद्गलिकवर्गणाना समूहः स्पर्द्धको ज्ञेय । ३ सर्वमात्मगुणं घ्नन्तीति सर्वघातिनः । केवलणाणावरण केवलदस कसायवारसय । मिच्छ च सव्वघादी सम्मामिच्छ अवधेहिं(अबघह्मि) ॥ [केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरण कषायद्वादशकम् [अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानाना प्रत्येकं चतुष्कमिति द्वादश] । मिथ्यात्व च सर्वघातिनः सम्यग्मिथ्यात्वमबन्धैः (जिनै)] । इत्युक्तलक्षण सर्वघाती, आत्मगुणाना सामस्त्येन घातनात् । ४ वर्त्तमानकाले उदययोग्यानामित्यर्थ । ५ उदयाभावरूपे क्षये फलमदत्त्वैव तेषा निर्जरणे इत्यर्थः । ६ सर्वघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकानामेवोदेष्यमाणाना सदवस्थायाम् । आत्मनि कर्मत्वरूपेण सम्बन्धे विद्यमाने सतीत्यर्थः । ७ मीमासकशङ्का । ८ सकलभवभृत्प्रभोः । ९ पुनश्च मीमांसक. । १० हेतु. ।

(1) भवभृत्सामान्ये इति पा. । (2) ता बहु । (3) अतिक्रान्तत्वात् ।

सिद्ध', सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वस्य तद्बाधकस्य सद्भावात् । न हि [१]तत्साधकं प्रत्यक्षम्[1] । नाप्यनुमानं, तदेकदेशस्य लिङ्गस्यादर्शनात्[2] । तदुक्तं—

सर्वज्ञो दृश्यते [२]तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । दृष्टो न चैकदेशोस्ति लिंगं वा [3]योनुमापयेत् ।

इति । आगमोपि न तावन्नित्यः सर्वज्ञस्य प्रतिपादकोस्ति, तस्य [३]कार्ये एवार्थे प्रामाण्यात् स्वरूपेपि[4] प्रामाण्येतिप्रसङ्गात्[४] । स[५] सर्ववित् लोकविदित्यादेर्हिरण्यगर्भः सर्वज्ञ इत्यादेश्चागमस्य नित्यस्य [६]कर्मार्थवादप्रधानत्वात् । [७]तात्पर्यासंभवा[5]दन्यार्थ[८]प्रधानैर्वचनैरन्यस्य सर्वज्ञस्य विधाना-

सभवद्साधक प्रमाणत्व मौजूद है। अर्थात् सुनिश्चित रूप से असभव है सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला साधक प्रमाण जिसमे उसे "सुनिश्चितासभवत्साधक प्रमाण" कहते है मतलब सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला कोई भी साधक प्रमाण सभव नही है अतएव सर्वज्ञ नही है। तथाहि-सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नहीं एव अनुमान भी नहीं है क्योकि उसका एक देश रूप हेतु दिखता नही है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—"हम लोगो के द्वारा इस समय सर्वज्ञ देखा नही जाता है और उस सर्वज्ञ को एकदेश भी देखा नहीं जाता है कि जिसको हेतु बनाकर उस सर्वज्ञ का अनुमान कर लेवे।" नित्य आगम भी उस सर्वज्ञ का प्रदिपादक नही है वह तो कार्य (यज्ञादि) अर्थ में ही प्रमाण है उसकी स्वरूप मे भी प्रमाणता मानने पर तो अति प्रसग आ जाता है। अर्थात् अलाबू डूब रहे है, पत्थर तैर रहे है इन वाक्यो मे भी प्रमाणता आ जावेगी और वेद में "आप. पवित्र" इत्यादि स्वरूप का निरूपण करने वाले वाक्य है वे सभी प्रमाण हो जावेगे।

जो याग को करता है वह सर्ववित् है, वह लोकवित् है इत्यादि, हिरण्य गर्भ सर्वज्ञ इत्यादि रूप से जो नित्य आगम है वह कर्मार्थवाद में—क्रियाकाड में प्रधान है। उसमे सर्वज्ञ रूप अर्थ मे तात्पर्य—अर्थ निकालना असभव है, अन्यार्थ प्रधान वचनो मे स्तुति अर्थ को कहने वाले वचनो से अन्य कोई सर्वज्ञ का विधान करना असभव ही है। पूर्व में किसी प्रमाण से अप्रसिद्ध स्वरूप सर्वज्ञ का उन आगम के वाक्यो मे अनुवाद—कथन नही किया जा सकता है एव अनादि आगम आदिमान् सर्वज्ञ का प्रतिपादन कर सके यह बात विरुद्ध ही है। तथा अनित्य—बनाया हुआ आगम भी सर्वज्ञ का प्रतिपादन नहीं कर सकता है क्योकि उस सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत ही आगम उस सर्वज्ञ का प्रकाशक होवे यह कथन युक्त नही है अन्यथा परस्पराश्रय दोष आ जाता है। एव नरांतर—भिन्न साधारण मनुष्य का प्रणीत आगम प्रमाणभूत सिद्ध नही

१ सर्वज्ञसाधकम् । २ लिङ्ग भूत्वा य एकदेश सर्वज्ञमनुमापयेदित्यर्थ । ३ योगे । ४ अलाबूनि निमज्जन्ति ग्रावाण. प्लवन्त इत्यत्रापि वेदे स्वरूपनिरूपकस्य आप पवित्रमित्यादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात् । ५ यो याग करोति । ६ कर्मार्थवाद. = यागप्रशसावाद. तत्स्तुतिकथन वा । ७ सर्वज्ञरूपेर्थे । ८ स्तुत्यर्थकथनपरै ।

(1) प्रत्यक्ष सभवति इति पा । सबद्धवर्तमानग्राहित्वात् । (2) गृहीतसबद्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानमिति वचनादेकदेशदर्शने सत्यैवानुमानोदयात् । मीमासकानुमानलक्षणमिदं । (3) सर्वज्ञं । (4) वेदेऽपि सर्वज्ञप्रतिपादक वाक्यमस्तीति शंकामनूद्यनिराकरोति । (5) च ।

संभवात् । पूर्व[१] [२]कुतश्चिदप्रसिद्धस्य तैरनुवादायोगात् । अनादेरागमस्यादिमत्सर्वज्ञप्रतिपादनविरोधाच्च[३] । नाप्यनित्यस्तत्प्रणीत एवागमस्तस्य प्रकाशको युक्तः, परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । नरान्तरप्रणीतस्तु न प्रमाणभूतः सिद्धो यतः सर्वज्ञप्रतिपत्तिः स्यात् । असर्वज्ञप्रणीताच्च वचनान्मूल[४]वर्जितात् सर्वज्ञप्रतिपत्तौ स्ववचनात्किन्न तत्प्रतिपत्तिरविशेषात् । तदुक्तं--

न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः (1)सर्वज्ञबोधनः । न च (2)मन्त्रार्थवादानां[५] तात्पर्यमवकल्प्यते ॥१॥

[६]न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते । न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैर[७]बोधितः ॥२॥

अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् । कृत्रिमेण त्वसत्येन[८] स कथं प्रतिपाद्यते ॥३॥

अथ [९]तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः(3) प्रतीयते । प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ॥४॥

[१०]सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन[११] तदस्तिता । कथं तदुभय सिद्ध्येत् [१२]सिद्धमूलान्तरादृते ॥५॥

है कि जिससे सर्वज्ञ का ज्ञान हो सके । मूल से रहित—प्रमाणता से रहित असर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत आगम से सर्वज्ञ का ज्ञान मानने पर तो अपने वचनों से ही उस सर्वज्ञ का ज्ञान क्यों न मान लीजिये क्योंकि दोनों ही मान्यताओं में कोई अंतर नहीं है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—कोई नित्य आगम सर्वज्ञ का ज्ञान कराने वाला नहीं है और मंत्रार्थवाद-स्तुतिकथनादि-वाद, तात्पर्य—वास्तविक भी नहीं माना जा सकता है ॥ १ ॥

अन्यार्थ प्रधान वचनों से– स्तुति आदि परक अथवा क्रियाकांड प्रधान वचनों से सर्वज्ञ का अस्तित्व नहीं कहा जा सकता है एवं पूर्व में अन्य प्रमाणों से नहीं जाने गये सर्वज्ञ का अनुवाद-कथन करना भी शक्य नहीं है ॥ २ ॥

अनादि आगम भी आदिमान् सर्वज्ञ को नहीं कह सकता है एवं आदिमान्-कृत्रिम आगम असत्य है अत. उस असत्य से सर्वज्ञ कैसे कहा जावेगा ? ॥ ३ ॥

यदि आप कहें कि सर्वज्ञ के वचनों से ही अल्पज्ञजन सर्वज्ञ को जान लेते हैं तो यह कथन भी कैसे बनेगा क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है ॥ ४ ॥

सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया होने से वचन (आगम) सत्य सिद्ध होगा और उस आगम से उस सर्वज्ञ

---

१ आगमेन सर्वज्ञ स्यानुवादो भवतीत्युक्ते आह । २ प्रमाणात् । ३ आदिमत्सर्वज्ञं प्रतिपादयति यदा तदा सर्वज्ञोऽभूद्भविष्यति भवतीति त्रिरूपेणापि प्रतिपादने विरोधः । ४ मूलं प्रामाण्यम् । ५ स्तुत्यादि (चोदनादि)वादाना सत्यत्व नावगम्यते । विशेषेण स्पष्टीकरणं त्वस्य भावनाविवेकनाम्नि ग्रन्थे कृतम् । ६ न वाक्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तीति वा पाठः । ७ प्रमाणैं । ८ कृत्रिमत्वादेवासत्यत्वम् । ९ सर्वज्ञवचनेन । १० अन्योन्याश्रय भावयति । ११ वाक्येन । १२ सिद्ध च तन्मूलान्तरं (प्रमाणान्तर) च तत्तस्मात् ।

---

(1) सर्वज्ञबोधकः इति पा. । (2) अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इति मंत्रवाक्यं । स सर्ववित् स लोकविदिति अर्थवादः । (3) सर्वज्ञोऽन्यैः इति पा. । जैनैः ।

असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् । सर्वज्ञमवगच्छन्त[1] स्ववाक्यात्किं न जानते ॥६॥"

इति। नोपमानमपि सर्वज्ञस्य साधकं, [१]तत्सदृशस्य जगति कस्यचिदप्यभावात् । तथोक्तं,—

सर्वज्ञ सदृशं कञ्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति । उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो[2] वयम्" ॥

इति । नार्थापत्तिरपि सर्वज्ञस्य साधिका, [२]तदुत्थापकस्यार्थस्यान्यथानुपपद्यमानस्याभावात् । धर्माद्युपदेशस्य [३]बहुजनपरिगृहीतस्यान्यथाभावात्[3] । तथा चोक्तम्—

"उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः । [४]अन्यथाप्युपपद्येत[५] सर्वज्ञो यदि नाभवत् ॥१॥
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां [4]वेदादसम्भवः । उपदेशः [5]कृतोतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥२॥

का अस्तित्त्व सिद्ध होगा पुनः प्रसिद्ध मूलातर के बिना–प्रमाणता के बिना वे उभय भी कैसे सिद्ध हो सकेंगे ? ॥ ५ ॥

एव प्रमाण वर्जित–असर्वज्ञ प्रणीत आगम से सर्वज्ञ को स्वीकार करते हुये आपको अपने वाक्यों से ही सर्वज्ञ की सिद्धि क्यों नहीं हो जाती है ॥ ६ ॥

तथा उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञ की सिद्धि करने वाला नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ के सदृश कोई भी जगत में नहीं है जिसकी उपमा सर्वज्ञ को दे सके । कहा भी है कि—

श्लोकार्थ—यदि सर्वज्ञ के सदृश किसी को इस समय हम देखें तब तो उपमान प्रमाण के द्वारा हम उसको जान सकें ।

अर्थापत्ति भी सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाली नहीं है क्योंकि उस अर्थापत्ति को उत्पन्न करने वाले पदार्थ में अन्यथानुपपद्यमान का अभाव है। बहुजनपरिगृहीत धर्मादि का उपदेश अन्यथा भी हो सकता है अर्थात् सर्वज्ञ के अभाव में भी धर्म अधर्म आदि का उपदेश सभव है क्योंकि वह बहुत जनों के द्वारा परिगृहीत है इसलिये धर्मादि का उपदेश सर्वज्ञ के साथ अविनाभाव रूप नहीं है कि जिससे वह सर्वज्ञ को सिद्ध कर सके ? कहा भी है—

श्लोकार्थ—बुद्ध, कपिल आदि का उपदेश धर्म-अधर्म आदि को विषय करने वाला है क्योंकि यदि सर्वज्ञ न होवे तो अन्यथा-सर्वज्ञ के अभाव में भी वह हो सकता है ॥ १ ॥

बुद्धादि वेद के जानने वाले नहीं है अतः उनका उपदेश वेद से असभव है फिर भी उन लोगों ने जो उपदेश दिया है वह केवल व्यामोह से ही किया है ॥ २ ॥

---

१ सर्वज्ञसदृशस्य । २ अर्थापत्त्युत्थापकस्य । ३ सर्वज्ञाभावेपि धर्माद्युपदेश सभवति बहुजनपरिगृहीतत्वात् । ततो धर्माद्युपदेशो नान्यथानुपपद्यमानो यत सर्वज्ञं साधयेत् । ४ सर्वज्ञाभावे । ५ अन्यथा नोपपद्येत इति पाठान्तरम् । यद्येव पाठस्तदा काकुरूपेण ध्येय. ।

---

(1) अवगच्छतीति पा. । (2) सादृश्यात् । (3) अन्यथापि भावात् इति पा. । (4) वस । (5) वेदादसभवो यत. ।

ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम्[१]। [२]त्रयीविदाश्रित[३]ग्रन्थास्ते वेदप्रभवोत्तमः[1] ॥३॥

इति । न[2] च प्रमाणान्तर [४]सदुपलम्भकं सर्वज्ञस्य साधकमस्ति ।

[अत्र भरतक्षेत्रे, दुःषमकाले सर्वज्ञो नास्तीति; मा भूत् किंतु अन्यत्र विदेहादिदेशे चतुर्थकाले वा सर्वज्ञः सिद्ध्यति न वेति विचारः क्रियते]

मा भूदत्रत्येदानीन्तनानामस्मदादिजनानां सर्वज्ञस्य साधकं प्रत्यक्षाद्यन्यतमं देशान्तर-कालान्तरवर्त्तिना केषाञ्चिद्भविष्यतीति चायुक्तं ।

"[५]यज्जातीयैः[3] प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् । दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत्"

इति वचनात् । तथा हि । विवादाध्यासिते देशे काले च प्रत्यक्षादिप्रमाणमत्रत्येदा-

---

त्रयीविदो में प्रधानता से जो मन्वादि ऋषि सिद्ध है उन त्रयीविदों के द्वारा किये गये ग्रंथ उनके आश्रित है वे वेद से उत्पन्न हुये है । अर्थात् ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ये तीन वेद हैं इन तीनों वेदों के आश्रित जो कथन है वह त्रयीविदाश्रित है अतः मन्वादि रचित ग्रन्थ त्रयीविदाश्रित कहलाते हैं ॥ ३ ॥

इसलिये और कोई भी सदुपलभक-सत्ता को ग्रहण करने वाला प्रमाण नही है जो कि सर्वज्ञ के सद्भाव को ग्रहण कर सके ।

[इस भरतक्षेत्र मे और इस पचम काल मे सर्वज्ञ नहीं है तो न सही किन्तु विदेहादिक्षेत्र में और चतुर्थ आदि काल मे सर्वज्ञ सिद्ध है या नही ? इस पर विचार किया है ।]

यदि आप कहे कि यहा पर इस समय जन्म लेने वाले हम लोगों के पास सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षादि में से कोई भी एक प्रमाण भले ही न हो किन्तु देशातर-कालातरवर्ती किसी न किसी मनुष्य को सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षादि मे से कोई न कोई प्रमाण होगा ही । अर्थात् देशातर-विदेह क्षेत्र आदि देश एव कालातर-चतुर्थ काल आदि काल में प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा किसी न किसी पुरुष को सर्वज्ञ का ज्ञान होता ही होगा । आप जैनादि का यह कथन भी अयुक्त है ।

श्लोकार्थ—"जिस जातीय—दूरादि नियत अर्थ को विषय करने वाले प्रमाणों से जिस जातीय पदार्थो को इस समय लोक—सभी जन देखते है । उस प्रकार का प्रत्यक्षादि ज्ञान ही देशातर और कालांतर में भी होगा ॥" ऐसा वचन देखा जाता है । तथाहि "विवादाध्यासित देश—विदेहादि और काल—

---

१ मध्ये । २ "स्त्रियामृक् सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी" इत्यमर । ३ त्रयीविद्भिराश्रिता (व्याख्याता.) स्मृतिरूपा ग्रन्था येस्मृतिग्रन्थास्ते त्रयीविदाश्रितग्रन्था. । त्रयीवित्प्रधानमन्वादिकृता स्मृतिसाधारणास्त्रयीविद आश्रयन्तीति भावः । ४ सत्त्व सर्वज्ञास्तित्वम् । ५ दूरादिनियतार्थगोचरैः ।

---

(1) बसः । (2) किंच । (3) येषा देशातरादिस्थाना सजातीयैस्तत्सदृशैरित्यर्थः ।

नीन्तनप्रत्यक्षादिग्राह्यसजातीयार्थग्राहकं भवति तद्विजातीयसर्वज्ञाद्यर्थग्राहकं वा न भवति, प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वादत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् ।

[अत्र जैनमतमाश्रित्य कश्चित् शकते]

[1]ननु च यथाभूतमिन्द्रियादिजनितं प्रत्यक्षादि सर्वज्ञाद्यर्थासाधकं दृष्टं तथाभूतमेव देशान्तरे कालान्तरे च तादृशं साध्यतेऽन्यथाभूतं वा ? तथाभूतं चेत् सिद्धसाधनम् । अन्यथा[2]-भूतं चेदप्रयोजको हि हेतुः जगतो बुद्धिमत्कारणकत्वे(1) साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्ववत्(2) । इति चेत्तदसत्, तथाभूतस्यैव तथा साधनात् सिद्धसाधनस्याप्यभावात्(3), [4]अन्यादृशप्रत्यक्षाद्यभावात्(5) । तथा हि । [3]विवादापन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणमिन्द्रियादिसामग्रीविशेषानपेक्षं न भवति,

चतुर्थ कालादि (भिन्न देश, काल) में होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण भी इस समय में होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण करने योग्य सजातीय अर्थ को ग्रहण करने वाले के सदृश ही होते है अथवा उससे विजातीय सवज्ञादि अर्थ के ग्राहक नही होते है, क्योंकि वे प्रत्यक्षादि प्रमाण है यहाँ पर आजकल होने वाले हम और आप जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाणो के समान" । अर्थात् विवाद की कोटी मे आये हुए विदेहादि क्षेत्र एव चतुर्थ आदि काल में होने वाले जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण है वे वैसे ही है जैसे कि आजकल के हम लोगों के प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण है । अत. जैसे आजकल हम लोग प्रत्यक्षादि के द्वारा सर्वज्ञ को जान नहीं सकते है वैसे ही अन्यक्षेत्र और अन्यकाल में किसी भी प्रत्यक्षादि के द्वारा सर्वज्ञ का ज्ञान नही हो सकता है ।

[यहा जैनमत का आश्रय लेकर कोई शका करता है]

जिस प्रकार इन्द्रियादि से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण सर्वज्ञादि को साधक—सिद्ध करने वाले नही देखे जाते है । देशातर और कालातर मे तथाभूत—उसी प्रकार के प्रत्यक्षादि प्रमाण को आप सिद्ध करते है या अन्यथाभूत प्रमाण को ?

यदि तथाभूत कहो तो सिद्ध साधन दोष ही है अर्थात् हम जैन भी हम और आप जैसे के प्रत्यक्षादि ज्ञान से सर्वज्ञ का ग्रहण नही मानते है ।

यदि अन्यथाभूत—अतीद्रिय प्रत्यक्ष कहो तो आपका हेतु अप्रयोजक (अहेतु) है जैसे जगत को

१ सिद्धान्त (जैन) पक्षमादाय वादी शङ्कते । २ अतीन्द्रियजातं प्रत्यक्षम् । ३ तथाभूतस्यैव तथासाधनत्वं कुत इत्यारेकायामाह ।

(1) बुद्धिमत्कारणत्वे इति पा । (2) यथाहि बुद्धिमत्पूर्वं जगदेतत्प्रसाधयेत्तथा बुद्धिमतो हेतोरनेकत्वं प्रसाधयेत् शरीरित्वात् । (3) तथाभूतस्यैव तथा साधनत्वं कुत इत्यारेकायामाह । (4) अतींद्रिय । (5) प्रत्यक्षस्याप्यभावात् इति पा. ।

प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात् प्रसिद्धप्रत्यक्षादिप्रमाणवत्[1]। न [2]गृद्ध्रवराहपिपीलिकादिप्रत्यक्षेण सन्निहितदेशविशेषानपेक्षिणा [3]नक्तञ्चरप्रत्यक्षेण वालोकानपेक्षिणानेकान्तः, [4]कात्यायनाद्यनु-[5]मानातिशयेन जैमिन्याद्यागमाद्यतिशयेन[6] वा । तस्यापीन्द्रियादि[7]प्रणिधानसामग्रीविशेष-मन्तरेणासंभवात् [8]स्वार्थाति[1]लङ्घनाभावाद[2]तीन्द्रिया[9]ननुमेयाद्यर्थाविषयत्वाच्च ।

बुद्धिमत्कारणक सिद्ध करने में 'सन्निवेशविशिष्ट' हेतु अप्रयोजक है । अर्थात् प्रयोजनीभूत नहीं है ।

मीमांसक—आपका यह कथन असत् है । तथाभूत—इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षादि को ही हम उस प्रकार से (सर्वज्ञ को ग्रहण करने वाला) सिद्ध करते है एवं उसमें सिद्ध साधन दोष का भी अभाव है क्योंकि अन्य प्रकार के—अतीद्रिय प्रत्यक्षादि प्रमाण है ही नही । तथाहि—

"विवाद में आये हुए प्रत्यक्षादि प्रमाण इन्द्रियादि सामग्री विशेष से अनपेक्ष—अपेक्षा रहित नही होते है क्योकि वे प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं जैसे कि हम लोगो के प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण ।" एव सन्निहित देश विशेष की अपेक्षा न करने वाले गृद्ध, बराह, पिपीलिकादि के प्रत्यक्ष से अथवा आलोक की अपेक्षा न रखने वाले नक्तचर—बिल्ली, घूक—उल्लू, मूषक आदि के प्रत्यक्ष से अनेकांत दोष भी नही है । अर्थात् गृद्ध पक्षी को सन्निहित—निकट चीज की अपेक्षा न होने पर भी चक्षु का ज्ञान हो जाता है, सूकर को सन्निहित की अपेक्षा बिना श्रोत्रेन्द्रिय का ज्ञान हो जाता है तथा पिपीलिका—चिउटी को सन्निहित—निकट वस्तु के बिना भी घ्राणेन्द्रिय से सुगधि आदि का ज्ञान हो जाना है तथा बिल्ली, उल्लू आदि को बिना प्रकाश के भी ज्ञान हो जाता है किंतु इनके प्रत्यक्ष से हमारा "प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्" हेतु अनैकांतिक नही है ।

और कात्यायन—वररुचि आदि के अनुमानातिशय से—व्याप्ति और स्मरण के बिना उत्पन्न अनुमान से अथवा जैमिनी आदि के आगम के अतिशय से—संकेत स्मरण के बिना होने वाले आगम से भी हेतु अनैकातिक नहीं है क्योकि वे भी इन्द्रियादि के प्रणिधान—एकाग्रता रूप सामग्री विशेष के बिना असंभव हैं एवं अपने विषय का उल्लघन नहीं कर सकने है तथा वे अतींद्रिय और अननुमेय—इन्द्रिय और अनुमान के विषय से रहित पदार्थों को विषय नही करते है ।

भावार्थ - मीमासक का कहना है कि जैसे हम लोगो का प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है उसी प्रकार से सभी जीवों का प्रत्यक्ष इन्द्रियों की और मन की सहायता रखता ही है बिना

१ एतदनुमानस्य खण्डनमत एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकानपेक्षा इति भाष्यव्याख्यानावसरे प्रोक्त द्रष्टव्यम् । २ गृध्रस्य चाक्षुषं वराहस्य श्रौत्रं पिपीलिकायास्तु घ्राणजम् । ३ बिडालघूकमूषकादयो नक्तञ्चराः । ४ कात्यायनो=वररुचिः । ५ व्याप्तिस्मरणमन्तरेणोत्पन्नस्वलक्षणेन । ६ सङ्केतस्मरणमन्तरेण । ७ एकाग्रता । ८ स्वार्थो नियतविषयः । ९ अतीन्द्रियं च तदननुमेयं चेति द्वन्द्वः ।

(1) रूपादि । (2) उक्तं एव भावयति अतीन्द्रियाननुमेयेत्यादिना ।

[इन्द्रियाणि स्वविषयानेव गृण्हंति न तु परविषयानतः इन्द्रियज्ञानेन कश्चित्सर्वज्ञो भवितुं नार्हति]

तथा चोक्तं—

"यत्राप्यतिशयो[1] दृष्टः स स्वार्थानतिलंघनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ[2] स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता[1] ।।१।।

[3]येपि [2]सातिशया दृष्टाः[3] [4]प्रज्ञामेधादिभिर्नराः । स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात्[5] ।।२।।

प्राज्ञोपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोपि सन् । [4]स्वजातीरनतिक्राम[6]न्नतिशेते[7] परान्नरान् ।।३।।

इन्द्रिय, मन की सहायता के प्रत्यक्ष ज्ञान असभव है । जिन जिन जीवों के इन्द्रिय ज्ञानों मे विशेषता पाई जाती है वह विशेषता भी अपने-अपने विषय में ही पाई जाती है । जैसे कि गृद्ध पक्षी को निकट की अपेक्षा न करके भी चक्षु इन्द्रिय से रूपी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, सूकर को अतिदूर से कर्णेन्द्रिय से सुनाई दे देता है, चिउंटी को बहुत दूर की भी सुगंधि-दुर्गन्धि आ जाती है । यद्यपि इनके ज्ञानों मे विशेषता पाई जाती है फिर भी चक्षु इन्द्रिय से देखने का ही ज्ञान होता है न कि सुनने और चखने का । तथैव नक्तंचर उल्लू आदि को बिना प्रकाश के भी अंधेरे मे ज्ञान हो जाता है तो भी चक्षु इन्द्रिय से देखने का ही ज्ञान होता है न कि सूंघने आदि का । अतएव इन्द्रियजन्य ज्ञान मे कितनी भी विशेषता क्यों न आ जावे वह ज्ञान अपने विषय में ही होता है । पुन: इन्द्रिय ज्ञान के सिवाय अतींद्रिय ज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ ही है ।

[इंद्रिया अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती है पर के विषय को नही, अत. इंद्रियज्ञान से कोई भी सर्वज्ञ नही हो सकता है]

कहा भी है—

श्लोकार्थ-- जिस इन्द्रिय में अतिशय देखा जाता है वह अपने विषय का उलघन नही कर सकती है दूरवर्ती और सूक्ष्मादि रूप देखने मे श्रोत्रेन्द्रिय का व्यापार नही हो सकता है ।।१।।

जो मनुष्य प्रज्ञा, मेधा आदि से भी अतिशयवान् देखे जाते है वे सूक्ष्म और उससे भी सूक्ष्मतर आदि को जानने से ही अतिशयशाली है किंतु अतींद्रिय पदार्थ को देखने रूप अतिशय वाले नही है ।।२।।

बुद्धिमान मनुष्य सूक्ष्म पदार्थों को देखने मे समर्थ होता हुआ भी तत्तत् विषयक—उस उस विषय मे अपनी जाति का उलघन न करते हुये ही अन्य मनुष्यों का उलघन करके उनसे विशेष कहा जाता है ।।३।।

१ इन्द्रिये । २ क्रियमाणायाम् । ३ ननु च प्रज्ञा स्मृत्यादिशक्तीना प्रतिपुरुषमतिशयदर्शनात्सिद्धं कस्यचित्काष्ठामापद्यमान धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिप्रत्यक्षमित्यारेकायामाह । ४ तत्तद्विषयाणाम् ।

(1) श्रोत्रवृत्तित इति पा. । (2) ननु च प्रज्ञामेधाश्रुतिस्मृतिऊहापोहप्रबोधशक्तीनां प्रतिपुरुषमतिशयदर्शनात्कस्यचित्प्रत्यक्षं सातिशय सिद्धयत्यपरा काष्ठामापद्यमान धर्मादिसूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारि सभाव्यत एवेत्यारेकायामाह । (3) ते इति अध्याहारः । (4) त्रिकालविषया प्रज्ञा, मेधा धीर्धारणावती, वर्तमानार्थग्राहिणी । (5) ननु कश्चित् प्रज्ञावान्पुरुषः शास्त्रविषयान् सूक्ष्मान् अर्थान् उपलब्धु प्रभुरुपलभ्यते तद्वत् प्रत्यक्षतोऽपि धर्मादिसूक्ष्मानर्थान् साक्षात्कर्तुं क्षम· किमिति न संभाव्यते ज्ञानातिशयानां नियमयितुमशक्तेरित्याशंकायामाह । (6) कर्त्तृ । (7) प्रतिशयेन ।

एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेतिशयो महान् । न तु शास्त्रान्तरज्ञानं [1]तन्मात्रेणैव लभ्यते ।।४।।
ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः । प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ।।५।।
ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु । न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं[1] ज्ञातुमर्हति ।।६।।
तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि[2] । न स्वर्गदेवता [3]ऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ।।७।।
[2]दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न योजनमसौ गन्तुं शक्तोभ्यासशतैरपि ।।८।। इति

[अतीन्द्रियज्ञानमपि असभाव्यमेव]

न [3]दृष्टप्रत्यक्षादि[4]विजातीया[4]तीन्द्रियप्रत्यक्षादिसंभावना यतः [5]सभाव्यव्यभिचारिता[5]

जिसका एक शास्त्र के विचार मे महान् अतिशयशाली ज्ञान देखा जाता है वह मनुष्य एक शास्त्र के ज्ञान मात्र से ही दूसरे शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त नही कर सकता है ।।४।।

व्याकरण शास्त्र को जान करके ज्ञान शब्द और अपशब्द में दूर तक वृद्धिगत हो जाता है अर्थात् यह शब्द व्याकरण से शुद्ध है यह अशुद्ध है इत्यादि जान लेता है किंतु वही ज्ञान नक्षत्र तिथि आदि के निर्णय में प्रस्फुट नही हो सकता है ।।५।।

उसी प्रकार से चद्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदिको में विशेष प्रकृष्ट भी ज्योतिर्ज्ञानी मनुष्य "भवति गच्छति" आदि शब्दो को व्युत्पत्ति आदि के द्वारा अच्छी तरह से नही जान सकता है ।।६।।

उसी प्रकार से वेद इतिहास आदि ज्ञान के अतिशय वाला भी मनुष्य स्वर्ग, देवता, अपूर्व–पुण्य पाप आदि को प्रत्यक्ष देखने मे समर्थ नही हो सकता है ।।७।।

जो आकाश मे दस हस्त प्रमाण उछल कर जा सकता है वह सैकडो अभ्यास के द्वारा भी योजन पर्यंत जाने में समर्थ नही हो सकता है ।।८।।

[अतीद्रिय ज्ञान भी असंभव ही है]

इस प्रकार से कहा गया है, इसलिये देखे गये प्रत्यक्षादि प्रमाण से विजातीय अतीद्रिय प्रत्यक्षादि की संभावना करना शक्य नही है कि जिससे "प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्" यह हेतु साध्य के साथ व्यभिचारी हो सके अर्थात् नही हो सकता है ।

---

१ एकशास्त्रज्ञानमात्रेण । २ पुरातननृपादिचरित्रग्रन्थसन्दर्भ इतिहास. । ३ अपूर्वे पुण्यपापे । ४ द्वन्द्व. । ५ सभाव्येनातीन्द्रिय (नेन्द्रिये) प्रत्यक्षादिना व्यभिचार ।

---

(1) सिद्धि निष्पत्तिमिति यावत् । (2) अथश्रुतज्ञानमनुमानज्ञानवाऽभ्यस्यमानमभ्यासात्मीभावे तदर्थसाक्षात्कारितया परां दशामासादयतीति सौगतमतमपाकर्तुकाम क्वचिदभ्याससहस्रेणापि ज्ञानस्य विषयपरिच्छित्तौ विषयांतरपरिच्छित्तेरनुपपत्तिरिति दार्ष्टांतिक मनसिकृत्य तत्र दृष्टांतमाह । श्रुतज्ञान-परार्थानुमानरूपश्रुतमयिभावना । अनुमान—स्वार्थानुमानरूपचितामयिभावना । साक्षात्कारितया—प्रत्यक्षीकरणतया इत्यर्थः । (3) यस । (4) ता । (5) अतीद्रियप्रत्यक्ष । ता ।

[1]साधनस्य स्यात् । पुरुषविशेषस्य [2]तत्सम्भावनायां (1)संभाव्यव्यभिचारित्वमेवेति चेन्न, [3]तस्यासिद्धत्वात्, साधकाभावात्सर्वपुरुषाणां (2)त्रिविप्रकृष्टार्थसाक्षात्कारित्वानुपपत्तेरिति।

[अधुना मीमासकाभिमत सर्वज्ञाभावस्य मीमासां कुर्वंति जैनाचार्याः ।]

[4]तदेतत्सर्वमपरीक्षिताभिधानं मीमांसकस्य । **न हि सर्वज्ञस्य निराकृतेः(3) प्राक् सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं सिद्धं येन परः[5] प्रत्यवतिष्ठेत । नापि बाधकासंभवात्परं[6] प्रत्यक्षादेरपि (4)विश्वासनिबन्धनमस्ति, [7]तत्प्र(5)कृतेपि[8] सिद्ध[9]। यदि तत्सत्तां न साधयेत्[10]**

यदि आप कहें कि पुरुष विशेष में उस अतींद्रिय प्रत्यक्ष की सभावना होने पर वह हेतु सभाव्य से व्यभिचारी ही है, यह कथन भी ठीक नही है क्योकि वह पुरुष विशेष असिद्ध ही है। साधक प्रमाण का अभाव होने से सभी पुरुष तीन प्रकार के (देश, काल और स्वभाव से) विप्रकृष्ट–दूरवर्ती अर्थ का साक्षात्कार कर नही सकते है।

इस प्रकार मीमांसक ने अपना पूर्वपक्ष रखा है।

[अब मीमांसकाभिमत सर्वज्ञ के अभाव के विषय मे जैनाचार्य मीमासा करते हैं]

जैन—आप मीमांसक का यह सभी कथन अपरीक्षित—अविचारित ही है क्योंकि सर्वज्ञ के निराकरण के पहले "सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाण" सिद्ध नहीं है कि जिससे आप मीमांसक हमारे प्रतिकूल कुछ बोल सकें अर्थात् आप हमारी प्रतिकूलता नहीं कर सकते हैं। "बाधक असंभव है" इससे भिन्न-अन्य कोई भी संवादकत्वादि हेतु प्रत्यक्षादि प्रमाण में भी विश्वास निमित्तक नहीं है।

वह "बाधकासंभवत्व" प्रकृत—सर्वज्ञ में भी सिद्ध होता हुआ यदि उस सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध न कर सके, तब तो सर्वत्र भी—सत्यदर्शन और असत्यदर्शन में समान होने से उस "सुनिश्चितासंभवद्-बाधक प्रमाण" क अभाव में दर्शन—प्रत्यक्ष, अदर्शन—प्रत्यक्षाभास का उलंघन नहीं कर सकता क्योंकि कोई विश्वास नहीं है विभ्रम के समान।"*

मीमांसक—सर्वज्ञ के निराकरण के पहले "सुनिश्चितासभवत्साधकप्रमाण" सिद्ध नही होवे तो न

१ प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वादिति साधनस्य। २ तस्य अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य। ३ पुरुषविशेषस्य। ४ अत्राह स्याद्वादी। ५ परो मीमांसकःप्रत्यवतिष्ठेत (प्रतिकूलतामवलम्ब्येन) अपि तु नेत्यर्थः। ६ अन्यत् सवादकत्वादिकम्। ७ बाधकासम्भवत्वम्। ८ सर्वज्ञे। ९ सिद्धं मत्। १० तर्हीति शेषः।

(1) भा। (2) देशकालस्वभाव। (3) निराकृते सर्वज्ञे अनिराकृते वा सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं वर्तते इति विकल्पाभिप्राय (4) ता। 5) सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्व।

[१]**सर्वत्राप्यविशेषात्तदभावे**[२] [३]**दर्शनं** [1]**नादर्शनमतिशेतेऽनाश्वासाद्विभ्रमवत्**[2] । * [४]स्यान्मतं "मा सिधत्सर्वज्ञस्य निराकरणात्पूर्वं सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं[3] [4]स्वप्रत्यक्षस्य सर्वज्ञान्तरप्रत्यक्षस्य च [५]तत्साधकस्य संभवात्, परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षा[६]ऽवितथाऽशे[5]षसूक्ष्माद्यर्थ-प्रतिपादकतद्वचनविशेषात्मकलिङ्गजनितानुमानस्य च [७]तत्साधकस्य [6]सद्भावादनादिप्रवचनविशेषस्य[7] च तदुद्द्योतितस्य [८]तत्साधकत्वेन सिद्धेः । [8]निराकरणादुत्तरकालं तु सिद्धमेव" इति । [९]तदपि स्वमनोरथमात्रं, सर्वज्ञनिराकृतेरयोगात् सर्वथा बाधकाभावात् ।

सही किन्तु आपका जो कहना है कि स्वप्रत्यक्ष–स्वय सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष और सर्वज्ञातर प्रत्यक्ष–भिन्न सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष ज्ञान उस सर्वज्ञ के साधक सभव है । परोपदेश हेतु और इंद्रियों की अपेक्षा से रहित अवितथ–सत्य, अशेष सूक्ष्मादि पदार्थ के प्रतिपादक, उनके वचन विशेषात्मक हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान उस सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले मोजूद है और उस सर्वज्ञ से उद्योतित अनादि आगम विशेष भी सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रसिद्ध है । इस प्रकार से सर्वज्ञ की सिद्धि जो आपने की है उस सर्वज्ञ के निराकरण के अनंतर उत्तर काल में वह हमारा "सुनिश्चितासभवद्साधक प्रमाणत्व" सिद्ध ही है जोकि अभाव प्रमाण रूप है । अर्थात् मीमासक का कहना है कि आप जैन जो सर्वज्ञ के अस्तित्व को प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से सिद्ध करते हो एव कहते हो कि मीमासक का "सुनिश्चितासभवत्साधक प्रमाण" उस सर्वज्ञ के अस्तित्व का बाधक नही है सो बात सिद्ध नही है क्योंकि सर्वज्ञ के निराकरण के पहले हमारा सुनिश्चितासभवत्साधक प्रमाण भले ही सिद्ध न हो किन्तु सत्ता को ग्रहण करने वाले पाचो प्रमाणो के द्वारा उस सर्वज्ञ का निराकरण कर देने पर हमारा सुनिश्चितासभवत्साधक प्रमाण रूप हेतु सिद्ध ही हो जाता है । सुनिश्चित रूप से असभव है सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण जिसमें उसे "सुनिश्चितासभवत्साधक प्रमाण" कहते है एवं सुनिश्चित रूप से असभव है बाधक प्रमाण जिसमें उसे "सुनिश्चितासभवद् बाधक प्रमाण" कहते हैं और सुनिश्चितासभवत्साधकप्रमाण–अभाव प्रमाण से हम सर्वज्ञ का अभाव कर देते है ।

जैन—यह कथन भी स्वमनोरथ मात्र ही है क्योंकि सर्वथा बाधक का अभाव होने से सर्वज्ञ के निराकरण का अभाव ही है ।

१ दर्शने दर्शनाभावे वा (सर्वज्ञस्य) सत्यदर्शने असत्यदर्शने च वा । २ अविशेषात्सर्वत्रापि सुनिश्चतासभवद्बाधक-प्रमाणस्याभावे इत्यर्थः ३ प्रत्यक्षम् । ४ मीमांसकस्य । ५ सर्वज्ञसाधकस्य । ६ अन्तरितदूरमिति । क्रियाविशेषण-मेतत् । ७ स सर्वज्ञः । ८ स सर्वज्ञः । ९ सिद्धान्ती ।

(1) प्रत्यक्षाभासं । (2) भ्रांतिज्ञानवत् । (3) कुत. । (4) सर्वज्ञस्य । (5) अंतरितदूर । (6) सभवादनादि इति पा. । (7) अर्थरूपस्य (8) सर्वस्य ।

[मीमांसको ब्रूते—अस्तित्वग्राहकपञ्चप्रमाणैः सर्वज्ञो ज्ञायते अतोऽभावप्रमाणेन सर्वज्ञस्याभावोऽस्ति किन्तु जैनाचार्याः अभावप्रमाणस्याभावं कृत्वा सर्वज्ञं साधयन्ति ।]

[1]सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिलक्षणं [1]ज्ञापकानुपलम्भनं[2] सर्वज्ञस्य बाधकमिति चेन्न, [2]तस्य [3]स्वसम्बन्धिनः परचेतोवृत्तिविशेषादिना[4] व्यभिचारात्, सर्वसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वात् । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके ।

" [3]**स्वसम्बन्धि यदीदं [5]स्याद्व्यभिचारि पयोनिधेः । अम्भःकुम्भादिसंख्यानैः [6]सद्भिरज्ञायमानकैः[7] ॥१॥**
सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धुं, किञ्चिद्बोधैर्न [8] शक्यते । सर्वबोधोस्ति चेत्कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते ॥२॥

[मीमासक कहता है कि अस्तित्व को ग्रहण करने वाले पाचो ही प्रमाणो से सर्वज्ञ नही जाना जाता है अतएव अभाव प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव करके सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करते है ।]

मीमांसक—सत्ता को ग्रहण करने वाले पांच प्रमाणों का अभाव लक्षण, ज्ञापकानुपलब्धि रूप अभाव प्रमाण सर्वज्ञ को बाधित करने वाला है ।

जैन—ऐसा नही कह सकते है क्योकि हम आपसे ऐसा प्रश्न कर सकते है कि वह अभाव स्वसबधी है या सर्व सम्बन्धी ? स्वसबधी मानो तो परिचित के व्यापार विशेष आदि से व्यभिचार आता है और सर्व सबधी कहो तो असिद्ध है । उसी को तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में कहा है ।

"यदि अभाव प्रमाण स्वसबधी है तो अल्पज्ञों के द्वारा समुद्र के विद्यमान जलकुंभादि की सख्या से व्यभिचारी है । अर्थात् समुद्र के पानी का घड़े आदि से मापने की सख्या का परिमाण तो हो सकता है किन्तु आपको तो यह ज्ञान नही है कि पूरे समुद्र में कितने घडे पानी है अत. समुद्र के पानी में घड़ों की संख्या का परिमाण है किंतु आपके पास उनका ज्ञापक प्रमाण नहीं है इस कारण आपका हेतु व्यभिचारी है ॥१॥

यदि सर्व सबधि ... कहो तो अल्पज्ञों के द्वारा उसे जानना शक्य नही है यदि सभी को जानने वाला कोई ज्ञाता है तो वही सर्वज्ञ है पुनः आप उस सर्वज्ञ का निषेध क्यो करते है ? अर्थात् यदि आप कहे कि सभी ससारी जीवों के पास सर्वज्ञ को जानने वाला कोई प्रमाण नही है तब तो अल्पज्ञ मनुष्य यह वात कैसे जान सकेगा कि जैन, नैयायिक, वैशेषिक आदि किसी के पास सर्वज्ञ को जानने वाला

१ सदुपलम्भक सग्राहकम् । २ विद्यमानदर्शकप्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकाभावस्वरूपमभावप्रमाणम् । ३ सिद्धान्ती तदनुपलम्भनं स्वसम्बन्धि परसम्बन्धि वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति । स्वस्याभावप्रमाणवादिनः सम्बन्धि स्वसम्बन्धि । ४ परचित्तव्यापारविशेषादिना व्यभिचारसम्भवात् । ५ तदेति शेषः । ६ विद्यमानैः । ७ किञ्चिज्ज्ञैन । ८ अतीन्द्रियत्वात् ।

(1) अभावप्रमाणं । (2) तदुपलंभन स्वसंबंधि—सर्वसंबंधि वा इति विकल्पद्वय कृत्वा दूषयति । स्वसबधि—स्वस्याभावप्रमाणवादिनः संबंधियज्ज्ञापकपचकं (प्रमाण) तस्यानुपलभन तस्य । सर्वसम्बन्धि—सर्वजनस्य (3) तदा ।

सर्वसम्बन्धि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । न [1]चक्षुरादिभिर्वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् ॥३॥
नानुमानादलिङ्गत्वात् [1]क्वार्थापत्त्युपमागतिः[2] । [2]सर्वज्ञस्यान्यथाभावसादृश्यानुपपत्तितः ॥४॥
सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत्[3] ॥५॥
कार्येर्थे चोदनाज्ञानं प्रमाण यस्य[4] सम्मतम् । तस्य [5]स्वरूपसत्तायां [6]तन्नै[1]वातिप्रसङ्गतः[7] ॥६॥

प्रमाण नही है और यदि जानेगा तब तो सर्वप्राणियों को जानने से वही तो सर्वज्ञ सिद्ध हो जावेगा पुनः आप सर्वज्ञ का निषेध भी कैसे कर सकेगे ? ॥२॥

दूसरी बात यह है कि सर्व सम्बंधि सर्वज्ञ के ज्ञापकानुपलभ—अभाव प्रमाण को चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा जानना शक्य नही है क्योकि वह अतीद्रिय अदृष्ट के समान है। अर्थात् जैसे पुण्य-पाप आदि इन्द्रिय से नही दिखते है वैसे ही वह ज्ञापकानुपलंभ नही दिखता है ॥३॥

अनुमान से भी सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान नही है क्योंकि सर्वज्ञ अत्यत परोक्ष है अत उसके ज्ञापक हेतु का अभाव है एव उस सर्वज्ञ के अभाव के साथ अन्यथाभाव और सादृश्य का अभाव होने से अर्थापत्ति और उपमान प्रमाण से भी सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान नही हो सकता है ॥४॥

सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाले उस "ज्ञापकानुपलभन" हेतु के जानने में सम्पूर्ण प्रमाता—ज्ञाता सम्बन्धी प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणो का निवारण हो जाने से तो मीमासकों के यहाँ केवल आगम से उस सर्वज्ञ के अभाव का जानना कैसे सिद्ध हो सकेगा ? ॥५॥

क्योकि जो मीमाँसक वेदवाक्यों के अर्थ को कार्य—कर्मकाड के प्रतिपादक अर्थ में प्रमाण मानते है वे ही उन वेदवाक्यों को स्वरूप की सत्तारूप–परमब्रह्म को कहने वाले अर्थ में प्रमाण नही मानते हैं और यदि मानेंगे तो अतिप्रसग दोष आ जावेगा अर्थात् "अन्नाद्वै पुरुषः" अन्न से पुरुष पैदा होता है ऐसे वेदवाक्यों को भी प्रमाण मानना पड़ेगा। तथा च चार्वाक मत का प्रसग आ जावेगा अतः कर्मकाड के प्रतिपादक वाक्यो को ही मीमासक प्रमाण मानते हैं किन्तु ज्ञापकानुपलभन के सिद्ध करने वाले वेदवाक्यों को वे प्रमाण नही मानते है अतः आगम से भी ज्ञापकानुपलभन की सिद्धि नही हुई कि जिससे सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध किया जा सके ॥६॥

---

१ अत्यन्तपरोक्षत्वेन सर्वज्ञस्य ज्ञापकलिङ्गाभावः। २ सर्वस्यानन्यथाभावसादृश्यानुपपत्तित इति वा पाठः। ३ सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम्। ४ मीमासकस्य। ५ स्वरूपशब्देन सर्वज्ञ.। ६ सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम्। ७ आपः पवित्रमित्यादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात्।

---

(1) अतीद्रियत्वात्। (2) भा द्विः। (3) अन्यथा—स सर्ववित् स लोकवित् हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः इत्यादेरपि स्वरूपे प्रामाण्यं स्यात्।

[१]तज्ज्ञापकोपलम्भस्याभावोऽभावप्रमाणतः । साध्यते चेन्न तस्यापि [२]सर्वत्राप्यप्रवृत्तितः[1] ॥७॥
गृहीत्वा [2]वस्तुसद्भाव स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम्[3] । मानसं नास्तिताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया ॥८॥
तेषामशेषनृज्ञाने[4] स्मृते[३] [४]तज्ज्ञापके क्षणे । जायेत नास्तिताज्ञानं मानसं तत्र नान्यथा ॥९॥
न चाशेषनरज्ञान [5]सकृत्साक्षादुपेयते[५] । न क्रमादन्य[६]सन्तानप्रत्यक्षत्वानभीष्टितः ॥१०॥

सर्वज्ञ को बतलाने वाले प्रमाण की उपलब्धि का अभाव प्रमाण से यदि आप अभाव सिद्ध करते हैं तो यह ठीक नही है क्योंकि वह अभाव प्रमाण भी सर्वत्र प्रवृत्ति नही कर सकता है। अर्थात् सभी पुरुषसबधि सर्वज्ञ के अभाव को जानने में वह अभाव प्रमाण समर्थ नही हो सकता है ॥७॥

आप मीमासकों के यहां ही अभाव प्रमाण का ऐसा लक्षण किया है कि वस्तु के सद्भाव को ग्रहण करके और जिसका अभाव सिद्ध किया है उसके प्रतियोगी का स्मरण करके एवं बहिरंग इन्द्रियो की अपेक्षा न करके केवल मन में 'नही है' यह ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है। अर्थात् जैसे भूतल में घट का अभाव जाना जाता है। इस समय भूतल का चक्षु से या स्पर्शन इद्रिय से प्रत्यक्ष है ही और पहले देखे हुये घट का स्मरण है ऐसी दशा में मन इद्रिय से घटाभाव का ज्ञान हुआ ॥ ८ ॥

पुनः उन मनुष्यो को अशेष मनुष्यो का ज्ञान हो जाने पर तथा सर्वज्ञ ज्ञापक के काल का स्मरण हो जाने पर मन में 'सर्वज्ञ नही है' यह ज्ञान उत्पन्न हो सकता है अन्यथा नही हो सकता है। अर्थात् हम जैनों के यहा और नैयायिको के यहा तो अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से हो जाता है किंतु मीमांसक लोग अभाव के जानने मे निषेध करने योग्य पदार्थ का स्मरण और निषेध की आधारभूत वस्तु का प्रत्यक्ष करना या दूसरे प्रमाणों से निर्णीत कर लेना आवश्यक मानते हैं। अतः उन मीमांसको को सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों का अभाव रूप नास्तित्व मन और इद्रियों के द्वारा तभी ज्ञात हो सकेगा जब कि वहां के आधारभूत संपूर्ण मनुष्यों का ज्ञान किया जावे और उस समय सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों का स्मरण किया जावे इसके सिवा अन्य प्रकार से सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणो की नास्तिता का ज्ञान किसी भी प्रकार से नही कर सकंगे ॥९ ॥

और किसी को भी एक साथ सभी मनुष्यों का ज्ञान हो नहीं सकता है तथा क्रम से भी नहीं हो सकता है क्योकि अन्य पुरुष के मनोव्यापारादि का प्रत्यक्ष होना किसी को इष्ट नहीं है एव शक्य भी नही है। अर्थात् अभाव प्रमाण की उत्पत्ति में आधारभूत सभी मनुष्यों का ज्ञान होना आवश्यक है ऐसी आपकी मान्यता है किंतु यह बात शक्य नही है ॥१०॥

---

१ प्रभाकर निराकृत्य भट्टं निराकुर्वन्नाह तज्ज्ञापकेति । २ सर्वपुरुषसम्बन्धिनि ज्ञापकानुपलम्भने ३ सति । ४ सर्वज्ञज्ञापके काले । ५ घटते । ६ अन्यपुरुषमनोव्यापारादिप्रत्यक्षत्वानिष्टेः ।

(1) सर्वजनसर्वज्ञग्राहकप्रमाणाभावे । ता बहु. । (2) घटव्यतिरिक्त भूतलं । (3) घट । (4) लक्ष्ये योजयति । (5) युगपत् ।

यदा च क्वचिदेकत्र[१] भवेन्नास्तितागतिः[२]। नैवान्यत्र[३] तदा [४]नास्ति क्वैवं सर्वत्र[1] नास्तिता ॥११॥
[५]प्रमाणान्तरतोप्येषां[६] न सर्वपुरुषग्रहः। [७]तल्लिङ्गादेरसिद्धत्वात् [2]सहोवीरितदूषणात्[८] ॥१२॥
[3]तज्ज्ञापकोपलम्भोपि सिद्धः पूर्वं न जातुचित्। [९]यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तिताज्ञानमाञ्जसम्[4] ॥१३॥
[१०]परोपगमतः सिद्धः स[११] चेन्नास्तीति साध्यते। [१२]व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेन्योन्य[5] सिद्धो न सोऽन्यथा ॥१४॥

और जब किसी एक मनुष्य में भी "सर्वज्ञ नही है" ऐसा 'नास्तितता का ज्ञान हो जावेगा तब अन्य मनुष्य में वह नास्तितता का ज्ञान तो है नही पुनः सर्वत्र सर्वज्ञ नही है ऐसा "नास्तितता का ज्ञान" कैसे हो सकता है ? अर्थात् आप जब क्रम-क्रम से सबको जानेंगे तभी तो सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करेंगे और क्रम-क्रम से सभी मनुष्यो को जानना तो तीन काल में भी शक्य नही है ॥११॥

आप मीमासकों के यहां सर्वज्ञ के ज्ञापक–बतलाने वाले प्रमाण के अभाव के आधारभूत सपूर्ण पुरुषों का ग्रहण अन्य अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से भी नही हो सकता है क्योकि उनके अविनाभाव, सादृश्य आदि गुणो को रखने वाले हेतु आदिक सिद्ध नही है। अनेक पुरुषों को क्रम से जानने में जो दूषण आते हैं वे ही दोष उन पुरुषों को जानने में जो हेतु या सादृश्य दिये जावेंगे उनमें भी साथ साथ ही आवेंगे अर्थात् अनेक पुरुषों के साथ व्याप्ति को रखने वाला कोई निर्दोष हेतु आपके पास नहीं है और न सादृश्य आदि ही है ॥१२॥

उस सर्वज्ञ को बताने वाले की उपलब्धि भी पूर्व में कदाचित् सिद्ध नही है। जिस ज्ञापकोपलभ की स्मृति होने पर वास्तव में नास्तितता का ज्ञान हो सके। अर्थात् आपके यहाँ अभाव प्रमाण की उत्पत्ति में प्रतियोगी का स्मरण भी कारण है और पूर्व में जाने हुये सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का स्मरण हो सकता है परन्तु आपको तो सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण का स्मरण नही है ॥१३॥

यदि हम जैनादि की स्वीकृति से वह सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण–सर्वज्ञ को बतलाने वाला प्रमाण सिद्ध है पुनः "नास्ति" इस प्रकार से सिद्ध किया जाता है, तब तो व्याघात–परस्पर विरुद्ध दोष हो जाता है। यदि आप पर की स्वीकृति को प्रमाण मानते हो तो वादी और प्रतिवादी दोनों को ही वह सिद्ध है यदि कहो वह अप्रमाण है तो दोनों के यहां सिद्ध नही है। अर्थात् आप यदि हम सर्वज्ञवादी मत को प्रमाण मानते हैं तब तो सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले प्रमाणो का अभाव नही कर सकेंगे और यदि सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करते हो तो हमारी स्वीकृति तुम्हे प्रमाण नही रही, मतलब तुम हमारी अप्रमाणीक स्वीकृति से

१ नरे। २ सर्वज्ञनास्तितानिश्चितिः। ३ नरे। ४ नास्तितागति.। ५ अनुमानादिना। ६ मीमासकानाम्। ७ अनुमाने लिङ्गस्य, उपमाने सादृश्यस्य, अर्थापत्तौ तदन्यथाभावस्य चाभावादित्यर्थः। ८ सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धु किञ्चिद्बोधैर्न शक्यते इत्यादिना पूर्वमेव नास्तितासिद्धौ प्रयुक्ते तत्र तत्र प्रत्येकप्रमाणे दूषणस्योक्तत्वात्। ९ तज्ज्ञापकोपलम्भस्य स्मृतौ सत्याम्। १० जैनाद्युपगमत.। ११ सर्वज्ञ.। १२ कथं व्याघातस्तथाहि।—तस्य परोपगमस्य प्रमाणत्वेन्योन्य परस्परं (वादिप्रतिवादिनो.) स सिद्धः। अन्यथा (तदप्रमाणत्वे) अन्योन्य परस्परमुभयोरेव न सिद्ध इति।

(1) नरे। (2) युगपत्। (3) मीमांसकानामसिद्ध एव। (4) पारमार्थिक (5) विधिप्रतिषेधयोः।

हमारा खंडन कैसे करोगे इसमें तो तुम्हारे यहां "वदतोव्याघात" नाम का दोष आ जाता है ॥१४॥

विशेषार्थ—मीमांसक का कहना है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति रूप पाँचों ही प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नही होता है, अतएव अतिम छठे अभाव प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव ही सिद्ध है इस अभाव प्रमाण का दूसरा नाम है "ज्ञापकानुपलंभन" मतलब बतलाने वाले प्रमाण का उपलब्ध न होना।

मीमांसक के इस कथन पर जैनाचार्य प्रश्न करते है कि सर्वज्ञ के अस्तित्व को बतलाने वाला प्रमाण केवल आपको ही नही है या सभी जीवो के पास सर्वज्ञ को बतलाने वाला प्रमाण नहीं है ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तब तो समुद्र के पूरे पानी में घड़ो की संख्या का परिमाण तो है किंतु आप के पास उनका ज्ञापक प्रमाण नहीं है अतः आपका हेतु व्यभिचारी हो गया। यदि आप दूसरा पक्ष लेवें कि सभी संसार के जीवों के पास सर्वज्ञ को बताने वाला कोई प्रमाण नही है तब तो हम और आप जैसे अल्पज्ञ जनो द्वारा यह बात जानना ही शक्य नही है कि सभी जीवो के पास सर्वज्ञ को बताने वाला कोई प्रमाण नही है और यदि आप किसी जीव को भी ऐसा सभी को जानने वाला मानते हो कि इन सभी के पास सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण नही है तब तो सब को जानने वाले सर्वज्ञ का आप निषेध भी कैसे कर सकते हो ?

यदि आप मीमासक यह कहे कि "षड्भिः प्रमाणैः सर्वज्ञो न वार्यत इति चायुक्त" प्रत्यक्षादि छहों प्रमाणो से सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ का हम निषेध नही करते है। अनुमान या अपौरुषेय वेद रूप आगम से अनेक विद्वान्, परोक्ष रूप से सपूर्ण पदार्थों को जान लेते हैं यह कोई कठिन बात नही है किंतु "एक अतीद्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा युगपत् सपूर्ण जगत् को जानने वाला कोई सर्वज्ञ है" इस बात का ही हम निषेध करते है। मतलब पुण्य, पाप आदि अतींद्रिय पदार्थो का ज्ञान वेद से ही होता है न कि प्रत्यक्ष ज्ञान से।

इस कथन पर भी जैनाचार्य कहते है कि "अतीद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से कोई भी मनुष्य अतीद्रिय पदार्थों को नही जानता है" यह बात भी आप इद्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा नही जान सकते है यदि जानेंगे तब तो आप ही सर्वज्ञ बन जावेंगे। इसी प्रकार से सर्वज्ञ के अभाव को कहने वाला यह अभाव प्रमाण अनुमान के द्वारा भी नही जाना जा सकता है तथैव उपमान और अर्थापत्ति से भी यह ज्ञापकानुपलभन हेतु जाना नही जा सकता है एव आप मीमासक ने कर्मकाड के प्रतिपादक वेदवाक्यो को ही प्रमाण माना है, किंतु सर्वज्ञाभाव के साधने में समर्थ अभाव प्रमाण को सिद्ध करने वाले वेदवाक्यों को प्रमाण नही माना है अतः आगम से भी ज्ञापकानुपलभ हेतु सिद्ध नही हो सकता है यदि आप सर्वज्ञ को बतलाने वाले प्रमाणो के अभाव को अभाव प्रमाण से कहो तो भी ठीक नही है क्योंकि आपके द्वारा मान्य अभाव प्रमाण की भी सभी जगह प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् सर्वज्ञाभाव के आधारभूत शुद्ध भूतल के सद्भाव को जान करके और जिसका अभाव सिद्ध किया गया है उस सर्वज्ञ का स्मरण करके बहिरग इद्रियो की अपेक्षा से रहित जो मन में "यहां सर्वज्ञ नही है" यह ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है जैसे पहले कभी किसी

मंदिर में सर्वज्ञ को देखा था पुनः कुछ दिन बाद गये तो वहा मदिर खाली दिखा तब पूर्व में देखे हुये सर्वज्ञ का स्मरण हुआ और मन में ज्ञान हुआ कि "यहा सर्वज्ञ नही है" इसे अभाव प्रमाण कहते हैं। आप मीमांसक की अभाव प्रमाण की इस व्याख्या से तो बडी आफत आ जाती है क्योंकि पूर्व में देखे गये, जाने गये का ही वर्तमान में स्मरण हो सकता है बिना जाने पदार्थ का स्मरण ही असभव है।

दूसरी तरह से यह भी प्रश्न होता है कि "सभी जीवों के पास सर्वज्ञ को बतलाने वाले प्रमाणों का अभाव है" इस बात को जानने के लिए आप सभी जीवों को एक साथ ही एक समय में जान लेते हो या क्रम से एक-एक को जानते हो ? क्रम-क्रम से अन्य सभी जीवात्माओ को जान लेना आपको इष्ट नही है क्योकि क्रम-क्रम से जानने मे तो अनत काल निकल जावेगा कारण जीवराशि तो अनतानत है।

यदि आप कहे कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हम क्रम-क्रम से सभी जीवों को नही जानेगे कि इनके पास सर्वज्ञ ज्ञापक कोई प्रमाण नही है किन्तु अनुमान आदि से जल्दी से जान लेंगे तो आचार्य कहते है कि सपूर्ण जीवो के पास सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण नही है इस बात को बताने के लिये अनुमान, आगम, उपमान आदि प्रवृत्त नही हो सकेंगे क्योकि अविनाभावी हेतु सादृश्य आदि का अभावपूर्ववत् ही है।

यदि दूसरा पक्ष लेवो कि एक साथ ही हम सभी जीवों को जान लेंगे कि "इन सभी के पास सर्वज्ञ का ज्ञापक कोई प्रमाण नही है" तब तो आप ही सभी को युगपत् जान लेने से सर्वज्ञ हो जावेंगे। निष्कर्ष यह है कि मीमासक अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करना चाहता था किन्तु जैनाचार्य ने इस अभाव प्रमाण का ही अभाव करके सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध कर दिया है। मीमासक ने पुनः एक बात कही है कि आप जैनादि सर्वज्ञ को बताने वाले प्रमाणों को मानते है थोड़ी देर के लिए हम उनको लेकर कल्पना से मान लेंगे पुनः अभाव प्रमाण से ज्ञापक प्रमाणो की उपलब्धि का अभाव सिद्ध कर देंगे।

इस पर जैन कहते हैं कि हम लोगो ने जो सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणो को माना है उन्हें लेकर पुनः तुम उनका अभाव करना चाहते हो तो पहले यह बताओ कि आप हमारे द्वारा मान्य सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों को सच्चे मानते हो या नही ? यदि सच्चे मानते हो तो आप उन प्रमाणो का अभाव नही कर सकोगे। अर्थात् सर्वज्ञवादी के मत को प्रमाण मानने पर आप ज्ञापकोपलभ का अभाव नही कर सकते हैं यदि ज्ञापकोपलभन का अभाव सिद्ध करते हो तो सर्वज्ञवादी के ज्ञापक प्रमाणो को आप प्रमाणीक नही मानते हो और यदि आप सर्वज्ञवादी के मन्तव्य को प्रमाण नही मानते हो तब तो संपूर्ण आत्माओं का ज्ञान और ज्ञापकोपलंभन रूप सामग्री के न होने से आपके उस अभाव प्रमाण की उत्पत्ति नही हो सकेगी। "सेयमुभयतः पाशारज्जु." रस्सी में दोनो तरफ फांसे हैं इस न्याय से आप मीमासक को दोनों ही तरफ से सर्वज्ञ मानना पड़ता है। सर्वज्ञ का अभाव यदि अभाव प्रमाण से करते है तो भी मानना पड़ता है और यदि सर्वज्ञ का अभाव न करे तब तो वह स्वय सिद्ध ही है।

नन्वेवं सर्वथैकान्तः परोपगमतः कथम् । सिद्धो निषिध्यते जैनैरिति चोद्यं न धीमताम् ॥१५॥
प्रतीतेऽनन्तधर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधिते । को दोषः [१]सुनयैस्तत्रैकान्तोपप्लवसाधने[1] ॥१६॥
[२]अनेकान्ते हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम् । तद्विधिस्तन्निषेधश्च[2] मतो [३]नैवान्यथा गतिः ॥१७॥
[४]नैवं सर्वत्र सर्वज्ञज्ञापकानुपदर्शनम् । सिद्धं [3]तद्दर्शनारोपो[५] येन तत्र निषिध्यते ॥१८॥ इति ।

यदि आप कहें कि इस प्रकार से "सर्वथैकांत" भी पर की स्वीकृति से ही तो सिद्ध है पुनः उसका निषेध भी आप जैनी क्यों करते है आपका ऐसा प्रश्न करना ठीक नही है । अर्थात् साख्य, बौद्ध आदि के एकांत मंतव्य को आप जैन प्रमाण नही मानते है पुन. पर की स्वीकृति से ही तो उस एकांत का निषेध कैसे करेंगे ? ॥१५॥

इस पर जैनाचार्य कहते है कि हमारे यहा अनंत धर्मात्मक, स्वयं अबाधित पदार्थ का अनुभव होने पर सुनयों के द्वारा एकात का अभाव सिद्ध करने में क्या दोष है ? अर्थात् जीव, पुद्गल आदि सभी पदार्थ अनंतधर्मात्मक अपने आप प्रमाण से सिद्ध है पुनः श्रेष्ठ प्रमाण नय की प्रक्रिया एव सप्तभंगी से उनको जान लेने से एकांत का अभाव स्वय सिद्ध हो जाता है । जैसे तीव्र आतप से सतप्त पुरुष को छाया में भी स्फुलिग दीखते हैं किंतु उनका निषेध कर दिया जाता है क्योंकि शुद्ध छाया का प्रत्यक्ष होना ही दृष्टि दोष से हुए अनेक असत् धर्मों का निषेध करना है । वास्तव में वहां निषेध कुछ नही केवल शुद्ध छाया का विधान है वैसे ही मिथ्या कल्पित एकांत का निषेध समझना ॥१६॥

अनेकात में एकात की उपलब्धि न होना रूप विज्ञान है वही अनेकात की विधि और एकात का निषेध है अन्य प्रकार से एकांत के अभाव का ज्ञान नही है । अर्थात् अनेक धर्मों का विधान ही एकात का निषेध है हमारे यहां एकात के अभाव को सर्वथा तुच्छाभाव रूप नही माना है प्रत्युत भावातर रूप अनेकात का होना ही माना है ॥१७॥

इस प्रकार से सर्वत्र सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का अभाव सिद्ध नही है जिससे कि उस सर्वज्ञ के दर्शन की भ्रांति का वहा निषेध किया जा सके । अर्थात् जैसे हम सभी लोगो को सभी वस्तुओं में अनेकात की उपलब्धि रूप एकातो का नही दीखना सिद्ध है । यदि किसी को भ्रम वश एकात की कल्पना हो भी जाती है तो उसका खण्डन कर दिया जाता है । इसी प्रकार से सभी पुरुषो को सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों का नहीं दीखना सिद्ध नही है कि जिससे आप उनका निषेध कर सके अर्थात् आप सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण का निषेध नही कर सकते है ॥१८॥

विशेषार्थ—मीमासक का कहना है कि जैसे अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करने में आपने अतिम दोष दिखाया है वैसे तो आप भी दोषी है, देखो ! आप जैन सभी वस्तु को अनेकांत रूप मानते हो ।

---

१ सुयुक्तिभिः । २ गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यादिप्रक्रिया जैनेषु नास्ति ततश्चास्माक न किञ्चिद्दूषणमित्य हाऽनेकान्ते इति । ३ गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यादिप्रकारेण । ४ अनेकान्ते हीत्यादिप्रकारेणैव अनुपलम्भनं स्यादित्युक्ते सिद्धान्त्याह नैवमिति । ५ भ्रान्तिः ।

---

(1) एकांतोपप्लवबाधने इति पा. । अभाव (2) एव । (3) सर्वज्ञदर्शनसद्भाव ।

आपका कहना है कि कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक आदि रूप है ही नही जैसा कि बौद्ध साख्यादि मानते है इस प्रकार से जब आप एकातो का सर्वथा ही अभाव मानते हो पुनः उन एकांतों का खण्डन भी कैसे करते हो ? क्योंकि एकातो को माने बिना आप उनका निषेध भी नही कर सकेंगे। आपके सिद्धातानुसार तो जिस वस्तु की विधि है—अस्तित्व है उसी का ही निषेध हो सकता है।

इस पर जैनाचार्य कहते है कि हम स्याद्वादियो ने सर्वथा एकातो के निषेध से ही अनेकांत की सिद्धि नही मानी है कि जिससे सर्वथा नास्ति रूप और निषेध करने योग्य एकातो का निषेध न किया जा सके। अर्थात् ऐसी बात नही है जो वस्तु सर्वथा है ही नही, उसके निषेध करने या विधि करने का किसी प्रमाता के पास अवसर ही नही है। हमारे यहा सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कथित सभी वस्तुये अनत धर्मात्मक ही है यह बात अबाधित रूप से सिद्ध है। ऐसी अवस्था में प्रमाण, नयों की प्रक्रिया को जानने वाले विद्वान् जन सर्वथा एकात को दूषित कर देते है इसमे कोई बाधा ही नही आती है। किसी ने कहा कि "मैं सदा सत्य बोलता हूं और झूठ बोलने का मुझे त्याग है" तो इसमें क्या बाधा आई ? हमने कहा कि सभी वस्तु अनेकात स्वरूप है क्योकि एकात मान्यता में अनेक दोष आते है तो इस बात में कुछ भी बाधा नही आती है।

दूसरी बात यह भी है कि मिथ्यात्व कर्म के उदय से होने वाली सर्वथा एकात रूप गलत धारणाये भी कथचित् विद्यमान अवस्था को लिये हुये है वे सभी एकांत धारणाये अपने-अपने स्वरूप से विद्यमान होने से सत् रूप ही है अत उन मिथ्या धारणाओ का निषेध करना ही तो एकात का निषेध है क्योकि जैन सिद्धात मे नैयायिको के द्वारा मान्य तुच्छाभाव को तो स्वीकार नही किया गया है। अतएव एकातो के न दीखने से सर्वथा एकातो का अभाव है ऐसा हम नही मानते है प्रत्युत वस्तुभूत अनत धर्मात्मक अनेकात का ज्ञान हो जाना एकातों का अभाव है।

हमारे यहां अनेक धर्मो का जो विधान है वही एकातों का निषेध है। नैयायिक या मीमासको के समान अन्य प्रकार से अभाव का ज्ञान होना हम नही मानते है। देखिये ! जैसे सब वस्तुओ में अनेकांत की उपलब्धि होने से एकातो का नही दीखना हमे सिद्ध है। पुन. यदि किसी को भ्रमवश एकांत की कल्पना भी हो जाती है तो वह खडित कर दी जाती है उसी प्रकार से सभी पुरुषो मे सर्वज्ञ के बतलाने वाले प्रमाणो का न दीखना आपको सिद्ध नही है जिससे कि वहा सभी मे आप सर्वज्ञ का वस्तुतः निषेध कर सके। अर्थात् यदि आप इस प्रकार से निषेध करेगे तो पूर्ववत् सभी दोष पुनः आपके ऊपर लागू हो जावगे। इसी विषय पर श्लोकवार्तिकालकार मे स्वय श्री विद्यानद महोदय ने बहुत ही विस्तृत प्रकाश डाला है। जैसे कि—

"आसन् सति भविष्यति बोद्धारो विश्वदृश्वनः।
मदन्येऽपीति निर्णीतिर्यथा सर्वज्ञवादिनः ॥३२॥
किंचिज्ज्ञस्यापि तद्वन्मे तेनैवेति विनिश्चय।
इत्ययुक्तमशेषज्ञ—साधनोपाय-संभवात् ॥३३॥

[सर्वज्ञस्य साधकं निर्दोषप्रमाणमस्ति ।]

तदेवमसिद्धं ज्ञापकानुपलम्भनं सर्वज्ञस्य न बाधकमिति सिद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधक-प्रमाणत्वमेव [1]साधकम् । तथा हि । अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्प्रत्य-क्षादिवत् । प्रत्यक्षादेस्तावद्वि[2]श्वासनिबन्धनं बाधकासंभव एव सुनिश्चितः । न ततोऽपरं संवादकत्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यमदुष्टकारणजन्यत्वं वा, [3]तस्य [4]तत्रावश्यं भावादिति । प्रत्यक्षादि-प्रमाणमुदाहरणं, वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धत्वात् [1]साध्यसाधनधर्माविकलत्वात् । सुनिश्चि-

यथाहमनुमानादेः सर्वज्ञं वेद्मि तत्त्वतः ।
तथान्येऽपि नराः सन्तस्तद्बोद्धारो निरकुशा ॥३४॥"

अर्थ— सपूर्ण पदार्थो को प्रत्यक्ष जानने वाले जो सर्वज्ञ है उनको जानने वाले मुझसे अतिरिक्त दूसरे पुरुष पहले यहां हो चुके हैं, इस समय भी अन्य क्षेत्रो में सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष देखने वाले पुरुष और यहाँ पर भी आगम, अनुमान से सर्वज्ञ को जानने वाले पुरुष विद्यमान हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। इस प्रकार का निर्णय जैसे सर्वज्ञवादी को है उसी प्रकार से मुझ मीमांसक को भी यह निश्चय है कि भूतकाल में भी सभी जन अल्पज्ञ थे, अभी है और भविष्य में भी होते रहेंगे । सर्वज्ञ और सर्वज्ञ का ज्ञाता कोई भी पुरुष न हुआ है, न है और न होगा । संपूर्ण मनुष्य त्रिकाल में अल्पज्ञ अवस्था मे ही हैं और अल्पज्ञो को ही जानने वाले है इस प्रकार मे मीमासक की बात सुनकर जैनाचार्य कहते है कि भाई ! आपका कथन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रमाणभूत उपाय सभव है । देखिये ! जैसे कि मैं अनुमान, आगम आदि प्रमाणो से सर्वज्ञ को वास्तविक रूप से जान लेता हू । तथैव दूसरे विचारशील सज्जन पुरुष भी बाधक प्रमाणो मे रहित होकर उस सर्वज्ञ को जान लेते है और आज भी प्रेक्षावान्-बुद्धिमान् मनुष्य विद्यमान हैं । इसी प्रकार से आगे स्वय श्री विद्यानद स्वामी "सुनिश्चितासभवद् बाधक प्रमाण" से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे है ।

[सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण विद्यमान है]

इस प्रकार से यह ज्ञापकानुलभन हेतु सर्वज्ञ का बाधक नही है इसलिये "सुनिश्चितासभवद्बाधक-प्रमाण" हेतु ही सर्वज्ञ का साधक सिद्ध है । तथाहि—"सर्वज्ञ है क्योकि सुनिश्चितासभवद् बाधक प्रमाण है प्रत्यक्षादि के समान ।"

प्रत्यक्षादि प्रमाण में विश्वास निमित्तक बाधक का न होना ही सुनिश्चित है उससे भिन्न प्रवृत्ति-सामर्थ्य अथवा अदुष्ट कारण जन्यत्व हेतु सवादक–विश्वास निमित्तक नही है क्योकि वे सवादकत्वादि उस "सुनिश्चिनामभवद्बाधक" में अवश्यभावी है एव इस अनुमान में "प्रत्यक्षादि प्रमाण" उदाहरण है क्योकि वे वादी और प्रतिवादी दोनों को प्रसिद्ध है और साध्य-साधन धर्म से अविकल हैं— रहित नही

१ सर्वज्ञस्य २ विश्वासस्य प्रतीतेः । ३ सवादकत्वादे । ४ सुनिश्चित.सम्भवद्बाधके ।

(1) अस्तित्व ।

तासंभवद्बाधकप्रमाणश्च[1] स्यादविद्यमानश्चेति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिदं साधनं न मन्तव्यं, [2]विपक्षे बाधकसद्भावात् । तथा हि । यदसत्तन्न सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणम् । यथा मरीचिकायां तोय सम्भवद्बाधकप्रमाणं, मेरुमूर्द्धनि मोदकादिकं च [१]सन्दिग्धासंभवद्बाधकम् । सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणश्च सर्वज्ञः । इति प्रकृते सर्वज्ञे सिद्धमपि साधनं यदि सत्तां न [3]साधयेत्तदा [२]दर्शनं नादर्शनमतिशयीत[4], अनाश्वासात् स्वप्नादिविभ्रमवत्, [३]तस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्याभावे[5] सर्वत्र दर्शने दर्शनाभासे च विशेषाभावात् ।

[सर्वज्ञस्य साधकबाधकप्रमाणे स्तोऽतः सर्वज्ञस्य सद्भावे सशयोऽस्तीति मन्यमाने प्रत्युत्तर]

"[४]साधकबाधकप्रमाण[6]भावात्सर्वज्ञे संशयोस्त्वित्ययुक्तं, यस्मात्**साधक**[7]**बाधकप्रमाणयोर्निर्णयात्** [५]**भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादारेका**[8] **स्यात्*** । साधकनिर्णयात्तत्सत्तायामविप्रतिपत्ति-

---

हैं । अर्थात् अनुमान प्रयोग में दृष्टात की कोटि मे उसे ही रखा जाता है जो वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य हो एव साध्य के धर्म और साधन के धर्म से भी सहित होवे । यहां "प्रत्यक्षादिप्रमाणवत्" यह उदाहरण भी निर्दोष है । "सुनिश्चितासभवद्बाधक" प्रमाण भी होवे और अविद्यमान भी होवे इस प्रकार से यह हेतु सदिग्ध विपक्षव्यावृत्तिक है ऐसा भी नही मानना चाहिये । अर्थात् विपक्ष से व्यावृत्त होने में सदेह है ऐसा नही कहना चाहिये क्योकि विपक्ष मे बाधक का सद्भाव है । तथाहि—'जो असत् है वह सुनिश्चितासभवद् बाधक प्रमाण नही है, जैसे मरीचिका मे जल सभवद् बाधक प्रमाण है, मेरु के शिखर पर लड्डू रखे हुये है यह सदिग्धासभवद् बाधकत्व है । अर्थात् इसमे बाधा न होना सदिग्ध है और सर्वज्ञ सुनिश्चितासभवद् बाधक प्रमाण स्वरूप है । इस प्रकार से प्रकृत सर्वज्ञ में सिद्ध होता हुआ भी हेतु यदि सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध न करे तब तो प्रत्यक्ष प्रमाण अप्रत्यक्ष का उलघन नहीं कर सकेगा क्योकि उसमें कोई विश्वास नही रहेगा स्वप्नादि के भ्रान्तज्ञान के समान ।" क्योंकि वह प्रत्यक्ष सुनिश्तिासभवद् बाधक प्रमाण के अभाव मे सर्वत्र प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास मे समान ही है ।

[सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले और बाधित करने वाले दोनो ही प्रमाण पाये जाते हैं अतः सर्वज्ञ है या नहीं ? यह संशय ही बना रहेगा, ऐसी मान्यता का उत्तर]

मीमांसक—साधक और बाधक दोनो ही प्रमाणो का सद्भाव होने से सर्वज्ञ में सशय हो जावेगा ।

---

१ मेरुमूर्द्धनि मोदकादिसत्ताऽसत्तयोः साध्ययोरुभयत्रापि सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्वस्य हेतोः सभवात् । २ प्रत्यक्षम् । ३ प्रत्यक्षस्य । ४ मीमांसकाशङ्का । ५ सर्वज्ञस्य ।

(1) सर्वज्ञ । (2) असति । (30) सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व स्वसाध्य यदि न साधयेत्तदा विद्यमानमप्यविद्यमान एवेति भाव । (4) दर्शनादर्शनयोर्विश्वासनिबन्धनत्वात् (5) विश्वासनिबंधनत्वाभावस्य । (6) साधकबाधकाभावात् इति पा. (7) साधकप्रमाणस्य निर्णयोऽस्ति अन्यादौ बाधकप्रमाणस्य निर्णयोऽस्ति मरुमरीचिकाया जलमिति । (8) सशीतिर्यस्मात् ।

* मुद्रित अष्टसहस्री मे "साधक से स्यात्" पर्यंत अष्टशती नही मानी है किन्तु मुद्रित अष्टशती एव हस्तलिखित अष्टशती (दि. प्र.) तथा हस्तलिखित अष्टसहस्री ब्यावर प्रति में यह पाठ अष्टशती है ।

बाधकनिर्णयात्त्वसत्तायाम्[1] । उभयनिर्णयस्तु न संभवत्येव क्वचित्[2], [3]व्याघातात् साधक-बाधकाभावनिर्णयवत्[3] । साधकानिर्णयात्पुनः सत्तायामारेका स्याद्बाधकानिर्णयादसत्तायामिति विपश्चितामभिमतो[4] न्यायः । ततो भवभृतां प्रभौ सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं सत्तायाः साधकं सिध्यत् सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं व्यावर्त्तयत्येव, [5]विरोधात् । [6]नैवमेतत्तत्र[7] सिध्यति येन सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्वस्य व्यावर्त्तकं स्यात् । [8]ततः सिद्धो भवभृता प्रभुः सर्वज्ञ एव ।

अर्थात् सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला भी प्रमाण मौजूद है एव सर्वज्ञ के नास्तित्व को बतलाने वाला—सर्वज्ञ को बाधित करने वाला प्रमाण भी मौजूद है पुन सर्वज्ञ है या नही ? यह शका सहज ही बनी रहेगी इसका निवारण कैसे हो सकेगा ?

जैन—यह कथन भी अयुक्त है क्योकि **साधक और बाधक प्रमाण का निर्णय होने से तो सर्वज्ञ के सद्भाव और अभाव में विसंवाद है नहीं प्रत्युत इस प्रकार का निर्णय न होने से ही शका हो सकती थी*** । देखो ! सर्वज्ञ के साधक प्रमाण का निर्णय होने से तो सर्वज्ञ के अस्तित्व मे विसवाद नही है एव सर्वज्ञ के बाधक प्रमाण का निर्णय होने मे उस सर्वज्ञ के नास्तित्व मे विसवाद नही है किंतु एक साथ दोनो का निर्णय तो किसी भी वस्तु में सभव ही नही है क्योंकि साधक और बाधक दोनो का एकत्र रहना विरुद्ध है । जैसे एक ही पदार्थ मे साधक और बाधक के अभाव का निर्णय होना विरुद्ध है उसी प्रकार एक ही वस्तु में साधक एव बाधक का सद्भाव होना भी विरुद्ध है । साधक का निर्णय न होने से सर्वज्ञ की सत्ता में शका हो सकती है और बाधक का निर्णय न होने से सर्वज्ञ की असत्ता में आशका होती है, इस प्रकार से विद्वानो का न्याय ही सर्वत्र अभिमत—मान्य है । मतलब दोनो में से कोई एक ही शका हो सकती है दोनों शकाये एक साथ असभव है । इसलिये ससारी जीवो के स्वामी मे "सुनिश्चितासभवद् बाधक प्रमाण" सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करता हुआ "सुनिश्चितासभवद्साधक प्रमाण रूप हेतु" को व्यावृत्त—निराकृत ही कर देता है क्योकि दोनो का परस्पर मे विरोध है । अर्थात् जहा "सुनिश्तिासभवद् बाधक प्रमाण हेतु है वहा "सुनिश्चितासभवद्साधकत्व हेतु सभव नही है और यह सुनिश्चितासभवत् साधक" हेतु सर्वज्ञ मे सिद्ध भी नही है कि जिससे वह सुनिश्चितासभवद्बाधक प्रमाणत्व हेतु का व्यावृत्तक—निवारण करने वाला हो सके । अर्थात् हमारे इस हेतु की व्यावृत्ति नही हो सकती है ।

इस प्रकार निर्दोपत्व हेतु से ससारी जीवों का प्रभु सर्वज्ञ ही है यह बात सिद्ध हो गई ।

भावार्थ—आचार्य कहते है कि "बाधा का न होना जिसमें सम्यक् प्रकार से निश्चित है" उसे

१ वस्तुनि । २ विरोधात् । ३ यत्र साधकाभावस्तत्र बाधकसद्भाव । यत्र च बाधकाभावस्तत्र साधकसद्भावः । न त्वेकत्र साधकबाधकाभावो यथा तथा तदुभयनिर्णयोपि न । ४ सर्वत्र । ५ सुनिश्चितासभवद्बाधकत्व यत्र तत्र सुनिश्चतासभवत्साधकत्व न घटते, अन्योन्यविरोधात् । ६ सुनिश्चितासभवत्साधकप्रमाणत्वम् । ७ सर्वज्ञे । ८ निर्दोषत्वाद्धेतो ।

(4) निर्णये त्वसत्ताया इति पा. ।

[मीमासक आत्मानं ज्ञानस्वभाव न मन्यते तस्योत्तर]

न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोस्ति यन्न क्रमेत,[1] [1]तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात्* । कुतः

सुनिश्चितासभवद् बाधक प्रमाण कहते है । यदि कोई कहे कि—निर्दोष कारणो से उत्पन्न होने से या प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा विसवाद न होने से इन तीन हेतुओं से या तीनों में से किसी एक हेतु से सर्वज्ञ के सद्भाव को प्रमाणभूत सिद्ध कर सकते हो तो इस पर आचार्यो का कहना है कि हमारे यहा "बाधा का न होना जिसमें सुनिश्चित है" ऐसे निर्दोष प्रमाण से ही सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करते है । अदुष्टकारण जन्यत्व, प्रवृत्ति सामर्थ्य और विसवाद रहितत्व का हमारे यहा कोई भी महत्त्व नही है और शून्यवाद के खडन मे इनका खडन भी कर दिया गया है ।

दूसरी बात यह भी है कि जहा हमारा हेतु विपक्ष से व्यावृत्ति रूप है यह बात निस्संदेह सिद्ध है इसमें सदेह भी नही है वहा अपने आप विसवाद रहित आदि अवस्थायें आ जाती हैं क्योंकि जिसमें बाधा नही है उसमें सवादकत्व, निर्दोषकारणजन्यत्व तो स्वय ही विद्यमान है । जैसे कि वर्तमान काल के लौकिक—साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, अथवा अनुमान आदि मे बाधा का न होना सुनिश्चित होने से ही प्रमाणता मानी जाती है उसी प्रकार से हमारे यहाँ भी "सुनिश्चितासभवद्बाधकत्व" हेतु भी प्रमाणीक ही है क्योंकि सर्वत्र या कही भी क्यो न हो, बाधा का न होना जब निश्चित हो जाता है तभी वहाँ उस विषय मे विश्वास देखा जाता है किंतु जहाँ बाधा सभव है या बाधा के होने मे सदेह है वहा पर विश्वास भी नही होता है ।

इस पर मीमासक ने कहा है कि आप जैन तो सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं और हम सर्वज्ञ को बाधित करने वाला प्रमाण दे रहे है । अब दोनो मे किसकी बात सत्य समझी जावे जबकि साधक-बाधक दोनो ही प्रमाण विद्यमान है अत सर्वज्ञ के अस्तित्व को मानने में तो हमेशा ही सशय बना रहेगा ।

जैनाचार्य कहते है कि ऐसी बात भी नही है क्योकि एक सिद्धातवादी हम अथवा आप दोनो को एक साथ मानते नही है । देखो ! हम तो साधक प्रमाण से अस्तित्व सिद्ध कर देते है और आप बाधक से नास्तित्व । इसलिए आपके यहा सर्वज्ञ का अभाव है किन्तु हमारे यहा सद्भाव है, पुन सशय का होना कैसे रहा ? किसी को भी सर्वज्ञ के साधक प्रमाणो का निर्णय होगा तब वह सर्वज्ञ की सत्ता को मान लेगा और जब बाधक प्रमाण का निर्णय होगा तब वह सर्वज्ञ का अभाव कह देगा किन्तु किसी को भी सशय का प्रसग नही रहेगा । हाँ ! जिस वस्तु को कोई एक सत्य कह रहा है और उसी वस्तु को यदि कोई दूसरा असत्य कह रहा है तब तीसरा कोई आवे तो उसे संशय हो सकता है कि इन दोनो में किसकी बात सत्य है और किसकी असत्य, किन्तु सत्य और असत्य को कहने वाले दोनों में से किसी को भी सशय

१ तत्स्वभावान्तरम्=अज्ञत्वलक्षणम् ।

(1) जानीत ।

[1]पुनस्तस्याज्ञत्वलक्षणास्वभावान्तरप्रतिषेधः सिद्धो यतोसौ ज्ञस्वभाव एव स्यात् ! सर्वश्चार्थ-स्तस्य विषयः स्यात् ? ततस्त [3]क्रमेतैव ? इति चेत् [1]चोदना[3]बलाद्भूताद्य[4]शेषार्थज्ञाना-[5]न्यथानुपपत्तेः[6] । सोयं[7] चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवजातीयकमर्थ-मवगमयितुमल पुरुषविशेषानिति स्वय प्रतीयन्[8] सकलार्थज्ञानस्वभावतामात्मनो न प्रत्येतीति [2]कथं स्वस्थः ? तच्च न ज्ञानमात्मनो भिन्नमेव मीमांसकस्य कथञ्चिदभेदोपग[9]मादन्यथा[10] [11]मतान्तरप्रसङ्गात् । ततो नाज्ञस्वभावः पुरुषः क्वचिदपि[12] विषये, सर्वविषये चोदनाज्ञानो-

नहीं है क्योंकि एक तो अपनी वस्तु को सत्य मान चुका है और दूसरा असत्य मान चुका है। इसलिये **सर्वज्ञवादी और** सर्वज्ञाभाववादी सभी जनो के यहा सशय को स्थान नहीं है। अब जो सर्वज्ञ साधक प्रमाणों से निश्चित सिद्ध हो चुके है वे सर्वज्ञ भगवान् ससारी प्राणियो के स्वामी है ऐसा समझना चाहिये।

[मीमांसक आत्मा को ज्ञान स्वभाव नही मानता है उसका उत्तर]

ज्ञान स्वभाव आत्मा के कोई वस्तु अगोचर नहीं है जिसे कि वह सर्वज्ञ न जान सके क्योंकि उस सर्वज्ञ के स्वभावांतर—अज्ञत्व लक्षण का प्रतिषेध है*।

शंका—उस सर्वज्ञ के अज्ञत्व—अज्ञानावस्था लक्षण स्वभावातर का प्रतिषेध कैसे सिद्ध है कि जिससे वह ज्ञान स्वभाव ही हो सके और सभी पदार्थ उसके विषय हो सके एव उन पदार्थों को वह जान लेवे यह बात कैसे सिद्ध है ?

समाधान—यदि ऐसा कहो तो वेदवाक्य के बल से भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के सभी पदार्थो के ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति होने से आत्मा ज्ञान स्वभाव ही सिद्ध है। "वेदवाक्य ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालवर्ती विप्रकृष्ट—दूरवर्ती इसी प्रकार के पदार्थों को बतलाने में समर्थ है" इस प्रकार से आप मीमासक पुरुषविशेषों का स्वय अनुभव करते हुये तथा सपूर्ण पदार्थों को जानने के स्वभाव रूप ज्ञान स्वभाव आत्मा का ही है इस प्रकार श्रद्धा न करते हुये स्वस्थ कसे है ? अर्थात् वेदवाक्य से ही संपूर्ण त्रैकालिक पदार्थों का ज्ञान किसी जीवात्मा को होता है किन्तु आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला नही है ऐसा मानते हुये आप स्वस्थ नही है किन्तु अस्वस्थ ही है।

और वह ज्ञान आत्मा से भिन्न ही हो ऐसा नही है मीमासक के यहाँ उसमें कथचित् अभेद स्वी-कार किया गया है अन्यथा यदि आप मीमासक आत्मा से ज्ञान को सर्वथा भिन्न मानोगे तब तो यौग के मत का प्रसग आ जावेगा क्योंकि नैयायिक तो आत्मा से ज्ञान को सर्वथा भिन्न ही मानते है एवं सम-

१ सर्वज्ञस्य। २ जानीयात्। ३ जैन। ४ भविष्यद्वर्तमानादिपदेन ज्ञेयौ। ५ ज्ञस्वभावत्वाभावे। ६ आत्मा ज्ञस्वभाव एव साध्यः। ७ मीमासक.। ८ चोदना सकल जानाति, आत्मा तु न जानातीति वदन्। ९ मीमासकस्यापि। १० सर्वथा भेदे। ११ मतांन्तर यौगम्। १२ भूताद्यशेषार्थे।

(1) वेद। (2) सकलविषय ज्ञानं भवतु ज्ञानस्वभावता तु कथमात्मनः इत्युक्ते आह।

त्पत्तेर्विकल्पज्ञानोत्पत्तेर्वा[१] सर्वत्र [२]तदनुपपत्तौ [1]विधिप्रतिषेधविचाराघटनात् ।

[यदि आत्मा ज्ञानस्वभावोऽस्ति तर्हि संसारावस्थायामज्ञानादि भावो कथं दृश्यते]

[३]कथमेवं [2]कस्यचित्क्वचिदज्ञानं स्यादिति [४]चेदुच्यते । **चेतनस्य [3]सतः सम्बन्ध्यन्तरं[५] [4]मोहोदयकारणकं मदिरादिवत्॥** । [६]तत्कुतः सिद्धम् ! [७]विवादाध्यासितो जीवस्य मोहोदयः[८] सम्बन्ध्यन्तरकारणको मोहोदयत्वान्मदिराकारणकमोहोदयवदित्यनुमानात् । [5]यत्तत्सम्बन्ध्यन्तरं तदात्मनो ज्ञानावरणादि कर्मेति । **तदभावे साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वमतीतानागतवर्तमानं पश्यति प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चित्करत्वात्॥** । कथं पुनर्ज्ञानावरणादिसम्बन्ध्यन्तरस्याभावे साकल्येन विरतव्यामोहः स्याद्यतः सर्वमतीतानागतवर्त्तमानानन्तार्थ-

---

वाय से उसका सबन्ध मानते है पुनः आप मीमासक भी वैसे ही हो जाओगे । इसलिये किसी भी भूत, भविष्यत् आदि विषय में पुरुष— आत्मा अज्ञ स्वभाव वाली नही है क्योंकि सभी विषय मे वेद से ज्ञान उत्पन्न होने से अथवा विकल्प— व्याप्तिज्ञान मे ज्ञान उत्पन्न होने से व्याप्ति ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर विधि प्रतिषेध विचार ही घटित नही हो सकेगा ।

मीमांसक—इस प्रकार से तो किसी भी मनुष्य को कही पर—किसी भी विषय में अज्ञान कैसे हो सकेगा ? अर्थात् इस प्रकार से आत्मा को ज्ञान स्वभाव मान लेने पर तो सभी ससारी प्राणी पूर्णज्ञानी ही दिखने चाहिये पुन अज्ञानी क्यो दीख रहे है ?

[यदि आत्मा ज्ञान स्वभाव वाली है तब ससारावस्था मे उसके अज्ञानादि भाव कैसे दिखते हैं ?]

जैन—हम इसका स्पष्टीकरण करते हैं। सत् रूप चेतन के सम्बध्यंतर (संबंधी ज्ञानावरणादि के मध्य में अन्यतम—ज्ञानावरण कर्म) मोह के उदय के निमित्त से होता है, मदिरा आदि के समान॥ । अर्थात् ससार में जीव के साथ ज्ञानावरण कर्म और मोहनीय कर्म विद्यमान है अतएव मदिरा को पीकर उन्मत्त हुये के सदृश इस जीव का ज्ञान अल्प और विपरीत हो रहा है ।

मीमांसक—वह ज्ञानावरण कर्म कैसे सिद्ध है ?

जैन—"विवाद की कोटि मे आया हुआ जीव का मोहोदय रूप अज्ञानादि भाव ज्ञानावरण के हेतु से हुआ है क्योंकि वह मोहनीय कर्म का उदय है जैसे मदिरा के कारण मे होने वाली मोहनीय कर्म के उदयरूप मोहित अवस्था विशेष ।" इस अनुमान से वह ज्ञानावरण कर्म सिद्ध है और जो वह सबध्यतर है वह आत्मा का ज्ञानावरणादि कर्म ही है ऐसा समझना चाहिये ।

---

१ विकल्पज्ञान यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमिति व्याप्तिज्ञानम् । २ व्याप्तिज्ञानानुपपत्तौ । ३ मीमासकशङ्का । ४ जैनै. । ५ सम्बन्धिना ज्ञानावरणादीना मध्ये अन्तरमन्यतम = ज्ञानावरणमित्यर्थः । ६ मीमासक पृच्छति ।—तद् ज्ञानावरण कर्म कुत. सिध्यति । ७ इति चेदाहुराचार्या विवादेति । ८ अज्ञानाद्युदय. ।

---

(1) यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीत्यत्र प्रमाणविषये । (2) नु । (3) विद्यमानस्य । (4) ता । (5) प्रसिद्धं ।

[१]व्यञ्जनपर्यायात्मकं[1] जीवादितत्त्व साक्षात्कुर्वीनेति [2]चेदिमे[२] ब्रूमहे । [3]यद्यस्मिन् सत्येव भवति तत्तदभावे न भवत्येव । यथाग्नेरभावे धूम । सम्बन्ध्यन्तरे सत्येव भवति चात्मनो [३]व्यामोहस्तस्मात्तदभावे स न भवतीति निश्चीयते ।

उस ज्ञानावरण कर्म का अभाव हो जाने पर संपूर्ण रूप से मोहरहित पुरुष सभी अतीतानागत वर्तमान पदार्थों को देख लेता है क्योंकि उस ज्ञान में प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष दोनों ही कारण अकिंचित्कर हैं ।

मीमांसक - ज्ञानावरणादि सबध्यतर का अभाव हो जाने पर यह जीवात्मा सपूर्ण रूप से मोहरहित कैसे हो जावेगा कि जिससे यह सभी अतीतानागत वर्तमान स्वरूप अनन्त अर्थ पर्याय और अनत व्यजन पर्याय रूप जीवादि तत्त्व को साक्षात् कर सके अर्थात् यह जीव न ज्ञानावरण कर्म से रहित हो सकता है न मोह कर्म से रहित ही हो सकता है और न सम्पूर्ण पदार्थों को ही जान सकता है । मतलब मीमासक ने जीव को सर्वथा अशुद्ध ही माना है कभी भी उसे शुद्ध, कर्मरहित सिद्ध होना नही मानते है ।

जैन— यदि आप ऐसा कहे तो हम आपको बतलाते है कि जो जिसके होने पर ही होता है वह उसके अभाव में नही होता है । जैसे कि अग्नि के अभाव में धूम नही होता है क्योंकि वह धूम अग्नि के होने पर ही होता है उसी प्रकार से सबध्यतर - ज्ञानावरण कर्म के होने पर ही आत्मा मे व्यामोह—अज्ञान-भाव होता है इसलिए उस ज्ञानावरण के अभाव मे वह अज्ञान नही होता है ऐसा निश्चित हो जाता है । अर्थात् ससार अवस्था में भी जीवों के जैसे जैसे ज्ञानावरण का क्षयोपशम बढता जाता है वैसे-वैसे ही जीव में ज्ञान भी तरतमता से बढता जाता है । हम देखते है कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा दो इंद्रिय आदि मे ज्ञान वृद्धिगत हो रहा है तथैव मनुष्यों में भी तरतमता देखी जाती है और जब कारण सामग्री से पूर्णतया ज्ञानावरण का नाश हो जाता है तब पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जाता है ।

भावार्थ—जैनाचार्य कहते है कि यह ज्ञान आत्मा का स्वभाव है इसलिये ज्ञान स्वरूप आत्मा युगपत् सपूर्ण पदार्थों को जान लेता है । इस कथन पर मीमासक ने घबडा कर प्रश्न कर ही दिया कि पुन हम और आप जैसे सभी ससारी जन अज्ञानी कैसे दिख रहे है ? क्योंकि मीमासक ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नही मानता है तथा आत्मा को कभी शुद्ध होना, मुक्त होना भी नही मानता है यह सदैव आत्मा को ससारी कर्ममल, अज्ञान आदि से सहित ही मानता है एव इसका यह भी कहना है कि कोई भी आत्मा अपौरुषेय वेदवाक्यों से ही भूत भविष्यत् आदि अतींद्रिय पुण्य पाप आदि को जान सकता है । अतीन्द्रिय

१ पर्यायो द्विधार्थव्यञ्जनभेदात् । व्यञ्जन —स्थूलपर्याय । सूक्ष्म प्रतिक्षणध्वसी पर्यायश्चार्थपर्याय । २ प्रत्यक्षीभूता वयं जैना । ३ अज्ञानम् ।

(1) स्थूलो व्यजनपर्यायो वाग्गम्यो नश्वर स्थिर: । सूक्ष्म प्रतिक्षणध्वसी पर्यायश्चार्थसज्ञक: ॥ (2) प्रश्नद्वये सति । (3) आत्मनो व्यामोह: सबध्यतराभावे न भवत्येव तस्मिन् सत्येव भावात ।

[मोहरहितोपि आत्मा विप्रकृष्टपदार्थान् ज्ञातुं न शक्नोति]

[1]देशकालतः [2]प्रत्यासन्नमेव पश्येद्विरतव्यामोहोपि सर्वात्मना, न [3]पुनर्विप्रकृष्ट-

प्रत्यक्ष से नही । इस पर जैनाचार्य ने कहा कि भैया ! जब तुम वेदवाक्यो से किसी आत्मा को अतींद्रिय पदार्थों का जानने वाला मान लेते हो और पुनः आत्मा को ज्ञान स्वभाव नही मानते हो तो क्या जब आत्मा में ज्ञान नहीं हुआ है पुन· अचेतन वेदों का ज्ञान उन अचेतन वेदों को है क्या बात है ? समझ में नही आता कि आप वेदवाक्यों से किसी को सभी पदार्थों का ज्ञान होना भी मान रहे है और आत्मा के ज्ञान स्वभाव का निषेध भी कर रहे है यह बात आपकी स्वस्थावस्था को नही बताती है किंतु आपकी अस्वस्थता को ही बता रही है।

हम जैनों का तो कहना है कि ससार में प्रत्येक आत्मा के साथ ज्ञानावरण आदि कर्म लगे हुये है जो कि ज्ञान को ढक रहे है-ज्ञान पर आवरण डाल रहे है एव मोहनीय कर्म भी ज्ञान को विपरीत या सशयादि रूप से अज्ञान बना रहा है । जैसे कड़वी तू बड़ी के ससर्ग से दूध दूषित हो जाता है उसी प्रकार से आत्मा का पूर्ण शुद्ध ज्ञान स्वभाव भी मोह कर्म से अज्ञान रूप एव ज्ञानावरण से अल्पज्ञान रूप हो रहा है । यह आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला ही है तभी तो वेद या आगमवाक्यों से यह संपूर्ण त्रैकालिक सूक्ष्मादि पदार्थों को भी जान लेता है । केवलज्ञान होने के पहले आत्मा को आगम से पूर्ण श्रुतज्ञान जब हो जाता है। तब वह श्रुतज्ञान के बल से सपूर्ण पदार्थो को जानते हुये श्रुतकेवली कहलाता है यह बात हमारे यहा भी मान्य है । शायद आप श्रुतकेवली तक तो मान रहे है किंतु पूर्णज्ञानी (केवली) नही मान रहे हैं फिर भी यदि आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला न होता तब श्रुत से भी उसे ज्ञान होना असभव था जैसे कि चौकी आदि को श्रुतशास्त्र का ससर्ग होने से भी ज्ञान नही होता है अतः आपको आत्मा का ज्ञान स्वभाव मान ही लेना चाहिये।

हम जैनों के यहा तो ज्ञान को आत्मा मे अभिन्न ही माना है केवल लक्षण आदि से ही उसमें भेद स्थापित किया जा सकता है क्योंकि ज्ञान को छोड़कर तो आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नही हो सकेगा। हाँ ! ये कर्म भी अनादि काल से इस जीव के साथ सबधित है अतएव ससार में यह जीव अल्पज्ञानी आदि देखा जाता है । जब पुरुषार्थ से यह ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मों का जडमूल से विनाश कर देता है तब इस आत्मा में पूर्णज्ञान गुण प्रगट हो जाता है । मोहनीय कर्म का पूर्णतया नाश दसवें गुणस्थान में हो जाता है फिर भी ज्ञानावरण आदि कर्म के निमित्त से यह जीव ग्यारहवें, बारहवे गुणस्थान में छद्मस्थ ही कहलाता है । बारहवे गुणस्थान के अत में जब ज्ञानावरण आदि तीनों घातिया कर्मो का नाश हो जाता है तब तेरहवे गुणस्थान में पूर्णज्ञान प्रकट होकर केवली बन जाता है।

[मोह रहित भी आत्मा तीन विप्रकृष्ट पदार्थो को नही जान सकता है]

मीमांसक—मोह रहित भी पुरुष देश और काल से प्रत्यासन्न—निकटवर्ती पदार्थों को ही सपूर्णतया

१ मीमांसकशङ्का । २ समीपतामापन्नम् । ३ दूरम् ।

मित्ययुक्तं[१], प्रत्यासत्तेर्ज्ञानाकारणत्वाद्विप्रकर्षस्य चाज्ञानानिबन्धनत्वात्, [२]तद्भावेपि ज्ञानाज्ञानयोरभावान्नय[३]नतारकाञ्जनवच्चन्द्रार्कादिवच्च । योग्यतासद्भावेतराभ्यां[1] ज्ञानाज्ञानयोः क्वचिद्भावे[2] [४]योग्यतैव ज्ञानकारणं, प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चि[५]त्करत्वात् । सा पुनर्योग्यता देशतः कार्त्स्न्यतो वा व्यामोहविगमस्तत्प्रतिबन्धि[६]कर्मक्षयोपशमक्षयलक्षणः । इति साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वं पश्यत्येव । तदुक्तं—

[७]ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने[3] । दाह्येऽग्निर्दाहको न[८] स्यादसति प्रतिबन्धने[९] ।१। इति ।

देखता है, किन्तु दूरवर्ती पदार्थों को नही जान सकता है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है क्योंकि प्रत्यासत्ति—निकटता ज्ञान का कारण नही है एवं विप्रकृष्टता अज्ञान का कारण नहीं है क्योकि उन प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष के सद्भाव में भी ज्ञान और अज्ञान का अभाव है जैसे नयन तारका का अंजन और चन्द्र सूर्यादि का ज्ञान । अर्थात् नेत्र में अजन के साथ प्रत्यासत्ति—निकट संबध होने पर भी अजन का ज्ञान नही होता है, किन्तु चद्र सूर्यादि विप्रकृष्ट दूरवर्ती को भी नेत्र जान लेता है । अतः निकट सबन्धरूप प्रत्यासत्ति मे ज्ञान का कोई अविनाभाव सबध नही है और जहाँ दूरवर्ती पदार्थ हैं वहा ज्ञान न होवे ऐसा दूरवर्ती पदार्थ से ज्ञान का व्यतिरेक भी नही है ।

योग्यता के सद्भाव और अभाव से किसी भाव—पदार्थ के ज्ञान और अज्ञान मे ज्ञानावरण के विशेष अभाव रूप योग्यता ही ज्ञान का कारण है क्योंकि प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष दोनो अकिंचित्कर ही हैं । अर्थात् प्रत्यासत्ति के अभाव में विप्रकर्ष का सद्भाव होने पर भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और निकटवर्ती का ज्ञान नही भी होता है अतः ये दोनों बाते अकिंचित्कर है ।

वह योग्यता एक देश से अथवा सपूर्ण रूप से मोह के अभाव रूप और आत्मा के प्रतिबधी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम और क्षय लक्षण रूप है । इस प्रकार से सम्पूर्ण रूप से मोह रहित पुरुष सभी को देखते ही है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—प्रतिबधक कर्म के न होने पर सर्वज्ञ भगवान् ज्ञेय पदार्थों को जानने में अज्ञानी कैसे रहेंगे ? मणि मत्रादि प्रतिबधक—रुकावट डालने वाले कारणो के न होने पर भी अग्नि दाह्य—जलने योग्य पदार्थ को जलाती नही है क्या ? अपितु जलाती हुई ही देखी जाती है ।

भावार्थ—मीमासक का कहना है कि किसी आत्मा के मोह और ज्ञानावरण कर्म का भले ही नाश हो जावे किंतु वह आत्मा सूक्ष्म, अतरित और दूरवर्ती सभी पदार्थों को कैसे जानेगा ? क्योंकि किसी

---

१ जैन । २ तयो =प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयो । ३ नयनतारकाया अञ्जनेन सह प्रत्यासत्तावपि न ज्ञानोदयोऽञ्जनस्य । चन्द्रार्कादीँस्तु विप्रकृष्टानपि जानाति नयनतारका यथा । ४ ज्ञानावरणविशेषाभावरूपा । ५ प्रत्यासत्त्यभावे विप्रकर्षसद्भावेपि ज्ञानोत्पादात् । ६ ता । ७ सर्वज्ञ । ८ कथ न स्यादपि तु स्यादेव । ९ मणिमन्त्रादौ । 'प्रतिबद्धरि' इत्यपि पाठः ।

(1) योग्यता सद्भावे । का द्वि: । (2) वस्तुनि । (3) प्रतिबद्धरि इति पा. ।

[सर्वज्ञभगवतो ज्ञानमिंद्रियानपेक्षमतीद्रियमस्त्येव]

अत [1]एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकाऽनपेक्षा* । अत एव । कुत एव ? [1]साकल्येन विरतव्यामोहत्वादेव सर्वदर्शनादेव वा । यो हि देशतो विरतव्यामोहः किञ्चिदेवास्फुटं पश्यति वा तस्यैवाक्षापेक्षा लक्ष्यते न पुनस्तद्विलक्षणस्य प्रक्षीणसकलव्यामोहस्य सर्वदर्शिनः, [2]सर्वज्ञत्वविरोधात् । न हि सर्वार्थैः सकृदक्षसम्बन्धः संभवति साक्षात्परम्परया वा[2]।

को ज्ञान निकटवर्ती पदार्थों का ही होता हुआ देखा जाता है । तब आचार्य ने कहा कि भाई ! निकटवर्ती पदार्थों से ज्ञान का अन्वय एवं दूरवर्ती पदार्थों से ज्ञान का व्यतिरेक नही है मतलब पदार्थ निकटवर्ती होवे तभी उनका ज्ञान होवे, वे दूरती होवे तो उनका ज्ञान नही होवे ऐसा कोई नियम नही है । देखो ! निकटवर्ती आख में लगे हुए अजन का ही उस आख को ज्ञान नही हुआ है और दूरवर्ती सूर्य—चद्र दिख गये । इसलिये ज्ञान के होने मे मुख्य कारण है ज्ञानावरण का क्षयोपशम अथवा क्षय । इसी का नाम योग्यता है । आप शास्त्र में जो प्रकरण पढ़ रहे है यदि उसमें से एक पक्ति के विषय में ज्ञानावरण का क्षयोपशम नही है तो आपको उसका अर्थ नही समझेगा । यदि क्षयोपशम हो गया है तो अर्थ बिना बताये भी समझ मे आ जावेगा और जब पूर्णतया ज्ञानावरण का अभाव ही हो जाता है तब यह आत्मा सपूर्ण लोकालोक को युगपत् अवलोकित कर लेता है ।

[सर्वज्ञ भगवान् का ज्ञान इन्द्रियो की सहायता से रहित अतीन्द्रिय है]

अतएव सर्वज्ञ भगवान् को इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है जैसे अञ्जनादि से संस्कृत चक्षु को आलोक—प्रकाश की अपेक्षा नहीं है* । इसी हेतु से वे सर्वज्ञ है ।

शंका—किस हेतु से ?

जैन—सम्पूर्णतया मोह से रहित हो जाने से ही, अथवा सर्वदर्शी होने से ही वे सर्वज्ञ हैं क्योंकि जो एक देश से मोहरहित है अथवा कुछ अस्पष्ट को ही देखता है उसको ही इन्द्रियो की अपेक्षा देखी जाती है, किंतु उससे विलक्षण संपूर्ण मोह से रहित सर्वदर्शी को इद्रियों की अपेक्षा नही है अन्यथा इंद्रियों की अपेक्षा मानने पर तो सर्वज्ञ पने का ही विरोध हो जावेगा क्योंकि सभी पदार्थों के साथ युगपत् इद्रिय का सबंध साक्षात् अथवा परपरा से सभव नही है ।

भावार्थ—"सर्वज्ञ भगवान् को इद्रियों की अपेक्षा से रहित अतीन्द्रियज्ञान है क्योंकि वे सपूर्णतया मोह से रहित है अथवा सर्वदर्शी है ।" इस प्रकार से जैनाचार्यों ने सर्वज्ञ भगवान् को अतीन्द्रियज्ञानी सिद्ध करने के लिये दो हेतु दिये हैं क्योकि जिनके एक देश रूप से मोह का अभाव हुआ है और जिनका ज्ञान अविशद—अस्पष्ट है उनका ज्ञान इद्रियों की सहायता अवश्य रखता है । ये इद्रियो की सहायता लेने वाले मति और श्रुत रूप दो ज्ञान प्रसिद्ध हैं, जिन्हे सिद्धान्तशास्त्रों में परोक्ष कहा है और यहां न्यायशास्त्रों

१ अर्हत्प्रत्यक्षस्य । २ अन्यथा (अक्षापेक्षत्वे) ।

(1) अर्हतः प्रत्यक्षमक्षानपेक्ष (2) नयनघटयोः साक्षात्तद्गतरूपनयनयोः सबधः परंपरया सयुक्तसमवेतत्वात् ।

[1]ननु चावधिमनःपर्ययज्ञानिनोर्देशतो विरतव्यामोहयोरसर्वदर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा संलक्षणीया ? [2]तदावरणक्षयोपशमातिशयवशात्स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूमः । न [3]चैवं [1]साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य[2] वानैकान्तिकत्वं शङ्कनीयं, विपक्षेक्षापेक्षे मतिश्रुतज्ञाने [4]तदसंभवात् । अवधिमनःपर्ययज्ञाने तदसंभवात् [5]पक्षाव्यापकत्वादहेतुत्वमिति चेन्न,

में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह दिया है। इन्द्रियज्ञान से कोई भी सर्वज्ञ इसलिये नही बन सकता है कि इंन्द्रियां वर्तमान कालीन सीमित और रूपी पदार्थों को ही ग्रहण कर सकती है। इसी विषय में राजवार्तिक ग्रथराज में श्री अकलक देव ने बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। यथा—

"इन्द्रियनिमित्त ज्ञान प्रत्यक्षं, तद्विपरीत परोक्षं, इत्यविसवादिलक्षणमिति चेत्, न; आप्तस्य प्रत्यक्षाभाव प्रसगात्" अर्थात् कोई कहता है कि "इन्द्रियव्यापार जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और इन्द्रिय व्यापार की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान को परोक्ष कहना चाहिये। सभी वादी प्राय इसमें एकमत है।" इस आशका पर जैनाचार्य समाधान करते है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने से आप्त—सर्वज्ञ को प्रत्यक्षज्ञान नही हो सकेगा, सर्वज्ञता का लोप हो जायेगा क्योकि सर्वज्ञ को इन्द्रिय जन्य ज्ञान नही होता है। आगम से अतीद्रिय पदार्थो का ज्ञान मानकर सर्वज्ञता का समर्थन करना तो युक्ति युक्त नही है, क्योंकि आगम वीतराग, प्रत्यक्षदर्शी पुरुष के द्वारा प्रणीत होता है। जब अतीद्रिय प्रत्यक्ष सिद्ध नही है तब अतीद्रिय पदार्थो मे आगम का ज्ञान प्रमाणीक कैसे बन सकेगा ? आगम अपौरुषेय है यह बात तो असिद्ध ही है क्योकि पुरुष प्रयत्न के बिना उत्पन्न हुआ कोई भी विधायक शब्द प्रमाण नही है। अतः हिसादि का विधान करने वाला वेद प्रमाण नही हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतीद्रिय है, इद्रियजन्य नही है।

शंका—पुनः एक देश मोहरहित, असर्वदर्शी, अवधिज्ञानी और मनःपर्यय ज्ञानियों को इद्रियों की अपेक्षा नहीं है यह बात कैसे जानी जाती है ? अर्थात् सिद्धांत में अवधि-मनःपर्यय ज्ञान को अतीद्रिय कहा है यह कैसे बनेगा ?

समाधान—उन उन—अवधि ज्ञानावरण और मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अतिशय के निमित्त से ये दोनो ही ज्ञान अपने-अपने विषय में प्रस्फुट—स्पष्ट है ऐसा हम मानते है। इस प्रकार से संपूर्णतया मोहरहित हेतु अथवा सर्वदर्शी हेतु अनैकातिक हो जाता है ऐसी भी आशका नही करना क्योकि इंद्रियों की अपेक्षा रखने वाले मति श्रुतज्ञान विपक्ष है उन दोनों ज्ञानों मे ये दोनो हेतु असभवी हैं।

१ परः । २ सिद्धान्ती । ३ साकल्येन विरतव्यामोहत्वसर्वदर्शनाभ्यां विनापि अवधिमनः—पर्ययोरक्षानपेक्षत्वप्रकारेण । ४ तस्य=विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः । ५ अवधिमनःपर्यययोरपि पक्षान्तर्भाव ज्ञात्वा साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः पक्षाव्यापकत्व नाम हेत्वाभासत्व दोषं समर्थयति परः ।

(1) देशतो विरतव्यामोहत्वस्याक्षानपेक्षत्वव्यभिचारीप्रकारेण (2) हेतोः ।

सकलप्रत्यक्षस्यैव पक्षत्ववचनात्, तत्र चास्य हेतोः सद्भावात्, विकलप्रत्यक्षस्यावधिमनःपर्यया-ख्यस्यापक्षीकरणात् । न चास्मदादिप्रत्यक्षेक्षापेक्षोपलक्षणात्सकल[1]वित्प्रत्यक्षेपि सास्त्ये-

शंका—ये दोनों हेतु अवधि और मनःपर्यय ज्ञान में असभव हैं अतः ये हेतु पक्ष में अव्यापक होने से अहेतु है। अर्थात् अवधि और मनःपर्यय ज्ञान अतीद्रिय प्रत्यक्ष तो हैं परन्तु आपके संपूर्णतया मोह से रहित होना और सर्वदर्शी होना रूप दोनों हेतु इन ज्ञानों में नही रहने से ये दोनों हेतु अहेतु है।

समाधान—ऐसा भी नही कहना क्योंकि सकल प्रत्यक्ष को ही हमने पक्ष बनाया है और वहां पर उन हेतुओं का सद्भाव है। विकल प्रत्यक्षरूप अवधि मन.पर्यय को हमने पक्ष में नही लिया है।

विशेषार्थ—शकाकार का अभिप्राय यह है कि अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इंद्रियों की अपेक्षा न रखने से अतीद्रिय प्रत्यक्ष हैं फिर भी इनके धारक अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी सर्वज्ञ क्यो नही कहलाते है और यदि आप इन्हे सर्वज्ञ, प्रत्यक्षदर्शी नही मानते हो तब तो इनके ज्ञान को आप इद्रियजन्य कहिये। इस पर आचार्य कहते हैं कि ये दोनों ही ज्ञान अवधिज्ञानावरण और मन पर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोप-शम विशेष की अपेक्षा रख कर आत्मा से ही उत्पन्न होते है इनमें इद्रियों की सहायता नही है अतः ये ज्ञान अतीद्रिय है फिर भी इनके धारक सर्वज्ञ नही होते हैं क्योंकि इनमें ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम कारण है न कि क्षय।

दूसरी बात यह भी है कि अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी जीवो के मोह कर्म का पूर्णतया नाश नही हुआ है एक देश ही अभाव हुआ है और ये सर्वदर्शी भी नही है सीमित पदार्थों को ही देखने वाले है। इन दोनो ज्ञानों को प्रत्यक्ष इसलिये कहा है कि ये अपने विषय का स्पष्ट ज्ञान करते है एव अतीद्रिय इसलिये हैं कि ये इद्रियो की सहायता के बिना ही उत्पन्न होते है। एव "साकल्येन विरतव्यामोहत्वात्" और "सर्वदर्शनात्" ये दोनो हेतु व्यभिचारी भी नही है क्योकि विपक्ष रूप इद्रिय जन्य परोक्ष मति, श्रुतज्ञान में ये दोनो हेतु नही पाये जाते है।

किसी ने कहा कि भले ही आपके हेतु व्यभिचारी न हो सके किंतु पक्ष में पूणतया व्याप्त न होने से अव्यापक रूप से अहेतु अवश्य है क्योंकि आप जैनों ने अवधि, मनःपर्ययज्ञान को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अव-श्य माना है किन्तु उनमें पूर्णतया मोह का अभाव और सर्वदर्शीपना नही है। इस आशका पर जैनाचार्यों ने कहा कि भाई ! हमने पक्ष में सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान को ही लिया है। इन विकल प्रत्यक्ष रूप दोनो ज्ञानों को पक्ष मे नही लिया है अत. हमारे हेतु अहेतु नही है। अर्थात् प्रत्यक्ष के दो भेद हैं सकल और विकल। सर्वज्ञ भगवान के सकल प्रत्यक्ष पाया जाता है अतः उसी को यहा पक्ष में लिया गया है। अन्यत्र न्यायदीपिका में दूसरी भी शंका देखी जाती है—

कोई कहता है कि केवलज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहना ठीक है किंतु अवधि और मनःपर्यय को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहना ठीक नहीं है क्योंकि ये दोनों एक देश प्रत्यक्ष हैं। इस पर आचार्यों का

(1) केवलज्ञानस्य।

वेति वक्तुं शक्यम्[1], अञ्जनादिभिरसंस्कृतचक्षुषोऽस्मदादेरालोकापेक्षोपलक्षणात्[1] तत्संस्कृत-चक्षुषोपि कस्यचिदालोकापेक्षाप्रसङ्गात्[2]। [3]नक्तञ्चराणामालोकापायेपि स्पष्टरूपावलोकन-प्रसिद्धेर्नालोको नियतं कारणं [4]प्रत्यक्षस्येति चेत्तर्हि सत्यस्वप्नज्ञानस्ये[2]क्षणिकादिज्ञानस्य च स्पष्टस्य चक्षुराद्यनपेक्षस्य प्रसिद्धेरक्षमपि नियतं प्रत्यक्षकारणं मा भूत्। ततो यथाञ्जना-दिसंस्कृतचक्षुषामालोकानपेक्षा स्फुट रूपेक्षणे तथा साकल्येन विरतव्यामोहस्य सर्वसाक्षात्कर-णेऽक्षानपेक्षा। इतिकरणक्रमव्यवधानातिवर्तिसकलप्रत्यक्षो [5]भवभृता[3] गुरुः प्रसिध्यत्येव।

कहना है कि सकलपना और विकलपना यहा विषय की अपेक्षा से है स्वरूप की अपेक्षा से नही है क्योकि केवलज्ञान संपूर्ण द्रव्यों और पर्यायों को विषय करने वाला होने से सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है, किंतु अवधि और मन पर्यय कुछ पदार्थों को विषय करते है इसलिये वे विकल प्रत्यक्ष कहे जाते है, परन्तु इतने मात्र से इन दोनो ज्ञानो मे पारमार्थिकता की हानि नही होती है, क्योंकि पारमार्थिकता का कारण सकल पदार्थों को विषय करना नही है अपितु पूर्ण निर्मलता है और वह पूर्ण निर्मलता – स्पष्टता केवल ज्ञान के समान अवधि, मनःपर्यय में भी विद्यमान है अतः ये दोनो ज्ञान पारमार्थिक ही है।

निष्कर्ष यह निकला कि ये दोनो ज्ञान अतीन्द्रिय होकर भी सकलप्रत्यक्ष नही है विकलप्रत्यक्ष हैं इसलिये सर्वज्ञ के ज्ञान को पक्ष बनाने मे ये दोनो ज्ञान नही आते है।

शंका—हम लोगो के प्रत्यक्ष में इंद्रियों की अपेक्षा देखी जाती है अतः सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष में भी वह अपेक्षा होनी ही चाहिये।

समाधान—आपका ऐसा कहना भी शक्य नही है, अन्यथा अञ्जनादि से सस्कृत नही हुये हम लोगों के नेत्र प्रकाश की अपेक्षा रखते है पुन. किसी के अञ्जनादि से सस्कृत नेत्र भी प्रकाश की अपेक्षा रखने लग जावेगे तब अजन गुटिका आदि विद्याओ का क्या महत्व रहेगा ?

शंका—नक्तचर—उल्लू, बिल्ली आदि जीवों का प्रकाश के अभाव में भी स्पष्टतया, रूप—पदार्थ का देखना प्रसिद्ध है इसलिए प्रकाश प्रत्यक्ष के लिये निश्चित कारण नही है।

जैन— तब तो सच्चे स्वप्न का ज्ञान और ईक्षणिकादि ज्ञान चक्षु आदि इंद्रियों की अपेक्षा न करके ही स्पष्ट प्रसिद्ध है अतः इंद्रिया भी प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये निश्चित कारण न होवें क्या बाधा है ? इसलिये जैसे अजनादि से सस्कृत चक्षु को स्पष्टतया रूप को देखने मे प्रकाश की अपेक्षा नही है उसी प्रकार से सम्पूर्ण तया मोह रहित पुरुष को सभी का साक्षात्कार करने में इन्द्रियो की अपेक्षा नही है।

इस प्रकार इन्द्रियों से क्रम से, और व्यवधान से रहित सकलप्रत्यक्षज्ञानी ससारी जीवों के गुरु प्रसिद्ध ही है।

१ परेण २ ईक्षणिका—द्व्यक्षरा शाकिनी ग्राह्या (?)। ३ भवेतामिति पाठान्तरम्।

(1) परिज्ञानात्। (2) तथा लोके नास्ति। (3) जैनेनानिष्टापादानमकारि तत्परिहारमिति मीमांसकः नक्तञ्चरेत्या-दिना। (4) किंत्विद्रियमेव। (5) प्राणिना—भवभृता।

विशेषार्थ—किसी का कहना है कि हम लोगों का ज्ञान इन्द्रियों की अपेक्षा से ही होता है अतः सर्वज्ञ का ज्ञान भी वैसा ही होना चाहिये क्योंकि जैसे हम मनुष्य हैं वैसे ही सर्वज्ञ भी तो मनुष्य ही हैं। इस पर आचार्य कहते है कि भाई ! किसी को अजन गुटिका सिद्ध है उसने उसे आंख मे लगा लिया तो उसे अधेरे में भी दिखने लगता है परन्तु हम और आपको तो अधेरे में नही दीखता है। आपके कथनानुसार अंजनगुटिका सिद्धि वाले को भी अधेरे में नही दिखना चाहिये। तब वह झट बोल पडा कि अधेरे में तो उल्लू बिल्ली आदि को भी दीख जाता है अतः प्रकाश और अधेरा ज्ञान और अज्ञान में नियम रूप से कारण नही हैं। तब आचार्य कहते है कि किसी को स्वप्न में सम्मेदशिखर का पर्वत ज्यों का त्यों दीख गया, आचार्य शांतिसागर जी महाराज के दर्शन हो गये। इस सत्य स्वप्न में इन्द्रियो की अपेक्षा तो नहीं है फिर भी स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान है अतः इन्द्रियो से ही प्रत्यक्ष ज्ञान हो, यह नियम नही रहा। देखिये ! अजन आदि से संस्कृत आंखे स्पष्टतया अंधेरे में भी सब वस्तुये देख लेती है उसी प्रकार से मोहकर्म, ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन घातिया कर्मो का नाश हो जाने से अर्हंतभगवान् के केवलज्ञान आदि नव-लब्धिया प्रगट हो जाती है अत. केवलज्ञान में न इन्द्रियो की सहायता है न क्रम-क्रम से होना है क्योंकि केवल ज्ञान और दर्शन दोनो ही युगपत् एक समय में सारे पदार्थों को जान लेते है। अतः इस ज्ञान में व्यवधान– अतर भी नही पड़ता है। ऐसे इन्द्रिय से, क्रम और अतर से रहित केवलज्ञानी भगवान् ही ससारी जीवों के गुरु हैं, स्वामी है अतएव सभी के नाथ, तीन लोक के नाथ कहलाते है।

सर्वज्ञ के अतींद्रिय ज्ञान की सिद्धि का सारांश

मीमासक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादी सामान्य से भी सर्वज्ञ को नही मानते हैं एवं सौगत, सांख्य, वैशेषिक आदि सर्वज्ञ विशेष को नही मानते है।

सवेदनाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी और शब्दाद्वैतवादी ये एक प्रमाणवादी तीर्थच्छेद सप्रदाय वाले है वैसे ही चार्वाक भी प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण मानने वाले तीर्थच्छेद सप्रदाय मानने वाले है क्योंकि ये सभी परमागम सप्रदाय का निराकरण करने वाले है।

जैसे कपिल, बौद्ध आदि अनेक प्रमाणवादी तीर्थच्छेद सप्रदाय वाले है तथैव तत्त्वोपप्लववादी भी "न एकः प्रमाण—अनेकः प्रमाण" के अनुसार अनेक प्रमाणवादी हो गए तथा सभी के आप्त, आगम और वस्तु समूह को स्वीकार करने की इच्छा रखते हुए अनेक प्रमाणवादी वैनयिक तीर्थच्छेद सप्रदायवादी है क्योंकि ये सभी परस्पर विरूद्ध कथन करने वाले है।

अद्वैतवादियों के यहा स्वपक्षसाधन परपक्षदूषण वचन भी अद्वैत के विरूद्ध हैं यदि सवृत्ति से या अविद्या से कहो तो अद्वैत भी कल्पित ही सिद्ध होता है । चार्वाक के यहां प्रत्यक्षएक प्रमाण से ही परलोक पुण्य-पापादि का विरोध आ जाता है तथा कपिल, वैशेषिक, नैयायिक, प्रभाकर आदि अनेक प्रमाण मानकर भी तर्क प्रमाण नही मानते हैं अतएव तर्क के बिना प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान आदि साध्य साधन की व्याप्ति को ग्रहण नही कर सकते है । वैनयिक, सुगत, साख्य आदि इन सबमें परस्पर में विरोध होने से इनमें से कोई भी आप्त नही हो सकता है । तथाहि "तीर्थच्छेद सप्रदाय वाले एकातवादी निरावरण ज्ञानधारी नही है क्योकि वे अविशिष्ट वचन, इद्रियज्ञान, और इच्छादि से सहित हैं अथवा सामान्य पुरुष आदि है जैसे—रथ्या पुरुष ।"

किंतु हमारे सर्वज्ञ अविशिष्ट वचनादिमान् या अविशिष्ट पुरुष नही है क्योंकि वे सर्वज्ञ युक्ति और शास्त्र से अविरोधि वचन वाले हैं इंद्रियों के क्रम व्यवधान से रहित हैं तथा इच्छा से भी रहित है अतः कः —परमात्मा चित्-चैतन्य पुरुष ही आवरण का नाश हो जाने से ससारी प्राणियो के गुरु है "क. परमात्मा परा आत्यतिकी, मा—लक्ष्मीर्यस्येति" कः-परमात्मा ही चित् सर्वज्ञ है ।

मीमांसक—पदार्थो को जानने वाला परमात्मा अतीद्रिय ज्ञानी नही हो सकता है क्योकि अतीद्रिय ज्ञानी हमे कोई उपलब्ध नही होता है तथा इद्रियों के द्वारा धर्माधर्मादि सभी पदार्थ जाने नही जा सकते अतएव कोई भी सर्वज्ञ नही है "सम्बद्ध वर्तमान च गृह्यते चक्षुरादिभिः"इसलिये भूत और भविष्यत् कालीन पदार्थ के ज्ञान का अभाव होने से कोई भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं है । अनुमानादि से भी सर्वज्ञ का ज्ञान नही हो सकता है । आगम भी अनादि है अत आदिमान् सर्वज्ञ को कैसे कहेगा ? यदि अनित्य आगम माने तो वह अल्पज्ञ प्रणीत होने से अप्रमाण है एव सर्वज्ञ प्रणीत कहो तो परस्पराश्रय दोष दुर्निवार है । सर्वज्ञ के सदृश कोई न होने से उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञ ग्राहक नही है तथा अर्थापत्ति से भी वह ग्रहण नही होगा अतएव सत्ता को ग्रहण करने वाले पाचो प्रमाणों का विषय न होने से वह सर्वज्ञ अभाव प्रमाण का ही विषय है । अत सर्वज्ञ को ग्रहण करने वाला कोई भी प्रत्यक्षादि प्रमाण नही है ।

जैन—यह कथन बिना मीमासा के ही है । लब्धि और उपयोग के सस्कारो का अर्थात्"लब्ध्युपयोगी भावेन्द्रियम्" से भावेन्द्रिय सस्कार रूप क्षयोपशम ज्ञान का नाश हो जाने से सर्वज्ञ होता है ।

तथा द्रव्येद्रिया तो अंगोपाग नाम कर्म की रचना विशेष है । वे आवरण निमित्तक नही है अतः पूर्णतया ज्ञानावरण, दर्शनावरण के क्षय हो जाने से पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ सिद्ध है वह आगम एवं "सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाण" से सिद्ध है । आप सर्वज्ञ को अभाव प्रमाण से कैसे निषेध करेंगे क्योंकि

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिन ।
मानस नास्तिता ज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ।।"

जब कोई मनुष्य सभी मनुष्यों को जान लेवे पुनः सर्वज्ञ के ज्ञापक काल का स्मरण करके मन में "सर्वत्र सर्वज्ञ नही है" ऐसा ज्ञान करे तब उसका अभाव कहेगा पुनः वह सभी को जान लेने से स्वय ही

[पूर्वोक्तकारिकात्रयकथितहेतुभिर्भगवान् महान् नास्ति, प्रत्युत दोषावरणरहितत्वादेव महान्]

उत्थानिका—

[1]यतश्चासौ न देवागमादिविभूतिमत्त्वादध्यात्मं बहिरपि दिव्यसत्यविग्रहादिमहोदयाश्रयत्वाद्वा महान्, नापि तीर्थकृत्त्वमात्रात्, [2]यतश्च तीर्थच्छेदसम्प्रदायोपि वैदिको नियोगभाव-

सर्वज्ञ बन जाता है तब उसका निषेध कैसे करेगा ? तथा आवरण निमित्तक भावेन्द्रियों के नाश हो जाने से अतीन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है जो कि भूत, भावी सूक्ष्मादि पदार्थों को ग्रहण करने में युगपत ही समर्थ है। यदि आप कहो कि अज्ञान का कारण क्या है ? तो ज्ञानावरण कर्म है एव ज्ञानावरणादि के कारण मोहनीय आदि कर्मों का उदय है। सपूर्णतया मोह से रहित पुरुष पूर्ण ज्ञानी हो सकते है अत: सर्वज्ञ भगवान् को इन्द्रियादिकों की अपेक्षा नही है क्योंकि वे सपूर्णतया मोह से रहित है अथवा सर्वदर्शी है। जैसे अजनादि से सस्कृत चक्षु प्रकाशादि की अपेक्षा नही रखते है एक देश मोह से रहित, असर्वदर्शी, अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी अपने-अपने आवरण के क्षयोपशम से अपने-अपने विषय को स्पष्ट जानते है अत. हमारा हेतु सर्वमोह रहित, सर्वदर्शी उनमे अनैकातिक नही है क्योंकि यहा सकल प्रत्यक्ष की विवक्षा है। अत: इन्द्रिय और क्रम के व्यवधान से रहित सकल प्रत्यक्षज्ञानी ससारी जीवों के गुरु प्रसिद्ध ही है जो कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी है ऐसा समझना चाहिये।

[पूर्वोक्त तीन कारिकाओ मे कथित तीन हेतुओ से भगवान् महान् नही है किंतु दोष और आवरण से रहित होने से ही भगवान् महान् हैं]

हे भगवन् ! देवागमादि विभूतिमान् होने से अथवा अध्यात्म और बहिरग दिव्य, सत्य विग्रहादि महोदय के आश्रयीभूत होने से भी आप महान् नहीं है एव तीर्थकृत्व मात्र से भी आप महान् नही हैं क्योंकि तीर्थ के उच्छेदक—विनाशक सप्रदाय वाले भी वैदिक जन के नियोग, भावना आदि सप्रदाय सवादक (प्रमाणभूत) नही है। अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण वाले चार्वाक या तत्त्वोपप्लववादी (शून्यवादी)

(1) कारणात्। (2) कारणात्।

नादिसम्प्रदायो न संवादकः[१] प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिसम्प्रदायस्तत्त्वोपप्लववादिसम्प्रदायो वा सर्वाप्तवादो[२] वा न प्रमाणभूतो व्यवतिष्ठते, ततः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणो भगवन् [३]भवानेव भवभृतां [४]प्रभुरात्यन्तिकदोषावरणहान्या साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थत्वेन च मुनिभिः [(1)]सूत्रकारादिभिरभिष्टूयते। इति समन्तभद्राचार्यैर्निरूपिते सति कुतस्तावदात्यन्तिकी दोषावरणहानिर्मयि[५] विनिश्चितेति भगवता पर्यनुयुक्ता इवाचार्याः प्राहुः।—

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्[६]।
[७]क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

[(2)]दोषावरण[८]सामान्ययोर्हानिः [९]प्रसिद्धत्वाद्धर्मित्वं न विरुध्यते। तत्प्रसिद्धिः पुनरस्मदादिषु देशतो निर्दोषत्वस्य ज्ञानादेश्च [१०]कार्यस्य निश्चयाद्भवत्येव, अन्यथा तदनुपपत्तेः। सा

सम्प्रदाय वाले या सभी को आप्त मानने वाले वैनयिक मतानुयायी जन प्रमाणभूत नहीं हैं। इसीलिये सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमें ऐसे हे भगवन्! आप ही संसारी जीवों के स्वामी हैं क्योंकि अत्यन्त रूप से दोष एवं आवरण की हानि होने से तथा साक्षात् अशेष तत्त्वों के ज्ञाता होने से सूत्रकार आदि मुनि पुंगवों द्वारा आपकी ही स्तुति की जाती है। इस प्रकार श्री समंतभद्र आचार्य के द्वारा निरूपण करने पर आपने मुझमें किस प्रकार से दोषावरण की हानि आत्यंतिक रूप से निश्चित की है। इस प्रकार से भगवान् के द्वारा प्रश्न किये जाने पर ही मानों आचार्य कहते हैं—

कारिकार्थ— किसी जीव में दोष और आवरण की हानि परिपूर्ण रूप से हो सकती है क्योंकि अन्यत्र उसका अतिशयपना पाया जाता है। जिस प्रकार से अपने हेतुओं के द्वारा कनकपाषाणादि में बाह्य एवं अंतरंग मल का पूर्णतया अभाव पाया जाता है ॥४॥

दोष सामान्य एवं आवरण सामान्य की हानि प्रसिद्ध है अतः इस अनुमान में "धर्मी" असिद्ध नहीं है। उसकी प्रसिद्धि हम लोगों में एक देश रूप निर्दोषपना और ज्ञानादि रूप कार्य के निश्चित होने से होती है अन्यथा दोष, आवरण की हानि के अभाव में हम लोगों में कुछ-कुछ अंशों में निर्दोषता एवं क्षयोपशम जन्य कुछ ज्ञान की प्रकटता रूप कार्य नहीं हो सकेगा और वह हानि किसी न किसी जीव

१ प्रमाणभूतः। २ सर्वे आप्ता इति वादो यस्य स सर्वाप्तवादो वैनयिकः। ३ वर्द्धमान.। ४ अन्तमतिक्रान्त कालोऽत्यन्त.। तस्मै प्रभवतीति आत्यन्तिकी, यस्या हानेः पुनर्नाशो न विद्यते तथेत्यर्थः। ५ अर्हति। ६ तरतमभावेन हीयमानत्वात्। ७ क्वचिच्छब्दः पूर्वार्द्धेपि सम्बन्धनीयः। क्वचिच्छब्देन कनकोपलो दृष्टान्ते अर्हश्च दार्ष्टान्ते ग्राह्यः। ८ दोषसामान्यमावरणसामान्यं च तयोः। ९ प्रसिद्धो धर्मीति वचनात्। १० दोषावरणयोर्हानिरभावे निर्दोषत्वं ज्ञानादि कार्यं च नोपपद्यते।

(1) उमास्वातिपादैः। (2) दोषः—भावकर्म। आवरणं—द्रव्यकर्म।

[1]क्वचिन्निश्शेषास्तीति [१]साध्यते, वादिप्रतिवादिनोरत्र[२] विप्रतिपत्ते । [2]अतिशायनादिति हेतुः । क्वचित्कनकपाषाणादौ किट्टकालिकादिबहिरन्तर्मलक्षयो यथेति दृष्टान्तः, [३]प्रसिद्धत्वात् । स हि कनकपाषाणादौ [४]प्रकृष्यमाणो दृष्टो निश्शेष. । तद्वद्दोषावरणहानिरपि प्रकृष्यमाणाऽस्मदादिषु प्रतीता सती क्वचिन्निश्शेषाऽस्तीति सिद्ध्यति । [3]कः पुनर्दोषो नामावरणाद्भिन्नस्वभाव इति चेदुच्यते[५] । [६]**वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः [७]स्वपर[4]परिणामहेतु.***[5] । न हि दोष एवावरणमिति प्रतिपादने [6]कारिकाया दोषावरणयोरिति द्विवचनं [८]समर्थम् । ततस्तत्सामर्थ्यादावरणात्पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्नस्वभाव एवाज्ञानादिर्दोषोऽभ्यूह्यते । तद्धेतुः पुनरावरण कर्म जीवस्य[९] पूर्वस्वपरिणामश्च ।

विशेष मे परिपूर्ण रूप से है यह यहा साध्य है । क्योकि परिपूर्ण हानिरूप साध्य मे वादी और प्रतिवादी दोनो को विवाद है अत यह साध्य की कोटि में रखा गया है । सभी में हानि की अतिशय रूपता (तरतमता) देखी जाती है यह हेतु वाक्य है । किसी कनकपाषाण मे आदि में किट्टरूप बहिरग तथा कालिमा रूप अन्तरग मल का क्षय होता है यह दृष्टात है यह भी प्रसिद्ध ही है क्योकि वह किट्ट और कालिमा आदि मल का क्षय कनकपाषाण आदि में प्रकृष्यमाण अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होता हुआ दो तीन आदि ताव से लेकर सोलह ताव पर्यंत नि शेष रूप से क्षय को प्राप्त होता हुआ देखा जाता है ।

उसी प्रकार से दोष और आवरण की हानि भी हम लोगो में प्रकर्षता को प्राप्त होती हुई प्रतीति मे आ रही है और वह किसी न किसी पुरुष विशेष में नि.शेष रूप से है ही है यह सिद्ध हो जाता है ।

प्रश्न—यह दोष क्या है जो कि आवरण से भिन्न स्वभाव वाला है ?

उत्तर—कारिका गत **"दोषावरणयोः" इस द्विवचन की सामर्थ्य से अज्ञानादि स्वरूप दोष आवरण से भिन्न ही हैं और वे स्वपर परिणाम हेतु से होते हैं*** । क्योकि दोष ही आवरण है ऐसा मानने पर कारिका मे द्विवचन नही बन सकता था अतः द्विवचन की सामर्थ्य से पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्म रूप आवरण से भिन्न स्वभाव वाले ही अज्ञान, राग-द्वेष आदि दोष कहे जाते है ऐसा निर्णय करना चाहिये । उस दोष के कारण पुन. आवरण कर्म है और जीव के पूर्व सचित निजी रागादि परिणाम भी हैं ।

---

१ इष्टमबाधितमसिद्ध साध्यमिति वचनात् । २ नि.शेषहानौ । ३ प्रसिद्धो दृष्टान्त इति वचनात् । ४ द्वित्रादिवर्णिकामारभ्य षोडशवर्णिकापर्यन्त हीयमानम् । ५ जैनै । ६ दोषावरणयोरिति द्विवचनसामर्थ्यात् । ७ स्वपरौ जीवकर्मणी । ८ सदर्थम् । ९ रागद्वेषादि ।

---

(1) पुसि । (2) तारतम्येन । (3) काकुः । (4) जीवकृत परिणामं निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये । स्वयमेव परिणमतेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः । भवति हि निमित्तमात्र पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ (5) बसः । (6) कारिकाया इति पा. ।

[बौद्धो दोषान् स्वहेतुकान् सांख्यश्च परहेतुकानेव मन्यते किन्तु जैनाचार्या दोषानुभयहेतुकानेव मन्यते]

¹स्वपरिणामहेतुक एवाज्ञानादिरित्ययुक्त, तस्य ²कादाचित्कत्वविरोधाज्जीवत्वादिवत्³। ⁴परपरिणामहेतुक एवेत्यपि ⁵न व्यवतिष्ठते,¹ मुक्तात्मनोपि ⁶तत्प्रसङ्गात्, सर्वस्य⁷ कार्यस्योपादानसहकारिसामग्रीजन्यतयोपगमात्तथा प्रतीतेश्च । तथा च दोषो जीवस्य स्वपरपरिणामहेतुक., कार्यत्वान्माषपाकवत् ।

[बौद्ध दोषो को स्वहेतुक एव साख्य दोषो को परहेतुक ही मानता है किन्तु जैनाचार्य दोषो को उभय हेतुक ही मानते है ।]

बौद्ध—अज्ञानादिक दोष स्वपरिणाम हेतुक ही होते है ।

जैन—यह कहना ठीक नही है क्योकि "अज्ञानादि दोषो के कादाचित्कपने का विरोध हो जावेगा जीवत्व आदि परिणाम के समान ।

भावार्थ—स्वपरिणाम नित्य होता है क्योकि परिणाम गुण रूप होता है और वह परिणाम द्रव्य में सपूर्ण रूप से सदा ही पाया जाता है । "सकलपर्यायानुवर्त्तित्व गुणत्व" जो द्रव्य की सपूर्ण पर्यायों मे अन्वय रूप से रहे उसे गुण कहते है इस लक्षण के अनुसार गुण नित्य माने गये है और अज्ञानादि दोष तो अनित्य है क्योकि वे सदा काल नही पाये जाते है मुक्त जीवो मे उनका अभाव है परन्तु जीवत्व आदि परिणाम स्वपरिणाम होने से नित्य है और सर्वकाल अर्थात् मुक्तावस्था मे भी पाये जाते है । यदि अज्ञानादि को स्वहेतुक ही माना जावेगा तो सदा ही बने रहने से इस जीव को कभी मुक्ति नही हो सकेगी ।

सांख्य—अज्ञानादि परपरिणाम प्रधान के निमित्त से ही हुये है ।

जैन—यह भी ठीक नही है क्योकि पर निमित्तक होने से मुक्तात्मा में भी अज्ञानादि दोषो का प्रसग आ जावेगा । हम जैनो के यहा तो सभी कार्यो की उत्पत्ति उपादान और सहकारी कारण रूप उभय सामग्री से ही मानी गई है और प्रतीति भी उसी प्रकार से ही होती है । इसलिए "दोष जीव के स्वपरिणाम निमित्तक भी है एव परपरिणाम निमित्तक भी है क्योकि वे कार्य है उड़दपाक के समान" जिस प्रकार से उड़द या मूग मे अतरग में पकने की योग्यता है और बाहर में अग्नि जलादि के सयोग से पक जाती है किन्तु कोरडू मूग मे पकने की योग्यता न होने से अग्नि जलादिक के सयोग होने से भी नही पकती है ।

१ सौगतमतम् । २ स्वपरिणामस्तु नित्यः परिणामस्य गुणरूपस्य यावद्द्रव्यभावित्वे सति सकलपर्यायानुवर्त्तित्व गुणत्वमिति लक्षणेन नित्यत्वप्रतिपादनात् । अज्ञानादिस्त्वनित्य इत्यतो विरोध । ३ जीवत्वादिगुणस्य यथा कादाचित्कत्वविरोधोस्य नित्यत्वात् । ४ साङ्ख्य. । ५ जैनः । ६ अज्ञानादिकर्मरेणुना मुक्तात्मनापि सम्बन्धप्रसङ्गात् । ७ जैनमते एवमभिमतम् ।

(1) अन्यथा ।

[कश्चित् कथयति काचिदेका हानिरेव वक्तव्या, किंतु जैनाचार्या प्रत्युत्तरयति यत् दोषावरणयोर्मिथः कार्यकारणभावोऽस्त्यवत उभये अपि वक्तव्ये स्त ।]

[1]नन्वेवं निश्शेषावरणहानौ दो[2]हाने [3]सामर्थ्यसिद्धत्वाद्दोषहानौ [1]वावरणहानेरन्य-

भावार्थ—जैनाचार्यो ने यहा इस कारिका में 'आवरण' शब्द से पौद्‌गलिक द्रव्य कर्म को ग्रहण किया है एव 'दोष' शब्द से कर्म के उदय से होने वाले राग, द्वेष, मोह, अज्ञान आदि भावकर्मों को लिया है और इन दोनो को जीव के रागादि रूप स्वपरिणाम एव कर्मोदय रूप परपरिणाम के निमित्त से उत्पन्न हुये माना है ।

बौद्ध दोषो को स्वपरिणाम निमित्तक मानता है एव आवरण नाम की चीज को मानता ही नही है। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि आवरण के बिना दोष कैसे उत्पन्न होंगे और यदि आवरण के बिना भी दोष हो सकते है तो सिद्धों में तो आवरण है नही उनके भी दोषो की उत्पत्ति होने लगेगी । अथवा जैसे जीव के ज्ञान, दर्शन, जीवत्व, आदि भाव स्वपरिणाम है तो उनका कभी भी नाश नही होता है तथैव अनादि काल से लगे हुये दोषों का भी कभी नाश नही होगा पुन मुक्ति कैसे हो सकेगी ? परन्तु ऐसा तो है नही । अतः दोष आवरण निमित्तक होते है और आवरण दोष निमित्तक होते है ।

साख्य कहता है कि अज्ञानादि दोष पर अर्थात् प्रधान के निमित्त से ही होते है क्योकि ज्ञान, सुख आदि भी प्रधान के ही धर्म है, प्रकृति को ही ससार होता है, प्रकृति को ही जन्म-मरण, सुख-दुःख, बध-मोक्ष होता है । मतलब साख्य के यहा प्रकृति रूप कर्मबध प्रकृति के ही होता है पुरुष सर्वथा अकर्त्ता, निर्गुणी, निष्क्रिय माना गया है । आजकल भी कुछ लोगों का सिद्धात है कि गाय के गले में रस्सी बाधी तो गाय का गला या गाय नही बधी है किन्तु मात्र रस्सी से ही रस्सी बधी है । यद्यपि यह दृष्टात सत्य है फिर भी गाय बंधन में अवश्य है । वह अपने इष्ट स्थान पर जा नही सकती है एव यह गाय का दृष्टात सर्वथा लागू नही होता है । वास्तव मे कर्म और आत्मा के प्रदेशो का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है एव आत्मा के रागद्वेष आदि परिणामो मे ही पुद्‌गल वर्गणाये कर्मरूप परिणत होती है और कर्म का उदय आने पर ही आत्मा के राग, द्वेष आदि परिणाम होते है । अत इन दोष और आवरणों का परस्पर में कार्यकारण भाव निश्चित है । ये दोनो ही स्व पर के निमित्त से होते है । दोषों का स्वनिमित्त आत्मा है परनिमित्त पुद्‌गल कर्म है या विष, सर्प आदि बाह्य सामग्रिया है और आवरण के लिये स्वनिमित्त पुद्‌गल वर्गणाये है तथा परनिमित्त जीव के रागादि भाव है ।

[किसी का कहना है कि दोष या आवरण दोनो में से किसी एक का ही अभाव कहना चाहिये किंतु जैनाचार्य दोष-आवरण मे कार्यकारण भाव सिद्ध करके दोनो की हानि मान लेते हैं ।]

प्रश्न— इस प्रकार दोष तो आवरण रूप द्रव्य कर्म के कार्य है अतः निश्शेष आवरण का अभाव हो

१ दोषस्यावरणकार्यत्वप्रतिपादनप्रकारेण । २ कारणनाशे कार्यनाशनियमात् । ३ अत्रापि कारणनाशे कार्यनाशनियमो हेतुः ।

तरहानिरेव निश्शेषतः साध्येति चेन्न, दोषावरणयोर्जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यकार्यकारण-भावज्ञापनार्थत्वादुभयहाने[1]निश्शेषत्व[2]साधनस्य[1]। दोषो हि तावदज्ञान ज्ञानावरणस्योदये जीवस्य स्याददर्शनं दर्शनावरणस्य, मिथ्यात्व दर्शनमोहस्य, विविधमचारित्रमनेकप्रकार-चारित्रमोहस्य, अदानशीलत्वादिर्दानाद्यन्तरायस्येति, [2]तथा ज्ञानदर्शनावरणे [3]तत्प्रदोष-[4]निन्हवमात्स[5]र्यान्त[6]राया[7]सादनोपघातेभ्यो[8] [9]जीवमास्रवतः[3], केवलिश्रुतसंघधर्मदेवा-वर्णवादा[10]द्दर्शनमोहः,[11] कषायोदयात्तीव्रपरिणामाच्चारित्रमोहः, विघ्नकरणादन्तराय इति

जाने पर दोष की हानि अर्थापत्ति रूप सामर्थ्य से ही सिद्ध हो जाती है क्योंकि कारण के नाश हो जाने पर कार्य का नाश अवश्यभावी है। अथवा दोष का पूर्णतया अभाव होने पर आवरण का अभाव स्वयमेव निश्चित है क्योंकि दोष रूप भावकर्म से ही आवरण रूप द्रव्य कर्म बधते है और कारण रूप दोष के नाश होने पर कार्यभूत द्रव्यकर्म रूप आवरण का स्वयमेव ही नाश प्रसिद्ध है। इसलिये दोनो मे से किसी एक की हानि ही नि शेषपन सिद्ध करना चाहिये।

[अनादिकाल से दोष आवरणनिमित्तक हैं एव आवरण दोषनिमित्तक है दोनो का परस्पर मे कार्य कारण भाव है]

उत्तर – यह कहना ठीक नही है क्योंकि जीव और पुद्गल के परिणाम स्वरूप दोष और आवरण मे परस्पर में कार्य कारण भाव पाया जाता है अत. परस्पर मे दोनों के कार्य कारण भाव को सिद्ध करने के लिए ही दोनों की हानि नि.शेष रूप से साध्य (सिद्ध) करना इष्ट है क्योंकि दोष अज्ञान को कहते है और वह जीव के ज्ञानावरण कर्म के उदय के होने पर होता है तथा जीव के दर्शनावरण कर्म के उदय होने पर अदर्शन, दर्शनमोहनीय कर्म के उदय मे मिथ्यात्व अनेक भेद रूप चरित्र मोहनीय कर्म के उदय होने पर अनेक प्रकार का अचारित्र—अविरति रूप परिणाम एव दानादि अतराय के उदय से अदान-शीलत्व-दान नही देना आदि रूप दोष पाये जाते है।

दोष के प्रति आवरण कारण हैं ऐसा प्रतिपादन करके अब आचार्य यह बताते है कि आवरण के लिए दोष कारण है।

१ अन्योन्यकार्यकारणभावज्ञापनार्थं ह्युभयहानिनिश्शेषत्वसाधनम्। २ दोष प्रत्यावरणस्य कारणत्व प्रतिपाद्येदानी-मावरण प्रति दोषस्य कारणत्वमावेदयन्ति। ३ तत्प्रदोषो ज्ञानदर्शनप्रद्वेष। ४ निन्हवमाच्छादनम्। ५ मात्सर्यं निन्दा तिरस्कारश्च। ६ विघ्नकरणमन्तराय। ७ आसादन शास्त्रादेर्विराधनम्। ८ अध्येतॄणां पीडाकरणमुपघातः। ९ एभ्यः कारणेभ्यो ज्ञानदर्शनावरणद्वय जीवेन सह बन्ध याति। १० हेतुन। ११ आस्रवतीत्यध्याहार्यं पदम्।

(1) हानिनि:शेषत्व इति पा.। (2) साध्य। सिद्धे.। जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्य कार्यकारणभाव' सिद्धश्चेत् तज्ज्ञाप-नार्थमेव तत्साधनस्य युक्त नान्यथा अत. कथ तत्प्रसिद्धिरित्यारेकायां दोषो हि तावदित्यारभ्य तत्त्वार्थप्ररूपणादिति पर्यंत ग्रथमाहु:। (3) क्रियापदस्य द्वि:।

तत्त्वार्थे प्ररूपणात् । समर्थयिष्यते चायं कार्यकारणभावो दोषावरणयोः "कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः" इत्यत्र ।

[बौद्धो दोषानेव संसारस्य कारणं मन्यते किंतु जैनाचार्या उभयौ एव कारणे इति कथयति]

[1]अथ दोष एवाविद्या[2]तृष्णा[3]लक्षणश्चेत[4]सोनादितद्वासनोद्भूतः संसारहेतुर्नावरणं पौद्ग-

तत्प्रदोष—ज्ञान दर्शन में प्रद्वेष भाव, निन्ह्नव—ज्ञान दर्शन को ढकना, मात्सर्य—निन्दा और तिरस्कार, अंतराय—ज्ञान दर्शन मे विघ्न करना, आसादना—शास्त्रादि की विराधना करना, उपघात—उपाध्याय आदि को दोष लगाना या पीड़ा देना आदि कारणो से जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है ।

केवली, शास्त्र, संघ, धर्म एव देव को झूठा दोष लगाने से दर्शन मोहनीय कर्म का आश्रव होता है । कषायो के उदय की तीव्रता से कलुषित परिणाम के होने से चारित्र मोहनीय कर्म का आश्रव होता है और दान लाभ आदि मे विघ्न करने से दानादि अंतराय कर्म का आश्रव होता है । इस प्रकार से "तत्त्वार्थ सूत्र" महाशास्त्र में प्ररूपण किया है और आगे इसी मीमांसा ग्रन्थ में "कामादि प्रभवश्चित्र कर्मबंधानुरूपत " इत्यादि कारिका नं० ९९ के अर्थ मे दोष और आवरण मे कार्यकारण भाव का समर्थन करेंगे ।

भावार्थ—यहा यह प्रश्न सहज ही हो सकता है कि जब बीजांकुर न्याय के समान अनादि काल से दोष-आवरण का परस्पर कार्यकारण भाव निश्चित है तब इनका अभाव भी कैसे हो सकेगा ? इसका समाधान यही है कि जब यह जीव कालादि लब्धि को प्राप्त करके सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेता है एव रागद्वेष को दूर करने के लिए सम्यक् चारित्र का आश्रय ले लेता है तब व्यवहार निश्चय रूप रत्नत्रय के बल से आने वाले कर्मो के रुक जाने से संवर हो जाता है और बंधे हुये कर्मो की निर्जरा होती चली जाती है तब धीरे-धीरे मोहनीय कर्म के नाश से राग, द्वेष, मोह का नाश, ज्ञानावरण आदि के नाश से अनादि-कालीन भावो का अभाव हो जाता है । जैसे कि बीज को जला देने से उससे अंकुर परम्परा समाप्त हो जाने से उस बीज का अंत हो जाता है तथैव इन दोष-आवरणो का अभाव भी हो सकता है कोई बाधा नही आती है ।

[बौद्ध दोषो को ही संसार का कारण मानता है आवरण को नहीं, किन्तु जैनाचार्यो ने दोनो को ही संसार का कारण माना है ।]

बौद्ध—दोष ही अविद्या—मिथ्याज्ञान एव तृष्णा भोगो की अभिलाषा लक्षण वाले है जो कि चित्त क्षण रूप आत्मा में अनादि काल की वासना से उत्पन्न होने है वे ही संसार के लिये कारण है, न कि आवरण रूप पौद्गलिक कर्म, क्योंकि मूर्तिमान् कर्म के द्वारा अमूर्तिक आत्मा पर आवरण नही हो सकता है ।

१ सौगताशङ्का । २ अविद्या मिथ्याज्ञानम् । ३ भोगाभिलाषस्तृष्णा । ४ चित्तक्षणस्य आत्मन इत्यर्थः ।

लिकं, तेन मूर्तिमता चित्तस्यामूर्तस्यावरणायोगादिति वदतो बौद्धान्निराकर्तुमावरणग्रहणं, मूर्तिमतापि मदिरादिना चित्तस्यामूर्तस्यावरणदर्शनात्,[1] [1]तत्सम्बन्धाद्विभ्रम[2]संवेदनादन्यथा तदनुपपत्तेः। मदिरादिनेन्द्रियाण्येवाव्रियन्ते इति चेन्न तेषामचेतनत्वे तदावरणासंभवात् [3]स्था-ल्यादिवद्विभ्रमायोगात्। [3]चेतनत्वे तेषाममूर्तत्वेपि मूर्तिमतावरणमायात[4]मिति प्रायेणान्यत्र[3] चिन्तितम्। ततो दोषहानिवदावरणहानिरपि निश्शेषा क्वचित्साध्या, [5]तदावरणस्य दोषादन्यस्य मूर्तिमतः प्रसिद्धेः।

जैन— इस प्रकार से कहने वाले बौद्ध का खंडन करने के लिए ही "आवरण" शब्द को ग्रहण किया है क्योंकि मूर्तिमान् मदिरा आदि के द्वारा भी अमूर्तिक आत्मा मे आवरण देखा जाता है। उस मदिरा के निमित्त से विभ्रम का अनुभव होता ही है यदि ऐसा न मानो तो मदिरा पीने के बाद मनुष्य की उन्मत्त अवस्था नही हो सकेगी।

बौद्ध—मदिरा आदि के द्वारा इंद्रियों पर ही आवरण देखा जाता है अर्थात् इन्द्रिया ही मदिरा से उन्मत्त होती हैं न कि आत्मा।

जैनाचार्य—ऐसा कहना ठीक नही है क्योंकि इन्द्रियों को अचेतन मान लेने पर उन पर मदिरा आदि से आवरण होना संभव नही है जैसे कि अचेतन पात्र-शीशी आदि में रखी हुई मदिरा के निमित्त से उनमें उन्मत्तता नही आती है वैसे ही यदि इन्द्रिया अचेतन है तो वे उन्मत्त नही हो सकेंगी और यदि आप इंद्रियों को चेतन रूप स्वीकार कर लेंगे तब तो उन्हे आत्मा के समान अमूर्तिक भी मानना पडेगा पुनः मूर्तिमान् कर्मों के द्वारा अमूर्तिक पर आवरण सिद्ध ही हो जावेगा क्योंकि जैन सिद्धान्त में कर्म बंध सहित संसारी आत्मा को कथंचित् मूर्तिक भी माना है।

अतः संसारी जीवों का चेतनत्व एवं अमूर्तिकत्व स्वभाव होने पर भी मूर्तिमान् कर्मों के द्वारा आवरण सिद्ध हो ही जाता है इस विषय का प्रायः श्लोकवार्तिक मे विशेष रूप से विचार किया गया है।

दोष के अभाव के समान आवरण का अभाव भी किसी जीव विशेष में निश्शेष रूप मे सिद्ध करना ही चाहिए क्योंकि दोष से भिन्न मूर्तिमान् आवरण की प्रसिद्धि है।

भावार्थ—अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिमान् कर्मों से पराजित होना स्पष्ट है इस बात को 'राजवार्तिक ग्रन्थ' मे श्री अकलंक देव ने भी कहा है। "अमूर्तित्वादभिभवानुपपत्तिरिति चेत्, न, तद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेश्चैतन्यवत्।"

प्रश्न—चूंकि आत्मा अमूर्त है अतः उसका कर्म पुद्गलों से अभिभव नही होना चाहिये ?

१ तेन मदिरादिना। २ अभ्युपगते। ३ श्लोकवार्तिके।

(1) कुतः। (2) भ्रातिज्ञान। (3) मदिराभाजनादि। अचेतनत्वात्। (4) तथा च कर्मणा मूर्तिमता चित्तस्यामूर्तस्यावरणायोगात् इति वचनमयुक्तमिति भावः। (5) पौद्गलिकस्य।

[दोषावरणयोर्हानि प्रध्वंसाभावरूपोऽस्ति न त्वत्यंताभावरूपा]

[1]अत एव लोष्टादौ निश्शेषदोषा[1]वरणनिवृत्तः सिद्धसाध्यतेत्यसमीक्षि[2]ताभिधानं,[2]

उत्तर—अनादि कर्मबंधन के कारण उसमें विशेष शक्ति आ जाती है। अनादि पारिणामिक चैतन्यवान् आत्मा की नारकादि, मतिज्ञानादि पर्यायें भी चेतन ही हैं। यह आत्मा अनादिकाल से कार्मण शरीर के कारण मूर्तिमान् हो रहा है और इसीलिए उस पर्याय संबंधी शक्ति के कारण मूर्तिक कर्मों को ग्रहण करता है। आत्मा कर्मबद्ध होने से कथंचित् मूर्तिक है तथा अपने ज्ञानादि स्वभाव को न छोड़ने के कारण अमूर्तिक है। जिस प्रकार मदिरा को पीकर मनुष्य मूर्छित हो जाता है, उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है उसी प्रकार कर्मोदय से आत्मा के स्वभाविक ज्ञानादि गुण अभिभूत हो जाते है। मदिरा के द्वारा इन्द्रियों में विभ्रम या मूर्च्छा आदि मानना ठीक नहीं है क्योंकि जब इन्द्रिया अचेतन है तो अचेतन में बेहोशी आ नहीं सकती अन्यथा जिस पात्र में मदिरा रखी है उसे ही मूर्च्छित हो जाना चाहिए या उन्मत्त चेष्टा करना चाहिये। यदि इन्द्रियों को चेतन कहेंगे तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि बेहोशी चेतन में होती है न कि अचेतन में। इसलिये यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संसारी आत्मा मूर्तिक है—

बंध पडि एयत्त लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं।
तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होदि जीवस्स ॥

अर्थ—बंध की दृष्टि से आत्मा और कर्म मे एकत्व होने पर भी लक्षण की अपेक्षा से दोनों में भिन्नता है। अतः आत्मा में एकांत से अमूर्तिकपना नहीं है।

इसी बात को श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने भी कहा है कि—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संत्ति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्तिबंधादो ॥

अर्थ—पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श निश्चय नय से ये जीव में नहीं हैं इसलिये यह जीव अमूर्तिक है एवं व्यवहार नय से कर्मबंध से सहित होने से यह जीव मूर्तिक है। इसलिये जीव को संसारावस्था में सर्वथा अमूर्तिक मानना गलत है।

[दोष, आवरण की हानि प्रध्वंसाभाव रूप है अत्यंताभाव रूप नहीं है]

प्रश्न—अतएव इसी "अतिशायनात्" हेतु के द्वारा लोष्टादिक (मिट्टी के ढेले आदि) में भी निःशेष रूप से दोष आवरण की निवृत्ति होने से सिद्धसाध्यता नाम का दोष आता है। अर्थात् सिद्ध को ही सिद्ध करना यह पिष्टपेषण के सदृश दोष युक्त ही है।

१ अतिशायनादेव। २ बौद्धस्य।

(1) कर्म। (2) मीमांसक निराचष्टे।

साध्यापरिज्ञानात्(1)। प्रध्वंसाभावो हि दोषावरणयोः साध्यो न पुनरत्यन्ताभावः, [1]तस्यानिष्टत्वात्,[१] [२]सदात्मनो मुक्तिप्रसङ्गात्। नापीतरेतराभावः,[३] तस्य[४] प्रसिद्धत्वात्, दोषावरणयोरनात्मत्वादात्मनश्चादोषावरणस्वभावत्वात्। [2]प्रागभावोपि न साध्यस्तत[५] एव, [६]प्रागविद्यमानस्य दोषावरणस्य स्वकारणादात्मनि प्रादुर्भावाभ्युपगमात्। न च **लोष्टादौ** दोषावरणयोः प्रध्वंसाभावः संभवति, तस्य भूत्वा भवनलक्षणत्वात्[७] तयोस्तत्रात्यन्तमभा[८]वात्। तन्न सिद्धसाध्यता।

[शंकाकारो बुद्धेस्तरतमतां दृष्ट्वा अतिशायनहेतुमनैकांतिक मन्यते किंतु जैनाचार्याः क्वचित् लोष्टादौ बुद्धेरपि अभाव स्वीकृत्य हेतुमनैकांतिक न मन्यते]

[3]नन्वेवं, **दोषावरणयोर्हानिरतिशायनान्निश्शेषतायां साध्यायां बुद्धेरपि**[4] **किन्न परिक्षयः**

उत्तर—आप बौद्ध का यह कहना असमीक्षित है—ठीक नहीं है उसने हमारे साध्य को समझा ही नहीं है*। क्योंकि दोष और आवरण का प्रध्वसाभाव रूप अभाव (हानि) ही साध्य है न कि अत्यताभाव रूप अभाव, क्योंकि अत्यंताभाव रूप अभाव यहा साध्य में हमें इप्ट नही है। यदि जीव में दोष और आवरण का अत्यन्ताभाव मानेगे तो नित्य ही संसार अवस्था मे भी जीव के मुक्ति का प्रसंग आ जावेगा। तथा जीव में दोष और आवरण का इतरेतराभाव भी इप्ट नही है। वह इतरेतराभाव तो आत्मा में प्रसिद्ध ही है क्योकि आत्मा और दोष-आवरण एक दूसरे रूप नही हो सकते है उनकी परस्पर विभिन्नता प्रसिद्ध है।

दोष और आवरण आत्मस्वरूप नही है और न आत्मा ही दोष, आवरण स्वभाव वाली है। तथा प्रागभाव भी यहां साध्य नही है क्योंकि वह भी प्रसिद्ध ही है। प्राक् (पहले) अविद्यमान रूप दोष आवरणो की अपने कारणो से आत्मा मे उत्पत्ति स्वीकार की गई है यह कथन पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है।

मिट्टी के ढेले आदि में दोष, आवरण का प्रध्वसाभाव ही नही है। प्रध्वसाभाव तो "भूत्वाभवनलक्षणत्वात्" घट होकर कपाल होने रूप है। उस मिट्टी के ढेले आदि में दोप आवरण का अत्यन्त ही अभाव है अतः प्रध्वसाभाव रूप हानि को साध्य करने में सिद्ध साध्यता दोप नही है।

---

१ अनिष्टस्य साध्यत्वाभावात्। २ कुतः? यतः। ३ आत्मा दोषावरण न तच्चात्मा नेति इतरेतराभावः। ४ इतरेतराभावस्यात्मनि कर्माद्यपेक्षया प्रसिद्धत्वात्। ५ प्रसिद्धत्वादेव। ६ प्रसिद्धत्वे हेतुमाह। ७ घटो भूत्वा कपालभवनमेव प्रध्वसाभावः। ८ लोष्टादावत्यन्ताभावेन वर्तनात्।

---

(1) दृष्टमबाधितमसिद्धं साध्यमिति वचनात्। (2) कारणसंपातात्पूर्वमभाव. प्रागभाव इति लक्षण। (3) मीमांसकः। (4) बुद्धे रतिशयोऽस्ति।

स्याद्विशेषा[1]भावा[2]तोनैकान्तिको हेतुरित्यशिक्षितलक्षितं[1], +चेतनादिगुणव्यावृत्ते[3]: सर्वात्मना पृथिव्या[4]देरभि[5]मतत्वात्[6] *। ननु च पृथिव्यादौ सर्वात्मना[7] चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावस्याभावाद्[8]बुद्धिहान्यानैकान्तिकमेवातिशायनमित्यप्यनवबोधविजृम्भितं[9], पृथिव्यादौ पुद्गले पृथिवीकायिकादिभिरात्मभिः शरीरत्वेन [2]गृहीते स्वायुपः क्षयात्त्यक्ते चेतनादिगुणस्य व्यावृत्तेः सर्वात्मना प्रध्वंसाभावरूपत्वेन स्याद्वादिभिरभिमतत्वात्[3], "न हि स कश्चित्पुद्गलोस्ति यो न जीवैरसकृद्भुक्तोज्झित.[4]" इति वचनात्। [5]प्रसिद्धश्च पृथिव्यादौ चेतनादिगुणस्याभावः, [10]अनुपलम्भान्यथानुपपत्ते।

[शकाकार बुद्धि की तरतमता दखकर "अतिशायन हेतु" को व्यभिचारी कहता है किन्तु जैनाचार्य कही न कही बुद्धि का भी अभाव मान लेते हैं।]

शंका—आप दोष और आवरण की हानि को निःशेष रूप से साध्य करने में "अतिशायन" हेतु देते हैं पुनः इसी "अतिशायन" हेतु से किसी न किसी जीव में बुद्धि का भी परिपूर्णतया अभाव क्यों न हो जावेगा ? क्योंकि इन दोनों में कोई अतर नहीं है। इसलिए आपका हेतु अनैकांतिक है*।

समाधान—यह आपका कथन अशिक्षित रूप ही है क्योंकि पृथ्वी आदिकों में संपूर्ण रूप से चेतनादि गुणों की प्रध्वंसाभाव रूप व्यावृत्ति होना हमें इष्ट ही है*।

शंका—पृथ्वी आदि मे सम्पूर्ण रूप से चेतना गुणो का प्रध्वसाभाव रूप अभाव नहीं होता है अतः बुद्धि की हानि के साथ यह "अतिशायन" हेतु व्यभिचारी है। अर्थात् बुद्धि की हानि में "अतिशायन" हेतु पाया जाता है फिर भी सपूर्णतया पृथिवी आदि मे चेतना गुणो का प्रध्वसाभाव नही है अतः यह हेतु अनैकातिक है।

समाधान—यह कथन भी अज्ञान के विलास रूप ही है, पृथ्वी आदि रूप से परिणत हुए पुद्गल वर्गणाओं को पृथ्वीकायिक आदि नामकर्म के उदय सहित जीवों ने अपने शरीर रूप से ग्रहण किया पुनः अपनी-अपनी आयु के कर्म के क्षय हो जाने पर उन पुद्गलमय पृथ्वी आदि को छोड़ दिया। उन पृथ्वी आदिकों में चेतनादि गुणों का सम्पूर्णतया प्रध्वसाभाव रूप से अभाव हो जाता है यह बात हम स्याद्वादियों

१ दोषावरणबुद्धीनामतिशायनगुणेन कृत्वा विशेषो यतो नास्ति। २ यतो न हि बुद्धिपरिक्षयः। ३ प्रध्वसाभावस्य। ४ आदिपदेन शरीरं गृह्यते, उत्तरत्र व्यापारव्याहाव्यावृत्तेरपि वक्ष्यमाणत्वात्। ५—रप्यभिमतत्वादिति पाठान्तरम्। ६ पृथिव्यां चेतनगुणव्यावृत्तिर्वर्तते एवातो नानेकान्त.। ७ सामस्त्येन। ८ चेतनादिगुणस्य तत्रात्यन्ताभावात्। ९ बुद्धिहानेरतिशायित्वेपि सर्वात्मना पृथिव्यादौ चेतनादिगुणप्रध्वसाभावो नास्ति, अतोनेकान्तः। १० अन्यथा=चेतनादिगुणसद्भावे तदभावोपलम्भाभावप्रसक्ते.।

(1) आ। (2) चैतन्यादुपचारादभिन्नत्वेन। (3) सपक्षे सत्त्वं तस्य। (4) पूर्वं भुक्तः पश्चादुज्झितः। शरीरत्वेन। (5) अनुमानतः।

+दिल्ली अष्टशती अ, ब, स प्रति मे, मुद्रित अष्टशती में, दिल्ली एव ब्यावर अष्टसहस्री प्रति मे "चेतनादि······मतत्वात् पंक्ति 'अष्टशती' मानी गई है। मुद्रित अष्टसहस्री में अष्टशती नही मानी है।

[अदृश्यपदार्थस्याभावं कथं भविष्यतीति शंकाया लौकिकजना अपि अदृश्यस्याभाव मन्यते एवेत्युत्तरं]

[1]अदृश्या[1]नुपलम्भादभावा[2]सिद्धिरित्ययुक्तं, परचैतन्यनिवृत्ता[3]वारेकापत्तेः[2], [3]संस्कर्तृणां पातकित्वप्रसङ्गाद्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि[4] रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्*[5]। [4]स्यान्मतं ते, +**व्यापारव्याहाराकारविशेष[5]व्यावृत्ति[6]समयवशात्ता[7]दृशं ..को विवेचयति*।**—नास्त्यत्र मृतशरीरे चैतन्यं व्यापारव्याहाराकारविशेषानुपलब्धेः, . प्रविशेषानुपलम्भस्य [8]कारणविशेषाभावाविनाभावित्वात्, चान्दनादिधूमानुपलम्भस्य [6]...समर्थचान्दनादिपावकाभावाविनाभावित्ववत्। तथा नास्त्यस्य रोगो ज्वरादिः, स्पर्शादिवि..षानुपलब्धेर्भूतग्रहादिर्वा[9] चेष्टा-

के यहां स्वीकार की गई है क्योंकि "इस जगत मे ऐसा काई भी पुद्गल नही है कि जिसको जीवो ने अनेकों बार भोगकर न छोड़ा हो" इस प्रकार वचन पाये जाते है। इसलिये पृथ्वी आदि में चेतन आदि गुणों का अभाव प्रसिद्ध ही है क्योंकि अनुपलब्धि की अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् मिट्टी के ढेले आदि में चेतनागुण का सद्भाव नहीं पाया जाता है।

[जो पदार्थ दिखते नही हैं उनका अभाव कैसे होगा ? इस पर जैनाचार्य का कहना है कि अदृश्य का भी अभाव आबाल गोपाल मानते हैं।]

शंका—आप अदृश्य पदार्थों की अनुपलब्धि से अभाव को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अर्थात् इस मकान में भूत नहीं है ऐसा कोई नहीं कह सकते हैं क्योंकि भूत व्यतर आदि दिखते नहीं हैं वे अदृश्य हैं उनकी उपलब्धि हमें नहीं हो रही है इसलिए वे नहीं हैं यह कहना शक्य नहीं है। जो देखने योग्य दृश्य पदार्थ हैं उन्हीं की ही उपलब्धि या अनुपलब्धि देखकर उनका सद्भाव या अभाव सिद्ध किया जा सकता है।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है अन्यथा दूसरे के शरीर से चैतन्य आत्मा के निकल जाने पर भी शंका बनी ही रहेगी। पुनः उसके संस्कार करने वालों को पातकी कहने का प्रसंग आवेगा। प्रायः करके अप्रत्यक्ष (परोक्ष) भी रोगादि के अभाव का निर्णय किया ही जाता है।*

यदि आप ऐसा कहें कि **व्यापार (क्रिया) वचन, आकार आदि जीवित की चेष्टा विशेष की व्यावृत्ति—अभाव के हो जाने से होने वाले चिन्ह विशेषों से यह शरीर मृतक हो चुका है, इसमें से चेतना निकल चुकी है यह शरीर अब निर्जीव है इस प्रकार से व्यवहारीजन निर्णय कर लेते हैं।***

१ अदृश्यश्चेतनगुणः। २ चेतनादिगुणस्य। ३ अदृश्यानुपलम्भस्याभावासाधकत्वे सति परशरीरगतचैतन्यस्य निवृत्तावप्यारेका स्यात्। ४ सपुस्तके ते इति पद नास्ति। ५ व्यापारविशेषश्चलनादिः। व्याहारविशेषो वचनविशेषः। आकारविशेषश्च। ६ समय. सङ्केतः। ७ चैतन्याभावविशिष्टम्। ८ कारण=चैतन्यम्। ९ नास्ति।

(1) मीमांसकमनूद्य दूषयति। (2) चैतन्यसद्भावशंका। (3) दाहकाना। (4) अदृश्यस्य। (5) अभाव (6) चदनादिधूमजनन।

+ दिल्ली अष्टशती अ, ब, स, प्रति में मुद्रित अ. श. में, दिल्ली एवं ब्यावर अ. स. प्रति में 'व्यापार········ विवेचयति' पंक्ति अष्टशती मानी गई है, मुद्रित अ. स. में नहीं मानी है।

विशेषानुपलब्धेः[1] । [2]सम्यग्वैद्यशास्त्रभूततन्त्रादिसमयवशादत्यन्ता[3]भ्यस्तचैतन्यरोगादि[4]कार्यविशेषाणां लोकानां तद्विवेकोपपत्तिः।' इति ।

[जैनाचार्या भस्मलोष्ठादीनचेतनान् साधयति]

[1]तदेतत्पृथिव्यादौ सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तावपि समानम् । नास्त्यत्र भस्मादिपृथिव्यादौ पृथिवीचेतनादिगुणः, +**व्यापार**[5]**व्याहाराकारविशेषव्यावृत्तेरिति** [6]**समयवशात्तत्सिद्धान्तविल्लोको विवेचयति*** । स्यादाकूत [7]ते [3]व्यापारादिविशेषस्यानुपलब्धेस्त[3]ज्जननसमर्थ चेतनादि[8]गुणव्यावृत्तिसिद्धावपि तज्जननासमर्थचेतनादिव्यावृत्त्यसिद्धेर्न सर्वात्मना

यथा—"इस मृतक शरीर में चैतन्य नही है क्योकि व्यापार व्याहार—वचन आकार विशेष की उपलब्धि नही हो रही है ।" तथा कार्य विशेष की अनुपलब्धि कारण विशेष के अभाव के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखती है । जैसे—चन्दन आदि से उत्पन्न हुए सुगधित धूम की अनुपलब्धि उसके योग्य समर्थ चन्दन आदि की लकडी से होने वाली अग्नि के अभाव के साथ अविनाभाव सम्बन्ध को सिद्ध करती है । अर्थात् सुगन्धितधूम के अभाव मे चदनादि की अग्नि नही है ऐसा ज्ञान हो जाता है ।

उसी प्रकार दूसरा अनुमान—

"इस मनुष्य मे ज्वरादि रोग नही है क्योकि ऊष्णस्पर्श आदि विशेष की उपलब्धि नही हो रही है ।" अथवा "इस व्यक्ति मे भूत पिशाच, ग्रह आदि नही है क्योंकि उनके चेष्टा विशेष की उपलब्धि नही है ।"

मीमांसक— सम्यक् प्रकार से वैद्यकशास्त्र एव भूत तत्रादि शास्त्र के अतिशय रूप (**विशेष रूप**) अभ्यास से चैतन्य विशेष या रोगादि विशेप रूप कार्यों का विद्वान् लोग निर्णय कर लेते हैं ।

[जैनाचार्य भस्म लोष्ठ आदि पृथ्वी को निर्जीव सिद्ध करते हैं]

जैन—तो इसी प्रकार से पृथ्वी आदि मे भी चैतन्य आदि गुणों की सपूर्ण रूप से व्यावृत्ति मानना समान ही है । तथाहि—

इस भस्मादि या पृथ्वी आदि मे पृथ्वीकायिक आदि चैतन्य गुण नही है ।

१ पूर्वोक्त मतम् । २ मीमांसकस्य । ३ तत् = व्यापारव्याहारादि ।

(1) इतिविवेचयति । आशक्य । (2) इद चैतन्यकार्यमिद रोगादिकार्यमिति विवेको नास्तीत्याशकायामाह । (3) सम्यग्ज्ञान । (4) ता । (5) व्याहारस्त्रसशरीरे गृह्यते । (6) सकेत । (7)भाट्टस्य । (8) सर्वे कर्मफल मुख्यभावेन स्थावरास्त्रसाः । स कार्यं चेतयतेऽस्तप्राणत्वात् ज्ञानमेव च । मा चेतना कर्मफलमकार्यंज्ञानचेतना भेदात् त्रेधा यद्येव तर्हि कः किं प्राधान्येन चेतयते इत्याह । कर्मफल—अव्यक्तसुखदु ख । सकार्यं–क्रियते इति कार्यं बुद्धिपूर्वको व्यापारस्तेन सहित । चेतयते–अनुभवति । अस्तप्राणत्वात्–प्राणत्व अतिक्राता जीवा व्यहारेण जीवन्मुक्ता. परमार्थेन परममुक्ताश्च ।

+दिल्ली अष्टशती अ, ब, स प्रति में, मु. अ. श. प्र. मे, दिल्ली एव ब्यावर अ. स. प्र. में 'व्यापार व्याहार······ विवेचयति' पक्ति अष्टशती मानी गई एव मु. अ. स. प्र. में नही मानी है।

तद्व्यावृत्तिसिद्धिः' इति, तदसमञ्जसं, व्यापाराद्यशेषकार्यजननासमर्थस्य शरीरिणां [1]चेतनादेरसम्भवात्, संभवे वा [2]शरीरित्वविरोधात्[१]। ततः [२]कार्यविशेषानुपलब्धेः सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिः पृथिव्यादेः सिध्यत्येव, मृतशरीरादेः[3] परचैतन्यरोगादिनिवृत्तिवत्। यदि पुनरयं[३] निर्बन्धः[4]सर्वत्र विप्रकर्षि[४]णामभावा[४]सिद्धे[५]स्तदा कृतकत्वधूमादेर्विनाशानलाभ्यां [६]व्याप्तेरसिद्धेर्न [७]कश्चिद्धेतुः। ततः[८]शौद्धोदनिशिष्यकाणामनात्मनीनमेतत्,[5],

क्योंकि व्यापार, वचन, आकार विशेष का अभाव पाया जाता है। इस प्रकार से आगम के आधार से सिद्धांतवेत्ता विद्वान् निर्णय कर लेते हैं*।

मीमांसक—व्यापारादि विशेष की उपलब्धि न होने से व्यापारादि को उत्पन्न करने में समर्थ चेतनादि गुण की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाने पर भी व्यापारादि को उत्पन्न करने मे असमर्थ चेतनादि गुण की व्यावृत्ति—अभाव असिद्ध है। अतः सम्पूर्ण रूप से चेतनादि का अभाव सिद्ध नही हो सकता है।

जैन—यह कथन ठीक नही है, क्योंकि ससारी जीवो मे व्यापार आदि अशेष कार्यों को उत्पन्न करने में असमर्थ ऐसे चेतनादि गुण ही असभव हैं अथवा यदि आप मान लेवे तो उसमें शरीरी (संसारीपने) का ही विरोध आ जावेगा अर्थात् वह मुक्तात्मा ही हो जावेगा। अतएव कार्य विशेष की उपलब्धि न होने से पृथ्वी आदि में सपूर्ण रूप से चेतनादि गुणों का अभाव सिद्ध ही है। जैसे कि मृतक शरीर एवं रोगी आदि में चैतन्य या रोग आदि का अभाव पाया जाता है।

पुनः यदि आप ऐसा कहें कि अदृश्य की अनुपलब्धि रूप हेतु से संपूर्ण रूप से पृथ्वी आदि में चेतन आदि गुण की व्यावृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है तो फिर सभी जगह विप्रकर्षी—काल से दूरवर्ती और वेद के कर्त्ता आदि परोक्ष पदार्थों के अभाव को भी आप सिद्ध नहीं कर सकेंगे। प्रत्युत आप (मीमांसक) के यहां इनका सद्भाव ही सिद्ध हो जावेगा। तथा कृतकत्व हेतु की विनाश—अनित्य के साथ और धूम आदि की अग्नि के साथ व्याप्ति भी नहीं हो सकेगी। अर्थात् "जो नश्वर नहीं है वह कृतक भी नहीं है" और "जहां अग्नि नहीं है वहां धूम भी नहीं" इस प्रकार व्यतिरेक रूप से व्याप्ति नहीं बन सकेगी। पुनः कोई भी हेतु साध्य को सिद्ध करने में समर्थ सच्चा हेतु नही हो सकेगा। अर्थात्

१ मुक्तात्मवत्। २ कार्य=व्यापारादि। ३ अदृश्यानुपलम्भात्सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिर्न सिध्यत्येवेति। ४रामरावणवेदकर्त्रादीनाम्। ५ किन्तु भावसिद्धेरेव मीमांसकस्य स्यात्। ६ जैनः। ७ यद्विनाशि न भवति तत्कृतकं न भवति, यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोपि नास्तीति च व्यतिरेकव्याप्तेरसिद्धेः। ८ बौद्धमतेऽदृश्यानुपलम्भादभावसिद्धिर्नास्ति ततः परस्परमसंस्पृष्टाना परमाणूना विकल्पबुद्धावप्रतिभासनात्तेषामभावासिद्धिः। ९ (जैमिनीयानाम्) मीमांसकानाम्।

(1) ज्ञान। सुखदुःखादि। (2) मुक्तत्वप्रसगः। (3) आरोग्यशरीर। (4) आग्रहः। बौद्धमतमाश्रित्य मीमांसकस्त निराकरोति। (5) बौद्धमतेऽदृश्यानुपलभादभावस्य सिद्धिर्नास्ति परस्परमसपृष्टानां विशरारूणां परमाणूनां विकल्पबुद्धौ अप्रतिभासनात्तेषामभावासिद्धेः। अन्यथा। शौद्धोदनिशिष्यकत्वं।

[6]अनुमानोच्छेदप्रसंगात् * । न हि जैमिनीयमतानुसारिणो विप्रकर्षिणामर्थानामभावा[2]सिद्धिमनुमन्यन्ते[1], वेदे कर्त्रऽभावसिद्धिप्रसङ्गात्[3] सर्वज्ञाद्यभावसाधनविरोधाच्च। ते तामनुमन्यमाना वा शौद्धोदनिशिष्यका एव । न [4]चैषामेतदात्मनीनं[5], अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वात्, साध्यसाधनयोर्व्याप्त्यसिद्धेः[6] । परोपगमाद्व्याप्तिसिद्धेर्नानुमानोच्छेद इति चेन्न, [2]तस्यापि परोपगमान्तरात्सिद्धावनवस्थाप्रसङ्गात् तस्यानुमानात्सिद्धौ परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । प्रसिद्धेनुमाने ततः परोपगमस्य सिद्धिस्ततसिद्धौ च ततो व्याप्तिसिद्धेरनुमानप्रसिद्धिरिति । ततो न श्रेयानयं निर्बन्धः सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिः पृथिव्यादेर्न सिद्धयत्येवेति । तत्प्रसिद्धौ च न

यदि बौद्ध मत में "अदृश्यानुपलंभ" हेतु से अभाव सिद्धि नहीं है तो फिर परस्पर में असंबद्ध परमाणुओं का विकल्प बुद्धि में प्रतिभास न होने से उन परमाणुओं के अभाव को भी सिद्ध नहीं कर सकेंगे । और फिर मीमांसकों के लिए यह सब उनका सिद्धांत स्वयं उनके लिए अहितकर ही हो जावेगा । इसप्रकार अनुमान के भी उच्छेद का प्रसग आ जावेगा ।*

जैमिनीय मतानुसारी जन परोक्षवर्ती पदार्थ के अभाव की असिद्धि को नहीं मानते हैं। अर्थात दूरवर्ती परोक्ष पदार्थ का अभाव स्वीकार करते हैं।

तथा च वेद के कर्त्ता के अभाव की असिद्धि का प्रसग आ जावेगा । अर्थात् वेद का कर्त्ता मान लेने से आप वेद को अपौरुषेय सिद्ध नही कर सकेंगे एव सर्वज्ञादि के अभाव को सिद्ध करने वाले हेतु में भी विरोध आ जावेगा ।

इस प्रकार मानने वाले जैमिनीय लोग भी बुद्ध के ही शिष्य सिद्ध हो जाते हैं परन्तु आपको यह अभीष्ट नहीं है । अर्थात् अदृश्यानुपलभ हेतु से अभाव को नहीं मानने वाले मीमांसक, जैमिनीय आदि के यहां यह सभी उपर्युक्त दोष आ जावेगे । अतः उन लोगों का यह कथन स्वयं ही उनके लिए अहितकर है । और आप लोगों के लिए अनुमान का अभाव भी दुर्निवार है क्योंकि साध्य और साधन में व्याप्ति के सिद्ध न होने से अनुमान कैसे बन सकेगा ?

मीमांसक—दूसरो ने व्याप्ति को स्वीकार किया है अत उनको स्वीकारता से ही हम व्याप्ति की सिद्धि कर लेगे तो अनुमान का अभाव नही होगा ।

जैन—यह कहना ठीक नही है क्योंकि दूसरो को भी दूसरे के द्वारा स्वीकृत प्रमाण से व्याप्ति की सिद्धि मानने से एव उस अन्य को भी अन्य के द्वारा स्वीकृत प्रमाण से व्याप्ति को मानने से तो अनवस्था दोष आ जावेगा । यदि आप कहे कि व्याप्ति की सिद्धि अनुमान से करेंगे तो परस्पराश्रय दोष का प्रसंग आवेगा ।

१ अन्यथा । २ भावसिद्धिमित्यर्थः । ३ ततो वेदस्य सकर्तृकत्व स्यात् । ४ प्रतिपादनम् । ५ स्वकीयम् । ६ अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वम् ।

(1) अन्यथा । (2) विप्रकृष्टत्वे ।

बुद्धिहान्या [1]हेतोर्व्यभिचारः, तस्याः सपक्षत्वात् । तथा हि । **यस्य हानिरतिशयवती तस्य कुतश्चित्सर्वात्मना व्यावृत्तिः, यथा बुद्ध्यादिगुणस्याश्मनः[1] । तथा च दोषादेर्हानिरतिशयवती [2]कुतश्चिन्निवर्त्तयितुमर्हति [3]सकलं [2]कलंकमिति कथमकलंक[4]सिद्धिर्न भवेत् ?***

यथा—अनुमान के सिद्ध होने पर उस अनुमान से परोपगमप्रमाण की सिद्धि होगी और उसके सिद्ध होने पर उससे व्याप्ति की सिद्धि होगी पुनः व्याप्ति की सिद्धि होने से अनुमान की सिद्धि होगी।

इसलिए यह आपका कथन श्रेयस्कर नहीं है कि सम्पूर्ण रूप से पृथ्वी आदि मे चेतना आदि गुणों की व्यावृत्ति सिद्ध नही है अर्थात् सिद्ध ही है एव पृथ्वी आदि में चेतना आदि की सपूर्णतया व्यावृत्ति के सिद्ध हो जाने पर बुद्धि की हानि से हेतु में व्यभिचार दोष नहीं आता है क्योंकि बुद्धि को भी यहा हमने सपक्ष में ले लिया है। तथाहि—

जिसकी हानि अतिशय रूप से है उसका कही न कही परिपूर्ण रूप से अभाव पाया ही जाता है। जैसे कि पाषाण में से बुद्धि आदि का सर्वथा अभाव पाया जाता है और उसी प्रकार अतिशयवान् दोष आदि की हानि भी किसी आत्मा से संपूर्ण द्रव्य कर्म भाव कर्म को पृथक् करती ही है। इस प्रकार से कर्मकलंक रहित भगवान् की अथवा अकलंक देव के वचनों की सिद्धि कैसे नही होगी ? अर्थात् कर्मकलंक रहित सर्वज्ञ देव की भी सिद्धि होती है और अकलंक देव के वचन की भी सिद्धि होती ही है।*

भावार्थ—शकाकार का यह कहना है कि आप जैनो ने किसी न किसी जीव विशेष मे दोष और आवरण का परिपूर्णतया अभाव सिद्ध करने के लिए "अतिशायन" हेतु दिया है यह व्यभिचारी है क्योंकि जीवों मे बुद्धि की भी तरतमता देखी जाती है अतः किसी न किसी जीव विशेष मे बुद्धि का भी सर्वथा अभाव मानना पडेगा।

इस पर जैनाचार्यों ने सुदर ढग से समाधान कर दिया है वे कहते है कि मिट्टी के ढेले, पत्थर आदि में चैतन्य गुणों का अभाव हो जाने पर अर्थात् जीवात्मा के निकल जाने पर उन मिट्टी आदि में से बुद्धि का भी सर्वथा अभाव हो जाता है क्योंकि बुद्धि-ज्ञान यह आत्मा का ही गुण है। इस पर पुनः शंकाकार कहता है कि चैतन्य आत्मा तो अमूर्तिक होने से अदृश्य है पुनः इसी मिट्टी के ढेले में से यह आत्मा निकल गई है, यह मिट्टी सर्वथा निर्जीव हो गई है इसका निर्णय कैसे होगा ? क्योंकि जो चीज दिखती नहीं है उसके सद्भाव या अभाव का निर्णय करना अशक्य है। आचार्य कहते है यह बात सर्वथा एकान्त रूप से घटित नही हो सकती है कि अदृश्य का अभाव न माना जा सके। देखिये ! मृतक मनुष्य के शरीर की अदृश्य भी चेतना निकल गई है इस बात का निर्णय कुशल वैद्य सहज ही कर देता है तभी

१ पाषाणात् । २ आत्मन. । ३ द्रव्यभावरूपम् । ४ अकलङ्कस्य=परमसर्वज्ञस्याकलङ्कदेववचसो वा।

(1) अतिशायनादित्यस्य । (2) सौगतादिमत वा।

तो व्यवहारी जन उस मृतक कलेवर को जला देते हैं एवं वैद्य लोग ज्वर आदि रोगों का अभाव भी सिद्ध करते हैं तभी तो अब यह स्वस्थ हो गया है ऐसा निर्णय होता है।

यदि कोई कहे कि दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रि तिर्यंच मनुष्य आदि के शरीर से आत्मा निकल गई है इस बात का निर्णय करना तो सहज है किन्तु एकेन्द्रिय पृथ्वी जल आदि में से आत्मा निकल गई है इसका निर्णय करना असम्भव है क्योंकि पृथ्वी आदि में चेतना आदि के रहते हुये भी हलन, चलन आदि चेष्टाये, श्वासोच्छ्वास, वचन-प्रयोग आदि बाह्य व्यापार असम्भव है अतः इनमें से चेतना निकल चुकी है यह कहना अशक्य है। इस पर भी आचार्य कहते हैं कि एकेन्द्रिय स्थावर में भी चैतन्य के विद्यमान रहने से पृथ्वीकायिक आदि में वृद्धि व वनस्पतिकायिक के हरे-भरे रहने से जीवितपने का अनुमान किया जाता है एवं शुष्क आदि हो जाने पर निर्जीव का अनुमान स्पष्ट है तथा च आगम के द्वारा भी हम इन स्थावरकायिक जीवो के शरीर को अचेतन समझ सकते हैं।

राजवार्तिक आदि ग्रथो मे पाचों ही स्थावर जीवो के ४-४ भेद माने हैं। यथा पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक एव पृथ्वी जीव। सामान्य पृथ्वी को 'पृथ्वी' कहते हैं। पृथ्वीकायिक जीव के निकल जाने पर जो पृथ्वी कलेवर रूप से रह जाती है उसे 'पृथ्वीकाय' कहते हैं। पृथ्वीकायिक नाम कर्म के उदय को लेकर जिसमें एकेन्द्रिय जीव विद्यमान है ऐसी खान आदि की पृथ्वी को 'पृथ्वीकायिक' कहते हैं एवं विग्रहगति अवस्था में विद्यमान जीव को 'पृथ्वीजीव' कहते है। इन चारो में से पृथ्वी एवं पृथ्वीकाय ये दो भेद तो निर्जीव है एव पृथ्वीकायिक तथा पृथ्वीजीव ये दो भेद सजीव हैं। इन दोनों में भी विग्रह गति के जीव की विराधना का तो प्रसग ही नही आता है केवल पृथ्वीकायिक जीवों की ही हिंसा का प्रसग आता है। हा! विग्रह गति के जीवो की भाव हिसा का प्रसग आ सकता है। ऐसे ही जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन चारो के भी चार-चार भेद समझने चाहिये।

आचार्य ने इस बात को अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया है कि जिस प्रकार से मृतक शरीर से चैतन्य निकल गया है एव स्वस्थ शरीर से रोग का अभाव हो गया है वैसे ही मिट्टी के ढेले आदि से सपूर्ण रूप से चैतन्य निकल चुका है वे सर्वथा निर्जीव है। जैसे कृतकत्व हेतु पदार्थ को विनाशीक सिद्ध करता है धूम हेतु अप्रत्यक्ष—नही दिखती हुई अग्नि को सिद्ध करता है अतः इन कृतकत्व, धूमत्व हेतुओं को विनश्वर और अग्नि के साथ व्याप्ति सिद्ध है। यद्यपि यह व्याप्ति अदृश्य है फिर भी प्रमाणीक है अन्यथा अनुमान ज्ञान का अवतार ही नही हो सकेगा। वैसे ही पृथ्वी आदि से चैतन्य आदि गुणों का अभाव भी सिद्ध है अतः पत्थर आदि मे भी बुद्धि का भी सर्वथा अभाव हो जाने से हमारा "अतिशायन" हेतु व्यभिचारी नही है।

राग, द्वेष आदि रूप जो भावकर्म हैं वे तो दोष हैं और ज्ञानावरण आदि जो द्रव्यकर्म हैं वे आवरण कहलाते हैं इन दोष और आवरणों का भी किसी न किसी जीव में सर्वथा अभाव हो सकता है

[कर्मद्रव्यस्य प्रध्वंसाभावरूपाभावे मन्यमाने सति दोषारोपणं, स्याद्वादिभिस्तद्दोषनिराकरणं]

[1]ननु च यदि [2]प्रध्वंसाभावो हानिस्तदा सा पौद्गलिकस्य ज्ञानावरणादेः कर्मद्रव्यस्य न सभवत्येव नित्यत्वात्[3]तत्पर्यायस्य तु [1]हानावपि[2] कुतश्चित्[4] पुनः [5]प्रादुर्भावान्न निश्शेषा हानिः स्यात्। निश्शेषकर्मपर्यायहानौ वा कर्मद्रव्यस्यापि हानिप्रसङ्गः, तस्य तदविनाभावात्। तथा च निरन्वयविनाशसिद्धेरात्मादि[3]द्रव्याभावप्रसङ्ग इति [4]कश्चित् सोप्यनवबुद्धसिद्धान्त एव। यस्मात्, [6]मणेर्मलादेर्व्यावृत्तिः [7]क्षयः, सतोत्यन्तविनाशानुपपत्तेः। तादृगात्मनोपि [5]कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धिः*। प्रध्वंसाभावो हि क्षयो हानिरिहाभिप्रेता। सा च व्यावृत्तिरेव मणेः

क्योंकि सभी ससारी जीवों मे इन दोनो की तरतमता देखी जाती है अत. कर्म कलंक रहित—अकलक—निर्दोष परमात्मा की सिद्धि हो जाती है और अकलकदेव के निर्दोष वचनों की भी सिद्धि हो जाती है।

[कर्मद्रव्य का प्रध्वसाभावरूप अभाव मानने पर दोषारोपण एव स्याद्वादी द्वारा उन दोषों का निराकरण]

तटस्थ जैन—यदि प्रध्वसाभाव रूप अभाव (हानि) आपको इष्ट है तो फिर वह हानि पुद्गल रूप ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म में सभव नहीं है क्योंकि द्रव्यरूप से पुद्गल द्रव्यकर्म नित्य है।

यदि पुद्गल द्रव्य के पर्याय की हानि मानो तो भी किसी कारण से पुन. उस पर्याय की उत्पत्ति होने से निःशेष—सपूर्ण हानि नही हो सकेगी अथवा निःशेष कर्म पर्याय की हानि होने पर कर्मद्रव्य की भी हानि का प्रसग आ जावेगा क्योंकि कर्मरूप पर्याय का कर्मद्रव्य (पुद्गल) के साथ अविनाभाव पाया जाता है। उसी प्रकार से निरन्वय विनाश होने से आत्मादि द्रव्य के अभाव का भी प्रसग हो जावेगा।

आचार्य—आपने भी सिद्धात को ठीक से समझा नही है क्योंकि **मणि से मलादि का पृथक्करण होना ही क्षय माना गया है। अर्थात् एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का अलग हो जाना ही क्षय है इस बात को सैद्धांतिक लोगों ने स्वीकार किया है क्योंकि सत् (विद्यमान) पदार्थ का अत्यत विनाश नहीं हो सकता है। उसी प्रकार सत् स्वरूप आत्मा से भी कर्मों का पृथक्करण हो जाने पर आत्मा में परिपूर्ण शुद्धि हो जाती है।***

यहा पर प्रध्वसाभाव रूप क्षय को ही हानि शब्द से स्वीकार किया है और मणि से मलादि की अथवा कनक पाषाण से किट्ट कालिमा आदि की व्यावृत्ति ही पाई जाती है न कि अत्यत विनाश। क्योंकि अत्यंत रूप से विनाश माना जाए तो प्रश्न यह उठता है कि अत्यत विनाश द्रव्य का होता है या पर्याय का ? द्रव्य का तो हो नहीं सकता क्योंकि द्रव्य नित्य है और न पर्याय का ही हो सकता है क्योंकि

---

१ तटस्थो जैनः। २ भूत्वाभवनलक्षणः। ३ द्रव्यत्वेन। ४ कारणात्। ५ तत्पर्यायस्य। ६ सकाशात्। ७ एकस्माद्द्वितीयस्य व्यावृत्तिरेव क्षय इष्यते सैद्धान्तिकानाम्।

---

(1) द्रव्यत्वेन सद्भावात् निःशेषहानिर्मास्तु। (2) मिथ्यादर्शनादिकारणात्। (3) तस्यापि कर्मपर्यायहानौ सत्यां तस्यापि हानिः स्यात्। (4) यौगो बुद्धो वा। (5) कर्मणां इति पा.।

कनकपाषाणाद्वा मलस्य [1]किट्टादेर्वा । न पुनरत्यन्तविनाशः । स हि द्रव्यस्य वा स्यात्पर्यायस्य वा ? न तावद्द्रव्यस्य, नित्यत्वात् । नापि पर्यायस्य द्रव्यरूपेण ध्रौव्यात् । तथा हि । विवादापन्नं मण्यादौ मलादि [1]पर्यायार्थतया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुवं, [2]सत्त्वान्यथानुपपत्तेः[2] ।

[शब्दविद्युद्दीपादयोऽपि कथंचिन्नित्याः सन्ति]

[3]शब्देन व्यभिचार[3] इति चेन्न, तस्य द्रव्यतया ध्रौव्याभ्युपगमात् । विद्युत्प्रदीपादिभिरनेकान्त[4] इत्ययुक्तं, तेषामपि द्रव्यत्वतो[5] ध्रुवत्वात्, क्षणिकैकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधस्याभिधानात् । ततो यादृशी मणेर्मलादेर्व्यावृत्तिर्हानिः परिशुद्धिस्तादृशी जीवस्य कर्मणां

पर्याय भी द्रव्य रूप से ध्रौव्य है अर्थात् पर्याय से भिन्न द्रव्य या द्रव्य से भिन्न पर्याय नहीं है । तथाहि 'मणि आदि में विवादापन्न मलादि पर्याय रूप से अनित्य होते हुये भी द्रव्य रूप से ध्रुव है क्योंकि अस्तित्व की अन्यथानुपपत्ति है ।" अस्तित्व की अन्यथानुपपत्ति है इसका अभिप्राय यह है कि ध्रौव्य के बिना सत् रह नहीं सकता ।

[शब्द, विद्युत्, दीपक आदि भी कथंचित् नित्य हैं ।]

शंका—शब्द के साथ व्यभिचार आता है यथा—"शब्द नश्वर है क्योंकि सत्‌रूप है ।" यहां यह सत्त्वान्यथानुपपत्ति रूप हेतु शब्द को नश्वर ही सिद्ध करता है न कि ध्रौव्य ।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है । शब्द भी द्रव्य रूप से ध्रौव्य है ऐसा हमने स्वीकार किया है ।

शंका—विद्युत् दीपक आदि से भी व्यभिचार आता है अर्थात् बिजली दीपक आदि का अस्तित्व होते हुये भी द्रव्य रूप से ध्रौव्यपने का अभाव है । इसलिए आपका अस्तित्व हेतु व्यभिचारी है क्योंकि बिजली, दीपक आदि सर्वथा नष्ट होते हुए देखे जाते है ।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है । बिजली दीपक आदि भी पुद्गल द्रव्य होने से द्रव्यरूप से ध्रौव्य ही है क्योंकि क्षणिक एकांत में सर्वथा ही अर्थक्रिया का विरोध है ऐसा कहा गया है । इसलिये जैसे मणि से मलादि की व्यावृत्ति रूप हानि ही परिपूर्ण शुद्धि कहलाती है वैसे ही जीव के कर्मों की निवृत्ति रूप हानि भी परिपूर्ण शुद्धि कहलाती है ।

१ यथा व्यावृत्तिरिति शेषः । २ ध्रौव्यमन्तरेण । ३ शब्दो नश्वरः सत्त्वादित्यपि वक्तुं शक्यत्वात् । कि तात्पर्यम् ? सत्त्वान्यथानुपपत्तिरूपो हेतुः शब्दस्य नश्वरत्वमेव साधयति, न तु ध्रौव्यमित्यर्थः । ४ विद्युदादीनां सत्त्वेपि द्रव्यार्थतया ध्रौव्याभावादनेकान्त इत्यर्थः । ५ पुद्गलद्रव्यत्वत ।

(1) पर्याय **अर्थो** यस्य सः पर्यायार्थस्तस्य भावस्तत्ता । (2) **नश्वरानश्वरात्मकत्वाभावे** । (3) **शब्दबुद्धिकर्मणां त्रिलक्षणाबस्थायित्व** ।

निवृत्तिर्हानिः । तस्यां च सत्यामात्यन्तिकी शुद्धिः सम्भाव्यते, सकलकर्मपर्यायविनाशेपि [1]कर्मद्रव्यस्याविनाशात्त[1]स्याकर्म[2]पर्यायाक्रान्ततया परिणमनाद्, मलद्रव्यस्य मलात्मकपर्यायतया निवृत्तावप्यमलात्मक[3]पर्यायाविष्टतया[2] परिणमनवत् । तदेतेन[3] [4]तुच्छः प्रध्वंसाभावः [5]सर्वत्र प्रत्याख्यातः, कार्योत्पादस्यैव पूर्वाकारक्षयरूपत्वप्रतीतेः । समर्थयिष्यते चैतत् "कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात्" [4]इत्यत्र । + **तेन मणेःकैवल्यमेव मलादेर्वैकल्यम् ।**

सकल कर्म पर्याय का विनाश होने पर भी कर्मद्रव्य का विनाश नही होता है वह कर्मद्रव्य अकर्मपर्याय रूप परिणमन कर जाता है। अर्थात् पुद्गल द्रव्य वर्गणाये ही आत्मा के रागादिभाव का आश्रय लेकर कर्मरूप परिणमन कर जाती है और आत्मा को परतंत्र बना देती है। कदाचित् उस आत्मा से अलग होकर कर्मत्व अवस्था को छोड़कर पुनः पुद्गल रूप ही हो जाती है इस प्रकार सिद्धांत वचन है। जैसे कि मणि से मलद्रव्य का मलात्मक पर्याय रूप से विनाश हो जाने पर भी अमलात्मक (अन्यपुद्गल) पर्याय रूप से परिणमन हो जाता है।

इसी कथन से जो तुच्छाभाव रूप प्रध्वसाभाव को स्वीकार करते है उनका भी खण्डन कर दिया गया है क्योंकि कार्य का उत्पाद ही पूर्वाकार के क्षय रूप से प्रतीति मे आता है।

इसी का आगे "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः" इत्यादि कारिका में समर्थन करेंगे।

भावार्थ—शंकाकार का कहना है कि यदि आप जैन ज्ञानावरण आदि कर्मद्रव्य का प्रध्वस होना रूप अभाव स्वीकार करोगे तब तो सिद्धात से विरोध आ जावेगा क्योकि पौद्गलिक कर्म द्रव्य रूप कार्माण वर्गणाओ का सर्वथा अभाव हो नही सकता है। जैन सिद्धात में सभी द्रव्यों को नित्य माना गया है अतः कर्मद्रव्य का नाश असभव है। यदि कर्मपर्याय का नाश मानो तो भी एक पर्याय का नाश दूसरी पर्याय के उत्पाद रूप से होता है अत. एक कर्म पर्याय नष्ट होकर दूसरे कर्मरूप परिणत हो जावेगी। पुनः किसी जीव में सम्पूर्णतया कर्मो का अभाव सिद्ध करना अशक्य ही है। अथवा कर्म पर्याय का सम्पूर्णतया नाश मान भी लोगे तो भी कर्मद्रव्य का अभाव दुर्निवार हो जावेगा क्योंकि कोई भी पर्याय अपने द्रव्य को छोड़कर रह नही सकती है अतः सर्वथा पर्याय के अभाव में द्रव्य का अभाव भी मानना पड़ेगा और द्रव्य का अभाव मान लेने पर तो आप निरन्वय विनाशवादी बौद्ध ही बन जावेगे।

१कर्मद्रव्यस्य । २ पुद्गलद्रव्यस्यात्मनि पारतन्त्र्यकरणे कर्मत्व- परिणामस्तदकरणेऽकर्मत्वपरिणाम इति सिद्धान्तः ।३ यथा घटपटादिः । ४ कारिकायाम् ।

---

(1) पुद्गलद्रव्यमात्मनि पारतन्त्र्य करोति तदा कर्मत्वपरिणामः पारतन्त्र्य न करोति तदाऽकर्मत्वपरिणामः पुद्गलद्रव्यमेव । (2) आक्रांतत्वेन । (3) मणेर्मलादिरित्यादिमूलग्रथेन । (4) सर्वथा निरवशेषः । (5) घटादौ ।

+ ब्यावर अष्टसहस्री प्रति मे "तेन········ वैकल्यम्" पंक्ति अष्टशती है अन्यत्र अ. ब. स. मु. अष्टशती एव दिल्ली अष्ट स. प्र. मे मु. अष्ट स. मे नही है।

[बुद्धेर्विनाशः सर्वथा भवति न वा ?]

कर्मणोपि वैकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव ततो [1]**नातिप्रसज्यते*** । द्रव्यार्थतया बुद्धेरात्मन्यप्यविनाशात्सर्वात्मना परिक्षयाप्रसङ्गात् पर्यायार्थतया परिक्षयेपि सिद्धान्ताविरोधात् । [2]ननु च यथा कर्मद्रव्यस्य कर्मस्वभावपर्यायनिवृत्तावप्यकर्मात्मकपर्यायरूपतयावस्थानं तथात्मनो बुद्धिपर्यायतया निवृत्तावप्यबुद्धिरूपपर्यायतयावस्थानात् सिद्धान्तविरोध[1] एवेत्यतिप्रसज्यते इति [3]चेन्न, वैषम्यात्[4] । कर्मद्रव्यं हि पुद्गलद्रव्यम् । तस्यात्मनि पारतन्त्र्यं कुर्वतः

इस पर जैनाचार्यों ने कहा कि जो पौद्गलिक कार्माण वर्गणायें हैं वे जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर कर्मरूप पर्याय से परिणत हो जाती हैं उन कर्मवर्गणाओं का जीव से पृथक् होना ही अभाव है जीव से पृथक् होकर ये कर्मवर्गणायें कर्मपर्याय को छोड़कर अकर्म - पुद्गल रूप परिणत हो जाती हैं अत एक पर्याय का विनाश होने पर भी अकर्म रूप दूसरी पर्याय का उत्पाद हो जाने से पुद्गल द्रव्य के अभाव का प्रसंग नहीं आता है। जैसे पुद्गल की पर्याय रूप प्रकाश का विनाश होकर अंधकार रूप पुद्गल की पर्याय प्रकट हो जाती है। श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है कि "दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति" इसलिये द्रव्य कर्म रूप पुद्गल द्रव्य का सर्वथा विनाश न होकर कर्म पर्याय का ही विनाश होना सिद्ध हो गया।

[बुद्धि का सर्वथा विनाश होता है या नहीं ?]

मणि का केवल अपने स्वरूप से रहना ही मलादिक से विकल होना है उसी प्रकार आत्मा से कर्मों की विकलता ही उसकी कैवल्य-स्वस्वरूप की प्राप्ति है इसलिए अतिप्रसंग दोष नहीं आता है। * अर्थात् जैसे कर्म से विकल होने पर भी आत्मा की कैवल्य अवस्था है उसी प्रकार बुद्धि की विकलता होने पर भी आत्मा की कैवल्य अवस्था बनी रहे यह अतिप्रसग दोष नही होता है।

द्रव्य रूप से आत्मा में बुद्धि का विनाश नहीं होता है अतः संपूर्ण रूप से नाश का प्रसग नही आता है परन्तु पर्याय रूप से नाश होने पर भी सिद्धांत से विरोध नही आता है। अर्थात् द्रव्य रूप से ज्ञान सामान्य आत्मा का गुण है और वह द्रव्य में अन्वय रूप से सतत मौजूद रहता है अतः द्रव्य रूप से ज्ञान का नाश मानने पर आत्मा का ही अभाव हो जावेगा परन्तु ऐसा नहीं होता और पर्याय रूप से अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय रूप क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा से विनाश मानने पर भी सिद्धांत में विरोध नही आता है क्योंकि अर्हत अवस्था में क्षयोपशमिक ज्ञानों का अभाव स्वीकार किया है।

१ निःशेषकर्मपर्यायहानौ वा कर्मद्रव्यस्यापीत्यादिनोक्तप्रकारेण । यथा कर्मवैकल्येप्यात्मकैवल्यं तथा बुद्धिवैकल्येप्यात्मकैवल्यमस्त्विति वाऽतिप्रसङ्गो नेति भावः । २ सौगतः । ३ जैनः । ४ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः ।

(1) ज्ञानादिसहितत्वेनात्मनोऽवस्थानं जैनमते ।

कर्मत्वपरिणामस्तद[1]कुर्वतोऽकर्मत्वपरिणामेनावस्थानं, [१]रूपादिमत्त्वसामान्यलक्षणत्वात्[२]पुद्गलद्रव्यस्य[3] [4]कर्मत्वलक्षणत्वाभावादविरुद्धमभिधीयते[5] । [6]बुद्धिद्रव्यं तु जीवः । [7]तस्य बुद्धिः पर्यायः । तत् सामान्यं लक्षणम्, "उपयोगो[8] लक्षणम्" इति वचनात् । न च लक्षणाभावे लक्ष्यमवतिष्ठते[9], [२]तस्य [३]तदलक्षणत्वप्रसक्तेर्येनाबुद्धिपर्यायात्मकतयावस्थानं जीवस्य निःशेषतो बुद्धिपरिक्षयेप्यविरुद्धं स्यात्[४] ।

[अज्ञानादिदोषाणामभावो कथं भविष्यति ?]

[१]नन्वेवमज्ञानादेर्दोषस्य पर्यायार्थतया हानिर्निश्शेषा सिध्येदावरणवन्न[10] पुनर्द्रव्यार्थतया

बौद्ध—जैसे कर्मद्रव्य का कर्म पर्याय रूप से विनाश हो जाने पर भी अकर्मात्मक पर्याय रूप से अवस्थान पाया जाता है । उसी प्रकार आत्मा के भी बुद्धिपर्याय का विनाश हो जाने पर अबुद्धि रूप पर्याय से उसका अवस्थान होने से सिद्धान्त में विरोध आ ही जावेगा ।

जैन—दृष्टान्त और दार्ष्टांत मे विषमता होने से आपका यह कथन युक्ति संगत नही है क्योंकि कर्मद्रव्य पुद्गलद्रव्य है और वह आत्मा को परतंत्र करते हुए कर्म रूप से परिणमन करता है तथा आत्मा को परतंत्र न करते हुए अकर्मत्व रूप से परिणमित होकर अवस्थित रहता है । किसी भी द्रव्य का अत्यन्त विनाश नही होता है क्योंकि पुद्गल द्रव्य वर्ण, रस, गन्ध स्पर्श रूप सामान्य लक्षण वाला है । कर्म रूप लक्षण का उसमें अभाव होने से विरोध नही आता है पर द्रव्य-जीवद्रव्य के निमित्त से ही वह पुद्गल विभाव रूप परिणमन करके कर्म बनता है पुन कर्मपर्याय का अभाव होने पर अपने स्वभाव मे आ जाता है किंतु बुद्धि द्रव्य तो जीव है । बुद्धि उस जीव की पर्याय है और वह जीव का सामान्य लक्षण है ।

"उपयोगो लक्षणम्" यह सूत्रकार का वचन है और लक्षण के अभाव मे लक्ष्य भी नही रह सकता है । अन्यथा लक्ष्यभूत जीव उपयोग लक्षण से रहित लक्षण शून्य हो जावेगा अत. जीव में निःशेष रूप से बुद्धि का परिक्षय हो जाने पर भी अबुद्धि का पर्यायात्मक रूप मे अवस्थान होवे और इसमें विरोध न आवे ऐसा नही हो सकता है । अर्थात् यह बात विरुद्ध ही है ।

[अज्ञानादि दोषो की हानि कैसे होगी ?]

मीमांसक—इस प्रकार से सत् पदार्थ का अत्यन्त रूप से विनाश न होने से "अज्ञानादि दोष की

१ आदिपदेन रसगन्धवर्णाः । २ लक्षणस्य । ३ तत्=लक्ष्यम् । ४ अपि तु न स्यात् । ५ सतोत्यन्तविनाशानुपपत्तिप्रकारेण ।

(1) आत्मनि परतन्त्रत्व इति दिल्लीप्रतौ । (2) स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः । (3) पुद्गलद्रव्यं हि द्वेधा अणुस्कंधभेदात् तत्र प्रदेशमात्रस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यते शब्दायते इति अणव इति निरूपणात् अणव. स्पर्शादिमत. स्कंधास्तु शब्दादिमत. स्पर्शादिमतश्चेति अत्र पुद्गलद्रव्यमिति अणव एव गृह्यते । (4) अत्ता कुणदि सहाव तत्थगदा पुग्गला सहावेहि । गच्छति कम्मभाव अण्णोण्णवगाढमवगाढ ॥ (5) सिद्धाते इति वि. प्र. (6) ता । (7) जीवस्य इति दि. प्र. । (8) ज्ञानदर्शने । (9) अन्यथा । (10) ज्ञान ।

बुद्धिवत् । ततो दोषसामान्यस्यात्मन्यवस्थानान्न निर्दोषत्वसिद्धिरित्यपरः[1], सोप्यतत्त्वज्ञ एव, यतः **प्रतिपक्ष एवात्मनामागन्तुको [2]मलः [3]परिक्षयी [4]स्वनिर्ह्रासनिमित्त-[5]विवर्द्धनवशात्*** ।

[आत्मनः परिणामो कतिविधः ?]

द्विविधो ह्यात्मनः परिणामः स्वाभाविक आगन्तुकश्च । तत्र स्वाभाविकोनन्तज्ञानादिरात्मस्वरूपत्वात् । [2]मलः पुनरज्ञानादिरागन्तुक, [6]कर्मोदयनिमित्तकत्वात् । स चात्मनः प्रतिपक्ष एव । तत परिक्षयी । तथा हि । यो[7] यत्रागन्तुकः स तत्र स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी । यथा [3]जात्यहेम्नि ताम्रादिमिश्रणकृतः [8]कालिकादिः । आगन्तुकश्चात्म-

---

पर्याय रूप से ही निःशेष हानि होगी जैसे कि आवरण की होती है, न पुनः द्रव्य रूप से बुद्धि के समान ।" इससे आत्मा में दोष सामान्य का अवस्थान रहने से निर्दोषपने की सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

जैन—आपने तत्त्व को नहीं समझा है। **आत्मा के आगन्तुकमल अज्ञानादि दोष प्रतिपक्षी ही हैं और वे परिक्षयी हैं क्योंकि उनके विनाश के निमित्त भूत सम्यग्दर्शनादि की वृद्धि पायी जाती है ।***

[आत्मा के परिणाम कितने प्रकार के है ?]

आत्मा के परिणाम दो प्रकार के है-स्वाभाविक और आगतुक । उसमें अनतज्ञानादि गुण स्वाभाविक परिणाम है क्योंकि वे आत्मा के स्वरूप है । अज्ञानादि मल आगन्तुक परिणाम है क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय के निमित्त से होते है । वे आगंतुक परिणाम आत्मा के प्रतिपक्षी हो हैं इसीलिए परिक्षयी—क्षय होने वाले हैं । तथाहि—

"जो जहा पर आगतुक है वह वहाँ पर अपने विनाश के निमित की वृद्धि के कारण मिल जाने पर क्षय होने वाला है जैसे उत्कृष्ट स्वर्ण में तावे आदि के मिश्रण से होने वाली कालिमा आदि । आत्मा में अज्ञानादि मल आगतुक है इसीलिए वे परिक्षयी है" यह स्वभाव हेतु है । हमारा यह 'स्वनिर्ह्रासनिमित्त-विवर्धनवशात्' हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि "जो जहा पर कादाचित्क है वह वहाँ पर आगतुक है जिस प्रकार स्फटिकमणि मे लाल आदि आकार ।" तथा आत्मा में दोष कादाचित्क है । और हमारा यह कादाचित्क हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि सम्यग्ज्ञानादि गुणो के प्रकट होने पर आत्मा में दोषों का उद्‌भव नहीं देखा जाता है ।

---

१ मीमांसकः । २ अज्ञानादिर्दोषः । ३ पृथक्करणमेव क्षयः । ४ निर्ह्रासो विनाशः । ५ मलनिर्ह्रासस्य निमित्त सम्यग्दर्शनादिगुणास्तस्य विवर्द्धनवशाद्धेतोः । ६ कर्म ज्ञानावरणादि । ७ अज्ञानादिर्मल आत्मनि स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी, आगन्तुकत्वादित्यध्याहार्यम् । ८ स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी प्रसिद्ध ।

---

(1) ता । (2) आत्मनि अज्ञानादिर्मलः पक्षः । आगंतुको भवतीति साध्यो धर्मः । कर्मोदयनिमित्तकत्वान्यथानुपपत्तेः. वि. प्र. । (3) षोडशवर्णे ।

न्यज्ञानादिर्मलः । इति स्वभावहेतुः । न तावदयमसिद्धः ।कथम् ? यो[१] यत्र कादाचित्कः स तत्रागन्तुकः । यथा स्फटिकाश्मनि लोहिताद्याकारः । कादाचित्कश्चात्मनि[1] दोष इति । न [2]चेदं कादाचित्कत्वमसिद्धं, सम्यग्ज्ञानादिगुणाविर्भावदशायामात्मनि दोषानुपपत्तेः ।

[मीमांसको जीवस्य स्वभावं दोषं मन्यते तस्य निराकरणं]

[२]ततः [३]प्राक्तत्सावाद्गुणाविर्भूतिदशायामपि[४] तिरोहितदोषस्य सद्भावान्न कादाचित्कत्वं, सातत्यसिद्धेरिति चेन्न, [५]गुणस्याप्येवं[६] सातत्यप्रसङ्गात् । तथा[७] च हिरण्य-

भावार्थ—शंकाकार मीमांसक का कहना है कि जैसे आवरण रूप द्रव्य कर्म पर्याय रूप से ही नष्ट होते हैं । द्रव्यरूप से नहीं यह बात आपने सिद्ध कर दी है । उसी प्रकार से अज्ञान आदि दोष भी पर्याय रूप से ही नष्ट होंगे न कि द्रव्य रूप से और तब सामान्यतया दोषों का द्रव्य रूप से अस्तित्व बना ही रहेगा पुनः कोई भी आत्मा निर्दोष, सर्वज्ञ कैसे हो सकेगी ?

इस पर जैनाचार्य समाधान करते है कि जैन सिद्धान्त में प्रत्येक आत्मा के परिणाम दो प्रकार के माने गये हैं एक स्वाभाविक और दूसरा आगतुक अथवा वैभाविक । अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि तो आत्मा के स्वाभाविक परिणाम हैं क्योंकि ये आत्मा के ही स्वरूप है जैसे कि अग्नि का स्वरूप उष्ण एवं जल का स्वभाव शीतलता है और अज्ञान आदि जो दोष है वे आँगतुक है क्योंकि ये कर्म के उदय से ही होते है ये आत्मा के स्वभाव को ही विकृत करके रहते है अतएव इन्हे विभाव भाव भी कहते है । ये कर्म के उदय से ही होते है अतः इन्हें औपाधिक भाव भी कहते है । जब कर्म को नाश करने की सामग्री मिल जाती है तब ये विभावभाव स्वभाव रूप परिणत हो जाते हैं जैसे मिथ्यात्व के अभाव मे जीव में सम्यक्त्व गुण प्रकट हो जाता है ।

ज्ञानावरण के अभाव में केवलज्ञान, अंतराय के अभाव में अनंतवीर्य आदि गुण प्रकट हो जाते है । इसलिए ये अज्ञानादि दोष पृथक् कोई द्रव्य नही हैं किन्तु जीव के ही विकारी परिणाम है विकार के कारणभूत कर्मोदय के पृथक् हो जाने से ये अपने स्वभाव में ही रह जाते है साता-असाता वेदनीय का अभाव होने से स्वाभाविक स्वात्मा से ही उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख रह जाता है और इन्द्रिय जन्य वैभाविक सुख दुःख का काम समाप्त हो जाता है । इसी का नाम है दोषो का अभाव ।

[मीमासक दोषो को जीव का स्वभाव मानता है उसका निराकरण ।]

मीमांसक—गुणो के प्रकट होने के पहले दोषों का सद्भाव होने से गुणों की आविर्भूत दशा में भी

१ आत्मन्यज्ञानादिर्मल आगन्तुक कादाचित्कत्वादित्यध्याहार्यम् । २ दोषस्वभावत्वं जीवानामिच्छन् मीमासकः प्राह । ३ गुणाविर्भूतेः प्राक् । ४ स दोषः । ५ ब्रह्मादिज्ञानस्य । ६ दोषप्रकारेण । ७ गुणसद्भावकालेपि तिरोहितदोषसद्भावेङ्गीक्रियमाणे ।

(1) आत्मनि दोषः पक्षः आगतुको भवतीति साध्यो धर्मः कादाचित्कत्वात् तस्मादागतुक इति निगमः दि. प्र. ।
(2) परः आह इदं कादाचित्कत्वमसिद्धं जैन आह एवं न दि. प्र. ।

गर्भादिर्वेदार्थज्ञानकालेपि वेदार्थाज्ञानप्रसङ्गः । ज्ञानाज्ञानयोः परस्परविरुद्धत्वादेकत्रैकदा न प्रसङ्ग इति चेत्तत एव सकलगुणदोषयोरेकत्रैकदा प्रसङ्गो मा भूत् । पुनर्दोषस्याविर्भावदर्शनाद्गुणकालेपि सत्तामात्रसिद्धिरिति चेत्तर्हि गुणस्यापि पुनराविर्भूतिदर्शनाद्दोषकालेपि सत्तामात्रसिद्धिः, सर्वथा विशेषाभावात् । तथा चात्मनो दोषस्वभावत्वसिद्धिवद्गुणस्वभावत्वसिद्धिः कुतो निवार्येत ? विरोधादिति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धिरेव निवार्यतां, [१]तस्य गुणस्वभावत्वसिद्धेः । कुतः [३]मेति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धिः[२] कुतः ? ससारित्वान्यथानुप[४]पत्ते-

तिरोहित (ढके हुए) दोषो का सद्भाव पाया जाता है अतः दोष कादाचित्क नही है किन्तु उनकी नित्यता ही सिद्ध होती है। अर्थात् मीमासक कहता है कि दोष जीव का स्वभाव है क्योंकि वह आत्मा में हमेशा ही पाया जाता है गुण तो दोष के अभाव में यानी तिरोहित होने पर होते हैं अतः वे पर निमित्तक हैं।

जैन— यह ठीक नही है क्योंकि दोष के समान गुणों को भी नित्यपने का प्रसग आवेगा। अर्थात् गुणों के सद्भाव के समय भी तिरोहित रूप से दोषो का सद्भाव मानना पड़ेगा तब गुणो के सद्भाव के काल में भी ढके हुए दोषो का सद्भाव स्वीकार करने पर ब्रह्मा आदि को वेदार्थ के ज्ञान के समय भी वेद के अर्थ के अज्ञान का प्रसग आ जावेगा।

मीमांसक- ज्ञान और अज्ञान का परस्पर में विरोध होने से एक जीव में एक समय में दोनों नहीं रह सकते है।

जैन—उसी प्रकार सकल गुण और दोष का भी एक जीव मे एक समयमें प्रसग नही होना चाहिए।

मीमांसक—पुनः दोषों का आविर्भाव देखा जाता है अतः गुण के काल में भी दोषों की सत्ता मात्र सिद्ध होती है।

जैन— तो गुण का भी आविर्भाव देखे जाने से दोष के काल में भी गुणों की सत्ता मात्र सिद्धि क्यों न हो जावे क्योकि दोनो में कोई अन्तर नही है फिर आत्मा के दोष स्वभाव की सिद्धि के समान गुण स्वभावपने की सिद्धि का निवारण भी कैसे हो सकता है ?

मीमांसक- विरोध होने से अर्थात दोष और गुण परस्पर विरोधी है ये दोनो स्वभाव जीव के कैसे हो सकेगे ? परस्पर विरोधी दो स्वभावों का एक जगह एक काल में रहने में विरोध है।

जैन—यदि ऐसी बात है तो दोष स्वभाव का ही निवारण कीजिये और जीव का गुण स्वभाव है ऐसा ही स्वीकार कीजिये

मीमांसक—आत्मा का स्वभाव गुण है यह बात हम किस प्रमाण से माने ?

जैन—आत्मा का स्वभाव दोष है यह बात भी हम किस प्रमाण से मानें ?

१ आत्मन. । २ आत्मनो गुणस्वभावत्वसिद्धि । ३ आत्मनः । ४ आत्मनो दोषस्वभावत्वमन्तरा संसारित्व न स्यात्ततो दोषस्वभावत्वसिद्धिरिति मीमासक ।

रिति [1]चेत्तत्संसारित्वं सर्वस्यात्मनो यद्यनाद्यनन्तं तदा [1]प्रतिवादिनोऽसिद्धं, प्रमाणतो मुक्तिसिद्धेः।

[क्वचिदात्मनि ससारस्याभावो भवतीति जैनाचार्या साधयंति]

[2]कुत इति चेदिमे [3]प्रवदामः। क्वचिदात्मनि संसारोऽत्यन्तं निवर्तते [4]तत्कारणात्यन्तनिवृत्त्यन्यथानुपपत्तेः। संसारकारणं हि मिथ्यादर्शनादिकमुभयप्रसिद्धं [5]क्वचिदत्यन्तनिवृत्तिमत्,तद्विरोधिसम्यग्दर्शनादिपरमप्रकर्षसद्भावात्। यत्र यद्विरोधिपरमप्रकर्षसद्भावस्तत्र तदत्यन्तनिवृत्तिमद्भवति। यथा चक्षुषि तिमिरादि[2]। नेदमुदाहरणं साध्यसाधनधर्मविकलं, कस्यचिच्च-

मीमांसक—ससारीपने की अन्यथानुपपत्ति होने से अर्थात् आत्मा के दोषस्वभाव के बिना ससारीपना बन नहीं सकता है इसलिए दोष आत्मा का स्वभाव है यह बात सिद्ध हो जाती है।

जैन—यदि संसारीपना सभी जीवों के अनादि और अनंत होवे तब तो प्रतिवादी जैन के लिए यह हेतु असिद्ध है क्योंकि प्रमाण से हमारे यहाँ मुक्ति की सिद्धि होती है। अर्थात् सभी के ससारावस्था सदा नहीं रहती किन्तु अनेक जीव संसार का अभाव कर शुद्ध, सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करते है ऐसा हमारा निश्चित मत है।

[किसी जीव के ससार का सर्वथा अभाव हो जाता है जैनाचार्य इस बात को सिद्ध करते है]

मीमांसक—किस प्रमाण से मुक्ति की सिद्धि है ?

जैन—हम कहते है "किसी आत्मा में संसार का अत्यन्त विनाश देखा जाता है क्योंकि ससार के कारण मिथ्यादर्शन आदि के अत्यन्त रूप से विनाश की अन्यथानुपपत्ति है।" तथा मिथ्यादर्शन आदि ससार के कारण है अतः वे कहीं पर अत्यन्त विनाश को प्राप्त होते है। यह बात वादी प्रतिवादी दोनो को ही मान्य है क्योंकि मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी सम्यग्दर्शन आदि का परम प्रकर्ष देखा जाता है।

जहा पर जिसके विरोधी के परम प्रकर्ष का सद्भाव है वहा पर वह अत्यन्त विनाश रूप देखा जाता है जैसे चक्षु मे तिमिरआदि रोग। हमारा यह उदाहरण साध्य, साधन धर्म से विकल भी नहीं है क्योंकि किसी के नेत्र में तिमिर (रतौंधी, मोतिया बिन्दु) आदि रोगों का अत्यन्त अभाव-विनाश प्रसिद्ध है और उन रोगों के विरोधी विशिष्ट अजन, औषधि आदि के परम प्रकर्ष का सद्भाव भी सिद्ध ही है। इसमें किसी को भी किसी प्रकार का विसवाद नही है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन आदि मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी है यह निश्चय कैसे होता है ?

उत्तर-सम्यग्दर्शन आदि के परम प्रकर्षता को प्राप्त होने पर उन मिथ्यादर्शन आदिकों की अपकर्षता

१ जैनः। २ मुक्तिसिद्धिः कुतः। ३ वय जैनाः। ४ तत्कारण=मिथ्यादर्शनादि। ५ मिथ्याज्ञानवशात् सम्यग्ज्ञानाभाव इति प्रतिवादिनोपि सिद्धम्।

(1) जैनस्य। (2) तिमिरादिर्वेद इति. पा. दि. प्र.।

क्षुषि तिमिरादेरत्यन्तनिवृत्तिमत्त्वप्रसिद्धेस्त[1]द्विरोधिविशि[1]ष्टाञ्जनादिपरमप्रकर्षसद्भावसिद्धेश्च निर्विवादकत्वात् । कथं मिथ्यादर्शनादिविरोधि सम्यग्दर्शनादि निश्चीयते इति चेत् [2]तत्प्रकर्षे [3]तदपकर्षदर्शनात् । यद्धि प्रकृष्यमाणं यदपकर्षति तत् तद्विरोधि सिद्धम् । यथोष्णस्पर्शः प्रकृष्यमाणः शीतस्पर्शमपकर्षस्तद्विरोधी । मिथ्यादर्शनादिकमपकर्षति च प्रकृष्यमाणं क्वचित्सम्यग्दर्शनादि तत् तद्विरोधि । कथं पुनः सम्यग्दर्शनादेः क्वचित्परमप्रकर्षसद्भावः सिद्ध इति चेत्प्रकृष्यमाणत्वात्[4] । यद्धि प्रकृष्यमाणं [2]तत्क्वचित्परमप्रकर्षसद्भावभाग्दृष्टम् । यथा नभसि परिमाणम् । प्रकृष्यमाणं च सम्यग्दर्शनादि । तस्मात्परमप्रकर्षसद्भावभाक् । परत्वापरत्वाभ्यां[3] [5]व्यभिचार इति चेन्न, तयोरपि [6]सपर्यन्तजगद्वादिनां परमप्रकर्षसद्भावभाक्त्वसिद्धेः । न चापर्यन्त जगदिति वक्तुं शक्यं,

(हानि) देखी जाती है । जो वृद्धि को प्राप्त होता हुआ जिसकी हानि को करता है, वह उसका विरोधी है यह बात प्रसिद्ध है जैसे कि बढता हुआ उष्णस्पर्श शीतस्पर्श की हानि को करता है अतः वह उसका विरोधी प्रसिद्ध है । तथैव जीव में वृद्धि को प्राप्त होते हुए सम्यग्दर्शन आदि मिथ्यादर्शन आदि की हानि करते ही है । इसीलिये वे उनके विरोधी माने गये है ।

प्रश्न—किसी जीव में सम्यग्दर्शनादि के परम प्रकर्ष का सद्भाव पुन: किस प्रकार से सिद्ध है ?

उत्तर—तरतम भावों से वृद्धिगत होते हुए कही न कही परम प्रकर्षपना तो हो ही जावेगा । "जो वृद्धिगत होता हुआ पाया जाता है वह कही न कही परम प्रकर्ष को प्राप्त होता ही है जैसे आकाश मे परिमाण । एव सम्यग्दर्शन आदि वृद्धिगत रूप है इसीलिये वे परम प्रकर्ष को प्राप्त होते ही हैं ।"

प्रश्न—परत्व अपरत्व से हेतु में व्यभिचार आता है अर्थात् प्रकृष्यमाण होते हुए भी परत्व (महत्पना) अपरत्व (लघुपना) परम प्रकर्ष को नही प्राप्त कर सकते हैं ।

उत्तर— आपका यह व्यभिचार दोष भी देना युक्त नही है । परिमाण कर सहित जगत् को मानने वाले अर्थात् लोकाकाश की अपेक्षा से पुरुषाकार स्वरूप असख्यात प्रदेशी जगत को मानने वालों के यहां लघु-महत्पने की भी परमप्रकर्षता स्वीकार की गई है और यह जगत् (लोकाकाश) परिमाण सहित नहीं हैं, ऐसा नही कह सकते क्योकि रचना विशेष पायी जाती है पर्वत आदि के समान । जो पुनः प्रमाण सहित नही है वह विशिष्ट रचनाओं से युक्त भी सिद्ध नही है जैसे आकाश (अलोकाकाश—अनतआकाश) और यह जगत् विशिष्ट सन्निवेश कर सहित है । इसलिए सब तरफ से परिमाण वाला है । इस प्रकार से मैंने (विद्यानंद स्वामी ने) श्लोकवार्तिक आदि ग्रथो में विस्तार से वर्णन किया है ।

१ यतः । २ तस्य सम्यग्दर्शनादेः । ३ तस्य मिथ्यादर्शनस्य । ४ तरतमभावेन वर्द्धमानत्वात् । ५ प्रकृष्यमाणेपि परत्वापरत्वे न परमप्रकर्षभाजीत्याभ्यां हेतोर्व्यभिचारः । ६ पर्यन्तेन (परिमाणेन) सह वर्त्तमानं सपर्यन्तं तच्च जगत् ।

(1) ता । (2) तत्कथचित् इति पा. थि. प्र. । (3) विप्रकृत ।

विशिष्टसन्निवेशत्वात्पर्वतवत् । यत्पुनरपर्यन्तं तन्न विशिष्टसन्निशं सिद्धं, यथा व्योम । विशिष्टसन्निवेशं च जगत् तस्मात्सर्वतः सपर्यन्तमिति निगदितमन्यत्र[१] ।

[अभव्यजीवेषु मिथ्यादर्शनादेः परमप्रकर्षो लभ्यते]

संसारेणानेकान्त[२] इति चेन्न तस्याप्यभव्यजीवेषु परमप्रकर्षसद्भावसिद्धौ प्रकृष्यमाणत्वेन प्रतीतेः । [1]एतेन मिथ्यादर्शनादिभिर्व्यभिचारः [३]प्रत्याख्यातः, [2]तेषामप्यभव्येषु परमप्रकर्षसद्भावात् । ततो नानैकान्तिकं प्रकृष्यमाणत्वं परमप्रकर्षसद्भावे साध्ये । नापि विरुद्धं, सर्वथा [४]विपक्षाद्व्यावृत्तेः । इति क्वचिन्मिथ्यादर्शनादिविरोधि=सम्यग्दर्शनादि=परमप्रकर्षसद्भावं [५]साधयति । स च सिध्यन्मिथ्यादर्शनादेरत्यन्तनिवृत्तिं गमयति । सा च गम्यमाना [६]स्वकार्यसंसारात्यन्तनिवृत्तिं निश्चाययति । यासौ संसारस्यात्यन्तनिवृत्तिः सा मुक्तिरिति ।

[मिथ्यादर्शन आदि का परमप्रकर्ष अभव्य जीवों में पाया जाता है]

प्रश्न—संसार को परम प्रकर्ष के सद्भाव का अभाव होने पर प्रकृष्यमाण रूप हेतु उसमे देखा जाता है अतः संसार के साथ आपका हेतु अनैकांतिक है ।

उत्तर—ऐसा नही कह सकते उस ससार का भी अभव्य जीवों में परम प्रकर्ष का सदभाव सिद्ध होने से प्रकृष्यमाणत्व हेतु की प्रतीति देखी जाती है । इसी प्रकार जो कहते है कि मिथ्यादर्शन आदि के परमप्रकर्ष का अभाव होने पर भी प्रकृष्यमाण हेतु होने से व्यभिचार आता है ।

इस उर्युक्त कथन से उनके भी इस व्यभिचार दोष का परिहार हो जाता है क्योंकि उन मिथ्यादर्शन आदिकों का भी अभव्य जीवों में परम प्रकर्ष पाया ही जाता है इसलिये परमप्रकर्ष के सद्भाव को सिद्ध करने में "प्रकृष्यमाणत्व" हेतु अनैकातिक नही है ।

हमारा यह "प्रकृष्यमाण" हेतु विरुद्ध भी नही है क्योंकि परमप्रकर्ष रहित विपक्ष से उसकी सर्वथा व्यावृत्ति है । इस प्रकार यह प्रकृष्यमाण हेतु किसी जीव में मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुणो के परमप्रकर्ष के सद्भाव को सिद्ध ही करता है और वह रत्नत्रय का परमप्रकर्ष सिद्धि को प्राप्त होता हुआ मिथ्यादर्शन आदि के अत्यन्त विनाश को ही प्रकट करता है तथा मिथ्यादर्शन का अत्यन्त विनाश प्रकट होता हुआ अपने कार्यरूप ससार का अत्यन्त विनाश निश्चित कराता है एव जो यह संसार की अत्यन्त निवृति है वही मुक्ति है ।

---

१ श्लोकवार्तिकादौ । २ समारस्य परमप्रकर्षसद्भावाभावेपि प्रकृष्यमाणत्वरूपहेतोर्दर्शनात् । ३ मिथ्यादर्शनादीना परमप्रकर्षाभावेपि प्रकृष्यमाणत्वहेतोर्दर्शनादनेकान्त प्रत्याख्यात । ४ परमप्रकर्षरहितात् । ५ प्रकृष्यमाणत्वमिति कर्तृपदमध्याहार्यम् । ६ स्वकार्य ससारस्तस्य ।

---

(1) ससारस्य प्रकृष्यमाणत्वेन दि. प्र । (2) तेषामभव्येषु इति पा. । कालत्वेनानतः ।

[ज्ञानादिगुणः आत्मनः स्वभावोऽस्ति किंतु रागादिदोषो नास्ति]

[1]तदन्यथानुपपत्तेरात्मनो ज्ञानादिगुणस्वभावत्वसिद्धेर्न दोषस्वभावत्वसिद्धिः, [2]विरोधात् । प्रसिद्धायां क्वचिदात्मनि निःश्रेयसभाजि [3]गुणस्वभावतायामभव्यादावपि [4]तन्निर्णयः, जीवत्वान्यथा[5]नुपपत्तेः ।

[ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव है किंतु दोष आत्मा के स्वभाव नही है]

मुक्ति की अन्यथानुपपत्ति होने से आत्मा के ज्ञानादि गुण स्वभाव की सिद्धि हो जाती है किन्तु दोष स्वभाव की सिद्धि नही होती है क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी है ।

भावार्थ--मीमासक का कहना है कि आत्मा का स्वभाव दोष है न कि गुण क्योंकि गुणो के प्रकट हो जाने पर दोष ढके हुये रहते है उनका अस्तित्व समाप्त नही होता है । यही कारण है कि मीमांसक किसी भी जीव को शुद्ध, कर्ममलरहित, निर्दोष और सर्वज्ञ भगवान नही मानता है, वह अतींद्रिय पदार्थों के देखने जानने का काम वेदों से ही चला लेता है, उसके सिद्धात मे आत्मा हमेशा ससारी, शरीरी, कर्म-कलक से मलिन, दूषित ही रहती है, कभी भी किसी काल मे भी आत्मा शुद्ध-निर्दोष नही होती है । इससे सर्वथा विरुद्ध साख्य जीवो को ससार अवस्था मे भी कर्मलेप से रहित, निरजन, निष्क्रिय ही मानता है तथा बह्म आत्मा को कभी अशुद्ध मानता ही नही है, किन्तु जैन इन दोनो से विपरीत आत्मा को कथचित् अशुद्ध एवं कथचित् शुद्ध मानते है ।

जैनाचार्यो का कहना है कि यह आत्मा अनादि काल से स्वर्ण-पाषाण के समान कर्ममल से सहित है फिर भी ससार के कारण मिथ्यादर्शन आदि माने गये है उन ससार के कारणो का विनाश सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र आदि के द्वारा किया जा सकता है और ससार के कारणो का पूर्णतया विनाश हो जाने पर जीव पूर्णत शुद्ध, कर्मकलक से निर्लेप, निरंजन, सिद्ध हो जाता है । तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में भी कहा है कि "बधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः"। बंध के हेतु मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग है इनका अभाव हो जाना एव पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा के होने से सपूर्ण कर्मों का अभाव होकर इस जीव को मोक्ष प्राप्त हो जाती है अर्थात् यह जीव कर्मसेरहित-मुक्त हो जाता है ।

इसी बात को अच्छी तरह से सिद्ध करने के लिये श्री विद्यानद स्वामी ने प्रथम तो "स्वनिर्ह्रास-निमित्तविवर्धनवशात्" हेतु दिया है जिसका मतलब है कि अज्ञानादि दोषों के नाश करने वाले सम्यग्दर्शन आदि है । उन रत्नत्रयगुणो की वृद्धि के निमित्त से ये दोष समाप्त हो जाते है । पुनः इस बात को बतलाया है कि ससार के कारण मिथ्यात्व आदि है इनके विरोधी सम्यग्दर्शन आदि की चरमसीमा--पूर्णअवस्था पाई जाती है । यद्यपि आज रत्नत्रय की पूर्णावस्था का दिखना असभव है अतः कही न कही किसी न किसी जीव में इनकी पूर्णअवस्था हो सकती है इस बात को सिद्ध करने के लिये प्रकृष्यमाणत्व आदि गुण

१ ज्ञानादिगुणस्वभावत्वाभावे । २ उभयमेकत्रैकदा विरुध्यते यत. । ३ चेतनागुणस्वभावतायाम् । ४ ज्ञानगुणस्वभावत्वनिर्णयोस्ति । ५ गुणस्वभावत्वमन्तरा ।

प्रसिद्धे च सर्वस्मिन्नात्मनि ज्ञानादिगुणस्वभावत्वे दोषस्वभावत्वासिद्धेः सिद्धं दोषस्य [1]कादाचित्कत्वमागन्तुकत्वं[1] साधयति । ततः [2]स एव परिक्षयी स्वनिर्ह्रासनिमित्तवि[2]वर्द्धनवशादिति सुस्पष्टमाभाति, दोषनिर्ह्रासनिमित्तस्य सम्यग्दर्शनादेर्विशेषेण वर्द्धनप्रसाधनात् ।

किसी न किसी जीव में वृद्धिगत होते हुये दिख रहे हैं । वर्तमान में यहां नहीं, किंतु विदेहक्षेत्र में तो देखा ही जाता है । अथवा यहां भी चतुर्थकाल में किसी न किसी जीव में इन रत्नत्रय गुणों की पूर्ण अवस्था हो सकती है । इसी से यह निश्चित किया जाता है कि जो जिसका स्वभाव होता है वह कभी भी नष्ट नहीं होता है । अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक पाया जाता है अतएव जीव के भी ज्ञानादि स्वभाव हैं यद्यपि वे अनादिकाल से कर्मोदय के कारण विभाव-अज्ञानादि रूप हो रहे है फिर भी सम्यक्त्व आदि गुणों से इनका अभाव होकर अनंतानंत काल तक ये ज्ञानादि स्वभाव जीव के साथ रहते है । अतः ये गुण जीव के स्वभाव है एवं दोष विभाव रूप है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

किसी आत्मा मे चैतन्य आदि गुण स्वभाव रूप मुक्ति अवस्था की प्रसिद्धि हो जाने पर अभव्य जीव में भी ज्ञानादिगुण स्वभाव का निर्णय हो जाता है क्योंकि जीवत्व स्वभाव की अन्यथानुपपत्ति पाई जाती है । अर्थात् अभव्य जीव का स्वभाव ज्ञानादि गुण है न कि दोषादि, किन्तु कर्म के निमित्त से ज्ञानादि गुण विभाव रूप परिणमन कर रहे है । अभव्य जीव में शक्ति रूप से गुणों के होने पर भी उनकी व्यक्ति नहीं हो सकती है और भव्यों को सम्यग्दर्शन आदि निमित्त के मिलने पर उनकी व्यक्ति हो सकती है यही अंतर भव्य और अभव्य जीवों में है ।

विशेषार्थ- जैनाचार्यों ने अन्यथानुपपत्ति हेतु से जीव का ज्ञानादि गुण स्वभाव सिद्ध कर दिया है । एवं इस बात को भी बतलाया है कि अभव्य का भी ज्ञानादि गुण ही स्वभाव है न कि दोष । अतर इतना ही है कि अभव्य में कर्मों का नाश करके गुणस्वभाव को प्रकट करने की शक्ति नहीं है । इसी विषय में श्रीमद्भट्टाकलंकदेव ने राजवार्तिक की ८ वीं अध्याय में सिद्ध किया है यथा—

प्रश्न यह होता है कि मतिज्ञानादि पाचों ज्ञान विद्यमान रूप हैं पुनः उन पर आवरण आता है या अविद्यमान रूप है उन पर आवरण आता है ? इस पर उत्तर यह है कि—

"न कुटीभूतानि मत्यादीनि कानिचित् संति येषामावरणात् मत्याद्यावरणानां आवरणत्वं भवेत् किंतु मत्याद्यावरणसन्निधाने आत्मा मत्यादिज्ञानपर्यायैर्नोत्पद्यते इत्यतो मत्याद्यावरणानां आवरणत्वं ।" अर्थात् कोई भी मति आदि ज्ञान प्रत्यक्षीभूत-पुंज रूप से विद्यमान नहीं है कि जिनके आवरण से मति आदि आवरणों में आवरणत्व हो सके किंतु मति आदि आवरण के सन्निकट होने से आत्मा मति श्रुत आदि पर्यायों से उत्पन्न नहीं होता है अतः मति आदि आवरणों में आवरणपना होता है ।

१ साधनम् । २ आगन्तुको मलः ।

(1) दोषस्य । (2) परमप्रकर्षं ।

[दोषावरणे पर्वत इव विशाले स्तः]

इत्यावरणस्य[1] द्रव्यकर्मणो दोषस्य च भावकर्मणो[2] भूभृत इव महतोऽत्यन्तनिवृत्तिसिद्धेः कर्मभूभृतां भेत्ता मोक्षमार्गस्य [1]प्रणेता स्तोतव्यः समवतिष्ठते विश्वतत्त्वानां ज्ञाता च ।

तथा इस बात को भी सिद्ध किया है कि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से सत् रूप मत्यादि पर आवरण है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से असत् रूप मति ज्ञानादि पर आवरण है स्याद्वाद रूप से यही कथन श्रेयस्कर है। पुनः प्रश्न होता है कि—

"अभव्यस्योत्तरावरणद्वयानुपपत्तिस्तदभावात्" अर्थात् अभव्य जीव में मनःपर्यय ज्ञानावरण एव कवलज्ञानावरण सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि उनक इन दोनों ज्ञानो का अभाव है और यदि इन दोनों ज्ञानों का सद्भाव मानोगे तो वह जीव अभव्य नहीं रहेगा किंतु भव्य ही हो जावेगा।

इस पर जैनाचार्य कहते है कि ऐसा नहीं कहना क्योंकि "द्रव्यार्थादेशेन सतोर्मनःपर्ययकेवलज्ञान-योरावरणं, पर्यायार्थादेशेनासतो" अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से अभव्य में सत्रूप-विद्यमान मन.पर्यय केवल-ज्ञान पर आवरण है एव पर्यायार्थिक नय से असत् रूप दोनो ज्ञानों पर आवरण होता है, इतने मात्र से ही अभव्य जीव में मन.पर्ययज्ञान एव केवलज्ञान का प्रसग नहीं आता है क्योंकि जिस जीव में सम्यग्दर्शनादि पर्याय को प्रगट कर लेने की योग्यता है वह भव्य है उससे विपरीत अभव्य है। शक्ति रूप भव्य-अभव्य दोनो में ही मन पर्यय एव केवलज्ञान विद्यमान हैं किंतु उनकी व्यक्ति-प्रगटता भव्यों के ही हो सकती है, अभव्यों के नहीं हो सकती है इसी को आगे १०० वीं कारिका में कहा है कि—

"शुद्धयशुद्धी पुन. शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥"

इस प्रकार से सभी आत्मा मे ज्ञानादि गुण स्वभाव की सिद्धि हो जाने पर एव दोष स्वभाव की सिद्धि न होने पर दोषों को कादाचित्कपना सिद्ध हो जाता है और वह कदाचित्कत्व ही आगतुकपने को सिद्ध कर देता है इसीलिये वह आगतुक मल ही परिक्षयी है क्योंकि वह अपने विनाश के कारणों के वृद्धिगत हो जाने से विनाश को प्राप्त होता ही है इस प्रकार से स्पष्टतया प्रतीति मे आ रहा है एव दोष के विनाश के निमित्त सम्यग्दर्शन आदिको की विशेष रूप से वृद्धि सिद्ध ही है।

[दोष, आवरण पर्वत के समान विशाल है]

इस प्रकार विशाल पर्वत के समान आवरण रूप द्रव्य कर्म का और अज्ञानादि रूप भाव कर्म का अत्यन्त विनाश सिद्ध हो जाने से कोई "कर्मरूपी पर्वतों का भेदन करने वाला एव मोक्षमार्ग का प्रणयन करने वाला और अखिल तत्त्वों को जानने वाला आप्त स्तवन करने योग्य है यह बात सम्यकप्रकार से स्थित हो जाती है।"

१ ज्ञानावरणस्य । २ अज्ञानादेः ।

(1) मोक्षमार्गस्य प्रणेता अर्हन् कर्मभूभृतां भेत्ता इति स्तोतव्यः विश्वतत्त्वाना ज्ञातेति च दि. प्र. ।

सर्वज्ञ के दोषावरण के अभाव का सारांश

हे भगवन् ! सभी के आगम मे परस्पर विरोध होने से सभी आप्त नहीं हो सकते है किंतु कोई एक ही आप्त महान् हो सकते है वे आप ही ससारी जीवों के स्वामी है आपके ही अत्यंत रूप से दोष और आवरण की हानि- क्षय होने से तथा अशेष तत्त्वो के ज्ञाता होने से आप ही महान् है क्योंकि दोष और आवरण की हानि होने से ही हम लोगो में कुछ-कुछ अंशो में निर्दोषपना एव क्षयोपशमजन्य कुछ-कुछ ज्ञान देखा जाता है। *अतएव वह हानि किसी जीव विशेष में परिपूर्ण रूप मे हो सकती है जैसे स्वर्ण पाषाण* दो, तीन आदि ताव से १६ ताव पर्यंत निःशेष रूप से शुद्ध होता है और उसमें किट्ट-कालिमा का भी सर्वथा क्षय-नाश देखा जाता है।

ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्म को आवरण कहते है एव कर्मोदय मे होने वाले मोह रागादि परिणाम रूप भावकर्म को दोष कहते है।

बौद्ध का कहना है कि अज्ञानादि स्वपरिणाम हेतुक है एव साख्य का कहना है कि अज्ञानादि प्रधान के होने के कारण पर परिणाम है, किंतु सर्वथा यदि अज्ञानादि को स्वपरिणाम ही मानो तो जीवत्व आदि निजी स्वभाव के समान होने से उनका कभी भी अभाव नही हो सकेगा पुन मुक्ति का ही अभाव हो जावेगा तथा सर्वथा परनिमित्तक होने से मुक्तात्मा मे भी अज्ञानादि दोष होने लगेगे। इसलिये दोष जीव के स्वपर परिणाम निमित्तक ही है क्योंकि कार्य है।

तथा च दोष और आवरण में बीजांकुर न्याय के समान परस्पर मे कार्य कारण भाव सिद्ध है जैसे जीव के ज्ञानावरण के उदय से अज्ञान दर्शन मोह के उदय से मिथ्यात्व आदि भाव होते है एव दोष के प्रति आवरण भी कारण है। तत्प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य आदि से केवली, श्रुत, सघ आदि के अवर्णवाद से ज्ञानावरण, दर्शनमोहनीय आदि कर्मो का आश्रव होता है। अतएव परस्पर में कार्यकारण भाव सिद्ध है।

यहा दोष और आवरण की हानि से प्रध्वसाभाव को ग्रहण किया है अत्यताभाव को नही। यदि जीव में दोष आवरण का अत्यताभाव मानो तब तो ससार अवस्था मे भी जीव के मुक्ति का प्रसग आ जावेगा। आत्मा दोष और आवरण रूप नही है तथा दोष और आवरण आत्मा रूप नही है। यह इतरेतराभाव आत्मा का प्रसिद्ध ही है। *तथा प्रागभाव भी यहा साध्य नही है क्योंकि प्राक्–पहले अविद्यमान* रूप दोष आवरणों की अपने कारणो से आत्मा में उत्पत्ति स्वीकार की गई है।

यदि कोई कहे कि जैसे जीव में दोष, आवरण की अत्यंत (पूर्णतया) हानि देखी जाती है वैसे ही आप जैन बुद्धि की भी हानि—नाश मान लो। इस पर उत्तर यही है कि किसी जीव ने पृथ्वीकाय आदि को शरीर रूप से ग्रहण करके छोड़ दिया अतः उन पाषाण आदि में चैतन्य—बुद्धि का सर्वथा अभाव हो ही गया, "क्योकि कोई भी ऐसा पुद्गल जगत में नही है जिसे इस जीव ने अनेकों बार भोगकर नही छोड़ा है" ऐसा वचन है। तथा मुक्तात्मा में मतिश्रुत आदि क्षयोपशम रूप चार ज्ञान का अभाव देखा भी जाता है उनकी अपेक्षा से बुद्धि का अभाव घटित है। अतः कर्मकलंक रहित अकलंक भगवान ही सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं।

तथा सत् स्वरूप आत्मा से कर्मों का पृथक्करण हो जाना ही अभाव है न कि अत्यन्त विनाश रूप अभाव क्योकि तुच्छाभाव रूप अभाव को हम नही मानते हैं।

आदि सबके यहां सूर्य प्रकाश करता है। वस्तु का वैसा स्वभाव सिद्ध हो जाने पर पुनः पक्षपात नहीं चल सकता है।

इस प्रकार से कहता हुआ मीमासक केवल न्यायमार्ग का उल्लघन कर देता है। उपाय सहित केवल हेय और उपादेय को ही वह सर्वज्ञ जानता है, किंतु फिर सपूर्ण कीड़े, कूड़े और उनकी गिनती नाप, तौल आदि को वह सर्वज्ञ नही जानता है।

आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकों का सरासर अन्याय है क्योकि सभी हेय उपादेय तत्त्वों को भली प्रकार से जान लेने पर सपूर्ण पदार्थों का पूर्णतया जान लेना न्याय से प्राप्त हो जाता है। अतएव पूर्ववत् यहां भी मीमांसक न्यायमार्ग का उल्लंघन कर देता है। उसका कहना है कि धर्म के अतिरिक्त अन्य सपूर्ण अतीद्रिय पदार्थों को विशेष रूप से जानता हुआ भी वह सर्वज्ञ धर्म को साक्षात् रूप से नहीं जान पाता है क्योंकि धर्म, अधर्म परमाणु आकाश आदि सभी पदार्थ समान जाति के हीं हैं।

"ततो नेद सूक्त मीमांसकस्य। धर्मज्ञत्त्व निषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद्विजानस्तु पुरुषः केन वार्यते।" इति न त्ववधीरणानादरः। "तत्सर्वमन्यद्विजानस्तु पुरुषः केन वार्यते इति। तत्र नो नातितरामादरः"। अतः मीमासकों का यह कथन समीचीन नही है कि सर्वज्ञ का निषेध करते समय केवल धर्म को जानने का ही तो निषेध करना यहा उपयोगी हो रहा है। अन्य सभी पदार्थों को भले ही वह सर्वज्ञ जानता रहे ऐसे सर्वज्ञ का निवारण भला कौन विद्वान् कर सकता है?

दूसरी बात यह है कि मीमासकों के उक्त कथन से यह भी प्रतीत होता है कि जब सर्वज्ञ को मानने में मीमांसक निदा या तिरस्कार नही समझते है और सर्वज्ञ का अनादर भी नहीं करते हैं, तब तो हम जैनों को भी आप मीमांसक के प्रति समझाने में अत्यधिक आदर नहीं है क्योंकि जब आपने यह मान ही लिया कि सर्वज्ञ भगवान् सपूर्ण अतींद्रिय पदार्थों को जानते हैं केवल धर्म-अधर्म को नहीं जानते हैं तब तो धर्म, अधर्म को प्रत्यक्ष करने की बात भी आप धीरे-धीरे सुलभता से मान ही लेगे। इसलिये आप द्रविण प्राणायाम के समान सीधे-सीधे नाक न पकड़कर हाथ को घुमाकर भी नाक पकड़ कर ही प्राणायाम करने वालों के समान जिस तिस किसी प्रकार से सर्वज्ञ को मान ही रहे हैं ऐसी बात सिद्ध हो जाती है।

इति [1]वदन्तमिव स्तोतुः[1] [2]प्रज्ञातिशयचिकीर्षया[2] भगवन्तं प्रत्याहुः[3] ।—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ॥
अनुमेयत्व[4]तोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ।५॥

सूक्ष्माः स्वभावविप्रकर्षिणोर्था. परमाण्वादयः, अन्तरिताः कालविप्रकर्षिणो रामादयो, दूरास्तु देशविप्रकर्षिणो हिमवदादयस्ते कस्यचित्प्रत्यक्षा, अनुमेयत्वाद्यथाऽग्न्यादिरित्येवं सर्वज्ञस्य सम्यक् स्थितिः स्यात् । अथ मतमेतत्[5] ।

[सूक्ष्माद्यर्था येन प्रकारेण कस्यचित् प्रत्यक्षाः दृष्टाः तेनैव साध्यंतेऽन्यप्रकारेण वा ?]

"सूक्ष्मादयोर्था [6]यथाभूताः कस्यचित्प्रत्यक्षा दृष्टास्तथाभूता एव [7]तथानुमेयत्वेन साध्यन्तेऽन्यथा[8]भूता वा ? [3]यथाभूताश्चेत्सिद्धसाध्यता, सूक्ष्माणां सहस्रधा भिन्नकेशाग्रादीनामन्तरितानां च प्रपितामहादीनां दूरार्थाना च हिमवदादीनां [9]कस्यचित्प्रत्क्षत्वप्रसिद्धेः । अन्यथाभूतानां तु

उत्थानिका—इस प्रकार से कहते हुये के समान ही स्तवन करने वाले सूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य की बुद्धि के अतिशय को प्रकट करने की इच्छा से ही श्री समतभद्र स्वामी कहते हैं—

कारिकार्थ—सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय है जैसे अग्नि आदि, इस प्रकार से सर्वज्ञ सिद्धि होती है ।

सूक्ष्म—स्वभाव से परोक्ष परमाणु आदिक, अ तरित- काल से परोक्ष राम, रावण आदिक, दूरवर्ती—देश से परोक्ष हिमवन पर्वत, सुमेरु आदिक; ये किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि अनुमेय है जैसे अग्नि आदिक । इस अनुमान वाक्य से सर्वज्ञ की सम्यक् प्रकार से सिद्धि होती है ।

[सूक्ष्मादि पदार्थ जैसे किसी के प्रत्यक्ष है वैसे ही अनुमेय हैं या अन्य रूप से ?]

मीमांसक—सूक्ष्मादि पदार्थ जिस प्रकार से किसी के प्रत्यक्ष देखे गये हैं उसी प्रकार से तुम उन्हें अनुमान ज्ञान का विषय सिद्ध करते हो या अन्यथा रूप से ?

यदि जिस प्रकार वे प्रत्यक्षज्ञान के विषय हैं उसी प्रकार ही वे अनुमान ज्ञान के विषय है ऐसा मानते हो तब तो सिद्ध साध्यता ही है । सूक्ष्म जो केश का अग्रभाग जिसके हजार टुकड़े कर दिये हैं और अतरित प्रपितामह अर्थात् पिता के पिता के पिता पड़दादा आदि एव दूरवर्ती हिमवान् पर्वत आदि आधुनिक किसी न किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष हैं ।

यदि दूसरा पक्ष लेते हो कि वे पदार्थ अन्य रूप से ही अनुमान ज्ञान के विषय हैं तो "अनुमेयत्वात्" यह हेतु अप्रयोजक ही है । जैसे पृथ्वी, पर्वत आदि को बुद्धिमान् कारणत्व सिद्ध करने में "सन्निवेश

१ सूत्रकारस्य । २ प्रतिज्ञातिशयेति पाठान्तरम् । ३ समन्तभद्राचार्याः । ४ अनुमातु योग्यत्वात् । ५ मीमांसकस्य । ६ नियतदेशाद्याकाराः । ७ कस्यचित्प्रत्यक्षत्वप्रकारेण । ८ अनियतदेशाद्याकाराः । ९ आधुनिकस्य ।

(1) मीमांसकमुद्दिश्य यथा । (2) मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि प्रतिज्ञाप्रकर्षं कर्तु मिच्छया दि.प्र. । (3) तथाभूता इति पा. ।

कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसाधनेऽनुमेयत्वादित्यप्रयोजको[1] हेतुः क्ष्माधरादीनां बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्वादिवत्[१]। धर्म्यसिद्धिश्च, [2]परमाण्वादीनामप्रसिद्धत्वात्[3]" इति तदयुक्तं, विवादाध्यासितानां सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन साध्यत्वादप्रसिद्धं साध्यमिति वचनात्। धर्म्मादयो हि कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन वादिप्रतिवादिनोर्विवादापन्नास्ते[4] एव कस्यचित्प्रत्यक्षा इति साधयितुं युक्ता न [5]पुनरन्ये[२]। न चैव[३] धर्म्यसिद्धिः, [6]धर्म्यादीनामसर्वज्ञवादिनोपि याज्ञिकस्य[४] सिद्धत्वात्। [7]नन्वेवं भूधरादीनां धीमद्धेतुकतया विवादापन्नानां तथा साध्यत्वे कथमप्रयोजको हेतुः सन्निवेशविशिष्टत्वादिरिति चेत्स्वभावभेदात्[8]। [५]यादृशमभि-

विशिष्टत्वादि" हेतु अप्रयोजक है अर्थात् भुवन, पर्वत आदि बुद्धिमत् निमित्तक है क्योंकि उनका सन्निवेश विशेष पाया जाता है। इस प्रकार से यहां 'सन्निवेश विशिष्टत्व' हेतु अप्रयोजक है क्योंकि बुद्धिमन्निमित्तकत्व के बिना भी रचना विशेष की सिद्धि होती है।

दूसरी बात यह है कि आपका 'सूक्ष्मादि' धर्मी भी असिद्ध है जबकि 'प्रसिद्धो धर्मी' सूत्रानुसार 'धर्मी' प्रसिद्ध ही होना चाहिये और परमाणु आदि धर्मी अप्रसिद्ध ही है।

जैन—आपका यह कथन भी ठीक नहीं है। "विवाद में आये हुये सूक्ष्मादि पदार्थ धर्मी है," "वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष है" यह साध्य है "असिद्ध साध्य" इस नियम के अनुसार साध्य अप्रसिद्ध ही होता है। अर्थात् "इष्टमबाधितमसिद्ध साध्य" इस सूत्रानुसार साध्य को असिद्ध ही होना चाहिये अन्यथा सिद्ध को साध्य की कोटि मे रखकर सिद्ध करना पिष्टपेषण ही है।

धर्माधर्मादिक ही किसी न किसी के प्रत्यक्षत्व रूप से है इस प्रकार वादी और प्रतिवादी के विवाद में आये हुए है "वे धर्मादिक ही किसी के प्रत्यक्ष है" इस प्रकार इन्हे ही सिद्ध करना युक्त है न पुनः अन्य स्वर्गादिकों को। इस प्रकार से धर्मी की भी असिद्धि नही है। धर्म, अधर्म आदि धर्मी असर्वज्ञवादी मीमासक, भाट्ट आदि के यहा भी सिद्ध ही हैं।

प्रश्न—इस प्रकार से पर्वत आदि पक्ष जो कि बुद्धिमद् हेतुक रूप साध्य से विवाद में पड़े हुये है उन्हें बुद्धिमत् कारणत्व सिद्ध करने में "सन्निवेश विशिष्टत्वादि" हेतु अप्रयोजक क्यों है ?

१ क्ष्माधरादयो बुद्धिमत्कारणकाः, सन्निवेशविशिष्टत्वादित्यत्रायं हेतुरप्रयोजको, बुद्धिमत्कारणत्वमन्तरेणापि सन्निवेशविशिष्टत्वसिद्धेः। २ स्वर्गादयः। ३ विवादापन्नाना साध्यत्वप्रकारेण। ४ भाट्टस्य। ५ स्वभावभेदं दर्शयति।

(1) अकिंचित्करः। (2) अस्मदादिप्रत्यक्षाणां। (3) अनुमानकर्तुः सर्वज्ञवादिनः। (4) तत एव इति पा. दि. प्र.। (5) अविप्रतिपन्नाः। (6) धर्मादीनां इति पा.। स्वर्गदेवता। (7) अत्राह ईश्वर वादी यौगादिः, दि. प्र.। अनुमेयत्वं साधनं प्रयोजक यथा व्यवस्थापित तथैव सन्निवेशविशिष्टत्वं साधन दृष्टांतीकृतं प्रयोजकं भवत्विति मीमांसकस्य शंकामनूद्य निराकरोति। (8) अप्रयोजकं। मीमांसकमतमाश्रित्य स्याद्वादी ईश्वरवादिनं निराकृत्य पुनः स्वमतमाश्रित्य स्वहेतोः स्थापनं करोति हे मीमांसक ! यथा ईश्वरवादिनः संनिवेशविशिष्टत्वादिति हेतुः अभिनवभवनादिषु जीर्णप्रासादादिषु च धीमद्हेतुकत्वं साधयति न भूधरादिषु हेतोरिति स्वभावभेदो वर्तते तथास्माकम् अनुमेयत्वादिति हेतो. स्वभावभेदो न, दि. प्र.।

नवभवनादिषु सन्निवेशविशिष्टत्वमक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्ध्युत्पादकं धीमद्धेतुकत्वेन व्याप्तं प्रतिपन्नं तादृशमेव जीर्णप्रासादादिषूपलभ्यमानं धीमद्धेतुकत्वस्य प्रयोजकं स्यान्नान्यादृशं भूधरादिषु प्रतीयमानमकृतबुद्ध्युत्पादकमिति स्वयं मीमांसकैरभिधानात्। नैवमनुमेयत्वं[1], तस्य स्वभावभेदाभावात्। [१]न हि साध्याविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणलिङ्गजनितज्ञान-[२]विषयत्वमनुमेयत्वमग्न्यादौ [३]धर्मादौ च लिङ्गिनि भिद्यते येन [४]किञ्चित्प्रयोज[2]कमपरम[५]-प्रयोजकमिति विभागोवतरेत्।

[परोक्षवर्तिपदार्थान् ज्ञापयितुमनुमेयत्वहेतुरसिद्ध इति मान्यतायां प्रत्युत्तर]

स्वभावकालदेशविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्ध[६]मित्यनुमानमुत्सारयति यावान्[3] कश्चिद्-

उत्तर—उसमें स्वभाव भेद होने से वह हेतु अप्रयोजक है। देखिये! जिस प्रकार नये महल, मकान आदिकों में "रचना विशेष" हेतु है उनका कर्त्ता हमें प्रत्यक्ष नही है तो भी हमें उनमें कृतबुद्धि उत्पन्न होती है जो कि बुद्धिमत् हेतुक से व्याप्त है अर्थात् ऐसा ज्ञान होता है कि इस महल की रचना विशेष होने से इसका बनाने वाला कोई बुद्धिमान ही होना चहिये और उसी प्रकार से जीर्ण मकानआदिकों में भी ये बुद्धिमान के द्वारा बनाये गये है ऐसी बुद्धि होती है परन्तु पर्वत आदिको में अन्य प्रकार की रचना की प्रतीति होने से कृतबुद्धि उत्पन्न नही हो ऐसा नही है, इस प्रकार स्वय आप मीमासको ने कहा है। किन्तु हमारा "अनुमेयत्व हेतु" ऐसा नहीं है। उसमें स्वभाव भेद पाया जाता है। साध्य के साथ अविनाभाव रूप नियम का निश्चय है लक्षण जिसमें ऐसे लिग (साधन) से उत्पन्न हुये अनुमान ज्ञान का विषय रूप ही अनुमेयत्व हेतु है और वह अग्नि आदि साध्य तथा धर्मादिक साध्य में भेद को प्राप्त नही होता है जिससे कि वह हेतु अग्नि आदि कतिपय साध्य में तो प्रयोजक हो और धर्मादिक कतिपय साध्य में अप्रयोजक हो, इस प्रकार विभाग बन सके। अर्थात् नही बन सकता है।

[परोक्षवर्ती पदार्थों का ज्ञान कराने के लिए अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है इस मान्यता का खन्डन]

स्वभाव से, काल से देश से परोक्षवर्ती पदार्थ के लिए अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है इस प्रकार कहते हुये बौद्ध एवं मीमांसक अपने अनुमान का खंडन ही कर लेते हैं।

"जो कुछ भी पदार्थ हैं वे सब क्षणिक हैं" इत्यादि अनुमान में साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति की असिद्धि होने से प्रकृत का उपसंहार भी नहीं बन सकता है अर्थात् स्वभाव, काल और देश से परोक्ष पदार्थोंमें अनुमेयत्व हेतुको असिद्ध स्वीकार करने पर "जितने भी पदार्थ हैं वे क्षणिक हैं" इत्यादि में व्याप्ति

१ स्वभावभेदाभावं दर्शयति। २ ज्ञानम्=अनुमानज्ञानम्। ३ पुण्यपापादौ। ४ अग्न्यादीनामनुमेयत्वम्। ५ धर्मादीनामनुमेयत्वम्। ६ इति वदन् मीमांसको बौद्धश्च स्वानुमानमुत्सारयती (निवारयति) त्यर्थः।

(1) सन्निवेशविशिष्टत्वप्रकारेण। सूक्ष्मातरितदूरार्थेषु प्रयुक्तमनुमेयत्वं साधनं। अप्रयोजकं। (2) प्रयोजकं परम इति पा. दि. प्र.। (3) कर्मादिपर्याय.। अदृष्ट।

भावः स सर्वः क्षणिक इत्याविव्याप्तेरसिद्धौ प्रकृतोपसंहा[1]रायोगादविप्र[2]कर्षिणा[3]मनुमितेरानर्थक्यात् । [3]सत्त्वादेरनित्यत्वादिना[4] व्याप्तिमिच्छतां[5] सिद्धमनुमेयत्वमन्वय[6]-वेनेति न [7]किञ्चिद्व्याहतं पश्यामः । [8]स्यान्मतं "केचिदर्थाः प्रत्यक्षा, यथा घटादयः, केचिदनुमेया ये कदाचित्क्वचित् [9]प्रत्यक्षप्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गाः[10]; केचिदागममात्रगम्याः सर्वदा स्वभावादिविप्रकर्षिणो धर्मादयः, तेषां सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिगोचरत्वायोगात् । तदुक्तं—

"सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यत्वं [2]लप्स्यते[11] पुण्यपापयोः" इति ।

[3]ततो धर्मादीनामनुमेयत्वमसिद्धमुद्भावयन्नपि नानुमानमुत्सारयति[12], [13]तस्यानुमेयेर्थे-

---

घटित न होने पर "पदार्थ हैं इसलिये क्षणिक हैं" इस प्रकार से बौद्ध जन अपने प्रकृत हेतु का उपसंहार भी नहीं कर सकेंगे ।

पुनः हम लोगों के प्रत्यक्षभूत पदार्थों में अनुमान व्यर्थ ही ठहरेगा । इसलिये "सत्त्वादि" हेतुओं की "अनित्यत्व" आदि साध्य के साथ व्याप्ति को स्वीकार करते हुये बौद्धों के यहां अनुमेयत्व हेतु संपूर्ण रूप से सिद्ध हो ही जाता है इसमें हमें कुछ भी विरोध नहीं दिखता है ।

सौगत, मीमांसक आदि—

कोई पदार्थ प्रत्यक्ष है जैसे घट आदि । कोई पदार्थ अनुमेय है जो किसी काल में कहीं पर प्रत्यक्ष से जाने गये अविनाभावी लिंग से जाने जाते है जैसे अग्नि आदि । कोई पदार्थ आगम मात्र से गम्य–जानने योग्य हैं जैसे— हमेशा ही स्वभाव से अत्यन्त परोक्ष धर्म-अधर्म आदि । इन पदार्थों को सभी ज्ञाता के प्रत्यक्ष आदि के गोचर होने का अभाव है । कहा भी है :—

श्लोकार्थ—सभी जानने वाले (प्रमाता) प्रत्यक्षादि रूप से सम्पूर्ण पदार्थों को विषय नहीं कर सकते है क्योंकि पुण्य और पाप केवल आगम के द्वारा ही जाने जाते हैं इसलिये धर्मादिक में "अनुमेयत्व" हेतु असिद्ध है ।

इसप्रकार से कहते हुए भी हम मीमांसक अनुमान को दूर नहीं करते है क्योंकि वह अनुमान अनुमेय– अग्नि आदि पदार्थ में व्यवस्थित है ।

---

१ स्वभावदेशकालविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमित्यङ्गीकारे यावान्कश्चिद्भाव इत्यादिव्याप्तेरसिद्धौ भावश्चाय तस्मात् क्षणिक इति प्रकृतोपसंहारायोगः । २ अस्मदादिप्रत्यक्षगोचराणाम् । ३ हेतो । ४ क्षणिकत्वादिना सह । ५ बौद्धानाम् । ६ सामस्त्येन । ७ विरुद्धम् । ८ सौगतमीमांसकादीनाम् । ९ प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नं ज्ञातमविनाभाविलिङ्गं येषां ते । १० यथाग्न्यादयः । ११ प्राप्स्यते । १२ मीमांसकः । १३ अग्न्यादौ ।

---

(1) सुखादीना । स्थूलसंनिहितवर्तमानाना घटादीनामनुमान निरर्थकं प्रत्यक्षेयरण प्रतीयमानत्वात् । दि. प्र. (2) लभ्यते दि. प्र. । अभिलप्यते । (3) त्रिप्रकारा एव अर्था यत ।

व्यवस्थानात्'' इति, तदसत्, धर्मादीनामप्यनित्य[1]त्वादि[1]स्वभाव[2]तयानुमेयत्वोपपत्तेः ।

[धर्माधर्मादिपर्यायाः अनित्याः सन्ति पर्यायत्वात् इति जैनाः कथयति ।]

तथा हि । यावान्कश्चिद्भावः [3]पर्यायाख्यः स सर्वोऽनेकक्षणस्थायितया [2]क्षणिको यथा घटस्तथा च धर्मादिरिति मीमांसकैरपि कुतश्चित्[3] [4]पर्यायत्वादेरनित्यत्वेन[5] व्याप्तिः साधनीया, तदसिद्धौ प्रकृतेपि धर्मादौ [6]पर्यायश्च धर्मादिरित्युपसंहारायोगात् । कथं चायं[7] स्वभावादिविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमभिदधानः[४] सुखादीनामविप्रकर्[५]षिणा[8]मनुमितेरानर्थक्यं परिहरेत् ? [६]शश्वदविप्रकर्षिणा[9]मनुमितेरनिष्टेरदोष इति चेत् क्व पुनरियमनुमितिः [७]स्यात् ? कदाचिद-

जैनाचार्य— यह कहना भी ठीक नही है क्योंकि धर्मादिक भी पर्याय रूप अनित्य स्वभाव वाले हैं इसलिये अनुमेयपना उनमें घटित हो जाता है ।

[धर्म अधर्म आदि पर्याये अनित्य है क्योंकि वे पर्याय हैं इस प्रकार से जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।]

पर्याय नामक जितने भी पदार्थ है वे सब अनेक क्षण स्थायी रूप से क्षणिक हैं जैसे घट । उसी प्रकार से धर्मादिक भी है । इस प्रकार मीमासकों को भी किसी न किसी प्रमाण से पर्यायत्व आदि की अनित्य रूप से व्याप्ति सिद्ध करना चाहिये । ऐसा न मानने से प्रकृत धर्मादि में भी "और धर्मादि पर्याय है" इस प्रकार से उपसहार नही हो सकेगा ।

तथा स्वभावादि से दूरवर्ती– परोक्ष में अनुमेयत्व हेतु को असिद्ध कहते हुए आप मीमासक सुखादि को जो कि, अविप्रकर्षी– मानस प्रत्यक्ष है परोक्ष नही है उसमें भी अनुमान की व्यर्थता का परिहार कैसे करेंगे ? अर्थात् उसमें भी अनुमान का कोई उपयोग नही होगा ।

मीमांसक— नित्य ही प्रत्यक्षभूत पदार्थों के सिद्ध करने में हमें अनुमान इष्ट ही नहीं है इसलिये हमारे लिये यह कोई दोष नही है ।

जैन—पुनः यह अनुमान ज्ञान कहा प्रवृत्त होगा ? अर्थात् परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व का अभाव है और अविप्रकर्षी (प्रत्यक्षभूत) पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु अनिष्ट है तो फिर अनुमान का प्रयोग कहां किया जावेगा ?

१ पर्यायापेक्षया । २ पर्यायत्वादिति हेतुरध्येयः । ३ प्रमाणात् । ४ मीमासक । ५ मानसप्रत्यक्षत्वात् । ६ शश्वदित्यादिप्रकारेण परिहराम्यह मीमासक. । ७ विप्रकर्षिणामनुमेयत्वाभावादविप्रकर्षिणामनुमेयत्वानिष्टेरित्यर्थ. ।

(1) नित्यत्वात् । (2) स्वभावताया इति पा. । (3) कर्म । हेतुर्गभित विशेषण । (4) ध्रुमत्वादेः पर्यायोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात् हेतुसमर्थन । (5) सह । (6) उपसहारप्रक्रिया दर्शयति । (7) मीमांसक. (8) प्रत्यक्षाणा । (9) पूर्वं महानसादौ प्रवर्तमानाना पावक.दीना ।

विप्रक[१]षिणामन्यदा [२]देशादिविप्रकृष्टानां[1] प्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गानामनुमितिरिति चेत् कथमेवं [2]शश्वदप्रत्यक्षाया बुद्धेरनुमानं यत [३]इदं शोभेत? "ज्ञाते [3]त्वर्थेनुमानादवगच्छति[४] बुद्धिम्" इति। अर्थापत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तेरदोष[4] इति चेद् धर्मादिप्रतिपत्तिरपि तत [5]एवास्तु। यथैव हि बहिरर्थपरिच्छित्त्यन्यथानुपपत्तेर्बुद्धिप्रति[५]पत्तिस्तथा श्रेयः प्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्त्या [6]धर्माधर्मादिप्रतिपत्तिरपि[६] युक्ता भवितुम्। श्रेयःप्रत्यवायादेरन्यथा[७]प्युपपत्तेः

मीमांसक—कदाचित् प्रत्यक्षगोचर पदार्थों में एवं कभी-कभी देशादि से परोक्ष पदार्थों (अग्नि) में अनुमान का प्रयोग होता है, जिनका कि अविनाभावी हेतु पाया जाता है।

जैन—पुनः हमेशा ही परोक्षभूत बुद्धि को सिद्ध करने में अनुमान का प्रयोग कैसे हो सकेगा जिससे तुमने जो कहा है कि "पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर अनुमान से बुद्धि को जानता है" यह कथन शोभित हो सके?

मीमांसक—हमारे यहां अर्थापत्ति प्रमाण से बुद्धि का ज्ञान हो जाता है अतः कोई दोष नहीं है।

जैन—पुनः धर्मादिकों का ज्ञान भी उसी अर्थापत्ति प्रमाण से हो जावे क्या बाधा है? जिस प्रकार "बाह्य पदार्थों के जानने की अन्यथानुपपत्ति होने से बुद्धि का ज्ञान होता है उसी प्रकार से सुख, दुःख की अन्यथानुपपत्ति होने से धर्म-अधर्म का ज्ञान भी हो सकता है अर्थात् मुझ में बुद्धि है क्योंकि बाह्य पदार्थों का ज्ञान पाया जाता है तथैव धर्म और अधर्म भी है क्योंकि उनका फल सुख और दुःख देखा जाता है।

मीमांसक—सुख, दुःख आदि की अन्यथा भी उपपत्ति पायी जाती है। इसलिये धर्म अधर्म में अर्थापत्ति काम नहीं कर सकती। अर्थात् धर्म करते हुये किसी को दुःखी एवं पाप करते हुये को भी सुखी देखा जाता है।

जैन—सुख-दुःखादि की उत्पत्ति में दृष्ट (प्रत्यक्ष) कारणो में व्यभिचार पाया जा सकता है, अतएव ही अदृष्ट रूप पुण्य-पाप कारणो का ज्ञान होता है। जैसे रूपादिक के ज्ञान में इंन्द्रियो की शक्ति का अनुमान लगाया जाता है अर्थात् मुझमें विशेष इद्रिय शक्ति विद्यमान है क्योंकि विशिष्ट रूपादि

१ प्रत्यक्षगोचराणाम्। २ पावकादीनाम्। ३ वक्ष्यमाणम्। ४ मीमांसक। ५ मयि बुद्धिरस्ति, घटादिबहिरर्थज्ञानान्यथानुपपत्तेः। ६ धर्माधर्मौ स्तः, श्रेयःप्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्तेः। श्रेयः सुखम्। प्रत्यवायो दुःखम्। ७ धर्माधर्मयोरभावेपि सुख्यादिदर्शनात्।

(1) पर्वतादौ प्रवर्तमानाना पावकादीनां (2) परोक्षं जैमिनेर्ज्ञानमितिवचनात्। (3) ज्ञाततान्यथानुपपत्तेर्मयि ज्ञानमस्ति (4) कथमेव शश्वदप्रत्यक्षाया बुद्धेरनुमान यत इदं शोभेत। ज्ञातेत्वर्थेऽनुमानादवगच्छति बुद्धिमिति अर्थापत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तेः (5) अर्थापत्तेः सकाशात्। केवलागम्यत्व लप्स्यते पुण्यपापयोरिति व्याहन्यते प्रकृतमनुमेयत्वसाधनं च सिद्ध भवति। न चार्थापत्तिरनुमानाद् अन्यैवानुमानस्यैवार्थापत्तिरिति नामकरणादिति वक्ष्यमाणत्वात्। दि. प्र.।
(6) आदिशब्देन स्वर्गो देवता च गृह्यते। तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि। न स्वर्गदेवतापूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः॥ इति मीमांसकेनोक्तत्वात्। दि. प्र.।

[1]क्षीणार्थापत्तिरिति[2] चेन्न, [3]तदुत्पत्तौ [4]दृष्टकारणव्यभि[१]चारादद्दष्टकारणप्रतिपत्तेः, रूपादिज्ञानादिन्द्रियशक्ति[5]प्रतिपत्तिवत्[२] । न [३]चार्थापत्तिरनुमानादन्यैव, अनुमानस्यैवार्थापत्तिरिति नामकरणात् । ततो बुद्धयादेः शश्वद्वि[४]प्रकर्षिणोनुमेयत्वसिद्धौ धर्मादेरपि [५]तत्सिद्धिः । ये तु ताथागतादयः[६] [७]सत्त्वकृतकत्वादेरनित्यत्वादिना व्याप्तिमिच्छन्ति तेषां सिद्धमनुमेयत्वमनवयवेनेति न किञ्चिद्वयाहतमसर्वज्ञवादिनां सर्वज्ञवादिनां[८] च, स्वभावादिविप्रकृष्टेष्वर्थेष्वनुमेयत्वव्यवस्थितेः । एतेनात्यन्तपरोक्षे[6]ष्वर्थेष्वनुमेयत्वाभावाद्भा[7]गासिद्धमनुमेयत्वमित्येतदपि प्रत्याख्यातं, तेषामपि कथञ्चिदनेकान्तात्मक[९]त्वादिस्वभावत[8]यानुमेयत्वसिद्धेः ।

ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति पाई जाती है ।

दूसरी बात यह है कि अर्थापत्ति अनुमान से पृथक् कोई चीज नही है अनुमान का ही आपने अर्थापत्ति यह नामकरण कर दिया है । इसलिये नित्य ही परोक्ष रूप बुद्धि आदि को "अनुमेयपना" सिद्ध हो जाने पर धर्मादि को भी अनुमेयपने की सिद्धि घटित हो जाती है । और जो बौद्ध, नैयायिक आदि सत्त्व, कृतकत्व आदि हेतुओ की अनित्यत्व आदि साध्य के साथ व्याप्ति को स्वीकार करते है यथा जो सत् है वह क्षणिक है, ऐसा बौद्धो का कथन है, एव जो कृतक है वह अनित्य है ऐसा नैयायिक मानते हैं। उनके यहां सपूर्ण रूप से अनुमेयत्व हेतु सिद्ध ही है । इस प्रकार से असर्वज्ञवादी मीमासक आदि के यहां और सर्वज्ञवादी जैनियो के यहा इस विषय मे कुछ भी विरोध नही है क्योकि स्वभावादि से परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु व्यवस्थित है ।

इस विवेचन से "अत्यंत परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु का अभाव होने से यह हेतु भागासिद्ध है ।" ऐसा कहने वालों का भी खंडन हुआ समझना चाहिये क्योंकि अत्यन्त परोक्ष पदार्थ भी कथंचित् अनेकांतात्मक आदि स्वभाव वाले होने से अनुमेय रूप सिद्ध ही हैं । यथा "सभी वस्तुयें अनेकांतात्मक हैं क्योंकि सत् रूप है" इत्यादि ।

१ स्त्र्यादिभिः सौख्यमेवेति न, असुखस्यापि ततः सम्भवादिति व्यभिचारः । २ मयि विशिष्टेन्द्रियशक्तिरस्ति, विशिष्टरूपादिज्ञानान्यथानुपपत्तेः । ३ किञ्च । ४ परोक्षस्य । ५ अनुमेयत्वसिद्धिः । ६ आदिशब्देन नैयायिकादयः । ७ यत्सत्तत् क्षणिकमिति बौद्धाः । यत्कृतक तदनित्यमिति नैयायिकाः । ८ जैनानाम् । ९ सर्वमनेकान्तात्मक, सत्त्वात् ।

(1) साध्यसिद्धि प्रत्युपक्षीणशक्तिका अशक्ता इत्यर्थः (2) मीमासको वदति हे स्याद्वादिन् । अर्थापत्तिर्निष्फला जाताकस्माद् हेतोः मांगल्यं विघ्नप्रमुखस्य अन्यथा धर्माधर्मादि विनापि उद्यमादिनापि उत्पत्तिर्घटते । दि. प्र. (3) श्रेयः प्रत्यवायोः सिद्धौ दृष्टकारणस्य उद्यमादे व्यभिचारो निष्फलत्व च दृश्यते । अतः अदृष्टस्य धर्माधर्मादेर्निश्चितेः । दि. प्र. । (4)कस्यचित् स्वर्गाद्यभावेऽपि श्रेयः प्रत्यवायादेरूत्पत्तिदर्शनादिति भावः । (5) गोलकलक्षणदृष्टकारणव्यभिचाराच्छक्तिरूपादृष्टकारण प्रतिपत्ति. । (6) स्वर्गादिलक्षणेषु । (7) पक्षैकदेशे वर्तमानो हेतुर्भागासिद्धः । (8) कृत्वा ।

[अनुमेयत्वं श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वमित्यपि अर्थो भवितुमर्हति]

[1]अथवानुमेयत्वं श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वं हेतुः, मतेरनु पश्चान्मीयमानत्वाद्[2], अनुमेयाः[3] सूक्ष्मादयोर्था इति व्याख्यानान्मतिपूर्वज्ञानस्य श्रुतत्वात्, "श्रुतं मतिपूर्वम्" इति वचनात्। न चैतदसिद्धं[4] प्रतिवादिनोपि [5]सर्वस्य [6]श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वोपगमात्। [7]चोदना हि भूतं

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि अत्यत परोक्ष परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को अनुमान ज्ञान का विषय मानना ठीक नही है। इस पर जैनाचार्यो ने कहा कि पुन: आप मीमासक भी तो यह कहते है कि कोई मनुष्य पदार्थो को जान चुका है तब हम अनुमान से यह निर्णय कर लेते है कि इसमें बुद्धि अवश्य है अन्यथा यह पदार्थो को कैसे जानता ? इस प्रकार से अत्यत परोक्ष बुद्धि का ज्ञान आप अनुमान से मान लेते है। कहिये ? क्या आपकी हमारी या किसी की बुद्धि किसी को प्रत्यक्ष हो रही है ? तब मीमांसक ने कहा कि हम अर्थापत्ति से बुद्धि को जानते है क्योकि बुद्धि के बिना बाह्य पदार्थो का ज्ञान होना असभव है तब आचार्य ने कहा कि भाई ! ऐसे ही पुण्य पाप के बिना सुख-दु ख का होना भी असंभव है। अत: हम सुख दु:ख की अन्यथानुपपत्ति से पुण्य, पाप का ज्ञान अर्थापत्ति से ही कर लेगे क्या बाधा है ? तथा जैनाचार्यो ने अर्थापत्ति को अनुमान में ही सम्मिलित किया है। मतलब मीमासक का कहना है कि परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थ अत्यन्त परोक्ष है उनको जानने में अनुमान ज्ञान का प्रयोग नही होता है।

इस पर जैनाचार्यो ने यह सिद्ध कर दिया है कि परोक्ष भी बुद्धि को अनुमान से जानने का कथन आपके यहा ही मिलता है। यदि आप अत्यन्त परोक्ष परमाणु आदि को अनुमान ज्ञान का विषय न मानो पुनः सुख आदि पर्यायो को मानस प्रत्यक्ष मानकर उनके विषय मे भी अनुमान ज्ञान कैसे हो सकेगा ? क्योकि जो वस्तुए प्रत्यक्ष है उनमें अनुमान ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? फिर तो अनुमान का अभाव ही हो जावेगा। यदि आप अनुमान ज्ञान का अभाव करना नही चाहते हो तब तो सूक्ष्मादि पदार्थों को अनुमेय रूप मान ही लीजिये कोई बाधा नही है।

[अनुमेयत्व का "श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व" ऐसा अर्थ भी सभव है।]

अनुमेयत्व हेतु श्रुतज्ञान के द्वारा अधिगम्य (जानने योग्य) है क्योकि मतिज्ञान के 'अनु'= पश्चात् जानने योग्य है। "सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय अर्थात् श्रुतज्ञान के विषय भूत है" इस प्रकार का व्याख्यान भी सुघटित हो जाता है क्योकि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। "श्रुत मतिपूर्वं" ऐसा आगम का वचन है। हमारा यह कथन असिद्ध भी नहीं है क्योंकि प्रतिवादी मीमांसक भी संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को श्रुतज्ञान (वेद) का विषय स्वीकार करते है।

१ प्रकारान्तरेणानुमेयत्व व्याख्याति। २ श्रुतज्ञान मतिपूर्वकमेव भवति। ३ श्रुतज्ञानविषयाः। ४ मीमांसकस्य। ५ सूक्ष्माद्यर्थस्य। ६ श्रुत वेदः। ७ वेदवाक्यम्।

भवन्तं भविष्यन्त सूक्ष्म [1]व्यवहितं [2]विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलमिति[3] स्वयमभिधानात् । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके ।

"सूक्ष्माद्यर्थोपि चाध्यक्षः [१]कस्यचित्सकलः स्फुटम्[4] । [5]श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वान्नदीद्वीपादिदेशवत् [२] ।१।
न हेतोः [6]सर्वथै[३]कान्तैरनेकान्तः[४] कथञ्चन । [५]श्रुतज्ञानाभिगम्यत्वात्तेषां[६] दृष्टेष्टबाधनात्[७] ।२।
[८]स्थानत्रया[९]विसंवादि[7] श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते । [१०]तेनाधिगम्यमानत्वं[8] सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ।३।"

इति । ततोनुमेयाः सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः सिद्धा एव ।

"भूत, वर्तमान, भविष्यत् सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट (परोक्ष) आदि सभी पदार्थों का ज्ञान कराने में वेदवाक्य ही समर्थ है" इस प्रकार स्वय मीमासको ने कथन किया है। उसी को तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कहा है—

श्लोकार्थ— सकल सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य है। जैसे नदी, द्वीप, देश आदि ।।१।।

श्लोकार्थ— एकात से सर्वथा नित्य रूप अथवा सर्वथा अनित्य रूप से स्वीकार किये गये पदार्थों के साथ हेतु में अनेकातिक दोष भी नही है क्योंकि सभी पदार्थ कथचित् श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य है। सर्वथा एकात रूप से नित्य या अनित्य रूप जो पदार्थ हैं, उन पदार्थो को जानने में प्रत्यक्ष एव अनुमान प्रमाण से बाधा पायी जाती है ।।२।।

स्वभाव से अतरित (परोक्ष), देश से परोक्ष, काल से परोक्ष रूप ये तीन स्थान है। इन तीनों स्थानों मे जो अविसंवादी है वही श्रुतज्ञान है। एवं संपूर्ण वस्तुएं उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य सिद्ध है तथा इन तीनो स्थानो के अविसवादी होने का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि जो जिसको जाने, उसी मे प्रवृत्ति करे, और उसी को प्राप्त करे, ऐसे ज्ञान को भी स्थानत्रय अविसवादी ज्ञान कहते है।" इसलिये श्रुतज्ञान के विषयभूत अनुमेय रूप सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष सिद्ध ही हैं ।।३।।

---

१ सर्वज्ञस्य । २ सूक्ष्माद्यर्थस्य । ३ नित्यत्वेनानित्यत्वेनैव वा एकान्तरूपेण स्वीकृतैरर्थैः । ४ अनैकान्तिकत्व दोषः । ५ श्रुत श्रुतज्ञानाभासः ६ सर्वथैकान्तानामर्थानाम् । ७ प्रत्यक्षानुमानबाधनात् । ८ सर्वत्र वस्तुनि श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वाभावाद् भागासिद्धोयमित्याशङ्कायामाह स्थानेति । ९ स्वभावान्तरित, देशान्तरित, कालान्तरित चेति स्थानत्रयम् । १० ततश्च ।

---

(1) अन्तरित । (2) देशादिदूरं । (3) पुरुषान् । (4) यथा भवति तथा । (5) श्रुतज्ञानाभगम्यत्वात् इति पा. । तस्य श्रुतज्ञानाभासः इत्यर्थो जायते । (6) अर्थं (7) प्रत्यक्षानुमेयात् परोक्षेषु । (8) ज्ञायमानत्व । एतत् श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व हेतु. मीमासकस्यापि असिद्धो नगस्ति ।

[सर्वेऽप्यर्थाः अनुमेया स्युः प्रत्यक्षाश्च न स्युः का हानिः ?]

[1]तेऽनुमेया, न कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च [1]स्युः, किं व्याहन्यते ? [2]इति समानमग्न्यादीनाम्* । [2]अग्न्यादयोनुमेयाः स्युः कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च न स्युरिति । [3]**तथा [4]वानुमानोच्छेदः स्यात्***, सर्वानुमानेषूपालम्भस्य[3] समानत्वात् । शक्यं हि वक्तुं धूमश्च क्वचित्स्यादग्निश्च न स्यादिति ।

[प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनं चार्वाकमनुमानप्रमाणं स्वीकारयति जैनाचार्याः]

[4]तदभ्युपगमेऽस्वसंवेद्य[5]विज्ञानव्यक्तिभिरध्यक्षं किं[6] [7]लक्षयेत् प्रमाणतया [8]परमप्रमाणतयेति[9] न [10]किञ्चिदेतत्[11] तथा नैतत्तया वा [12]अयमभ्युपगन्तुमर्हति* । प्रत्यक्षं प्रमाणमविसंवादित्वादनुमानादिकमप्रमाणं, विसंवादित्वादिति [13]लक्षयतोनुमानस्य बलाद्व्यवस्थितेर्न

[सभी सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय ही रहे प्रत्यक्षज्ञान के विषय न होवें क्या बाधा है ?]

मीमांसक - श्रुतज्ञान (वेद) से अधिगम्य—जानने योग्य अनुमेय पदार्थ किसी (सर्वज्ञ) के प्रत्यक्ष न होवें, अनुमेय मात्र ही रहें तो क्या बाधा आती है ?*

जैन— इस प्रकार से तो हम अग्नि आदिक अनुमेय पदार्थ के लिए भी ऐसा ही कह सकेंगे* कि "जो अग्नि साध्य है वह धूमत्वादि हेतु से अनुमेय होवे और किसी के प्रत्यक्ष न होवे पुनः **इस प्रकार से तो अनुमान का उच्छेद (अभाव) हो जायेगा***। यदि कहा जाय कि अनुमेयो के होने में सदेह रहता है है तो यह उपालभ सभी अनुमानों में समान है । अर्थात् सभी अनुमानो में इस प्रकार की उलाहना दी जा सकेगी और ऐसा भी कहना शक्य हो जावेगा कि कही पर धूम हो जावे पर अग्नि नही होवे, किन्तु ऐसी मान्यता ठीक नही है ।

[अब अनुमान के अभाव को स्वीकार करने वाले चार्वाक को जैनाचार्य समझाते है ।]

इस प्रकार से अनुमान के उच्छेद को स्वीकार करने पर अस्वसंवेदी विज्ञान व्यक्तियों के द्वारा "प्रत्यक्ष प्रमाण है और अनुमान प्रमाण नहीं है" इस प्रकार से आप चार्वाक कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकेंगे अर्थात् न तो आप प्रत्यक्ष को प्रमाण ही सिद्ध कर सकेंगे और न अनुमान को अप्रमाण ही सिद्ध कर सकेंगे इसलिए आप चार्वाक को अनुमान प्रमाण मानना योग्य है ।*

१ मीमांसकः शङ्कते ।—अनुमेया अपि ते न कस्यचित्प्रत्यक्षाः सभवन्ति । २ शङ्का परिहरन्नाहुः स्याद्वादिनः ।—इति (पूर्वोक्तम्), अग्न्यादयो धूमवत्त्वादिनानुमेयाः सन्तु, न च प्रत्यक्षाः कस्यचिदिति समानमुभयत्र । न च तथेष्टं मीमांसकस्य ततो नोक्तशङ्कावकाशः इत्यर्थः । ३ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वस्य । ४ अनुमानोच्छेदाङ्गीकारे (चार्वाकमाह) । ५ विज्ञानमस्वसंवेद्यं भूतपरिणामत्वात् पित्रादिवत् । ६ कर्मतापन्नम् । ७ (मीमासकः) नैव लक्षयेत् । ८ अनुमानम् । ९ चार्वाको लोकान् प्रति अध्यक्षं किं दर्शयेत् (कथं प्रतीतिं कारयेत्) ? १० अप्रमाणतया । ११ अनुमानम् । १२ चार्वाको । १३ चार्वाकस्य ।

(1) इति । (2) कथं । (3) समानत्वे च (4) किं च ।

प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति व्यवतिष्ठते । ततोनुमानमिच्छता याज्ञिकेनेव [1]लौकायतिकेनापि प्रसिद्धाविनाभावनियमनिश्चयलक्षणादनुमेयत्वहेतोः सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसिद्धिरेषितव्या ।

[मीमांसको ब्रूते न कश्चित् सूक्ष्माद्यर्थान् प्रत्यक्षीकर्तुं क्षम प्रमेयत्वादित्यादिमस्य निराकरणं कुर्वन्ति जैनाचार्याः]

[2]स्यान्मतं, बाधितविषयोयं हेतुरनुमानेन पक्षस्य बाधनात् । तथा हि । न [1]कश्चित् सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारी, [2]प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्वस्तुत्वादस्मदादिवत् । न चेदं [3]साधनमसिद्धं व्यभिचारि वा, प्रत्यक्षाद्यविसंवादित्वात्[4] । तदुक्तं

" [1]प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य[5] तु । सद्भाववारणे शक्तं [4]को नु तं[6] कल्पयिष्यति ।"

चार्वाक—"प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है क्योंकि वह अविसंवादी है। अनुमानादि अप्रमाण हैं क्योंकि वे विसंवादी हैं।"

जैन—इस प्रकार से कहते हुए आप चार्वाक के यहां अनुमान तो बलपूर्वक आ ही गया है इसलिए "प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है" ऐसा कथन व्यवस्थित नही होता है। (अर्थात् "प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" यह प्रतिज्ञावाक्य है "क्योंकि अविसंवादी है" यह हेतुवाक्य है एवं अनुमान के ही प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव पाये जाते हैं इस प्रकार से प्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण को सिद्ध करते हुए अनुमान वाक्य के द्वारा) अनुमान प्रमाण को बेमालूम आप स्वीकार कर ही लेते है इसलिये अनुमान को स्वीकार करने वाले याज्ञिक(भाट्ट) के समान चार्वाक को भी "प्रसिद्ध अविनाभाव रूप नियम निश्चय लक्षण वाले अनुमेयत्व हेतु से सूक्ष्मादि पदार्थों को किसी के प्रत्यक्षता सिद्ध है" इस प्रकार स्वीकार कर लेना चाहिये।

[मीमांसक कहता है कि कोई भी व्यक्ति सूक्ष्मादि पदार्थों को साक्षात् करने वाला नही है क्योंकि प्रमेय है इत्यादि । जैनाचार्य इस कथन का निराकरण करते है ।]

मीमांसक—यह हेतु बाधित विषय वाला है क्योंकि आपके पक्ष मे अनुमान से बाधा आती है। तथाहि— "कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला नही है क्योंकि वह प्रमेयरूप है, अस्तित्व रूप है अथवा वस्तु रूप है जैसे हम और आप लोग सूक्ष्मादि पदार्थों के साक्षात् करने वाले नही हैं।" हमारा यह हेतु प्रत्यक्षादि से अविसंवादी है इसलिए असिद्ध या व्यभिचारी भी नही है। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से सूक्ष्मादि पदार्थ को साक्षात् करने वाली कोई भी आत्मा सिद्ध नही होती है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—प्रत्यक्ष आदि से अविसंवादी प्रमेयत्व आदि हेतु जिस सर्वज्ञ के अस्तित्व को निषेध करने में समर्थ पाये जाते है फिर कौन ऐसा विचारशील व्यक्ति है जो कि सर्वज्ञ के सद्भाव की कल्पना

---

१ चार्वाकेन । २ मीमासकस्य । ३ प्रागुक्तम् । ४ यतो न साधयति सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणं प्रत्यक्षम् । ५ सर्वज्ञस्य । ६ सर्वज्ञसद्भावम् ।

(1) मीमांसकः । दि. प्र. (2) पदार्थत्वात् । (3) सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणं पुरुषं न साधयति प्रत्यक्षं यतः । (4) जैनादिः

इति । तदप्यसम्यक्, तत[१] एव कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारित्वसिद्धेः । सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्वस्तुत्वाद्वा स्फटिकादिवत् । [२]अनुमेयेना[1]त्यन्तपरोक्षेण[३] चार्थेन व्यभिचार इति चेन्न, [४]तस्य पक्षीकरणात्[2] । [3]**तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र[५] हेतुलक्षणं[६] पुष्णाति [७]तं कथं [८]चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा[९]** [4]सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिण[5]स्तस्यैव[६] सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वादस्तित्वसिद्धेरबाधितविषयत्वस्यापि[6] [१०]परोपगतहेतुलक्षणस्य [7]प्रकृतहेतोः पोषणात्[8] ।

करेगा ? अर्थात् कोई भी नही करेगा ।

जैन— यह कथन भी ठीक नही है क्योकि इन्ही प्रमेयत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि हेतुओं द्वारा ही किसी न किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कारित्व सिद्ध हो जाता है । तथाहि "सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य है क्योकि वे प्रमेय रूप है, अस्तित्व रूप है अथवा वस्तुत्व रूप है । जैसे-स्फटिक आदि पदार्थ ।"

शंका— अनुमान मात्र से जानने योग्य और आगम से जानने योग्य अत्यन्त परोक्ष पदार्थों के साथ व्यभिचारी दोष आता है ।

समाधान— नही आता है क्योकि इन सभी अनुमानगम्य और अत्यन्त परोक्ष आगम गम्य पदार्थों को भी हमने पक्ष मे ले लिया है अत. विपक्ष के न होने से व्यभिचार दोष को अवकाश ही नही है कारण कि अनुमान गम्य, अनुमेय एवं आगम गम्य अत्यन्त परोक्ष पदार्थ भी प्रमेय है, अस्तिरूप तथा वस्तुरूप हैं यह बात निश्चित है ।

जब इस प्रकार से प्रमेयत्व सत्त्व आदि हेतु सर्वज्ञ को सिद्ध करने में 'सुनिश्चित रूप से असभव है बाधक प्रमाण जिसमे' ऐसे हेतु के लक्षण को पुष्ट करते हैं तब कोई भी बुद्धिमान चेतन आत्मा इन्हीं हेतुओं द्वारा उस सर्वज्ञ का निषेध करने में या उसके सद्भाव में संशय करने के लिये समर्थ कैसे हो सकता है ?* अर्थात् इन्ही हेतुओं से तो सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो रहा है पुन. इन्ही हेतुओं से

१ प्रमेयत्वादितः । २ अनुमानमात्रगम्येन । ३ आगमगम्येन । ४ अनुमेयस्यात्यन्तपरोक्षस्य च । ५ सर्वज्ञे साध्ये । ६ सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वस्य लक्षण स्वरूपम् । अथवानुमेयत्वस्य लक्षणमबाधितविषयत्वम् । ७ सर्वज्ञम् । ८ मतिमान् । ९ पुरुषस्य प्रतिषेधकस्य सशयितस्य वा । १० परेण मीमांसकेनाभ्युपगत प्रमेयत्वादिहेतु सर्वज्ञास्तित्वे अबाधितविषयः सन् सुनिश्चितासभवदित्यादिप्रकृतहेतु पुष्णाति ।

(1) मीमासक आह हे स्याद्वादिन् । प्रमेयत्वादिति हेतो अनुमेयेनात्यत परोक्षेणार्थेन कृत्वा व्यभिचारो दृश्यते इति चेन्न तस्यानुमेयस्यात्यन्तपरोक्षार्थस्य पक्षीकरणात । सूक्ष्माद्यर्था इति पक्ष कृतस्तत्रैवांतर्भावात अतोहेतुर्व्यभिचारी न । दि. प्र. । (2) कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारित्वसिद्धि प्रमेयत्वसत्त्वादेर्यत: (3) उक्तप्रकारेण (4) नु । (5) प्रमेयत्वादे साधनस्याबाधकत्वप्रकारेण । (6) सूक्ष्माद्यर्थे पक्षे । (7) अनुमेयत्व । (8) सद्भावसाधनात् ।

[सर्वज्ञास्तित्वे साध्ये हेतुः सर्वज्ञभावधर्मोऽभावधर्म उभयधर्मो वेति प्रश्ने विचारः क्रियते जैनाचार्यैः]

[1]ननु च सर्वज्ञस्यास्तित्वे साध्ये सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं हेतुः [1]सर्वज्ञभावधर्मश्चेदसिद्धः[१] । को हि[2] नाम सर्वज्ञभावधर्मं हेतुमिच्छन् सर्वज्ञमेव नेच्छेत् । सर्वज्ञाभावधर्मश्चेद्विरुद्धः, [३]ततः सर्वज्ञनास्तित्वस्यैव सिद्धेः । सर्वज्ञभावाभावधर्मश्चेद्व्यभिचारी, सपक्षविपक्षयोर्वृत्तेः ? तदुक्तम्

कोई भी महानुभाव सर्वज्ञ का निषेध नही कर सकते है और न सर्वज्ञ के अस्तित्व में सशय ही कर सकते हैं।

सुनिश्चितासभवद्बाधकत्व हेतु मे सूक्ष्मादि अर्थों को साक्षात् करने वाले उसी सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि होती है। अत मीमासक द्वारा स्वीकार किये गये और अबाधित विषय वाले भी प्रमेयत्वादि हेतु का प्रकृत – अनुमेयत्व हेतु से पोषण ही होता है। अर्थात् उसके सर्वज्ञ निषेधक हेतु हमारे सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले "अनुमेयत्व" हेतु का पोषण ही कर देते है न कि खडन। तात्पर्य यह है कि मीमासक ने सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने के लिए प्रमेयत्व आदि हेतु दिये हैं, किन्तु इन हेतुओं में भी "सुनिश्चितासभवद्बाधकत्व लक्षण पाया जाता है अत ये हेतु हमारे मूल कारिका के 'अनुमेयत्व हेतु' को ही पुष्ट कर देते है जिससे इन प्रमेयत्व आदि हेतुओ से भी सर्व के अस्तित्व की ही सिद्धि हो जाती है।

भावार्थ—मीमासक ने 'प्रमेयत्व, सत्त्व और वस्तुत्व' ऐसे तीन हेतुओं के द्वारा सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु जैनाचार्य ने इन्ही तीन हेतुओं से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया है। कोई न कोई महापुरुष सपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने वाला अवश्य है क्योकि प्रमाण-ज्ञान का विषय है। भले ही आज यहा भरत क्षेत्र मे सर्वज्ञ उपलब्ध न हो फिर भी विदेह आदि क्षेत्रों में एवं चतुर्थ काल मे उनकी उपलब्धि होती है अत. वह सर्वज्ञ अस्तिरूप भी है तथैव वस्तुभूत भी है। इसलिए ये तीनो हेतु सर्वज्ञ के सद्भाव को ही सिद्ध कर देते है।

[सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने मे आपका हेतु सर्वज्ञ के भाव का धर्म है या अभाव का अथवा उभय का ऐसे प्रश्न होने पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं।]

मीमांसक—यदि आप जैन सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने मे सुनिश्चितासभवद् रूप से बाधक प्रमाणत्व हेतु को सर्वज्ञ के अस्तित्व का धर्म स्वीकार करते है तो आपका यह हेतु असिद्ध है जैसे कि आपका सर्वज्ञ रूप साध्य असिद्ध है क्योंकि ऐसा कौन व्यक्ति है जो सर्वज्ञ के सद्भाव धर्म को हेतु स्वीकार

१ मीमासकः। २ सर्वज्ञवत्। ३ सर्वज्ञाभावधर्मात्।

(1) यस। तास. सौगतमतमाश्रित्य मीमासक पृच्छति सर्वज्ञास्तित्वे साध्ये सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्वात् इति। हेतुः। सर्वज्ञभावधर्मः। उत सर्वज्ञाभावधर्मः। उभयधर्मः इति प्रश्नत्रयं। दि. प्र.।

(2) व्यतिरेकेण प्राक्तनं भावयति।

"असिद्धो भावधर्मश्चेद्व्यभिचार्युभयाश्रयः[1] । विरुद्धो धर्मोऽभावस्य[2] स [3]सत्तां साधयेत् कथम्" इति ।

[1]धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वात्कथं सकलविदि[4] सत्त्वसिद्धिरिति ब्रुवन्नपि देवानां [2]प्रियस्तद्धर्मिस्वभावं [3] न लक्षयति * । [4]स हि तावदेवं [5] सौगतमतमाश्रित्य ब्रुवाणः प्रष्टव्यः [6] । **शब्दानित्यत्वसाधनेपि कृतकत्वादावयं[7] विकल्पः किं न स्यादिति * ।** शक्यं हि वक्तुं, [5]कृतकत्वादिहेतुर्यद्यनित्यशब्दधर्मस्तदाऽसिद्धः[6] । को नामानित्यशब्दधर्मं[7] हेतुमिच्छन्ननित्यशब्दमेव नेच्छेत्[8] ? अथ नित्यशब्दधर्मस्तदा विरुद्धः, [9]साध्यविरुद्धसाधनात् । अथोभयधर्मस्तदा व्यभिचारी, सपक्षेतरयोर्वर्तमानत्वात् । इति सर्वा-

करते हुए सर्वज्ञ को ही न स्वीकार करे !

यदि आप ऐसा कहे कि हमारा हेतु सर्वज्ञ के अभाव का धर्म है तब तो वह हेतु विरुद्ध हो गया । सर्वज्ञ के अभाव का धर्म होने से वह हेतु तो सर्वज्ञ के नास्तित्व को ही सिद्ध करेगा न कि अस्तित्व को । पुनः आप कहे कि वह हेतु सर्वज्ञ के भाव और अभाव दोनों का ही धर्म है तब तो आपका यह हेतु व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि सपक्ष (सद्भाव) और विपक्ष (नास्तित्व) दोनो में उसकी वृत्ति हो जाती है । कहा भी है—

श्लोकार्थ— यदि हेतु साध्य के भाव का धर्म है तो असिद्ध है क्योकि साध्य सर्वदा असिद्ध ही होता है । यदि साध्य के भाव एव अभाव दोनों का धर्म है तो व्यभिचारी है तथा यदि साध्य के अभाव का **धर्म है** तो विरुद्ध है ऐसा हेतु साध्य-सर्वज्ञ की सत्ता को कैसे सिद्ध कर सकेगा ?

"असिद्ध है सत्ता जिसकी ऐसे धर्मी सर्वज्ञ के भाव, अभाव या उभय धर्मों को हेतु बनाने पर असिद्ध, विरुद्ध और अनेकांतिक दोष आते हैं । अतः सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि किस प्रकार से हो सकती है" ऐसा कहते हुए भी आप 'देवानां प्रिय' (मूर्ख) मीमांसक सर्वज्ञ-लक्षण-धर्मी के स्वभाव को नहीं समझ सके हैं । *

[अब यहां मीमांसक सौगतमत का आश्रय लेकर पक्ष रखता है पुनः जैनाचार्य उसका खडन करते है ।]

सौगतमत का आश्रय लेकर बोलते हुये उस मीमासक से हम पूछते हैं कि **आपके यहां भी शब्द को अनित्य सिद्ध करने में कृतकत्व आदि हेतु में भी यह विकल्प क्यों नहीं किया जा सकेगा ? *** अर्थात् हम भी ऐसा कह सकते है कि "शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है ।" इस अनुमान वाक्य में कृत-

१ सर्वज्ञे । २ मीमासक (मूर्ख.) । ३ सर्वज्ञलक्षणम् । ४ मीमांसक. । ५ (पुरस्ताच्छब्दानित्यत्वादिकथन सौगतापेक्षयेत्यर्थः) । ६ जैनेन । ७ तद्भावधर्मस्तदभावधर्मस्तद्भावाभावधर्मो वेति । ८ शब्दस्यानित्यत्व साध्य तद्धर्म. कृतकत्वं हेतुः । साध्येऽसिद्धे हेतुरप्यसिद्ध, अनित्यशब्दस्याप्रसिद्धत्वे तद्धर्मरूपकृतकत्वस्याप्यप्रसिद्धे. । ९ अनित्यत्वविरुद्ध नित्यत्वम् ।

(1) बसः । (2) धर्मोऽभावः स्यादिति वा पाठः । दि. प्र. । (3) सर्वज्ञ । सा सत्ता साध्यते इति पा. । (4) सकलविदित इति पा. दि. प्र. । (5) कृतकत्वादिति हेतुः पा. । (6) तदा न सिद्ध इति पा. । (7) को हि इति पाठाधिक. ।

नुमानोच्छेदः, [१]क्वचित्पावकादौ साध्ये [1]धूमवत्त्वादावपि विकल्पस्यास्य[२] समानत्वात्। **[१]विमत्य[2]धिकरणभावापन्नविनाश[४]धर्मिधर्मत्वे[५] कार्यत्वादेरसंभवद्बाधकत्वादेरपि [६]सन्दिग्ध-[3]सद्भावधर्मिधर्मत्वं[७] सिद्धं[८] बोद्धव्यम्।**

[*मीमासको ब्रूते जैनानां सर्वज्ञधर्मी प्रसिद्धसत्ताको नास्तीति जैनाचार्याः समादधति।*]

ननु[९] च शब्दादेर्धर्मिणः शब्दत्वादिना प्रसिद्धसत्ताकस्य सन्दिग्धानित्यत्वादिसाध्यधर्म-कस्य धर्मो[4] हेतुः कृतकत्वादिरिति युक्तं; सर्वथाप्यसिद्धसत्ताकस्य तु सर्वज्ञस्य कथं विवादा-पन्नसद्भावधर्मकस्य धर्मो हेतुरसंभवद्बाधकत्वादिर्युज्यते, प्रसिद्धो धर्मी [5]अप्रसिद्धधर्मविशे-

---

कत्वादि हेतु यदि अनित्य शब्द के धर्म है तब वह हेतु असिद्ध है। अतः कौन ऐसा विवेकी है जो कि अनित्य शब्द के धर्म को हेतु स्वीकार करते हुए शब्द को अनित्य स्वीकार न करे।

भावार्थ— शब्द का अनित्यपना साध्य है और उसका धर्म कृतकपना हेतु है। साध्य असिद्ध होने से हेतु भी असिद्ध है। अनित्य शब्द की असिद्धि होने से उसका धर्मरूप कृतकत्व हेतु भी असिद्ध है। यदि कहो कि यह हेतु नित्य शब्द का धर्म है तब तो विरुद्ध हो जाता है क्योंकि अनित्य रूप साध्य से विरुद्ध नित्य को सिद्ध कर रहा है। तथा यदि कहो कि उभय का धर्म है तब तो व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि सपक्ष और विपक्ष दोनों में रह जाता है और इस प्रकार से तो सभी अनुमानों का उच्छेद हो जावेगा।

किसी पर्वत पर अग्नि आदि को साध्य (सिद्ध) करने में धूमत्व आदि हेतु में भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते हैं।

विवादापन्न विनाश धर्मी शब्द के अनित्यत्व धर्म में असंभवबाधकत्व रूप कार्यत्व आदि हेतु से भी संदिग्ध सद्भाव रूप धर्मी का धर्मपना सिद्ध हुआ ही जानना चाहिये। *

[मीमांसक कहता है कि जैनो का सर्वज्ञ धर्मी प्रसिद्ध सत्तावाला नहीं है इस पर जैनाचार्य समाधान करते हैं]

मीमांसक— शब्दत्व आदि के द्वारा जिसकी सत्ता प्रसिद्ध है और जिसमें अनित्यत्व आदि साध्य धर्म सदिग्ध है ऐसे शब्दादि धर्मी के कृतकत्व आदि हेतु धर्म है यह कथन तो युक्त है किंतु सभी प्रकार

---

१ पर्वतादौ। २ अग्निमत्पर्वतधर्मो वानग्निमत्पर्वतधर्मो वोभयधर्मो वेत्यस्य। ३ विमतिः=विवादः। ४ विनाश-धर्मोस्यास्तीति विनाशधर्मी शब्दः। ५ सन्दिग्धश्चासौ सद्भावश्चास्तित्वलक्षणः स एव धर्मो यस्यार्हतः इति विमत्यधिकरण-भावापन्नविनाशधर्मी। ६ यतः। ७ अत्रेद मीमांसकस्य तात्पर्यं, भो जैन शब्दस्तु सिद्ध एव। शब्दस्य यदनित्यत्वं साध्य सन्दिग्धमस्ति तदेव कृतकत्वादिना साध्यते इति। ८ असंभवद्बाधकत्वलक्षणम्। ९ मीमांसकः।

---

(1) न केवल कृतकत्वादौ। (2) विमत्यधिकरणभावापन्नः विवादापन्नः विनाशो यस्य स विमत्यधिकरण-भावापन्नविनाशः स चासौ धर्मी शब्दश्च तस्य धर्मत्वे सति कृतकत्वस्य हेतोः। दि. प्र.। (3) सद्भाव एव धर्मः सोस्या-स्तीति सद्भावधर्मः तस्य धर्मो यः सः। (4) यथा पर्वतस्य धर्मोऽग्निमत्त्वं धूमत्वं च। (5) साध्य। एव।

षणविशिष्टतया [1] स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः पक्ष इति वचनात् [2], कथञ्चिदप्यप्रसिद्धस्य धर्मित्वायोगात् । इति कश्चित्[3], सोपि यदि सकलदेशकालवर्तिनं शब्दं धर्मिणमाचक्षीत तदा कथं प्रसिद्धो धर्मीति ब्रूयात् ? तस्याप्रसिद्धत्वात् । परोपगमात्सकलः शब्दः प्रसिद्धो धर्मीति चेत् [4]स्वाभ्युपगमात्सर्वज्ञः प्रसिद्धो धर्मी किन्न [5]भवेद्धेतुधर्मवत् । [6]परं प्रति समर्थित एव हेतुधर्मः साध्यसाधन [7] इति चेद्धर्म्यपि[8] [9]परं प्रति [10]समर्थित[1] एवास्तु, विशेषाभावात्[2] ?

से जिसकी सत्ता असिद्ध है एव जिसका सद्भाव धर्म विवाद को प्राप्त है ऐसे सर्वज्ञ का धर्म अबाधित हेतु कैसे हो सकता है क्योंकि धर्मी प्रसिद्ध होता है और साध्य तो अप्रसिद्ध धर्म विशेषण से विशिष्ट होता है । इस प्रकार से स्वय आप जैनियों ने ही माना है । अत. जो कथचित् भी अप्रसिद्ध है वह धर्मी नही हो सकता है ।

जैन—यदि आप मीमासक भी सकल देशकालवर्ती शब्द को धर्मी कहते है तब तो आपके यहा भी धर्मी प्रसिद्ध नही रहेगा क्योकि सकल देशकाल वर्ती शब्द अप्रसिद्ध है, अर्थात् भूत, भावी शब्द तो विद्यमान ही नही है ।

मीमांसक—दूसरो के स्वीकार करने से ही हम भी सपूर्ण शब्दो को प्रसिद्ध मान लेगे अत. धर्मी प्रसिद्ध ही हो जावेगा ।

जैन—तो पुनः जैनो के द्वारा स्वीकृत होने से सर्वज्ञ धर्मी प्रसिद्ध क्यो न हो जावे ? जैसे कि हेतु का धर्म प्रसिद्ध माना जाता है ।

भावार्थ—आप मीमासक ने दूसरो के द्वारा स्वीकृत सभी शब्दो को प्रसिद्ध धर्मी स्वीकार किया है तो फिर हम जैनो के द्वारा स्वीकृत होने से सर्वज्ञ भी प्रसिद्ध धर्मी हो जावे यह बात क्यो नही स्वीकार करते है ।

मीमांसक—दूसरो के प्रति समर्थित ही हेतु धर्म साध्य को सिद्ध कर सकता है ।

जैन—तब धर्मी (शब्द) भी जैन के प्रति समर्थित होवे, दोनो में कुछ भी अतर नही है ।

१ जैनेन । २ जैनस्य । ३ मीमासक. । ४ परोपगमात्सकल शब्द प्रसिद्धो धर्मीति यदि मीमासकेन भवताभ्युपगम्यते तर्हि स्वेषां जैनानामभ्युपगमात्सर्वज्ञः प्रसिद्धो धर्मी भवेदिति कि नेष्यते ? परोपगमस्योभयत्राप्यविशेषात् । ५ हेतुश्चासौ धर्मश्चेति । ६ मीमासकम् । ७ साध्यस्य साधक । ८ शब्दोपि । ९ जैन प्रति । १० समर्थितहेतु एवास्तु इति पाठान्तरम् ।

(1) प्रसिद्धो भवतु । (2) ननु यदि पर प्रति समर्थितो धर्मी स्यात् तदा प्रकृतधर्मी समर्थनेनैव साध्यसिद्धेः किमनेन पश्चादनुमानप्रयोगेणेति चेन्न साधनसमर्थनेऽपि समानत्वात् । शक्य हि वक्तु नासिद्ध विरुद्ध नानैकान्तिकमिति साधनसमर्थनेनैव साध्यसिद्धेः किमनेन पश्चादनुमानप्रयोगेणेति अनुमानप्रयोगानतर साधनसमर्थनाददोष इति चेदन्यत्राप्यनुमानप्रयोगानंतर धर्मिसमर्थनाददोषोऽस्तु । दि. प्र. ।

[धर्मिरण सत्ता सर्वथा प्रसिद्धास्ति कथंचिद्वा ?]

[१]किञ्च सर्वथा प्रसिद्धसत्ताको धर्मी कथञ्चिद्वा ? सर्वथा चेच्छब्दादिरपि धर्मी न स्यात्, [२]तस्याप्रसिद्धसाध्यधर्मोपाधिसत्ताकत्वात्[३] । कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकः शब्दादिर्धर्मीति चेत् सर्वज्ञः कथ धर्मी न स्यात् ? प्रसिद्धात्मत्वादिविशेषणसत्ताकस्याप्रसिद्धसर्वज्ञत्वोपाधिसत्ताकस्य[४] च [५]धर्मिणोभ्युपगमे सर्वथा नाप्रसिद्धसत्ताकत्व, [1]कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकत्वात् । स्याद्वादिनो हि कश्चिदात्मा सर्वज्ञोस्तीति पक्षप्रयोगमाचक्षते, [६]नान्यथा । [७]ततोयमु[2]पालभमानो[८] धर्मिस्वभाव न [९]लक्षयत्येव, [१०]प्रकृतानुमाने सर्वज्ञस्य धर्मित्वावचनाच्च । सूक्ष्माद्यर्था एव ह्यत्र धर्मिणः प्रसिद्धा [3]युक्तास्तावत्प्रसिद्धसत्ताका एव, परमाण्वादीनामपि प्रमाण-

[धर्मी की सत्ता सर्वथा प्रसिद्ध है या कथंचित् ?]

दूसरी बात यह है कि हम आप से प्रश्न करते है—धर्मी सर्वथा प्रसिद्ध सत्ता वाला है या कथंचित् ? यदि सर्वथा कहो तो शब्दादि भी धर्मी नही होगे क्योंकि वे शब्दादि अप्रसिद्ध रूप साध्य धर्म से विशिष्ट सत्ता वाले है । यदि आप कहे कि कथंचित् रूप से प्रसिद्ध है सत्ता जिसकी ऐसे शब्दादि धर्मी है, तब तो सर्वज्ञ भी धर्मी क्यों नही हो जावेगा ? अतः हमारे यहा आत्मत्व आदि विशेषण रूप सत्ता से प्रसिद्ध और सर्वज्ञत्व उपाधि रूप सत्ता से अप्रसिद्ध को धर्मी स्वीकार करने पर सर्वथा अप्रसिद्ध सत्ता वाला धर्मी नही है अपितु कथंचित् प्रसिद्ध सत्ता वाला है क्योंकि "कोई आत्मा सर्वज्ञ है" स्याद्वादी लोग इस प्रकार से पक्ष प्रयोग करते है, अन्य प्रकार से नही। इसलिए आप मीमासक या बौद्ध जैनियों को उलाहना देते हुये वास्तव मे धर्मी के स्वभाव को ही नही जानते है एव इस प्रकृत अनुमान "सूक्ष्मातरित दूरार्था" इत्यादि मे हमने सर्वज्ञ को धर्मी माना ही नही है । इस अनुमान (कारिका) में सूक्ष्मादि पदार्थ ही धर्मी है । वे प्रसिद्ध सत्ता वाले ही है । क्योंकि परमाणु आदि भी प्रमाण से प्रसिद्ध है । इस बात को विशेष रूप से आगे "बुद्धिशब्दप्रमाणत्व" इत्यादि कारिका के व्याख्यान में कहेंगे ।

भावार्थ—मीमासक ने कहा कि आप जैन "प्रमेयत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व" हेतुओं से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे हैं । तो यह तो बताइये कि ये हेतु सर्वज्ञ के भाव के धर्म है या अभाव के

१ विकल्पान्तरेण जैनो धर्मिरण विचारयति । २ अप्रसिद्धसाध्यधर्मोपाधिः (विशेषण) सत्ता यस्य शब्दस्य सः । तत्त्वात् । ३ यथा शब्दानित्यत्वस्य सत्ता अप्रसिद्धा वर्तते । ४ अय सर्वज्ञ इति विशेषणलक्षणा उपाधि । ५ सर्वज्ञस्य । ६ एव चेत् न हि सर्वज्ञनिराकृते प्रागित्यादिभाष्यविवरणावसरे अस्ति सर्वज्ञ, सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादित्युक्त प्रयोगः शोभेतेति, चेन्न, तत्राप्यभिप्रेतस्यात्मशब्दस्याध्याहार्यमाणत्वात् । अनुमेयत्वहेतोरबाधितविषयत्वसमर्थनप्रसङ्गायाते अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितेत्याद्यनुमाने परोक्त दोषं परिहृत्य प्रकृतानुमाने स दोषो न सभवतीति प्रकृतानुमाने इत्याहुः । ७ मीमांसकः सौगतो वा । ८ दोषमुद्भावयन् । ९ जानाति । १० सूक्ष्मान्तरितदूरार्था कस्यचित्प्रत्यक्षा, अनुमेयत्वादित्यनुमाने ।

(1) शब्दत्वेन । (2) उपालभमानो इति पा. । (3) प्रयुक्ता इति पा. ।

सिद्धत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्[1] ।

धर्म है अथवा सर्वज्ञ के भावाभाव के धर्म है इन तीनो विकल्पों में मीमासक ने दोषारोपण कर दिया है ।

जैनाचार्य कहते है कि भाई ! बौद्ध ने शब्द को अनित्य माना है और कृतकत्व हेतु दिया है । इस कृतकत्व हेतु में भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते हैं । आप मीमासक ने शब्द को नित्य माना है और उसे नित्य सिद्ध करने के लिये 'प्रत्यभिज्ञान हेतु' दिया है । तब इस प्रत्यभिज्ञान हेतु में भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते है । तात्पर्य यह है कि किसी भी अनुमान वाक्य मे हेतु के प्रति ये तीनों विकल्प सभव है और इन दोषो के निमित्त से कोई भी हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नही हो सकेगा ।

इस प्रकार से अनुमान का अभाव होते देखकर बौद्ध का पक्ष लेकर मीमासक कहता है कि शब्द को अनित्य सिद्ध करने में कृतकत्व हेतु को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा कर रहा है । वह कहता है कि शब्द तो प्रसिद्ध ही है और उस शब्द का जो अनित्य धर्म है वह सदिग्ध है उसी को साध्य की कोटि मे रखा गया है और वह अनित्य धर्म ही कृतकत्व हेतु से सिद्ध किया जाता है किन्तु आपका सर्वज्ञ धर्मी तो प्रसिद्ध ही नही है तो फिर उसी अस्तित्व को सदिग्ध कोटि में रखकर प्रमेयत्वादि हेतु से कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ?

जैनाचार्य कहते हैं कि आप के यहा भी त्रिकालवर्ती शब्द प्रसिद्ध नही है भूतकालीन शब्द नष्ट हो गये, भविष्यत कालीन शब्द अभी उत्पन्न ही नही हुये है पुनः शब्द भी "प्रसिद्धो धर्मी" इस सूत्र के अनुसार प्रसिद्ध कहा रहे ?

दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि शब्द की सत्ता सभी प्रकार से प्रसिद्ध है या कथचित् ? सभी प्रकार से आप कह नही सकते क्योंकि शब्द का अनित्य धर्म असिद्ध है तभी उसे साध्य की कोटि मे रखा है । कथचित् सत्ता सिद्ध है यदि ऐसा कहो तो हमारे सर्वज्ञ की भी सत्ता कथचित् सिद्ध ही है । देखिये ! हम जैनों ने इस कारिका के या अनुमान वाक्य में सर्वज्ञ को धर्मी नही बनाया है किंतु "सूक्ष्मादि पदार्थों" को ही धर्मी बनाया है और सूक्ष्म—परमाणु आदि पदार्थ सभी को मान्य होने से प्रसिद्ध ही है । वे सूक्ष्मादि पदार्थ जिसके प्रत्यक्ष है वे ही सर्वज्ञ है इस प्रकार से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध किया गया है । अतः उस सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने में जो अनुमेयत्व हेतु अथवा प्रमेयत्व आदि हेतु दिए गए हैं । उनमें उपर्युक्त तीन विकल्प नही उठाए जा सकते हैं ।

दूसरी बात यह भी है कि श्री विद्यानदि महोदय ने 'अनुमेयत्व' हेतु का अर्थ 'श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व' कर दिया है जो कि आज्ञाप्रधानी एव परीक्षा प्रधानी दोनों को मान्य हो जावेगा तथा मीमासक भी वेद को प्रमाणीक मानता है अतः उसे भी सतोष हो जावेगा ।

१ बुद्धिशब्दप्रमाणत्वमिति कारिकाव्याख्याने ।

[सूक्ष्मादिपदार्था इंद्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित् प्रत्यक्षाः संति मानसप्रत्यक्षेण वा ?]

[1]ननु सूक्ष्मादयोर्थाः किमिन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षाः साध्या [2]उतातीन्द्रियप्रत्यक्षेण ? प्रथमविकल्पेऽनुमानविरुद्धः [3] पक्षः [4]सूक्ष्माद्यर्था [5] न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयाः, [6]सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहितत्वात् [7] । [8]ये तु कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयास्ते न सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिता दृष्टा । यथा घटादयः । सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिताश्च सूक्ष्माद्यर्थास्तस्मान्न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषया ' इति केवलव्यतिरेकिणानुमानेन बाध्यमानत्वात् । न च सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहितत्वमसिद्धं, साक्षात्परमाणु[9]धर्मादीनामिन्द्रियसम्बन्धाभावात् । तथा हि । न कस्यचिदिन्द्रियं साक्षात्परमाण्वादिभिः[1] सम्बध्यते, इन्द्रियत्वादस्मदादीन्द्रियवत् ।

[सूक्ष्मादि पदार्थ इद्रिय प्रत्यक्ष से किसी के प्रत्यक्ष हैं या नोइद्रिय प्रत्यक्ष से ?]

मीमांसक—अच्छा तो सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं यह बात तो हम मानने को तैयार है किंतु यह तो बतलाइये कि वे सूक्ष्मादि पदार्थ इद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतीद्रिय (मानस) प्रत्यक्ष ज्ञान से ?

प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर तो पक्ष अनुमान के विरूद्ध है । तथाहि "सूक्ष्मादि पदार्थ किसी भी जीव के इद्रिय ज्ञान के विषय नही है क्योंकि सर्वथा इद्रियों के सम्बन्ध से रहित है । जो पदार्थ किसी के इन्द्रिय ज्ञान के विषय है वे पदार्थ सर्वथा इद्रिय के सम्बन्ध से रहित नही देखे जाते हैं जैसे घट पट आदि । सर्वथा इद्रिय सम्बन्ध से रहित सूक्ष्मादि पदार्थ है इसलिये वे किसी के इंद्रिय ज्ञान के विषय भी नही है ।" इस प्रकार केवलव्यतिरेकी अनुमान के द्वारा आप का पक्ष बाधित हो जाता है । एवं यह सर्वथा इद्रियसम्बन्ध रहितत्व" हेतु असिद्ध भी नहीं है । साक्षात् परमाणु धर्म, अधर्म आदि के साथ इद्रिय सम्बन्ध का अभाव है । तथाहि—

"किसी की भी इद्रिया साक्षात् परमाणु आदि से सम्बन्धित नही होती है क्योकि वे इद्रियां है जैसे कि हम लोगों की इद्रिया ।" इस अनुमान से इद्रियो से परमाणु आदि का ज्ञान होना असम्भव है ।

[नैयायिक कहता है कि योगज धर्म से अनुगृहीत इंद्रिया परमाणु आदि को भी देख लेती हैं उसका निराकरण]

नैयायिक—योगज धर्म अनुगृहीत इद्रिया उन परमाणु आदि से साक्षात् सम्बन्ध कर लेती है । अतः उन सूक्ष्म वस्तुओ का ज्ञान हो जाता है ।

मीमांसक—इद्रियों के योगज धर्म का अनुग्रह होना यह क्या चीज हैं ?

१ मीमांसको नैयायिक प्रत्याह २ अतीन्द्रिय=मन. । ३ कालात्ययापदिष्ट । प्रमाणबाधिते पक्षे हेतोर्वर्तमानत्वं कालात्ययापदिष्टत्वम् । ४ अनुमानविरुद्धत्वं दर्शयति । ५ साक्षात् परम्परया वा । ६ सूक्ष्माद्यर्थानाम् । ७ व्यतिरेकव्याप्तिः । ८ साधनम् । ९ परमाणवश्च धर्मादयश्चेति तेषाम् ।

(1) आदिशब्देन स्वभावविप्रकृष्टैर्धर्मादिभि कालातरितैरतीनागतपदार्थैर्दूरार्थैर्हिमवदादिभिः ।

[नैयायिको ब्रूते योगजधर्मानुगृहीतेंद्रियाणि परमाण्वादीन् पश्यंति तस्य निराकरणं]

[१]योगजधर्मा[२]नुगृही[1]तमिन्द्रियं [2]योगिनस्तैः साक्षात्सम्बध्यते इति चेत् [३]कोयमिन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहो नाम ? [3]स्वविषये प्रवर्तमान[४]स्यातिशयाधानमिति[५] चेत्तदसंभव एव, परमाण्वादौ स्वयमिन्द्रियस्य प्रवर्तनाभावात्, प्रवर्तने वा योगजधर्मानुग्रहस्य वैयर्थ्यात्[4]। तत एवेन्द्रियस्य परमाण्वादिषु प्रवृत्तौ परस्पराश्रयप्रसङ्गः । [६]सतीन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहे[७] परमाण्वादिषु प्रवृत्तिः सत्यां च तस्यां योगजधर्मानुग्रह इति । [5]परमाण्वादिष्विन्द्रियस्य प्रवृत्तौ सहकारित्व योगजधर्मानुग्रह इति चेन्न, स्वविषयातिक्रमेण[८] तस्य तत्र तदनुग्रहायोगात्, [6]अन्यथा कस्यचिदेकस्येन्द्रियस्य[९] सकलरसादिषु प्रवृत्तौ तदनुग्रहप्रसङ्गात्[१०] । [११]दृष्टविरोधान्नैवमिति चेत् [१२]समानमन्यत्र[१३] । यथैव हि चक्षुरादीनि प्रतिनियतरूपादिविष-

नैयायिक—अपने अपने विषय मे प्रवर्त्तमान इंद्रियो में अतिशय को कर देना यही अनुग्रह है ।

मीमांसक—तब तो वह असंभव ही है । परमाणु आदि में स्वय इंद्रियों की प्रवृत्ति नही पाई जाती है । यदि आप प्रवृत्ति मानेगे तो योगज धर्म का अनुग्रह व्यर्थ ही हो जावेगा । पुन आप कहे कि योगज धर्म के अनुग्रह से ही इंद्रियो की परमाणु आदि मे प्रवृत्ति हो जाती है तो परस्पराश्रय दोष आ जावेगा । इंद्रियो के योगज धर्म का अनुग्रह होने पर परमाणु आदि मे प्रवृत्ति होगी और उस प्रवृत्ति के परमाणु आदि में प्रवृत्ति होने पर योगज धर्म का अनुग्रह होगा ।

नैयायिक—परमाणु आदि को जब इंद्रिया ग्रहण करती है तब योगज धर्म का अनुग्रह सहकारी कारण होता है ।

मीमांसक—यह कथन ठीक नही है । अपने विषयो का उलघन करके इन्द्रियों की परमाणु आदि में प्रवृत्ति होने मे योगजधर्म का अनुग्रह सहकारी नही हो सकता है । अन्यथा कोई एक ही इन्द्रिय सपूर्ण रूप, रस, गंध आदि विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त हो जावेगी और उसमें भी योगजधर्मानुग्रह ही सहकारी मानना पडेगा ।

नैयायिक—एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करे इसमें तो प्रत्यक्ष से ही विरोध है

१ नैयायिक. । २ ध्यानोद्भूतधर्मेण । ३ मीमासक पृच्छति ४ इन्द्रियस्य । ५ स्पष्टतापादनम् । ६ परस्पराश्रय दर्शयति । ७ अङ्गीक्रियमाणे । ८ रूपादिविषयोल्लङ्घनेन । ९ स्पर्शनादे । १० योगजधर्मानुग्रहप्रसङ्गात् । ११ नैयायिकः । प्रत्यक्षविरोधात् । १२ मीमासक । १३ परमाण्वादौ प्रत्यक्षविरोधस्तुल्य ।

(1) उपकृत । (2) ईश्वरस्य । (3) परमाण्वादौ । (4) इंद्रियस्य परमाण्वादौ प्रवृत्यर्थं हि योगजधर्मोऽभ्युपगत. । तदिन्द्रिय यदि स्वयमेव तत्र प्रवर्तते किमनेन योगजधर्मानुग्रहणेनेति भाव । दि प्र. । (5) यौगो वदति (6) अन्यथा इंद्रिय योगजधर्मानुग्रहात् स्वविषयमतिक्रम्य प्रवर्तते कस्यचित् पु.स. एकस्य चक्षुरादीद्रियस्य रसादिषु पचसु विषयेषु प्रवृत्तिः स्यात् । तस्या सत्या योगजधर्मोपकारप्रसगो घटते । दि. प्र. ।

यािए दृष्टानि नाप्रतिनियतसकल[1]रूपादि[2]विषयाणि [1]तथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानि महत्त्वोपेतानि पृथिव्यादिद्रव्याणि तत्समवेतरूपादीनि चक्षुरादीन्द्रियगोचरतया प्रसिद्धानि, न पुनः परमाण्वादीनि । [3]समाधिविशेषोत्थधर्ममाहात्म्याद् दृष्टातिक्रमेण परमाण्वादिषु चक्षुरादीनि प्रवर्तन्ते न पुना रसादिष्वेकमिन्द्रियम्, [4]इति न किञ्चिद्विशेषव्यवस्थानिबन्धनमन्यत्र[2] जाड्यात् । [5]एतेन परम्परया परमाणुरूपादि[6]ष्विन्द्रियसम्बन्धः प्रतिध्वस्तः, संयोगाभावे संयुक्तसमवायादीनामसंभवात्[7] श्रोत्रे सकलशब्दसमवायासंभवे शब्दत्वेन समवेतसमवायासंभववत् ।

[मानसप्रत्यक्षेणापि सूक्ष्मादिपदार्थस्य ज्ञान न भवति]

[8]यदि पुनरेकमेवान्तःकरणं योगजधर्मानुगृहीतं युगपत्सकलसूक्ष्माद्यर्थविषयमिष्यते[9]

इसलिए ऐसा नहीं हो सकता है ।

मीमांसक— तो फिर परमाणु आदि में भी इन्द्रियों की प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष से ही विरोध तुल्य है क्योंकि जिस प्रकार से चक्षु आदि इन्द्रिया अपने-अपने प्रतिनियत रूपादि पदार्थों को विषय करते हुये देखी जाती है, किंतु अप्रतिनियत सकल परमाणु आदि पदार्थ तथा रूप रस आदि विषयों को ग्रहण नही कर सकती है । उसी प्रकार से उपलब्धि लक्षण प्राप्त जो चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं, तथा महत्व आदि गुणो से सहित ऐसे जो पृथ्वी आदि द्रव्य है एव उन द्रव्यों में समवेत रूप से रहने वाले जो रूपादि गुण है ये सभी पदार्थ चक्षु आदि इन्द्रियो के विषयभूत प्रसिद्ध हैं । फिर भी परमाणु आदि पदार्थ चक्षु आदि इन्द्रियो के गोचर नही हैं ऐसा प्रत्यक्ष से सिद्ध है ।

नैयायिक—समाधि विशेष से उत्पन्न होने वाले धर्म के माहात्म्य से प्रत्यक्ष का भी उल्लंघन करके चक्षु आदि इन्द्रिया परमाणु आदि विषयो में प्रवृत्ति करती है अर्थात् जान लेती हैं परन्तु एक ही इन्द्रिय रस गन्ध आदि सभी विषयों को ग्रहण नही कर सकती है ।

मीमांसक—चक्षु इन्द्रिय और परमाणु के सयोग सन्निकर्ष का अभाव होने पर भी आप नैयायिक का जो यह कथन है उस कथन में मूर्खता के अतिरिक्त विशेष व्यवस्था का कारण हमें कुछ भी नहीं दिखता है । इसी कथन से "परम्परा से परमाणु रूप आदि में इन्द्रियो का सम्बन्ध होता है" इत्यादि मान्यता का भी खंडन हो गया समझना चाहिये । क्योंकि सयोग के अभाव में सयुक्त समवाय, सयुक्त समवेत समवाय आदि भी संभव नहीं है । जिस प्रकार से श्रोत्र इन्द्रिय में सपूर्ण शब्दों का समवाय असंभव है तब शब्दत्व रूप से समवेत समवाय भी असंभव ही है ।

---

१ सकलपदेन परमाणुरूप गृह्यते । २ आदिपदेन रसादिग्रहः । ३ योगजधर्मानुग्रहोत्थधर्मातिशयात् प्रत्यक्षोल्लङ्घनेन । ४ चक्षुरिन्द्रियपरमाण्वोः संयोगसन्निकर्षाभावे । ५ सयोगलक्षणसाक्षात्सम्बन्धनिराकरणेन । ६ आदिशब्देन रसरसत्वादयो ग्राह्याः । ७ आदिपदेन संयुक्तसमवेतसमवायादिर्ग्राह्यः ८ भो नैयायिक । ९ तव नैयायिकस्य ।

---

(1) ज्ञेयस्वरूप । (2) दूरांतरितसूक्ष्मार्थेष्विंद्रियप्रवृत्तौ ।

तदापि दृष्टातिक्रम[१] एव, [1]मनसो युगपदनेकत्र विषये प्रवृत्त्यदर्शनात्[२]। तत्र [1]दृष्टातिक्रमेष्टौ[2] वा स्वयमात्मैव समाधिविशेषोत्थधर्मविशेषवशादन्तःकरणनिरपेक्षः साक्षात् सूक्ष्माद्यर्थान् पश्यतु किमिन्द्रियेणैवान्तःकरणेन ? तथा च नेन्द्रियज्ञानेन[3] कस्यचित्प्रत्यक्षाः सूक्ष्माद्यर्थाः संभाव्यन्ते । [4]अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण[४] कस्यचित्प्रत्यक्षाः [5]साध्यन्ते इति [५]चेदप्रसिद्धविशेषणः[६] पक्षः, [७]क्वचिदतीन्द्रियज्ञानप्रत्यक्षत्वस्याप्रसिद्धेः साङ्ख्यं प्रति [6]विनाशी शब्द इत्यादिवत्[८] । साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यादग्न्यादेरतीन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वाभावात् ।

[मानस प्रत्यक्ष से भी सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान नही होता है ।]

पुनः यदि आप नैयायिक एक अन्तःकरण (मन) को ही योगज धर्म से अनुगृहीत-स्वीकार करके उसके द्वारा युगपत् सपूर्ण पदार्थों का विषय करना मानोगे तो भी आपके यहा प्रत्यक्ष का उल्लंघन हो ही जावेगा, क्योंकि मन की एक साथ अनेक विषयों में प्रवृत्ति नही देखी जाती है "युगपत ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिग" ऐसा आपका ही वचन है ।

नैयायिक—इस विषय में प्रत्यक्ष से विरोध होता है तो हो जावे हमें कोई बाधा नही है क्योंकि समाधि विशेष से उत्पन्न धर्म का चमत्कार ही ऐसा है कि जिससे अनुगृहीत मन एक साथ ही संपूर्ण परमाणु आदि पदार्थों को विषय कर लेता है ।

जैन—यदि आप ऐसा मान लेते है तो भाई ! स्वय आत्मा ही समाधि विशेष (शुक्लध्यान) से उत्पन्न हुये धर्म विशेष (केवलज्ञान) के बल से अतःकरण से निरपेक्ष होता हुआ ही साक्षात् सपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को जान लेता है ऐसा भी मान लीजिये क्या बाधा है ? पुनः इन्द्रियों के द्वारा जानता है अथवा मन के द्वारा जानता है इत्यादि कल्पनाओ का क्या प्रयोजन है ? अतः किसी को भी इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सूक्ष्मादि पदार्थ प्रत्यक्ष नही हो सकते है । यह बात सिद्ध हो जाती है ।

मीमांसक—आप नैयायिक से हमने पहले यह प्रश्न किया था कि सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष है या अतीन्द्रियज्ञान - मानसप्रत्यक्षज्ञान से ? उसमें से यदि आप दूसरा विकल्प स्वीकार करें कि सूक्ष्मादि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष है तब तो आपका पक्ष अप्रसिद्ध

१ प्रत्यक्षोल्लङ्घनमेव । २ युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति वचनात् । ३ प्रत्यक्षविरोधाङ्गीकारे । ४ सूक्ष्माद्यर्थाः । ५ मीमासकः । ६ सूक्ष्माद्यर्था अतीन्द्रियप्रत्यक्षेणेति अप्रसिद्ध विशेषण यस्य सः । अतीन्द्रियप्रत्यक्षेतीद विशेषणमप्रसिद्धमित्यर्थः । ७ दृष्टान्ते । ८ साङ्ख्यमते आविर्भावतिरोभावौ स्तो न तु किञ्चिद्विनाशि ।

(1) युगपत्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लक्षण । (2) ता । प्रत्यक्षातिक्रमाभिमनने दृष्टातिक्रमेष्टातिक्रमेष्टौ इति पा. दि. प्र. । (3) इन्द्रियातःकरणात् । (4) द्वितीयविकल्प. । (5) यौगो वदति हे स्याद्वादिन् । ते सूक्ष्माद्यर्था अतीन्द्रियज्ञानेन कस्यचित् पुंसः प्रत्यक्षा मया साध्यत इति कि तवाभिप्राय. । दि. प्र. । (6) आविर्भावतिरोभावमात्रं न तु नाशित्वं तन्मते शब्दत्वे ।

[इंद्रियानिंद्रयानपेक्षप्रत्यक्षेण सूक्ष्मादिपदार्था. ज्ञायते इति स्याद्वादिभि: कथ्यते]

इति[१] केचित्तेपि न सम्यग्वादिन:, सूक्ष्माद्यर्थानामिन्द्रियजप्रत्यक्षेण [1]कस्यचित्प्रत्यक्षत्वासाधनात्तत्पक्षनिक्षिप्तदोषानवतारात्[२] । [2]तथा [३]साधयता स्याद्वादिभिरपि तद्दोषसमर्थनात्[3] । [४]नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षत्व [4]साध्यते येनाप्रसिद्धविशेषण: पक्ष: साध्यशून्यश्च दृष्टान्त: स्यात्, [५]प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वसाधनात् । प्रसिद्धे च सूक्ष्माद्यर्थानां सामान्यत कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे सर्वज्ञत्वस्य सम्यक्स्थित्युपपत्तेस्तत्प्रत्यक्षस्येन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्व सिध्यत्येव । तथा हि । [६]योगिप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं,

विशेषण वाला हो जाता है क्योंकि दृष्टान्त में "अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्षत्व" असिद्ध ही है । जिस प्रकार से साख्य को "अनित्य शब्द" असिद्ध है क्योंकि साख्य के मत में प्रत्येक पदार्थ का आविर्भाव और तिरोभाव ही माना है । उनके यहा किसी भी पदार्थ को अनित्य नही माना है ।

एव दृष्टान्त भी साध्य शून्य ही है क्योकि अग्नि आदि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय नही है । यहा अतीन्द्रिय शब्द से मानस अर्थ लेना चाहिए ।

[इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा से रहित सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही अतीद्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है इस प्रकार जैनाचार्य कहते है ।]

जैन – इस प्रकार का कथन करने वाले आप मीमासक भी सम्यग्वादी नही है । सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियज प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष है ऐसा हम मानते ही नही है । इसलिए उस पक्ष में दिये गये दोष हम जैनो के यहां संभव ही नहीं हैं । उस प्रकार के पक्ष को मानने वाले नैयायिकों के लिए हम स्याद्वादियों ने भी उन दोषो का समर्थन ही किया है और हम लोग अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) के द्वारा भी किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षपना सिद्ध नही करते है कि जिससे हमारा पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला होवे एव दृष्टात साध्य से शून्य होवे । अर्थात हमारे यहा ये दोप नही आते है ।

मीमांसक— तब आप जैन सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना कैसे सिद्ध करते है ?

जैन - प्रत्यक्ष सामान्य के द्वारा हम जैन किसी के सूक्ष्मादि पदार्थो का प्रत्यक्ष होना सिद्ध करते हैं ।

सूक्ष्मादि पदार्थ सामान्य से किसी के प्रत्यक्ष है इस बात के सिद्ध हो जाने पर सर्वज्ञत्व की सम्यक् प्रकार से व्यवस्था बन जाती है और सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो जाने से प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मन

१ स्याद्वादिन: प्राहु: 'इति केचिन्मीमासकास्तेपि न सम्यग्वादिन', इति । २ जैनानाम् । ३ नैयायिकानाम् । ४ सिद्धान्ती । ५ तर्हि सूक्ष्माद्यर्थाना कथ प्रत्यक्षत्व स्थाप्यते जैनैर्भवद्भिरिति मीमासकाशङ्कायामाह प्रत्यक्षसामान्येनेत्यादि । (६) योगी — सर्वज्ञ ।

(1) इन्द्रियप्रत्यक्ष । (2) सूक्ष्माघर्था इंद्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित् प्रत्यक्षा भवंति । इति (3) साधयता योगादीनां स्याद्वादिभिस्तस्य पक्षस्य दोष: समर्थ्यंते । दि. प्र. । (4) योगिन इंद्रियं योगजधर्मबलात् सूक्ष्माद्यर्थं गृण्हाति । (5) अस्माभि: स्याद्वादिभि: ।

सूक्ष्माद्यर्थविषयत्वात् । [1]यन्नैन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं तन्न सूक्ष्माद्यर्थविषयं दृष्टं, यथास्मदादिप्रत्यक्षम् । सूक्ष्माद्यर्थविषयं च योगिनः प्रत्यक्षं सिद्धं, तस्मादिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम् । नावधिमनःपर्ययप्रत्यक्षाभ्यां हेतुर्व्यभिचारी, तयोरपीन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वसिद्धेः ।

की अपेक्षा रहित है यह बात भी सिद्ध हो हो जाती है । तथाहि—

"सर्वज्ञ भगवान का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित है क्योंकि वह सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला है जो इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित नहीं है । वह सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला भी नहीं है जैसे कि हम लोगों का प्रत्यक्षज्ञान, और सूक्ष्मादि पदार्थो को विषय करने वाला भगवान सर्वज्ञ का प्रत्यक्षज्ञान सिद्ध ही है । इसीलिये वह इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित है ।

इस प्रकार अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान के द्वारा भी हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं हैं क्योंकि ये दोनों ज्ञान भी इंद्रिय और मन की अपेक्षा मे रहित हैं यह बात सिद्ध है ।

भावार्थ—मीमांसक ने जैसे तैसे करके इस बात को तो स्वीकार कर लिया कि सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य है । अब वह इस बात को समझना चाहता है कि ये सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष है या अतीद्रिय ज्ञान से ? क्योंकि इन्द्रिय और मन को छोड़कर ज्ञान को उत्पन्न करने के लिये और कोई साधन ही नहीं है ।

पुनः वह स्वय ही कहता जा रहा है कि इद्रिय ज्ञान से सूक्ष्मादि पदार्थो को प्रत्यक्ष करना अशक्य है क्योंकि इद्रिया वर्तमान-कालीन अपने ग्रहण करने योग्य कतिपय पदार्थों को ही विषय करती हैं । इसी बीच में मीमासक का पड़ौसी नैयायिक आ जाता है और वह कहने लगता है कि भाई ! योग विशेष से उत्पन्न हुये अनुग्रह से योगियों की इन्द्रियां परमाणु आदि को जान लेती हैं ।

इस पर मीमांसक ने कहा कि भाई ! योग विशेष का अनुग्रह क्या चीज है ? जब इद्रिया अपने विषय में प्रवृत्ति करती हों तब उसमें कुछ विशेषता का हो जाना अनुग्रह है या परमाणु आदि को जानने में इन्द्रियों के लिए सहकारी होना अनुग्रह है ? इन दोनों ही विकल्पों में मीमांसक ने दोष दिखा दिये हैं क्योंकि इन्द्रियों में योगज धर्म या मत्र, तंत्र, अंजन गुटिका आदि अथवा आधुनिक यंत्र, दुर्बीन, खुर्दबीन आदि कैसे भी साधन मिल जावे । चक्षु इन्द्रिय देखने का ही काम करेगी, खुर्दबीन जैसे यंत्र से भी सुनने का काम नही कर सकेगी । कर्णेन्द्रिय रेडियो, टेलीफोन आदि यन्त्रों के द्वारा लाखों मीलों की बात को सुन ही सकती है, देख नहीं सकती है । सभी इन्द्रिया अपने-अपने विषयों को ग्रहण कर सकती हैं अन्य इन्द्रियों के विषयों को नहीं ।

१ व्यतिरेकव्याप्तिः ।

नैयायिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते है उनका कहना है कि पहले चक्षु इद्रिय का घट से सबध हुआ उसका नाम है, "सयोग" पुनः उसके रूप से सबध हुआ है उसका नाम है "सयुक्त समवाय," इसके बाद इद्रिय मे जो उसके रूपत्व को जाना उसका नाम "सयुक्तसमवेतसमवाय" है।

मीमांसक कहता है कि जब इंद्रियों का परमाणु आदि पदार्थों के साथ सम्बन्ध ही नही होता है तब संयोग, सयुक्त समवाय आदि सन्निकर्ष भी कैसे बनेगे ? पुनरपि मीमासक उस नैयायिक को समझा रहा है कि भाई ! यदि आप कहे कि मन पर योगज धर्म का अनुग्रह होता है और मन ही संपूर्ण अतीद्रिय पदार्थो को जान लेता है तो यह बात भी घटित नही है क्योंकि मन एक साथ पचेंद्रियों के विषयों को भी नही समझ सकता है तब सूक्ष्मादि पदार्थो को जानने की बात बहुत ही दूर है। हां ! जैनों ने अवश्य मानस मतिज्ञान के द्वारा मूर्तिक अमूर्तिक छहों द्रव्यों का ज्ञान और उनकी कतिपय पर्यायों का ज्ञान माना है, किन्तु फिर भी मन से सपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थो का ज्ञान नही माना है।

यदि मूल का दूसरा विकल्प लिया जाय कि अतीद्रिय प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ सपूर्ण पदार्थों को जानते हैं तो यह बात भी नही बन सकती क्योकि अतीद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान असिद्ध ही है। पहले उसे ही सिद्ध करने में आपको बहुत शक्ति लगानी पडेगी। इस प्रकार से मीमांसक से आमना-सामना करके अपनी शका का समाधान करने का प्रयत्न करते हुये अपनी ही बात को पुष्ट कर दिया है।

अब जैनाचार्य उत्तर देते हुये कहते है कि भाई ! यदि हम इन्द्रिय प्रत्यक्ष से किसी के सूक्ष्मादि पदार्थो का प्रत्यक्ष ज्ञान होना माने तो ये सब दोष हमारे ऊपर आ जावेगे किन्तु हम तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सपूर्ण पदार्थो का प्रत्यक्षीकरण नही मानते है और न आपके द्वारा कल्पित अतीद्रिय प्रत्यक्ष से ही सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार मानते है। इसलिये आप मीमांसक हमारे ऊपर दोषारोपण नही कर सकते हैं प्रत्युत हम जैन सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही सपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थो को प्रत्यक्ष जानना मानते हैं।

वह सामान्य प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन आदि की अपेक्षा से रहित है अतः परमार्थ प्रत्यक्ष है। आत्मा में केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न हुआ आत्मा का ही निजी स्वभाव है। उसे ही अतीद्रिय प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

"सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीद्रियमशेषतो मुख्य" इस सूत्र के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री विशेष से अखिल आवरण के नष्ट हो जाने पर वह ज्ञान उत्पन्न होता है अतः वह ज्ञान अतीद्रिय है और मुख्य प्रत्यक्ष है, शेष, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान, क्षायोपशमिक ज्ञान हैं ये मुख्य प्रत्यक्ष नहीं हैं। आदि का मतिज्ञान न्याय की भाषा में, साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और सैद्धांतिक ग्रथों के आधार से इद्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने से परोक्ष कहलाता है। अवधिज्ञान और मनः-पर्ययज्ञान एक देश प्रत्यक्ष हैं और ये क्षायोपशमिक होते हुए भी अतीद्रिय है। ये दोनों ज्ञान भी इद्रिय और मन की सहायता से रहित हैं इसलिये ये दोनों ज्ञान सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाले हैं, परमाणु तक सूक्ष्म वस्तु को जानने की सामर्थ्य रखते हैं, कई भवों की और

[सूक्ष्मादिपदार्थान् कः प्रत्यक्षेण जानाति, अर्हद् भगवान्, बुद्धादयो उभयव्यतिरिक्तः कश्चिद् वा ? इत्यादिप्रश्नाना विचारः]

[1]ननु च कस्येदं सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वं [1]साध्यते ? अर्हतोनर्हतः[2] सामान्यात्मनो वा ? **यदि विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्वमर्हतः साध्यते[3] पक्षदोषोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् । तत एव [2]व्याप्तिर्न[4] सिध्येत । [3]अनर्हतश्चेदनिष्टानुषंगोपि[5] । कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वम्[6] ? इत्येत[7]द्विकल्पजालं [8]शब्दनित्यत्वेपि[4] समानं, न केवलं सूक्ष्मादि-साक्षात्करणस्य [5]प्रतिषेधने संशीतौ वा । [9]तदयमनुमानमुद्रा[6] [10]भिनत्ति*** । न कश्चित्सूक्ष्मा-

असंख्यात द्वीप समुद्रों तक की भी बातें स्पष्ट जान लेते है। ये भी स्वात्मा से ही उत्पन्न होने से पूर्ण विशद है, केवलज्ञान से अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान में अतर केवल इतना ही है कि ये द्रव्य, क्षेत्र, आदि की मर्यादा को लिये हुए सीमित हैं एवं केवलज्ञान सपूर्ण लोकालोक को जानने वाला होने से असीमित-अनंत है। स्पष्टता की अपेक्षा इन तीनो में कोई अतर नही है। अत मे निष्कर्ष यह है कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतीद्रिय प्रत्यक्ष है यह बात यहा सिद्ध की गई है।

[सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जानने वाले कौन है ? अर्हंत, बुद्धआदि या इनसे भिन्न अन्य कोई जन ?]

मीमांसक—यह सूक्ष्मादि पदार्थो का प्रत्यक्षपना आप किसके सिद्ध करते है अर्हंत (केवली जिन) के या अनर्हत (बुद्धादिक) के अथवा सामान्य आत्मा के ?

यदि विप्रकृष्ट अर्थों—दूरवर्ती पदार्थों का प्रत्यक्षपना अर्हंत में सिद्ध करते हो तब तो पक्ष में अप्रसिद्ध विशेषणत्व दोष आता है इसी से व्याप्ति की सिद्धि भी नहीं होगी। अर्थात् जहां-जहां अनुमेयत्व हेतु है वहां-वहां किसी अर्हंत के प्रत्यक्षपना है यह व्याप्ति नहीं बन सकेगी और यदि आप ऐसा कहें कि अनर्हत (बुद्धआदिक) के परोक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षत्व सिद्ध करते हैं तब तो आपके यहां अनिष्ट का प्रसंग भी आता है क्योंकि आप जैनों के यहां अर्हंत के अतिरिक्त किसी बुद्ध, कपिल आदि में सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षत्व सिद्ध करना इष्ट नहीं है। पुनः अर्हंत और अनर्हंत के अतिरिक्त सामान्यात्मा और कौन है कि जिसके आप सूक्ष्मादि परोक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षत्व सिद्ध कर सकें ?

जैन—इस प्रकार के ये विकल्प जाल आपके यहां शब्द को नित्य मानने रूप अनुमान में भी

१ मीमांसकः । २ बुद्धादेः । ३ तर्हीत्यध्याहार्यम् । ४ यत्र यत्रानुमेयत्व तत्र तत्र कस्यचिदर्हंत प्रत्यक्षत्वमिति व्याप्तिर्नास्त्यतः पक्षदोषः । ५ अपिशब्दात्पक्षदोषोपि । ६ सूक्ष्माद्यर्थानाम् । ७ जैन आह । ८ मीमांसकस्येष्टे । ९ तत्तस्मादय मीमांसकः । १० मीमांसकः सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्करणप्रतिषेधसशययोः क्रमेणानुमाने द्वे रचयति (वक्ष्यमाणप्रकारेण) ।

(1) सूक्ष्मातरितदूरार्थाः कस्यचिदर्हंतः प्रत्यक्षाः । (2) सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः अर्हंतः प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् । यत्प्रमेय तदर्हंतः प्रत्यक्षमिति व्याप्तेरभावात् । (3) बुद्धादेः । (4) समुच्चये । (5) सर्वज्ञस्य निषेधे सशये वा । (6) तस्मात् ।

दिसाक्षात्कारी, पुरुषत्वादे.[1], रथ्यापुरुषवत् । विवादापन्नः पुरुषः सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वेन संशयित एव [1]विप्रकृष्टस्वभावत्वात्[2] पिशाचादिवत् । इति सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशीतौ वा [3]तावदिदं विकल्पजालं समानं सिद्धमेव । [4]स हि तत्र प्रतिषेधं संशयं वा साधयन् किमर्हतः साधयेदनर्हतः सामान्यात्मनो वा ? अर्हतश्चेदप्रसिद्धविशेषणःपक्षो[2] व्याप्तिश्च न सिध्येद्, [3]दृष्टान्तस्य[5] साध्यशून्यतानुषङ्गात् । अनर्हतश्चेत्स एव दोषो बुद्धादेः परस्या[6]-सिद्धेरनिष्टानुषङ्गश्च[4], अर्हतस्तत्प्रत्यक्ष[5]त्वविधाननिश्चयात् । कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थ[7]प्रत्यक्षत्वप्रतिषेधसंशयौ साध्येते ? इति ।

समान हैं न कि केवल सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात् करने वाले सर्वज्ञ का प्रतिषेध करने में अथवा उनमें सशय करने में । इसलिए आप मीमांसक अनुमान मुद्रा का सेवन कर देते हैं ।*

कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थो का साक्षात्कारी नहीं है क्योकि पुरुष है उन्मत्त पुरुष के समान । "विवाद में आया हुआ पुरुष सूक्ष्मादि पदार्थो को साक्षात् करने में सदिग्ध ही है क्योंकि परोक्ष स्वभाव वाला है जैसे कि पिशाचादि ।" इस प्रकार सूक्ष्मादि को साक्षात् करने वाले सर्वज्ञ का निषेध करने में अथवा सदेह करने में आप मीमांसक के यहा ये विकल्प जाल समान ही सिद्ध होंगे । तथाहि—

आप मीमासक-सर्वज्ञ का निषेध करते हुए अथवा सर्वज्ञ में सशय करते हुए इन दोनों बातो को अर्हत में सिद्ध करते है या अनर्हत में अथवा सामान्यात्मा में ? यदि आप पहला विकल्प माने कि हम अर्हत में सर्वज्ञत्व का प्रतिषेध करते है तब तो आपका पक्ष असिद्ध विशेषण वाला है एवं उसकी व्याप्ति भी सिद्ध नही होती तथा दृष्टाँत भी साध्यविकल है । यदि अर्हत से रहित बुद्ध आदि में सर्वज्ञत्व का निषेध करते है तब तो आप मीमांसकों के यहा कपिल बुद्ध आदि की असिद्धि ही नही मानी गई है अत. अनिष्ट का प्रसग आ जाता है ।

एव अर्हत में तो सूक्ष्मादि के प्रत्यक्ष का विधान ही निश्चित किया है और पुनः इन दोनों को छोड़कर सामान्यात्मा है कौन कि जिसके विवक्षित सूक्ष्मादि पदार्थों के प्रत्यक्षत्व का आप निषेध सिद्ध करे या सदेह सिद्ध करे ?

[मीमासक जिन प्रश्नोत्तरो के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करना चाहते है जैनाचार्य उन्ही प्रश्नोत्तरो से उसी के द्वारा मान्य नित्य शब्द का खडन कर देते है ।]

१ विवादापन्नस्य सर्वज्ञस्य । २ पूर्वोक्तप्रकारेण । ३ तव मीमांसकस्य । ४ मीमासकः । ५ रथ्यापुरुषस्य । ६ मीमांसकस्य । ७ सूक्ष्माद्यर्थानाम् ।

(1) पुरुषत्वात् रथ्या इति पा. । दि. प्र. । (2) अर्हन् प्रसिद्धो न वर्तते । (3) सव्याप्तिक दृष्टातवचनमुदाहरणमीदृग् विधलक्षणाभावात् विशेषरूपेऽर्हत्यभावे सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वस्य रथ्यापुरुषे सद्भावो भविष्यति । (4) मीमासकस्य । (5) परिशेषन्यायेन ।

[मीमांसको यथा प्रश्नोत्तरमालिकया सर्वज्ञाभावं करोति जैनाचार्या अपि तैः प्रश्नैरेव तस्याभीष्टशब्दान् दूषयति]

[१]तद्वच्छब्दनित्यत्वसाधनेपि समानमेतद्विकल्पजालम् । तथा हि । [२]अयं शब्दानां नित्यत्वं साधयन् सर्वगतानां साधयेदसर्वगतानां वा सामान्यात्मनां वा ? **वर्णानां नित्यत्वमकृतकत्वादिना[1] सर्वगतानां यदि साधयति [३]स्यादप्रसिद्धविशेषणः[2] [४]पक्षः [५]इतरथानिष्टानुषंगः । [3]कीदृक् पुनः सामान्यं नाम [६]यदुभयदोषप्रसंगपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतत्वसाधनेपि [७]समानम्** * । [८]तद्धि वर्णानाममूर्तानां साधयेन्मूर्तानां तदुभयसामान्यात्मनां वा ? **यद्यमूर्तानां** [९]सर्वगतत्वं साधयेत्तदाऽप्रसिद्धविशेषणता[4] पक्षस्य । अथ मूर्तानामनिष्टानुषङ्गः[१०] । कीदृक् पुनः सामान्य नाम [११]यदुभयदोषप्रसङ्गपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतेतरसामान्यात्मन इव मूर्त्तेतर-

इसी प्रकार से आपके मतानुसार शब्द को नित्य सिद्ध करने में भी ये सभी विकल्प समान ही हैं। तथाहि—आप शब्दों को नित्य सिद्ध करते हुये सर्वगत शब्दो को नित्य सिद्ध करते हो या असर्वगत शब्दों को अथवा सामान्य शब्दों को ?

अकृतकत्व आदि हेतु के द्वारा वर्णों को नित्य सिद्ध करते हुये यदि सर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हो तब तो पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला हो जावेगा और यदि असर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हो तब तो अनिष्ट का प्रसंग आ जावेगा। पुनः इन दोनों से रहित सामान्य किस प्रकार का है कि जिसको इन दोनों में दिये गये दोषों का परिहार करने के लिये आप कल्पित कर सकें अर्थात् नहीं कर सकते हैं एवं सर्वगतत्व को सिद्ध करने में भी ये ही दोष समान रूप से आ जाते हैं।* उस सर्वगतत्व को अमूर्तिक वर्णो मे सिद्ध करते हो या मूर्तिक में अथवा सामान्यात्मक में ?

यदि आप कहे "अमूर्तिक शब्द सर्वगत है क्योकि वे अकृतक है तब तो पक्ष अप्रसिद्धविशेषण वाला है। यदि मूर्तिक शब्दो को सर्वगत सिद्ध करे तब तो आपके लिये अनिष्ट है। आप मीमांसक शब्दों को अमूर्त ही मानते हो। पुनः सामान्य किस प्रकार का है कि जिसको दोनो ही दोषां के प्रसंग को दूर करने के लिये आप कल्पित कर सकते है ? सर्वगतेतर सामान्यात्मा के समान मूर्त्तेतर सामान्यात्मा भी

१ मीमांसकाभीष्टे शब्दनित्यत्वे एतद्विकल्पजालं समानं सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशये चापीति । अयं मीमांसको वक्ष्यमाणरीत्यानुमानद्वयं करोति यत्तन्न सम्यगित्यर्थं । २ मीमांसकः । ३ अप्रसिद्ध सर्वगतत्वविशेषणं यस्य सः । ४ शब्दः । ५ असर्वगतानां नित्यत्वं साधयति चेत् । ६ अनिष्टानुषङ्गस्वरूपोऽप्रसिद्धविशेषणत्वरूपश्चेत्युभयदोषौ । ७ एकान्तवाद्यभिमतसर्वथासर्वगतत्वस्य स्याद्वादिना क्वचिदप्यप्रसिद्धेः । ८ सर्वगतत्वम् । ९ अमूर्तः शब्दः सर्वगतः, अकृतकत्वादिति । १० मीमांसकमते शब्दानाममूर्तत्वात् । ११ पक्षदोषोनिष्टानुषङ्गश्चेति ।

(1) अकृतकत्वात् अनुत्पत्तिमत्वादित्यादि हेतुना । (2) नित्यसर्वगतशब्दस्य क्वचिदप्रसिद्धेः अथवा एकांतवाद्यभिमतसर्वथा सर्वगतत्वस्य स्याद्वादिना क्वचिदप्यप्रसिद्धेः । दि. प्र. (3) सामान्यात्मना वा । (4) अमूर्तशब्दाः सर्वगताः सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् अथवा एकांतवाद्यभिमतसर्वथामूर्तत्वस्य स्याद्वादिना क्वचिदप्यप्रसिद्धेः । दि. प्र. ।

सामान्यात्मनोऽसम्भवाद्वर्णेषु[1]। [1]तदयमनुमानमुद्रां [2]सर्वत्र भिनत्तीति नानुमानविचारणायामधिकृतः[2] स्यात्। **[3]अविवक्षितविशेषस्य[3] पक्षीकरणे समः [4]समाधिरित्यलमप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघैः[4]** *। यथैव हि शब्दस्याविवक्षितसर्वगतत्वासर्वगतत्वविशेषस्याकृतकत्वादिहेतुना नित्यत्वे साध्ये न कश्चिद्दोषः स्यात्, नाप्यविवक्षितामूर्त्तत्वेतरविशेषस्य [5]सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वादिना[7] सर्वगतत्वे, तथैवाविवक्षितार्हदनर्हद्विशेषस्य कस्यचित्पुरुषस्य विप्रकृष्टार्थसाक्षात्करणेपि साध्येनुमेयत्वादिहेतुना न [5]कञ्चिद्दोषं [8]पश्यामोन्यत्राप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघेभ्यः [9]प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धिभ्य, [10]तेषामप्रतिष्ठितत्वात्[6], [11]साधनाभासे इव सम्यक्साधनेपि [12]स्वाविषयेवतारात्। ततो निरवद्यमिदं साधनं कस्यचित्सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वं साधयति।

वर्णों मे असभव ही है। इसलिये आप मीमासक के यहाँ अपने पक्ष में भी समान ही दोषों का प्रसंग आने से आप मीमासक अनुमान मुद्रा का भेदन कर देते है। अत अनुमान के विचार करने में आपको अधिकार ही नही है। तथा यदि आप कहे कि—

अविवक्षित है विशेषता जिसकी अर्थात् सर्वगतत्व, असर्वगतत्व आदि विशेषताओं से रहित सामान्य मात्र को ही हम पक्ष बनाते है तो समान ही समाधान है। इसलिये अप्रतिष्ठित मिथ्या विकल्पों के समूह से बस होवे। * क्योकि जिस प्रकार से सर्वगतत्व, असर्वगतत्व की विशेषता जिसमें विवक्षित नही है ऐसे शब्दो को अकृतत्व आदि हेतु के द्वारा नित्य सिद्ध करने में कोई दोष नहीं है। एव मूर्त, अमूर्त का भेद विवक्षित नही है जिनमें ऐसे शब्दो को सर्वत्र उपलब्धि को प्राप्त गुणत्व आदि के द्वारा सर्वगत रूप सिद्ध करने में कोई दोष नही है। अर्थात् "नित्य शब्द सर्वगत होता है क्योंकि द्रव्य रूप होने से अमूर्तिक है जैसे आकाश" इत्यादि।

उसी प्रकार से जिसमे अर्हत एव अनर्हत की विशेषता विवक्षित नही है, ऐसा कोई पुरुष अनुमेयत्व आदि हेतु के द्वारा विप्रकृष्ट पदार्थों का साक्षात्करण करने वाला है इस विषय में केवल प्रकृत साधन (अनुमेयत्व) के अविरोधी अप्रतिष्ठित मिथ्या विकल्पों के समूह के अतिरिक्त हमें कोई दोष नहीं दिखता है क्योकि ये विकल्प (भेद) अप्रतिष्ठित है। साधनाभास में अपने अविषय के समान सम्यक् साधन में भी अपने विषय का अवतार नही होता है। अतः हमारा यह अनुमेयत्व हेतु निर्दोष है और किसी व्यक्ति विशेष को सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कारी होना सिद्ध करता है।

१ यतो मीमांसकस्य स्वपक्षेपि समानं तत्तस्मादयं मीमासक.। २ स्वपक्षेपि परपक्षवत्। ३ अविवक्षितः सर्वगतत्वासर्वगतत्वादिविशेषो यस्य स तस्य। ४ हे मीमासक। ५ अर्हतोऽनर्हतो वेत्यादिरूपं ६ सर्वत्रोपलभ्यमानमाकाशम्। ७ नित्यः शब्दः सर्वगतो भवति, द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादाकाशवदित्यादिना च। ८ विना। ९ प्रकृतं साधनमनुमेयत्वम्। १० विकल्पौघानाम्। ११ अप्रतिष्ठितत्वे हेतुरयम्। १२ मिथ्याविकल्पौघाविषये।

(1) सामान्यात्मनोरसभवादिति वा पा०। दि. प्र.। (2) योग्यः। (3) शब्दस्य। (4) अव्यवस्थित। (5) न केनापि कंचिद्दोषं इति पा. दि. प्र.। (6) अप्रतिष्ठितत्वं कुतः?

भावार्थ—मीमांसक ने जैसे-तैसे यहां तक तो मंजूर कर लिया कि सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं और वह प्रत्यक्ष अतींद्रिय प्रत्यक्ष है। इस बात को स्वीकार कर लेने के बाद भी उसे चैन नहीं पड़ी और वह प्रश्न करने में पुनः आगे बढ़कर कहता है कि अच्छा आप जैन ! यह तो बताओ कि यह अतींद्रिय प्रत्यक्ष आप अर्हंत के मानते हैं या बुद्ध कपिल आदि के या इन दोनों से रहित किसी सामान्य आत्मा के ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो बनता नहीं क्योंकि कोई भी आत्मा अर्हंत रूप से सिद्ध ही नहीं है और अप्रसिद्ध को पक्ष बनाया ही नहीं जा सकेगा। द्वितीय पक्ष में बुद्ध, कपिल आदि को अतींद्रियदर्शी मानना आपको इष्ट नहीं है।

तृतीय पक्ष में इन दोनों को छोड़कर और आत्मा है कौन जिसे आप सर्वज्ञ सिद्ध कर सके ? अतः आप अपने अर्हंत को ही सर्वज्ञ सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते है कि ये तीन प्रकार के दूषण तो सर्वत्र ही दिये जा सकते हैं। आप मीमांसकों ने शब्द को नित्य सिद्ध किया है। हम प्रश्न कर सकते है कि आप सर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते है या असर्वगत शब्दों को या इन दोनों से रहित सामान्य शब्दों को ? एवं शब्दों को सर्वगत सिद्ध करते हुए आप अमूर्तिक शब्दों को सर्वगत सिद्ध करते हैं या मूर्तिक शब्दों को या इन दोनों से रहित किन्हीं शब्दों को ?

इसी प्रकार से आपकी सभी मान्यताओं में हम इन्हीं विकल्पों को उठाकर दूषण देते जावेंगे। तब मीमासक घबड़ाकर बोल पड़ा कि भाई ! हम विशेष की विवक्षा न करके सामान्य मात्र शब्दों को ही नित्य, सर्वगत और अमूर्तिक सिद्ध करते है अतः हमारे यहां ये कोई दोष नहीं आते है।

जैनाचार्य ने कहा कि भाई ! फिर मुझ पर ही आपको इतना क्या द्वेष है कि जिससे आप इस प्रकार से कुप्रश्नों की भरमार करते ही जा रहे है। हम भी तो विशेष रूप से अर्हंत अनर्हंत की विवक्षा न करके सामान्य मात्र से ही किसी भी पुरुष को सर्वज्ञ सिद्ध कर रहे है। हमें किसी से भी द्वेष नहीं है जो कर्म पर्वत को भेदन करने वाला दोष–आवरण से रहित निर्दोष महापुरुष है वह कोई भी क्यों न हो बस ! हम उसे ही सर्वज्ञ मान लेते है। इसलिये 'अनुमेयत्व' हेतु के द्वारा किसी न किसी आत्मा के संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थोंका साक्षात्कार होना सिद्ध ही हो जाता है। अब अधिक कथन से तो केवल पिष्टपेषण ही होगा ऐसा समझना चाहिये।

उत्थानिका—इस प्रकार किसी के कर्मभूभृत् भेदित्व के समान विश्व-तत्त्वों का साक्षात्कारित्व भी हो जावे क्योंकि सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमें ऐसे प्रमाण का सद्भाव पाया जाता

नन्वस्तु नामैवं कस्यचित्कर्मभूभृद्भेदित्वमिव विश्वतत्त्वसाक्षात्कारित्वं, [१]प्रमाणसद्भावात् । स तु परमात्मार्हन्नेवेति कथं निश्चयो यतोहमेव महानभिवन्द्यो भवतामिति [२]व्यवसिता[३]भ्यनुज्ञानपुरस्सरं[1] भगवतो [2]विशेषसर्वज्ञत्वपर्यनुयोगे[४] सतीवाचार्याः प्राहुः ।—

स त्वमेवासि [3]निर्दोषो [५]युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्[4] ।
अविरोधो [६][5]यदिष्टं ते[6] प्रसिद्धेन न बाध्यते ।६।।

दोषास्तावदज्ञानरागद्वेषादय उक्ताः । निष्क्रान्तो दोषेभ्यो[7] निर्दोषः । [७]प्रमाणबलात्सिद्धः सर्वज्ञो वीतरागश्च सामान्यतो यः स त्वमेवार्हन्, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् । यो [८]यत्र[8] युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषो दृष्टो, यथा क्वचिद्व्याध्युपशमे

है । पुनरपि वह परमात्मा अर्हंत ही है यह निश्चय कैसे हो सकता है कि जिससे मैं ही आपके लिये महान् नमस्कार करने योग्य होऊ । इस प्रकार निश्चित स्वीकृति पूर्वक भगवान् के विशेष सर्वज्ञत्व के प्रश्न करने पर ही मानो आचार्य समंतभद्र स्वामी कहते है—

कारिकार्थ—हे भगवन् ! दोष और आवरण से रहित निर्दोष सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले एव युक्ति-शास्त्र (तर्क व आगम) से अविरोधी वचन को बोलने वाले वह अर्हंत परमात्मा आप ही है क्योंकि आपका इष्ट (मत) विरोध रहित है उसमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी प्रमाण से बाधा नही आती है ।।६।।

अज्ञान, राग, द्वेष आदि तो दोष कहे गये है और जो दोषों से रहित है वे निर्दोष हैं । पूर्वोक्त चौथी एव पांचवीं कारिका में कहे गये अनुमान प्रमाण के बल से सामान्यतया जो सर्वज्ञ और वीतराग सिद्ध हुये हैं । हे भगवन् ! वे आप ही है क्योंकि आपके वचन, युक्ति (तर्क) और शास्त्र (आगम) से अविरोधी हैं, जो जहां पर युक्ति-शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं वे वहा पर निर्दोष देखे गये हैं जैसे किसी व्याधि को दूर करने में उत्तम वैद्य । मुक्ति और संसार तथा इन दोनों कारणों में भगवान् युक्ति-शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं इसीलिये वे निर्दोष हैं ।" इस प्रकार से हमारा निश्चय है । मेरे वचन

---

१ प्रमाणं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वलक्षणम् । २ व्यवस्यितेति पाठान्तरम् । ३ व्यवसित निश्चितमभ्यनुज्ञानमभ्युपगमस्तत्पुरस्सरमिति क्रियाविशेषणम् । ४ प्रश्ने । ५ युक्तिस्तर्कः । शास्त्रमागमः । हेतुगर्भितं विशेषणमिदम् । ६ यद्यस्मात्ते इष्ट प्रसिद्धेन न बाध्यते तत एवाविरोध इत्यर्थः । ७ अनन्तरोक्तकारिकाद्वयोक्तानुमानद्वयबलात् । ८ तत्वे ।

---

(1) निश्चित । ता । अभ्युपगम । (2) अर्हन्नेव सर्वज्ञ इति विशेषस्य । (3) दोषेभ्योऽज्ञानरागद्वेषादिभ्यो निष्क्रांतः । दि. प्र. । (4) यतः । (5) यस्मात् । (6) तत्त्वं । (7) भगवान् पक्षो निर्दोषो भवतीति साध्यो धर्मो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् । इत्याद्यनुमानमेकं । भगवान् पक्षः युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् भवतीति साध्यो धर्मः भगवतोभिमततत्त्वस्य प्रमाणेनाबाध्यमानत्वात् इति द्वितीयं । दि.प्र. । (8) यः सामान्यतः सिद्धः स त्वमेव मोक्षसंसारतत्कारणेषु निर्दोषो भवितुमर्हति तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् इति प्रतिज्ञाहेतुप्रयोगो द्रष्टव्यः । दि. प्र. ।

भिषग्वरः[1] । युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् च भगवान् मुक्तिसंसारतत्कारणेषु[2], तस्मान्निर्दोष इति निश्चयः । युक्तिशास्त्राभ्यामविरोधः कुतो [3]मद्वाचः [4]सिद्धोऽनवयवेनेति चेद्यस्मादिष्टं मोक्षादिकं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते । तथा हि । यत्र [5]यस्याभिमतं(1) तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । यथा (2)रोगस्वास्थ्यतत्कारणतत्त्वे[6] भिषग्वरः । न बाध्यते च प्रमाणेन भगवतोभिमतं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वम् । तस्मात्तत्र त्वं[7] युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । इति विषयस्य युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्धेर्विषयिण्या भगवद्वाचो युक्ति-

---

संपूर्णतया युक्ति आगम से अविरोधी किस प्रकार से सिद्ध है ? इस प्रकार से भगवान् के प्रश्न करने पर ही मानों समतभद्र आचार्य कहते है कि—

हे भगवन् ! आपके मोक्षादिक तत्त्व प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नही होते है । तथाहि— "जहां पर जिस पुरुष का अभीष्ट तत्त्व प्रमाण से बाधित नही होता है वह वहा पर युक्ति और आगम से अविरोधी वचन वाला है जैसे रोग और स्वास्थ्य तथा उनके कारणो मे उत्तम वैद्य । भगवान् के द्वारा अभिमत मोक्ष, संसार और उन-उनके कारण कारणभूत तत्त्व प्रमाण से बाधित नही होते है । इसीलिये उस-उस विषय में भगवान् आप ही युक्ति और आगम से अविरोधी वचन वाले है ।"

इस प्रकार मोक्ष, ससार एव इन दोनों के कारणभूत इस विषय को युक्ति-शास्त्र मे अविरोधी पना सिद्ध होने से विषयी भगवान के वचनों को भी युक्ति और शास्त्र से अविरोधीपना सिद्ध हो जाता है ।

भावार्थ—श्री स्वामी समतभद्राचार्यवर्य ने देवागम स्तोत्र मे "देवागमनभोयान" इत्यादि कारिका के द्वारा बहिरग विभूतिमान् हेतु से भगवान को महान् नही माना है । 'अध्यात्म बहिरप्येप' इत्यादि द्वितीय कारिका के द्वारा अतरग महोदय से भी भगवान् को नमस्कार नही किया है तथा 'तीर्थकृत्सम-याना' इत्यादि तृतीय कारिका से सभी के आम्नाय में परस्पर विरोध दिखाकर पुन. धीरे से ऐसा कह दिया है कि 'कश्चिदेव भवेद्गुरुः' कोई न कोई एक भगवान् अवश्य ही होना चाहिये ।

इसके पश्चात् चतुर्थ कारिका में इस बात को बताया है कि दोष और आवरण से ही प्राणी संसारी कहलाते है इनका किसी न किसी में पूर्णतया अभाव हो सकता है क्योकि संसारी प्राणियों में दोष और आवरण के हानि की तरतमता देखी जाती है । पुनः आगे पाचवीं कारिका में यह स्पष्ट कर देते हैं कि 'सूक्ष्मादि पदार्थ' किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य है और जिसके प्रत्यक्ष हैं वही सर्वज्ञ है ।

---

१ वैद्यशास्त्रयुक्त्यविरोधिवाग् निर्दोषः । २ मुक्तिश्च ससारश्च तत्कारणे च तेषु । ३ मम वर्द्धमानस्य । ४ सामस्त्येन । ५ यस्य पुरुषस्य स इति सम्बन्धः । ६ रोगश्च स्वास्थ्य च तत्कारणानि च तान्येव तत्त्व तस्मिन् । ७ भगवान् ।

---

(1) मोक्षसंसारतत्कारणेषु त्वं युक्तिशास्त्राविरोधिवाग् भवितुमर्हसि तत्र त्वदभिमतस्य तत्त्वस्य स्वरूपस्य प्रमाणेनाबाध्यमानत्वात् इति प्रतिज्ञाहेतू दृष्टव्यौ । दि. प्र. । (2) रोगश्च स्वास्थ्यं च तत्कारणे च तान्येव तत्त्वं तत्र । दि. प्र. ।

शास्त्राविरोधित्वसाधनम्[१] । [२]कथमत्र कारिकायामनुपात्तो भिषग्वरो दृष्टान्तः कथ्यते इति चेत् स्वयं [३]ग्रन्थकारेणान्यत्राभिधानात् ।

> "त्व सम्भवः [४]संभवतर्षरोगैः, सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।
> आसीरिहाकस्मिक[५] एव वैद्यो, वैद्यो यथा नाथ रुजां प्रशान्त्यै ।।"

इति स्तोत्रप्रसिद्धेः । [६]इह दृष्टान्तावचनं तु संक्षेपोपन्यासान्न विरुध्यते, [1]अन्यथानुपपन्नत्वनियमैकलक्षणप्राधान्यप्रदर्शनार्थं[७] वा ।

अब 'स त्वमेवासि निर्दोषो' इस कारिका मे यह स्पष्टतया कह रहे हैं कि वह सर्वज्ञ और निर्दोष भगवान् आप ही है । पुनः प्रश्न यह होता है कि आप ही निर्दोष क्यों है ? क्योंकि यहा परीक्षा प्रधानी शिष्यगण केवल आगम मात्र से ही भगवान् को निर्दोष मानने को तैयार नही हैं । उनको आचार्य समझाते हैं कि सर्वज्ञ भगवान् निर्दोष इसलिये हे कि उनके वचन तर्क और आगम से अविरोधी हैं क्योंकि आपका शासन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो से बाधित नही है । लोक व्यवहार में उत्तम वैद्य रोगी के रोग का कारण बता देता है और स्वस्थता के कारण भी बता देता है, अब यह स्वस्थ हो चुका है इसके ज्वर आदि विकार निकल चुके है । वैद्य के ऐसे निर्णय पर आबाल गोपाल जन विश्वास कर लेते है ऐसा देखा जाता है । अब आगे इस बात को सिद्ध कर रहे है कि भगवान् के शासन में मान्य मोक्ष और संसार एव इन दोनो के कारण भी विरोध रहित तर्क, आगम आदि से सिद्ध है ।

प्रश्न—इस कारिका में दृष्टात न होते हुये भी भिषग्वर का दृष्टात आपने क्यो लिया ?

उत्तर—स्वय ग्रथकार श्री समतभद्राचार्य स्वामी ने अन्यत्र "स्वयभूस्तोत्र" में भिषग्वर का दृष्टात ग्रहण किया है यथा—

> "त्व सभवः सभवतर्षरोगैः, सतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
> आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो, वैद्यो यथा नाथ रूजा प्रशात्यै ।।"

अर्थ—हे संभवनाथ भगवान् ! संसार में तृष्णा रूपी रोग से पीड़ित हुये जीवों के लिये आप ही अकारण वैद्य है । जिस प्रकार से लोक में रोगो की शाति के लिये वैद्य होते है ।

अतः यहा कारिका में सक्षेप से कथन होने से दृष्टांत को नही कहने पर भी विरोध नहीं आता है अथवा हेतु में "अन्यथानुपपत्ति" ही निश्चित एक लक्षण प्रधान है ऐसा बतलाने के लिये भी दृष्टांत नही दिया है ।

१ सिद्धमस्ति, विषयविषयिणोरभेदोपचारात् । २ तटस्थः शकते । ३ समन्तभद्राचार्येण । ४ संभवः ससारः । तर्षस्तृष्णा । ५ प्रत्युपकारनिरपेक्षः । ६ कारिकायाम् । ७ पक्षधर्मत्वादिपञ्चरूप विनापि अन्यथानुपपन्नत्वनियमलक्षणाद्धेतोः साध्यसिद्धेः कारिकायामदृष्टान्तवचनम् ।

(1) यथा हेतोरन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं पक्षधर्मत्वाभावेऽपि समर्थं ।

भावार्थः—नैयायिकोने हेतुके पाच अवयव माने हैं। १ पक्षधर्मत्व, २ सपक्ष सत्त्व, ३ विपक्ष व्यावृत्ति, ४ अबाधित विषयत्व, ५ असत्प्रतिपक्षत्व। इसी प्रकार बौद्धों ने उपरोक्त पांच अवयवों में से आदि के तीन अवयव माने हैं किन्तु जैनाचार्यों ने "अन्यथानुपपत्तिः" एक लक्षण हेतु का माना है। इस अन्यथा-नुपपत्ति लक्षण वाले हेतु में पांचो अवयव नही है। तो भी हेतु साध्य को सिद्ध करने लाला सच्चा हेतु है और यदि हेतु में पांचों या चारों आदि अवयव होकर भी अन्यथानुपपत्ति लक्षण अविनाभाव हेतु नहीं है तो हेतु अहेतु है साध्य का गमक नही है।

सर्वज्ञसिद्धि का सारांश

मीमासक यह कहता है कि—संपूर्ण कर्मों से रहित भी आत्मा परमाणु धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को कैसे जानेगा ? इन अतीन्द्रिय पदार्थो का ज्ञान तो वेद वाक्यो से ही होता है। अतएव जगत में कोई सर्वज्ञ नही है। इस पर आचार्य समाधान करते है कि—

सूक्ष्म परमाणु आदि एव अतरित राम-रावणादि तथा दूरवर्ती-सुमेरू पर्वत आदि परोक्ष पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय है—अग्नि आदि के समान ! एवं हे भगवन् ! वे पदार्थ जिनके प्रत्यक्ष हैं वह आप ही निर्दोष सर्वज्ञ है क्योकि आप के वचन युक्ति शास्त्र से अविरोधी है तथा आपका मत, ससार, मोक्ष एव उनके उपाय प्रत्यक्षादि से बाधित नही होते है।

यदि कोई कहे कि अत्यत परोक्ष पदार्थ अनुमेय नही हो सकते अतः अनुमेयत्व हेतु भागासिद्ध है। यह कथन ठीक नही है। कारण कि सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय है क्योकि श्रुत-ज्ञान के विषय है एव श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। अतएव श्रुतज्ञान के विषयभूत अनुमेय सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। मीमासक कहता है कि "कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला नही है क्योंकि वह प्रमेय है, या अस्ति रूप है, या वस्तु रूप है। जैसे हम लोग।" इस पर जैनाचार्य कहते है कि ये हेतु तो हमारे सर्वज्ञ को ही सिद्ध करते है। तथाहि।

"सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि प्रमेयरूप है, अस्तित्व रूप हैं या वस्तु रूप हैं—स्फटिक आदि की तरह।"

तथा सर्वज्ञ भगवान अतीन्द्रिय ज्ञान से सूक्ष्मादि पदार्थों को जानते है इन्द्रिय ज्ञान से नही, क्योंकि इन्द्रियां तो वर्तमान के प्रतिनियत पदार्थ को ही विषय करती है सभी को नही। अतः इद्रिय ज्ञान से कोई सर्वज्ञ नहीं बन सकता है। इस बात का स्पष्टीकरण सन्निकर्ष खंडन में विशेष रूप से है। एवं आप सर्वज्ञ अर्हत ही निर्दोष हैं। बुद्ध, कपिल आदि नहीं है क्योंकि उनके वचन युक्ति एवं शास्त्र से अविरोधी नहीं हैं इस प्रकार से आप ही सर्वज्ञ बीतराग है यह बात सिद्ध हो गयी।

[मोक्षतत्कारणतत्त्वस्य सिद्धिः]

[१]तत्र भगवतोभिमतं मोक्षतत्त्वं तावन्न प्रमाणेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य [२]तद्बाधकत्वायोगात्[1]। [३]नास्ति [2]कस्यचिन्मोक्षः, सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्वात् कूर्मरोमादिवदित्यनुमानेन बाध्यते इति चेन्न, मोक्षस्यानुमानादागमाच्च [3]प्रसिद्धप्रामाण्यादस्तित्वव्यवस्थापनात्[४], [4]क्वचिद्दोषावरणक्षयस्यैवानन्तज्ञानादिस्वरूपलाभफलस्यानुमानागमप्रसिद्धस्य[५] मोक्षत्वात्, "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" इति वचनात्[5]। तत[६] एव [6]नागमेनापि मोक्षतत्त्वं बाध्यते, [७]तस्य तत्सद्भावावेदकत्वव्यवस्थितेः। तथा [८]मोक्षकारणतत्त्वमपि[7] न प्रमाणेन विरुध्यते प्रत्यक्षतोऽकारणकमोक्षप्रतिपत्तेरभावात्तेन[९] तद्बाधनायोगात्। नानुमानेनापि तद्बाधनं, [१०]ततो मोक्षस्य [8]कारणवत्त्वसिद्धेः। [११]सकारणको मोक्षः, प्रतिनियत-

अतः मोक्ष और ससार तथा मोक्ष और ससार के कारण इन चारों में भगवान के द्वारा प्रतिपादित जो मोक्षतत्त्व है वह प्रमाण से बाधित नही होता है क्योंकि प्रत्यक्ष से मोक्षादि तत्त्व में बाधा नही है।

अब स्वमत में अनुमान का अभाव होने पर भी चार्वाक परमत की अपेक्षा से अनुमान को ग्रहण करके मोक्ष तत्त्व का नास्तित्व सिद्ध करता है—

[चार्वाक के द्वारा मोक्ष एव उसके कारण का खंडन एवं जैन के द्वारा समाधान]

चार्वाक—"किसी को भी मोक्ष नही है क्योंकि वह मोक्ष सत्ता को ग्रहण करने वाले पांचों प्रमाणों का विषय नही है, कछुये के रोम के समान" इस प्रकार अनुमान से बाधा आती है। अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान आगम उपमान और अर्थापत्ति ये पाचो ही प्रमाण सत् रूप वस्तु को ग्रहण करने वाले हैं और यह मोक्ष पाचों ही प्रमाणो का विषय नही है अतः मोक्ष है ही नहीं, ऐसा हमारा पक्ष है।

जैन—आपका यह कथन ठीक नहीं है। प्रसिद्ध प्रमाणता वाले अनुमान से एव आगम से मोक्ष के अस्तित्व की व्यवस्था की जाती है। किसी जीव में अनंत ज्ञानादि स्वरूप की प्राप्ति रूप फल तथा अनुमान एवं आगम से प्रसिद्ध दोष और आवरण का क्षय पाया जाता है उसी का नाम मोक्ष है। कहा भी है—" 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' अर्थात् बध के हेतु का अभाव एव निर्जरा

१ मोक्षससारतत्कारणेषु चतुर्षु मध्ये। २ तेषां==मोक्षतत्त्वादीनाम्। ३ स्वमतेनुमानस्याभावेपि चार्वाकः परमतापेक्षयानुमान दर्शयति। ४ अग्रे। ५ दोषावरणयोर्हानिरित्याद्युक्तानुमानादिना। ६ एव मोक्षस्य युक्त्यविरोध प्रतिपाद्य शास्त्रा विरोधं प्रतिपादयति तत एवेति। ७ आगमस्य। ८ सम्यग्दर्शनादि। ९ प्रत्यक्षेण। १० अनुमानात्। ११ सम्यग्दर्शनादिकारणकः।

(1) तस्य तदविषयत्वात्। (2) नरस्य। (3) प्रसिद्धप्रामाण्यादित्येतदुत्तरत्र सर्वत्र यथावसरमागमशब्देन सह संबंधनीय। (4) आत्मनि। (5) एव मोक्षे सदुपलंभकानुमानागमप्रमाणद्वयं संभवापादनेन परोक्तं सदुपलभकप्रमाणपचकनिवृत्तिरूप साधनमसिद्धमिति प्रतिपादित बोद्धव्य। दि. प्र. (6) प्रसिद्धप्रामाण्येन। (7) स्वरूप। (8) कारणतत्त्वसिद्धेः इति पा.।

[1]कालादित्वात् पटादिवत् । तस्याकारणकत्वे सर्वदा सर्वत्र सर्वस्य सद्भावानुषंगः, परापेक्षारहितत्वादिति । [1]नागमेनापि मोक्षकारणतत्त्वं बाध्यते, तस्य तत्साधकत्वात् "सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि [2]मोक्षमार्गः" इति वचनात् ।

के द्वारा सपूर्ण कर्मो का नाश हो जाना इसी का नाम मोक्ष है ।" इस प्रकार तत्वार्थ सूत्र महाशास्त्र में कहा है । उसी प्रकार आगम प्रमाण से भी मोक्षतत्व बाधित नहीं होता है क्योंकि मोक्ष तत्व के सद्भाव का प्रतिपादक आगम उपलब्ध है ।

भावार्थ—यद्यपि मोक्ष इंद्रिय प्रत्यक्ष से नही दिखता है तो भी अनुमान एवं आगम से सिद्ध है । राजवार्तिक में भी श्री भट्टाकलक देव ने इसी बात को स्पष्ट किया है । 'कार्यविशेषोपलंभात् कारणान्वेषण प्रवृत्तिरिति चेन्न अनुमानतस्तत्सिद्धेर्घटीयंत्र भाति निवृत्तिवत्" ।।६।। अर्थात्

प्रश्न—मोक्ष जब प्रत्यक्ष से दिखायी नही देता तब उसके मार्ग का ढूढना व्यर्थ है ? **उत्तर**—यद्यपि मोक्ष प्रत्यक्ष सिद्ध नही है फिर भी उसका अनुमान किया जा सकता है । जैसे घटीयंत्र-रेहट का घूमना उसके धुरे के घूमने से होता है । और धुरे का घूमना उसमें जुते हुए बैल के घूमने पर । यदि बैल का घूमना बद हो जाय तो धुरे का घूमना रुक जाता है और धुरे के रुक जाने पर घटी यत्र का घूमना बद हो जाता है । उसी तरह कर्मोदय रूपी बैल के चलने पर ही चार गति रूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुर्गति रूपी धुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिक आदि वेदनायें रूपी घटी यत्र घुमाता रहता है । कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है । और उसके रुकने से ससार रूपी घटीयंत्र का परिचलन समाप्त हो जाता है इसी का नाम मोक्ष है इस तरह साधारण अनुमान से मोक्ष की सिद्धि हो जाती है ।

समस्त शिष्टवादी अप्रत्यक्ष होने पर भी मोक्ष का सद्भाव स्वीकार करते है और उसके मार्ग का अन्वेषण करते है । जिस प्रकार भावी सूर्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण आदि प्रत्यक्ष सिद्ध नही है फिर भी आगम से उनका यथार्थ बोध कर लिया जाता है उसी प्रकार मोक्ष भी आगम से सिद्ध हो जाता है । यदि प्रत्यक्ष न होने के कारण मोक्ष का निषेध किया जाता है तो सभी को स्वसिद्धांत विरोध होगा, क्योकि सभी वादी कोई न कोई अप्रत्यक्ष पदार्थ मानते ही है । "आगमात्प्रतिपत्ते." । प्रत्यक्षोऽनुपलभ्यंमानोऽपि मोक्षः आगमादस्तीति निश्चीयते । प्रत्यक्ष से उपलब्ध न होते हुए भी 'मोक्ष' है—ऐसा आगम से निश्चय किया जाता है ।

तथैव मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शनादि एवं सवर निर्जरा तत्व भी प्रमाण से विरुद्ध नही है प्रत्यक्ष से कारण के बिना मोक्ष की प्रतिपत्ति-ज्ञान का अभाव है क्योकि प्रत्यक्ष प्रमाण से मोक्ष के कारणभूत तत्वों

१ द्रव्यक्षेत्रकालतीर्थादिसामग्री विना मोक्षो न भवतीत्यत सकारणको मोक्ष । २ मोक्षकारणमित्यर्थः ।

(1) प्रसिद्धप्रामाण्येन ।

[चार्वाकः संसारतत्त्वं न मन्यते तस्य विचारः]

तथा संसारतत्त्वमपि न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षतः संसाराभावासिद्धेस्तस्य[१] तद्बाधकत्वाघटनात् । स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः । [1]स न [2]प्रत्यक्षविषयो येन प्रत्यक्षं तं बाधेत ।

[चार्वाक. संसारतत्त्वं निराकरोति तस्य समाधानं]

[२]अनुमानं तद्बाधकमिति चेन्न, [३]तदभावप्रतिबद्धलिङ्गाभावाद्[3] । [४]गर्भादिमरणपर्यन्तचैतन्यविशिष्ट[4]कायात्मन पुरुषस्य जन्मनः[5] पूर्वं मरणाच्चोत्तरं नास्ति भवान्तरम्,[५] अनुपलब्धेः

में बाधा का अभाव है एवं अनुमान से भी बाधा नहीं आती है इसलिए अनुमान से भी मोक्ष कारण सहित सिद्ध है । "मोक्ष सकारणक है अर्थात् सम्यग्दर्शनादि कारण से होता है क्योंकि प्रतिनियत कालादि की अपेक्षा पायी जाती है अर्थात्—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं तीर्थादि सामग्री के बिना मोक्ष नहीं होता है इसीलिए कारण सहित है जैसे पट आदिक ।" यदि मोक्ष को अकारणक मानोगे तो सर्वदा, सर्वत्र सभी जीवों के मोक्ष का प्रसग आ जावेगा क्योंकि अकारणक होने से मोक्ष पर की अपेक्षा से रहित ही रहेगा। और आगम से भी मोक्ष के कारणभूत तत्त्वों में बाधा नहीं है, क्योंकि मोक्ष के कारण को सिद्ध करने वाला आगम पाया जाता है । "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस प्रकार सूत्र वचन है ।

[संसार तत्त्व पर विचार]

ससार तत्व भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष से ससार के अभाव की असिद्धि है । वह प्रत्यक्ष ससार को बाधित नहीं करता है अपने द्वारा उपार्जित कर्म के निमित्त से आत्मा के भवांतर की प्राप्ति का होना इसी का नाम ससार है । वह ससार प्रत्यक्ष का विषय नहीं है कि जिससे वह प्रत्यक्ष उस ससार को बाधित कर सके ।

अर्थात् कर्म के निमित्त से कार्माण तैजस शरीर के साथ आत्मा का जो परलोक में गमन है वह किसी को प्रत्यक्ष से दिखता नहीं है, और जो चीज प्रत्यक्ष से दिखती नहीं है यह प्रत्यक्ष प्रमाण उसका निषेध भी कैसे कर सकेगा।

[चार्वाक के द्वारा ससार तत्त्व का खण्डन एवं जैनाचार्य द्वारा उसका समाधान]

चार्वाक—अनुमान प्रमाण संसार का बाधक है ।

जैनाचार्य—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि संसार के अभाव के साथ प्रतिबद्ध (अविनाभावी) लिंग का अभाव है अतः अनुमान प्रमाण से बाधा नहीं आ सकती ।

१ प्रत्यक्षस्य । २ चार्वाकः । ३ ससाराभावेन सह प्रतिबद्धस्य लिङ्गस्याभावात् । ४ चार्वाकः । ५ चैतन्यविशिष्टः काय एवात्मा, तस्य ।

(1) संसार । (2) प्रत्यक्षाविषयत्वादेवाभाव इति न व्यक्त देशांतरकालांतरवर्तिवृहस्पत्यादेरप्यभावप्रसगात् । दि. प्र. । (3) ससाराभावाविनाभाविलिगाभावात् दि. प्र. । (4) सहित । (5) का ।

खपुष्पवदित्यनुपलम्भः संसाराभावग्राहकः संसारतत्त्वबाधक इति चेन्न, तस्यासिद्धेः। प्राणिनामाद्यं[१] [1]चैतन्यं [२]चैतन्योपादानकारणकं, [2]चिद्विवर्तत्वान्मध्यचैतन्यविवर्तवत्[३]। तथाऽन्त्यचैतन्यपरिणाम[४]श्चैतन्य[५]कार्यः[3], तत एव तद्वत्। इत्यनुमानेन पूर्वोत्तरभावोपलम्भा[4]द्यथोक्तसंसारतत्त्वसिद्धेः। गोमयादेरचेतनाच्चेतनस्य वृश्चिकादेरुत्पत्तिदर्शनात्तेन [६]व्यभिचारी [5]हेतुरिति चेन्न, [७]तस्यापि पक्षीकरणात्। वृश्चिकादिशरीरस्याचेतनस्यैव गोमयादेः [८]सम्मूर्च्छनं, न पुनर्वृश्चिकादिचैतन्यविवर्तस्य, तस्य पूर्वचैतन्यविवर्तादेवोत्पत्तिप्रतिज्ञानात्।

चार्वाक—"गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त चैतन्य से विशिष्ट शरीरधारी पुरुष के जन्म से पहले और मरण के पश्चात् भवातर नाम की कोई चीज नही है क्योंकि उसकी उपलब्धि नही हो रही है आकाश पुष्प के समान।" इस प्रकार संसार के अभाव का ग्राहक "अनुपलम्भ" हेतु ससार तत्व का बाधक है।

जैन—आपका यह कथन ठीक नही है क्योंकि आपका अनुमान असिद्ध है "प्राणियों में आदि का चैतन्य पूर्व के चैतन्य रूप उपादान कारण से ही उत्पन्न होता है क्योकि वह चैतन्य की पर्याय है जैसेकि मध्यवर्ती युवा आदि की चैतन्य पर्याय के लिए आदि की गर्भावस्था को प्राप्त चैतन्य पर्याय उपादान रूप है। तथा अन्त्य चैतन्य का परिणाम जो कि मरणावस्था लक्षण है वह चैतन्य का कार्य रूप है क्योंकि चैतन्य की पर्याय है जैसे कि मध्य चैतन्य पर्याय। अर्थात्—मरण अवस्था वाला चैतन्य आगे के चैतन्य का उपादान कारण होने से आगे भी चैतन्य को जन्म रूप से उत्पन्न कराने वाला है। अन्यथा चैतन्य का निरन्वय विनाश हो जावेगा, परन्तु निरन्वय विनाश सम्भव नही है यदि मानोगे तो सर्वलोप का प्रसंग आ जावेगा। इस अनुमान से पूर्व और उत्तर पर्यायों में चैतन्य स्वभाव की उपलब्धि होने से यथोक्त ससार तत्त्व की सिद्धि होती है।

चार्वाक—गोबर आदि अचेतन से चेतन स्वरूप बिच्छू आदि की उत्पत्ति देखी जाती है इसलिए आपका हेतु व्यभिचारी है अर्थात्—चैतन्य रूप उपादान कारण के अभाव में भी गोबर आदि अचेतन पदार्थों से बिच्छू आदि उत्पन्न हो जाते है।

अतः "चैतन्य की पर्याय होने से" यह हेतु विपक्ष मे चला जाने से व्यभिचारी है।

---

१ गर्भावस्थाप्राप्तम्। २ आद्युत्पन्नचैतन्यात्पूर्वं चैतन्यमुपादान यस्य तत्। ३ मध्यो युवादेः। ४ मरणावस्थालक्षणः ५ उत्पत्स्यमान चैतन्य कार्यं यस्य स। एतन्मरणावस्थालक्षण चैतन्यमुपादानकारणत्वादग्रेऽपि चैतन्यमुत्पादयिष्यत्येव अन्यथा निरन्वयविनाशः स्याद्। न च निरन्वयविनाशः सम्भवति, सर्वलोपप्रसङ्गात्। ६ वृश्चिकादेश्चैतन्योपादान कारणाभावेपि चिद्विवर्तत्वहेतोर्दर्शनात्। ७ वृश्चिकादिचैतन्यस्यापि आद्यचैतन्येन पक्षीकरणात्। ८ गर्भोपपादरूपद्विप्रकारक जन्मवर्जित जन्म (शरीरपरिकल्पनम्) सम्मूर्छनम्।

---

(1) चार्वाकाभिमतभूतचतुष्टयजन्यं आद्यचैतन्य पक्षः पूर्वभवावसानचैतन्योपादानकारणक भवतीति साध्यो धर्मः चिद्विवर्तत्वात् मध्यचैतन्यविवर्तवत्। दि. प्र। (2) पर्याय। (3) बलः। (4) अनुमानस्य प्रामाण्यासिद्धेरनुपलभ एवेति चेन्न तदप्रामाण्ये भवातरप्रतिषेधाघटनात्। अनुपलब्धिलिंगोत्थानुमाद्धि भवांतरं प्रसिद्धं चार्वाकेण तन्न घटत इति भावः। दि. प्र.। (5) जन्मनः पूर्वं चैतन्यास्तित्वसाधक।

[1]खड्गिचरम[1]चित्तेन[2] चित्तान्तरानुपादानेन[2] व्यभिचार: [3]साधनस्येत्यपि [4]मनोरथमात्रं, [3]तस्य प्रमाणतोऽप्रसिद्धत्वात्, निरन्वयक्षणक्षयस्य [4]प्रतिक्षेपात् ।

जैनाचार्य— नही । उन बिच्छू आदिको को भी हमने पक्ष में ही लिया है । बिच्छू आदि का जो शरीर है वह अचेतन रूप गोबर आदि से सम्मूर्च्छन जन्म के द्वारा बना है न कि बिच्छू आदि की चैतन्य पर्याय । वह तो पूर्व की चैतन्य पर्याय से ही उत्पन्न होती है ऐसा हम जैनो ने स्वीकार किया है । गर्भ, जन्म और उपपाद जन्म से रहित जन्म को सम्मूर्च्छन जन्म कहते है ।

चार्वाक—आप जैनो का "चिद् विवर्तत्व" हेतु बौद्धो के द्वारा माने गये खड्गी के चरम चित्त से व्यभिचारी है । क्योकि खड्गी का चरमचित्त आगे-आगे के चित्तक्षण-ज्ञानक्षण के लिए उपादान कारण नही है ।

जैन—यह आपका कथन भी मनोरथ मात्र ही है क्योंकि वह खड्गी का चरम चित्त उत्तर चैतन्य के लिए उपादान भूत नही है यह बात प्रमाण से सिद्ध नही होती क्योकि निरन्वय क्षण क्षय का हमने आगे चल कर खण्डन किया है ।

भावार्थ—चार्वाक कहता है कि आप जैन बिच्छू आदि के चैतन्य को उसके पूर्व चैतन्य की पर्याय से ही उत्पन्न होना मानते हो और कहते हो कि पूर्व-पूर्व की चैतन्य पर्याय उत्तर-उत्तर की चैतन्य पर्याय को उत्पन्न करने में कारण है सो आपका यह हेतु खड्गी के चरमचित्त से व्यभिचारी है क्योंकि खड्गी का चरमचित्त आगे-आगे के चित्तक्षण (ज्ञानक्षण) के लिए उपादान नहीं है ।

इस पर जैनाचार्य कहते है कि खड्गी का चरमचित्त उत्तरचैतन्य के लिए उपादान भूत नही है यह बात प्रमाण से सिद्ध नही होती है । इस खड्गी चरमचित्त का विशेष स्पष्टीकरण श्लोकवार्तिक ग्रथ में पाया जाता है । तथाहि—

जैन मत में जिस प्रकार अतकृत केवली होते हैं उसी प्रकार बौद्धों के यहा तलवार आदि से घात को प्राप्त हुए कतिपय मुक्तात्मा माने गये है वे बिना उपदेश दिये ही शांति रहित निर्वाण को प्राप्त हो जाते है । उनकी ससार में स्थिति नही मानी गई है किन्तु उनका निरन्वय मोक्ष माना गया है अर्थात् दीपक के बुझने के समान सर्वथा अन्वय रहित होकर जिनकी मोक्ष हो जाती है उन्हें खड्गी कहते हैं ।

---

१ खड्ग इव खड्गो ध्यानम् । सोऽस्यास्तीति खड्गी । खड्गिचरमचित्तस्य पूर्वचिद्विवर्तत्वेपि उत्तरचैतन्योपादानकारणत्वाभावात्, उत्तरचित्कार्यकत्वाभावेपि चिद्विवर्तदर्शनाद्वा हेतो । २ चित्तसंततिक्षयो मोक्ष इति बौद्धाः । ३ खड्गिचरमचित्तस्योत्तरचैतन्योपादानत्वाभावरूपहेतोः । ४ अग्रे ।

---

(1) अंत्यचैतन्यक्षणेन । खड्ग इव खड्गी ध्यान सोऽस्यास्तीति योगी बुद्धः इति यावत् तस्यान्त्यचित्त बौद्धमतापेक्षया चित्तांतरस्य नोपादानं तेन । (2) अनास्रवसौगतचित्तमन्यच्चित्तं नोत्पादयति । अन्यच्चित्तोपादानरहितेन सौगतान्त्यचत्तेन । चैतन्योपादानकारणकं इत्येतस्य साध्यस्य व्यभिचारः इति वदति चार्वाकः । दि. प्र. । (3) ता । मरणादुत्तर चैतन्यास्तित्वसाधकस्य । (4) स्वमनोरथ इति पा. ।

[वने प्रथमाग्निः स्वयमेवोत्पद्यते पश्चादग्निपूर्वक एवेति मान्यताया विचारः]

ननु च यथाद्यः 'पथिकाग्निररणिनिर्मथनोत्थोऽनग्निपूर्वको दृष्टः [1]परस्त्वग्निपूर्वक एव तथाद्यं चैतन्यं कायाकारादिपरिणतभूतेभ्यो भविष्यति, [2]परं तु चैतन्यपूर्वकं, विरोधाभा-

बौद्धों का ऐसा कहना है कि खड्गी के अपने ज्ञान रूप आत्मा का सदा के लिए शमन हो जाता है, सर्वथा अन्वय टूट जाता है इस कारण उत्तरकाल—भविष्य में खड्गी की संतान नही चलती है अत. दीपकलिका के समान निरन्वय होकर ज्ञान सतान का नाश हो जाना रूप मोक्ष खड्गी के माना गया है। अतः उस खड्गी का चरमचित्त आगे-आगे के ज्ञानक्षण के लिए उपादान नही है किन्तु इस पर जैनाचार्यो का कहना है कि जैसे बुद्ध ने पूर्वजन्म मे या इस जन्म में यह भावना भायी थी कि "मै जगत् का हित करने के लिए सर्वज्ञ बुद्ध हो जाऊं" इस भावना की शक्ति से अविद्या और तृष्णा के सर्वथा क्षय होने पर भी सुगत की स्थिति ससार मे उपदेश देने के लिए हो जाती है ऐसी बौद्धो की मान्यता है। उसी प्रकार से खड्गी के चित्त का शमन नही हुआ है अतः "मै आत्मा को शांति लाभ कराऊगा" इस प्रकार की भावना का अभ्यास खड्गी बराबर कर रहा है। इस प्रकार से सुगत के समान खड्गी की भी ज्ञान-धारा अनतकाल तक चलती रहे और वह ससार में ठहर जावे क्या बाधा है? पुन· उसका भी अतिम ज्ञान क्षण उत्तरोत्तर ज्ञानक्षण के लिए उपादान हो जावे क्या बाधा है? इत्यादि रूप से आचार्यों ने खड्गी के चरमचित्त का निरन्वय विनाश नही माना है प्रत्युत आगे-आगे के ज्ञानक्षणों के लिए उपादानभूत माना है अत· उससे व्यभिचार दोष नही आ सकता है।

[वन में अग्नि स्वयमेव उत्पन्न होती है पश्चात् अग्नि पूर्वक ही अग्नि उत्पन्न होती है इस मान्यता पर विचार।]

चार्वाक—जिस प्रकार प्रथमत वन की पथिक अग्नि जो अरणि (बास आदि) के निर्मथन से उत्पन्न होती है। वह पहले किसी भी अग्नि से नहीं हुई है अत. अनग्नि पूर्वक देखी जाती है। फिर आगे की दूसरी अग्नि अग्निपूर्वक ही होती है उसी प्रकार से आदि का चैतन्य शरीर के आकार आदि से परिणत भूत चतुष्टय से होगा और युवा, वृद्धावस्था आदि मे होने वाला दूसरा चैतन्य उस चैतन्य पूर्वक ही होगा इसमे कोई विरोध नही है। अर्थात् जैसे जगल मे चलने वाला पथिक अग्नि के अभाव में अरणि मथन या चकमक से जो अग्नि उत्पन्न करता है उसे पथिकाग्नि कहते है।

जैन—इस प्रकार से जो आप समाधान करते हैं वह स्वपक्ष का घात करने वाला जाति उत्तर रूप अर्थात् (मिथ्या उत्तर) ही है। क्योंकि 'चिद्विवर्तत्व रूप—चैतन्य की पर्याय होना" हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति का खण्डन नही होता है अर्थात् चैतन्य रूप उपादान कारण से उत्पन्न होने रूप साध्य

१ अरणिः काष्ठविशेषः। २ युववृद्धादिचैतन्यम्।

(1) मठाद्यग्निः।

वात् । इति [1]कस्यचित्प्रत्यवस्थितिः स्वपक्षघातिनी १जातिरेव, चिद्विवर्तत्वस्य[2] हेतोः २साध्येन व्याप्तेरखण्डनात् । [3]प्रथमपथिकाग्नेरनग्न्युपादानत्वे जलादीनामप्यजलाद्यु[4]पादान-त्वोपपत्तेः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्य तत्त्वान्तरभावविरोधः३ । तथा हि । येषां परस्परमुपा-दानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वान्तरत्वम्४ । यथा ५क्षितिविवर्त्तानाम् । परस्परमुपादानोपादेय-भावश्च[5] पृथिव्यादीनाम्[6] । इत्येकमेव पुद्गलतत्त्वं [7]पृथिव्यादिविवर्त्तमवतिष्ठेत[8] । अथ[9] क्षित्यादीनां न परस्परमुपादानोपादेयभावः, सहकारिभावोपगमात्[10] । ६कथमपावकोपादानः

की चैतन्य पर्याय होने से" इस हेतु के साथ व्याप्ति सुघटित ही है ।

प्रथमपथिकाग्नि (वन की अग्नि) को अग्नि के बिना उपादानपना (उत्पन्न होना) स्वीकार करोगे तो जलादिको को भी जलादि उपादान के बिना हो जाने का प्रसंग आ जावेगा । पुनः पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय के भिन्न-भिन्न तत्त्व होने का विरोध हो जावेगा । अर्थात् जिस प्रकार प्रथम बांसों के घर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि का उपादान कारण अग्नि जीव नही है तो जल के लिए भी प्रथम उपादान कारण जल नही होगा इत्यादि रूप से भूतचतुष्टय के कारण पृथक पृथक रूप से चार सिद्ध न होने से चारों तत्त्व एक हो जायेंगे क्योकि एक कारण से उत्पन्न हुए है । जो-जो एक कारण से उत्पन्न होते हैं वे-वे भिन्न नही है जैसे मिट्टी से उत्पन्न हुए घट, शराव उदंचन आदि मिट्टी रूप एक कारण जन्य होने से भिन्न-भिन्न तत्त्व नही है तथाहि—'जिनमें परस्पर में उपादान उपादेय भाव है उनमें परस्पर में भिन्न पना नही है जैसे—मिट्टी की पर्यायें, स्थास, कोश, कुशूल, शिवक आदि । और परस्पर में पृथ्वी, जल, अग्नि वायु में उपादान उपादेय भाव मौजूद है ।" इस प्रकार से पृथ्वी आदि पर्यायें एक ही पुद्गल तत्त्व रूप ठहरती है ।

चार्वाक—पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय में परस्पर में उपादान उपादेय भाव नहीं है क्योंकि हमने उनमें सहकारी भाव माना है ।

जैन—पहली पथिकअग्नि अग्निरूप उपादान के बिना कैसे सिद्ध हो सकेगी कि जिससे उसी प्रकार अचेतन पूर्वक प्रथम चैतन्य की उत्पत्ति का प्रसग होवे ? इसलिए जिस प्रकार प्रथम ही अरणि (वास

१ मिथ्योत्तर जाति.। २ चैतन्योपादानकारणकत्वरूपेण साध्येन सह । ३ एककारणजन्यत्वात् । यदेककारणजन्म तन्न तत्त्वान्तरम् । यथा मृदुत्पन्नो घटो न मृदोतिरिच्यते । ४ पृथिव्यप्तेजोवायुरूपम् । ५ स्थासकोशकुशूलशिवकादीनाम् । ६ जैनः ।

(1) दूषणं (2) आद्य चैतन्योपादानकारणक चिद्विवर्तत्वान्मध्यचैतन्यविवर्तवत् । (3) प्रथमपथिकाग्नेर्यथा नाग्न्युपादानत्वं ततश्च कथ व्याप्त्यखडनमित्याह । (4) पृथिव्यादेः । (5) परस्परमुपादेयभावश्च इति पा. । (6) पृथिव्यादिभूतचतुष्टय विवर्ताः पर्यायाः यस्य तत् । दि. प्र. । (7) पृथिव्यादीनां पक्षः तत्त्वांतरत्वं न भवतीति साध्यो धर्मः, परस्परमुपादानोपादेयभावत्वात् । येषा परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वांतरत्वं, यथा क्षितिविवर्तानां घटादीनां । दि. प्र. । (8) बसः । (9) चार्वाकः । (10) अरणिनिर्मंथादेव ।

प्रथमः पथिकपावकः प्रसिद्धयेद्यतस्तद्वदचेतनपूर्वकं प्रथमचैतन्यं प्रसज्येत ? यथैव हि 'प्रथमाविर्भूतपावकादेस्तिरोहितपावकान्तरादिपूर्वकत्व[1] तथा गर्भचैतन्यस्याविर्भूतस्वभावस्य तिरोहितचैतन्यपूर्वकत्वमिति किन्न व्यवस्था स्यात् ? [2]स्यान्मतं, [3]सहकारिमात्रादेव प्रथमपथिकाग्नेरुपजननोपगमात्तिरोहि[4]ताग्न्यन्तरोपादानत्वमसिद्धमिति [5]तदसत्, अनुपादानस्य कस्यचिदुपजननादर्शनात् ।

आदि) के संघर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि तिरोहित भिन्न अग्नि पूर्वक होती है । उसी प्रकार से गर्भ में चैतन्य का आविर्भाव होने में तिरोहित चैतन्य ही निमित्त है अर्थात् चैतन्य रूप उपादान कारण से ही गर्भादि में चैतन्य की उत्पत्ति होती है ऐसी ही व्यवस्था क्यो न मानी जावे ?

भावार्थ—कोई भी जीव किसी भी पर्याय से मर करके अग्निकायिक नाम कर्म के उदय से अग्नि में जन्म लेता है। इसलिए आबाल गोपाल मे जो अग्नि वन मे अग्नि आदि के सघर्षण से उत्पन्न होती है उसमें अग्नि से उत्पन्न होना नहीं दिखने पर भी पूर्व पर्याय से च्युत होकर ही जीव अग्निकायिक नाम कर्म के उदय से उसमें जन्म लेता है अतः प्रत्येक अग्नि की उत्पत्ति अग्नि रूप उपादान से ही सुघटित है । तथैव कोई भी जीव किसी देव आदि पर्याय से मरण को प्राप्त करके मनुष्य तिर्यच आदि पर्याय में गर्भ अवस्था में आता है इसलिए चैतन्य उपादान पूर्वक ही चैतन्य की उत्पत्ति माननी चाहिए ।

चार्वाक—बांसों के सघर्षण आदि सहकारी कारण मात्र से ही वन की प्रथम अग्नि होती है ऐसा हमने माना है इसलिए तिरोहित हुई भिन्न अग्नि रूप उपादान से अग्नि की उत्पत्ति मानना असिद्ध है ।

जैन—यह कहना असत् है । बिना उपादान कारण के सहकारी कारण मात्र से किसी की भी उत्पत्ति नही देखी जाती है ।

[शब्द और बिजली आदि उपादान के बिना ही उत्पन्न होते हैं चार्वाक की इस मान्यता पर प्रत्युत्तर]

चार्वाक—शब्द बिजली आदि की उत्पत्ति उपादान कारण के बिना ही देखी जाती है अतः कोई भी दोष नही है ।

जैन—ऐसा नही है । "शब्दादि भी उपादान कारण सहित ही है क्योंकि कार्यरूप है घटादि के समान" इस अनुमान से उन शब्दादि के अदृश्य पुद्गल द्रव्य रूप उपादान कारण है ही हैं अतः इन सभी को उपादान कारणता सिद्ध ही है ।

१ अरणिमथनकाले । २ चार्वाकस्य ३ अरणिमथनमात्रादेव । ४ प्रच्छन्नरूपारणिस्थिताग्न्यन्तरकारणकत्वम् । ५ जैनः ।

(1) निदर्शनमिदं पराभ्युपगमानुसारेणाभिहितं प्रतिपत्तव्यं । स्याद्वादिना तु पयःपावकादीना पुद्गलविवर्तत्वेनैकत्वांगीकरणात् परस्परमुपादानोपादेयतावश्य भावात् । दि.प्र. ।

[¹शब्दविद्युदादय उपादानमंतरेणोत्पद्यन्ते इति चार्वाकमान्यताया प्रत्युत्तरं]

शब्दविद्युदादेरुपादानादर्शनाददोष इति चेन्न, शब्दादिः सोपादान एव, कार्यत्वाद्[1] घटादिवदित्यनुमानात्तस्यादृश्योपादानस्यापि[1] [2]सोपादानत्वस्य साधनात् ।

[भूतचतुष्टयचेतनयोर्भिन्नलक्षणत्वेन पृथक् पृथक् तत्त्वमेवेति कथयति जैनाचार्याः]

[2]नन्वस्तु सर्वोग्निरग्न्यन्तरोपादान एव [3]सर्वस्य सजातीयोपादानत्वव्यवस्थितेः । चेतनस्य तु चेतनान्तरोपादानत्वनियमो न युक्तः, तस्य भूतोपादानत्वघटनात्, भूतचेतनयोः [4]सजातीयत्वात्तत्त्वान्तरत्वासिद्धेरिति चेन्न, [3]तयोर्भिन्नलक्षणत्वात्तत्त्वान्तरत्वोपपत्तेः, [4]तोयपावकयोरपि तत[5] एव [6]परैस्तत्त्वान्तरत्वसाधनात् । तथा हि । तत्त्वान्तरं भूताच्चैतन्य, तद्भिन्नलक्षणत्वान्यथानुपपत्तेः । न तावदसिद्धो हेतुः क्षित्यादिभूतेभ्यो [7]रूपादिसामान्यलक्षणेभ्यः स्वसंवेदनलक्षणस्य

[भूत चतुष्टय एव चेतन का लक्षण भिन्न-भिन्न होने से ये भिन्न तत्त्व हैं इस पर विचार]

चार्वाक—तो ठीक है सभी अग्नि भिन्नअग्निरूप उपादान कारण से ही होती है अतः उन सभी का उपादान सजातीय ही है ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, किन्तु चेतन द्रव्य भिन्न चैतन्य रूप उपादान से होता है यह नियम ठीक नहीं है । वह चैतन्य तो भूत चतुष्टय के उपादान से उत्पन्न होता है । भूत से चैतन्य की उत्पत्ति होने से भूत और चैतन्य में सजातीयपना सिद्ध होता है अतः भूत और चैतन्य में भिन्न तत्त्व की सिद्धि नही होती है ।

जैन—यह ठीक नही है भूत और चैतन्य इन दोनों का भिन्न-भिन्न लक्षण पाया जाता है इसलिए भिन्न तत्त्व की सिद्धि होती है । आप चार्वाक ने भी जल और अग्नि का भिन्न-भिन्न लक्षण होने से उन्हें भिन्न-भिन्न तत्त्व माना है । तथाहि—

"चैतन्य तत्त्व भूत तत्त्व से भिन्न है क्योंकि उनके भिन्न-भिन्न लक्षणों की अन्यथानुपपत्ति पायी जाती है" यह 'भिन्न लक्षणत्व' हेतु असिद्ध भी नही है । रूप, रस, गंध स्पर्श रूप सामान्य लक्षण वाले पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु रूप चार भूतो से स्वसवेदन रूप चैतन्य का भिन्न लक्षण सिद्ध ही है भूत चतुष्टय स्वसवेदन लक्षण वाले नहीं हैं । क्योंकि हम और आप सभी अनेक ज्ञाता जनों के प्रत्यक्ष होते है

१ अदृश्यमुपादानं पुद्गलरूप यस्य तस्य । २ चार्वाक. । ३ कार्यस्य । ४ भूताच्चैतन्योत्पत्तिर्यतस्ततो भूतचैतन्ययोः सजातीयत्वम् । ५ भिन्नलक्षणत्वात् । ६ चार्वाकैं । ७ रूपरसगन्धस्पर्शवन्तः पुद्गला ।

(1) प्रतिपक्षबाधितविषयोऽयं हेतुरिति चेन्न । विवादापन्नः परः बुद्धियुक्तः व्याहारादिकार्यदर्शनादित्यत्रापि तत्प्रसंगात् । अत्र बुद्धेरदृश्यत्वाददोष इति चेत्तत्रापि तत एव सोऽस्तु विशेषाभावात् । यथाज्ञानं चार्वाकेण ज्ञानस्यास्वसंवेदनतत्त्वोपगमात् । साध्यव्यावृत्तौ व्यतिरेको दृश्यत इति न मंतव्यं । समनतरमेव ज्ञानस्य स्वसवेदनस्य समर्थयिष्यमाणत्वात् दि. प्र. । (2) सोपादानत्वसाधनात् इति पा.—दि. प्र. । (3) भूतचैतन्ययोः—दि. प्र. । (4) भवतु भिन्नलक्षणत्वं तथापि तत्त्वातरत्वं कुत इत्याह ।

चैतन्यस्य तद्भिन्नलक्षणत्वसिद्धेः । न हि भूतानि स्वसंवेदनलक्षणानि, अस्मदाद्यनेक[1]प्रतिपत्तृप्रत्यक्षत्वात्[2] । [3]यत्पुनः स्वसंवेदनलक्षणं तन्न 'तथा प्रतीतं, यथा ज्ञानम्[1] । [2]तथा [4]च भूतानि, तस्मान्न स्वसंवेदनलक्षणानि । अनेकयोगिप्रत्यक्षेण[5] सुखादिसंवेदनेन[4] व्यभिचारी हेतुरिति न शङ्कनीयम्, अस्मदादिग्रहणात्[5] ।

और जो स्वसवेदन लक्षण वाला है वह उस प्रकार हम लोगों के प्रत्यक्ष में नहीं आता है जैसे हम लोगों का अप्रत्यक्ष ज्ञान और उसी प्रकार भूतचतुष्टय प्रत्यक्ष है इसीलिए स्वसवेदन लक्षण वाले नही हैं।"

शंका—सुखादिसवेदन अस्वसवेदन लक्षण वाले होने पर भी अनेक योगी जनों के प्रत्यक्ष हैं इसलिए सुखादि सवेदन से यह हेतु व्यभिचारी है।

समाधान—ऐसी शका आपको नही करनी चाहिए क्योकि सुखादि संवेदन-सुखादि का ज्ञान हम लोगों के प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—चार्वाक का कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टयों से शरीर का निर्माण होता है उसी में आत्मा बन जाती है शरीर, मन, इन्द्रिय, ज्ञान और आत्मा सब भूतचतुष्टय से निर्मित है। चैतन्य नाम का कोई भिन्न तत्त्व या द्रव्य नही है जो कि अनादि अनन्त काल तक स्थिर रहता हो। मतलब शरीर के जन्म के पहले और मरने के बाद आत्मा नाम की कोई चीज नही है।

इस बात को सिद्ध करने के लिए चार्वाक ने बहुत ही युक्ति प्रत्युक्तियों के द्वारा अपना पक्ष पुष्ट किया है। उसका कहना है कि गोमय आदि से बिच्छू, कीचड आदि से कीड़े मकोड़े केंचुये आदि उत्पन्न होते देखे जाते है। वन में बांसों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है उसमें जीवात्मा कहा से आया? मेघों की गड़गड़ाहट, बिजली आदि का उपादान कारण क्या है? इत्यादि में आत्मा रूप उपादान के बिना ही आत्मा उत्पन्न हो रही है अतः आत्मा भूतो से बनती है एव भूतचतुष्टय और आत्मा एक तत्त्व है किंतु भूत चतुष्टय परस्पर में भिन्न-भिन्न तत्त्व है।

इन सभी बातों को सुनकर जैनाचार्यों ने बहुत ही अच्छा और वास्तविक समाधान किया है। उन्होंने बतलाया है कि बिच्छू, कीट, मेंढक, केंचुये आदि प्राणियो का शरीर यद्यपि गोमय, कीचड़ आदि भूतचतुष्टय से बना हुआ है फिर भी उनकी आत्मा अन्यत्र कही से तिर्यंच गति और तिर्यंचआयु आदि

१ अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्ष न प्रतीतम्। २ अस्मदाद्यप्रत्यक्षम्। ३ अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षाणि सन्ति। ४ सुखादिसंवेदनस्यास्वसंवेदनलक्षणत्वेप्यनेकयोगिप्रत्यक्षत्वात्। ५ अस्मदादिभिर्न प्रत्यक्षत्वादित्यर्थ.।

(1) अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्। इति वा पाठः। एकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षेण स्वसंवेदनेन व्यभिचारनिवृत्यर्थमनेकशब्दोपादानं। (2) घटादिवत् इति अधिक. पाठः दि. प्र.। (3) अस्मदादिप्रत्यक्षाणि च तानि भूतानि तस्मान्न स्वसवेदनलक्षणानि इति वा पाठः—दि. प्र.। (4) तथा च भूतानि च तानीति वा पाठ. दि.प्र.। (5) बसः।

कर्मों को बाँधकर उपादान रूप से यहाँ उत्पन्न हुई है। आत्मा और पुद्गल द्रव्य रूप भूत चतुष्टय सर्वथा भिन्न-भिन्न तत्त्व है। वन में जो अग्नि स्वय लगती है उसमें भी वासों का परस्पर वर्षण आदि निमित्त है, किन्तु उपादानभूत आत्मा एकेन्द्रियजाति अग्निकायिक स्थावर आदि नाम कर्म को लेकर अग्नि काय में जन्मी है। माता-पिता के रजोवीर्य के संम्मिश्रण से जो जन्म होता है उसे गर्भ जन्म कहते हैं। उपपादशय्या से जो जन्म होता है उसे औपपादिक जन्म कहते है। तथा यत्र-तत्र से अपने योग्य पुद्गल परमाणुओं के एकत्रित हो जाने पर शरीर की रचना बनकर जो जन्म होता है उसे सम्मूर्छन जन्म कहते है।

एकेन्द्रिय से असज्ञीपंचेन्द्रिय तक सभी प्राणियों का जन्म सम्मूर्छन जन्म ही है पंचेंद्रिय तिर्यंचों में कुछ प्राणी सम्मूर्छन जन्म वाले है जैसे मेंढक मत्स्य आदि। शेष सभी गर्भज है जैसे गाय, भैंस, हाथी, घोडा आदि। मनुष्यों में सभी मनुष्य गर्भज होते है एव जो सम्मूर्छन मनुष्य होते है वे लब्ध्यपर्याप्तक होते है तथा वे हमको और आपको दीखते नही है। देव और नारकियों का जन्म उपपाद जन्म कहलाता है। इन तीनों प्रकार के जन्म को धारण करने वाली आत्मा एक स्वतंत्र द्रव्य है कर्मों के निमित्त से जन्म मरण रूप ससार में ससरण करना पडता है। कर्मो से मुक्त होने के बाद इस आत्मा में पूर्ण आनंद, पूर्णज्ञान, अनतशक्ति आदि अनंत गुण प्रगट होते हैं।

जब तक इस जीव को सम्यग्दर्शन प्रकट नही होता है तभी तक यह जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पचपरिवर्तन में परिभ्रमण करता रहता है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होने के बाद ज्ञान और चारित्र की वृद्धि एव पूर्णता से यह जीव पूर्ण शुद्ध हो जाता है अतः आत्मा और भूत चतुष्टय भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं ऐसा समझना चाहिये। और पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु ये भूतचतुष्टय पुद्गल की पर्याय होने से कथचित् द्रव्यदृष्टि से एक ही तत्त्व है भिन्न-भिन्न नही है। इसलिये विपरीतमान्यता को छोड़कर आस्तिकवादी बनना ही उचित है।

चार्वाक मत के खंडन का सारांश

चार्वाक कहता है कि—

पुरुष के जन्मातर से पहले और मरण के पश्चात् भवातर नाम की कोई वस्तु नही है क्योंकि गर्भ से लेकर मरण पर्यंत ही चैतन्य पाया जाता है अतः आकाशपुष्प के समान ससार तत्त्व सिद्ध नही है तथैव मोक्ष तत्त्व भी सिद्ध नहीं है।

भूत चतुष्टय से ही चैतन्य उत्पन्न होता है। अचेतन गोमय आदि से बिच्छू आदि उत्पन्न होते देखे जाते हैं। चैतन्य उपादान के बिना भी चैतन्य का होना सिद्ध ही है जैसे वन की अग्नि अरणि आदि के निर्मथन से उत्पन्न हो जाती है पुनः आगे-आगे की अग्नि पूर्व अग्नि के उपादान पूर्वक होती है।

तथा शब्द, बिजली आदि भी बिना उपादान के देखे जाते हैं। चैतन्य और भूत को भिन्न लक्षण मानकर भी आप भिन्न तत्त्व सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि कारणभूत महुआ, गुड़, आटा आदि में मद जनन शक्ति नही है तथा मदिरा परिणाम में मौजूद है अतः इन दोनों का लक्षण भिन्न है फिर भी एक तत्त्व हैं।

इस कथन पर जैनाचार्य उत्तर देते है कि "प्राणियों में आदि का चैतन्य पूर्व के उपादान कारण से ही उत्पन्न होता है क्योंकि चैतन्य की पर्याय है मध्य-युवावस्था की चैतन्य पर्याय के समान"। इस अनुमान से पूर्वोत्तर पर्यायों में चैतन्य स्वभाव की उपलब्धि होने से संसार तत्त्व सिद्ध ही है। अपने द्वारा उपार्जित कर्म के निमित्त से आत्मा को भवांतर की प्राप्ति होना इसी का नाम संसार है।

गोमय आदि अचेतन से बिच्छू का चैतन्य उत्पन्न नही हुआ है किंतु उनसे शरीर बना है। तिर्यंच गति विशेष नाम कर्म के उदय से आने वाला चैतन्य जीव ही बिच्छू का उपादान माना गया है। अतः भूत चतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति मानना सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि इन दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न ही है। रूप, रस, गंध, स्पर्श स्वरूप सामान्य लक्षण वाले पृथ्वी, जल, अग्नि वायु रूप भूत चतुष्टय है। एवं चैतन्य का स्वसंवेदन रूप ज्ञान दर्शन लक्षण है, किन्तु आपने जो मदिरा की उत्पादक सामग्री से मदिरा में भिन्नपना कहा है सो भी ठीक नही है क्योंकि महुआ, गुड आदि कारणों में भी मद को उत्पन्न करने वाली मदिरा रूप परिणाम शक्ति विद्यमान है यदि सर्वथा उनमें मद को उत्पन्न करने की शक्ति न माने तो मदिरा बनने पर भी मद जनन शक्ति नही आ सकेगी।

वन की प्रथम अग्नि को आपने अनग्नि पूर्वक कहा है वह भी सर्वथा असत्य है। कोई भी जीव किसी भी पर्याय से मरण कर अग्निकायिक नाम कर्म के उदय से अग्नि में जन्म लेता है इसलिये बासादि के घर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि भी अग्नि के उपादान पूर्वक ही है। तथैव शब्द, बिजली आदि के भी अदृश्य पुद्गल परमाणु उपादान कारण माने गये हैं अतः उनमें अपने सजातीय से ही उपादान उपादेय भाव देखा जाता है।

[ज्ञानमस्वसंविदितमस्तीति मान्यतायां जैनाचार्याः समादधते ।]

ज्ञानस्य स्वसंवेदनलक्षणत्वमसिद्धमिति चेन्न, बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्त्या[१] तस्य स्वसंवेदनलक्षणत्वसिद्धेः । यो ह्यस्वसंवेदनलक्षणः स न बहिरर्थस्य[1] परिच्छेदको दृष्टो, यथा घटादिरिति विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावात्सिद्धा हेतोरन्यथानुपपत्तिः । प्रदीपादिनानेकान्त[२] इति चेन्न, तस्य [1]जडत्वेन बहिरर्थपरिच्छेदकत्वासम्भवात्, [2]बहिरर्थपरिच्छेदकज्ञानोत्पत्ति-कारणत्वात्तु प्रदीपादेर्बहिश्चक्षुरादेरिव[3] परिच्छेदकत्वोपचारात् । न चोपचरितेनार्थपरि-च्छेदकेन प्रदीपादिना मुख्यस्यार्थपरिच्छेदकत्वस्य हेतोर्व्यभिचारचोदनं विचारचतुरचेतसां कर्तुमुचितम्, [4]अतिप्रसङ्गात्[४] ।

[ज्ञान अस्वसंविदित है इस मान्यता पर जैनाचार्य समाधान करते हैं]

शंका—ज्ञान का स्वसवेदन लक्षण असिद्ध है ।

समाधान—नही बाह्यपदार्थों को जानने की अन्यथानुपपत्ति होने से ज्ञान स्वसंवेदन लक्षण वाला सिद्ध है क्योकि "जो अस्वसंवेदन लक्षण वाला है वह बाह्यपदार्थों का परिच्छेदक (जानने वाला) नही है जैसे घटादि ।" इस प्रकार विपक्ष में बाधक प्रमाण का सद्भाव होने से हेतु की अन्यथानुपपत्ति सिद्ध ही है ।

शंका—प्रदीप आदि बाह्य पदार्थो के प्रकाशक भी है और अस्वसंविदित भी हैं । इसलिये प्रदीपादि से आपका हेतु अनैकातिक है ।

समाधान—नही । प्रदीपादि के जड़पना (अचेतनपना) होने से बाह्य पदार्थो का जानना असंभव है, किन्तु बाह्यपदार्थों का परिच्छेदक जो ज्ञान है उस ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होने से प्रदीपादि को बाह्य चक्षु आदि इद्रियो के समान ज्ञान कराने वाले है यह उपचार से ही माना है और "उपचरित रूप से अर्थ का ज्ञान कराने वाले प्रदीपादि से मुख्य रूप से पदार्थों का परिच्छेदकत्व हेतु व्यभिचारी है ।" विचारशील व्यक्तियो को ऐसा व्यभिचार दोष देना उचित नही है अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा । अर्थात् अग्नि दहन शक्ति से युक्त है क्योंकि वह अग्नि रूप है । जो दहन शक्ति से युक्त नही होता है वह अग्नि नही होता है जैसे जलादि । बालक में किये गये अग्नि के उपचार से इस अग्नित्व हेतु में व्यभिचार रूप

१ ज्ञान स्वसवेदनलक्षण, बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्तेः । २ स हि बहिरर्थप्रकाशकश्चास्वसंविदितश्च । ३ अज्ञानरूप-त्वेन । ४ अग्निर्दहनशक्तियुक्तो, अग्नित्वात् । व्यतिरेके जलादि । अत्रोपचरितेन माणवकाग्निना व्यभिचार-प्रसङ्गात् ।

(1) रर्थपरिच्छेदको इति पा. (2) तर्हि बहिरर्थपरिच्छेदक. प्रदीपादेरिति व्यवहार. कथमित्युक्ते आह । (3) यथा बहिश्चक्षुरादीन्द्रियस्योपचारात् प्रकाशकत्वं तथाप्रदीपादेरिव—दि. प्र. । (4) हेतोर्व्यभिचारोत्पादनं क्रियते यदि तदातिप्रसंगो भवति, मुख्यमुपचरित । उपचरितं मुख्यं भवति—दि. प्र. । अग्निर्दहनशक्तियुक्तोऽग्नित्वात् व्यतिरेके जलवत् इत्यत्रोपचरितेन माणवकाग्निनाव्यभिचारप्रसंगात् । माणवके उपचरितस्याग्नेः दाहादिकार्याकारित्वे मुख्यस्याग्नेः कार्याकारित्वप्रसंगः ।

[सुखं सुखस्य ज्ञानमपि कथंचित् पृथक् पृथक् एव]

स्वरूपमात्रपरिच्छेदनव्यापृते[1] सुखादिज्ञाने बहिरर्थपरिच्छेदकत्वाभावात्पक्षाव्यापको [2]हेतुरिति चेन्न, [1]तस्यापि [3]स्वतो [4]बहिर्भूतमुखादिपरिच्छेदकत्वाद्बहिरर्थपरिच्छेदकत्वसिद्धेः [2]कुम्भादिवेदनस्यापि सर्वथा [5]स्वबहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वानुपपत्तेः [3]सदाद्यात्मना कुम्भादेः संवेदनादभेदप्रतीतेः[४], [6]अन्यथा [5]तदसत्त्वप्रसङ्गात् । कथञ्चित्स्वबहिर्भूतत्वं [7]तु सुखादिसंवेदनात्सुखादेरपि प्रतीयत एव, सुखादितत्संवेदनयोः [6]कारणादिभेदाद्भेदव्यवस्थितेः[8] । तर्हि घटादिज्ञानवत् सुखादिज्ञानस्यापि स्वबहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वात्ततोऽन्यस्य[७]

अतिप्रसंग आता है मतलब बालक को भी अग्निरूप जलाने का कार्य करना चाहिये ।

[सुख और सुख का ज्ञान भी कथंचित् पृथक्-पृथक् ही है इस पर विचार]

शंका— स्वरूप मात्र के ज्ञान में व्यापार करने वाले सुखादि ज्ञान में बाह्य अर्थ को जानने का अभाव है अतः आपका हेतु पक्ष में अव्यापक है ।

समाधान— नहीं ! वे सुखादि ज्ञान भी अपने से बहिर्भूत सुखादिक के परिच्छेदक (जानने वाले) है अतः वे बाह्य पदार्थ के परिच्छेदक है यह बात सिद्ध है अर्थात् यदि कोई कहे कि जिस प्रकार कुंभादि ज्ञान बाह्य पदार्थों का परिच्छेदक है । उस प्रकार सुखादि ज्ञान बाह्य पदार्थों का परिच्छेदक नहीं है । यह भी ठीक नहीं है कुंभादि ज्ञान भी सर्वथा अपने से बहिर्भूत पदार्थों के परिच्छेदक नहीं है । सत् (अस्तित्व) आदि के स्वरूप के साथ कुंभादि पदार्थ का सवेदन (ज्ञान) से अभेद प्रतीत होता है । अर्थात् जैसे कुंभादि पदार्थ सत् रूप है वैसे ही ज्ञान भी सत् रूप है अतः सत् की अपेक्षा पदार्थ से ज्ञान सर्वथा भिन्न नहीं है । यदि ऐसा नही मानो तो कुंभादि सर्वथा असत् रूप हो जावेगे परन्तु ऐसा है नही । अतः

१ सुखादिज्ञानस्यापि स्वस्माद् ज्ञानाद्बहिर्भूतसुखादि तस्य संवेदकत्वमिति बहिरर्थपरिच्छेदकत्व सिद्धम् । २ यथा कुम्भादिवेदन बहिरर्थपरिच्छेदक न तथा सुखादिसंवेदनमित्याशङ्कायामाह जैनः कुम्भादेरिति । ३ इदं सत् ज्ञानं सदिति सदात्मना । ४ कुम्भादिर्यथा सन् तथा ज्ञानमपि सत् । अतो न संवेदनाज्ज्ञानं सर्वथा भिन्नम् । ५ तस्य कुम्भादेः । ६ सद्वेद्योदयो हि सुखकारणं ज्ञानस्य तु ज्ञानावरणापगमादि इति कारणभेदः । ७ स्वस्य विज्ञानस्यासम्भवात् ।

(1) ईप् । (2) यौग आह । हे स्याद्वादिन् । बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुस्तव पक्षाव्यापकः कुतः ? यतः सुखादिज्ञानं स्वरूपं जानाति न तु बहिरर्थं इति चेन्न तस्यापि सुखादिज्ञानस्यापि स्वतः ज्ञानस्वरूपात् बहिरंगभूत सुखदुःखादिपरिज्ञानाद्बहिरर्थपरिच्छेदकत्व सिद्धेरिति— दि. प्र. । (3) स्वकाशात् । (4) पृथग्भूत । (5) स्वस्मात् । (6) ज्ञानाद् घटादिपदार्थस्य सत्त्वप्रमेयत्ववस्तुत्वस्वरूपेण भेदो नास्ति । अन्यथा भेदो भवति चेत्तदा तत्त्वयोः ज्ञानघटयोः असत्त्वमायाति—दि. प्र. । (7) 'तु' नास्ति । दि .प्र. । (8) आदिशब्देन स्वरूपभेदः । तथा चोक्त—सुखमाल्हादनाकार विज्ञानं मेयबोधनं । शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे ॥ इति । सुखादेः कारणं वेदनीयकर्मोदयः तत्संवेदनस्य कारणं ज्ञानावरणक्षयोपशमादेः । अतः सुखादिज्ञानयोः कारणभेदाद्भेदोऽस्ति सत्तादिस्वरूपेणाभेद । एवं सति कथंचिद् भेदाभेदात्मकं जातं स्याद्वादिना । दि. प्र. ।

विज्ञानस्यासम्भवात्किं स्वस्य संवेदकं ज्ञानं स्यादिति चेन्न, तस्यैव घटादिसुखादिज्ञानस्य स्वरूपसंवेदकस्य [1]सतः परसंवेदकत्वोपगमात् स्वसवेदनसिद्धेः, स्वपरव्यवसायात्मकत्वात् सर्ववेदनस्य ।

सुखादि ज्ञान से सुखादि भी कथचित् अपने से भिन्न ही प्रतीति में आते है क्योकि सुख आदि और उनका संवेदन इन दोनों मे कारण आदि के भेद से भेद पाया ही जाता है अर्थात् सुख का कारण सातावेदनीय का उदय है और उस सुख के ज्ञान का कारण ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम आदि हैं अतएव कारण के भेद से सुख और सुख के वेदन (ज्ञान) मे भेद सिद्ध ही है ।

शंका—तो फिर घटादि के ज्ञान के समान सुखादि का ज्ञान भी अपने से बहिर्भूत पदार्थों का परिच्छेदक हो जाता है । पुनः बाह्य पदार्थ से भिन्न-जो स्वय है उसका स्वय का ज्ञान न होने से ज्ञान अपने आपका सवेदक (जानने वाला) कैसे होगा ?

समाधान—ऐसा नही है । वे ही घटादि के ज्ञान और सुखादि के ज्ञान अपने स्वरूप को जानने वाले होते हुये ही पर को जानने वाले होते है ऐसा स्वीकार किया गया है इसीलिये उन ज्ञानो में स्वसवेदनपना सिद्ध है क्योकि सभी ज्ञान स्वपर व्यवसायात्मक ही माने गये हैं ।

भावार्थ—चार्वाक, मीमासक और नैयायिक ये ज्ञान को आत्मा का गुण एव स्वपर प्रकाशी नही मानते है । चार्वाक कहता है कि ज्ञान भूतचतुष्टय का गुण है ।

मीमासक कहता है कि ज्ञान परोक्ष है पर पदार्थो को ही जानता है आत्मा को नही जानता अतः अस्वसविदित है । नैयायिक कहता है कि ज्ञान स्वय-स्वय को नही जानता है अन्य ज्ञान के द्वारा ही स्वय को जानता है किन्तु जैनाचार्य इन सभी का निराकरण करके ज्ञान को स्वपर प्रकाशी सिद्ध करते है क्योकि जो स्वय में जड है वह दूसरे को क्या जानेगा ?

इन लोगो का कहना है कि प्रदीप आदि कुछ ऐसे साधन है जो कि स्वय को नहीं जानते हैं जड़ है फिर भी दूसरे पदार्थों का ज्ञान करा देते है । तब आचार्य ने इनको समझाया कि भाई ! ये अचेतन पदार्थ ज्ञान के साधन है यदि आत्मा का ज्ञान गुण जानने वाला न हो तो ये विचारे किंकर्त्तव्यविमूढ़ सदृश पड़े रहेगे, पत्थर को पदार्थों का प्रकाशन नही करा सकते हैं चेतन आत्मा ही अपने ज्ञान गुण से बाह्य दीपक आदि साधनो के द्वारा पदार्थों को जानती है । यह ज्ञान गुण जब तक आवरण कर्म से सहित है तभी तक इन्द्रिय, मन, प्रदीप, प्रकाश आदि बाह्य पदार्थो की अपेक्षा रखता है । जब आवरण से रहित केवलज्ञान बन जाता है तब स्वय सारे लोकालोक को प्रकाशित कर देता है अतः ज्ञान स्व पर प्रकाशी है यह बात सिद्ध है ।

---

1 भवतः ।

[स्वात्मनि क्रियाविरोधात् ज्ञानं स्वं न जानाति अस्य विचारः क्रियते।]

[1]स्वात्मनि क्रियाविरोधान्न स्वरूपसंवेदकं ज्ञानमिति चेत् का[2] पुनः क्रिया स्वात्मनि विरुध्यते ? न तावद्धात्वर्थलक्षणा[3], [4]भवनादिक्रियायाः [5]क्षित्यादिष्वभावप्रसङ्गात्[6]। [1]परिस्पन्दात्मिका क्रिया स्वात्मनि विरुद्धेति चेत्, कः पुनः क्रियायाः स्वात्मा ? क्रियात्मैवेति चेत् कथं तस्यास्तत्र विरोधः ? स्वरूपस्य विरोधकत्वायोगात्। [2]अन्यथा सर्वभावानां[7] स्वरूपविरोधान्निस्स्वरूपतानुषङ्गात्

[स्वात्मा मे क्रिया का विरोध होने से ज्ञान स्वयं को नही जानता है इस पर विचार]

शंका—अपने में ही क्रिया का विरोध होने से ज्ञान स्वरूप संवेदक अर्थात् अपने को जानने वाला नही है।

समाधान :—यदि आप ऐसा कहते हैं तो यह बताइये कि कौन सी क्रिया अपने में विरुद्ध होती है धात्वर्थ लक्षण क्रिया या परिस्पदात्मक क्रिया ? धात्वर्थ लक्षण क्रिया तो अपने में विरुद्ध नही है अन्यथा भू—अस् आदि धातु की "होना" आदि क्रिया का पृथ्वी आदि मे विरोध होने से उनके अभाव का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् "पृथ्वी अस्ति" पृथ्वी है इस वाक्य मे अस्ति क्रिया का अपने रूप कर्ता मे यदि विरोध होगा तो पृथ्वी का अभाव ही हो जावेगा। यदि आप कहे कि परिस्पदात्मक क्रिया का स्वात्मा में विरोध है तो पुनः क्रिया का स्वात्मा कौन है ? यदि कहें कि क्रिया की आत्मा (स्वरूप) ही स्वात्मा है तो उस क्रिया का उसमें कैसे विरोध होगा ? क्योंकि स्वरूप अपना विरोधी नही होता है। यदि स्वरूप भी अपना विरोधी होगा तो पुनः सपूर्ण पदार्थों का अपने-अपने स्वरूप से विरोध हो जाने से सभी पदार्थ निः स्वरूप—स्वरूप रहित हो जावेगे एवं निः स्वरूप हो जाने से कोई भी पदार्थ सिद्ध नही होगा पुनः सर्वशून्य का प्रसग आ जावेगा।

दूसरी बात यह है कि विरोध के द्विष्ठपना है अर्थात् विरोध दो वस्तुओं में ही होता है एक में नहीं इसलिए भी स्वात्मा में क्रिया का विरोध नही हो सकता। यदि आप कहे कि क्रिया जिसमें पाई जावे ऐसा क्रियावान् आत्मा क्रिया का स्वात्मा है तो फिर क्रियावान् में क्रिया का विरोध कैसे होगा ? क्रियावान् द्रव्य में ही तो सभी क्रियाओं की प्रतीति होती है अतः अविरोध सिद्ध ही है। यदि आप कहें कि क्रिया का अर्थ है करना, बनाना। इन अर्थवाली क्रियाओ का ही स्वात्मा में विरोध होता है तब तो ज्ञान स्वरूप को निष्पन्न करता है ऐसा हम जैनी तो मानते भी नहीं है जिससे कि विरोध हो सके अर्थात् विरोध नही है।

भावार्थ—शकाकार ज्ञान को स्वसंवेदक न मानते हुये ऐसा कहता है कि "स्वात्मनि क्रिया विरो-

१ उत्क्षेपणावक्षेपणादिरूपा। २ स्वरूपस्यापि विरोधकत्वे।

(1) खड्गे स्वात्मछेदनवत्। (2) धात्वर्थलक्षणा परिस्पदात्मिका वा उत्पत्तिलक्षणा वा इति विकल्पः—दि. प्र.। (3) उत्पत्तिलक्षणा ज्ञप्तिलक्षणा परिस्पदात्मिकाऽपरिस्पदात्मिका वा—दि. प्र.। (4) अन्यथा। स्यात। (5) ज्ञानस्य क्षित्यादिविवर्तत्वात्। (6) क्षितिर्भवति तिष्ठतीत्यादि। (7) भा।

विरोधस्य द्विष्ठत्वाच्च[1] न क्रियायाः स्वात्मनि विरोधः[2]। [3]क्रियावदात्मा[१] क्रियायाः स्वात्मेति चेत्कथं तत्र विरोधः ? [२]क्रियावत्येव सर्वस्याः क्रियायाः प्रतीतेरविरोधसिद्धेः। अथ क्रिया, करणं निष्पादनं [4]स्वात्मनि विरुद्धमित्यभिमतं[5] तर्हि न ज्ञानं स्वरूपं निष्पादयतीत्युच्यते[३] येन [४]विरोधः स्यात्। इत्यसिद्धः स्वात्मनि [6]क्रियाविरोधः, [7]स्वकारणविशेषा[५]न्निष्पद्यमानस्य ज्ञानस्य स्वपरप्रकाशनरूपत्वात् [8]प्रदीपस्य स्वपरोद्द्योतनरूपत्ववत्[9]। यथैव हि रूपज्ञानोत्पत्तौ प्रदीपः सहकारित्वाच्चक्षुषो रूपस्योद्द्योतकः कथ्यते[10] तथा स्वरूपज्ञानोत्पत्तौ [६]तस्य सहकारित्वात्स्वरूपोद्द्योतकोपि। ततो ज्ञानं स्वपररूपयोः परिच्छेदकं [७]तत्राज्ञाननिवृत्तिहेतुत्वान्यथानुपपत्तेः[८]।

धात्" स्वात्मा में क्रिया का विरोध है। जैनाचार्यों ने तब प्रश्न किया कि धात्वर्थलक्षण क्रिया का विरोध है या परिस्पंदात्मक क्रिया का ?

प्रथम पक्ष लेने से पृथ्वी आदि पदार्थों में अस्तित्व आदि क्रियाओं का विरोध हो जाने से उनका अभाव हो जावेगा। यदि दूसरा पक्ष लेवे तो प्रश्न यह होता है कि क्रिया का स्वात्मा कौन है ? उत्तर में तीन विकल्प हो सकते है—क्रिया की आत्मा (स्वरूप) स्वात्मा, क्रियावान् आत्मा स्वात्मा या करना, बनाना आदि अर्थ रूप क्रिया स्वात्मा है ? पहले विकल्प में क्रिया का स्वरूप स्वात्मा मानने से स्वात्मा में विरोध नही हो सकता है क्योंकि किसी भी पदार्थ का अपने स्वरूप से विरोध नहीं होना है। दूसरे पक्ष में क्रियावान द्रव्य में ही क्रिया पायी जाती है। द्रव्य को छोड़कर क्रिया नही रह सकती अतः विरोध नही है। तीसरे पक्ष में करने, बनाने रूप क्रिया को स्वात्मा में कोई भी नही मानते है तब विरोध की बात ही नही है। साराश यह निकला कि ज्ञान रूप आत्मा में जानने रूप क्रिया का विरोध न होने से सभी ज्ञान स्वसवेदी—अपने को जानने वाले है और पर को भी जानने वाले है।

अतः स्वात्मा में क्रिया का विरोध असिद्ध है। ज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप अपने-अपने कारण विशेष से उत्पन्न होता हुआ ज्ञान स्वपर प्रकाशक है जैसे दीपक स्वपर को उद्योतित करता है। जिस प्रकार रूपज्ञान की उत्पत्ति में दीपक सहकारी होने से चक्षु इंद्रिय के रूप का प्रकाशक कहा जाता है उसी प्रकार दीपक अपने स्वरूप के ज्ञान की उत्पत्ति में भी सहकारी होने से अपने स्वरूप दीपक को भी प्रकाशित करता है इसलिये ज्ञान स्वपर का परिच्छेदक है अन्यथा अज्ञान की निवृत्ति हो नही सकती है

१ क्रियास्यास्तीति क्रियावान्। स चासौ आत्मा च क्रियावदात्मा। २ द्रव्ये। ३ जैनैः। ४ अपि तु न। ५ आवरणक्षयोपशमादिविशेषात्। ६ तस्य ज्ञानस्य सहकारित्वात्। ७ स्वपररूपयोः। ८ स्वपररूपपरिच्छेदकत्वाभावे।

(1) शीतोष्णयोरिव (2) एकस्थत्वात्। (3) क्रियावत. पदार्थस्य स्वरूपं स्वशब्दस्य स्वकीयार्थत्वात्। (4) स्वस्य ज्ञानस्य स्वरूपे। (5) काकुः। (6) ज्ञानं स्वरूपं निष्पादयतीति नोच्यते कुतः। (7) क्षयोपशमलक्षणा। (8) तैलादिस्वकारणनिष्पाद्यमानस्य। (9) प्रदीपस्य परप्रकाशनत्वमेव न स्वरूपप्रकाशकत्वं येन दृष्टातः स्यादित्याशंकायामाह। (10) तथा प्रदीपः घट विशिष्टज्ञानोत्पत्तौ तस्य ज्ञानस्य सहकारित्वात् स्वरूपस्य घटविशिष्टज्ञानस्योद्योतको भवति—वि. प्र.।

[भूतचैतन्ययोर्लक्षणं पृथक् पृथगेव]

इत्यविरुद्धं पश्यामः स्वसंवेदनमन्तस्तत्त्वस्य[१] लक्षणं [1]भूतासम्भवीति भिन्नलक्षणत्वं [२]तयोः सिद्धयत्येव । तच्च सिध्यत्तत्त्वान्तरत्वं साधयति, [2]तच्चाऽसजातीयत्वम्[३] । [४]तदप्युपादानोपादेयभावाभाव[५], [६]तयोस्त[3]त्प्रयोजकत्वात्[७] । तदेवं [4]भूतचैतन्ययोर्नास्त्युपादानोपादेयभावो[5], विभिन्नलक्षणत्वात् । [6]इति [7]व्यापकविरुद्ध[८]व्याप्तोपलब्धिः[९], [8]उपादानोपादेयभावव्यापकस्य सजातीयत्वविशेषस्य विरुद्धेन तत्त्वान्तरभावेन [१०]व्याप्ताद्भिन्न-

---

क्योंकि स्वपर के ज्ञान करने में अज्ञान निवृत्ति रूप हेतु की अन्यथानुपपत्ति है ।

[भूत और चैतन्य का लक्षण पृथक्-पृथक् ही है ।]

इस प्रकार से स्वसंवेदन अंतस्तत्त्व (चैतन्य) का लक्षण है जो कि पृथ्वी आदि भूतों में असंभवी है । अतः भूतचतुष्टय और चैतन्य का भिन्न २ लक्षण सिद्ध ही होता है । इसमें हमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं दीखता है और वह भिन्न लक्षण सिद्ध होता हुआ दोनों को भिन्न-भिन्न तत्त्व ही सिद्ध करता है । वह भिन्न तत्त्व ही भूत और चैतन्य में असजातीयपने को सिद्ध कर देता है । असजातीयत्व हेतु भी उन दोनों में उपादान उपादेय भाव के अभाव को सिद्ध करता है अतः उन दोनों भूत और चैतन्य में अथवा उपादान-उपादेय भाव में वह सजातीयत्व ही प्रयोजक है । इस प्रकार "भूत और चैतन्य में उपादान उपादेय भाव नहीं है क्योंकि वे विभिन्न लक्षण वाले हैं ।" इसलिये व्यापक से विरुद्ध व्याप्त की उपलब्धि हो रही है अर्थात् उपादान उपादेयभाव व्याप्य है, सजातीयपना व्यापक है, उस सजातीय से विरुद्ध जो भिन्न-भिन्न तत्त्व है उसमें "विभिन्न लक्षणत्व" हेतु व्याप्त है ऐसे हेतु की उपलब्धि हो रही है अतः विभिन्न लक्षणत्व हेतु व्यापक विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि नाम से कहा जाता है । उसी को स्वयं आगे कहते हैं—

---

१ चेतनस्य । २ भूतचैतन्ययोः । ३ तत्त्वान्तरत्वं च भूतचैतन्ययोरसजातीयत्वं साधयति । ४ असजातीयत्वमपि । ५ साधयतीति संबंधः । ६ भूतचैतन्ययोरुपादानोपादेययोर्वा । ७ तत् सजातीयत्वं प्रयोजकं ययोरिति बस । ८ उपादानोपादेयभावस्य व्याप्यस्य व्यापकं यत्सजातीयत्वं ततो विरुद्धं तत्त्वान्तरत्वं तेन व्याप्तं विभिन्नलक्षणत्वं तस्योपलब्धिः । ९ विभिन्नलक्षणत्वादित्ययं हेतुर्व्यापकविरुद्धव्याप्तोपलब्धिः कथ्यते । तदेवाग्रे दर्शयति । १० व्याप्ता इति पाठान्तरम् ।

---

(1) पृथिव्यादिषु । (2) तत्र भूतचेतनयोर्भिन्नलक्षणत्वं सिद्धयत्ति.पाद्यमानं तत्त्वान्तरत्वं साधयति । तत् तत्त्वांतरत्वं विजातीयत्वं साधयति । तत् विजातीयत्वं उपादानोपादेयाभावं साधयति । तयोर्भूतचेतनयोः तस्योपादानोपादेयत्वाभावस्य साधकत्वात्—दि. प्र. । (3) तत्सजातीयत्वं प्रयोजकं तयोरुपादानोपादेययोस्ते तथोक्ते तयोर्भावस्तस्मात् । (4) चेतनयोः इति पा —दि. प्र. । भूतचेतनौ पक्षः उपादानोपादेयभावौ भवत इति साध्यो धर्मः भिन्नलक्षणत्वात्—दि. प्र । (5) भावोऽतिभिन्न—इति पा. (6) निवर्तमानं सजातीयत्वं उपादानोपादेयत्वनिवर्तकमिति वचो भिन्नलक्षणत्वं तन्निवर्तयतीत्यनेन विरुद्धयते इत्याशङ्क्य विरोधं परिहरति । (7) साध्यस्य व्यापकं । व्यापकविरुद्धेन तत्त्वांतरभावेन व्याप्तात् भिन्नलक्षणत्वात् भूतचैतन्ययोरुपादानोपादेयभावाभावं उपलभ्यते—दि प्र. । (8) व्याप्य । ता ।

लक्षणत्वात्प्रतिषेध्याभावसाधनात्[१] । [२]नह्यत्र सजातीयत्वविशेष[1]स्योपादानोपादेयभाव-[2] व्यापकत्वमसिद्धं, [3]विजातीयत्वाभिमतयोः पयःपावकयोः सत्त्वादिना सजातीययोरपि [३]तदनुपगमात् [४]कथञ्चिद्विजातीययोरपि [4]मृत्पिण्डघटाकारयोः[५] पार्थिवत्वादिना विशिष्ट-सामान्येन सजातीययोरुपादानोपादेयभावसिद्धेः । [६]कथं[५]तर्हि[७] सजातीयत्वविशेषस्य तत्त्वान्तर-भावेन विरोध इति [८]चेत्तत्त्वान्तरभूतयोस्तदनुपलम्भात्, [९]पूर्वाकारापरित्यागा[6]ऽजहद्वृत्तो-[१०]त्तराकारान्वय[११]प्रत्यय[१२]विषयस्योपादानत्वप्रतीतेः[7], परित्यक्तपूर्वाकारेण द्रव्येणात्मसात्क्रिय-माणोत्तराकारस्योपादेयत्व[१३]निर्ज्ञानादन्यथा[१४]ति[8]प्रसङ्गात्[१५] ।

उपादान उपादेय भाव व्यापक है, वह सजातीय विशेष है । उसके विरुद्ध भिन्न २ तत्त्व रूप से व्याप्त होने से यह "विभिन्न लक्षणत्व" हेतु प्रतिषेध्य (चैतन्य) के अभाव को सिद्ध करता है । यहां सजातीयत्व विशेष मे उपादान-उपादेय भाव का व्यापकपना असिद्ध भी नही है क्योकि विजातीय रूप से स्वीकृत जल और अग्नि मे सत्त्वादि सामान्य धर्मों से सजातीयपना होने पर भी उपादान-उपादेय रूप व्यापकपना आपने नही माना है और जो कथचित् विजातीय भी है ऐसे मृत्पिड और घट के आकार में अर्थात् मृत्पिड द्रव्य है और घट का आकार पर्याय है इस प्रकार द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से विजातीय होने पर भी पार्थिव आदि से विशिष्ट सामान्य धर्म की अपेक्षा से सजातीय भी हैं इस मृत्पिड और घट आकार में उपादान-उपादेय भाव सिद्ध है ।

चार्वाक—पुन. सजातीय विशेष मे तत्त्वातर भाव से विरोध क्यों है ?

जैन—विरोध इसलिए है क्योकि भिन्न २ तत्त्व मे वह उपादान उपादेय भाव नही पाया जाता है ।

[उपादान का लक्षण]

पूर्वाकार का परित्याग रूप व्यय और उत्तराकार का उत्पाद इन दोनों मे अजहद्वृत्त (अपने मूल

---

१ प्रतिषेध्यस्य चेतनस्याभावसाधनात् । २ नन्वेव तन्वादेर्घटाद्याकारस्य चोपादानोपादेयभावः स्यात्, पार्थिवत्वादि-विशिष्टसामान्यसद्भावाविशेषादिति न शङ्कनीयं, व्यापकस्य सजातीयत्वस्योपादानोपादेयाख्यव्याप्याभावेपि व्यवस्थाना-विरोधात् "व्यापक तदतन्निष्ठ व्याप्य तन्निष्ठमेव च" इत्यादिवचनादित्याशयगर्भमाह नहीति । 'भिन्नलक्षणत्व' हेतौ । ३ सजातीयत्वस्य उपादानोपादेयभावव्यापकत्वानुपगमात् । ४ मृत्त्वघटत्वप्रकारेण । ५ द्रव्यपर्याययो. । ६ चार्वाक. । ७ तर्हि कुत्र सजातीयत्व वर्तते इत्याशङ्कय अन्तर्गूढसजातीयत्वनिमित्तकमुपादानोपादेयभावमाह आचार्यः । ८ जैनः । ९ परित्यागो व्यय. पूर्वाकारपरि—इति पाठान्तरम् । १० उत्पादरूपेण । ११ अन्वयः अनुवर्तनम् । १२ प्रत्ययो ज्ञानम् । १३ पयःपावकयोरप्युपादानोपादेयभावो मास्तु ततः । १४ उक्तप्रकारस्योपादानोपादेयत्वप्रतीत्यभावे । १५ (मेचकादिषु चित्रज्ञानाभावप्रसङ्गात्) ।

---

(1) सजातीयमात्रं व्यापक (2) उपादानोपादेयभावसाधन प्रति । ता । (3) सत्त्वेन, प्रमेयत्वेन, वस्तुत्वेन इत्यादिना लक्षणेन सजातीययोरपि तथापि विजातीयत्वेन अंगीकृतयो. जलानलयो उपादानोपादेयभावश्चार्वाकैर्नांगी-क्रियते । तथाऽस्माभिर्भूतचैतनयोरुपादानोपादेयभावो नागीक्रियते । दि. प्र. (4) मृद्घटाकारयो इति पा, (5) पयः-पावकयोः सत्त्वादिना सजातीयत्वमापादित तर्हि विरोधः कथ स्यादित्याशकायामग्रे प्रत्युत्तरयति । (6) बसः । (7) द्रव्यस्य । (8) पयःपावकयोरप्युपादानोपादेयत्वप्रसगात् ।

[भिन्नलक्षणत्वहेतुर्भिन्नभिन्नतत्त्वेन कथं व्याप्तमिति प्रश्ने सति समाधानं]

कथं तत्त्वान्तरभावेन भिन्नलक्षणत्वं व्याप्तमिति चेत् 'तदभावेनुपपद्यमानत्वात्[१]। [२]किण्वादिमदिरादिपरिणामयोरतत्त्वान्तरभावेपि भिन्नलक्षणत्वस्य[४] दर्शनान्नस्य[५] तेनाव्याप्तिरिति चेन्न, [६]तयोर्भिन्नलक्षणत्वासिद्धेः, किण्वादेरपि मदजननशक्तिसद्भावान्मदिरादिपरिणामवत्। सर्वथा मदजननशक्तिविकलत्वे हि किण्वादेर्मदिरादिपरिणामदशायामपि तद्वैकल्यप्रसङ्गः। [७]नन्वेवं [८]भूतान्तस्तत्त्वयोरपि भिन्नलक्षत्वं मा भूत्, कायाकारपरिणतभूतविशेषावस्थातः प्रागपि क्षित्यादिभूतानां चैतन्यशक्तिसद्भावादन्यथा [1]तदवस्थायामपि चैतन्योद्भूतिविरोधादिति न [2]प्रत्यवस्थेयं, चेतनस्यानाद्यनन्तत्वप्रसिद्धेरात्म[3]वादिनामिष्टप्रति-

स्वभाव को न छोडकर) होता हुआ अन्वयरूप से ज्ञान का विषयभूत पदार्थ है वही उपादान है। क्योंकि पूर्वाकार को जिसने छोड दिया है ऐसे द्रव्य के द्वारा आत्मसात् (ग्रहण) किया गया जो उत्तराकार है उसे ही उपादेय स्वीकार किया गया है। यदि ऐसा न माने तो अतिप्रसंग दोष आजावेगा।

[भिन्न लक्षणत्व हेतु भिन्न-भिन्न तत्त्व से व्याप्त है यह बात कैसे बनेगी ? इसका समाधान।]

शंका— भिन्न तत्त्व के साथ भिन्न लक्षण की व्याप्ति कैसे है ?

समाधान—भिन्न तत्त्व के अभाव मे भिन्न लक्षण भी नही पाया जाता है।

चार्वाक— किण्वादि (मदिरा के लिये कारण भूत गुड, आटा, महुआ आदि) और मदिरा परिणाम इन दोनो मे भिन्न तत्त्व का अभाव होने पर भी भिन्न लक्षणपना देखा जाता है अर्थात् कारणभूत गुड महुआ आदि मे स्वतन्त्र रूप से मद को उत्पन्न करने की शक्ति नही है और मदिरा परिणाम मे मदजनक शक्ति विद्यमान है अतः दोनो का लक्षण भिन्न २ पाया जाता है। इसलिये भिन्न लक्षणत्व हेतु की भिन्न तत्त्व के साथ अव्याप्ति है।

जैन—ऐसा नही कह सकते। किण्वादि और मदिरा में भिन्न लक्षण की असिद्धि है। किण्वादिक (गुड़, महुआ, आटा) में भी मद को उत्पन्न करने की शक्ति का सद्भाव है, मदिरा आदि रूप से परिणत द्रव्य के समान। क्योंकि सर्वथा मद को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित होने पर आटा, गुड़, महुआ आदि पदार्थ मदिरा रूप से परिणत अवस्था में भी मद को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित हो जावेंगे।

चार्वाक—पुनः इस प्रकार से भूत और अंतरतत्त्व (चैतन्य) में भी भिन्न-लक्षण न होवे क्योंकि

१ तत्त्वान्तरभावाभावे। २ भिन्नलक्षणत्वस्य। ३ चार्वाकः। किण्वादि, कारणरूपपिष्टगुडधातक्यादि। ४ मदशक्त्यजनकत्वस्य मदशक्तिजनकत्वस्य च। ५ (भिन्नलक्षणत्वस्य तत्त्वान्तरभावेन सह)। ६ किण्वादिमदिरादिपरिणामयोः। ७ (किण्वादेर्मदजननशक्तिसद्भावप्रकारेण। ८ (अन्तरतत्त्व हि चित्)।

(1) अन्यथा चैतन्यशक्त्यसद्भावे कायाकारपरिणत भूतविशेषावस्थामपि चैतन्योत्पत्तिर्विरुद्धयते इत्युक्तवतं चार्वाकं प्रत्याह जैन.। इय प्रतिकूलता न किंतु अस्मदभीष्टसिद्धि. कस्मादात्मवादिनामभीष्टस्थापनात्। दि. प्र.। (2) न पूर्वपक्षीकरणीय। (3) ता।

ष्ठानात् । न चैवं चैतन्यं भूतविवर्तः, [1]क्षित्यादितत्त्वस्यापि [2]तद्विवर्त्तत्वप्रसङ्गात्, अनाद्य-[१]नन्तत्वाविशेषात् । ततो भिन्नलक्षणत्वं तत्त्वान्तरत्वेन व्याप्तं भूतचैतन्ययोस्तत्त्वान्तरत्वं साधयत्येव । इति [२]चैतन्यपरिणामोपादान[3] एवाद्यचैतन्यपरिणामः [4]प्राणिनामन्त्यचैतन्योपादेयश्च[३] जन्मान्तराद्यचैतन्यपरिणामः सिद्धः[5] ।

शरीराकार से परिणत भूत विशेषावस्था से पहले भी पृथ्वी, जल आदि भूतो मे चैतन्य शक्ति का सद्भाव है । अन्यथा शरीराकार परिणत अवस्था में भी चैतन्य की उत्पत्ति का विरोध हो जावेगा ।

जैन– इस प्रकार नहीं कहना चाहिये क्योंकि चैतन्य के अनादि अनतपना सिद्ध है और सभी आत्मवादियों को यह बात इष्ट है और इस प्रकार चैतन्यतत्त्व, भूतचतुष्टय की पर्याय नही है अन्यथा पृथ्वी आदि तत्त्व को भी चैतन्य की पर्याय का प्रसग आ जावेगा क्योंकि दोनो में ही अनादि अनतपना समान है । इसीलिये "भिन्न लक्षण" हेतु भिन्न तत्व से व्याप्त है और वह भूतचतुष्टय और चैतन्य को भिन्न-भिन्न तत्त्व सिद्ध ही करता है । इस प्रकार प्राणियों का आद्य चैतन्य परिणाम ही पूर्व चैतन्य परिणाम (जन्म) के उपादान पूर्वक है और अन्त्य चेतन्य उपादेय है तथा अगले जन्म मे जन्म के लिये मरण के वाद का चैतन्य ही उपादान रूप है उसे ही आद्य चैतन्य परिणाम कहते है यह बात सिद्ध हुई ।

भावार्थ—चार्वाक चैतन्य और भूत चतुष्टय को एक तत्त्व सिद्ध करने में लगा हुआ है । उसका कहना है कि भले ही जीव और भूत का लक्षण भिन्न-भिन्न हो फिर भी दोनों एक तत्त्व है । जैसे गुड़, महुआ, आटा आदि मदिरा के लिये साधनभूत पदार्थ है । इनमे मादक शक्ति नही है और सभी के सम्मिश्रण से इन्ही का मदिरा रूप परिणमन होकर इनमें मादकता आ जाती हैं और पीने वालो को वह उन्मत्त बना देती है । पृथक्-पृथक् गुड महुआ या आटे की रोटी खाने वालो में ऐसा विकार या नशा नही होता है । अतः ये महुआ आदि पदार्थों का लक्षण भिन्न है और मदिरा का लक्षण भिन्न है फिर भी दोनों एक तत्त्व है वैसे ही यद्यपि आत्मा का लक्षण जानना देखना है और भूत चतुष्टय का लक्षण स्पर्श, रस, गध, वर्ण रूप है फिर भी लक्षण भेद से ये दोनों पृथक् न होकर एक ही है ।

इस पर आचार्य ने अच्छी तरह समझाया है कि भाई ! गुड़, महुआ, आटा आदि जड रूप अचेतन पुद्गल द्रव्य की पर्याये है और इनमें मदिरा बनने के पहले भी शक्ति रूप से मादकता विद्यमान है तभी

१ उभयत्रापि । २ पूर्वचैतन्यमुपादानम् । ३ अन्त्यचैतन्यस्योपादेयो भविष्यज्जन्माद्यचैतन्यपरिणाम. ।

(1) अन्यथा । (2) नन्वनादित्वाविशेषेऽपि चैतन्य भूतविवर्तः शक्तित्वात् ननु क्षित्यादिस्तद्विवर्तः शक्तिमत्त्वात् । मदजननविवर्तो न तु मदिरादिस्तद्विवर्त. तत. क्षित्यादितत्त्वस्य तत्प्रसगो न स्यादिति नाशकनीय । अभिप्रायविशेषात् । अयं ह्यभिप्रायविशेषः प्राक्प्रपचेन निरारेक समर्थितेन स्वसवेदनाख्यभिन्नलक्षणत्वेन तत्त्वातरत्व चैतन्यस्य व्यवस्थापितं । तथापि तस्य क्षित्यादिविवर्तत्वे क्षित्यादेरपि चैतन्यविवर्तत्वप्रसग. स्यात् । न चैव मदजननशक्तेर्मदिरादिविवर्तत्वे मदिरादेस्तद्विवर्तत्वप्रसंगःस्यात्तस्याभिन्नलक्षणत्वेन तत्त्वातरत्वासिद्धेरिति—दि. प्र. । (3) बस. । (4) ता । कार्यभूतः (5) एवं प्राक्तनचैतन्यस्योत्तरचैतन्य प्रत्युपादानभावेऽपि कथ ससार. इत्याह ।

संम्मिश्रण होने से मादकता श्रा जाती है अन्यथा यदि इनमें शक्ति ही नहीं होती तो मिलने पर भी वह कहां से प्रकट होती ।

जैनाचार्य तो दूध में घी को शक्ति रूप से एवं आत्मा में परमात्मा को शक्ति रूप से मानते हैं । देखो ! जन्म लेते ही बालक में बैरिस्टर, डाक्टर, इजीनियर, मास्टर आदि की शक्ति विद्यमान है इसीलिये बड़ा होने पर निमित्त मिलने से वैसा बन जाता है । अतः आटा, महुआ आदि मदिरा से भिन्न तत्त्व नहीं हैं वे सभी अचेतन रूप ही है, किन्तु आत्मा सर्वथा ही इन भूत चतुष्टयों से विलक्षण ज्ञान दर्शन स्वरूप चेतन है । आश्चर्य इस बात का है कि यह चार्वाक भूत चतुष्टय में चारो को परस्पर में भिन्न-भिन्न मानता है और आत्मा एवं भूत चतुष्टय को एक सजातीय द्रव्य मानता है जबकि ये चारो ही भूतचतुष्टय पुद्गल की अपेक्षा सजातीय एक द्रव्य है एव आत्मा इनसे भिन्न विलक्षण द्रव्य है । यह आत्मा अनादि अनत है और मरण के बाद आगे गर्भावस्था में आने के लिए उपादान भूत है । जैसे कि जवानी अवस्था के चैतन्य में बाल्यावस्था का चैतन्य उपादान रूप है ऐसा समझना चाहिये ।

चार्वाक, मीमांसक और नैयायिक ज्ञान को स्वसंविदित नहीं मानते हैं उनके खंडन का सारांश

अस्वसंविदित ज्ञानवादी कहता है कि "ज्ञान स्वसंविदित नही है फिर भी बाह्य पदार्थों का प्रकाशक है जैसे कि दीपक आदि अस्वसंविदित होकर भी बाह्य पदार्थ के प्रकाशक देखे जाते है।

जैनाचार्य कहते है कि प्रदीप आदि तो अचेतन है अत. बाह्य पदार्थ को जानने वाले नही है मात्र ज्ञान की उत्पत्ति में कारण है, किन्तु ज्ञान तो बाह्य पदार्थों को जानने वाला भी है और स्वसंवेदन लक्षण वाला है। सुखादि ज्ञान भी अपने से बहिर्भूत सुखादि के जानने वाले है कथचित् वे भी बाह्य ही है।

सुखादि सातावेदनीय के उदय से हुए है एव ज्ञान ज्ञानावरण के क्षयोपशम से हुआ है अतः सुख और सुख का ज्ञान कथचित् भिन्न ही है। एव सभी ज्ञान स्वपर परिच्छेदक माने गये है।

कोई कहे कि 'स्वात्मनि क्रियाविरोधात्" नियम से ज्ञान स्व को कैसे जानेगा ? इस पर आचार्य प्रश्न करते है कि स्वात्मा में धात्वर्थ लक्षण क्रिया का विरोध है या परिस्पदात्मक क्रिया का ? प्रथम पक्ष तो ठीक नही है कारण कि "पृथ्वी अस्ति" इत्यादि रूप से अस्तित्व आदि क्रिया का विरोध हो जाने से सभी का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा।

यदि दूसरा पक्ष लेवे तो क्रिया का स्वात्मा कौन है ? क्रिया का स्वरूप या क्रियावान् आत्मा अर्थात् करना, बनाना आदि अर्थ रूप क्रिया ? यदि क्रिया का स्वरूप कहे तो अपने स्वरूप का कोई विरोधी नही है। दूसरे पक्ष में भी क्रियावान् द्रव्य में ही क्रिया पाई जाती है। तीसरे पक्ष में करने, बनाने रूप क्रिया स्वात्मा में कोई भी मानते ही नही है। अतः ज्ञान रूप क्रिया का स्वात्मा में विरोध न होने से सभी ज्ञान स्वसंवेदी है यह बात सिद्ध हो जाती है।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष से ज्ञान स्वपर प्रकाशक है प्रदीपादि के समान। तथा इस ज्ञान लक्षण से ही आत्म तत्त्व की सिद्धि हो जाने से ससार और मोक्ष एवं उनके कारण भी सिद्ध ही हो जाते हैं।

[1]पूर्वभवपरित्यागेन भवान्तरपरिग्रह एव च संसारः। इति प्रसिद्धेन[१] प्रमाणेन संसारतत्त्वं न [2]बाध्यते, [२]नानुमानेन, [3]नाप्यागमेन, तस्य तत्प्रतिपादकतया [4]श्रुतेः "संसारिणस्त्रसस्थावराः" इति वचनात्।

[संसारस्य कारणभूततत्त्वाना विचारः]

तथा संसारोपायतत्त्वमपि[३] न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य तदबाधकत्वात्। निर्हेतुकः संसारोऽनाद्यनन्तत्वादाकाशवदित्यनुमानेन[5] तद्बाध्यते इति चेन्न, पर्यायार्थादेशा[४]त्ससारस्यानाद्यनन्तत्वासिद्धेः, दृष्टान्तस्यापि [6]साध्यसाधनविकलत्वाद्, [7]द्रव्यार्थादेशात्तु [५]तस्य [६]तथासाधने सिद्धसाध्यतानुपक्तेः। [8]सुखदुःखादि[७]भावविवर्त्तन[9]लक्षणस्य[८] संसारस्य [10]द्रव्यक्षेत्र-

पूर्वभव का परित्याग करके भवातर को ग्रहण करना ही ससार है। इस प्रकार प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से ससार तत्त्व बाधित नही होता है तथा उपर्युक्त कथन को सिद्धि से अनुमान के द्वारा भी ससार तत्त्व बाधित नही है और न आगम से ही बाधित है क्योकि आगम तो "ससारिणस्त्रसस्थावराः" इस प्रतिपादक रूप सूत्र से प्रसिद्ध ही है।

[ससार के कारणभूत तत्त्वो का विचार]

तथा संसार के कारणभूत तत्त्व भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नही है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण उन कारणो को सिद्ध करने मे अबाधित रूप से पाया जाता है।

शका—"ससार निर्हेतुक है क्योकि वह अनादि अनत है जैसे आकाश।" इस अनुमान से ससार के कारण बाधित है।

समाधान—ऐसा नही कह सकते क्योकि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से ससार की अनादि अनतता असिद्ध है। और 'आकाशवत्' यह दृष्टात भी साध्य साधन विकल है। यदि आप द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से कहे तो ससार अनादि अनत ही है। अतः सिद्ध साध्यता का प्रसग आता है और सुख दुःखादि भाव रूप परिणमन लक्षण वाला ससार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप पाच भेद विशेषों से सहेतुक ही प्रतीति मे आ रहा है। अतः ससार को अहेतुक सिद्ध करने वाला आपका अनुमान निर्दोष नही है इसलिये ससार के कारण तत्त्वों का बाधक कोई भी अनुमान नही है तथा आगम भी

१ प्रत्यक्षेण। २ अनुपलब्धेरिति पूर्वोक्तचार्वाकानुमानेन। ३ उपायः, कारणम्। ४ पर्यायार्थिकनयापेक्षया। ५ ससारस्य। ६ नित्यत्वेन। ७ भावः परिणामः। ८ सुखदुःखादय एव भावाः परिणामास्तेषा विवर्तनं तदेव लक्षणं यस्य।

(1) स्वोपात्तकर्मवशात्। (2) पूर्वं चार्वाकोपन्यस्तेनानुपलब्धिलिंगजनितेन। (3) प्रसिद्धप्रामाण्येन। (4) श्रवणात्। (5) काल। (6) नरनारकादिकथनात्। (7) आत्म। (8) यसः। ता बहुः। (9) भावपरिवर्तन इति पा०। (10) आत्म।

कालभावभव[1]विशेषहेतुकत्वप्रतीतेश्च नाहेतुकसंसारसाधनानुमानमनवद्यम् । इति न किञ्चिदनुमानं संसारोपायतत्त्वस्य बाधकम् । [1]नाप्यागमः, तस्य तत्साधकत्वात् "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः" इति वचनात्, बन्धहेतूनामेव संसारहेतुत्वात् । तदेवं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वं भगवतोभिमतं प्रसिद्धेन प्रमाणेन युक्तिशास्त्राभ्यामबाध्यं सिध्यत्तद्वाचो युक्तिशास्त्राविरोधित्वं साधयति, [2]तच्च [3]निर्दोषत्वम् । इति त्वमेव स [2]सर्वज्ञो

उसका बाधक नही है क्योंकि आगम तो ससार के कारणो का साधक ही है । "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बधहेतवः" इस प्रकार सूत्र है, क्योंकि बध के कारण ही ससार के कारण है ।

भावार्थ- -यहां जैनाचार्य ससार को सहेतुक सिद्ध करते है तब यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि जब ससार अनादि है तब कारणो से उत्पन्न हुआ कैसे होगा ? और कारणो से उत्पन्न नही होगा तब उस संसार का अत भी कैसे हो सकेगा ।

इस प्रकार प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते है कि हम ससार को सर्वथा अनादि अनत नही मानते है क्योकि हम स्याद्वादी है । कथंचित् द्रव्यदृष्टि से ससार अनादि अनत है एव पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सादि सात है । यद्यपि आत्मा के साथ कर्मो का सबध अनादिकाल से ही है फिर भी उस कर्म बध के कारण आत्मा के रागादि परिणाम है और रागादि परिणामों के लिये कारणभूत वह कर्म का उदय है अतः यह पंच परिवर्तन रूप संसार सहेतुक ही है और जब सहेतुक है तब इसके हेतुओ का नाश करने से ससार का भी नाश हो जाता है । संसार के हेतु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय योग अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र है ।

संसार का यह नाश कतिपय भव्य जीवों की अपेक्षा ही कहा गया है क्योंकि ससार में इतनी जीव राशि है कि जिसमें से अनतानत काल से अनतानत जीव मोक्ष को प्राप्त कर चुके है और भविष्य में भी अनंतानत जीव मोक्ष जाते रहेंगे फिर भी आगामी अनतानत काल तक भी जीवराशि कम नहीं होगी, न सिद्धों में वृद्धि की ही समस्या आवेगी क्योंकि यदि अनत का भी अंत हो जावे फिर वह अनत कैसे कहा जावेगा । अत यह ससार अहेतुक नही है और न केवल स्वयं की भूल से ही है यह तो कर्मोदय निमित्तक भी है और मिथ्या, अविरति आदि निमित्तक भी है ।

प्रत्येक कार्यों के लिये अनेक कारण होते है । द्रव्य कर्मों का उदय और मिथ्या, अविरति आदि रूप परिणाम ये दोनों ही कारण ससार के कारण है । यहा जो दिखता है उसे ही ससार नही समझना, प्रत्युत जो भवाँतर की प्राप्ति है वह संसार है इसीलिये "ससरण ससारः" यह व्युत्पत्ति अर्थ सार्थक है ।

इस प्रकार भगवान के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष, ससार एव उन दोनों के कारणभूत तत्त्व भगवान

१ द्रव्यक्षेत्रकालभावभवभेदात्पञ्चधा ससार । २ युक्तिशास्त्राविरोधित्वम् । ३ साधयतीत्यध्याहार्य पदम् ।

(1) प्रसिद्धप्रामाण्यः । (2) साधित. सत् ।

वीतरागश्च स्तोतुं युक्तो नान्य[१] [1]इत्युच्यते ।

[दूरवर्तिपदार्था यस्य प्रत्यक्षाः सति सोऽर्हन् भवानेव]

विप्रकर्ष्यपि भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना[2] कस्यचित्प्रत्यक्षं सोऽत्र भवानर्हन्नेव[२]* । [३]दृश्यलक्षणाद्भिन्नल[3]क्षणमदृश्यस्वभावस्तत्सम्बन्धित्वेन विप्रकर्षि परमाण्वादिकम्[४] । तथा वर्त्तमानात्कालाद्भिन्न. कालोतीतोनागतश्च, तत्सम्बन्धित्वेन रावणशङ्खादि[५] । तथा दर्शनयोग्याद्देशाद्भिन्नदेशो[4]ऽनुपलब्धियोग्यस्तत्सम्बन्धित्वेन [६]मकराकरादि । तद्भिन्न-लक्षणसम्बन्धित्वादिना[5] स्वभावकालदेशविप्रकर्ष्यपि[७] कस्यचित्प्रत्यक्षं साधितम् । सोत्र[6] भवानर्हन्नेव, न पुनः कपिलादय इति । एतत्कुतो निश्चितमिति चेत्, [7]**अन्येषां न्यायागम-विरुद्धभाषित्वात्** * । ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषा यथा [8]दुर्वैद्यादय, तथा चान्ये

के इष्ट तत्त्व है जो कि प्रसिद्ध प्रमाण से एवं युक्ति और शास्त्र से अबाधित रूप सिद्ध होते हुये भगवान् के वचनो को युक्ति शास्त्र से अविरोधी ही सिद्ध करते है एव युक्ति-शास्त्र से अविरोधीपना ही भगवान् के निर्दोषत्व को सिद्ध करता है । इसलिये हे भगवन् ! वे निर्दोष सर्वज्ञ वीतराग आप ही स्तवन करने योग्य है अन्य बुद्ध कपिल आदि नही है इस प्रकार कहा जाता है ।

[दूरवर्ती पदार्थ जिसके प्रत्यक्ष है वे अर्हंत आप ही है]

भिन्न लक्षण सबंधी आदि रूप से विप्रकर्षी भी पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं यहां वे अर्हंत भगवान् आप ही हैं ।

दृश्य लक्षण (घटादि) से जिनका लक्षण भिन्न है ऐसे अदृश्य स्वभाव वाले पदार्थ अर्थात् अदृश्य स्वभाव संबंधी विप्रकर्षी (परोक्ष-दूरवर्ती) पदार्थ परमाणु आदिक है एव पिशाचादिक स्वभाव विप्रकृष्ट हैं । तथा वर्तमान काल से भिन्न अतीत और अनागत काल हैं उन संबधी रावण, शख, चक्रवर्ती आदिक काल विप्रकृष्ट है तथैव देखने योग्य देश से भिन्न देश, अनुपलब्धि योग्य है तत्सबधी अर्थात् उन दूर देश सबधी लवण समुद्र आदि देश विप्रकृष्ट हैं । उस दृश्य से भिन्न लक्षण सबंधी आदि रूप स्वभाव से, काल से एवं देश से विप्रकर्षी—दूरवर्ती भी पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं यह सिद्ध किया है इस विषय में वे अर्हंत आप ही है, न कि बुद्ध कपिलादिक ।

यह निश्चय आपने कैसे किया ? ऐसा प्रश्न होने पर **अन्य सभी न्याय और आगम से विरुद्ध बोलने वाले हैं ।"** जो न्याय और आगम से विरुद्ध बोलने वाले है वे निर्दोष नही है जैसे दुर्वैद्य आदि ।

१ बुद्धादिः । २ भगवानिति पाठान्तरम् । ३ घटादे । ४ आदिशब्देन पिशाचादि । ५ शङ्खः, शङ्खचक्रवर्ती । ६ विप्रकर्षि । ७ दूरतामापन्नमपि ।

(1) मया । भट्टाकलकदेवै —दि. प्र. । (2) काल देश । (3) घटादेः । (4) देशांतर ।(5)च इति पाठोधिकः । दि. प्र. । (6) जगति । (7) कपिलादीना—दि प्र. । (8) कपिलादयः पक्षः न भवन्तीति साध्यो धर्मः, न्यायागमविरुद्धभाषित्वात् । ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषाः दुर्वैद्यदुर्नैमित्तिकादयः न्यायागमविरुद्धभाषिणश्चैते तस्मान्न निर्दोषाः—दि, प्र, ।

कपिलादय इत्यनुमानान्न्यायागमाविरुद्धभाषिण एव भगवतोर्हतो निर्दोषत्वमवसीयते। न चात्र न्यायागमविरुद्धभाषित्वं[1] कपिलादीनामसिद्धं, तदभिमतस्य मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वस्य प्रसिद्धेन प्रमाणेन बाधनात्।

[सांख्याभिमतमोक्षस्य निराकरणं]

तत्र कपिलस्य [2]तावत्स्वरूपे चैतन्यमात्रेवस्थानमात्मनो मोक्ष इत्यभिमतं¹ तत्प्रमाणेन बाध्यते, चैतन्यविशेषेनन्तज्ञानादौ स्वरूपेवस्थानस्य मोक्षत्वसाधनात्² । न ह्यनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूपं, [3]सर्वज्ञत्वादिविरोधात्। [4]प्रधानस्य सर्वज्ञत्वादि स्वरूपं, नात्मन इति चेन्न, तस्या[5]चेतनत्वादाकाशवत्। ³ज्ञानादेरप्य[6]चेतनत्वादचेतनप्रधानस्वभावत्वं युक्तिमेवेति

उसी प्रकार से न्याय-आगम से विरुद्ध बोलने वाले अन्य कपिल आदि हैं।" इस अनुमान से न्यायागम—युक्ति और आगम से अविरुद्ध भाषी होने से ही भगवान् अर्हत निर्दोष है यह निश्चित होता है।

यहां कपिलादि न्याय-आगम से विरुद्ध भाषी है यह बात असिद्ध भी नही है क्योंकि उनके द्वारा अभिमत मोक्ष, ससार और उन-उनके कारण तत्त्वों में प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधा आती है।

[सांख्य द्वारा मान्य मोक्ष का खंडन]

सांख्य— अपने चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है अर्थात् प्रकृति और पुरुष का भेद विज्ञान होने से प्रकृति की निवृत्ति हो जाने पर पुरुष का सुषुप्त पुरुषवत् अव्यक्त चैतन्य उपयोग रूप से स्वरूप में अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है।

जैन—आपका यह अभिमत भी प्रमाण से बाधित है क्योंकि हम जैनों के यहां चैतन्य विशेष अनतज्ञान आदि रूप स्वरूप में अवस्थान होने को मोक्ष सिद्ध किया है। एवं अनंतज्ञान आदि आत्मा के स्वरूप नहीं हैं ऐसा नहीं कह सकते, अन्यथा सर्वज्ञत्व आदि का विरोध हो जावेगा।

सांख्य—सर्वज्ञत्व आदि प्रधान का स्वरूप है आत्मा का नहीं है।

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि प्रधान अचेतन है आकाश के समान।

सांख्य—ज्ञानादि भी अचेतन हैं अतः उन्हें अचेतन रूप प्रधान का स्वभाव मानना युक्त हो है।

जैन—यदि ऐसा आपका कथन है तो यह बताइये कि आप किस प्रमाण से ज्ञानादि को अचेतन

१ प्रकृतिपुरुषयोर्भेदविज्ञानात् प्रकृतिनिवृत्तौ पुरुषस्य सुषुप्तपुरुषवदव्यक्तचैतन्योपयोगेन स्वरूपमात्रावस्थानलक्षणो मोक्ष इति सांख्याभिमतम्। २ जैनैः। ३ सांख्यः।

(1) विरुद्धत्वं इति पा.—दि. प्र। (2) भावस्वरूपेइति पा.—दि. प्र.। (3) अन्यथा। (4) अकर्त्ता निर्गुणो शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः। अमूर्त्तश्चेतको भोक्ता ह्यात्मा कपिलशासने॥ (5) तेषां ज्ञानादीनां अचेतनत्वं कस्मादिति स्याद्वादी पृच्छति। पर आह। ज्ञानादयः पक्षः अचेतना भवंतीति साध्यो धर्मः उत्पत्तिमत्त्वात्। ये उत्पत्तिमंतस्ते ऽचेतना यथा घटादयः। उत्पत्तिमंतश्चेमे तस्मादचेतना भवंति। आह जैनः उत्पत्तिमत्वादिति हेतोरनुभवेन कृत्वा व्यभिचारो घटते। कस्मात्? यतः अनुभवस्य चेतनत्वेऽप्युत्पत्तिमत्वं दृश्यते—दि. प्र.। (6) दर्शनादि।

चेत् [1]कुतस्तदचेतनत्वसिद्धिः ? अचेतना ज्ञानादय उत्पत्तिमत्त्वाद् घटादिवदित्यनुमानादिति चेन्न हेतोरनुभवेन[2] व्यभिचारात्, तस्य चेतनत्वेप्युत्पत्तिमत्त्वात् । कथमुत्पत्तिमाननुभव इति [3]चेत्परापेक्षत्वाद् बुद्ध्यादिवत् । परापेक्षोसौ[4] बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वात् "बुद्ध्यध्यवसितमर्थं[5] [6]पुरुषश्चेतयते" इति (1)वचनात् । बुद्ध्यध्यवसितार्थानपेक्षत्वेनुभवस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य पुंसोनुभवप्रसङ्गात् सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्ते[7]स्तदुपायानुष्ठानवैयर्थ्यमेव स्यात् । यदि पुनरनुभवसामान्यमात्मनो नित्यमनुत्पत्तिमदेवेति [8]मतं तदा ज्ञानादिसामान्यमपि नित्यत्वादनुत्पत्तिमद्भवेदित्यसिद्धो(2) हेतुः[9] । ज्ञानादिविशेषाणामुत्पत्तिमत्त्वान्नासिद्ध इति चेत्तर्ह्यनुभववि-

सिद्ध करते है ?

सांख्य—"ज्ञानादि अचेतन है क्योंकि वे उत्पत्तिमान् हैं घटादि के समान ।" इस अनुमान से ज्ञान आदि अचेतन सिद्ध हैं ।

जैन—यह कथन ठीक नही है क्योंकि आपका हेतु अनुभव के साथ व्यभिचारी है । वह अनुभव चेतन होने पर भी उत्पत्तिमान् है ।

सांख्य—अनुभव उत्पन्न होने वाला कैसे है ?

जैन—यह अनुभव पर की अपेक्षा रखता है इसलिये उत्पत्तिमान् है जैसे बुद्धि पर की अपेक्षा रखती है अत. उत्पत्तिमान् है । यह साक्षात्कार लक्षण वाला अनुभव पर की अपेक्षा वाला है क्योंकि बुद्धि के अध्यवसाय (निश्चय) की अपेक्षा रखता है । "बुद्धि के द्वारा निश्चित हुये पदार्थ को पुरुष जानता है" — इस वचन से जाना जाता है । यदि अनुभव बुद्धि से निश्चित पदार्थ की अपेक्षा न रखे तो सभी जगह सभी काल में सभी पुरुष के अनुभव का प्रसग आ जावेगा । पुनः सभी सर्वदर्शी (सर्वज्ञ) हो जावेंगे और फिर सर्वज्ञ बनने के लिये उपायों के अनुष्ठान व्यर्थ ही हो जावेंगे ।

सांख्य—आत्मा का जो अनुभव सामान्य है वह नित्य है उत्पत्तिमान् नहीं है ।

जैन—यदि आपका यह मत है तब तो ज्ञानादि सामान्य भी नित्य होने से उत्पत्तिमान् न होवे । अतः आपका "उत्पत्तिमान्" हेतु असिद्ध हो जाता है ।

सांख्य—आप जैन के यहा ज्ञानादि सामान्य भले ही उत्पत्तिमान् न होवे किन्तु ज्ञानादि विशेष तो

१ सिद्धान्ती । पृच्छति । २ पुरुषस्य बुद्धिप्रतिबिम्बितार्थदर्शनमनुभव । ३ जैन. । ४ साक्षात्करणलक्षणोनुभवः ५ प्रतिबिम्बितं निश्चित वार्थम् । ६ जानाति । ७ तस्य सर्वदर्शित्वस्योपायाना कारणानां ध्यानमौनादीनामनुष्ठानस्य वैयर्थ्यम् । ८ सांख्यस्य । ९ उत्पत्तिमत्त्वादिति ।

(1) इन्द्रियाण्यर्थमालोचयंति तदालोचितं मनः संकल्पयति तत्संकल्पितमहंकारोऽभिमन्यते तदभिमतं बुद्धिरध्यवस्यति तदध्यवसित च पुरुषश्चेतयते इति सांख्यमतक्रमः । (2) भवत्यसिद्धो इति पा.—दि. प्र. ।

शेषाणामप्युत्पत्तिमत्त्वादनै[1]कान्तिकोसौ कथं न स्यात् ? नानुभवस्य विशेषाः सन्तीति [1]चायुक्तं, [2]वस्तुत्वविरोधात् । तथा हि । नानुभवो वस्तु, सकलविशेषरहितत्वात् खरविषाणवत्[2] । [3]नात्मनानेकान्तः, तस्यापि सामान्यविशेषात्मकत्वादन्यथा तद्वदवस्तुत्वापत्तेः । कालात्ययापदिष्टश्चायं [4]हेतुः, ज्ञानादीना स्वसवेदनप्रत्यक्ष[3]त्वाच्चेतनत्वप्रसिद्धेरध्यक्षबाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तत्वात् ।

उत्पत्तिमान् ही है । अतः हमारा हेतु असिद्ध नही है ।

जैन—तो अनुभव विशेष भी तो उत्पत्तिमान् ही है अत आपका हेतु अनैकातिक क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात् अनुभव उत्पत्तिमान् होते हुये भी चेतन है इसलिये आपका 'उत्पत्तिमान्' हेतु अनुभव में चले जाने से अनैकातिक हो जाता है ।

सांख्य—अनुभव में विशेष है ही नही ।

जैन—यह कथन ठीक नही है अन्यथा वस्तुत्व का विरोध हो जावेगा । तथाहि "अनुभव कोई वस्तु नहीं है क्योंकि वह सपूर्ण विशेषों से रहित है गधे की सीग के समान ।" अर्थात् विशेष रहित सामान्य खर विषाण के समान असत् ही है ।

सांख्य—आत्मा सकल विशेष मे रहित होने पर भी वस्तु है । इसीलिये यह हेतु आत्मा के साथ व्यभिचारी है ।

जैन—नही, आत्मा के साथ भी यह हेतु अनैकांतिक नही है । आत्मा भी सामान्य विशेषात्मक वस्तु है अन्यथा अनुभव के समान वह अवस्तु हो जावेगी । आपका "उत्पत्तिमत्वात्" यह हेतु कालात्ययापदिष्ट भी है क्योंकि ज्ञानादिक स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होने से चेतन रूप प्रसिद्ध है और आपका यह हेतु प्रत्यक्ष से पक्ष के बाधित हो जाने पर प्रयुक्त किया गया है अतः कालात्ययापदिष्ट है ।

भावार्थ—जिस प्रकार से यहा साख्य के द्वारा मान्य मोक्ष का लक्षण बताया है वैसे ही भट्टाकलंकदेव

---

१ (अनुभवस्योत्पत्तिमत्त्वेपि चेतनत्वादनैकान्तिकत्व हेतो., विपक्षेपि हेतुदर्शनात) । २ निर्विशेष हि सामान्य भवेत् खरविषाणवदिति वचनात् । ३ (आत्मन. सकलविशेषरहितत्वेपि वस्तुत्वादनेकान्त इति चेन्न) । ४ उत्पत्तिमत्त्वादिति ।

---

(1) वायुक्त इति पा. । लोके अनुभवस्य विशेषा न सति हे साख्य ! इति त्वदीयवचः अयुक्त कस्मात् वस्तुत्वविरोधात् । अनुभवस्य विशेषाभावे वस्तुत्वं न घटते । तर्हि अनुमानत्वेन यः अनुभवः पक्षः वस्तु न भवतीति साध्यो धर्मः सकलविशेषरहितत्वात् खरविषाणवत् अत्राह परः । सकलविशेषरहितत्वात् अयं हेतुः आत्मना कृत्वा व्यभिचारी कोऽर्थः विशेषरहितोऽप्यात्मा वस्त्विति । इति साख्यमतं । अत्राहार्हत । हे सांख्य ! मम हेतोः आत्मना व्यभिचारो न । तस्यात्मनः सामान्यविशेषात्मकत्वात् अन्यथा सामान्यविशेषात्मकत्वाभावे आत्मनः अवस्तुत्व सभवति—दि. प्र. । (2) निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि ।।*इत्युक्तत्वात् । (3) प्रत्यक्षाच्चेतनेति वा पाठः ।

[चेतनसंसर्गादचेतना अपि ज्ञानादयः चेतनत्वेन प्रतीयंते इति सांख्यमान्यतायाः निराकरणं]

अथ[1] [2]चेतनसंसर्गादचेतनस्यापि ज्ञानादेश्चेतनत्वप्रतीतिः [1]प्रत्यक्षतो भ्रान्तैव[2]। [3]तदुक्तं

ने तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रंथ में भी बताया है। यथा—

"गुणपुरुषांतरोपलब्धौ प्रतिस्वप्नलुप्तविवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्तचैतन्यस्वरूपावस्था मोक्षः" गुण— प्रकृति और पुरुष—आत्मा इन दोनों का भेद विज्ञान हो जाने पर सुप्तावस्था में लुप्त हुये विवेक ज्ञान के समान चैतन्य स्वरूप की प्रकटता के न होने रूप अवस्था का हो जाना ही मोक्ष है! अर्थात् सामान्य चैतन्य मात्र में अवस्थान हो जाना मोक्ष है ऐसी उसकी कल्पना है।

सांख्य का कहना है कि ज्ञान तो प्रकृति का धर्म है, प्रकृति से भेद हो जाने के बाद आत्मा से ज्ञान का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, आत्मा ज्ञान शून्य हो जाती है। आत्मा का स्वरूप अचेतन है जैसे कि आकाशादि अचेतन प्रसिद्ध हैं।

इस बात पर जैनाचार्यों ने ज्ञानादि को चेतन एवं आत्मा के गुण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस पर पुनः सांख्य का कहना है कि ज्ञान, सुख आदि उत्पन्न होते हैं, अनित्य हैं, अतएव अचेतन हैं क्योंकि आत्मा तो कूटस्थ नित्य अपरिणामी है उसके गुण अनित्य कैसे हो सकेंगे?

इस पर जैनाचार्य आत्मा को सर्वथा नित्य नहीं मानते हैं एवं गुणों को सर्वथा अनित्य नहीं मानते हैं। वे आत्मा को कथंचित् अनित्य सिद्ध करते है एव कथचित् गुणो को भी नित्य सिद्ध कर देते हैं। सामान्यतया आत्मा द्रव्य है, नित्य है, ज्ञान गुण भी नित्य है क्योकि ज्ञान गुण से ही आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है एवं कथंचित् मति, श्रुत आदि ज्ञानों की अपेक्षा ज्ञान उत्पत्तिमान् भी है और आत्मा भी नर नारकादि पर्यायों की अपेक्षा उत्पत्तिमान् है। सांख्य अनुभव को आत्मा का स्वभाव मानता है किंतु वास्तव में देखा जावे तो ज्ञान के बिना अनुभव नाम की चीज भला और क्या होगी? अतः ज्ञान स्वसंवेदन सिद्ध आत्मा का स्वभाव है। वह प्रकृति का धर्म नहीं है और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य स्वरूप अनंत गुणों को प्रकट कर लेना ही मोक्ष है न कि ज्ञान से शून्य हो जाना। क्योंकि ज्ञान से रहित मोक्ष का अनुभव भी भला किसको हो सकेगा और कौन उसे प्राप्त करना चाहेगा? यदि कोई किसी को कहे कि भैया! तुम हमारा सब राज्य पाट ले लो किंतु अपने प्राण हमें दे दो तब वह तो यही कहेगा कि भाई! मरने के बाद आपके राज्य सुख का उपभोग कौन करेगा? ऐसे ही ज्ञान के बिना आत्मिक सुखों का उपभोग भी कौन कर सकेगा? अतः ज्ञान को आत्मा का ही स्वभाव मान लेना चाहिए।

[चेतन के संसर्ग से अचेतन भी ज्ञानादि चेतन रूप से प्रतीत होते हैं सांख्य की ऐसी मान्यता का निराकरण]

सांख्य—चेतन-आत्मा के संसर्ग से अचेतन ज्ञानादि भी प्रत्यक्ष में चेतन रूप से प्रतीति में आते हैं

१ साङ्ख्यः। २ आत्मसंसर्गात्। ३ साङ्ख्यग्रन्थे।

(1) प्रत्यक्षतो जायमाना प्रतीतिः। (2) ननु भो जैन! चैतनत्वप्रतीतिर्ज्ञानादीनां पारमार्थिकी न भवति किंतु भ्रान्तैव चेतनसंसर्गाच्चेतनत्वप्रतीतेरुपचारात्।

“[१]तस्मात्त[२]त्संसर्गादचेतनं[1] [2]चेतनवदिह[3] [३]लिङ्गम्” इति । [४]तदप्यचर्चिताभिधानं,[4] शरीरादेरपि चेतनत्वप्रतीतिप्रसङ्गाच्चेतनसंसर्गाविशेषात्[५] । शरीराद्यसंभवी बुद्ध्यादेरात्मना संसर्गविशेषोस्तीति चेत्स कोन्योन्यत्र कथंचित्तादात्म्यात्, ‘[६]तददृष्टकृतकत्वादिविशेषस्य[5] शरीरादावपि भावात् । ततो नाचेतना ज्ञानादयः, स्वसंविदितत्वादनुभववत् । [७]स्वसंविदितास्ते, [6]परसंवेदनान्यथानुपपत्तेरिति [7]प्रतिपादितप्रायम् । तथा[8] चात्मस्वभावा[८] ज्ञानादयः, चेतनत्वादनुभववदेव । इति न चैतन्यमात्रेवस्थानं मोक्षः, अनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेवस्थानस्य मोक्षत्वप्रतीतेः ।

परन्तु वह प्रतीति भ्रांत ही है । कहा भी है—

तस्मात्तत्संसर्गादचेतन चेतनवदिह लिग ” अर्थात् उस चेतन आत्मा के संसर्ग से अचेतन ज्ञानादि चेतनवत् दीखते है ऐसा जानना चाहिये ।

जैन—आपका यह कथन भी विचारशून्य है । इस प्रकार से तो शरीरादि में भी चेतनत्व की प्रतीति का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि चेतन का ससर्ग तो शरीर में भी है ।

सांख्य—शरीरादिकों में नही पाया जाने वाला ऐसा आत्मा का संसर्ग विशेष बुद्धि आदि के साथ में है । अतः ये बुद्धि आदि चेतन रूप प्रतिभासित होते है, किंतु शरीर चेतन रूप प्रतिभासित नही हो सकता है ।

जैन—तो भाई ! कथंचित् तादात्म्य को छोड़कर वह कौनसा ससर्ग विशेष है ? कहिये तो सही ।

सांख्य—उस आत्मा के अदृष्ट (पुण्य-पापादि) कृतकत्व आदि विशेष है वे शरीरादि में असभवी हैं—नही पाये जाते है ।

जैन—नहीं, ये सब शरीरादि में भी पाये जाते हैं । इसीलिये “ज्ञानादिक अचेतन नही है क्योंकि वे स्वसंविदित हैं अनुभव के समान । एवं वे स्वसंविदित हैं क्योंकि परसंवेदन की अन्यथानुपपत्ति है ।” इस प्रकार प्रायः प्रतिपादन कर चुके है । उसी प्रकार ये ज्ञानादिक आत्मा के स्वभाव है क्योंकि वे अनुभव के समान चैतन्य रूप हैं अतः ज्ञानादि शून्य चैतन्य मात्र सामान्य आत्मा में अवस्थान होना मोक्ष नही है प्रत्युत अनन्त ज्ञानादि स्वरूप चैतन्य विशेष में ही अवस्थान होना मोक्ष है ऐसी प्रतीति सिद्ध है ।

---

१ आत्मनश्चेतनत्वं सिद्धं यस्मात्तस्मात् । २ आत्मसंसर्गात् । बुद्धिससर्गादिति टिप्पणान्तरम् । ३ लिङ्गयते ज्ञायते इति लिङ्गं ज्ञेयमित्यर्थः । ४ स्याद्वादी । ५ शरीरे ज्ञाने वा । ६ तस्यात्मनोऽदृष्टपुण्यादि तेन कृतकत्वादिविशेषः (आदिशब्दाद्भोग्यभोक्तृत्वादिः) तस्य शरीरादौ सम्बन्धो नास्तीत्युच्यते साङ्ख्येन चेत्तन्न, तस्यापि शरीरादौ भावात् । ७ साधनस्यास्वसंविदितत्वं परिहरति । ८ स्वसंविदितत्वेपि ज्ञानादीनां प्रधानजत्वमित्युक्ते सत्याह ।

---

(1) बुद्धिः । (2) चेतनावदिह इति पा. । (3) सांख्यमते । (4) अविचारित । (5) तददृष्टकतत्त्वादि इति पा.—दि. प्र. । भोग्यभोक्तृत्वादि । (6) घटादि । (7) प्रागमंतरचार्वाकवादे । (8) ज्ञानस्याचेतनस्वाभावे ।

[वैशेषिकाभिमतमोक्षस्य निराकरण]

[1]एतेन बुद्धयादिविशेषगुणोच्छेदादात्मत्वमात्रे वस्थानं मुक्तिरिति कणभक्षाक्षपाद-मतं[१] प्रमाणेन बाधितमुपदर्शित, पुंसोनन्तज्ञानादिस्वरूपत्वसाधनात्, स्वरूपोपलब्धेरेव मुक्तित्वसिद्धेः। स्यान्मतं[२] "न बुद्धयादयः पुंसः स्वरूपं, ततो भिन्नत्वादर्थान्तरवत्। ततो[३] [2]भिन्नास्ते [४]तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वाद्घटादिवत्। तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वं[3] पुनस्तेषामुत्पाद-

भावार्थ—सांख्य कहता है कि चेतन के साथ अचेतन रूप ज्ञान सुख आदि का सपर्क हो रहा है अतः ये ज्ञान और सुख चेतन दिखते है वास्तव में ये अचेतन है।

इस मान्यता पर ऐसा भी कहा जा सकता है कि आत्मा स्वय अचेतन है और ज्ञानचेतना के संसर्ग से चेतनवत् दिख रही है फिर तो नैयायिक का ही मत आ जावेगा जो कि आपको इष्ट नही है अथवा चेतन आत्मा के संसर्ग से शरीर को भी चेनन कहना पड़ेगा किन्तु यह भी बात नही है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि ज्ञानादि गुण चेतन है और आत्मा के स्वभाव है। उन अनतज्ञान आदि चैतन्य गुणों को प्राप्त कर लेना ही मोक्ष है।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है कि—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै सज्ञानरूपाय, नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

संपूर्ण कर्मो का अभाव हो जाने पर जिनको स्वय अपने स्वभाव की प्राप्ति हो गई है ऐसे ज्ञान स्वरूप परमात्मा को मेरा नमस्कार हो।

[वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्ष का खडन]

बुद्धि आदि विशेष गुणों का उच्छेद (नाश) हो करके सामान्य आत्मा मात्र में अवस्थान होना इसी का नाम मोक्ष है। इस प्रकार से कणाद, अक्षपाद (वैशेषिक, नैयायिक) ने मुक्ति का लक्षण माना है, किन्तु उपर्युक्त खण्डन से इनका भी खण्डन हो जाता है अतः यह कथन भी प्रमाण से बाधित है क्योंकि पुरुष आत्मा का स्वरूप अनत ज्ञानादि रूप सिद्ध किया गया है और स्वरूप की उपलब्धि-प्राप्ति होना ही मोक्ष है। यह बात सिद्ध हो जाती है।

वैशेषिक, नैयायिक—बुद्धि आदि गुण आत्मा के स्वरूप नही है क्योंकि आत्मा से भिन्न है जैसे अन्य अचेतन पदार्थ। वे बुद्धि आदि पुरुष से भिन्न ही हैं क्योंकि वे पुरुष से विरुद्ध धर्म के आधार है जैसे घट

१ वैशेषिकनैयायिकमतम्। २ वैशेषिकनैयायिकयोः। ३ पुंसः। ४ ततः पुंस.।

(1) प्रमाणेन सांख्याभिमतमोक्षतत्त्वनिराकरणद्वारेण। (2) अत्राह कश्चित् हे यौग ! ततो भिन्नत्वादिति हेतुः असिद्ध इति न ते बुद्धयादयः ततो भिन्ना भवति इति साध्यो धर्मः इत्यादि। दि. प्र.। (3) स्याद्वादी सांख्यं प्रति पृच्छति बुद्ध्यादीना तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वं कुत इति प्रश्ने आह। दि. प्र.।

विनाशधर्मकत्वादात्मनोनुत्पादा[1]विनाशधर्मकत्वात्प्रसिद्धम्" इति तदयुक्तं[१], विरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि सर्वथा [2]भेदासिद्धे र्मेचकज्ञान[3]तदाकारवत्[२] ।

[चित्रज्ञानमेकरूपमनेकरूप वेति विचारः]

एकं हि मेचकज्ञानमनेकश्च तदाकारो [4]नीलादिप्रतिभासविशेष इत्येकत्वानेकत्वविरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि मेचकज्ञानतत्प्रतिभासविशेषयोर्न[३] भेदोभ्युपगम्यते, [४]मेचकज्ञानत्वविरोधात् । यदि पुनर्युगपदनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमेकमेव[5], न [6]तत्रानेकप्रतिभासविशेषसम्भवो यतो विरुद्धधर्माधिकरणत्व[५]मभेदेपि स्यादिति [६]मतं तदापि तत्किमनेकया शक्त्यानेकमर्थं युगपद्गृह्णाति किं वैकया ? यद्यनेकया तदैकमनेकशक्त्यात्मकमिति स एव विरुद्धधर्मा-

आदि । उनका विरुद्ध धर्माधिकरणपना सिद्ध ही है क्योकि उनमें उत्पाद, विनाश धर्म पाया जाता है और आत्मा उत्पाद, विनाश धर्म से रहित है यह बात प्रसिद्ध है ।

स्याद्वादी –आपका यह कथन अयुक्त है । विरुद्ध धर्मों का आधार होने पर भी सर्वथा भेद सिद्ध नहीं है जैसे मेचक – चित्रज्ञान और चित्र आकार वर्ण ।

[चित्र ज्ञान एक रूप है या अनेक रूप ? इस पर विचार]

चित्रज्ञान एक है और नीलादि प्रतिभास विशेष उसके आकार अनेक है । इस प्रकार एकत्व, अनेकत्व रूप विरुद्ध धर्मो का आधार होने पर भी चित्रज्ञान और उसके प्रतिभास विशेष मेचक वर्णों में भेद नहीं माना गया है अन्यथा चित्रज्ञानत्व का विरोध हो जावेगा ।

योग—युगपत् अनेक पदार्थो को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान एक ही है । उस चित्रज्ञान में अनेक प्रतिभास विशेष सभव नही है जिससे कि अभेद मे भी विरुद्ध धर्मो का आधार होवे ।

जैन—यदि आप ऐसा कहते है तब तो हम आपसे प्रश्न करते है कि वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से युगपत् अनेक पदार्थो को ग्रहण करता है या एक शक्ति के द्वारा युगपत् अनेक पदार्थों को ? यदि आप प्रथम पक्ष स्वीकार करते हो तब तो एक चित्रज्ञान अनेक शक्त्यात्मक हो गया, वह एक चित्रज्ञान ही विरुद्ध धर्मों का आधार रूप हो गया अर्थात् ज्ञान स्वयं एक है और शक्तियां अनेक हैं यही विरुद्ध धर्मपना है ।

१ स्याद्वादी । २ मेचकज्ञानतदाकारयोरिव । ३ ते मेचकवर्णाः । ४ अन्यथा । ५ आत्मबुद्ध्यादीनाम् । ६ तव यौगस्य ।

(1) नुत्पादविनाश इति पा (2) आत्मनो बुद्ध्यादीना च विरुद्धधर्माधिकरणत्व भवतु तस्मिन् सत्यपि सर्वथा भेदो न सिद्ध्यति दि. प्र. । (3) यथामेचकज्ञानमेचकज्ञानाकारयोर्विरुद्धधर्माधिकरणत्वेऽपि सर्वथा भेदो न सिद्ध्यति । तथा आत्मबुद्ध्यादिविशेषगुणानां विरुद्धधर्माधिकरणत्वेऽपि सर्वथा भेदाभाव । दि. प्र. । (4) आदिशब्देन पीतादि प्रतिभास विशेषाश्चत्वारो गृह्यंते मेचकस्य पचवर्णरत्नस्य ज्ञाने नीलादिप्रतिभास विशेषाणां संभवात्पंचवर्णंभवेद्रत्नं मेचकाख्यं । (5) युगपदनेकार्थप्रकाशकैकप्रदीपवत् दि. प्र. । (6) चित्रज्ञाने दि. प्र. ।

ध्यासः[१] । ततोनेकशक्तेरनेकत्वधर्माधारभूतायाः पृथक्त्वात् तस्य त्वेकत्वधर्माधारत्वान्नैकत्र विरुद्धधर्माध्यास इति चेत्कथमनेका शक्तिस्तस्येति व्यपदिश्यते ? ततो [२]भेदादर्थान्तरवत् । सम्बन्धादिति[३] [४]चेत्तर्हि तदनेकया [1]शक्त्या संबध्यमानमनेकेन रूपेण कथमनेक[५]रूपं न स्यात् ? [६]तस्याप्यनेकरूपस्य [७]ततोन्यत्वात्तदेकमे[८]वेति[2] चेत्कथं [९]तत्तस्येति व्यपदेष्टव्यम् ? सम्बन्धादिति चेत्स एव दोषोऽनिवृत्तश्च [3]पर्यनुयोगोऽनवस्थानात्[4] । यदि पुनरेकेनैव[१०] रूपेणानेकया शक्त्या संबध्यते [5]तदानेकविशेषणत्वविरोधः[११] । पीतग्रहणशक्त्या[6] हि येन स्वभावेन संबध्यते[१२] तेनैव नीलादिग्रहणशक्त्या चेत् पीतग्राहित्वविशेषणमेव मेचकज्ञानं[7] स्यान्न नीला-

यौग—अनेक धर्मों की आधार भूत अनेक शक्तिया उस चित्रज्ञान से पृथक्भूत हैं। वह ज्ञान तो एक धर्म का आधार है इसलिए एक ज्ञान में विरुद्ध धर्माधार नही है।

जैन—पुनः अनेक शक्तियां उस ज्ञान की हैं यह कथन कैसे बनेगा ? क्योंकि वे शक्तियाँ ज्ञान से भिन्न है जैसे दूसरे भिन्न पदार्थ। अर्थात् चित्रज्ञान से घट-पट आदि पदार्थ जिस प्रकार भिन्न है उसी प्रकार से अनेक शक्तियां भी भिन्न हो गई पुनः ये शक्तियां एक चित्रज्ञान को हैं यह कैसे कहोगे ?

यौग—शक्ति के साथ चित्रज्ञान का समवाय सबध होने से ये शक्तियां ज्ञान की है ऐसा कहते हैं।

जैन—तब तो वह ज्ञान अनेक शक्तियो से संबन्धित होने से अनेक रूप हो गया फिर अनेक रूप क्यों नहीं कहलावेगा ?

यौग—वे चित्रज्ञान से सबंधित अनेक रूप भी उस चित्रज्ञान से भिन्न ही हैं इसलिये वह चित्रज्ञान एक ही है।

जैन—पुनः उस चित्रज्ञान के अनेकरूप है यह आप कैसे कहोगे ?

यौग—उस 'अनेकरूप' को भी समवाय संबध से ही उस ज्ञान का कहेगे।

जैन—तब तो उपर्युक्त प्रश्नों से जो दोष दिये हैं वे ही दोष विद्यमान रहेंगे। पुनः प्रश्नों की अनवस्था ही चली जावेगी, कही दूर जाकर भी अवस्थान नही होगा।

१ यद्यनेकया शक्त्यानेकार्थं युगपद्गृह्णाति तदा एकमेव चित्रज्ञानमनेकशक्त्यात्मकं सिद्धमिति स एव विरुद्धधर्माध्यासः। २ मेचकज्ञाना (चित्रज्ञानात्) द्घटाद्यर्थान्तरवदनेकशक्तेर्भेदे सति तस्य चित्रज्ञानस्यानेकशक्तिरिति कथं व्यपदिश्यते ?। ३ शक्त्या सह मेचकज्ञानस्य समवायसम्बन्धात्तस्येत्युच्यते इति चेत्। ४ जैन आह तर्हीति। ५ (मेचकज्ञानम्। ६ चित्रज्ञानसम्बन्धिनोनेकरूपस्य। ७ चित्रज्ञानात्। ८ चित्रज्ञानम्)। ९ अनेकरूपं चित्रज्ञानस्येति १० तदनेकया शक्त्या सम्बध्यमानमनेकेन रूपेणैकेन रूपेण वेति विकल्पद्वय कृत्वा आपृच्छ्य अनेकेन रूपेणेत्यत्र तु दूषणमुक्तमधुना एकेन रूपेणानेकया शक्त्या सबध्यमित्यत्र द्वितीयपक्षे दोषमाह। ११ अनेकाः शक्तय इति विशेषणत्वविरोधः। १२ मेचकज्ञानम्।

(1) सार्द्धं। (2) यौगो वदति तत् चित्रज्ञान एकमेव। कस्मात्। ततश्चित्रज्ञानात् अनेकस्य रूपस्य भिन्नत्वादिति चेत् स्याद्वादी वदति। तस्य चित्रज्ञानस्य तदनेकं स्वरूपमिति कथं कथनीय—दि. प्र.। (3) परिहारश्च। (4) दोष-परिहारयोरवस्था भावात्। (5) तदा चानेक इति पा.—दि. प्र.। (6) सह। (7) ज्ञानस्य न इति पा दि. प्र.।

दिग्राहित्वविशेषणमिति पीतज्ञानमेव स्यान्न तु मेचकज्ञानम् । अथैकया शक्त्यानेकमर्थं [1]तद्गृह्णातीति द्वितीयविकल्पः समाश्रीयते तदापि [2]सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गः । [3]पीतग्रहणशक्त्या ह्येकया यथा नीलादिग्रहणं तथातीतानागतवर्त्तमानाशेषपदार्थग्रहणमपि केन निवार्येत ? [4]अथ न पीतग्रहणशक्त्या नीलग्रहणशक्त्या वा पीतनीलाद्यनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमिष्यते[5] । किं तर्हि ? नीलपीतादिप्रतिनियतानेकार्थग्रहणशक्त्यैकयेति[6] मत तदा[7] न [8]कार्यभेदः[1] कारणशक्तिभेदव्यवस्थाहेतुः[9] स्यादित्येकहेतुक[2] विश्वस्य वैश्वरूप्यं[3] प्रसज्येत । तथा [4]चाने-

यौग—वह ज्ञान एक रूप से ही अनेक शक्तियों से सबंधित होता है ।

जैन—तब तो "शक्तियां अनेक हैं" यह विशेषण विरुद्ध हो जावेगा ।

यौग—ज्ञान जिस स्वभाव से पीत ग्रहण शक्ति से सबन्धित होता है उसी एक ही स्वभाव से नील आदि को ग्रहण करने की शक्ति से सबधित होता है ।

जैन—तब तो पीतग्राही विशेषण रूप ही चित्रज्ञान होगा न कि नीलादिग्राही विशेषण रूप । इस प्रकार वह ज्ञान पीतज्ञान ही रहेगा न कि चित्रज्ञान ।

भावार्थ—जैनो ने यौग के प्रति दो विकल्प उठाये थे कि वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है या एक शक्ति से ? प्रथमपक्ष मे वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से संबंधित होता है । पुनः दो विकल्प उठाये है कि वह चित्रज्ञान अनेकरूप से अनेक शक्ति से संबधित होता है या एक रूप से ?

यदि अनेक रूप से संबंधित है तो वह ज्ञान अनेक रूप स्वय क्यों नही होगा ? यदि कहें कि एक रूप से सबंधित होता है तो एक रूप से अनेक शक्ति से सबधित अनेक विशेषण रूप नही होगा । तथा च एक पीतज्ञान रूप या एक नीलज्ञान रूप ही रहेगा न कि चित्रज्ञान रूप । अब मूल का दूसरा पक्ष लेवें तो—

यौग—यह चित्रज्ञान एक शक्ति से ही युगपत् अनेक पदार्थो को ग्रहण करता है यह दूसरा पक्ष हमें इष्ट है ।

जैन—तब तो फिर सपूर्ण पदार्थों को ग्रहण करने का प्रसग प्राप्त हो जावेगा क्योंकि जिस प्रकार एक ज्ञान पीतग्रहण शक्ति से नीलादि पदार्थों को ग्रहण करेगा उसी प्रकार से भूत भविष्यत् वर्तमान रूप सपूर्ण पदार्थों को भी ग्रहण कर लेगा उसका निवारण कौन कर सकेगा ?

यौग—पीतग्रहण शक्ति से या नीलग्रहण शक्ति से अर्थात् किसी भी एक शक्ति से पीत नीलादि

१ मेचकज्ञानम् । २ मेचकज्ञा । नीलपीताद्येव केवल न गृह्णाति किन्तु सर्वार्थग्राहक स्यात् । ३ सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गं वि-वृणोति । ४ यौग । ५ यौगेन । ६ एवम्भूतया एकया शक्त्या नीलपीताद्यनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमिष्यते इति मतम् । ७ जैनः प्राह । ८ घटपटादिकार्यभेदः । ९ कार्यभेदात्कारणशक्तिभेदो न स्यात् ।

(1) प्रतिभासः । (2) ब्रह्म । (3) नानात्व । (4) सति—दि. प्र. ।

ककारणप्रतिवर्णनं सर्वकार्योत्पत्तौ [1]विरुध्यते । [1]तदभ्युपगच्छता मेचकज्ञानमनेकार्थग्राहि नानाशक्त्यात्मकमुररीकर्त्तव्यम्[2] । तेन[2] च विरुद्धधर्माधिकरणेनैकेन [3]प्रकृतहेतोरनैकान्तिकत्वान्न[4] ज्ञानादीनामात्मनो भेदैकान्तसिद्धिर्येनात्मानन्तज्ञानादिरूपो न भवेत् । निराकरिष्यमाणत्वाच्चाग्रतो[5] [3]गुणगुणिनोरन्यतैकान्तस्य,[6] न ज्ञानादयो गुणाः सर्वथात्मनो भिन्नाः शक्याः प्रतिपादयितुं यतोऽशेषविशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तिर्व्यवतिष्ठेत ।

[मुक्तौ क्षयोपशमिकादिज्ञानसुखादीनामभावो न चानतमुखादीना]

ननु[7] च धर्माधर्मयोस्तावन्निवृत्तिरात्यन्तिकी मुक्तौ प्रतिपत्तव्या,[4] अन्यथा[5] [8]तदनु-

---

रूप अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान है हम ऐसा नही मानते है ।

जैन—तो आप क्या मानते है ?

योग—नील, पीतादि, प्रतिनियत अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाली जो शक्ति है उस एक शक्ति से नील पीतादि अनेक पदार्थो को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान है इस प्रकार मानते है ।

जैन—तब तो कार्य में होने वाला भेद कारण शक्ति के भेद की व्यवस्था का हेतु नहीं होगा इस प्रकार से तो यह विश्व एक हेतु से ही नाना रूप हो जावेगा । फिर सभी कार्यों की उत्पत्ति में अनेक कारणो का वर्णन करना विरुद्ध हो जावेगा । अर्थात् योगमत में जितने कार्य है उतने ही उनके कारण है इस प्रकार की मान्यता है उसमें विरोध आ जावेगा । अतः इस विरोध का परिहार करने के लिये चित्रज्ञान अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला है एवं वह अनेक शक्त्यात्मक है ऐसा स्वीकार करना ही चाहिये ।

इसलिये अनेक विरुद्ध धर्मों के आधारभूत उस एक चित्रज्ञान से "विरुद्ध धर्माधिकरणत्वात्" हेतु व्यभिचरित हो जाता है अतः ज्ञानादिक आत्मा से भिन्न है । इस प्रकार से भेद एकात की सिद्धि नही होती है जिससे कि आत्मा अनत ज्ञानादि रूप न होवे अर्थात् आत्मा अनतज्ञानादि रूप सिद्ध हो जाता है और गुण-गुणी में एकात से भिन्न पना है इस पक्ष का आगे चतुर्थ परिच्छेद में निराकरण करेंगे ।

आत्मा से ज्ञानादि गुण सर्वथा भिन्न हैं ऐसा प्रतिपादन करना शक्य नही है जिससे कि अशेष गुणों

---

१ यावन्ति कार्याणि तावन्ति कारणानीति योगमतं विरुध्यते । २ मेचकज्ञानेन । ३ विरुद्धधर्माधिकरणत्वादित्यस्य । ४ मेचकज्ञानस्य तदाकारादभेदेऽपि विरुद्धधर्माधिकरणत्वसिद्धेः । ५ एकस्यानेकवृत्तिर्नेत्यादिकारिकाव्याख्यानावसरे चतुर्थपरिच्छेदे । ६ भेदैकान्तस्य । ७ योगः । ८ तस्याः, मुक्तेः ।

---

(1) तद्विरोधमंगीकुर्वता । तत्सर्वकार्यमनेककारणकमगीकुर्वता । दि. प्र. । (2) शक्तेरेवानभ्युपगमान्न कश्चिद्दोष इत्याशंकाया शक्तिरहितेन ज्ञानेन यथा नीलादिग्रहणं तथातीतानागतवर्तमानाशेषपदार्थग्रहणमपि केन निवार्यते इति वक्तव्य । अथवा तच्छक्ति समर्थन प्रमेयकमलमार्तंडे द्वितीयपरिच्छेदे प्रत्यक्षेतर भेदादिति सूत्रव्याख्यानावसरे प्रपंचतः प्रोक्तमत्रावगतव्य । दि. प्र. । (3) गुणगुण्यन्यतै इति पा. । (4) जैनैः । (5) धर्माधर्मयोरात्यंतिकी निवृत्तिर्नास्ति चेत् तदा तस्या मुक्तेरुत्पत्तिर्नास्ति दि. प्र. ।

पपत्तेः । [1]तन्निवृत्तौ च तत्फलबुद्ध[1]यादिनिवृत्तिरवश्यंभाविनी निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यनुपपत्तेः । मुक्तस्यात्मनोऽन्तःकरणसंयोगाभावे वा न [2]तत्कार्यस्य बुद्धयादेरुत्पत्तिः । इत्यशेषविशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तौ सिद्धयत्येवेति केचित्[3] तेप्यदृष्टहेतुकानां बुध्यादीनामात्मान्तःकरणसयोगजानां च मुक्तौ निवृत्तिं ब्रुवाणा न निवार्यन्ते[4] । [2]कर्मक्षयहेतुकयोस्तु [3]प्रशमसुखानन्तज्ञानयोर्निवृत्तिमाचक्षाणास्ते न स्वस्थाः प्रमाणविरोधात्[5] । ततः [6]कथञ्चिद्बुध्यादिविशेषगुणानां निवृत्तिः [7]कथञ्चिदनिवृत्तिर्मुक्तौ व्यवतिष्ठते । न[4] चैवं सिद्धान्तविरोधः,[5] "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" इत्यनुवर्तमाने[8] "औपशमिकादिभव्य-

का अभाव हो जाना मुक्ति है वह कथन व्यवस्थित हो सके अर्थात् मुक्ति का यह लक्षण सिद्ध नहीं होता है ।

[मुक्ति में क्षायोपशमिक ज्ञान, सुख आदि का अभाव है न कि अनंत सुखादिको का अभाव]

यौग—मुक्ति मे धर्म अधर्म का तो आत्यतिक अभाव स्वीकार करना ही चाहिये । अन्यथा मुक्ति नही हो सकेगी और धर्म, अधर्म की निवृत्ति हो जाने से उसके फल रूप बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और सस्कार आदि विशेष गुणो का अभाव भी अवश्यभावी है क्योंकि निमित्त के अभाव में नैमित्तिक (कार्य) भी नही हो सकता है अथवा मुक्त जीव के अंत.करण (मन) के सयोग का अभाव हो जाने पर उस मन के सयोग से उत्पन्न होने वाले कार्य स्वरूप बुद्धि आदि की भी उत्पत्ति नही हो सकती है इसलिये मुक्त अवस्था मे अशेष विशेष गुणो का अभाव सिद्ध ही हो जाता है ।

जैन—जो अदृष्ट–भाग्य रूप, धर्म, अधर्म के निमित्त से होने वाले है और आत्मा तथा मन के संयोग से उत्पन्न हुये है ऐसे बुद्धि आदिकों का मुक्ति में जो अभाव मानते हैं उनका हम खण्डन नही करते हैं ।

भावार्थ—आत्मा के मतिज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली क्षायोपशमिक बुद्धि एव सातावेदनीय जन्य सुखादि गुणों का अभाव तो हम जैन भी मुक्तावस्था में स्वीकार करते हैं ।

जो कर्म के क्षय से उत्पन्न हुये अव्याबाध सुख और अनतज्ञानादि का मुक्ति में अभाव सिद्ध करते हैं वे स्वस्थ नही है क्योंकि वैसी मुक्ति मानने मे प्रमाण से विरोध आता है । इसलिये मुक्त जीवों में कथंचित् क्षयोपशम की अपेक्षा से बुद्धि आदि विशेष गुणों का अभाव है और कथचित् क्षायिक गुणों की

१ धर्माधर्मकारणक बुद्ध्यादि । २ अन्तःकरणसयोगकार्यस्य । ३ यौगाः । ४ आत्मभिर्जैनैः । ५ मुक्तात्मा गुणवानात्मत्वादमुक्तात्मवदित्यनुमानेन विरोधात् । ६ अदृष्टजानाम् (कर्मप्रभवानाम्) । ७ कर्मक्षयहेतुजानाम् । ८ अस्य प्रकरणे इत्यर्थः ।

(1) धर्माधर्मयोरभावे सति तत्फलबुद्धयादेरपि अवश्यमेवाभाव. । यतो लोके कारणापाये कार्यस्योत्पत्तिर्न घटते । दि. प्र. । (2) ज्ञानावरणादि । (3) मोक्षसुख (4) ज्ञानादीनां निवृत्यनिवृत्तिप्रकारेण । (5) सिद्धांतसूत्रे केषांचित् गुणानां कथंचित् निवृत्यनिवृत्तिप्रतिपादनाभावाद् विरोध इति चेत् ।

त्वानां [1]चान्यत्र[1] केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः" इति सूत्रसद्भावात् । [2]तत्रौपशमिकक्षायोपशमिकौदयिकपारिणामिकभावानां [1]दर्शनज्ञानग[4]त्यादीनां[2] [3]भव्यत्वस्य च विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यभिसम्बन्धान्मुक्तौ [5]विशेषगुणनिवृत्तिरिष्टा, अन्यत्र [4]केवलज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य इति वचनादनन्तज्ञानदर्शनसिद्धत्वसम्यक्त्वानामनिवृत्तिश्चेति युक्तं तथा वचनम् ।

अपेक्षासे अनत ज्ञानादि रूप बुद्धि आदि का अभाव नही है यह बात व्यवस्थित हो जाती है ।

इस प्रकार से हमारे सिद्धांत में कोई विरोध नहीं आता है । "बधहेत्वभाव निर्जराभ्या कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षोमोक्षः" इस सूत्र के प्रकरण में ही "औपशमिकादि भव्यत्वाना च" "अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य" ये सूत्र पाये जाते है अर्थात् बध के हेतु का अभाव और निर्जरा के द्वारा सपूर्ण कर्मों का नाश हो जाना मोक्ष है और औपशमिकादि भव्यत्वादि भावो का भी छूट जाना मोक्ष मे माना है । तथा केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन, सिद्धत्व को छोड़कर ये औपशमिकादि भाव नष्ट हो जाते है अर्थात् ये भाव मुक्ति मे नही पाये जाते है ।

उनमें औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एव पारिणामिक भाव रूप दर्शन, ज्ञान, गति आदि तथा भव्यत्व भाव का विप्रमोक्ष—अभाव हो जाना ही मोक्ष है । उपर्युक्त सूत्रों के साथ सबध करने से मुक्ति में क्षायोपशमिक ज्ञानादि रूप विशेष गुणों की निवृत्ति इष्ट ही है एव "अन्यत्र केवलज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः" इस सूत्र के कथन से मुक्ति मे अनत ज्ञान, दर्शन, सिद्धत्व एव सम्यक्त्व रूप क्षायिक विशेष गुणों की निवृत्ति नही है अतः ये स्याद्वाद वचन युक्त ही हैं ।

उन औपशमिकादि भावों मे औपशमिक के सम्यक्त्व, चारित्र ये २ तथा क्षायोपशमिक के मति, श्रुतादि ४ ज्ञान, कुमति आदि ३ अज्ञान, चक्षु आदि ३ दर्शन, क्षायोपशमिक रूप ५ लब्धियाँ, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ये ३ सब १८ भेद, औदयिक के ४ गति, ४ कषाय, ३ लिग, मिथ्यात्व, अज्ञान, असयत, असिद्धत्व, ६ लेश्या ये २१ भाव तथा पारिणामिक के भव्यत्व, अभव्यत्व एव क्षायिक के दान, लाभ, भोग, उपभोग और चारित्र ये ५, इस प्रकारसे इन ४८ विशेष गुणों-भावों का मुक्तावस्था में अभाव इष्ट ही है । एव "अन्यत्र" इत्यादि सूत्र से अनतज्ञान, दर्शन, सिद्धत्व, सम्यक्त्व अर्थात्

१ विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यर्थ. । २ विना । ३ औपशमिकादिषु । ४ (क्रमशः—औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिको ज्ञानोपयोगः, औदयिकी गतिर्भवान्तरगमनरूपा) आदिपद प्रत्येकमभिसंबध्यते । तेन सम्यक्त्वचारित्रे इत्यादिसूत्रोक्ताना सर्वेषां ग्रहणम् । भव्यत्व पारिणामिकम् । अनाविर्भूतरत्नत्रयाविर्भावयोग्यताफलकं भव्यत्वम् । (रत्नत्रयाविर्भावे तद्भव्यत्व क्षीयते=विपच्यते इत्यर्थः, न तु नश्यतीति, तस्य शक्तिरूपत्वेनाविनाशात्) । ५ विशेषाः अदृष्टजबुद्ध्यादयः ।

(1) सम्यक्त्व । औपशमिकक्षायोपशमिकरूपयोर्दर्शनज्ञानयोर्ग्रहणं । (2) चतुर्गति । आदिशब्दः प्रत्येकमभिसंबंध्यते तेन 'सम्यक्त्वचारित्रे' इत्यादि सूत्रं (तत्त्वार्थसूत्रे) अभिहितस्य चारित्रस्याज्ञानादेः कषायादेः परिग्रहो यथाक्रम सेत्स्यति । (3) भूते भव्यत्वाभावात् यथा मृत्पिडे घटस्य भव्यत्वं वर्तते पश्चाद् भूते सजाते घटे घटभव्यत्वाभावः भवितु योग्यः भव्य । तथा रत्नत्रयाविर्भावे योग्यत्वं भव्यत्व तदाविर्भावे भव्यत्वनिवृत्तिः । (4) केवलसम्यक्त्वदर्शन इति पा. ।

[1]कथमेवमनन्तसुखसद्भावो मुक्तौ सिद्धयेदिति चेत् [2]सिद्धत्ववचनात्[1] सकलदुःखनिवृत्ति-रात्यन्तिकी हि [2]भगवतः सिद्धत्वम् । सैव चानन्तप्रशमसुखम् । इति सांसारिकसुखनिवृत्तिरपि मुक्तौ न विरुध्यते ।

अनंतज्ञान अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व, ये क्षायिक भाव के ४ भेद और पारिणामिक का १ जीवत्व भाव इस प्रकार इन ५ विशेष गुणों का मुक्ति में अभाव नहीं है।

इसी प्रकार से श्री भट्टाकलंक देव ने राजवार्तिक में क्षायिक भावों का वर्णन करते हुये प्रश्नोत्तर रूप में वर्णन किया है। "यद्यनन्तदानलब्ध्यादय उक्ता अभयदानादिहेतवो दानान्तरायादिसंक्षयाद् भवंति सिद्धेष्वपि तत्प्रसंगः, नैषदोषः शरीरनामतीर्थकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्तेषां तदभावे तदप्रसंगः परमानंदाव्याबाधरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः केवलज्ञानरूपेण अनंतवीर्यवृत्तिवत् ।"

अर्थ—प्रश्न यह होता है कि दानादि रूप अंतराय कर्म के क्षय से प्रगट होने वाली दानादि क्षायिक लब्धियाँ हैं उनके कार्य विशेष अनंत प्राणियों को अभयदान रूप अहिंसा का उपदेश लाभांतराय के क्षय से केवली को कवलाहार के अभाव में भी शरीर की स्थिति में कारणभूत परम, शुभ, सूक्ष्म, दिव्य अनंत पुद्गलों का प्रतिसमय शरीर में संबंधित होना, भोगांतराय आदि के क्षय से गंधोदक, पुष्पवृष्टि, पदकमल रचना, सिंहासन, छत्र, चमर अशोक वृक्षादि विभूतियों का होना यह सब वैभव, चार घातिया कर्मों के नाश से प्रगट होने वाली नव केवल-लब्धि रूप हैं अतः ये क्षायिकभाव कर्मों के क्षय से होने के कारण सिद्धों में भी इनके कार्य होने चाहिये।

इस पर आचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि दानादि लब्धियों के कार्य के लिये शरीर नाम और तीर्थंकर नाम कर्म के उदय की भी अपेक्षा है अतः सिद्धों में ये लब्धियां अव्याबाध अनंत सुख रूप से रहती हैं जैसे कि केवलज्ञान रूप में अनंतवीर्य रहता है। एवं किसी का यह प्रश्न भी हो जाता है कि इन उपर्युक्त तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों से सिद्धत्वभाव का ग्रहण कहां किया गया है?

इस पर आचार्य कहते हैं कि जैसे पोरों के पृथक् निर्देश से अंगुली का सामान्य कथन हो जाता है उसी प्रकार से सभी क्षायिक भावों में व्यापक सिद्धत्व का भी कथन उन विशेष क्षायिक भावों के कथन से ही हो गया है। अर्थात् कर्मों के सद्भावतक-चौदहवें गुणस्थान के अंत तक औदयिक भावों का असिद्धत्व भाव पाया जाता है, किंतु सर्वथा संपूर्ण कर्मों के अभाव से सिद्धत्व भाव प्रगट हो जाता है। उसी प्रकार से क्षायिक दान, लाभ, क्षायिकचारित्र आदि गुणों का सद्भाव भी सिद्धों में सिद्ध ही हो जाता है।

यौग—इस प्रकार सूत्र के आधार से मुक्ति में अनंत सुख का सद्भाव कैसे सिद्ध होगा?

जैन—सूत्र में "सिद्धत्व" वचन है उससे ही अनन्त सुख की सिद्धि होती है क्योंकि भगवान के

---

१ यौगः । २ जैनः ।

(1) सिद्धत्वशब्देनानंतवीर्यसुखे च ग्राह्ये । (2) भावतः इति पा. । परमार्थतः ।

[वेदातिभिर्मतस्य मोक्षस्य निराकरण]

[1]अनन्तसुखमेव मुक्तस्य, न ज्ञानादिकमित्यानन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष [1]इत्यपरः [2]सोपि युक्त्यागमाभ्यां बाध्यते। [3]तदनन्तं सुखं मुक्तौ पुंसः संवेद्यस्वभावमसंवेद्यस्वभावं[2] वा ? संवेद्य चेत्तत्संवेदनस्यानन्तस्य [3]सिद्धिः, अन्यथानन्तस्य सुखस्य [4]स्वय [4]संवेद्यत्वविरोधात् । यदि पुनरसंवेद्यमेव तत्तदा कथं सुखं नाम ? [5]सातसंवेदनस्य सुखत्वप्रतीतेः । स्यान्मतं [5]ते, अभ्युपगम्यते एवानन्तसुखसंवेदन परमात्मनः । केवल बाह्यार्थानां ज्ञान नोपेयते[6] [7]तस्येति, तदप्येवं [8]सम्प्रधार्यम्—किं बाह्यार्थाभावाद्बाह्यार्थसंवेदनाभावो मुक्तस्येन्द्रियापायाद्वा ? प्रथमपक्षे सुखस्यापि संवेदनं मुक्तस्य न स्यात्, तस्यापि बाह्यार्थवदभावात्[6] । पुरुषाद्वैतवादे

संपूर्ण दुःखों का आत्यंतिक अभाव हो गया है वही 'सिद्धत्व' गुण है और वह संपूर्णतया दुःखों का अभाव ही अनंत प्रशम सुख है । इसलिये मुक्तिमें सांसारिक सुखोंका अभाव है इस कथन में विरोध नहीं आता है ।

[वेदांती के द्वारा मान्य मुक्ति का खंडन]

वेदांती— मुक्त जीव के अनंत सुख ही है ज्ञानादिक नहीं है इसलिये आनंद रूप एक स्वभाव की अभिव्यक्ति हो जाना ही मोक्ष है ।

जैन—आपका यह कथन भी युक्ति और आगम से बाधित है । मुक्त जीव के अनंतसुख है वह संवेद्य (अनुभव करने योग्य) स्वभाव वाला है या असंवेद्य स्वभाव वाला है ? अर्थात् ज्ञान के द्वारा जानने योग्य ज्ञेय स्वभाव वाला है या अज्ञेय स्वभाव वाला है ? यदि आप कहें कि वह सुख ज्ञेय स्वभाव वाला है तो अनंतज्ञान की सिद्धि हो जाती है अन्यथा स्वयं आत्मा के द्वारा अनंत सुख ज्ञेय रूप नहीं हो सकेगा। अर्थात् ज्ञान का विषयभूत सुख अनंत है और ज्ञान उस अनन्त सुख को वेदन करे—जाने इसलिये वह भी अनन्त सिद्ध हो जाता हैं अन्यथा अनंत सुखों का संवेदन—ज्ञान नहीं बनेगा ।

यदि पुनः वह सुख असंवेद्य (अज्ञेय) स्वभाव वाला है तब तो उसे 'सुख' यह नाम भी कैसे बनेगा ? क्योंकि साता के संवेदन को ही सुख कहते है ।

वेदांती—परमात्मा के अनंतसुख का संवेदन रूपज्ञान तो हम स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके केवल बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं मानते हैं ।

१ अतः पर वेदान्तवादी प्राह। २ ज्ञेय स्वभावम् । स्वसंवेद्यस्वभावमिति पाठान्तरम् । ३ (विषयरूपस्य सुखस्यानन्त्ये विषयिणस्तद्वेदनस्याप्यानन्त्यम्—अन्यथा तत्संवेदनानुपपत्तेः) । ४ आत्मना । ५ वेदान्तवादिनः । ६ अभ्युपगम्यते । ७ परमात्मनः । ८ (जैनः) विचार्यम् (वक्ष्यमाणप्रकारेण) ।

(1) वेदानवादी भास्करवादी । (2) अत्राह जैनः । सोपि मोक्षेऽनंतसुखवादी विचार्यमाणः युक्त्यागमेन च विरुद्धयते दि.प्र. । (3) तद्धनतं इति पा. । (4)सुखस्य संवेद्यत्वेति पा. । स्वसंवेद्य इति पा. । अन्यथा ज्ञानस्यानंतस्य सिद्धेरभावे अनंतस्य सुखस्य संवेद्यत्व विरुद्धयते । (5) रूप । यस. । (6) यदि सुखं तदेव परमब्रह्मैव तदा संवेद्यसंवेदकभावो न स्यादेकस्यानंशस्य संवेद्यसंवेदकत्वानुपपत्तेरित्यभिप्रायः ।

हि बाह्यार्थाभावो यथाभ्युपगन्तव्यस्तथा सुखाभावोपि, अन्यथा द्वैतप्रसङ्गात् । अथ द्वैतवादावलम्बिनां[१] सतोपि [1]बाह्यार्थस्येन्द्रियापायादसंवेदनं मुक्तस्येति मतं तदप्यसंगतं, [२]तत एव सुखसंवेदनाभावप्रसङ्गात् । [३]अथान्तःकरणाभावेपि मुक्तस्यातीन्द्रियसंवेदनेन सुखसंवेदनमिष्यते तर्हि बाह्यार्थसंवेदनमस्तु तस्यातीन्द्रियज्ञानेनैवेति मन्यतां, सर्वथा [४]विशेषाभावात् ।

[बौद्धाभिमतमोक्षस्य निराकरण]

[५]येऽपि [६]निरास्रवचित्तसन्तानोत्पत्तिर्मोक्ष[2] इत्याचक्षते तेषामपि मोक्षतत्त्वं [3]युक्त्या-

जैन—तब आपको यह विचार करना होगा कि बाह्य पदार्थों का अभाव होने से मुक्त जीव के बाह्य पदार्थ के ज्ञान का अभाव है या मुक्तजीव के इन्द्रियों के न होने से बाह्य पदार्थ के ज्ञान का अभाव है ? यदि आप प्रथम पक्ष स्वीकार करें तो मुक्त जीव के सुख का भी ज्ञान नही होगा क्योंकि बाह्य पदार्थ के समान उसका भी अभाव है। पुरुषाद्वैतवादियों के यहा जैसे बाह्य पदार्थो का अभाव माना है वैसे ही सुख का भी अभाव माना है अन्यथा द्वैत का प्रसग आता है अर्थात् पुरुष और सुख दो वस्तु होने से अद्वैत नही बन सकेगा।

द्वैतवादी भाट्ट—बाह्य पदार्थ के होते हुये भी मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है अतः मुक्त जीव के ज्ञान नही होता है।

जैन—यह कथन भी सगत नही है क्योकि इन्द्रिय के अभाव से ही सुख सवेदन—सुख के ज्ञान का भी अभाव हो जावेगा। यदि कोई कहे कि मुक्त जीव के अतःकरण का अभाव होने पर भी अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सुख का सवेदन हम स्वीकार करते है तब तो पुन. मुक्त जीव के अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही बाह्य पदार्थो का ज्ञान क्यों नही मान लेते क्योकि दोनों में सर्वथा कोई अतर नही है।

भावार्थ—वेदांती लोग अपनी आत्मा को, भगवान् को और सारे जगत् को एक परम ब्रह्म रूप मानते है उनका कहना है कि जो कुछ चर-अचर, चेतन-अचेतन पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे है वे सब उस परमब्रह्म की ही पर्याय है अतः इनके सिद्धांत में मोक्ष की कल्पना तो अघटित ही है फिर भी वे लोग कहते है कि एक ब्रह्म स्वरूप आत्मा में लीन हो जाना ही मोक्ष है और उस मोक्ष में केवल आनद ही आनंद रह जाता है। ये लोग मोक्ष में ज्ञान को भी नही मानते हैं।

इस पर जैनाचार्यों ने समझाया है कि भाई ! यदि आप मोक्ष मे ज्ञान को नही मानोगे तो अनंत सुख का अनुभव भी कैसे हो सकेगा ? अतः जैसे आप मोक्ष में अनंत सुख का अस्तित्व मानते है वैसे ही अनंतज्ञान का भी अस्तित्व मान लीजिये कोई बाधा नही है।

१ भाट्टानाम् । २ इन्द्रियापायादेव । ३ पर. । ४ सुखसंवेदनबाह्यार्थसंवेदनयो. । ५ सौगता । ६ वीतरागद्वेषात्मसन्तानोत्पत्ति. ।

(1) मनः । (2) जीवन्मुक्तः । (3) चित्ताना तत्त्वनोऽन्वितत्वसाधनं सतानोच्छेदानुपपत्तिकथन च युक्त्या बाधन क्षणक्षयैकान्ताभ्युपगमे मोक्षाभ्युपगमो न घटत एवेति समर्थनमभ्युपायेन बाधनं—दि. प्र. ।

भ्युपायेन[१] च बाध्यते [२]प्रदीपनिर्वाणोपमशान्तनिर्वाणवत्[1] चित्तानां[३] तत्त्वतोऽन्वितत्व-[2] साधनात्[४] सन्तानोच्छेदानुपपत्तेश्च[५] निरन्वयक्षणक्षयैकान्ताभ्युपायेन[3] च मोक्षाभ्यु पगमबाधनस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

[साङ्ख्यादिमान्यमोक्षकारणतत्त्वमपि निराक्रियते जैनाचार्यैः]

[६]तथा मोक्षकारणतत्त्वमपि कपिलादिभिर्भाषितं न्यायागमविरुद्धम् ।

[सौगत द्वारा अभिमत मोक्ष का खडन]

सौगत—आस्रव रहित चित्तसतान की उत्पत्ति का नाम ही मोक्ष है ।

जैन—आपका भी यह मोक्ष तत्त्व युक्ति और आगम से बाधित है प्रदीप-निर्वाणोपम शात निर्वाण के समान है क्योकि वास्तव में चित्त ज्ञान क्षणो मे अन्वय पाया जाता है । एव सतानो का सर्वथा उच्छेद भी नही हो सकता है तथा च निरन्वय क्षण क्षय को एकान्त से स्वीकार करने पर मोक्ष की सिद्धि भी बाधित ही है । इस मत का खडन आगे हम विशेष रूप से करेंगे । अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाने पर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है वैसे ही निर्वाण के बाद जीव के ज्ञान का अस्तित्व कुछ भी नही रहता है । इस मान्यता में अनेको बाधायें आती है ।

अब जिस प्रकार से अन्य के द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व में बाधायें आती है उसी प्रकार से मोक्ष के कारणभूत तत्त्वो में भी बाधायें आती है इसका स्पष्टीकरण करते है ।

[साङ्ख्यादि अन्य मतावलबियो के द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व भी बाधित ही हैं]

कोपिल आदि के द्वारा कहे गये मोक्ष के कारण तत्त्व भी न्याय-युक्ति और आगम से विरुद्ध ही हैं । अर्थात् यहा तक अन्य लोगो के द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व मे दूषण दिखाया है अब मोक्ष के उपायभूत तत्त्वों में जो अन्य लोगों की भिन्न-भिन्न मान्यतायें है उन पर विचार किया जा रहा है ।

१ आगमेन । २ प्रदीपस्य निर्वाणोपम तत्त्व तच्छान्तनिर्वाण च । यथा प्रदीपनिर्वाण युक्त्यागमेन च बाध्यते । ३ ज्ञानाना सान्वयत्वेन साधनात् । ४ द्वितीयपरिच्छेदे सन्तान समुदायश्चेति कारिकायां वक्ष्यमाणत्वात् । ५ मानसाना परमार्थतोनुगतत्व साध्यते मानसाना सन्तानोच्छेदश्च न सभवतीति हेतुद्वयात् । ६ यथा मोक्षतत्त्वम् ।

(1) सकलचित्तसतानोच्छित्तिवत् । परममुक्तवत् । (2) द्रव्यमनन्वित. । (3) यत ।

सांख्यादि के द्वारा मान्य संसार मोक्ष के खंडन का सारांश

साख्य कहता है कि प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान हो जाने पर चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना मोक्ष है। सर्वज्ञपना प्रधान का स्वरूप है आत्मा का नही क्योंकि ज्ञानादि अचेतन हैं वे प्रधान के ही स्वरूप हैं, उत्पत्तिमान् होने से घट के समान। एव आत्मा सकल विशेषों से रहित होने पर भी वस्तु है तथा चेतन आत्मा के ससर्ग से ही ये ज्ञानादि चेतन के समान दीखते हैं।

जैनाचार्य कहते है कि साख्य का यह कथन असभव है हमारे यहां तो अनत ज्ञानादि स्वरूप चैतन्य विशेष में अवस्थान को ही मोक्ष कहा है क्योंकि ज्ञानादि आत्मा के स्वभाव है जैसे चैतन्य। ज्ञान को अचेतन एव प्रधान का धर्म आप किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही कर सकते। यदि "उत्पत्तिमत्वात्" हेतु से प्रधान का कहो तो भी ठीक नही है। यद्यपि ज्ञान सामान्य की अपेक्षा उत्पत्तिमान् नही है फिर भी विशेष श्रुत एवं केवलज्ञान आदि की अपेक्षा उत्पत्तिमान् है। ज्ञानादि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भी चेतन रूप प्रसिद्ध है। तथा आत्मा सामान्य विशेषात्मक होने से ही वस्तु है न कि विशेषो से रहित होने से। विशेष रहित सामान्य खपुष्पवत् असत् ही है अत आत्मा ही सर्वज्ञ होता है अचेतन प्रधान नही होता है।

वैशेषिक कहता है कि बुद्धि, सुख, दुःखादि आत्मा के विशेष गुणों का उच्छेद होकर के सामान्य आत्मा में अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है क्योंकि बुद्धि आदि गुण आत्मा के स्वभाव नही है आत्मा से भिन्न हैं कारण उनमें उत्पाद, व्यय पाया जाता है। एवं मुक्ति में धर्म, अधर्म का तो आत्यतिक अभाव है अन्यथा मुक्ति ही नही होगी तथा उनके फलस्वरूप सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान आदि गुणों का अभाव ही हो जाता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ज्ञानादि को सर्वथा आत्मा से भिन्न मानना ठीक नही है क्योंकि वे आत्मा के ही स्वभाव है। पुण्य पापादि के निमित्त से होने वाले सासारिक सुख एवं क्षयोपशम ज्ञान का अभाव मानना तो मुक्ति में युक्ति युक्त है, किंतु वेदनीय एव ज्ञानावरणादि कर्मों के सर्वथा अभाव से आत्मा में प्रगट होने वाले अव्याबाध सुख एव अनतज्ञानादि विशेष गुणों का अभाव मानना कथमपि शक्य नही है। यदि ऐसा मानोगे तो ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो अपने ही सुखादि का नाश करने के लिये मुक्ति के लिये अनुष्ठान आदि करे अर्थात् कोई नही करेगा। अतएव जीव के औपशमिकादि पांच भावों के अंतर्गत औपशमिक के २ भाव, क्षायोपशमिक के १८ भाव, औदयिक के २१ भाव, पारिणामिक के भव्यत्व, अभव्यत्व ये दो भाव तथा क्षायिक के दान, लाभ, भोग, उपभोग और क्षायिकचारित्र ये पाच भाव मिलकर ४८ भाव रूप विशेष गुणों का मुक्ति में सर्वथा उच्छेद है किंतु ४ क्षायिक भाव १ जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ये ५ भाव मुक्ति में पाये ही जाते हैं। कहा भी है—

"अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः" इत्यादि । इस प्रकार संसार एवं मोक्ष की सिद्धि हो गई ।

वेदांती तो मुक्त जीव के अनंत सुख संवेदन रूप ज्ञान मानते है एव बाह्य पदार्थों का ज्ञान नही मानते हैं । इस पर प्रश्न होता है कि मुक्त जीव के इंद्रियों का अभाव है इसलिये बाह्य पदार्थ का ज्ञान नही है या बाह्य पदार्थ का अभाव कहो तो सुख का भी अभाव हो जावेगा कारण कि आप पुरुषाद्वैत-वादियों के यहा सुख भी बाह्य पदार्थ के समान घटित नही होता है यदि मानो तो पुरुष और सुख से द्वैत हो जावेगा । यदि इन्द्रियो का अभाव कहो तो बिना इन्द्रिय के सुख का वेदन कैसे होगा ? यदि अतीद्रिय से मानो तो बाह्य पदार्थों का ज्ञान मानना होगा ।

तथैव बौद्ध ने आस्रव रहित चित्तसतति को उत्पत्ति को ही मोक्ष माना है सो भी ठीक नही है क्योंकि ज्ञान क्षणों में अन्वय पाया जाता है तथा निरन्वय क्षण क्षय को एकात से स्वीकार करने पर मोक्ष की सिद्धि बाधित ही है ।

[साख्याभिमत मोक्षकारणतत्त्व खण्डन]

[1]तद्विज्ञानमात्रं न परनि:श्रेयसकारण, [2]प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि शरीरेण सहावस्थानान्मिथ्याज्ञानवत्[3]। न तावदिहासिद्धो हेतु:, सर्वज्ञानामपि कपिलादीनां स्वयं प्रकर्षपर्यन्तावस्थाप्राप्तस्यापि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानोपगमात्[4]। साक्षात्सकलार्थ-ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं(1) शरीराभावे कुतोऽस्मात्तस्योपदेश:(2)प्रवर्तते ? अशरीरस्याप्तस्योपदेश-करणविरोधादाकाशवत्। [5]तस्यानुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्योपदेश इति चेन्न[6], तस्याप्रमाणत्व-शङ्कानिवृत्तेरन्या(3)ज्ञानपुरुषोपदेशवत्। यदि पुन: शरीरान्तरानुत्पत्तिर्नि:श्रेयसं न गृहीतशरीर-निवृत्ति:। [8]तस्य साक्षात्सकलतत्त्वज्ञानं कारणं, न तु(4) गृहीतशरीरनिवृत्ते:,[9] फलोपभोगात्तदुप-गमात्[?]।

[साख्य के द्वारा मान्य मोक्ष के कारण का खडन]

सांख्य—विज्ञान मात्र ही मोक्ष का कारण है अर्थात् प्रकृति और पुरुष का भेद विज्ञान मात्र ही परमनि:श्रेयस का कारण है। ऐसा साख्यो का कहना है। ये लोग चारित्र को बिल्कुल ही मानने को तैयार नही हैं।

जैन—विज्ञान मात्र ही परनि:श्रेयस (मोक्ष) का कारण नही है क्योकि आत्मा में संपूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाले ज्ञान का प्रकर्ष पर्यंत अवस्था-चरम सीमा के हो जाने पर भी आत्मा का शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है। जैसे मिथ्याज्ञान के रहने पर भी शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के क्षायिक अनतज्ञान की पूर्णता हो चुकी है फिर भी अघातिया कर्मों के शेष रहने से परमौदारिक शरीर पाया जाता है। यह हमारा हेतु असिद्ध भी नही है। आपके यहा भी ज्ञान के प्रकर्ष पर्यंत अवस्था को प्राप्त हो जाने पर भी कपिल आदि सर्वज्ञों का शरीर के साथ अवस्थान माना है। यदि सपूर्ण पदार्थों को जानने मे समर्थ ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर ही शरीर का अभाव हो जावे तो पुन आप्त का यहां उपदेश देना कैसे बनेगा ? क्योंकि अशरीरी आप्त को उपदेश करने का विरोध है जैसे कि अशरीरी आकाश उपदेश नहीं दे सकता है।

सांख्य—जिनके निखिल पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न नही हुआ है ऐसे आप्त का उपदेश देना बन जावेगा।

जैन—नही, जिसके संपूर्ण पदार्थो का ज्ञान उत्पन्न नही हुआ है उसके उपदेश में अप्रमाणत्व की शका दूर नहीं हो सकेगी अज्ञानी पुरुष के उपदेश के समान।

---

१ मात्रशब्देन दर्शनचारित्रयोर्निराश। २ सकलार्थसाक्षात्कारित्वावस्थायाम्। ३ विज्ञानमात्रस्य प्रवर्तमानत्वात्। ४ कापिलादिभि:। ५ साख्य: प्राह। आप्तस्य। ६ जैन आह।—अनुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्य पुस उपदेशस्यासत्यत्व-संभवात्। ७ शरीरान्तरानुत्पत्तिलक्षणस्य। नि:श्रेयसस्य। ८ (गृहीतशरीरनिवृत्तौ न सकलतत्त्वज्ञानं कारणं, गृहीतशरीरनिवृत्तौ फलोपभोगस्य कारणत्वात्)। ९ (गृहीतशरीरनिवृत्ति: फलोपगमादेव भवतीत्युपगमात्सांख्यै:।

---

(1) ज्ञानोत्पन्नानतरमिति पा. दि. प्र.। (2) प्रवर्तेन इति पा.। (3) कपिलादेरन्यपुरुष। (4) न च इति पा.।

तत. पूर्वोपात्तशरीरेण सहावतिष्ठमानात्तत्त्व[1]ज्ञानादाप्तस्योपदेशो युक्त इति मतं[१] तदा हेतुः सिद्धोभ्युपगतस्तावत्[२] । स च परनिःश्रेयसाऽकारणत्वं तत्त्वज्ञानस्य साधयत्येव, भाविशरीरस्येवोपात्तशरीरस्यापि निवृत्तेः परनिःश्रेयसत्वात्,[2] [३]तस्य च [४]तद्भावेप्यभावात्। [५]फलोपभोगकृतोपात्तकर्मक्षयापेक्षं[3] तत्त्वज्ञानं परनिःश्रेयसकारणमित्यप्यनालोचिताभिधानं[६] फलोपभोगस्यौपक्रमिकानौ[4]पक्रमिकविकल्पानतिक्रमात्[5]। तस्यौ[७]पक्रमिकत्वे कुतस्तदु[6]पक्रमोन्यत्र[८]तपोतिशयात्[९] । इति तत्त्वज्ञानतपोतिशयहेतुकं परनिःश्रेयसमायातम्[१०] । [११]समाधिविशेषादुपात्ता-

सांख्य—नये शरीर की उत्पत्ति का न होना ही मोक्ष है न कि ग्रहण किये हुये शरीर का भी छूट जाना। क्योकि मोक्ष साक्षात् सकल पदार्थो के ज्ञान रूप कारण से है न कि गृहीत शरीर की निवृत्ति (अभाव) होने से। अर्थात् गृहीत शरीर का अभाव होने में सकल पदार्थो का तत्त्वज्ञान कारण नही है, प्रत्युत गृहीत शरीर का अभाव फल के उपभोग से होता है। इसलिये पूर्वोपात्त शरीर के साथ अवस्थान होने से तत्त्वज्ञान से आप्त का उपदेश युक्त ही है।

जैन—तब तो हमारा हेतु सिद्ध ही है क्योकि ज्ञान की प्रकर्ष पर्यंत अवस्था (केवलज्ञान) के हो जाने पर भी आत्मा का शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है। इसलिये पर निःश्रेयस (मोक्ष) के लिये तत्त्वज्ञान साक्षात् कारण नही है यह बात सिद्ध हो जाती है क्योकि भाविशरीर के समान उपात्त गृहीत शरीर का भी अभाव होने से ही "पर निःश्रेयस" होता है अतः तत्त्वज्ञान पूर्ण हो जाने पर भी मोक्ष का अभाव देखा जाता है।

सांख्य—शुभ अशुभ रूप कर्म फल का उपभोग (अनुभव) कर लेने के बाद उपात्त कर्मो का क्षय हो जाने से जो तत्त्वज्ञान होता है वह मोक्ष का कारण है।

जैन—आपका यह कथन भी विचार शून्य ही है। फलोपभोग के दो भेद है—१. औपक्रमिक २. अनौपक्रमिक और फलोपभोग इन दोनों भेदो का उल्लघन नही करता है। यदि फल का अनुभवन औप-

१ साख्यस्य। २ अस्माभि. स्याद्वादिभिरङ्गीकृतः प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानादित्यय हेतु.। ३ परनि.श्रेयसत्वस्य। ४ तत्त्वज्ञानभावेपि। ५ (साख्यः) फलाना शुभाशुभानामुपभोगोऽनुभवन तेन कृतो योसावुपात्तकर्मणा क्षयस्तस्य अपेक्षा यस्य तत्तथोक्तम्। ६ जैनः प्राह। ७ फलोपभोगस्य। ८ विना। ९ (तपोतिशयस्या-कामनिर्जराकारणत्वमुक्तम्)। १० न तु तत्त्वज्ञानमात्रहेतुकम्। ११ तत्वज्ञानतपोतिशयहेतुकत्वाभावेपि मोक्षस्य स्थिरीभूततत्त्वज्ञानमेव हेतुरित्यदोष इति साख्य।

(1) मानस्य तत्त्व इति पा. दि. प्र.। (2) यथा भाविशरीरस्याभाव· परनिःश्रेयसत्व घटते। तथा गृहीतशरीरस्याप्यभावः। कस्मात्तस्य परनिःश्रेयसस्य तद्भावे तत्त्वज्ञानसद्भावेऽपि सति असंभवात्। दि. प्र.। (3) फलानां शुभाशुभानामुपभोगोऽनुभवन तेन क्षयो योऽसावुपात्तकर्मणां क्षयस्तस्यापेक्षा यस्य तत्तथोक्त। (4) अविपाक निर्जरा। सविपाक-निर्जरा। (5) अनौपक्रमिकफलोपभोगस्य परनिःश्रेयसकारणत्वेन परैरनभ्युपगमादेवात्र तस्य परिहारो नोच्यते—दि. प्र.। (6) तस्य फलोपभोगस्याधिकतपसः सकाशात् अन्यत्रोपक्रम. कुतः न कुतोऽपि। एतावता तपसा यो विपाकः स सकाम इत्यायातं—दि. प्र.।

शेषकर्मफलोपभोगोपगमाददोष[1] इति चेत् क.[१] पुनरसौ समाधिविशेषः ? स्थिरीभूतं ज्ञानमेव स इति चेत् [2]तदुत्पत्तौ परनिःश्रेयसस्य भावे स [3]एवाप्तस्योपदेशाभाव[4]। [५]सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थैर्यावस्था[२]यामसमाधिरूपस्योपजनने युक्तोय योगिनस्तत्त्वोपदेश इति [४]चेन्न, सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थैर्यविरोधात्तस्य[५] कदाचिच्चलनानुपपत्तेः, [६]अक्रमत्वाद्विष[७]यान्तरसंचरणाभावात्, अन्यथा[८] सकलतत्त्वज्ञानत्वासभवादस्मदादिज्ञानवत् । अथ[९] तत्त्वोपदेशदशायां योगिनोपि ज्ञानं विनेयजनप्रतिबोधाय व्याप्रियमाणमस्थिरमसमाधिरूपं पश्चान्निवृत्तसकलव्यापारं स्थिर समाधिव्यपदेशमास्कन्द[5]तीत्युच्यते तर्हि[१०] समाधिश्चारित्रमिति नाममात्रं भिद्यते, नार्थ[११] ।

क्रमिक-अविपाक निर्जरा से होता है तो तपोतिशय को छोड़कर वह उपक्रम रूप अविपाक निर्जरा और अन्य किस कारण से हो सकती है अर्थात् तपश्चर्या आदि ही औपक्रमिक निर्जरा में कारण है इसलिये तपश्चर्या के अतिशय विशेष से होने वाला तत्त्वज्ञान ही मोक्ष के लिये कारण है यह बात सिद्ध हो गई।

सांख्य—उपात्त-उपार्जित किये गये पूर्व के अशेष कर्मो के फल का उपभोग समाधि विशेष से हो जाता है ऐसा हमने माना है इसमें कोई दोष नही आता है।

जैन—यह समाधि विशेष क्या है ?

साख्य—स्थिरीभूत ज्ञान का ही नाम समाधि विशेष है।

जैन—तब तो स्थिरीभूत ज्ञान के उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावेगा। पुन. आप्त के उपदेश का अभाव ही हो जावेगा।

सांख्य—अस्थैर्य अवस्था में सकल पदार्थों का तत्त्वज्ञान असमाधि रूप है अतः योगी का तत्त्वोपदेश करना युक्त ही है। अर्थात् जब संपूर्ण तत्त्वज्ञान अस्थिर रहता है तब असमाधि रूप अवस्था है उस समय योगी उपदेश देते हैं।

जैन—सकल तत्त्वज्ञान मे अस्थिर अवस्था का विरोध है अर्थात् पूर्णज्ञान में चलायमान अवस्था कदाचित् भी नही हो सकती है क्योंकि सकलज्ञान युगपत् सपूर्ण पदार्थों को जान लेता है अतः क्रम से पृथक्-पृथक् विषय में सचरण करने का अभाव है अन्यथा सकल तत्त्वो का ज्ञान होना असभव हो जावेगा हम लोगो के ज्ञान के समान।

---

१ स्याद्वादी। २ सांख्यः। ३ चलावस्थायाम्। ४ जैनः। ५ अस्थैर्यविरोध दर्शयति। ६ चलनानुपपत्ति कुतः ? ७ अक्रमः कुत. ? ८ विषयान्तरसञ्चरणे सति। ९ साख्यः। १० जैन। ११ अर्थोऽभिप्रायस्तु न भिद्यते।

---

(1) समाधिविशेषस्य स्थिरीभूतज्ञानत्वेन तत्त्वज्ञानतपोतिशयद्वयहेतुकत्वाभावाददोष इति भावः। दि.प्र। (2) स्थिरीभूतज्ञानोत्पत्तौ सत्या स परनि.श्रेयससंभवः तस्मिन् सति स एव पूर्वोक्तः आप्तस्योपदेशाभाव सभवति—दि. प्र.। (3) परनिःश्रेयसे शरीराभावादशरीरस्याप्तस्योपदेशकरणविरोधादाकाशवत् भाविशरीरस्येवोपात्तशरीरस्यापि निवृत्तिः परनि.श्रेयसमिति वचनात्। (4) सकलतत्त्वज्ञानस्य विषयातरसचरणाभावेनास्थैर्याभावाद्यदैव परनि.श्रेयसप्राप्तिस्ततश्चोपदेशाभाव इति भावः —दि. प्र.। (5) स्वीकरोति।

तत्त्वज्ञानादशेषाज्ञाननिवृत्ति[1]फलादन्यस्य[१] परमोपेक्षालक्षणस्वभावस्य [२]समुच्छिन्नक्रिया-[2]ऽप्रतिपातिपरमशुक्लध्यानस्य तपोतिशयस्य समाधिव्यपदेशकरणात् । तथा चारित्रसहितं तत्त्वज्ञानमन्तर्भूततत्त्वार्थश्रद्धानं [3]परनिःश्रेयसमनिच्छतामपि कपिलादीनामग्रे[३] व्यवस्थितम् । ततो न्यायविरुद्धं सर्वथैकान्तवादिना ज्ञानमेव मोक्षकारणतत्त्वम् । स्वागमविरुद्धं च, सर्वेषामागमे [4]प्रव्रज्याद्यनुष्ठानस्य[४] सकलदोषोपरमस्य[५] च बाह्यस्याभ्यन्तरस्य च चारित्रस्य मोक्षकारणत्वश्रवणात् ।

सांख्य—योगियो का ज्ञान तत्त्वोपदेश के समय शिष्य जनों को प्रतिबोधन करने के लिये प्रवृत्त होता हुआ अस्थिर और असमाधि रूप है । पश्चात् वही ज्ञान सकल व्यापार से निवृत्त (रहित) होकर स्थिर समाधि नाम को प्राप्त कर लेता है ।

जैन— तब तो इस कथन से समाधि और चारित्र इनमे नाम मात्र का ही भेद रह जाता है अर्थ से भेद कुछ भी नही दीखता है । अशेष अज्ञान की निवृत्ति है फल जिसका ऐसे तत्त्वज्ञान से भिन्न परमोपेक्षा लक्षण स्वभाव वाला समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति नामक परम शुक्लध्यान जो कि तपश्चर्या का अतिशय रूप है उसी को तुमने समाधि नाम दिया है । तथा जो चारित्र सहित है और तत्त्वार्थ श्रद्धान जिसमें अतर्गभित है ऐसा तत्त्वज्ञान ही परनिःश्रेयस (मोक्ष) का कारण है इस प्रकार को कपिल आदि स्वीकार नही करते है फिर भी उनके सम्मुख सम्यग्दर्शन और चारित्र व्यवस्थित हो ही जाते है ।

इसलिये ज्ञान ही मोक्ष के लिये कारणभूत तत्त्व है इस प्रकार सर्वथा एकातवादियो का कथन न्याय से विरुद्ध है और उनके आगम से भी विरुद्ध है क्योंकि सभी के आगम मे दीक्षा आदि बाह्य चारित्र के अनुष्ठान और सकल दोषों की उपरति रूप आभ्यतर चारित्र मोक्ष के कारण है ऐसा सुना जाता है ।

विशेषार्थ— जैन सिद्धात मे तेरहवे गुणस्थान मे केवलज्ञान पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है, जिसे अनंतज्ञान अथवा क्षायिकज्ञान भी कहते है । यह ज्ञान की पूर्णावस्था है । यहा नव केवललब्धि के प्रकट हो जाने से 'परमात्मा' यह सज्ञा आ जाती है । यहा पर शील के १८ हजार भेद पूर्ण हो जाते है, किन्तु ८४ लाख उत्तरगुणो की पूर्णता १४ वे गुणस्थान के अत में होती है और रत्नत्रय की पूर्णता भी वही पर होती है ऐसा श्लोकवार्तिक में स्पष्ट किया है ।

समयसार ग्रन्थ में ज्ञान मात्र से बध का निरोध माना है वहा पर भी श्री जयसेन स्वामी ने टीका में स्पष्ट किया है यथा—

णादूण आसवाण असुचित्त च विवरीयभाव च ।
दुक्खस्स कारणत्ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७७॥

१ भिन्नस्य । २ नष्टव्यापारार्ऽविनाशीति स्वरूप तत्शुक्लध्यानस्य । ३ कपिलादीनां सम्मुखम् । ४ बाह्यचारित्ररूपस्य । ५ आभ्यन्तरचारित्ररूपस्य ।

(1) बसः । (2) व्यापार । अविनाशि । (3) निःश्रेयसकारणम इति पा. । (4) अनशनादितप ।

[अन्यैः कल्पितं संसारतत्त्वमपि सर्वथा विरुद्धमेव]

तथा संसारतत्त्वं चान्येषां न्यायागमविरुद्धम् । तथा हि । नास्ति नित्यत्वाद्येकान्ते [1]कस्यचित्संसारः, [1]विक्रियानुपलब्धेः । इति न्यायविरोधः । समर्थयिष्यते[2] तदागमविरोधश्च, [3]स्वयं पुरुषस्य संसाराभाववचनाद्, [4]गुणानां संसारोपपत्तेः [5]परेषां सवृत्त्या[6] संसारव्यवस्थितेः ।

तात्पर्यवृत्ति--क्रोधाद्यास्रवाणां संबंधि कालुष्यरूपमशुचित्वं जडत्वरूपं विपरीतभावं व्याकुलत्वलक्षणं दुःखकारणत्वं च ज्ञात्वा तथैव निजात्मनः संबंधि निर्मलात्मानुभूतिरूपशुचित्वं सहजशुद्धाखंडकेवलज्ञानरूपं ज्ञातृत्वमनाकुलत्वलक्षणानंतसुखत्वं च ज्ञात्वा ततश्च स्वसंवेदनज्ञानानंतरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिरूपे परमसामायिके स्थित्वा क्रोधाद्यास्रवाणां निवृत्ति करोति जीवः । इति ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोधो भवति नास्ति सांख्यादिमतप्रवेशः । किं च यच्चात्मास्रवयोः सम्बन्धि भेदज्ञानं तद्रागाद्यास्रवेभ्यो निवृत्तं न वेति, निवृत्तं चेत्तर्हि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकवदभेदनयेन वीतरागचारित्रं वीतरागसम्यक्त्वं च लभ्यत इति सम्यग्ज्ञानादेव बंधनिषेधसिद्धिः । यदि रागादिभ्यो निवृत्तं न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावार्थः ।

अर्थ-- क्रोधादि आस्रवों के कलुषता रूप अशुचिपने को, जडता रूप विपरीतपने को, और व्याकुलता लक्षण दुःख के कारणपने को जानकर एवं अपने आत्मा के निर्मल आत्मानुभूति रूप शुचिपने को सहज शुद्ध अखण्ड केवलज्ञान रूप ज्ञातापन को और अनाकुलता लक्षण अनंतसुख रूप स्वभाव को जानकर उसके द्वारा स्वसंवेदन ज्ञान को प्राप्त होने के अनन्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में एकाग्रता रूप परमसामायिक में स्थित होकर यह जीव क्रोधादिक आस्रवों की निवृत्ति करता है इस प्रकार ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है । यहाँ सांख्य मत जैसा ज्ञानमात्र से बंध का निरोध नहीं माना गया है । (किन्तु वैराग्यपूर्ण ज्ञान को ज्ञान कहा गया है और उससे बंध का निरोध होना है ।) किं च हम तुममे पूछते हैं कि आत्मा और आस्रव संबंधी जो भेद ज्ञान है वह रागादि आश्रवों से निवृत्त है या नहीं ? यदि कहो कि निवृत्त है तब तो उस भेदज्ञान में पानक (पीने की वस्तु ठंडाई इत्यादि) के समान अभेदनय से वीतराग चारित्र भी और वीतराग सम्यक्त्व भी है, इस प्रकार सम्यग्ज्ञान से ही बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है,और यदि वह भेद ज्ञान रागादि से निवृत्त नहीं है तो वह सम्यग्भेदज्ञान ही नहीं है ।

[अन्यों के द्वारा मान्य संसार तत्त्व सर्वथा विरुद्ध ही हैं]

उसी प्रकार अन्यमतावलंबियों का संसारतत्त्व भी न्यायागम से विरुद्ध है । तथाहि "नित्य क्षणिक

१ (येषां मते नित्य एवात्मा तेषां मते आत्मनो भवान्तरावाप्तिरूपः संसारो न संभवति आत्मनो नित्यत्वेन विकारानुपपत्तेः) । २ (अग्रेऽस्माभिः) । ३ न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्यादि च वदद्भिः । ४ सत्त्वरजस्तमसाम् । प्रकृतिविकृत्यहङ्कारादीनाम् । ५ सांख्यानाम् । सौगतानामिति टिप्पण्यन्तरम् । ६ कल्पनया ।

(1) आत्मनः ।

[सांख्यादिमान्य संसारकारणतत्त्वमपि प्रत्यक्षादि प्रमाणैर्बाध्यते]

तथा संसारकारणतत्त्वं चान्येषां न्यायागमविरुद्धम् ।

[सांख्याभिमतसंसारकारणनिराकरणं]

[1]तद्धि मिथ्याज्ञानमात्रं तैरुररीकृतम् । न च तत्कारणः संसारः, [2]तन्निवृत्तावपि [1]संसारानिवृत्तेः । यन्निवृत्तावपि यन्न निवर्त्तते न तत्तन्मात्रकारणम् । यथा [2]तक्षादि-

आदि एकांत में किसी भी जीव को संसार नहीं है क्योंकि विक्रिया—नर नारकादि पर्याय विशेष रूप क्रिया की उपलब्धि होना संभव नहीं है । अर्थात् जिनके मत में आत्मा सर्वथा नित्य ही है उनके मत में आत्मा के भवांतर की प्राप्ति रूप संसार संभव नहीं है । आत्मा को नित्य रूप मानने से विकार (परिणमन) हो नहीं सकता है । इस प्रकार यहां न्याय से विरोध आता है और आगम से विरोध का वर्णन आगे करेंगे ।

किन्हीं ने (सांख्यों ने) स्वयं ही पुरुष के संसार का अभाव माना है पुनः उनके यहां गुणों (सत्त्व, रज, तम) को ही संसार सिद्ध हो जाता है तथा बौद्धों ने तो संवृत्ति (कल्पना मात्र) से ही संसार को माना है । इन सबका माना हुआ संसार तत्त्व भी ठीक तरह से सिद्ध नहीं होता है अतः जैनों के द्वारा मान्य पंचपरावर्तन रूप या भवांतर रूप संसार तत्त्व ही ठीक सिद्ध होता है ।

[अन्यों के द्वारा मान्य संसार कारण भी विरुद्ध है]

इस प्रकार अन्य जनों के द्वारा मान्य संसार कारण तत्त्व भी न्याय-आगम से विरुद्ध है । अर्थात् अद्वैतवादी संसार को काल्पनिक ही मानते हैं तो उनके यहां संसार के कारण भी काल्पनिक-असत्य ही रहेंगे । सांख्य ने मिथ्याज्ञान मात्र से ही संसार को माना है इसका खंडन भी आगे विद्यानंद आचार्य स्वयं कर रहे हैं । तात्पर्य यही है कि सभी अन्य मतावलंबियों के द्वारा कल्पित जितने भी संसार और मोक्ष के कारण हैं वे सभी संसार के ही कारण हैं ऐसा समझना चाहिये । हमारे यहां मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच कारण माने गये हैं । अन्य सभी के सभी कारण इन्हीं में शामिल हो जाते हैं ।

[सांख्य के द्वारा मान्य संसार के कारण का खंडन]

सांख्यों ने मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है, किन्तु उतने मात्र कारण वाला संसार नहीं है क्योंकि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी संसार का अभाव नहीं होता है । "जिसकी निवृत्ति हो जाने पर भी जो निवृत्त नहीं होता है वह उस मात्र कारण वाला नहीं है जैसे तक्षादि(बढ़ई-सुतार) के निवृत्त हो जाने पर भी देवगृहादिक का अभाव नहीं होता है इसलिये वे उस मात्र कारणक नहीं हैं । तथैव मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी संसार का अभाव नहीं होता है अतः संसार मिथ्याज्ञान मात्र कारण वाला नहीं है ।" यहां यह हेतु असिद्ध भी नहीं है ।

१ संसारकारणतत्त्वम् । २ मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ ।

(1) कस्यचिन्मिथ्याज्ञानं नास्ति तथापि संसारोऽस्ति । (2) सूत्रधारादि ।

निवृत्तावप्यनिवर्तमानं देवगृहादि न तन्मात्रकारणम् । मिथ्याज्ञाननिवृत्तावप्यनिवर्त्तमानश्च संसारः । तस्मान्न मिथ्याज्ञानमात्रकारणक इति । अत्र न [1]हेतुरसिद्धः, सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ मिथ्याज्ञाननिवृत्तावपि [2]दोषानिवृत्तौ संसारानिवृत्तेः [3]स्वयमभिधानात्[1] । दोषाणां संसारकारणत्वावेदकागमस्वीकरणाच्च तन्मात्रं संसारकारणतत्त्वं न्यायागमविरुद्धं सिद्धम् । तदेवमन्येषा न्यायागमविरुद्धभाषित्वादर्हन्नेव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् सर्वज्ञो वीतरागश्च निश्चीयते । तत. स एव [4]सकलशास्त्रादौ प्रेक्षावतां[2] संस्तुत्यः ।

सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति के हो जाने पर तथा मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी दोष (राग, द्वेषादि) की निवृत्ति न होन से ससार का अभाव नही होता है ऐसा सांख्यों ने स्वयं माना है । अर्थात् जैन सिद्धात मे भी सम्यक्त्व प्रगट होते ही चौथे गुणस्थान में मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान का अभाव हो गया है फिर भी ससार का अभाव नही हुआ है । सम्यक्त्व छूटने के बाद यह जीव अर्द्धपुद्गल परावर्तन तक ससार मे भ्रमण कर सकता है और सम्यक्त्व सहित भी ६६ सागरोपम से कुछ अधिक काल तक संसार में रह सकता है । अतएव मिथ्याज्ञान मात्र ही ससार का कारण नही है ।

पुन: अन्य लोगो ने भी दोषों को ससार का कारण माना है इस बात को आगम भी स्वीकार करता है । इसलिये मिथ्याज्ञान मात्र से ही संसार होता है यह कथन न्याय एवं आगम से विरुद्ध है यह बात सिद्ध हो जाती है और इस प्रकार से अन्य सभी के आप्त भगवान् न्यायागम से विरुद्ध भाषी है अतः अर्हत ही युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाले है एव सर्वज्ञ और वीतराग है ऐसा निश्चित हो जाता है । अतः वे ही सकल शास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की आदि-प्रारम्भ में बुद्धिमानों के द्वारा स्तवन करने योग्य है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

१ तन्निवृत्तावपि संसारानिवृत्तेरिति । २ दोषा· रागद्वेषाः । ३ सांख्यैः । ४ सकल तत्त्वार्थादि ।

(1) सौगतै. । (2) गृद्धपिच्छाचार्यादीना । उमास्वामिप्रसिद्धापरनाम ।

सांख्याभिमत संसार-मोक्ष कारण के खंडन का सारांश

सांख्य ज्ञान मात्र को ही मोक्ष का कारण मानते हैं सो ठीक नहीं है । कारण कि सर्वज्ञ भगवान् के क्षायिक अनंतज्ञान की पूर्णता हो जाने पर भी अघातिया कर्मों के शेष रहने से उनका परमौदारिक शरीर पाया जाता है । यदि ज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावे तो यहां पर अवस्थान एवं उपदेश आदि नहीं घटेगा । तथा यदि ज्ञान ही एकांत से मोक्ष का कारण होवे तो सभी के आगम में दीक्षा आदि बाह्य चारित्र का अनुष्ठान एवं सकल दोषों की उपरति रूप आभ्यंतर चारित्र स्वीकार किया गया है सो व्यर्थ हो जावेगा ।

हम जैनों ने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस आगम सूत्र से मार्ग को अर्थात् मोक्ष के कारण को माना है । यदि मोक्ष को अकारणक कहेंगे तो सर्वदा सर्वत्र सभी जीव के मोक्ष का प्रसंग आ जावेगा । तथैव अन्य जनों का संसार कारण तत्त्व न्याय आगम से विरुद्ध है ।

सांख्यों ने "मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है" सो ठीक नहीं है । मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी रागादि दोषों की निवृत्ति न होने से संसार का अभाव नहीं होता है । यह बात स्वयं सांख्यों ने मानी है । अतएव हम जैनों को मान्य संसार के कारण आगम में प्रसिद्ध है ।

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बंधहेतवः" ये बंध के कारण ही संसार के कारण हैं क्योंकि संसार के कारण अनादि होते हुये भी निर्हेतुक नहीं हैं । ये कारण भव्य जीवों की अपेक्षा अंत सहित हैं एवं अभव्यों की अपेक्षा अनादि अनंत हैं । अतएव अर्हंत भगवान के शासन में मोक्ष, संसार एवं दोनों के कारण सिद्ध ही हैं ।

[बौद्धः शंकते यत् वीतरागोऽपि सरागवत् चेष्टां कर्तुं शक्नोति शरीरित्वात्, जैनाचार्या अस्य समाधानं कुर्वते]

ये[1] [1]त्वाहुः—'सतोपि यथार्थदर्शिनो वीतरागस्येदन्तया[2] निश्चेतुमशक्तेस्तत्कार्यस्य व्यापारादेस्तद्व्यभिचारादवीतरागेपि[3] दर्शनात्, सरागाणामपि वीतरागवच्चेष्टमानानामनिवारणात्कस्यचित् स त्वमेवाप्त इति निर्णयः संभवति' इति तेषामपि, [2]विचित्राभिसंबन्ध[4]तया[5] व्यापारव्याहारादिसाङ्कर्येण [6]क्वचिदप्यतिशयानिर्णये[7] [3]कैमर्थक्याद्विशेषेष्टि[8]:, [4]ज्ञानवतोऽपि विसंवादात्, [5]क्व पुनराश्वासं[9] [6]लभमहि ? * न हि ज्ञानवतो वीतरागात्पुरुषाद्विसंवादः [10]क्व-

[बौद्ध शंका करता है कि वीतराग भी सरागवत् चेष्टा कर सकते हैं क्योंकि वे शरीर धारी हैं इस पर जैनाचार्यों का समाधान]

बौद्ध—यथार्थदर्शी वीतराग के होते हुये भी "ये ही वीतराग हैं" इस प्रकार से निश्चय करना अशक्य है क्योंकि वीतराग के कार्य व्यापारादि अवीतराग में भी देखे जाते हैं अतः व्यभिचार दोष आता है। सराग भी वीतरागवत् चेष्टा कर सकते हैं उनका निवारण कोई भी नहीं कर सकता है अतः किसी भी जीव में 'वे आप ही आप्त हैं' इस प्रकार से निर्णय नहीं हो सकता है। अर्थात् सराग जीवों में भी वीतराग के समान चेष्टायें होने पर भी वीतराग जीवों मे वचन आदि का अतिशय विशेष देखा जाता है वह सर्वज्ञ आप्त आप ही है ऐसा जैनाचार्यों के कहने पर बौद्ध कहता है कि मानसिक अभिप्रायों की विचित्रता से शारीरिक और वाचनिक क्रियाओं में संकर हो जाता है अतः किसी भी पुरुष में वचनादिकों के अतिशय का निर्णय करना असंभव है। इसी बात को आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

जैन—विचित्र अभिप्राय के होने से एवं व्यापार व्यवहारादि की संकरता से कहीं पर कपिलादि के समान सुगत में भी अतिशय का निर्णय न होने पर किस प्रकार से अर्थात् किस अर्थ का आश्रय लेकर के विशेष आप्त पने की इष्ट सिद्धि होगी क्योंकि केवल वीतरागी में ही नहीं बल्कि ज्ञानवान में भी विसंवाद पाया जाता है पुनः हम लोग कहां पर विश्वास करेंगे ? *अर्थात् अर्हंत भगवान् आप्त हैं क्योंकि वे सवादक हैं इस पक्ष में हम लोगों को कहीं भी विश्वास नहीं हो सकेगा।

ज्ञानवान वीतराग पुरुष से कहीं पर किसी विषय में विसंवाद संभव नहीं है अन्यथा सुगतादि में

१. सौगताः। २ अयमेवेति प्रकारेण। ३ अवीतरागेपि दर्शनादेव व्यभिचारः। ४ विचित्राभिसन्धितया इति पाठान्तरम्। ५ अभिप्रायतया। हेतुरयं, तृतीयान्तस्यापि हेतुत्वात्। ६ कपिलादाविव सुगतेपि। ७ सरागाणां वीतरागवच्चेष्टमानानां मायाविनामपि नानापरिणामत्वेन गमनवचनादिसङ्करत्वेन क्वचिदपि पुरुषे माहात्म्यानिश्चये सति विशेषाभिमत (सुगत) स्यानर्थक्यं घटते। एवं सति ज्ञानिनोपि असत्यत्वं घटते। ८ सुगतस्य। ९ विश्वासम्। १० विषये।

(1) युक्तिशास्त्राविरोधित्वात् तस्य साधनस्यान्यथानुपपत्तिनिश्चायकं विचित्रेत्यादिभाष्यवाक्यमवतारयंति। (2) सरागाणामपि वीतरागवच्चेष्टासद्भावेऽपि व्याहारादिकार्यातिशयदर्शनात् स त्वमेवाप्त इति निर्णयः संभवत्येवेति वदंतं जैनं प्रति सौगतेन कथ्यमानस्य विचित्राभिसंधितया व्यापारव्याहारादिसाकर्येण क्वचिदप्यतिशयानिर्णय इति वचनोद्घाटनपुरस्सरं तत्र दूषणमाहुः विचित्रेति। दि. प्र.। (3) किमर्थमाश्रित्येति किं शब्दः आक्षेपे। (4) न केवलं वीतरागात्। (5) अर्हन् आप्तः संवादकत्वादित्यस्मिन् पक्षे। (6) न क्वापि।

चित्संभवति ¹सुगतादावप्यनाश्वासप्रसङ्गात्[1] ²तस्य कपिलादिभ्यो विशेषेष्टेरानर्थक्यप्रसङ्गात् । न च व्यापारव्याहाराकारविशेषाणां ³तत्र ⁴साङ्कर्यं सिध्यति, विचित्राभिसन्धितानुपपत्तेः[2] ⁵तस्याः पृथग्जने रागादिमत्यज्ञे प्रसिद्धेः प्रक्षीणदोषे भगवति ⁶निवृत्तेः, अस्य यथार्थ-प्रतिपादनाभिप्रायतानिश्चयात् । ⁷कुतश्चायं ⁸सर्वस्य विचित्राभिप्रायतामदृश्यां व्यापारादि-साङ्कर्यहेतुं निश्चिनुयात् ? ⁹शरीरित्वादेर्हेतोः ³स्वात्मनीवेति चेत् ¹⁰तत एव सुगतस्यासर्वज्ञत्व-निश्चयोस्तु । ⁴तत्रास्य¹¹ ¹²हेतोः सन्दिग्धविपक्ष⁵व्यावृत्तिकत्वान्न¹³ तन्निश्चयः । ⁶शरीरी च

भी अविश्वास का प्रसग आ जावेगा और सुगत को कपिल आदि से विशेष मानने मे अनर्थकता का प्रसग भी आ जावेगा, किन्तु व्यापार, व्याहार, आकारादि विशेषों का भगवान् में साकर्य सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् सराग वीतरागवत् चेष्टा करे और वीतराग सरागवत् चेष्टा करें इसे संकर कहते हैं। यह संकर दोष भगवान् में सभव नही है क्योंकि उनके विचित्र अभिप्राय नही पाया जाता है। अर्थात् सराग यथार्थ अभिप्राय वाले है और वीतराग अयथार्थ विचार वाले है यह बात गलत है। विचित्र अभिप्रायपना तो रागादिमान् अज्ञानी पृथग्जन-साधारण मनुष्य मे ही प्रसिद्ध है। सर्वदोप रहित वीतराग भगवान् में उसका अभाव है क्योंकि सर्वज्ञ भगवान यथार्थ प्रतिपादन के अभिप्राय वाले है ऐसा निश्चय पाया जाता है। तथा आप सौगत सभी के अदृश्य-रूप न दिखने वाले विचित्र अभिप्रायो को व्यापारादि साकर्य हेतुक कैसे निश्चित करेगे ? अर्थात् अभिप्राय तो आतरिक है अतः उनका बाह्य व्यापारादि कार्यो से निर्णय नही किया जा सकता है।

सौगत—'शरीरित्वादि' हेतु से स्वात्मा के समान ही विचित्राभिप्रायता निश्चित है अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग में विचित्राभिप्राय है क्योंकि वे शरीर धारी है हम लोगो के समान।

जैन—इसी 'शरीरित्व' हेतु से ही बुद्ध देव के असर्वज्ञपने का निश्चय हो जावे क्या बाधा है ? अर्थात् आपके बुद्ध भी शरीरवान् है अतः वे भी असर्वज्ञ है ऐसा हम कह सकते है ?

१ अन्यथा (ज्ञानवतोपि विसवाद सभवति चेत्) । २ सुगतस्य । ३ ज्ञानवति । ४ सरागो वीतरागवद्वीतरागश्च सरागवच्चेष्टते इति साङ्कर्यम् । ५ (विचित्राभिसन्धितायाः) । ६ (विचित्राभिसन्धितायाः) । ७ सौगतः । ८ सर्वज्ञस्यासर्वज्ञस्य वा । ९ सौगतः प्राह ।—सर्वज्ञे वीतरागे विचित्राभिप्रायोस्ति, शरीरित्वादस्मदादिवत् । १० स्याद्वादी । ११ सुगते । १२ शरीरित्वादेरित्यस्य । १३ शरीरी चास्तु सर्वज्ञश्चेति सन्दिग्धा विपक्षाद्व्यावृत्तिर्यस्य हेतोः स । तत्त्वात् ।

(1) अविश्वास । (2) सरागवीतरागाभिप्रायः यथार्थायथार्थप्रतिपादनाभिप्राय. । (3) सौगतोऽनुमानं रचयति । भगवान् पक्षः विचित्राभिप्रायवान् भवतीति साध्यो धर्म. । शरीरित्वादेः । यः शरीरी स विचित्राभिप्रायवान् यथास्मदादिः । दि. प्र. । (4) तत्र सुगते शरीरित्वादिर्हेतोरस्य विपक्षात् । व्यावृत्तिकत्व सदिग्ध व्यावर्तते न व्यावर्तते चेति सदेहः । यः विचित्राभिप्रायवान् नास्ति स शरीरी नास्ति । इति विपक्षलक्षण । तत्र संदेह. कथ । कश्चिद्विचित्राभिप्रायरहितोऽपि शरीरीति सौगतो वदति अतस्तस्य असर्वज्ञत्वस्य निश्चयो न । शरीरी च भवति सर्वज्ञश्च भवति । अत्र विरोधो नास्ति कस्मात् ? विज्ञानोत्कृष्टत्वे पुरुषे वचनादिविनाशानुपलभात् । दि. प्र. । (5) विचित्राभिप्रायरहितत्व । (6) सदिग्ध-विपक्षव्यावृत्तिकत्व कथमित्याशंकायामाह ।

स्यात्सर्वज्ञश्च, विरोधाभावात्[1], [१]विज्ञानप्रकर्षे [2]शरीराद्यपकर्षादर्शनादिति चेत्तत[२] एव [3]सर्वज्ञस्य विचित्राभिप्रायतानिश्चयोपि मा भूत्, तत्रापि प्रोक्तहेतोः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाविशेषात्[4]। [३]सोयं विचित्रव्यापारादिकार्यदर्शनात्सर्वस्य विचित्राभिसन्धितां निश्चिनोति, न पुनः कस्यचिद्वचनादिकार्यातिशयनिश्चयात् सर्वज्ञत्वाद्यतिशयमिति[5] [४]कथमनुन्मत्तः ? [6]कैमर्थक्याच्चा[५]स्य[६] सन्तानान्तरस्वसन्तानक्षण[7]क्षयस्वर्गप्रापणशक्त्या[७]देर्विशेषस्येष्टिः ? विप्रकृष्टस्वभावत्वाविशेषात्[8], [८]वेद्यवेदकाकाररहितस्य [9]वेदनाद्वैतस्य वा विशेषस्य[९]

बौद्ध—हमारे बुद्ध में इस हेतु से असर्वज्ञता की सिद्धि नहीं है क्योंकि यह हेतु बुद्ध मे सदिग्ध विपक्ष व्यावृत्तिक है। शरीरी भी होवें और सर्वज्ञ भी होवे इस प्रकार से इसमे विरोध का अभाव है क्योंकि विज्ञान का प्रकर्ष होने पर शरीरादिक का अपकर्ष नहीं देखा जाता है।

जैन—इसी हेतु से सर्वज्ञ के विचित्राभिप्रायता का निश्चय भी मत होवे क्योकि सर्वज्ञ में भी यह हेतु सदिग्धविपक्षव्यावृत्ति वाला है।

आप बौद्ध विचित्र व्यापारादि कार्यों के देखने से सभी के विचित्र अभिप्रायपने का निश्चय तो कर लेते है, किन्तु किसी जीव में वचनादि कार्यों के अतिशय का निश्चय देखकर भी सर्वज्ञत्व आदि अतिशय को नहीं मानते हुये आप उन्मत्त कैसे नहीं हो सकते है अर्थात् आप बुद्धिमान् कैसे कहे जा सकते है ? 'शारीरिक और वाचनिक कार्यों में सवादकत्व आदि सफरता के देखने से आप्त निश्चित नहीं है ऐसा हम नहीं कह सकते है किन्तु आपके सर्वज्ञ का स्वभाव विप्रकृष्ट है, प्रत्यक्ष गम्य नहीं है। इसलिए अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं है ऐसा हम कह सकते है।' इस प्रकार बौद्ध के कहे जाने पर जैनाचार्य कहते है कि—

आप सौगत संतानातर (भिन्न-२ यज्ञदत्त, देवदत्त की सतान) और अपने सतान में क्षणक्षयी शक्ति का और स्वर्ग को प्राप्त कराने वाली शक्ति आदि की विशेषता का निश्चय भी किस हेतुसे करेगे ? क्योकि दोनो में विप्रकृष्ट-दूरवर्ती स्वभाव समान ही है एव वेद्य (ज्ञेय) वेदकाकार (ज्ञानाकार) से रहित सवेदनाद्वैत में विशेषता का निश्चय भी किस प्रकार से होगा ? अथवा जो विशेष प्रमाणभूत, जगद्धितैषी, शास्ता, रक्षक है और शोभन अवस्था को प्राप्त हो चुके है अथवा सपूर्ण अवस्था को प्राप्त है या पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) के न होने से सुष्ठु-सुगति को प्राप्त है ऐसे सुगत है। इस प्रकार इन विशेष नाम

१ विरोधाभावे हेतुमाह। २ जैन। ३ सौगतः। ४ बुद्धिमान्। ५ किं लिङ्गमाश्रित्येत्यर्थ.। ६ सौगतस्य। ७ सन्तानान्तरो देवदत्तयज्ञदत्तसन्तानः। स्वस्य आत्मनः सन्तानश्च। तयोः क्षणक्षयिणी या शक्तिः स्वर्गप्रापणस्य च या शक्तिस्तदादेर्विशेषस्येष्टिर्निश्चितिर्निरर्थिका भवति। कुत. ? दूरतरस्वभावत्वात्, उभयत्र सर्वज्ञत्वाद्यतिशये उक्तविशेषस्येष्टौ च विशेषाभावात्। ८ ज्ञानाद्वैतवादिन प्रति जैनस्योक्तिः। ९कैमर्थक्यादिष्टिरिति पूर्वेणान्वयः।

(1) असर्वज्ञनिश्चयो न शरीरी भूत्वापि सर्वज्ञोऽस्ति। (2) इंद्रिय। (3) सर्वस्य इति पा.। (4) शरीरित्वादिहेतोर्विचित्राभिप्रायता न निश्चिन्म. किन्तु विचित्रव्यापारादिदर्शनादित्यत आह। (5) न निश्चिनोति। (6) व्यापारव्याहारादिकार्यसवादकत्वादिसाकर्यं दर्शनादाप्तत्व न निश्चीयते इति नोच्यते किंतु विप्रकृष्टस्वभावत्वादित्युक्ते। (7) सर्वं क्षणिक सत्त्वात्। (8) द्वैतवादिनं बौद्धं प्रति। (9) संवेदनाद्वैतस्य इति पा.।

प्रमाणभूतस्य[1] जगद्धितैषिणः शास्तुस्तायिनः[1] शोभनं[2] गतस्य [3]सम्पूर्णं वा गतस्य पुनरनावृत्त्या[4] सुष्ठु वा गतस्य [2]विशेषस्येष्टिः ? [3]सर्वत्रानाश्वासाविशेषात् । [4]**न चैवं [5]वादिनः किञ्चिदनुमानं नाम, [5]निर[6]भिसन्धीनामपि बहुलं [6]कार्यस्वभावानियमोपलम्भात्, [7]सति काष्ठादिसामग्रीविशेषे [7]क्वचिदुपलब्धस्य[8] तदभावे प्रायशोनुपलब्धस्य [9]मण्यादिकारणकलापेपि संभवात् । [8]यज्जातीयो [9]यतः संप्रेक्षितस्तज्जातीयात्तादृगिति दुर्लभनियमतायां धूमधूमकेत्वादीनामपि व्याप्यव्यापकभावः कथमिव निर्णीयेत ? वृक्षः, शिंशपात्वादिति[10]**

वाले सुगत की विशेषता का निर्णय भी कैसे होगा ? पुनः कपिल, सुगत, अर्हंत आदि सभी में अविश्वास समान ही रहेगा क्योंकि सर्वज्ञत्वादि के अतिशय में संवेदनाद्वैत गुण में और सुगत के गुण में निर्णय न होने से समानता ही है ।

इस प्रकार से कहने वाले बौद्धों के यहाँ अनुमान नाम की कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी क्योंकि अभिप्राय रहित (अचेतन अग्नि आदि) में भी बहुधा कार्य हेतु और स्वभाव हेतु का नियम नहीं देखा जाता है । काष्ठादि सामग्री विशेष कारण के होने पर कहीं अग्नि की उपलब्धि होती है और कारण विशेष सामग्री के अभाव में प्रायः अनुपलब्धि है फिर भी मणि-सूर्यकांतमणि आदि कारण कलाप के होने पर अग्नि भी संभव है । जो जिस जाति वाला जिससे उत्पन्न हुआ देखा जाता है उस जाति वाले से ही वह वैसा होता है । इह प्रकार का नियम दुर्लभ होने पर धूमकेतु-अग्नि आदि में भी व्याप्य-व्यापक भाव का निर्णय कैसे होगा ? यह वृक्ष है क्योंकि शिंशपा है, इसी प्रकार "यह वृक्ष है क्योंकि इसमें आम्रत्व है" उसी प्रकार आम्रलता में भी कहीं-कहीं आम देखे जाते हैं । पुनः बुद्धिमान् का मन किस प्रकार से निःशंक (संदेह रहित) हो सकेगा ? अतः विदग्ध-चतुर मर्कट जैसे अपनी ही पूछ का भक्षण कर लेते हैं उसी प्रकार से आप अदृष्ट संशय एकांतवादी भी अपने पक्ष का स्वयं आप ही खंडन कर लेते हैं ।✻

सौगत—काष्ठादि सामग्री से उत्पन्न अग्नि जिस प्रकार की देखी जाती है मणि आदि सामग्री से उद्भूत

१ प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने । (इत्युक्त बौद्धैः) । २ सुगतकपिलार्हतां मध्ये । ३ सर्वज्ञत्वाद्यतिशये संवेदनाद्वैतगुणे सुगतगुणे चानिर्णीयतया विशेषाभावात । ४ अनुमानात्तद्विशेषेष्टिः स्यादित्युक्ते आह—न चैवमिति । ५ एव वादिनः सौगतस्य किञ्चिदनुमान न सम्भवति, निरभिप्रायाणामनुमानानुमेयानां बाहुल्येन कार्यस्वभावरूपयोर्हेत्वोरनिश्चयदर्शनात् । ६ अभिप्रायरहितानामचेतनादीनामग्न्यादीनामित्यर्थः । ७ कारणभूते । ८ अग्नेः । ९ मणि· सूर्यकान्तः । १० इत्यनुमान च न भवेद्यत. ।

(1) रक्षकस्य । (2) शोभनमविद्यातृष्णाशून्य ज्ञानसन्तान सप्राप्तस्य सुशब्दस्य शोभनार्थत्वात् सुरूपकन्यावत् । (3) संपूर्णं साक्षाच्चतुरार्यसत्यज्ञान सप्राप्तस्य सुशब्दस्य संपूर्णवाचित्वात् सुपूर्णकलशवत् । (4) सुष्ठु पुनरनावृत्त्या पुनरविद्यातृष्णाक्रान्तचित्तसतानावृत्तेरभावेन गतस्य सुशब्दस्य पुनरनावृत्यर्थत्वात् सुनष्टाक्षरवत् । (5) प्रायश. प्रतिपन्नाग्निधूमादीनामपि । (6) कार्यानुमानस्वभावानुमान । (7) दुर्लभनियमता कुत इत्युक्ते तत्र समर्थन । (8) यत्प्रकारः । (9) अग्नेः ।

[1]लताचूता[1]देरपि[2] [2]क्वचिदेव दर्शनात् प्रेक्षावतां किमिव[3] निःशंकं चेतः स्यात् ? [4]तदेतद-दृष्ट[5]संशयैकान्तवादिनां विदग्धमर्कटानामिव स्वलांगूलभक्षणम्[6] *। [3]ननु च [4]काष्ठादि-सामग्रीजन्योऽग्निर्यादृशो दृष्टो न तादृशो मण्यादिसामग्रीप्रभव इति यज्जातीयो यतो दृष्टः स तादृशादेव न पुनरन्यादृशादपि, यतो धूमपावकयोर्व्याप्यव्यापकभावो न निर्णीयते, [5]तथा यादृशं चूतत्वं वृक्षत्वेन व्याप्तं तादृशं न लतात्वेन, यतः शिंशपात्ववृक्षत्वयोरपि व्याप्यव्या-पकभावनियमो दुर्लभः 'स्यात्' इति [6]कश्चित्सोपि [7]प्रतीतेरपलापकः, [8]कार्यस्य [9]तादृशतया प्रतीयमानस्यापि [10]कारणविशेषातिवृत्ति[7]दर्शनात्[11] ।

अग्नि वैसी नहीं होती है इसीलिये जिस जाती वाला जिससे होता देखा जाता है वह उस जाति वाले से ही होता है न कि अन्य जाति वाले से । जिससे कि धूम और अग्नि में व्याप्य व्यापक भाव का निर्णय न हो सके अर्थात धूम और अग्नि मे व्याप्य व्यापक भाव का निर्णय होता ही है । तथा जिस प्रकार का आम्रत्व वृक्षपने से व्याप्त है उस प्रकार का आम्रत्व लता के साथ व्याप्त नहीं है जिससे कि शिंशपात्व और वृक्षत्व में भी व्याप्य-व्यापक भाव का नियम दुर्लभ होवे अर्थात् दुर्लभ नहीं है ।

जैन—इस प्रकार से कहने वाले आप सौगत भी प्रत्यक्ष प्रतीति का अपलाप करने वाले है क्योंकि कार्य रूप अग्नि उस प्रकार (सामग्रीजन्य रूप) से प्रतीत होने पर भी कारण विशेष (काष्ठादि) का कहीं पर उल्लघन करती है ऐसा देखा जाता है जैसे कि मणि आदि से अग्नि की उत्पत्ति सिद्ध है ।

भावार्थ—बौद्ध कहता है कि व्यवहार में हम देखते है कि कोई सरागी है परन्तु वचन और काय की क्रियाओं को वीतरागी के समान करता है एव कोई वीतरागी है वह सरागी के समान प्रवृत्ति कर सकता है अतः "ये ही अर्हंत हैं" यह निर्णय भी किससे हो सकेगा ? और निर्णय न हो सकने से ही आपके अर्हंत सर्वज्ञ है यह कहना असभव है ।

इस पर आचार्यों ने कहा कि सभी के मनोभिप्राय हम और आपको दिखते नहीं है तो फिर बाह्य क्रियाओं से उनका निर्णय कैसे होगा ? तब बौद्ध कहता है कि आपके वीतराग भगवान् के शरीर पाया जाता है अतः वे कुटिल-विचित्र मानसिक विचारधाराओं के हो सकते हैं अतएव वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते तब आचार्य ने कहा कि बुद्ध भगवान् को भी शरीर सहित ही आपने माना है अतः यह दोष उनमें भी सभव है ।

बौद्ध कहता है कि आपके सर्वज्ञ का स्वभाव प्रत्यक्ष गम्य नहीं है अतः अर्हंत सर्वज्ञ नहीं हो सकते

१ न केवल वृक्षचूतादेः । २ वृक्षो भवितुमर्हति, आम्रत्वात्तथा लतारूपचूतत्वात् (उभयथापि वक्तु शक्यते) । ३ परः । ४ स्वभावहेतुं मण्डयति सौगतः । ५ अपि तु न स्यादेव । ६ सौगतः । ७ प्रत्यक्षस्य । ८ वन्हेः । ९ काष्ठादिसामग्री-जन्यतया । १० कारणविशेषः काष्ठादिस्तस्यातिवृत्तिरुल्लङ्घन तस्या दर्शनात् । ११ मण्यादेर्वन्हिदर्शनात् ।

(1) चूतत्वादित्यर्थः । (2) देशे । (3) न किंचिदनुमान नाम दुर्लभनियमताया वृक्ष शिंशपात्वादिति किमिव निःशक चेतः स्याद्यतः दुर्लभनियमतापि कुत इत्युक्ते स्वभावेत्यादि हेतु. सोपि कुत इत्युक्ते लताचूतादिरित्यादिसाधन । (4) अनुमान न भवेत् यतः । चोद्य । (5) ईप् । अनुपलब्धवस्तुनि । (6) स्वपक्षक्षतिस्याद्यतः । (7) उलघन ।

[यत्नेन परीक्षितकार्याणि कारणान्यनुवर्तते]

[1]यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते इति चेत्[2] स्तुतं[1]* [3]प्रस्तुतं, [4]व्यापारादिविशेषस्यापि किञ्चिज्ज्ञरागादिमदसंभविनो यत्नतः परीक्षितस्य भगवति ज्ञानाद्यतिशयानतिवृत्तिसिद्धेः[5]। एतेन यत्नतः परीक्षितं व्याप्यं [2]व्यापकं नातिवर्तते इति [6]ब्रुवतापि स्तुतं प्रस्तुतमित्युक्तं वेदितव्यं, पुरुषविशेषत्वादेः स्वभावस्य व्याप्यस्य सर्वज्ञत्वव्यापकस्वभावानतिक्रमसिद्धेस्तद्वदविशेषात्[7]। **[3]ततोयं[8] प्रतिपत्तुरपराधो नानुमानस्येत्यनुकूलमाचरति[9]***। [4]मन्दतरधियां धूमादिकमपि परीक्षितुमक्षमाणां [10]ततो धूमध्वजादिबुद्धे-

यह बात कही जा सकती है।

जैनाचार्य कहते है कि भाई! आपके यहां भी प्रत्येक वस्तु की क्षण मे क्षय होने वाली शक्ति दिखती है क्या? मतलब जो चीज दिखती नही उनके विषय में भी कुछ न कुछ मान्यता आप रखते ही है। उसी प्रकार से यद्यपि सर्वज्ञ का स्वभाव दिखता नही है फिर भी अर्हन्त ही सर्वज्ञ है इसका निर्णय करना ही चाहिये।

[यत्न से परीक्षित कार्य कारण के अनुयायी होते हैं]

बौद्ध—यत्न से परीक्षित कार्य कारण का उल्लंघन नहीं करते हैं।

जैन—उक्त बात से तो आपने हमारे इष्ट का ही समर्थन कर दिया है।* व्यापार व्याहार आदि विशेष भी जो कि किंचिज्ज्ञ रागादिमान् जीवो में असंभवी है और यत्न से परीक्षित है वे भगवान मे सिद्ध ही है क्योकि ज्ञानादि अतिशयों की भगवान् में अबाधित रूप से सिद्धि है। इस प्रकार यत्न से परीक्षित व्याप्य हेतु व्यापक का उल्लघन नही करता है ऐसा कहते हुए आपने भी हमारे प्रकृत का ही समर्थन कर दिया है ऐसा समझना चाहिये। पुरुष विशेषत्व आदि स्वभाव व्याप्य है उसका सर्वज्ञत्व व्यापक स्वभाव से अनतिक्रम (अबाधितपना) सिद्ध है जैसे कि यत्न से परीक्षित कार्य कारण का उल्लघन नहीं करते है उसी प्रकार पुरुष विशेषत्व आदि व्याप्य सर्वज्ञत्व आदि रूप व्यापक स्वभाव का अतिक्रमण नही करते है। दोनो जगह व्याप्य-व्यापक भाव मे कोई अंतर नही है अर्थात् समानता ही है।

इसलिये यह साध्य का व्यभिचार लक्षण दोष प्रतिपत्ता का अपराध है अनुमान का नहीं, अतः

१ सौगतः। २ जैन प्राह—त्वया सौगतेन अस्माकमिष्टं कथितम् (समर्थितम्)। ३ प्रकृतम्। ४ (व्याहारादीति पाठान्तरम्)। ५ अनुल्लङ्घनात्। ६ सौगतेन। ७ यथा यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते तथा पुरुषविशेषत्वादिस्वभावो व्याप्यः सर्वज्ञत्वादिरूपव्यापकस्वभावं नातिवर्तते, उभयत्र व्याप्यव्यापकभावयोर्विशेषाभावात्। ८ साध्यव्यभिचारलक्षणः। ९ बौद्धः। १० धूमादिकात्।

(1) समर्थितं। स्याद्वादी वदति हे सौगत! त्वया अस्माकं प्रस्तुतं प्रारब्धं इष्टं योक्तं। कस्मात्? क्षयोपशमज्ञानिनि रागादिमति पुरुषे असंभवी यत्नतः परीक्षितो व्यापारादिविशेषः भगवति ज्ञानाद्यतिशयं नातिवर्तते यतः। दि. प्र.। (2) शिंशपात्वं। वृक्षत्वं। (3) तेन युक्तिशास्त्राविरोधाद्यनेकप्रकारेण। (4) नराणां।

रपि व्यभिचारदर्शनात् । प्रज्ञातिशयवतां तु सर्वत्र परीक्षाक्षमाणां यथा धूमादि पावकादिकं न व्यभिचरति तथा व्यापारव्याहाराकारविशेष. क्वचिद्विज्ञाना[1]द्यतिशयमपीत्यनुकूलाचरणम् । एवं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वं, भगवतोर्हत एव [2]सर्वज्ञत्वं साधयतीत्यभिधाय ।

[सर्वे सत्यहेतवोऽर्हति भगवति एव सर्वज्ञत्वं साधयति नान्येषु]

[1]तदेवं तत्[1] सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमर्हत्येव सकलज्ञत्वं साधयति [3]नान्यत्रेत्यविरोध [3]इत्यादिना स्पष्टयति[4] *, [4]स्वामीति शेषः, यद्यस्मादविरोधः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं त्वय्येव तस्माच्च [5]त्वमेव स इत्यभिधानसंबन्धात्[6] । स [7]एवाविरोधः कुतः सिद्ध इत्याशंकाया यदिष्टं[8] ते प्रसिद्धेन न बाध्यते इत्यभिधानात् ।

आप बौद्ध हमारे अनुकूल ही आचरण करते हैं ।*

मंदतर बुद्धि वाले पुरुष धूमादि को परीक्षा में भी असमर्थ पाये जाते हैं अतः धूमादिक हेतु से धूमध्वजादि-अग्नि आदि के ज्ञान में उन्हें व्यभिचार दोष दिखाई दे सकता है, किन्तु प्रज्ञातिशय वाले तो सर्वत्र परीक्षा में कुशल होते हैं अतः जैसे उनके धूमादि हेतु पावक के ज्ञानादि में व्यभिचार को नहीं प्राप्त होते हैं । तथैव व्यापार, व्याहार, आकार विशेष किसी जीव में विज्ञानादि अतिशय को सिद्ध ही करते हैं इस प्रकार आपने हमारे अनुकूल ही कथन किया है। अतः युक्ति-शास्त्र से अविरोधी वचन भगवान् अर्हंत में ही सर्वज्ञत्व को सिद्ध करते हैं यह अभिप्राय हुआ ।

[सभी हेतु अर्हंत भगवान् को ही सर्वज्ञ सिद्ध करते हैं अन्य बुद्ध आदि को नहीं]

इस प्रकार **वे पूर्वोक्त सभी हेतु सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण रूप होने से अर्हंत में ही सकलज्ञत्व को सिद्ध करते हैं अन्यत्र नहीं। ऐसा 'अविरोधो' इत्यादि पद से स्वामी समंतभद्राचार्य स्पष्ट करते हैं*** जिससे कि जो अविरोध रूप "सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाणत्व" है वह आप में ही है इसलिये आप ही वे आप्त हैं इस प्रकार से शब्दों का संबंध है। वे ही अविरोधी-विरोध रहित आप किस प्रमाण से सिद्ध हैं ऐसी आशंका होने पर जो आपका इष्ट (मत) है वह प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है इस प्रकार का अर्थ समझना ।

१ युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वाद्यनेकप्रकारेण । २ पूर्वोक्तम् । ३ स त्वमेवेति कारिकोक्तेन । ४ समन्तभद्राचार्यः ।

(1) न व्यभिचरतीति योज्य । (2) एतेन अर्हन्नेव सर्वज्ञ इति निश्चयाभावे बाधक इत्येतदपि निरस्त । एवं पूर्वोक्तानां सर्वेषा तीर्थच्छेदसम्प्रदायाना बाधकत्वाभावप्रतिपादनप्रकारेण निःशेषदोषावरणहानि. कस्यचिन्निश्चेतुं न शक्यते । अतः कथं सभाव्यत इति प्रत्यवस्थानस्य बाधकाभावप्रतिपादनप्रकारेण सामान्येन सर्वज्ञसिद्धावपि अर्हन्नेव सर्वज्ञ इति कथ निश्चय इत्येवंविधप्रत्यवस्थानस्यापि बाधकत्वाभावप्रतिपादनप्रकारेण—दि. प्र. । (3) कपिलादौ—दि. प्र. । (4) तीर्थकृत् समयाना चेति कारिकाया यदस्पष्टतया कथित सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्व तदिदानी स्पष्टयति स्वामी-त्यर्थः । दि. प्र. । (5) निर्दोष । (6) कारिकायां । (7) अत्राहार्हन् हे समंतभद्राचार्य. ! सः अविरोधः मयि कुतः प्रमाणात् सिद्ध । (8) कारिकास्थितयच्छब्दस्य पूर्वत्रापि सवधोवगंतव्य. ।

[इच्छामंतरेणापि भगवतः वाचः निर्दोषा. सति]

[1]तत्रेष्टं [2]मतं [3]शासनमुपचर्यते[1], [2]निराकृतवाचोपि [4]क्वचिदविप्रतिषेधात्[3] ।* न पुनरिच्छा विषयीकृतमिष्टं, प्रक्षीणमोहे भगवति मोहपर्यायात्मिकायास्तदिच्छायाः[5] संभवाभावात् । तथा हि । नेच्छा सर्वविदः शासनप्रकाशननिमित्तं, प्रणष्टमोहत्वात् । यस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तं, न स प्रणष्टमोहो यथा किञ्चिज्ज्ञः । प्रणष्टमोहश्च सर्ववित्प्रमाणतः[6] साधितस्तस्मान्न तस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तम् । इति केवलव्यतिरेकी हेतुर्निराकृतवाचं[7] साधयति, अव्यभिचारात् । [8]न सर्वविदिच्छामन्तरेण वक्ति, वक्तृत्वादस्मदादिवदित्यनेन निराकृतवाचो [4]विप्रतिषेध इति चेन्नायं[9] नियमोस्ति ।

[इच्छा के बिना भी भगवान् के वचन निर्दोष हैं]

उन भगवान् में 'इष्ट-मत-शासन' अर्थात् आगम का उपचार किया जाता है । क्योंकि निरभिप्राय वचनों का भी कहीं पर अविरोध देखा जाता है । *अर्थात् अभिप्राय रहित वचन भी कहीं-कहीं विरोध रहित पाये जाते हैं ।

इच्छा को विषय करने वाला "इष्ट" शब्द है ऐसा नहीं कहना क्योंकि प्रक्षीण मोह-मोहनीय कर्म रहित भगवान् में मोह की पर्याय स्वरूप इच्छा संभव नहीं है । तथाहि "सर्वज्ञ को अपना मत प्रकाशन करने की इच्छा नहीं है क्योंकि उनके मोहनीय कर्म का नाश हो गया है । जिसको शासन प्रकाशन की इच्छा है वह मोहरहित नहीं है जैसे कि किंचिज्ज्ञ (अल्पज्ञ) पुरुष, और सर्वज्ञ मोह रहित है यह बात प्रमाण से सिद्ध कर दी गई है । इसीलिये सर्वज्ञ को शासन प्रकाशन की इच्छा नहीं है ।" इस प्रकार केवलव्यतिरेकी हेतु अभिप्राय रहित वचन को सिद्ध करता है क्योंकि इस हेतु में व्यभिचार दोष नहीं आता है ।

भावार्थ—'इषु' धातु इच्छा अर्थ में है और यहां भगवान् के शासन को 'इष्ट' शब्द से कहा गया है इसलिये यह प्रश्न स्वाभाविक है कि भगवान् के वचन इच्छा पूर्वक ही होते होंगे क्योंकि उन्हें अपने मत को प्रकाशित करने की विश्व में सर्वतोमुखी फैलाने की इच्छा अवश्य होगी तभी तो उनका 'मत' इष्ट शब्द से कहा गया है । इस पर जैनाचार्यों ने समझाया है कि सर्वज्ञ भगवान् के वचन इच्छापूर्वक नहीं होते हैं क्योंकि उनके मोहनीय कर्म का नाश हो गया है ।

---

१ भगवति । २ भगवानागमं कथयति परन्तु इच्छामन्तरेण कथयति । इष्टमिच्छ विषयीकृतमिति भगवत्युपचर्यते । **अत्राह नैयायिकः** ।—भो स्याद्वादिन् इच्छा विना वचनप्रवृत्तिर्न भवेत् । तदुपरि जैनः प्राह ।—भो नैयायिक निराकृतवाचोपि (निरभिप्रायायाः वाचोपि) क्वचिदविप्रतिषेधात् (इच्छा विनापि वचनस्योत्पत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्) । ३ आगमः । ४ सुषुप्तपुरुषादौ । ५ शासनप्रकाशनेच्छायाः । ६ दोषावरणयोर्हानिरित्यादिना । ७ (निरभिप्रायवचनम्) । ८ नैयायिकः प्राह । ९ जैन आह ।

---

(1) मित्युपचर्यते इति पा. । भगवति इच्छायाः वचनलक्षणप्रयोजनसद्भावात् इष्टमिति व्यवहारस्य निमित्तत्वात् अमुख्यत्वात् चोपचारतः प्रयोजनं प्रवर्तनं । (2) निरभिप्रायाः । (3) अनिवारणात् । (4) विरोधः ।

[सर्वज्ञवचनानीच्छापूर्वकाण्येवेति मन्यमाने को दोषस्तस्य समाधानं]

[1]तदभ्युपगमे को दोष इति चेत्, **नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि [1]निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात्** * । न हि सुषुप्तौ [२]गोत्रस्खलनादौ [2]वाग्व्याहारादिहेतुरिच्छास्ति[3] । [4]**प्रतिसंविदिता[३]कारेच्छा**[5] **तदा संभवन्ती पुनः स्मर्येत वाञ्छान्तरवत्** * । न [6]ह्यप्रतिसंविदिताकारेच्छा संभवति या पश्चान्न [४]स्मर्यते । [५]पूर्वकालभाविनीच्छा[६] तदा वागादिप्रवृत्तिहेतुरप्रतिसंविदि-

नैयायिक—"सर्वज्ञ भगवान् इच्छा के बिना नहीं बोलते है क्योंकि वे वक्ता हैं हम लोगों के समान ।" इस अनुमान से निरभिप्राय वचनों का विरोध सिद्ध हो जाता है । अर्थात् अभिप्राय रहित कोई पुरुष वचन नहीं बोल सकते ।

जैन—यह नियम नही है कि वचन इच्छापूर्वक ही हों ।

[सर्वज्ञ के वचन इच्छापूर्वक ही होते हैं ऐसी मान्यता मे क्या दोष है ? इसका समाधान]

नैयायिक – वचन को इच्छा सहित मानने में क्या दोष है ?

जैन—ऐसा नियम स्वीकार करने पर सोये हुये पुरुष आदि में भी अभिप्राय रहित वचनों की प्रवृत्ति नहीं होगी* ।

सोये हुये पुरुष में और गोत्रस्खलन आदि में वचन व्यावहार आदि इच्छा हेतुक नहीं हैं । अर्थात् किसी के दो पुत्र है कमल और विमल । सामने खडे हुये कमल को देखते हुये और बुलाते हुये पिताजी ने कहा कि बेटा विमल इधर आओ ! उनका अभिप्राय कमल को बुलाने का था किन्तु अकस्मात् मुख से 'विमल' निकल गया इसे ही गोत्र-नाम स्खलन कहते है । इस गोत्र स्खलन में इच्छा रहित वचन देखे जाते है ।

उस काल में प्रति सविदिताकार इच्छा होती हुई सभव है पुन: भिन्न वाञ्छाओं के समान उसका स्मरण होना चाहिये* ।

अप्रतिसविदिताकार इच्छा सभव नही है जिसका कि पश्चात् में स्मरण न किया जावे किन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् सम्यग्ज्ञानाकार ही इच्छा सभव है अन्य नहीं ! पूर्वकाल संभाविनी—जाग्रत अवस्था में होने वाली इच्छा उस काल में वचन आदि की प्रवृत्ति में हेतु है और वह अप्रतिसंविदिताकार रूप से

१ पर आह् । वाच इच्छापूर्वकत्वाभ्युपगमे । २ गोत्र नाम । ३ प्रतिवचननियतत्वेन (जाग्रद्दशाया) सविदित आकारो यस्या: सा । ४ किन्तु सम्यग्ज्ञानाकारा एवेच्छा संभवतीति नान्या । ५ पर: । ६ पूर्वकालो जाग्रदवस्था ।

(1) अस्ति च तत्र निरभिप्रायप्रवृत्ति । (2) व्यवहारादि इति पा. । व्यापार । (3) सुषुप्तावपि इच्छापुरस्सरत्वेन प्रवृत्तिर्भविष्यनीत्याह । (4) विकल्पद्वय मनसिकृत्य ब्रूते । भो बौद्ध ! प्रति सविदिताकारेच्छा तदा संभवंती वाक्प्रवृत्ति-हेतुरिति ब्रूषे वेदिच्छांतरवत्तदा स्मर्येत नास्ति च तथा स्मरण । (5) स्याद्वादी वदति । तदा सुषुप्त्यादौ सम्यग्ज्ञानाकारा इच्छा उत्पद्यमाना पुनरपि स्मर्यते यथा जाग्रदवस्थायां उत्पद्यमाना वांछा स्मर्यते । एतावता किमायातं सुषुप्त्यादौ वाग्व्यापारो वांछापूर्वको न भवतीत्यर्थ: । दि. प्र. । (6) प्रतिसविदिताकारेच्छाया अभावे अप्रतिसंविदिताकारेच्छा संभवतीत्युक्ते आह ।

ताकाराऽनुमेया सम्भवत्येवेति चेत् किं पुनस्तदनुमानम् ? [1]विवादाध्यासिता वागादिप्रवृत्ति-

अनुमान ज्ञान के विषयभूत सभव ही है। यदि ऐसा कहो तो वह अनुमान क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर बौद्ध उत्तर देता है। अर्थात् यहां दो विकल्पों को मन में रख कर कहते है कि हे बौद्ध ! प्रतिसंविदिताकार इच्छा उस काल में सभव होती हुई वचन प्रवृत्ति में हेतु है यदि आप ऐसा कहते है तब तो भिन्न इच्छाओं के समान उस समय उसका स्मरण होना चाहिये किन्तु उस प्रकार से स्मरण होता नही है। प्रतिवचन रूप नियम होने से जाग्रत अवस्था मे जिसका आकार जाना हुआ रहता है उसे प्रतिसविदिताकार कहते हैं। स्याद्वादी कहता है कि उस समय सोते हुये आदिजनो में सम्यग्ज्ञानाकार इच्छा उत्पन्न होती हुई पुनरपि स्मरण में आती है जैसे कि जाग्रत अवस्था में उत्पन्न होती हुई वाछा स्मृति में आती है इससे क्या निष्कर्ष निकला ? सोती हुई आदि अवस्था में वचन व्यापार इच्छा पूर्वक नही होता यह अभिप्राय समझना चाहिये।

कोई कहे कि प्रतिसंविदिताकार इच्छा के अभाव मे अप्रतिसविदिताकार इच्छा सभव है ऐसा कहने पर उत्तर देते है कि अप्रतिसंविदिताकार इच्छा सभव नही है जो पश्चात् स्मरण मे नही आ सकती है किन्तु सम्यग्ज्ञानाकार इच्छा ही सभव है अन्य सम्भव नही है।

विशेषार्थ—उस समय जो पहले इच्छा की थी वही इच्छा होती हुई वहा (स्वप्न मे) या गोत्रस्खलन में स्मरण की जाती है। जिस इच्छा का सस्कार पहले नही है वह सभव न होने से वहा स्मरण नही की जाती।

शंका—पूर्वकाल में होने वाली इच्छा उस समय वचन आदि की प्रवृत्ति में कारण है। अतः जो इच्छा पहले नही हुई है वह इच्छा भी वहा उत्पन्न होती है इसका भी हम अनुमान कर सकते है।

प्रतिशंका—यदि ऐसा है तो बताइये वह अनुमान क्या है ?

समाधान— (वह अनुमान इस प्रकार है) स्वप्न काल मे होने वाली वचन आदि की प्रवृत्ति इच्छा पूर्वक होती है क्योंकि वह वचन आदि की प्रवृत्ति है प्रसिद्ध इच्छा पूर्वक होने वाली वचन आदि की प्रवृत्ति के समान।

वादी यह कहना चाहता है कि सर्वज्ञ बिना इच्छा के उपदेश, बिहार आदि नही कर सकता है क्यो कि हम सर्वसाधारण वक्ता तो इच्छा पूर्वक ही बोलते हुये पाये जाते है। इसके उत्तर में जैनों का कहना है कि यह कोई नियम नही है क्योंकि सोते समय मनुष्य बड़बड़ाता रहता है या हम कहना कुछ चाहते है और हमारे मुह से कुछ निकलता है। इन दोनों स्थितियो में हमारी इच्छा कारण नही है।

ऐसा भी नही समझना चाहिये कि जाग्रत् अवस्था में हमने जो इच्छा की थी वही वहा साकार होकर स्मरण में आ जाती है। जाग्रत् मनुष्य के जिस प्रकार की इच्छा होती है वैसी इच्छा वहा सम्भव नही है अतः वादी का यह अनुमान करना कि "पूर्व कालिक इच्छा ही पुनः सस्कार में आकर वागादि प्रवृत्ति का कारण बन जाती है" गलत है।

१ (परः प्राह) स्वप्नसमयिकी।

रिच्छापूर्विका, वागादिप्रवृत्तित्वात् प्रसिद्धेच्छापूर्वकवागादिप्रवृत्तिवदिति चेन्न, हेतोरप्रयोजकत्वात् । 'यथाभूतस्य[1] हि जाग्रतोनन्यमनसो वा वागादिप्रवृत्तिरिच्छापूर्विका प्रतिपन्ना देशान्तरे कालान्तरे च तथाभूतस्यैव तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्विका साधयितुं शक्या न पुनरन्यादृशो[1]तिप्र[2]सङ्गात्[3] । न च सुषुप्तस्यान्यमनस्कस्य वा तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्वकत्वेन व्याप्तावगता[4], तदवगतेरसंभवात् । [3]सा हि [4]स्वसन्ताने[5] तावन्न [6]सभवति, सुषुप्त्यादिविरोधात् । 'सुषुप्तोन्यमनस्कश्च प्रवृत्तिमिच्छापूर्विकामवगच्छति चेति [7]व्याहतमेतत् । पश्चादुत्थितोवगच्छतीति चेदिदमपि [6]तादृगेव । [6]स्वयमसुषुप्तोनन्यमनाश्च सुषुप्तान्यमनस्कप्रवृत्तिमिच्छापूर्वकत्वेन [8]व्याप्तामवगच्छतीति [8]ब्रुवाण. कथमप्रतिहतवचनपथः स्वस्थैरास्थीयते[9] ? तदानु-

"विवाद मे आई हुई (स्वप्न मे होने वाली) वचन आदि प्रवृत्तिया इच्छा पूर्वक होती है क्योकि वे वचन आदि प्रवृत्तिया है ससार मे प्रसिद्ध इच्छा पूर्वक वचन आदि की प्रवृत्ति के समान।"

जैन—नही । आपका हेतु अप्रयोजक है क्योकि जिस प्रकार जाग्रत् मनुष्य या अनन्य मनस्क-सावधान मनुष्य की वचनादि प्रवृत्तिया इच्छा पूर्वक मानी गई है । वैसे ही देशान्तर और कालान्तर में भी जीवो की वचनादि प्रवृत्तिया इच्छा पूर्वक सिद्ध करना शक्य है, किन्तु अन्य—सोते हुए या अन्यमनस्क जीवो के इच्छा पूर्वक सिद्ध करना शक्य नही है अन्यथा अति प्रसग दोष आ सकता है । अर्थात्—गोपाल घटिकादि धूम भी अग्नि के गमक हो जावेगे । अथवा "सन्निवेशमात्रत्वात्" हेतु पृथ्वी आदि बुद्धिमद् हेतुक हो जावेगे ।

सुषुप्त अथवा अन्यमनस्क जीव की वचनादि प्रवृत्तिया इच्छापूर्वकत्व से व्याप्त नही है । उसके साथ उसकी व्याप्ति असभव है । क्योंकि वह व्याप्ति स्वसतान-सुषुप्त सतान में सम्भव नही है अन्यथा सुषुप्ति आदि का विरोध हो जावेगा । कोई सोता भी अथवा अन्य मनस्क भी हो और वचन प्रवृत्ति—वचनो को इच्छा पूर्वक करे यह बात विरुद्ध है । यदि कहो कि पश्चात् उठकर जानता है तो वह ज्ञान भी उसी प्रकार विरुद्ध ही है ।

स्वय जो जाग्रत् अवस्था मे है अथवा अनन्यमनस्क—सावधान है ऐसे मनुष्य सुषुप्त और अन्यमनस्क (विक्षिप्त मनस्क) की प्रवृत्ति को "इच्छा पूर्वक" से व्याप्त मानते है ऐसा कहते हुये आप नैयायिक अबाधित वचन वाले है । इस प्रकार से स्वस्थ पुरुषो के द्वारा आप आदर कैसे प्राप्त कर सकेंगे ?

१ (जैनोऽप्रयोजकत्व दर्शयति) । २ गोपालघटिकादिधूमस्याप्यग्निगमकत्व स्यादित्यतिप्रसङ्गः । विषाणिनी वाग्, गोशब्दवाच्यत्वादित्यतिप्रसगे टिप्पण्यान्तरमिदम् । ३ (इच्छापूर्वकत्वेन सह व्याप्तत्वावगतिः) । ४ सुषुप्तसन्ताने । ५ विरोधमेवाह । ६ व्याहतमेव । ७ (व्याहति दर्शयति) । ८ नैयायिकः । ९ आद्रीयते ।

(1) यथास्थितस्य । (2) सुषुप्तस्यान्यमनसो वा । (3) संनिवेशमात्रात् क्षित्यादेर्बुद्धिमद्हेतुकत्वप्रसगात् । (4) क्वचि व्यक्तौ । (5) आह सौगतः । सा इच्छा स्वसताने सुषुप्तस्य सुषुप्तत्वलक्षणे नोत्पद्यते चेत्तदा सुषुप्तादि विरुद्धघते एवं सति किमायात । स्याद्वाद्याह । हे सौगत ! सुषुप्तः अन्यमनाः इच्छापूर्विकां प्रवृत्तिं जानाति इति वचो विरुद्धं अथ पश्चादुत्थितः सन् जानाति । इदमपि विरुद्ध । दि. प्र. । (6) अन्यथा । (7) विरुद्ध । (8) प्रत्यक्षतया ।

मानात्तदवगतेरदोष इति चेन्न, अनवस्थाप्रसङ्गात्, [1]तदनुमानस्यापि व्याप्तिप्रतिपत्तिपुरस्सरत्वात् तद्व्याप्तेरप्यनुमानान्तरापेक्षत्वात्, सुदूरमपि गत्वा [1]प्रत्यक्षतस्तद्व्याप्तिप्रतिपत्तेरघटनात् । [2]एतेन सन्तानान्तरे [3]तद्व्याप्तेरवगतिरपास्ता, अनुमानात्तदवगतावनवस्थानाविशेषात्, प्रत्यक्षतस्तदवगतेरसंभवाच्च । इति नानुमेया सुषुप्त्यादाविच्छास्ति तत्काला पूर्वकाला वा, तदनुमानस्यानुदयात् । [4]तथा च सर्वज्ञप्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वे साध्ये वक्तृत्वादेर्हेतोः[5] सुषुप्त्यादिना व्यभिचारात्तदनियम[6] एव । **[7]ततश्चैतन्यकरण[8]पाटवयोरेव[2] [9]साधकतमत्वम्** ※ ।

[वक्तुमिच्छापि सर्वज्ञवचने सहकारिणीति मान्यताया निराकरणं]

[10]ननु च सत्यपि चैतन्ये करणपाटवे च वचनप्रवृत्तेरदर्शनाद्विवक्षापि तत्सहकारिकार-

नैयायिक—अनुमान से वचनादि प्रवृत्तियो की ऐसी व्याप्ति को मानने मे दोष नही होगा ।

जैन—ऐसा नही कह सकते अन्यथा अनवस्था का प्रसग आ जावेगा । वह अनुमान भी व्याप्ति के ज्ञान पूर्वक होगा । वह व्याप्ति भी भिन्न अनुमान की अपेक्षा रखेगी । बहुत दूर भी जा करके प्रत्यक्ष से उस व्याप्ति का ज्ञान नही हो सकेगा । इसी कथन से भिन्न सन्तान मे भी उस साध्य-साधन की व्याप्ति का खडन कर दिया गया है क्योंकि अनुमान से उस व्याप्ति का निर्णय करने मे अनवस्था समान ही है और प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान असम्भव ही है ।

इस प्रकार से सोते हुये आदि मनुष्यों में तत्कालिक या पूर्वकालिक इच्छा है यह बात अनुमेय नही है । उसको सिद्ध करने के लिये किसी भी अनुमान का उदय नही है । इसीलिये सर्वज्ञ की प्रवृत्ति को इच्छा पूर्वक सिद्ध करने मे वक्तृत्वादि हेतु सुषुप्त आदि पुरुष से व्यभिचरित पाये जाते है अतः इच्छा पूर्वक ही वचन होवे ऐसा नियम नही रहता है क्योंकि **चैतन्य और इन्द्रियों की पटुता ही वचनादि प्रवृत्ति की साधक है**※।

[बोलने की इच्छा भी सर्वज्ञ वचन मे सहकारी है इस मान्यता का निराकरण]

शका—चैतन्य और इद्रियो की पटुता के होने पर भी वचन प्रवृत्ति नही देखी जाती है किन्तु विवक्षा (कहने की इच्छा) भी सहकारी कारण रूप अपेक्षित रहती है ।

समाधान—नही । भिन्न-भिन्न सहकारी कारण नियम से अपेक्षित नही है ।

नक्तंचर-उल्लू आदि अथवा अंजन आदि से संस्कृत चक्षु वाले प्रकाश की अपेक्षा न रखकर

---

१ अनवस्था दर्शयति । २ स्वसन्ताने व्याप्त्यभावसमर्थनेन । ३ साध्यसाधनव्याप्तेः । ४ इच्छाया अननुमेयत्वप्रकारेण । ५ नैयायिकोक्तस्य । ६ वक्तृत्वेच्छापूर्वकत्वयोः (स्वभावकार्यस्वरूपान्यतरनियमाभावः) । ७ चैतन्यं ज्ञानम् । ८ करणं ताल्वादिप्रयत्न इन्द्रियाणि वा । ९ वाक्यप्रवृत्ति प्रति साधकतमत्वं, सुषुप्त्याद्याविच्छापूर्वकत्वाभावेपि वक्तृत्वदर्शनात् । १० परः ।

---

(1) अनुमान । (2) योः साधक इति पा. ।

णमपेक्ष्यते एवेति चेत्, **सहकारिकारणान्तरं न वै [1]नियतमपेक्षणीयं, नक्तञ्चारादेः [2]संस्कृतचक्षुषो वाऽनपेक्षितालोकसन्निधेः[1] रूपोपलम्भात्[2] । न चैव[3] संवित्करणपाटवयोरप्यभावेविवक्षामात्रात्कस्यचिद्वचनप्रवृत्तिः प्रसज्यते, संवित्करणवैकल्ये [3]यथाविवक्षं वाग्वृत्तेरभावात्** ※ । न हि [4]शब्दतोर्थतश्च शास्त्रपरिज्ञानाभावे तद्व्याख्यानविवक्षायां सत्यामपि तद्वचनप्रवृत्तिर्दृश्यते, करणपाटवस्य चाभावे स्पष्टशब्दोच्चारणं[४], [5]बालमूकादेरपि[6] तत्प्रसङ्गात् । ततश्चैतन्य करणपाटवं च वाचो हेतुरेव नियमतो, न विवक्षा, विवक्षामन्तरेणापि सुषुप्त्यादौ तद्दर्शनात् ।

[कश्चिन्मन्यते दोषसमूहः सर्वज्ञवचने हेतुस्तस्य निरासः क्रियते जैनैः]

न चा [1]दोषजातिस्तद्धेतुर्यतस्तां वाणी[7] नातिवर्तेत,[६] [७]तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावाद्-

भी रूप की उपलब्धि कर लेते हैं । विवक्षा के अभाव में वक्तृत्व का सद्भाव देखा जाता है । इस प्रकार से ज्ञान और इन्द्रियों की कुशलता के अभाव में भी विवक्षा मात्र से किसी की वचन प्रवृत्ति का प्रसंग नहीं आता है क्योंकि ज्ञान एवं इन्द्रियों की विकलता में विवक्षा मात्र से वचन प्रवृत्ति का अभाव है ।※

किसी को शब्द से और अर्थ से शास्त्र के परिज्ञान का अभाव है फिर भी उसको व्याख्यान करने की इच्छा के होने पर भी उस शास्त्र विषयक वचन की प्रवृत्ति नही देखी जाती है । इद्रिय की कुशलता के अभाव में स्पष्ट शब्द का उच्चारण भी नही हो सकता है अन्यथा बालक मूक आदि भी स्पष्ट शब्दोच्चारण करने लगेंगे । इसीलिए चैतन्य और इद्रिय की पटुता ही नियम से वचन मे हेतु है न कि विवक्षा क्यों कि विवक्षा –बोलने की इच्छा के विना भी सुषुप्त-सोते हुए आदि जनो के वचन प्रवृत्ति देखी जाती है ।

[कोई कहता है कि दोषों का समुदाय ही सर्वज्ञ के बोलने में हेतु है, जैनाचार्य इस बात का निषेध करते हैं]

तथैव दोष समूह भी वचन प्रवृत्ति में हेतु नहीं है कि जिससे वाणी उनका उल्लघन न करे । अर्थात् वाणी दोष समूह का उल्लघन करती ही है क्योंकि उस दोष समूह के प्रकर्ष अपकर्ष के अनुविधान का अभाव है बुद्धि के समान ।※

अष्टशती दिल्ली प्रति एवं मुद्रित प्रति में 'वाणी' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ है कि दोष समूह उस वचन प्रवृत्ति में हेतु नहीं है कि जिससे उस वाणी का उल्लघन न कर सके अर्थात् उल्लंघन करते ही है ।

जिस प्रकार से बुद्धि और शक्ति के प्रकर्ष में वाणी का प्रकर्ष अथवा उनके अपकर्ष में भी वाणी का

१ नियमेन । २ अञ्जनादिना । ३ विवक्षाभावेपि वक्तृत्वसद्भावप्रकारेण । ४ (न हीति पूर्वेणान्वयः) । ५ द्वेषादि । समूहः । ६ किन्तु अतिक्रमेतैव । ७ तस्या दोषजातेः ।

(1) सन्निधेरूपो इति पा. । (2) प्रतीते । (3) विवक्षानतिक्रमेण । (4) शब्दमाश्रित्य । (5) अन्यथा (6) अन्यथा सवित्करणपाटवाभावे स्पष्टवाक्प्रवृत्तिर्भवति चेत्तदा बालमूकादेरपि भवतु कोऽर्थः । तथा न दृश्यते । दि. प्र. । (7) 'वाणी' इति पा० दिल्ली अष्टशती प्रतौ मुद्रितप्रतौ च ।

बुद्धयादिवत्[१]॥ । न हि यथा बुद्धेः [२]शक्तेश्च प्रकर्षे वाण्याः प्रकर्षोऽपकर्षे वाऽपकर्षः प्रतीयते, तथा दोषजातेरपि, [1]तत्प्रकर्षे[३] वाचोऽपकर्षात् [४]तदपकर्ष एव [५]तत्प्रकर्षात्, [६]यतो वक्तुर्दोषजातिरनुमीयेत[2] । [3]सत्यपि च रागादिदोषे [4]कस्यचिद्बुद्धेर्यथार्थव्यवसायित्वादि[७]-गुणस्य सद्भावात्[5], सत्यवाक्प्रवृत्तेरुपलम्भात्, कस्यचित्तु वीतरागद्वेषस्यापि बुद्धेरयथार्थव्यवसायित्वादिदोषस्य भावे वितथवचनस्य दर्शनाद्विज्ञानगुणदोषाभ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोषवत्ता व्यवतिष्ठते, न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा । तदुक्तं-

"विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता[९] । वाञ्छन्तो[८] वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥"

इति । ततः साधूपादेशि[६] [१०]"तत्रेष्टं मत शासनमुपचर्यते' इति ।

अपकर्ष प्रतीति में आता है उसी प्रकार से दोष जाति के प्रकर्ष में वाणी का प्रकर्ष और अपकर्ष में अपकर्ष प्रतीत नहीं होता है, प्रत्युत दोषों के प्रकर्ष होने पर वचन में अपकर्ष और दोषों की हानि होने पर वचन में प्रकर्ष (वृद्धि की विशेषता) देखा जाता है जिससे कि आप वक्ता में दोषों का अनुमान कर सकें अर्थात् वक्ता में दोषों का अनुमान नहीं कर सकते हैं । मतलब "वचन प्रवृत्ति दोषों का उल्लंघन नहीं करती है— दोष सहित होती है क्योंकि वह वचन प्रवृत्ति है हम लोगों की वचन प्रवृत्तियों के समान" ऐसे अनुमान से आप वक्ता में दोषों की कल्पना नहीं कर सकते हैं क्योंकि दोषों के अभाव में ही वचनों की विशेषता देखी जाती है ।

रागादि दोष के होने पर भी किसी की बुद्धि में यथार्थ जानना आदि गुणों का सदभाव होने में सत्यवाक् प्रवृत्ति की उपलब्धि है और किसी राग द्वेष रहित की भी बुद्धि में अयथार्थ निश्चय करने रूप दोषों का सद्भाव होने पर असत्य वचन देखे जाते हैं इसलिये विज्ञान गुण और दोष के द्वारा ही वचन प्रवृत्ति में गुण और दोषपना व्यवस्थित होता है न पुनः विवक्षा से अथवा दोषों से । कहा भी है—

श्लोकार्थ— वचन प्रवृत्ति में विज्ञान गुण और दोष के द्वारा ही गुण व दोषपना देखा जाता है क्यों कि शास्त्रों के विषय में मंदबुद्धि रखने वाले जन वक्तृत्व को चाहते हुये भी वक्ता नहीं बन सकते हैं इसलिये ठीक ही कहा है कि भगवान् में इष्ट-मत-शासन शब्द उपचरित रूप में है ।

भावार्थ— किसी का कहना है कि भगवान के वचन इच्छा पूर्वक ही होते हैं । इस पर जैनाचार्यों ने

१ (व्यतिरेकी दृष्टान्तः) । २ करणपाटवस्य । ३ (तथा दोषजातेरपि प्रकर्षापकर्षयोर्वाक्प्रकर्षापकर्षौ न हीत्यत्र हेतुमाह ।) ४ तस्या दोषजाते । ५ तस्या वाचः । ६ कुतः ? अपि तु न कुतोपि । ७ आदिशब्देन समारोपव्यवच्छेदादिग्रहणम् । ८ वक्तृत्वम् । ९ प्रागुपादिष्टम् । १० भगवति ।

(1) वर्द्धमानसद्भावे वाचः असद्भावो घटते । तस्या असदभावे वाच सद्भावो घटते इति हेतुद्वयात् । वक्तुर्दोषजातिर्यतः कुतः अनुमीयेत न कुतोपि । दि. प्र. । (2) वाक्प्रवृत्तिर्दोषजातिं नातिवर्तते वाक् प्रवृत्तित्वात् अस्मदादिवाक्प्रवृत्तिवत् । (3) किंच "विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता" नान्यत इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां समर्थयमानः प्राह । सत्यपिचेति । दि. प्र. । (4) नुः । ता ।(5) भावे इति पा. ।(6) गुणदोषौ विद्येते यस्याः सा गुणदोषा मत्वर्थे आशीदेरः ।

स्पष्ट कह दिया है कि लोक व्यवहार में भी सोते हुये मनुष्य के वचन और गोत्रस्खलन आदि के वचन बिना इच्छा के ही देखे जाते है। उसने कहा कि सोने के पहले जाग्रत अवस्था में इच्छा थी तो आचार्य ने इसका भी निराकरण कर दिया है और इस बात को सिद्ध कर दिया है कि आत्मा में ज्ञान और इंद्रियों की कुशलता ही वचन प्रवृत्ति में हेतु है। तब फिर शंकाकार का कहना है कि ज्ञान और इंद्रियों की कुशलता के होने पर वचन नही भी देखे जाते हैं। यदि उसके बोलने की इच्छा नही है अतः बोलने की इच्छा तो वचन प्रवृत्ति में सहकारी कारण है ही है।

पुनश्च आचार्य इस बात को स्वीकार नही करते है। उनका कहना है कि उल्लू बिल्ली आदि प्राणी अजनगुटिका सिद्ध करने वाले अंजन चोर आदि बिना प्रकाश के पदार्थों को देख लेते है। हम ससार में ज्ञान और इद्रियो की पटुता के बिना बोलने की इच्छा मात्र से भी किसी में वचन प्रवृत्ति नही देखते हैं किसी को बोलने की, सभा में व्याख्यान करने की तो इच्छा बहुत है किन्तु न तो शास्त्रों का किचित् भी ज्ञान ही है और न ही आँखों से अक्षर शुद्ध पढना आता है, न कान से स्पष्ट सुनना आता है और न ही स्पष्ट वाणी का उच्चारण हो कर सकता है। अत क्या वह बोलने की इच्छा मात्र से कुशल वक्ता कहलायेगा ? बालकों को शब्द से या अर्थ से दोनों तरह से भी शास्त्र ज्ञान नही है अथवा गूगे मनुष्य, बहरे या अन्धे मनुष्य पढने, लिखने और बोलने में असमर्थ हैं किन्तु व्याख्यान की इच्छा तो उनमें भी हो सकती है क्या वे कुशल वक्ता कहला सकते है ? इसलिये भाई ! प्रतिभाशक्ति रूप ज्ञान, क्षयोपशमज्ञान या पूर्णज्ञान की विशेषता और इद्रियों की कुशलता ही वचन बोलने में-उपदेश देने में हेतु है न कि बोलने की इच्छा मात्र।

कोई और बुद्धिमान् निकले तो उन्होने कह दिया कि दोषों का समुदाय ही वचन प्रवृत्ति में हेतु है और आप के भगवान् वक्ता है इसलिये निर्दोष सर्वज्ञ नही हो सकते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते है कि भाई ! दोषो के साथ वचनों का अन्वय व्यतिरेक तो है नही। मतलब दोषों की वृद्धि मे वचनो की विशेषता पाई जावे और दोषों के अभाव में वचनो का अभाव होवे ऐसा नियम तो है नहीं, प्रत्युत इससे विपरीत ही देखा जाता है कि दोषो की मदता—तरतमता मे वचनो की विशेषता और दोपों की बहुलता में वचनो की असभ्यता–अकुशलता ही व्यवहार में दिखती है। अतः ज्ञान के गुण और दोषो से ही वचनो में सत्यता, असत्यता पाई जाती है इसलिये निर्दोष—राग, द्वष, मोह, आदि अठारह दोषो से रहित सर्वज्ञ परमेष्ठी ही सच्चे हितोपदेशी हो सकते हैं। एव उनके वचनों में इच्छा या दोष आदि कारण नही हैं प्रत्युत भव्यों का पुण्य विशेष और सर्वज्ञ के तीर्थकर नाम कर्म का उदय विशेष ही भगवान् की दिव्यध्वनि में कारण माना गया है अन्यत्र ग्रथों में भी इसी बात को पुष्ट किया है—

गंभीरं मधुरं मनोहरतर दोषैरपेतं हित। कठोष्ठादिवचो निमित्तरहित नो वातरोधोद्गतम्।
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथक निःशेषभाषात्मक। दूरासन्नसम सम निरुपम जैनं वचः पातु नः।
॥ समव. पृ. १३६॥

भगवान् के वचन गम्भीर, मधुर, मनोहरतर है, दोषो से रहित और हितकर है, कठ, ओष्ठ, तालु

[भगवतोऽनेकांतमत प्रसिद्धेन न बाध्यते]

[1]तत्प्रसिद्धेन न बाध्यते । **प्रमाणतः सिद्धं प्रसिद्धम् । तदेव कस्यचिद्बाधनं[2] युक्तम् । विशेषणमे'तत्परमतापेक्षम्, अप्रसिद्धेनाप्यनित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण** [2]बाधाऽकल्पनात्[3]* । [4]न ह्यनेकान्तशासनस्य [3]प्रत्यक्षत. [4]सिद्धोस्त्यनित्यत्वधर्मो बाधकः, सर्वथा नित्यत्वादिधर्मवत्[5] ।

आदि के निमित्त से रहित, वायु के निरोध की प्रकटता से स्पष्ट, उस-उस अभीष्ट वस्तु को कथन करने वाले सम्पूर्ण भाषा रूप, दूर और निकट से एक सदृश सुनाई देने वाले ऐसे निरुपम जिनेंद्र भगवान् के वचन सदैव हम सभी की रक्षा करें।

तिलोय पण्णत्ति ग्रथ में भी कहा है—

जोयणपमाण सठिदतिरियामरमणुवणिवह पडिवोहो ।
मिदमधुरगभीरतराविसदविसयसयल — भासाहि ॥६०॥
अट्ठरस महाभासा खुल्लयभासा वि सत्तमयसखा ।
अक्खर अनक्खरप्पय सण्णी जीवाण सयलभासाओ ॥६१॥
एदाम्मि भासाण तालुवदंतोट्ठकण्ठ-वावार ।
परहरिय एक्ककाल भव्वजणाणद-कर-भासो ॥६२॥

अर्थ - वे अर्हंत भगवान् मृदु, मधुर, अतिगम्भीर, और विषय को विशद करने वाली भाषाओं से एक योजन प्रमाण समवशरण सभा में स्थित तिर्यंच, देव और मनुष्यों के समूह को प्रतिबोधित करने वाले हैं, सज्ञी जीवो की अक्षर और अनक्षर रूप अठारह महाभाषा तथा सात सौ लघु भाषाओ मे परिणत हुई और तालु, दत, ओष्ठ तथा कण्ठ के हलन—चलन रूप व्यापार मे रहित हो कर एक ही समय मे भव्यजनो को आनन्द करने वालो ऐसी दिव्यध्वनि—दिव्यभाषा के स्वामी है।

ऐसी दिव्यध्वनि के खिरने में तीर्थंकर नामकर्म का उदय विशेष ही प्रमुख कारण है क्योकि मोहनीय कर्म के अभाव में तीर्थंकरो के केवली अवस्था मे इच्छा का होना असभव है।

[भगवान् का अनेकांतशासन प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नही होता है]

भगवान् का इष्ट (शासन) प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नही होता है।

प्रमाण से जो सिद्ध है वह प्रसिद्ध कहलाता है, वही किसी से बाधित होना युक्त है। यह प्रसिद्ध विशेषण परमत की अपेक्षा से है क्योंकि अन्यमती जन प्रसिद्ध भी अनित्यत्व आदि एकान्त धर्म के द्वारा आपके मत में बाधा नही दे सकते है।*

१ प्रसिद्धमिति । २ तवेष्टस्य मतस्य । ३ परैः । ४ बौद्ध प्रत्याह स्याद्वादी । ५ यथा सर्वथा नित्यत्वादिधर्मो नानेकान्तस्य बाधकस्तथा ।

(1) परप्रसिद्धेनानित्यत्वाद्येकातेन । (2) बाधक । (3) स्याद्वादी वदति । प्रत्यक्षेण असिद्ध सर्वथा अनित्यस्वरूपएकात अनेकातमतस्यबाधाकृन्नहि यथा सर्वथा अनित्यरूप. । सौगत आह । नहि अनुमानेन सिद्ध एकान्तः अनेकांतस्य बाधको भविष्यतीति चेत् । स्याद्वाद्याह एवं न कस्मात् ?प्रमाण विना तर्कज्ञाननिष्पत्तेरगीकरणात् । दि.प्र. (4) प्रसिद्धोऽय इतिपा. ।

अनुमानात्सिद्धो बाधक इति [1]चेन्नर्ते **प्रमाणात्प्रतिबन्ध[1]सिद्धेरभ्युपगमात्। न [2]खलु [3]परेषां प्रत्यक्षमग्निधूमयोः [4]क्षणभंगसद्भावयोर्वा साकल्येन व्याप्तिं प्रति समर्थम्, [5]अविचारकत्वा त्सन्निहितविषयत्वाच्च[2]**※। [6]अस्मदादिप्रत्यक्ष हि साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्राहि परैरभ्युपगन्तव्यं[3], न योगिप्रत्यक्षम्, अनुमानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, योगिप्रत्यक्षेण देशतः[4] [5]कात्स्न्यंतो वा निश्शेषसाध्यसाधनव्यक्तिसाक्षात्करणे समारोपस्याप्यभावात्[7] तद्व्यवच्छेदनार्थमप्यनुमानोपयोगायोगात्[6]। [8]तच्च निर्विकल्पकमिव सविकल्पकमपि न विचारकं,[9] [10]पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वाद-

---

अनेकांत शासन का बाधक अनित्यत्व धर्म प्रत्यक्ष से प्रसिद्ध नही है जैसे सर्वथा नित्यत्व आदि धर्म अनेकात शासन मे बाधा नहीं दे सकते हैं।

सौगत—आप के अनेकातशासन में अनुमान से बाधा सिद्ध है।

जैन—आप ऐसा नही कह सकते क्योंकि प्रमाण के बिना अविनाभाव की सिद्धि स्वीकार नहीं की गई है अर्थात् नाम के प्रमाण बिना व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है एव व्याप्ति की सिद्धि न होने पर अनुमान भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि बौद्ध तर्क प्रमाण के बिना भी प्रत्यक्ष से व्याप्ति की सिद्धि माने तो उनके यहां अग्नि और धूम में अथवा "सर्व क्षणिकं सत्त्वात्" इस क्षणभंग क्षणिकत्व साध्य और सद्भाव—सत्त्वरूप साधन मे साकल्य रूप से व्याप्ति को ग्रहण करने के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ नहीं है क्योंकि वह विचारक—निश्चय कराने वाला नहीं है एवं सन्निहित—निकटवर्ती विषय को ही ग्रहण करने वाला है।※

अतः आप साध्य साधन की व्याप्ति को ग्रहण करने वाला हम लोगो का इंद्रिय प्रत्यक्ष ही स्वीकार कीजिए; योगी प्रत्यक्ष नहीं, अन्यथा अनुमान व्यर्थ हो जावेगा। योगी प्रत्यक्ष के द्वारा एक देश रूप से अथवा सकल रूप से अखिल साध्य-साधन की व्यक्ति (विशेष) को साक्षात् करने में समारोप संशयादि का भी अभाव है। अत: उन सशयादि का व्यवच्छेद करने के लिये भी अनुमान का उपयोग नहीं होगा।

हम लोगों का इद्रिय प्रत्यक्ष सविकल्प होते हुये भी निर्विकल्प के समान विचारक-व्याप्ति को ग्रहण करने वाला नही है क्योंकि प्रत्यक्ष पूर्वापर परामर्श के विचार से शून्य है और अभिलाप (शब्द) के ससर्ग

---

१ तर्काख्यप्रमाणमन्तरा प्रतिबन्धसिद्धे (व्याप्तिसिद्धे) रनभ्युपगमाद्व्याप्तिसिद्ध्यभावेनुमानायोगात्। २ (तर्काख्यप्रमाणादृतेपि प्रत्यक्षेणैव व्याप्तिसिद्धिः स्यादित्युक्ते आह, नेति)। ३ सौगतानाम्। ४ क्षणिकत्वसत्त्वयोः साध्यसाधनयो। ५ निर्विकल्पकत्वेन। ६ (ननु योगिप्रत्यक्ष न सन्निहितविषयमित्युक्ते बौद्धेन स्याद्वादी प्राह)। ७ **संशयादेः** ८ अस्मदादिप्रत्यक्षम्। ९ व्याप्तिग्राहकम्। १० (अविचारकत्वादिति भाष्योक्तहेतुमन्यप्रकारेण कथयति)। **सर्वत्रेदमस्माज्जातमिद च सर्वत्रानेन क्षणिकत्वेन व्याप्तमिति परामर्शशून्यत्वान्निर्विकल्पकस्य सविकल्पकस्य वा प्रत्यक्षस्य।**

---

(1) अविनाभाव। (2) बसः (3) सौगतैः। (4) देशयोगिनः। (5) सकलयोगिनः। (6) योगी परप्रतिपादनार्थमनुमान करोति इति चेत् न, विकल्पानुपपत्ते.। तथाहि असौ योगी गृहीतव्याप्तिक वा अगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत्? न तावद् गृहीतव्याप्तिक तस्य प्रत्यक्षेणानुमानेन वा व्याप्तिग्रहणायोगात् नाप्यगृहीतव्याप्तिकमतिप्रसंगात्। दि. प्र.

भिलापसंसर्ग[1]रहितत्वात्[1]। सन्निहितविषयं च, देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थागोचरत्वात्। [2]तन्न साकल्येन [3]व्याप्तिग्रहणसमर्थम्[2]। **न चानुमान[4]मनवस्थानुषङ्गात्*।** व्याप्तिग्राहिणोनुमानस्यापि व्याप्तिग्रहणपुरस्सरत्वात्तद्व्याप्तेरनुमानान्तरापेक्षत्वात् क्वचिदप्यवस्थानाभावात्। एवमप्रसिद्धव्याप्तिकं च कथमनुमानमेकान्तवादिनामनित्यत्वाद्येकान्तधर्मस्य साधकं येन प्रमाणसिद्धः सर्वथैकान्तोऽनेकान्तशासनस्य बाधकः स्यात् ? [5]स्याद्वादिनां तु, **परोक्षान्तर्भाविना [6]नस्तर्केण[7] सम्बन्धो व्यवतिष्ठेत*।** तस्य विचारकत्वात्[8]।

[जैनमते तर्कज्ञान प्रमाणं तत्तु व्यवसायात्मकमेव]

प्रत्यक्षानुपलम्भसहकारिणो [9]मतिज्ञानविशेषपरोक्षतर्कज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषादुपजायमानस्य यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति

से रहित है तथा वह प्रत्यक्ष सन्निहित विषयों को ही ग्रहण करने वाला है किन्तु देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट (परोक्ष) पदार्थों को विषय नही करता है इसलिये निर्विकल्प अथवा सविकल्प दोनों ही प्रत्यक्ष संपूर्ण रूप से व्याप्ति को ग्रहण करने में समर्थ नही है। **न अनुमान ही व्याप्ति को ग्रहण करने में समर्थ है अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा*।**

व्याप्ति को ग्रहण करने वाला अनुमान भी व्याप्ति ग्रहणपूर्वक ही होता है तब वह पूर्व की व्याप्ति भी अनुमानान्तर की अपेक्षा रखेगी अतः कही पर भी अवस्थान नहीं हो सकेगा। इस प्रकार से एकातवादियों के यहा अप्रसिद्ध व्याप्ति वाला अनुमान भी अनित्यत्व आदि एकात धर्म का साधक कैसे होगा कि जिससे प्रमाण सिद्ध सर्वथा एकात धर्म अनेकांतशासन को बाधित कर सके अर्थात् नही कर सकता है किन्तु इस कथन से यदि आप कहे कि जैनी भी किस प्रमाण से व्याप्ति को ग्रहण करते है तो **हम स्याद्वादियों के यहां परोक्ष के अन्तर्गत एक तर्क नाम का प्रमाण है उससे व्याप्ति रूप सम्बन्ध की व्यवस्था बन जाती है*** क्योंकि वह तर्क ही विचारक—व्याप्ति का निश्चय कराने वाला है।

[जैनमत मे तर्क ज्ञान प्रमाण है और वह व्यवसायात्मक ही है]

प्रत्यक्ष और अनुपलभ जिसमे सहकारी कारण है (अर्थात् जहां-जहा धूम है वहां-वहा अग्नि है जैसे

१ निर्विकल्पकादुत्पन्नत्वात्सविकल्पकस्य (शब्दससर्गसहित व्याप्तिग्राहीति हि परेषा मतम्)। विरोधान्नोभयेतिकारिकाव्याख्यानावसरे अभिलापससर्गरहितत्वं बलादापद्यतेस्येति वक्ष्यते। २ अविचारक सन्निहितविषय च यत.। ३ निर्विकल्पक सविकल्पक वा। ४ साकल्येन व्याप्तिग्राहकम्। ५ तर्हि स्याद्वादिना कथ व्याप्तिग्रह इत्युक्ते आह। ६ अस्माकम्। ७ उपलम्भानुपलम्भनिमित्त व्याप्तिज्ञानमूहस्तर्कः। ८ यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निर्यथा मठ। यत्र यत्राग्निर्नास्ति तत्र तत्र धूमोपि नास्ति यथा महाह्रदः। इत्युक्तप्रकारौ प्रत्यक्षानुपलम्भौ सहकारिणौ यस्य तस्य। ९ मतिज्ञानविशेष, एव परोक्षतर्कज्ञान तदावरणम्।

(1) निर्विकल्पादुत्पन्नत्वात् सविकल्पज्ञानस्य। परमतेऽभिलापसंसर्गसहित व्याप्तिग्राहि। (2) सर्वमनुमान व्याप्तिग्राहक साध्यसाधकत्वान्यथानुपपत्तेरित्युक्ते वक्ति।

[1]शब्दयोजनासहितपरामर्शात्मकत्वा[१]त्कालत्रयवर्तिसाध्यसाधनव्यक्ति[2]विषयत्वाच्च व्याप्तिं प्रति समर्थत्वात्,[3] [4]प्रत्यक्षवद्व्याप्तिग्रहणपूर्वक[२]त्वाभावादनुमानोहान्तरानपेक्ष[३]त्वादनवस्थाननु-[5]षङ्गात्[४], [6]संवादकत्वेन समारोपव्यवच्छेदकत्वेन च [५]प्रमाणत्वात्[६] । **तदप्रमाणत्वे न [7]लैङ्गिकं प्रमाणमिति [८]शेषः, समारोपव्यवच्छेदाविशेषात्**[९]* । तर्कतः [9]संबन्धस्याधिगमे[10] समारोप-विरोधात्[11] । [८]न [12]हि [13]निर्विकल्पकोधिगमोस्ति यतस्तत्र समारोपोपि[९] स्यात् । किं तर्हि ?

मठ । जहाँ-जहा अग्नि नही है वहाँ—वहा धूम भी नही है जैसे तालाब । इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलंभ जिसमें सहकारी है तात्पर्य यह है कि धूम तो प्रत्यक्ष है और अग्नि अनुपलभ – परोक्ष है उन दोनों के सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला व्याप्ति ज्ञान है) ऐसा मतिज्ञान का विशेष (भेद) रूप परोक्ष तर्क ज्ञान है। उस तर्क ज्ञान के आवरण एव वीर्यातराय कर्म के क्षयोपशम विशेष से ही तर्क ज्ञान उत्पन्न होता है और वह तर्क जितना कुछ भी धूम है वह सभी अग्नि से ही उत्पन्न हुआ है अथवा अग्नि के अतिरिक्त अन्य किसी से उत्पन्न नही हुआ है इस प्रकार से शब्द योजना सहित परामर्शात्मक एवं कालत्रयवर्ती साध्य-साधन व्यक्ति—विशेष को विषय करने वाला होने से ही व्याप्ति को ग्रहण करने के प्रति समर्थ है। तथा जैसे आपका प्रत्यक्ष व्याप्ति पूर्वक नही होता है वैसे तर्क ज्ञान प्रत्यक्ष के समान व्याप्ति के ग्रहण पूर्वक नहीं होता है। भिन्न अनुमान एव तर्क की अपेक्षा भी नही करता है अत उसमें अनवस्था का प्रसग भी नही आता है, प्रत्युत वह तर्क ज्ञान सवादक एव समारोप का व्यवच्छेदक होने से प्रमाण रूप ही है।

यदि इस तर्क ज्ञान को प्रमाण न माने तो अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता है क्योंकि समारोप का व्यवच्छेदकपना दोनों में समान है* । तर्क से अविनाभाव सम्बन्ध को स्वीकार करने मे समारोप का विरोध है ।

१—२—३—४—५ तर्कस्य । ६ प्रत्यक्षवदिनि पूर्वोक्तमुदाहरणम् । ७ तर्कानुमानयो । ८ तर्कादिव निर्विकल्पकाद-पिनिर्णये जाते समारोपो विहन्यतामित्युक्ते आह । ९ (समारोपविरोधस्तु दूर एवास्ताम्) ।

(1) शब्दयोजनारहित इति पा० । (2) व्याप्ति प्रति समर्थमित्यत्रैतत् साध्ये हेत्वतर । (3) समर्थत्व कुतः यावता तर्कोऽपि स्वविषये व्याप्तिग्रहणमपेक्षते तच्च न प्रत्यक्षात् अनुमानादित्यादि दोषो भविष्यतीत्याशका । (4) अन्वय-दृष्टान्तः । व्याप्त्यनपेक्ष प्रत्यक्ष स्वविषये यथा । व्यावर प्रतौ अस्य समर्थनार्थं विचारकत्वात् कालत्रयवर्ति साध्यसाधन व्यक्ति-विषयत्वाच्चेति हेतुद्वयमुपात्त । एतेन प्रत्यक्षवत्तर्कोऽप्यविचारकत्वात् सनिहितविषयत्वाच्च व्याप्तिग्रहण प्रति न समर्थमिति वदन् प्रत्याख्यातः प्रत्यक्षेत्यादिशब्दयोजनारहित परामर्शकत्वादिति पर्यंत साधनवाक्य देहलीदीपन्यायेन तद् हेतुद्वयसमर्थनं पर प्रतिपत्तव्य । व्याप्ति प्रति समर्थनत्वात् परोक्षातर्भाविना नस्तर्केण सम्बन्धो व्यवतिष्ठेतेति सम्बन्धः दि. प्र. । (5) तर्काख्यविकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षफलत्वान्न प्रमाणत्वमिति शंका । (6) प्रमाणातराविरोधलक्षणेन । (7) अनुमानं । (8) समारोपव्यवच्छेदकत्वाल्लैंगिक प्रमाणमित्यत आह । (9) अविनाभावस्य । (10) तर्कस्य फले निर्णये । (11) अधिगमो निर्विकल्पः स्यादित्याह । (12) अधिगमो हि द्वेधा सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति तत्र सविकल्पकाधिगमे सति भवतु समारोपविरोधः स्यादिति सौगतशंका निराकुर्वतः प्राहुर्नहि इति-दि. प्र. । (13) अथवा अधिगमे समारोपविरोध इति कुतः कथ्यते निर्विकल्पकाधिगमे समारोपविरोधाभावादित्याशकायामाहुः । दि. प्र. ।

अधिगमोपि [1]व्यवसायात्मैव, तदनुत्पत्तौसतोपि दर्शनस्य[1] [2]साध- नान्तरापेक्षया[2] सन्निधानाऽभेदात्[3] सुषुप्तचैतन्यवत्[4] * । सन्निधानं हीन्द्रियार्थसन्निकर्षः । तत्स्वयमप्रमाणमाख्यत् तथागतः[3], साधनान्तरापेक्षित्वात्[4] तस्यार्थपरिच्छित्तौ ।

[बौद्धाभिमत निर्विकल्पदर्शनमप्रमाणमेव सन्निकर्षवत्]

[1]तत एव दर्शनस्याप्रमाणत्व, सुषुप्तचैतन्यवत् [2]स्वयं संशयविपर्यासानध्यवसायाव्यवच्छेदकत्वात् । तद्व्यवच्छेदिनो[5] निश्चयस्य[७] [6]जननात्प्रमाणं दर्शनमिति चेत् तत एव सन्निकर्षः

यहा कोई कहता है कि-तर्क के समान निर्विकल्प प्रत्यक्ष से भी निर्णय हो जाने पर समारोप नही रहेगा । इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि **निर्विकल्पकज्ञान तो कोई सिद्ध ही नहीं होता कि जिससे समारोप भी हो सके अर्थात् समारोप विरोध की बात तो दूर ही रहने दीजिये किन्तु उस निर्विकल्प में समारोप ही नहीं हो सकता है** । पुन. प्रश्न होता है कि वह निर्विकल्पज्ञान क्या चीज है ? क्योंकि **वह व्याप्तिज्ञान भी व्यवसायात्मक ही है** । (**अर्थात् यहां व्याप्ति के ज्ञान को अधिगम** कहा है वह भी सविकल्पात्मक हो है) **उस सविकल्प ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर विद्यमान** होता **हुआ भी दर्शन** साधनांतर (सविकल्पज्ञान) **की अपेक्षा रखने से सन्निधान-सन्निकर्ष में अभेद रूप हैं सुषुप्त चैतन्य के समान*** ।

भावार्थ—निर्विकल्प दर्शन विद्यमान होते हुये भी स्वय समारोप का व्यवच्छेदक नहीं है अतएव साधनातर-सविकल्प ज्ञान की अपेक्षा है । उसी प्रकार से सन्निकर्ष भी स्वय समारोप का व्यवच्छेदक नहीं है किन्तु साधनातर की अपेक्षा करता है इसलिये सन्निकर्ष से निर्विकल्प मे कोई विशेषता नही है । जैसे सुषुप्त पुरुष के चैतन्य के स्वय प्रमाणता नही है किन्तु साधनों की अपेक्षा देखी जाती है ।

सौगत—इद्रियों से पदार्थ का सम्बन्ध रूप सन्निकर्ष ही सन्निधान कहलाता है । वह सन्निकर्ष स्वय अप्रमाण है क्योंकि पदार्थों की परिच्छित्ति (ज्ञान) में भिन्न कारणों की अपेक्षा रखता है ।

[बौद्ध के द्वारा मान्य निर्विकल्प दर्शन भी प्रामाणिक नहीं है जैसे कि सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है]

१ व्याप्तिज्ञानमधिगमोत्र । सोपि सविकल्पात्मैव । २ सविकल्पकज्ञानमेवात्रसाधनान्तरम् । ३ सतोपि दर्शनस्य न समारोपव्यवच्छेदकत्व स्वय यत साधनान्तर सविकल्पकमपेक्षते । तथा सन्निकर्षोपि न समारोपव्यवच्छेदकः स्वय किन्तु साधनान्तरमपेक्षते । इति सन्निकर्षान्न विशेषः । ४ यथा सुषुप्त चैतन्यस्य न स्वय प्रामाण्य साधनान्तरापेक्षित्वात् । ५ (जैन.) तर्हि तत एव साधनान्तरापेक्षित्वादेव हे सौगत । ६ दर्शनस्य । ७ सविकल्पकज्ञानस्य ।

(1) निर्विकल्पकस्य । (2) ज्ञान । साधनांतरापेक्षया सनिधानाभेदात् यत्सनिधानापेक्षं तत् अधिगमानुत्पत्ति कृद्भवति- यथा सुषुप्तचैतन्य । साधनांतरापेक्ष चेद तस्मादधिगमानुत्पत्तिकृत् । दि. प्र । (3) अत्राह स्याद्वादी । तर्केण सम्बन्धस्य निश्चये जाते सति समारोपो विहन्यते अत्राह परः निर्विकल्पकादपि समारोपो विहन्यते । इत्युक्ते स्याद्वाद्याह । निर्विकल्पक दर्शन निश्चयात्मक न हि तत्राधिगमे यतः कुतः समारोपः स्यान्न कुतोऽपि पर आह । तर्हि भवन्मतेऽधिगमः किमिति प्रश्ने आह निश्चायकस्वभाव एव । स्याद्वादी अनुमान रचयति । निर्विकल्पकदर्शनं पक्षः अधिगमानुत्पत्तिकृद् भवतीति साध्योधर्मः जननादेव सन्निकर्षोऽपि सत्य भवतु दि प्र. । (4) सौगत. तदिंद्रियार्थसन्निकर्षलक्षणं सन्निधानं स्वय अप्रमाण कथितवान् । कस्मात ? साधनांतरमपेक्ष्य तस्य संनिधानस्य अर्थनिश्चयघटनात् । दि. प्र. । (5)निश्चयारोपमनसोर्विरोधइत्युक्तित ।(6) यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता । यत्रैवनिर्विकल्पबुद्धि । एनां—सविकल्पबुद्धिइत्यर्थः ।

प्रमाणमस्तु । तस्यासाधक[१]तमत्वान्न प्रमाणत्वमिति चेत्कुतस्तस्यासाधकतमत्वम् ? अचेतनत्वाद्घटादिवदिति चेद्दर्शनस्याप्यसाधकतमत्वं [२]चेतनत्वात्सुषुप्तचैतन्यवत्किं न स्यात् ? यस्य भावेर्थः परिच्छिन्नो व्यवह्रियतेऽभावे चाऽपरिच्छिन्नस्तद्दर्शनं साधकतममिति चेत्सन्निकर्षः साधकतमोस्तु, भावाभावयो[३]स्तद्वत्ता साधकतमत्वमिति वचनात् । न हि सन्निकर्षस्य भावे भाववत्त्वमभावे[1]ऽभाववत्त्वमर्थपरिच्छित्तेरप्रतीतम् । [४]नाप्यर्थस्यान्यत् परिच्छिन्नत्वं, [५]तत्परिच्छित्त्युत्पत्ते । परिच्छित्तिरुत्पन्ना चेत्[६] [७]परिच्छिन्नोर्थ उच्यते । अथ निर्विकल्पकदृष्टौ [2]सत्या

जैन—इसी हेतु से ही दर्शन भी अप्रमाणीक नही है सुपुप्त चेतन्य के समान क्योंकि दर्शन (निर्विकल्प प्रत्यक्ष) स्वयं संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय का व्यवच्छेदक नही है।

बौद्ध—संशयादि के व्यवच्छेदी निश्चय-विकल्प ज्ञान को उत्पन्न करने वाला होने से वह दर्शन प्रमाण है।

जैन—इसी हेतु से सन्निकर्ष भी प्रमाण हो जावे क्या बाधा है ?

बौद्ध—वह सन्निकर्ष प्रमिति क्रिया के प्रति साधकतम नही होने से प्रमाण नही है।

जैन—वह सन्निकर्ष साधकतम क्यों नही है ?

बौद्ध—वह सन्निकर्ष अचेतन है घटादि के समान।

जैन—"तब तो आपका माना हुआ दर्शन भी साधकतम नही है क्योंकि वह चेतन है सुषुप्त चेतन के समान।" ऐसा भी आप क्यों न मान लेवे ? अर्थात् जो चेतन है वह साधकतम हो ऐसा कोई नियम नही है।

बौद्ध—जिसके होने पर पदार्थ जान लिये गये है ऐसा व्यवहार होता है एवं जिसके न होने पर नही जाने गये है ऐसा व्यवहार होता है वह दर्शन साधकतम है।

जैन—यदि ऐसा कहते हो तब तो सन्निकर्ष भी साधकतम हो जावे क्योंकि "भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वं" यह न्याय का वचन है अर्थात जिसके होने पर जो होवे और न होने पर न होवे वही साधकतम है। सन्निकर्ष के भाव में अर्थ परिच्छित्ति का होना एवं अभाव में नहीं होना ऐसी प्रतीति नहीं हो यह बात नहीं हैं।

बौद्ध—फिर भी पदार्थ जाना गया है यह व्यवहार कैसे होता है।

१ प्रमिति प्रति । २ (जैन आह) यच्चेतनं तत्साधकतममेवेति न नियमोऽस्ति । ३ (सन्निकर्षस्य भावाभावयोः सतोरर्थपरिच्छित्तेर्भावाभाववत्तास्तीति सैव साधकतमत्वम्)। ४ तथापि कथमर्थः परिच्छिन्नो व्यवह्रियते इत्याशङ्कायामाह जैनः । ५अर्थपरिच्छित्त्युत्पत्तिमन्तरा अन्यदर्थपरिच्छिन्नत्वं नास्तीत्यर्थः । ६ तत्परिच्छित्तेरन्यत् "परिच्छित्तिरुत्पन्ना" इत्यर्थपरिच्छिन्नत्वमस्ति चेदित्यर्थो बौद्धशङ्कायाः । ७ (जैन आह) ।

(1) भावेचाभाव इति पा । (2) सन्निकर्षस्य भावेऽपि मध्ये निर्विकल्पकदृष्टौ सत्यामेव परिच्छित्तिरुत्पद्यते नान्यथा ततः सन्निकर्षस्य भावे भाववत्त्वमित्यादि प्रागुक्तमयुक्तमिति ताथागताकूतं ।

मर्थस्य परिच्छित्तिर्निश्चयात्मकार्थपरिच्छेदव्यवहारहेतुरुत्पद्यते नासत्याम् । अतस्तस्याः साधकतमत्वमिति [1]तवाकूतं तदपि न समीचीनं, [1]सन्निकर्षादेव तदुत्पत्त्यविरोधात् । कथमचेतनात्सन्निकर्षाच्चेतनस्यार्थनिश्चयस्योत्पत्तिर्न विरुध्यते इति चेत् तवापि कथमचेतनादिन्द्रियादेरविकल्पदर्शनस्य चेतनस्योत्पत्तिरविरुद्धा ? [2]चेतनात्मनस्कारादिन्द्रियादिसहकारिणो दर्शनस्योत्पत्तिरिति चेत्तर्हि चेतनादात्मनः सन्निकर्षसहकारिणोऽर्थ[2]निश्चयोत्पत्तिरपि कथं विरुध्यते ? यतः स्वार्थव्यवसायात्मकोऽधिगमो न भवेत् ।

[सन्निकर्षवत् निर्विकल्पदर्शनमपि प्रमाणं नास्तीति प्रसाध्याधुना तर्कस्य प्रमाणता साधयंति जैनाचार्याः]

स च साकल्येन साध्यसाधनसम्बन्धस्तर्कादेवेति[3] प्रमाणं तर्कः, स्वार्थाधिगमफलत्वात्

जैन—पदार्थ का जानना रूप ज्ञान उससे भिन्न नही है क्योंकि अर्थ परिच्छित्ति-ज्ञान उससे ही उत्पन्न होता है अर्थात् पदार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति के बिना अन्य कोई अर्थ परिच्छित्ति नही है ।

बौद्ध—उस ज्ञान से भिन्न "परिच्छित्ति उत्पन्न हुई" इस प्रकार से अर्थ परिच्छित्ति है । अर्थात् पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न होता ही है ।

जैन—वह जाना हुआ ज्ञान ही अर्थ कहा जाता है ।

बौद्ध निर्विकल्प दर्शन के होने पर अर्थ परिच्छित्ति होती जो कि निश्चयात्मक पदार्थ के ज्ञान रूप व्यवहार मे हेतु है क्योकि निर्विकल्प दर्शन के नही होने पर नही होता है अत: वह परिछित्ति साधकतम है ।

जैन—यह भी कथन समीचीन नही है क्योकि सन्निकर्ष से ही उस परिच्छित्ति की उत्पत्ति मे विरोध नही है ।

बौद्ध—अचेतन सन्निकर्ष से पदार्थ के ज्ञान रूप चेतन की उत्पत्ति विरुद्ध कैसे नही है ?

जैन—तब तो आप के यहा भी अचेतन इद्रियादि से निर्विकल्प दर्शन रूप चेतन को उत्पत्ति अविरुद्ध कैसे होगी ?

बौद्ध—इन्द्रियादि सहकारी कारण जिसके साथ है ऐसे चेतन रूप मनोव्यापार से दर्शन की उत्पत्ति होती है ।

जैन—तब तो जिसमें सन्निकर्ष सहकारी है ऐसे चेतन आत्मा से पदार्थ के निश्चय की भी उत्पत्ति होने में क्या विरोध है ? जिसमे कि अधिगम (ज्ञान) स्वार्थ व्यवसायात्मक न होवे अर्थात् ज्ञान स्वार्थ व्यवसायात्मक ही होता है ।

[सन्निकर्ष के समान निर्विकल्पदर्शन भी प्रमाण नही है इस बात को सिद्ध करके अब जैनाचार्य तर्क की प्रमाणता को सिद्ध करते है]

और सपूर्णतया वह साध्य-साधन के सम्बन्ध का ज्ञान तर्क से ही होता है इसलिए तर्क ज्ञान प्रमाण

१ बौद्धस्य । २ मनोव्यापारात् ।

(1) मध्यवर्तिनिर्विकल्पकदृष्टिविना ।(2) का । (3) सम्बन्धे इति पा. । विषये । तर्कादेव–उत्पद्यते इति–तथा च ।

समारोपव्यवच्छेदकत्वात्संवादकत्वाच्चानुमानादिवत् ।

[एकातवादिनां मतेऽनुमानमपि न सिद्धयति अतस्तेऽनेकांतमते बाधामुद्भावयितु नार्हंति]

ततः [1]स्याद्वादिनां व्याप्तिसिद्धेरस्त्यनुमानं, न पुनरेकान्तवादिनां१, [2]यतोनुमानसिद्धेन सर्वथैकान्तेनानेकान्तस्य बाधाकल्पना स्यात् । इत्यप्रमाणसिद्धेनापि[3] बाधा कल्पनीयैव परैः, [4]अन्यथा स्वमतनियमाघटनात् । तथा सति सूक्तं परमतापेक्षं विशेषणं प्रसिद्धेन न बाध्यते इति । एतेन[5] यदुक्तं भट्टेन ।

नरः [6]कोप्यस्ति [7]सर्वज्ञः स तु सर्वज्ञ २इत्यपि । ३साधनं[8] यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत्[9] ।।१।।

है क्योंकि वह स्वार्थ अधिगम रूप अपने और पर पदार्थ को जानने रूप फल को उत्पन्न करता है, समारोप सशयादि का व्यवच्छेदक है तथा सवादक रूप है अनुमानादि की तरह ।

[एकातवादियो के मत में अनुमान प्रमाण भी सिद्ध नही होता है अतः वे अनेकांत मे बाधा की कल्पना भी नही कर सकते हैं]

इसलिये स्याद्वादियों के यहां व्याप्ति की सिद्धि हो जाने से अनुमान प्रमाण व्यवस्थित है न कि एकांतवादियो के यहा । अर्थात् तर्क से सिद्ध व्याप्ति के अभाव में एकांतवादियो के यहाँ अनुमान प्रमाण सिद्ध नही होता है जिससे कि अनुमान से सिद्ध सर्वथा एकाँत मत के द्वारा अनेकांत शासन में बाधा कल्पित की जा सके । अर्थात् सर्वथा एकातवाद अनुमान से सिद्ध नही है, किन्तु आपको इस प्रकार से अप्रमाण सिद्ध के द्वारा भी अनेकांत शासन मे बाधा की कल्पना करना ही चाहिए अन्यथा स्वमत का नियम नही घटेगा । अतः बहुत ठीक ही कहा है कि "प्रसिद्धेन न बाध्यते" यह विशेषण परमत की अपेक्षा से है ।

श्लोकार्थ—भाट्ट —कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ है और वह सर्वज्ञ आप ही है इत्यादि के साध्य करने में जो "सुनिश्चितासभवद्बाधकत्वात्" साधन प्रयोग है वह प्रतिज्ञामात्र है अर्थात् वह कथन मात्र ही है ।।१।।

प्रतिज्ञामात्र क्यों है सो सुनिए—सिद्ध करने की इच्छा से जो अर्हंत आदि पदार्थ हैं वे इस प्रतिज्ञामात्र से नही कहे जा सकते है और जो इस अनिर्द्धारित प्रतिज्ञा (पक्ष) के द्वारा कहे जाते है उनकी सिद्धि

---

१ तर्कसिद्धाया व्याप्तेरभावे एकान्तवादिनामनुमान प्रमाण । २ नरः पक्षः सर्वज्ञ इति च इति पक्षद्वयसाधनमित्यर्थः । ३ सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वादिति ।

---

(1) ततस्तर्कबलात् स्याद्वादिना व्याप्तिः सिद्धयति व्याप्ते. सकाशादनुमानमस्ति । तर्कात् सिद्धाया व्याप्तेरभावे एकांतवादिनामनुमानप्रमाण नास्ति । दि. प्र । (2) यद्यपि सौगतयौगादीनां तर्काभावेनुमानं मूलत एव नास्ति तथापि सर्वथैकातमनुमान सिद्ध सर्वथैकात वदति । तादृशेन अनुमानसिद्धेन सर्वथैकातेन कृत्वानेकातस्य कुतो बाधा अपि तु न कुतोऽपि । दि. प्र. । (3) अत्राह कश्चित् इति कथितप्रकारेण अप्रमाणसिद्धेनाप्यनुमानादिप्रमाणेन कृत्वा परैरेकांतवादिभिः अनेकातमतस्य बाधा कल्पनीयैव अन्यथा स्वमतनिश्चयो न घटते । स्वय प्रमाणसिद्धो नास्ति तथापि बाधा कल्प्यते स्वमतनियमार्थं । दि. प्र. । (4) बाधाऽकल्पना । (5) स त्वमेवासि इत्यादिसाधनपरेण ग्रथेन (6) सर्वज्ञो पुमान् भवति । (7) पुमान् सर्वज्ञो भवति । (8) पक्षद्वयवचन । (9) कुतः ।

[१]सिसाधयिषितो[२] योर्थः सोनया [1]नाभिधीयते[३]। [४]यस्तूच्यते[2] न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ।।२।।
[3]यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतोच्यते । न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ।।३।।
यावद्बुद्धो न[4] सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा। यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता[५] कुतः ।।४।।
[5]अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे [6]वचसोन्यस्य सत्यता। [६]सामानाधिकरण्ये हि [७]तयोरङ्गाङ्गिता[८] भवेत् ।।५।।

इति तन्निरस्तं[7], भगवतोर्हत एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन [8]सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्ववीतरागत्वसाधनात्। ततस्त्वमेव महान् मोक्षमार्गस्य प्रणेता नान्यः कपिलादिः। यस्मात्—

में कुछ प्रयोजन नही है ।।२।।

जिसके आगम की सत्यता सिद्ध है उसके ही सर्वज्ञता है इस प्रकार सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि मात्र से वह सर्वज्ञता सिद्ध नही होती है ।।३।।

जब तक बुद्ध सर्वज्ञ नही है तब तक उसके वचन असत्य है। जिस किसी अन्य में सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने पर अन्य बौद्धादि के आगम की सत्यता कैसे हो सकती है ? ।।४।।

अन्य कोई ही सर्वज्ञ होवे और अन्य के वचन में सत्यता होवे ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि जो सर्वज्ञ है वही आगम का प्रणेता है ऐसा समानाधिकरण होने पर ही सर्वज्ञ और उसके वचनो में कार्यकारण भाव बन सकता है अन्यथा नही ।।५।।

जैन--"प्रसिद्धेन न बाध्यते" ऊपर इस वाक्य का स्पष्टीकरण करने से आपके इस कथन का भी खंडन कर दिया गया है ऐसा समझना चाहिए।

अतः युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन होने से और सुनिश्चितासभवद्बाधक प्रमाण रूप से भगवान् अर्हत में ही सर्वज्ञता और वीतरागता सिद्ध हो जाती है इसलिये आप ही मोक्षमार्ग के प्रणेता महान् हैं अन्य कपिलादि नही हैं। क्योकि—

इसका संदर्भ आगे आने वाली सातवी कारिका से है अर्थात् आपके मत से बाह्य, सर्वथा एकांतवादी जन 'जो कि अपने को आप्त मान रहे हैं' उनके मत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित हैं।

---

१ प्रतिज्ञामात्रमेव कथमित्याह। २ अर्हदादिः। ३ भवद्भिर्जैनैः। ४ अनिर्द्धारितः प्रतिज्ञया। ५ (बौद्धादिभिः प्रवर्तमानागमसत्यता)। ६ यः सर्वज्ञः स एवागमस्य प्रणेतेति। ७ सर्वज्ञतद्वचनयोः। ८ कार्यकारणता।

---

(1) यतः। पुरुषसामान्यस्य सर्वज्ञत्वमनया प्रतिज्ञया साध्यते ततश्च प्रतिज्ञामात्रत्वं कथमित्याशंकायामाह। (2) प्रतिज्ञाया अनिर्द्धारितः पुरुषः सर्वज्ञः। (3) अर्हदागम। (4) यावद्बुद्धो हि सर्वज्ञो न तावद् इति पा.। दि. प्र.। (5) अर्हति। (6) बौद्धस्य। (7) इतिकारिकापंचकेन यदुक्तं भट्टेन तन्निराकृतं। दि. प्र.। 8 अविरोधशब्दस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन पूर्वमेव व्याख्यातत्वात्तस्यामेव प्रकृतायां कारिकायां सद्भावोवगंतव्यः। दि० प्र०।

नवनीत

स्वामी श्री समन्तभद्राचार्यवर्य अपनी श्रद्धा और गुणज्ञतालक्षण गुणों से सहित होकर देवागम स्तोत्र के द्वारा भगवान् की स्तुति करना चाहते है। इस स्तोत्र में प्रारंभिक कारिकाओं के द्वारा ऐसा ध्वनित हो रहा है कि मानों श्री आचार्यवर्य भगवान् से वार्तालाप ही कर रहे हैं—

सर्वप्रथम आचार्य कहते हैं कि हे भगवन्! आपके जन्मोत्सव आदि में देवों का आगमन आदि अतुल्य वैभव पाया जाता है। इस पुण्य वैभव को देखकर हम आपको वद्य नही समझते है क्योंकि ये वैभव मायावी जनों में संभव है। तब भगवान ने अतरंग-बहिरंग महोदय आदि वैभव से अपनी विशेषता बतलानी चाही तब भी (द्वितीय कारिका में) आचार्यवर्य ने कहा कि ये अतरग-बहिरग वैभव देवों में पाये जा सकते है अत: इस हेतु से भी आप वंद्य नहीं। तब भगवान् ने अपने तीर्थंकरपने को बतलाना चाहा तब भी आचार्य श्री ने (तृतीय कारिका में) यह कहा कि सभी सम्प्रदायों में उनके प्रवर्तक अपने को तीर्थंकर मान रहे है और सभी तो आप्त हो नही सकते क्योकि उनमें परस्पर में विरोध है।

पुन: यह प्रश्न होता है कि आप विश्व में किसी को भी भगवान्–आप्त मानने को तैयार नहीं हैं क्या? तब स्वामी जी स्वय (तृतीय कारिका के अतिम चरण मे) यह ध्वनित कर देते हैं कि इन सभी सम्प्रदायों में कोई न कोई आप्त अवश्य है। वह आप्त कौन हो सकता है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य-वर्य ने झट यह उत्तर नही दिया कि वे सच्चे आप्त हमारे अर्हत ही है, प्रत्युत (चतुर्थ कारिका में) यह बताया कि किसी न किसी जीव में दोष और आवरण का सम्पूर्णतया विनाश हो सकता है।

इतना कहने पर भी यह प्रश्न हो गया कि दोष और आवरण के नष्ट हो जाने पर कोई आत्मा कर्म कलंक रहित अकलंक बन जायेगा फिर भी तो वह सर्वज्ञ नहीं होगा पुन: आपको मान्य कैसे होगा? तब आचार्य श्री ने (पांचवी कारिका में) अनुमान वाक्य से स्पष्ट किया कि "सूक्ष्म, अंतरित और दूर-वर्ती पदार्थों को जानने वाला कोई आत्मा अवश्य है।" और जो सभी कुछ जान लेता है वही तो सर्वज्ञ है।

इस प्रकार से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर वे सर्वज्ञ कौन हैं? अथवा मानों भगवान् ही प्रश्न करते हैं कि मुझमें ही दोष और आवरण नहीं हैं तथा मैं ही सर्वज्ञ हूं इस बात को आप कैसे सिद्ध करेंगे? तब आचार्य महोदय कहते हैं कि "स त्वमेवासि" वे दोष आवरण रहित सर्वज्ञ आप ही हैं क्योंकि

आपके वचन युक्ति और शास्त्र से विरोध रहित हैं आपका शासन (मत) प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से बाधित नहीं होता है।

इस प्रकार से आचार्यवर्य ने चतुर्थ कारिका में अर्हंत के वीतराग विशेषण को स्पष्ट करके पांचवी कारिका से उन्हें सर्वज्ञ सिद्ध किया है। पुनः छठी कारिका से उन्हें ही युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाले घोषित कर परम हितोपदेशी सिद्ध किया है।

सच्चे आप्त मे वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये तीन विशेषण होने ही चाहिए अन्यथा वह आप्त नही हो सकता है। ऐसा अन्य ग्रन्थों में स्वय आचार्य श्री ने कहा है और यहां चौथी, पांचवीं एवं छठी कारिका के क्रम से भी यही सूचित हो रहा है कि पहले कोई जीव दोष आवरण के अभाव से वीतराग होता है और सर्वज्ञ होने के बाद ही हितोपदेशी हो सकता है।

इस प्रकार छठी कारिका में आचार्य श्री अन्वय मुख से अर्हंत को सच्चे आप्त सिद्ध कर चुके है। आगे सप्तम कारिका में व्यतिरेक मुख से अन्य कपिलादि को सच्चे आप्त होने का निषेध करेगे।

अतः इस छठी कारिका से सातवी कारिका का संबंध समझ कर इस प्रथम खंड का द्वितीय खंड से संबंध स्थापित कर लेना चाहिए।

अष्टसहस्री भाषानुवाद का प्रथम खण्ड

समाप्त

परिशिष्ट

षट्कारिकांतर्गताष्टशती

देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमा[1]प्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव स्वयं श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्त लक्ष्यते। तदन्यतरापायेर्थस्यानुपपत्ते.। शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात्* [पृष्ठ ५]

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।

मायाविष्वपि दृश्यंते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

[पृष्ठ ८]

आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशागमादिकं परमेष्ठिन· परमात्मचिन्हं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयस्तादृशो मायाविष्वपि भावादित्यागमाश्रयोयं स्तव.[2]* [पृष्ठ ८]

अध्यात्मं बहिरप्येषविग्रहादिमहोदयः।

दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥

[पृष्ठ ११]

बहिरन्तःशरीरादिमहोदयोपि पूरणादिष्वसंभवी व्यभिचारी, स्वर्गिषु भावादक्षीणकषायेषु। ततोपि न भवान् परमात्मेति स्तूयते*। [पृष्ठ १२]

तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः।

सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

[पृष्ठ १४]

न हि तीर्थकरत्वमाप्ततां साधयति शक्रादिष्वसंभवि सुगतादौ दर्शनात्*। [पृष्ठ १५]

न च सर्वे सर्वदर्शिनः परस्परविरुद्धसमयाभिधायिनः*। [पृष्ठ १५]

---

(१) मुद्रिताष्टशतौ 'परमात्म' इति पाठः, हस्तलि० अ० श० दि० प्र० 'परमात्म' इत्ययमेवपाठोऽस्ति।(२) 'अयं स्तवः" इति पाठः क्वचिदपि अष्टशतीरूपेण नास्ति।

ततोऽनैकांतिको हेतुः* । [पृष्ठ १६]

[1]अतएव न कश्चित्पुरुषः सर्वज्ञः* । [पृष्ठ १६]

अतएव न कश्चित्सर्वज्ञ इत्ययुक्तं श्रुतेरविशेषादप्रमाणतापत्तेः । [पृष्ठ १६६]

तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः* । [पृष्ठ १७६]

न खलु प्रत्यक्ष सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविषय अतिप्रसंगात् । [पृष्ठ १८०]

नानुमानम् असिद्धेः* ।। [पृष्ठ १८२]

यदि प्रमाणतः सिद्धं नानात्मसिद्धं नाम् ।* [पृष्ठ १८४]

अन्यथा परस्यापि न सिद्ध्येत्* । [पृष्ठ १८५]

तदिमे स्वयमेकेन प्रमाणेन सर्वं सर्वज्ञरहितं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं निस्स्यन्तीति व्याहतमेतत्* । [पृष्ठ १८५]

[2]तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः* । [पृष्ठ १८८]

तीर्थच्छेदसंप्रदायानां तथा सर्वमवगतमिच्छतामाप्तता नास्ति, परस्परविरुद्धाभिधानात्, एकानेकप्रमाणवादिनां [3]स्वप्रमाव्यावृत्तेरिति* । [पृष्ठ २२६]

स्वप्रमाव्यावृत्तेरन्यथानैकान्तिकत्वात् ।* [पृष्ठ २३८]

सर्वप्रमाणविनिवृत्तेरितरथा सप्रतिपत्तेः ।* [पृष्ठ २४०-२४१]

वागक्षबुद्धीच्छापुरुषत्वादिकं क्वचिदनाविलज्ञान निराकरोति न पुनस्तत्प्रतिषेधवादिषु तथेति परमगहनमेतत्* । [पृष्ठ २४१]

इत्थ सिद्ध सुनिश्चिता[4]सम्भवद्बाधकप्रमाणत्वम् । तेन कः परमात्मा चिदेव लब्ध्युपयोगसंस्काराणामावरणनिबधनानामत्यये भवभृतां प्रभुः* । [पृष्ठ २४३]

न हि सर्वज्ञस्य निराकृतेः प्राक् सुनिश्चितासभवत्साधकप्रमाणत्वं सिद्ध येन परः प्रत्यवतिष्ठेत । नापि बाधकासंभवात्पर प्रत्यक्षादेरपि विश्वासनिबधनमस्ति तत्प्रकृतेपि सिद्ध । यदि तत्सत्तां न साधयेत् सर्वत्राप्यविशेषात्तदभावे दर्शनं नादर्शनमतिशेतेऽनाश्वासाद्विभ्रमवत् [पृष्ठ २५६-५७]

साधकबाधकप्रमाणयोर्निर्णयात् भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादारेका स्यात्* । पृष्ठ २६७]

न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोस्ति यन्न क्रमेत, तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात्* । [पृष्ठ २६६]

चेतनस्य सत. सम्बन्ध्यन्तरं मोहोदयकारणकं मदिरादिवत्* । [पृष्ठ २७१]

तदभावे साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वं[5]मतीतानागतवर्तमानं पश्यति प्रत्यासत्तिविप्रकर्ष-

---

(१) "अतएव न कश्चित् पुरुषः सर्वज्ञ·" इति पाठः क्वचिदपि अष्टशतीरूपेण नास्ति । (२) "तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः" इति पाठः क्वचिदपि लिपौ अष्टशतीरूपेण नास्ति । (३) "स्वप्रमाव्यावृत्तेरिति" इति पाठः मु० अ० श० प्र० नास्ति । '(४) 'सुनिर्णीतासंभवद्" इति पाठांतर, ह. लि. अ. श. प्र. (५) "अतीतानागतवर्तमानं" इति पाठो ह. लि., मु. अ. श. प्र. नास्ति ।

योरकिञ्चित्करत्वात्* । [पृष्ठ २७१]

अतएवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसस्कृतचक्षुषो यथालोकाऽनपेक्षा* । [पृष्ठ २७५]

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ।।४।।

[पृष्ठ २८२]

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः* । [पृष्ठ २८३]

अतएव [1]लोष्टादौ निश्शेषदोषावरणनिवृत्ते सिद्धसाध्यतेत्यसमीक्षिताभिधान, साध्यापरिज्ञानात्* । [पृष्ठ २८६-९०]

दोषावरणयोर्हानि[2]रतिशायनान्निश्शेषतायां साध्यायां बुद्धेरपि किन्न परिक्षयः स्याद्विशेषाभावादतोनैकान्तिको हेतुरित्यशिक्षितलक्षित । चेतनादिगुणव्यावृत्तेः सर्वात्मना पृथिव्यादेरभिमतत्वात्* ।

[पृष्ठ २९०-९१]

अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्ययुक्त परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्ते, सस्कर्तृणा पातकित्वप्रसङ्गाद्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्* । [पृष्ठ २९२]

व्यापारव्याहाराकारविशेषव्यावृत्तिसमयवशात्तादृशं लोको विवेचयति* । [पृष्ठ २९२]

व्यापारव्याहाराकारविशेषव्यावृत्तेरिति समयवशात्तत्सिद्धातविल्लोको विवेचयति* ।

[पृष्ठ २९३]

यदि पुनरय निर्बंधः सर्वत्र विप्रकर्षिणामभावासिद्धेस्तदा कृतकत्वधूमादेर्विनाशानलाभ्या व्याप्तेरसिद्धेर्न कश्चिद्धेतुः । ततः शौद्धोदनिशिष्यकाणामनात्मनीनमेतत्, अनुमानोच्छेदप्रसंगात्* ।

पृष्ठ२९४-९५

[3]यस्य हानिरतिशयवती तस्य कुतश्चित्सर्वात्मना व्यावृत्तिः, यथा बुद्ध्यादिगुणस्याश्मन । तथा च दोषादेर्हानिरतिशयवती कुतश्चिन्निवर्तयितुमर्हति सकल कलकमिति कथमलकसिद्धिर्न भवेत् ?*

[पृष्ठ २९६]

मणेर्मलादेर्व्यावृत्तिः क्षयः सतोत्यन्तविनाशानुपपत्तेः । तादृगात्मनोपि [4]कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धिः* । [पृष्ठ २९८]

[5]तेन मणेः कैवल्यमेव मलादेर्वैकल्यम् ।* [पृष्ठ ३००]

कर्मणोपि वैकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव ततो नातिप्रसज्यते* । [पृष्ठ ३०१]

---

(१) 'लोष्ठादौ' इति पा. मु. प्र. । (२) 'हानिरति' इति पा. मु. श्र. श. प्र । (३) 'तथाहि' इति पाठोधिकः, ह. लि., मु. श्र. श. प्र. । (४) कर्मणां इति पा, ह. लि. श्र. श. । (५) "तेन मणेः कैवल्यमेव मलादेर्वैकल्य" इति पाठः ह. लि, मु. श्र. श. प्र. नास्ति ।

प्रतिपक्ष एवात्मनामागन्तुको मल परिक्षयी स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्* । [पृष्ठ ३०३]

ननु निरस्तोपद्रवः सन्नात्मा कथमकलकोपि विप्रकर्षिणमर्थ प्रत्यक्षीकुर्यात्* । [पृष्ठ ३१४]

सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ।।५।।

[पृष्ठ ३१७]

स्वभावकालदेशविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमित्यनुमानमुत्सारयति यावान् कश्चिद्भाव. स सर्वः क्षणिक इत्यादिव्याप्तेरसिद्धौ प्रकृतोपसंहारायोगादविप्रकर्षिणामनुमितेरानर्थक्यात् । सत्त्वादेरनित्यत्वादिना व्याप्तिमिच्छता सिद्धमनुमेयत्वमनवयवेनेति न किञ्चिद्व्याहत पश्याम* । [पृष्ठ ३१६-२०]

तेऽनुमेया, न कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च स्यु किं व्याहन्यते ? इति समानमग्न्यादीनाम्* ।

[पृष्ठ ३२६]

तथा चानुमानोच्छेद स्यात्* ।। [पृष्ठ ३२६]

तदभ्युपगमेऽस्वसंवेद्यविज्ञानव्यक्तिभिरध्यक्ष कि लक्षयेत् प्रमाणतया परमप्रमाणतयेति न किञ्चिदेतत्तया नैत[1]त्तया वा अयमभ्युगन्तुमर्हति । [पृष्ठ ३२६]

तदेव प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षण पुष्णाति त कथ चेतन प्रतिषेद्धुमर्हति सशयितु वा* ।

[पृष्ठ ३२८]

धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वात्कथ सकलविदि सत्त्वसिद्धिरितिब्रुवन्नपि देवाना प्रियस्तद्धर्मिस्वभाव न लक्षयति* । [पृष्ठ ३३०]

शब्दानित्यत्वसाधनेपि कृतकत्वादावय विकल्प कि न स्यादिति* । [पृष्ठ ३३०]

विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशधर्मिधर्मत्वे कार्यत्वादेरसभवद्बाधकत्वादेरपि सदिग्धसद्भावधर्मिधर्मत्व सिद्ध बोद्धव्यम् ।* [पृष्ठ ३३१]

यदि विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्वमर्हत [2]साध्यते पक्षदोषोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् । तत एव व्याप्तिर्न सिद्ध्येत् । अनर्हतश्चेदनिष्टानुषगोपि । क पुन सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वम् ? इत्येतद्विकल्पजाल शब्दनित्यत्वेपि समान, न केवल सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने सशीतौ वा । तदयमनुमानमुद्रा भिनत्ति* । [पृष्ठ ३४२]

वर्णानां नित्यत्वमकृतकत्वादिना सर्वगताना यदि साधयति स्यादप्रसिद्धविशेषण. पक्षः इतरथानिष्टानुषगः । कीदृक् पुन सामान्य नाम यदुभयदोष[3]प्रसगपरिहाराय [4]कल्प्येत ? सर्वगतत्वसाधनेपि समानम्* । [पृष्ठ ३४४]

(१) 'नैतत्तया' इति पा. ह लि ,प्र. श प्र नास्ति । (२) 'साध्येत' इति पा., मु. प्र. श. प्र. । (३) 'प्रसंग' इति पा., मु. प्र. श. प्र. नास्ति । (४) 'प्रकल्प्येत' इति पा. मु. प्र. श. प्र. ।

अविवक्षितविशेषस्य पक्षीकरणे सम· समाधिरित्यलमप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पोघैः[1]*

[पृष्ठ ३४५]

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ ६ ॥

[पृष्ठ ३४७]

विप्रकर्ष्यपि भिन्नलक्षणसबंधित्वादिना कस्यचित्प्रत्यक्ष सोत्र भवानर्हन्नेव* । [पृष्ठ ३७६]

अन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात्* । [पृष्ठ ३७६]

विचित्राभिसबधतया[2] व्यापारव्याहारादिसाकर्येण क्वचिदप्यतिशयानिर्णये कैमर्थक्याद्विशेषेष्टिः ? ज्ञानवतोपि विसवादात्, क्व पुनराश्वास लभेमहि ?* [पृष्ठ ४०३]

न चैव वादिन· किञ्चिदनुमान नाम, निरभिसन्धीनामपि बहुल कार्यस्वभावानियमोपलम्भात्, सति काष्ठादिसामग्रीविशेषे क्वचिदुपलब्धस्य तदभावे [3]प्रायसोनुपलब्धस्य मण्यादिकारणकलापेपि सभवात् । यज्जातीयो यत सप्रेक्षितस्तज्जातीयात्तादृगिति दुर्लभनियमताया धूमधूमकेत्वादीनामपि व्याप्यव्यापकभावः कथमिव निर्णीयेत ? वृक्ष·, शिशपात्वादिति लताचूतादेरपि क्वचिदेव दर्शनात् प्रेक्षावता किमिव निशङ्क चेत स्यात् ? तदेतददृष्टसशयैकान्तवादिना विदग्धमर्कटनामिव स्वलांगूलभक्षण ।* [पृष्ठ ४०६-७]

यत्नत· परीक्षित कार्य कारण नातिवर्तते इति चेत् स्तुत[4]* । [पृष्ठ ४०८]

ततोय प्रतिपत्तु[5]रपराधो नानुमानस्येत्यनुकूलमाचरति* । [पृष्ठ ४०८]

[6]तदेव तत् सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्वमर्हत्येव सकलज्ञत्व साधयति नान्यत्रेत्यविरोध इत्यादिना स्पष्टयति* । [पृष्ठ ४०६]

तत्रेष्ट मत शासनमुपचर्यते, निराकृतवाचोपि क्वचिदविप्रतिषेधात्* । [पृष्ठ ४१०]

नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात्* । [पृष्ठ ४११]

प्रतिसविदिताकारेच्छा तदा सभवन्ती पुन स्मर्येत वाञ्छान्तरवत्* । [पृष्ठ ४११]

ततश्चैतन्यकरणपाटवयोरेव[7] साधकतमत्वम्* । [पृष्ठ ४१४]

सहकारिकारणान्तर न वै नियतमपेक्षणीय नक्तञ्चरादे. सस्कृतचक्षुषो वाऽनपेक्षितालोकसन्निधेः रूपोपलम्भात् । न चैव सवित्करणपाटवयोरप्यभावे[8] विवक्षामात्रात्कस्यचिद्वचनप्रवृत्तिः प्रसज्यते, संवित्करणवैकल्ये यथाविवक्ष वाग्वृत्तेरभावात्* । [पृष्ठ ४१५]

---

(१) "विकल्पोपाधे:" इति पा., मु. अ. श प्र (२) "विचित्राभिसधितया" 'विचत्राभिसबधितया" इति पा , ह. लि. अ. श. प्र. । (३) 'प्रायशो' इति पा. मु. अ. श प्र. । (४) 'प्रस्तुत' इति अष्टशती सर्वत्रास्ति । (५) 'प्रतिपत्तेरप' इति पा., मु. अ. श. प्र. । (६) 'तदेतत्' इति पा. ह लि. अ. श प्र. । (७) 'एव' पाठो नास्ति, मु. अ. श. प्र. । (८) 'प्यभावविवक्षा' इति पा. मु. अ. श. प्र. ।

न च दोषजातिस्तद्धेतुर्यतस्तां [1]वाणी नातिवर्तेत, [2]तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावाद्बुध्द्यादिवत्* । [पृष्ठ ४१५]

प्रमाणतः सिद्धं प्रसिद्धं । तदेव कस्यचिद्बाधन युक्तम् । विशेषणमेतत्परमतापेक्षम्, [3]अप्रसिद्धेनाप्यनित्यत्वाद्यनेकान्तधर्मेण बाधाऽकल्पनात्* । [पृष्ठ ४१८]

[4]चेन्नर्ते प्रमाणात्प्रतिबंधसिद्धेरभ्युपगमात् । न [5]खलु परेषां प्रत्यक्षमग्निधूमयोः क्षणभङ्गसद्भावयोर्वा साकल्येन व्याप्तिं प्रति समर्थम्, अविचारकत्वात्सन्निहितविषयत्वाच्च* । [पृष्ठ ४१९]

न चानुमानमनवस्थानुषङ्गात्* । [पृष्ठ ४२०]

परोक्षान्तर्भाविना नस्तर्केण सम्बन्धो व्यवतिष्ठेत* । [पृष्ठ ४२०]

तदप्रमाणत्वे न लैङ्गिकं [6]प्रमाणमिति शेषः, समारोपव्यवच्छेदाविशेषात्* । [पृष्ठ ४२१]

अधिगमोपि व्यवसायात्मैव [7]तदनुत्पत्तौ सतोपि दर्शनस्य साधनान्तरापेक्षया सन्निधानाभेदात् सुषुप्तचैतन्यवत्* । [पृष्ठ ४२२]

(१) 'वाणीं' इति पा. मु. ह., अ. श. प्र. । (२) "तत्प्रकर्षाप्रकर्षा···' इति पा. मु. अ. श. प्र. । (३) 'प्रसिद्धेना' इति पा., मु, अ. श. प्र. । (४) 'चेत्' नास्ति मु. अ. श. प्र. । (५) "न च परेषा' इति पा., मु. अ. श. प्र. । (६) 'प्रमाणमिति शेषः' इति पा. अष्टशतीरूपेण मु. प्र. नास्ति । (७) 'तदनुपपत्तौ' इति पा., मु. अ. श. प्र. ।

उद्धृतश्लोकाः

पृष्ठ

प

ब

भ

म

य

★

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

आप्त—जो अज्ञानादि दोष, ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म रूप आवरण से रहित निर्दोष, सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ, और युक्तिशास्त्र से अविरोधी वचन बोलने वाले हितोपदेशी हैं।

अन्यथानुपपत्ति—अन्य प्रकार से नही होना, जैसे अग्नि रूप साध्य के अभाव में धूम रूप साधन का न होना।

तथोपपत्ति—उस प्रकार होना, जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना।

व्यभिचार दोष—जो हेतु पक्ष, सपक्ष में रहते हुये विपक्ष में चला जावे जो व्यभिचारी या अनैकांतिक कहलाता है। जैसे 'आकाश नित्य है क्योंकि प्रमेय है' यहा प्रमेयत्व हेतु नित्य आकाश में रहते हुये अनित्य घट में भी चला जाता है क्योकि घर भी प्रमेय है।

अध्यात्म—आत्मा का आश्रय लेकर होना।

नियोग—'नियुक्तोहअनेन वाक्येन' मैं इस वेद वाक्य से नियुक्त हुआ हू इस प्रकार के वेद वाक्य के अर्थ को नियोग कहते है।

प्रमाण संप्लव—बहुत से प्रमाणो का एक अर्थ में प्रवृत होना।

विधिवाद—जगत् को एक परब्रह्म रूप ही मानना, या सर्व जगत् को एक सत्, रूप ही मानना, इसे ब्रह्मवाद, ब्रह्माद्वैत, सत्ताद्वैत भी कहते है।

अविद्या—अद्वैतवादियों द्वारा कल्पित भेद रूप गलत धारणा को अविद्या कहते है।

वासना—पूर्व पूर्व के संस्कार से एक रूप वस्तु को अनेक भेद रूप मानना या एक क्षण में नष्ट होने वाली क्षणिक वस्तु को कालातर स्थायी मानना। इसे अद्वैतवादी और बौद्ध दोनो ही मानते है।

संवृत्ति—कल्पना मात्र। सर्वथा असत्य।

चार्वाक—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टयो से आत्मा की उत्पत्ति मानने वाला जड़वादी।

बौद्ध सर्वथा प्रत्येक वस्तु को एक क्षण मात्र स्थिति वाली मानने वाले क्षणिकवादी।

सांख्य—प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वो को मानने वाले, सर्वथा प्रत्येक वस्तु को नित्य कटस्थ अपरिणामी मानने वाले, आत्मा को अकर्ता, नित्य शुद्ध कहने वाले, नित्यैकांतवादी।

मीमांसक—वेद को अपौरुषेय मानने वाले, सर्वज्ञ को न मानने वाले।

वैशेषिक—द्रव्य गुण आदि सात पदार्थ मानने वाले, समवाय संबंध से वस्तु के अस्तित्व को कहने वाले। ईश्वर सृष्टि कर्तृत्ववादी।

नैयायिक प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थ मानने वाले, ईश्वर कर्तृत्व वादी।

वेदांती—ब्रह्माद्वैतवादी, सत्ताद्वैतवादी या विधिवादी सब पर्यायवाची नाम हैं।

अद्वैत—सर्वथा संपूर्ण चराचर जगत् को एक रूप मानने वाले। इनमें पांच भेद हैं—ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत और शून्याद्वैत।

तत्त्वोपप्लववादी—तत्वों को कहकर उनका अभाव करने वाले, कल्पना मात्र ही तत्त्व को मानने वाले।

शून्यवादी—संपूर्ण जगत् को असत्य या कल्पना रूप कहने वाला बौद्ध का माध्यमिक नामक एक भेद।

जैन—द्रव्यदृष्टि से सभी वस्तु को नित्य, अनादि निधन एवं पर्याय दृष्टि से सभी वस्तु को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक सत् रूप मानने वाले स्याद्वादी, कर्म शत्रु विजेता ऐसे जिन भगवान् के उपासक।

अन्यापोह—अन्य का अभाव करके कथन करना। बौद्ध शब्दों का अर्थ अन्यापोह करते हैं। जैसे 'गौ' इस शब्द को सुनने पर 'यह अश्व नहीं है, हाथी नहीं है, इत्यादि अर्थ करना अन्यापोह है।

प्रतिपत्ति—ज्ञान,

संप्रतिपत्ति—विसंवाद रहित जानना।

विप्रतिपत्ति—विसंवाद का होना।

सामान्य—अन्वय रूप धर्म या सत् रूप धर्म। जैसे सभी वस्तुयें अस्ति रूप हैं या सभी गायों में गायपना है यही सामान्य धर्म है।

विशेष—व्यावृत्ति रूप धर्म, जैसे यह गाय काली है, यह सफेद है इन धर्मों को विशेष कहते है।

प्रत्यासत्ति—निकटता का होना।

उपलब्धि लक्षण प्राप्ति—जो दिखने, उपलब्ध होने योग्य है उसकी प्राप्ति—

उपलब्धि लक्षण प्राप्तानुपलब्धि—जो वस्तु उपलब्ध होने योग्य है उसकी प्राप्ति का न होना, जैसे कमरे में घट उपलब्ध होने योग्य है उसका न होना। इसे दृश्यानुपलब्धि भी कहते है।

अनुपलब्धि लक्षण प्राप्तानुपलब्धि—जो वस्तु उपलब्ध होने योग्य नहीं है उसकी प्राप्ति का न

होना, जैसे कमरे में पिशाच या परमाणु उपलब्ध होने योग्य नहीं हैं इनका न होना। इसे अदृश्यानुपलब्धि भी कहते हैं।

प्रतिभास—झलक। पर ब्रह्म तत्त्व। ज्ञान।

अर्थांतर—भिन्न।

अनर्थांतर—अभिन्न।

समवाय—अयुत सिद्ध पदार्थों में इसमें यह है इस ज्ञान को समवाय कहते हैं। यह नैयायिक वैशेषिक की मान्यता है। जैनाचार्य इसे ही तादात्म्य नाम देते हैं।

संयोग—युत सिद्ध में इसमें यह है इसका नाम सयोग है। नैयायिक वैशेषिक इसे एक गुण मानते है। किंतु जैनाचार्य इसे पृथक् गुण नही मानते हैं।

अभिधान—कहना।

अभिधेय—वाच्य। कहे जाने योग्यपदार्थ।

अपौरुषेयवेद—जो अनादि निधन है, नित्य है, जिनको कहने वाला रचने वाला कोई नही है, इसी लिये जो प्रमाण हैं। ऐसा वेदांती और मीमांसक आदि मानते हैं।

प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी—चार्वाक प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण मानता है अनुमान आदि को अप्रमाण कहता है।

अतीन्द्रियप्रत्यक्ष—इंद्रिय और मनकी अपेक्षा से रहित आवरण कर्म के अभाव से आत्मा से उत्पन्न होने वाला पूर्ण ज्ञान।

अनवस्था—जिसका कही पर भी अवस्थान—ठहरना न हो उसे अनवस्था कहते है। यह एक दोष है।

लिंग—जिसके द्वारा साध्य का भान होता है, इसे हेतु भी कहते है।

अतिप्रसंगदोष—अघटित या अनिश्चित बात का होना अतिप्रसग है।

अन्योन्याश्रय दोष—परस्पर में एक के होने से दूसरे का न होना मतलब एक के बिना दूसरे के न होने से दोनों का ही न होना।

याज्ञिक—क्रियाकाडवादी यज्ञ को अधिक महत्व देने वाले, मीमासक।

सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण—सम्यक् प्रकार से निश्चित है बाधक नही होना जिस प्रमाण में अर्थात् जिस प्रमाण में बाधा नही होना सम्यक् प्रकार से निश्चित है।

निवृत—मन को धारण करने वाले संसारी प्राणी।

सर्वाप्तवादी—सभी को आप्त मानने वाले, सभी को आप्त कहने वाले, वैनयिक मिथ्यादृष्टि।

दोष—अज्ञानादि, भावकर्म ।

आवरण—ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म ।

व्यावृत्ति—प्रथक् करना ।

निवृत्ति—अभाव

विवेक—ज्ञान । भेद करना ।

विप्रकर्षी—दूरवर्ती पदार्थ ।

व्याप्ति—इसके होने पर ही उसका होना, जैसे अग्नि के होने पर ही धम का होना ।

व्यवच्छेद—दूर करना, हटाना । निराकरण करना ।

परिच्छेद—जानना ।

परमप्रकर्ष—उत्कृष्ट अवस्था, चरम अवस्था ।

लक्षय—जिसका लक्षण किया जावे ।

लक्षण—मिले हुये अनेक धर्मों मे से पृथक् करने वाले किसी एक धर्म को लक्षण कहते हैं, जैसे जोव का लक्षण उपयोग है ।

अविवक्षित— जिसको कहने की इच्छा नहीं है, जो विद्यमान होते हुये भी अप्रधान है ।

★

यावन्मेरुधराशैला यावच्चंद्रदिवाकरौ।
तावदष्ट सहस्रयस्याः प्राक्-खंडो जगति नंदताम् ॥

अष्टसहस्री

प्रथम भाग

सम्पूर्ण

***

यावन्मेरुधराशैला यावच्चंद्र दिवाकरौ । तावदष्टसहस्रयाः प्राक् खंडो जगति नंदताम् ।।

प्रशस्तिः

सिद्धं सन्मतिदेवस्य धर्मचक्रैकशासनम् । सर्वार्थसिद्धिकर्तारं शासनं जिनशासनम् ।। १ ।।
वर्षे चतुःशते सप्तत्युत्तरे वीरनिर्वृते । कुन्दकुन्दगणी जातो गौतमानुप्रसिद्धिभाक् ।। २ ।।
तस्य पूतान्वये ख्याते तपोज्ञानपरायणा । बहवः ख्याततनामानः समभूवन्महर्षयः ।। ३ ।।
क्रमशस्तत्र सञ्जातः प्रशान्तः सागरोपमः । शांतिसागर आचार्यो मुनीन्द्रो गणनायकः ।। ४ ।।
येन दैगम्बरी दीक्षा विधिर्लोके प्रवर्तित । चिरादासीन्निरुद्धोऽसौ कलिकालप्रभावतः ।। ५ ।।
तत्प्रतिष्ठापद लेभे सूरि श्री वीरसागरः । निग्रहानुग्रहे दक्षो व्यवहार विदांवरः ।। ६ ।।
तपसा तेजसा कीर्त्या प्रभावेण महौजसा । तत्प्रतिष्ठासमः सूरिर्नास्ति सूर इवाम्बरे ।। ७ ।।
महाभागस्य तस्यैव गुरो पादयुगान्तिके । धार्यिकाया प्रव्रज्या मे सञ्जाता भवहारिणी ।। ८ ।।
नाम्ना ज्ञानवती चाहं कृतानेनैव सूरिणा । तत्प्रसादान्मया लब्धमात्मज्ञानं भवान्तकम् ।। ९ ।।
लब्धमासीदतः पूर्वं ब्रह्मचर्यं व्रतं मया । देशभूषणसूरीणामन्तिके क्षुल्लिकाव्रतम् ।। १० ।।
सर्वत्र विहरन् भूमौ वीरवत् वीरसागरः । आयुरन्ते समाधिस्थः दिवं यातो महामुनिः ।। ११ ।।
शिवसागर आचार्यस्ततस्तत्पट्टमाश्रितः । संसारदुखतप्तानां शिवं साक्षात् प्रदर्शयन् ।। १२ ।।
वर्षाणा द्वादश यावत् विहार कृतवानसौ । पुनः समाधिं सप्राप्य स्वर्गलोकं समाश्रितः ।। १३ ।।
ततः सघानुसम्मत्या धर्मवार्द्धिरिवापरः । धर्मसागर आचार्यस्तस्य पट्टे प्रतिष्ठितः ।। १४ ।।
यस्यानुशासन पूत श्रावकैर्मुनिभिस्तथा । मूर्ध्नि सधार्यते नित्य जिनाज्ञेव सुदृष्टिभिः ।। १५ ।।
यस्य पार्श्वे मयाधीतं श्रुत सम्यक् जिनोदितम । स महावीरकीर्त्तिर्मे भूयात् मङ्गलदायकः ।। १६ ।।
सर्वशास्त्रेषु निष्णातः नैकभाषाविशारदः । स एवासीत् प्रभुः सूरिः मन्त्रविद्याविचक्षणः ।। १७ ।।
मरुप्रदेशके ग्रामोऽस्ति टोडारायसिहकः । तत्र श्रीपार्श्वनाथस्य मंदिरे जिनसन्निधौ ।। १८ ।।
रसविष्णुदिशा युग्मे वीराब्दे विश्रुते शुभे । पौषमासि सिते पक्षे द्वादश्यां शुक्रवासरे ।। १९ ।।
विख्याताष्टसहस्त्र्या वै गीर्वाण्या राष्ट्रभाषया । गुरुभक्त्यानुवादोयं मया सम्यगपूर्यत ।। २० ।।
स्थेयादष्टसहस्रीय राष्ट्रभाषा विभूषिता । विदुषां रञ्जनं कुर्याद्यावच्चद्रदिवाकरौ ।। २१ ।।

इति शुभ भूयात्

—o—

न्यायसार

विषय-दर्पण

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृ.	पंक्ति
जायेगा	जायेगी	१	२५
तस्यंस्व	तस्येव	३	११
अवधिमन. पर्ययास्तु	अवधिमन· पर्यययास्तु	१४	७
कतपय	कतिपय	१४	९
निश्चित	अनिश्चित	२०	१८
करा ज्ञान	ज्ञानकरा	२४	१८
धमः	धर्मः	२६	१०
वह	वह-वह	२६	१३
सयोग	सयोग	२६	२३
निश्चता	निश्चिता	२७	६
प्रत्यज	प्रत्यक्ष	२७	२१
शकट	शकट	३४	६
असत्प्रतिक्षत्व	असत्प्रतिपक्षत्व	३४	१६
को पिड	की पिड	३९	११
कारण	करण	४०	१०
पराक्ष	परोक्ष	४३	२०
अव्यपपदेश्य	अव्यपदेश्य	४४	२२
आगम मे पाच	आगम ये पाच	४७	१३
पूर्व अन्वय	पूर्व अन्वय—	४७	२६
अरुप्य	त्रैरुप्य	४९	२
हत्वाभासो	हेत्वाभासों	४९	२०
हतु	हेतु	४९	२२
य	ये	४९	२६
के वल	केवल	५०	७

शादं शाब्श्वत वेदोत्थं	शाब्दं शाश्वत वेदोत्थ	५०	१८
वहीं	वही	५०	१२
प्रत्येक	प्रत्यक्ष	५०	१४
क्योंकि हैं	है क्योंकि	५४	७
की	को	५४	६
जीवस्यानानन्द्यनंत	जीवस्यानाद्यनंत	५४	१७
जाघटयते	जाघटयये	५४	१८
निलानिला.	निलानला:	५५	१
तव चतुष्टय	तत्त्व चतुष्टय	५६	१५
वातों	वात	५६	१
उसे	उन्हे	५६	१०
प्रकृति	प्रकृतिरूप	६०	१
रुप	रूप	६०	१२
रुप	रूप	६१	११
चेतना	चेतन	६०	२०
प्रामण	प्रमाणं	६०	२६
तत्त्व	सत्त्व	६१	२
व्यक्त अव्यक्त ।	व्यक्त । अव्यक्त	६१	८
अश्रित	आश्रित	६१	६
रुप	रूप	६१	१०
रुप	रूप	६१	११
मानता	मानना	६१	२८
तच्चतर्विघ	तच्चतुर्विघ	६२	५
नत्रो	नेत्रो	६४	१८
तक	तर्क	६४	२२
बोधार्थ	बोधार्थ	६६	२६
प्रमाण वार्तिक	'प्रमाण वार्तिक' है	७२	२७
जाये	जावे	७४	११
समाहृये	समाह्वये	७६	३
नार्थोपशदेशना	नार्थोपदेशना	७६	६
सृष्टि क	सृष्टि को	७७	१८

बवोंन	बनावें	७७	१६
तबो	तब	७७	१६
तयोर्भोक्ति :	तयोर्भोक्त्	७८	११
श्रति	श्रुत	७६	२६
सवंज्ञ	सर्वज्ञ	८०	२६
व्यप्नोति	व्याप्नोति	८३	१
स	से	८३	२
निर्गम	निर्णय	८४	८
व्रह्मा	ब्रह्म	८७	४
भी पाच स्कधो मे	पाच स्कंधो मे भी	८७	८
वन	बन	८७	२१
है	है	८७	२६
इसी	इन्ही	८७	२६
वट	बट	८६	१४
मन पर्यत्र	मनःपर्यय	६०	१
कुश्रुत	कुश्रुति	६०	२
ससारी है ।	ससारी है	६०	११
एवोऽणरात्मा	एषोऽणुरात्मा	८६	१६
णिगाद	णिगोद	६३	१५
णिच्चुग्घाद	णिच्चुग्घाड	६३	१६
गलत है	गलत है	६५	१६
तक	तक कि	६७	१८
एक	"एक	६७	२१
पर्याय है	पर्याय है"	६७	२२
पूर्वोपर्जित	पूर्वोपार्जित	६८	२
त्पत्तरभावात्	त्पत्तेरभावात्	६६	१३
नवात्मगुणात्यतोच्छेदो	नवात्मगुणानामत्यतोच्छेदो	१००	१२
निर्जराभ्य	निर्जराभ्याम्	१०१	१६
त्रयामिहा···	त्रयमिहा···	१०२	१२
वदन्येव	वदन्त्येव	१०२	२६

उपादन	उपादान	१०३	२४
होता है	होता है	१०४	२
ध्वंसी है	ध्वमी है	१०४	७
मूर्ध्व	मूर्ध्व	१०४	१०
ज्ञाननामु	ज्ञानानामु	१०८	२८
पेज	पृ.	१०८	६
अपना	अपनी	११०	२६
ङ्गलुम्	ङ्गलम्	१११	७
पवित्र में	मे पवित्र	११६	११
अस्तित्त	अस्तित्व	११६	२४
नित्य है	नित्य है	११६	२५
अनित्य है	अनित्य है	११६	२५
सदा करे	सदाकरे	१२०	८
कुशलानो है	कुशलाना	१२०	१०
निभय	निर्भय	१२०	१८

★

ॐ

श्री अकलंकदेवाय नम

न्यायसार

मंगलाचरण

सिद्धान् सर्वान् नमस्कृत्य, न्यायशास्त्रानुसारतः।
न्यायशास्त्रप्रवेशार्थं, न्यायसारं प्रवक्ष्यहं ॥

जैन सिद्धांत मे न्याय शास्त्र कसौटी के पत्थर सदृश हैं जिनके द्वारा सत्य असत्य की परीक्षा की जाती है। कसौटी के पत्थर पर कसा हुआ सुवर्ण शुद्ध कहलाता है उसी प्रकार इन न्याय शास्त्रों में सच्चे आप्त, सत्य प्रमाण एवं सत्य पदार्थों को तर्क की कसोटी पर कसकर शुद्ध माना जाता है। श्री समंतभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा स्तोत्र में आप्त को तर्क की कसौटी पर कस कर उन्हें सत्य मानकर नमस्कार किया है। अनेकों बड़े-बड़े ग्रन्थो में स्वामी श्री सिद्धसेन दिवाकर, स्वामी भट्टाकलंक देव, आ० माणिक्यनंदि एवं अष्टसहस्त्री के कर्ता आचार्य श्री विद्यानन्द आदि महान् महान् आचार्यों ने विशद रीति से आप्त-आप्ताभास, प्रमाण-प्रमाणाभास आदि का वर्णन किया है। अष्टसहस्त्री, प्रमेयकमलमार्तंड, श्लोकवार्तिक, न्यायकुमुदचन्द्रोदय, सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय आदि ग्रन्थों को सरलता से समझने के लिए श्री माणिक्यनंदि आचार्य का परीक्षामुख श्री धर्मभूषणयति विरचित न्यायदीपिका आदि लघु पुस्तकें भी विद्यमान है। फिर भी आजकल प्रायः न्याय ग्रन्थ पढने की रुचि नहीं रही है। जबकि अष्टसहस्त्री जैसे ग्रन्थों में बहुत से प्रकरण स्याद्वाद प्रक्रिया से बहुत ही रुचिकर और सरल हैं। अत: इन विशेष ग्रन्थों में सरलता से प्रवेश कराने के लिये ही आचार्यों के ग्रन्थों के आधार से अतिसंक्षेप में प्रमाण अनुमान आगम आदि के लक्षण को समझने के लिए ही यह न्यायसार ग्रंथ लिखा गया है। इसमें पूर्वाचार्यों के द्वारा कथित प्रमाण आदि के लक्षण का संकलन किया जायेगा और अन्य मतावलम्बियों के क्या-क्या सिद्धांत है उनका भी संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जायेगा एवं आत्मा, सर्वज्ञ, प्रमाण और तत्त्वों के विषय में किन-किन की क्या-क्या मान्यतायें है ? उनमें क्या क्या दूषण आते हैं ? न्याय की कसौटी से कसी गई शुद्ध वास्तविक व्यवस्था क्या है ? इस पर विचार किया जायेगा।

सर्व प्रथम इसमें ग्रंथ का उद्देश्य, लक्षणनिर्देश और परीक्षा का लक्षण बतलाते हुए प्रमाण समीक्षा की जायेगी; जिसमें जैनाचार्यों द्वारा मान्य प्रमाण का लक्षण, भेद-प्रभेद, विषय और फल बतलाते हुए अन्य मतावलम्बियों द्वारा मान्य प्रमाण के लक्षण आदि में दोष दिखलाते हुए प्रमाण की समीक्षा की

जायेगी। अनन्तर दूसरे अधिकार में प्रमेय की समीक्षा करते हुए अन्य मतावलम्बियों द्वारा मान्य सिद्धांत, तत्त्व, आत्मा, ज्ञान, संसार, मोक्ष और इन दोनों के कारणों पर विचार करते हुए निर्दोष सर्वज्ञ कथित मान्यता को स्पष्ट किया जाएगा। इस ग्रंथ में चार्वाक, बौद्ध, साख्य, नैयायिक, वैशेषिक, मीमाँसक, वेदांती और वैयाकरण के मत की अधिक रूप से समीक्षा की जावेगी। अंत में स्याद्वाद शैली से वस्तु व्यवस्था को समझने का उल्लेख होगा क्योंकि स्याद्वाद शासन ही सार्वभौम शासन है।

जैन सिद्धांत में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य माने हैं एवं जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व होते हैं। इन सबको जानने का उपाय 'प्रमाणनयैर-धिगमः' इस महाशास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र के छठे सूत्र से कहा गया है। क्योंकि प्रमाण और नयों के द्वारा ही जीवादि तत्त्वों का यथार्थज्ञान होता है। किसी का भी वर्णन करने के लिए तीन बातों की प्रमुख आव-श्यकता रहती है। उद्देश, लक्षणनिर्देश और परीक्षा।

उद्देश—**विवेक्तव्यनाममात्रकथनमुद्देशः** । [न्यायदीपिका पृ ५]

कहने योग्य वस्तु के केवल नाम मात्र कथन को उद्देश कहते हैं।

लक्षण निर्देश—**व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणं** । [न्या पृ. ६]

मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।

श्री अकलंक देव ने भी ऐसा ही कहा है—

"**परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणं**" [तत्त्वार्थवा २-८]

परस्पर मिली हुई वस्तुओं में किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।

परीक्षा—**विरुद्धनानायुक्ति-प्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा। सा खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं चेदेवं न स्यादित्येवं प्रवर्तते** । [न्या. पृ ८]

विरोधी नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हुये विचार को परीक्षा कहते है। वह परीक्षा "यदि ऐसा हो तो ऐसा होना चाहिये और यदि ऐसा हो तो ऐसा नहीं होना चाहिए" इस प्रकार से प्रवृत्त होती है।

इन तीनों में से अब यहाँ लक्षण के भेद कहते हैं

लक्षण के दो भेद है—आत्मभूत और अनात्मभूत।

आत्मभूत—**यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतं यथाग्नेरौष्ण्यं** । [न्या. पृ. ६]

जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो उसे आत्मभूत कहते हैं, जैसे—अग्नि की उष्णता। यह उष्णता अग्नि का स्वरूप होती हुई अग्नि को जलादि से पृथक् कर देती है। इसलिये यह उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है।

अनात्मभूत—**तद्विपरीतमनात्मभूतं यथा दण्डः पुरुषस्य।** [न्या०पृ०६]

जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो उसे अनात्मभूत लक्षण कहते है जैसे दण्डी पुरुष का लक्षण दण्ड। 'दण्डी को लाओ' ऐसा कहने पर दण्ड पुरुष का स्वरूप न होता हुआ भी पुरुष को भिन्न पदार्थों से पृथक् कर देता है। इसलिये यह दण्ड पुरुष का अनात्मभूत लक्षण है।

लक्षणाभास को बताते हैं।

सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं।

उसके तीन भेद हैं—अव्याप्त, अतिव्याप्त और असंभवी।

अव्याप्त—**लक्ष्यैकदेशवृत्यव्याप्तम्। यथा गोः शावलेयत्वं।** [न्या०पृ०७]

जो लक्ष्य के एक देश में रहता है उसे अव्याप्त दोष कहते हैं। जैसे गो का लक्षण शावलेयत्व। शावलेयत्व-चितकबरा धर्म सभी गायों में नही पाया जाता है कुछ ही गायों में रहता है अतः अव्याप्त है।

अतिव्याप्त—**लक्ष्यालक्ष्यवृत्यतिव्याप्तं, यथा तस्यैव पशुत्व।** [न्या० पृ०७]

जो लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में रहता है उसे अतिव्याप्त कहते है जैसे गो का लक्षण पशुपना। यह पशुपना गाय के सिवाय अन्य अश्व आदि में भी पाया है अतः अतिव्याप्त है।

असंभवी—**बाधितलक्ष्यवृत्यसंभवि, यथा नरस्य विषाणित्व।** [न्या० पृ०७]

जिसका लक्ष्य में रहना असंभव हो वह असम्भव है जैसे मनुष्य का लक्षण सींग। सींग किसी भी मनुष्य में नही पाया जाता है अतः यह असम्भविलक्षणाभास है।

लक्ष्य किसे कहते हैं

जिसका लक्षण किया जाता है वह लक्ष्य कहलाता है। जैसे जीव का लक्षण उपयोग है ऐसा कहने पर जीव तो लक्ष्य है और उसका लक्षण उपयोग है जोकि अव्याप्त, अतिव्याप्त और असंभवी दोषों से रहित है।

'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र से प्रमाण का उद्देश हो चुका है अब प्रमाण का लक्षण निर्देश करते है एवं प्रमाण की परीक्षा यथा अवसर होवेगी।

प्रमाण-समीक्षा

प्रमाण का लक्षण

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं। अत्र सम्यक्पदं संशयविपर्ययानध्यवसायनिरासाय क्रियते अप्रमाणत्वादेतेषां ज्ञानानामिति । [न्या० पृ० ६]

सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते है। यहां जो सम्यक्पद है वह संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के निराकरण के लिए है क्योंकि ये तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं।

सशय—**विरुद्धानेककोटिस्पर्शि ज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति** । [न्या० पृ० ६]

विरुद्ध अनेक पक्षो के स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते है जैसे–यह ठूंठ है या पुरुष।

प्रायः सध्या आदि के समय मद प्रकाश होने के कारण दूर से मात्र स्थाणु और पुरुष दोनों में सामान्य रूप से रहने वाले ऊंचाई आदि साधारण धर्मों के देखने से और स्थाणु का टेढ़ापन आदि एवं पुरुष के शिर पैर आदि विशेष धर्मों के स्पष्ट नहीं होने से नाना कोटियों का अवगाहन करने वाला ज्ञान संशय कहलाता है।

विपरीत—**विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानं** । [न्या० पृ०६]

विपरीत एक पक्ष के निर्णय करने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते है जैसे 'सीप में यह चाँदी है' इस प्रकार का ज्ञान होना। इस ज्ञान में सदृशता आदि कारणों से सीप से विपरीत चांदी का सीप में निर्णय होता है अतः यह विपरीत ज्ञान है।

अनध्यवसाय—**किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम्** । [न्या० पृ०६]

'क्या है' इस प्रकार के अनिश्चय रूप सामान्य ज्ञान को अनध्यवसाय कहते है। जैसे—मार्ग में चलते हुये पथिक के पैर में तृण कण्टक आदि के स्पर्श हो जाने पर ऐसा ज्ञान होना कि 'यह क्या है'। यह ज्ञान नाना पक्षों का अवगाहन न करने से सशय नही है एव विपरीत एक पक्ष का निश्चय न करने से विपरीत भी नही है। अत. सशय विपर्यय से रहित होने से यह तीसरा ही अनध्यवसाय नामक मिथ्या ज्ञान है। ये तीनों ज्ञान सम्यग्ज्ञान में नही पाये जाते है।

श्री माणिक्यनंदि आचार्य प्रमाण का लक्षण करते है—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं ॥१॥ [परीक्षामुख प्र०प०]

अपना और अपूर्व अर्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

इस प्रमाण के लक्षण में जो 'ज्ञान' पद है वह अज्ञान रूप सन्निकर्ष, कारक साकल्य और इन्द्रिय प्रवृत्ति की प्रमाणता का निराकरण करने के लिए है।

जो 'व्यवसाय' पद है वह बौद्धाभिमत निर्विकल्प ज्ञान की प्रमाणता का खंडन करने के लिए है। 'अर्थ' पद विज्ञानाद्वैत, ब्रह्माद्वैत तथा शून्यैकांतवाद को प्रमाण नही मानने के लिए है। 'अपूर्व' विशेषण गृहीतग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण का निराकरण करने के लिए है। एव 'स्व' विशेषण अस्वसविदित ज्ञान की प्रमाणता के निषेध के लिए है।

ज्ञान ही प्रमाण क्यो है ?

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।।२।। [प मु प्र प.]

जो हित-सुख की प्राप्ति और अहित-दुःख को दूर करने में समर्थ होता है वह प्रमाण है और वह ज्ञान ही हो सकता है अन्य नहीं।

प्रमाण के भेद और लक्षण

तद्द्वेधा ।।१।। **प्रत्यक्षेतर भेदात्** ।।२।। **विशदं प्रत्यक्षं** ।।३।। [प मु द्वि प]

उस प्रमाण के दो भेद हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष।

विशद-स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भी दो भेद है--सांव्यवहारिक और पारमार्थिक।

साव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकं ।।५।। [प मु द्वि प]

इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले एक देश निर्मल ज्ञान को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते है। इसे मति ज्ञान भी कहते है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष का लक्षण

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतींद्रियमशेषतो मुख्यं ।।११।। [प. मु. द्वि. प.]

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप सामग्री की पूर्णता से दूर हो गये है समस्त आवरण जिसके ऐसे इन्द्रियो की सहायता रहित और पूर्णतया विशद् ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते है। क्योकि आवरण सहित और इन्द्रियजन्य ज्ञान में ही बाधा संभव है अन्यत्र नही।

परोक्ष प्रमाण का लक्षण

परोक्षमितरत् ।।१।। [प मु तृ प.]

प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न सभी प्रमाण परोक्ष है अर्थात् अविशद ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

परोक्ष प्रमाण के भेद

परोक्ष प्रमाण के प्रत्यक्ष स्मृति आदि आगे-आगे कारण माने गये है। इसके पाच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

पहले धारणा रूप प्रत्यक्ष हुये पदार्थ का ही स्मरण होता है इसलिए स्मृतिज्ञान में प्रत्यक्ष

निमित्त है प्रत्यभिज्ञान में स्मृति और प्रत्यक्ष की आवश्यकता पड़ती है। तर्क ज्ञान में प्रत्यक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान तीनों की आवश्यकता होती है। अनुमान ज्ञान में प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क इन चारों की आवश्यकता रहती है। आगम प्रमाण में संकेत ग्रहण और उसका स्मरण ये दोनों ही कारण होते हैं। तात्पर्य यह है कि इन पाँचों ही प्रमाणों में दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता होती है इसलिए उन्हें परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

स्मृति प्रमाण का लक्षण

संस्कारोद्बोधनिबंधना तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥ स देवदत्तो यथा ॥४॥ [प. मु. तृ. प.]

संस्कार-धारणारूप अनुभव की प्रगटता से होने वाले तथा 'तत्'—'वह' इस आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जैसे वह देवदत्त।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण

दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं। तदेवेदं तत्सादृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि॥५॥ [प. मु. तृ. प.]

वर्तमान का प्रत्यक्ष और पूर्व दर्शन का स्मरण है जिसमें ऐसे जोड़ रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उसके एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य और प्रातियौगिक ये चार भेद है। 'यह वही है' इसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। 'यह उसके सदृश है' यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। 'यह उससे विलक्षण हैं' यह 'विलक्षण प्रत्यभिज्ञान हैं। यह उसका प्रतियोगी है। उन चारों में क्रमशः इस प्रकार प्रतिभास होता है।

प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण

यथा स एवायं देवदत्तः, गोसदृशो गवयः, गोविलक्षणो महिषः, इदमस्माद्दूरं वृक्षोयमित्यादि ॥६॥ [प. मु. तृ. प.]

यह वही देवदत्त हैं, यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह रोझ गौ के समान है, यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह भैंस उस गौ से विलक्षण है, यह विलक्षण प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह प्रदेश उस प्रदेश से दूर है, यह वही वृक्ष है ये सब प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण हैं।

तर्क प्रमाण का लक्षण

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥७॥ [प. मु. तृ. प.]

साध्य और साधन का निश्चय और अनिश्चय है कारण जिसमें ऐसे व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

व्याप्ति ज्ञान का स्वरूप

इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव ॥८॥

यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥९॥ [प. मु. तृ. प.]

यह साधन इस साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के नहीं होने पर यह साधन नहीं होता है, यही व्याप्ति है। जैसे अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के नहीं होने पर नहीं होता है।

अनुमान का लक्षण

साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं ॥१०॥ [प. मु. तृ. प.]

साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

साधन का लक्षण

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥११॥ [प. मु. तृ. प.]

जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित होवे अर्थात् जो साध्य के बिना नहीं हो सकता है उसे साधन–हेतु कहते है।

अविनाभाव का स्वरूप और भेद

जो जिसके बिना न होवे उसे उसका अविनाभावी कहते हैं। उसके दो भेद हैं—

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१२॥ [प. मु. तृ. प.]

साध्य और साधन का एक साथ एक समय में होने का नियम सहभाव नियम अविनाभाव कहलाता है। और काल के भेद से साध्य और साधन का क्रम से होने का नियम क्रमभाव नियम कहलाता है।

सहभाव का लक्षण व उदाहरण

सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥१३॥ [प. मु तृ. प.]

सदा साथ रहने वालों में तथा व्याप्य और व्यापक में जो अविनाभाव संबंध होता है उसे सहभाव नियम नामक अविनाभाव संबध कहते हैं। रूप-रस सदा एक साथ रहते हैं। वृक्षत्व व्यापक और शिशपात्व व्याप्य है। जो तत् अतत् ऐसे दोनो जगह रहता है वह व्यापक है और जो अल्पदेश में रहता वह व्याप्य कहलाता है।

क्रमभाव का लक्षण

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥१४॥ [प. मु. तृ. प.]

पूर्वचर और उत्तरचर में तथा कार्य और कारण में जो अविनाभाव सबन्ध होता है, उसे क्रमभाव नियम अविनाभाव संबन्ध कहते है। कृत्तिका का उदय अदमुर्हूर्त पहले होता है और रोहिणी का उदय पीछे होता है। इसलिए इन दोनो में क्रमभाव माना गया है। इसी प्रकार अग्नि के बाद में धूम होता है, इसलिए अग्नि और धूम में भी कार्यकारणरूप क्रमभाव माना जाता है

व्याप्ति ज्ञान का निर्णय कैसे होता है?

तर्कात् तन्निर्णयः ॥१५॥ [प. मु. तृ. प.]

व्याप्ति–अविनाभाव का निर्णय तर्क प्रमाण से होता है। जैनाचार्यों के सिवाय अन्य किसी ने भी तर्क प्रमाण को नहीं माना है अतः सबके द्वारा मान्य प्रमाण की संख्या असत्य ठहरती है।

साध्य का स्वरूप

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यं ॥१६॥ [प. मु. तृ. प.]

जो वादी को इष्ट-अभिप्रेत है--प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित है और असिद्ध है उसे साध्य कहते है। यहां असिद्ध विशेषण का प्रयोजन यह है कि कोई भी सिद्ध अर्थ को साध्य की कोटि में नही रखेगा अतएव असिद्ध को ही साध्य की कोटि में रखकर सिद्ध किया जाता है।

धर्म और धर्मी के समुदाय का कथन करना 'पक्ष' कहलाता है। धर्मी को भी पक्ष कहते है।

प्रसिद्धो धर्मी ॥२३॥ [प. मु. तृ. प.]

वह धर्मी-पक्ष प्रसिद्ध ही होता है। अवस्तु स्वरूप या कल्पित नहीं होता है।

अनुमान के दो अंग होते हैं

एतद्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥३३॥ [प. मु. तृ प.]

पक्ष और हेतु ये दो ही अनुमान के अवयव है, उदाहरण नही है।

जैनाचार्य अनुमान के मुख्य रूप से दो ही अवयव मानते है। साँख्य-पक्ष हेतु और दृष्टांत, मीमा-सक-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण व उपनय तथा नैयायिक–प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन ऐसे ये लोग क्रम से ३, ४ या ५ अवयव मानते हैं। जिनका जैनाचार्यों ने खण्डन किया है। बौद्ध एक 'हेतु' को ही अनुमान का अवयव मानता है।

कदाचित् जैनाचार्य भी पांच अवयव मान लेते हैं

बालव्युत्पत्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्रे एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥४२॥ [प मु तृ प.]

बाल बुद्धि वाले-अल्पज्ञ जनों को समझाने के लिए उदाहरण उपनय और निगमन की स्वीकारता शास्त्र में ही है, वाद काल में नहीं। क्योंकि वाद करने का अधिकार विद्वानों को ही होता है और वे पहले से ही व्युत्पन्न रहते है। इसलिए उनको उदाहरण आदि का प्रयोग उपयोगी नही होता।

उदाहरण के भेद

उदाहरण के दो भेद है।

दृष्टांतो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात् ॥४३॥ [प. मु. तृ. प.]

दृष्टात के दो भेद है—अन्वय और व्यतिरेक।

अन्वय दृष्टान्त का स्वरूप

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टांतः ॥४४॥ [प. मु. तृ. प]

जिसमें साध्य के साथ साधन की व्याप्ति दिखाई जाती है उसे अन्वय दृष्टांत कहते हैं। जैसे--जहां-जहां धूम होता है वहा-वहां अग्नि अवश्य होती है, इस प्रकार साधन का सद्भाव दिखाकर साध्य का सद्भाव दिखाना अन्वयव्याप्ति है।

व्यतिरेक दृष्टान्त का स्वरूप

साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेक दृष्टान्तः ॥४५॥ [प. मु. तृ. प.]

जिसमें साध्य का अभाव दिखाकर साधन का अभाव दिखाया जाता है वह व्यतिरेक दृष्टांत है। जैसे--जहां-जहां अग्नि नहीं होती है वहां-वहा धूम भी नही होता है, इस प्रकार से साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाना व्यतिरेक व्याप्ति है।

उपनय का लक्षण

हेतोरुपसंहार उपनयः ॥४६॥ [प मु तृ प]

पक्ष में साधन के दुहराने को उपनय कहते है।

निगमन का स्वरूप

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥४७॥ [प, मु तृ. प]

प्रतिज्ञा के दुहराने को निगमन कहते है। जैसे धूम वाला होने से यह अग्नि वाला है।

अनुमान के भेद

तदनुमानं द्वेधा ॥ ४८ ॥ स्वार्थपरार्थभेदात् ॥४९॥ [प. मु. तृ. प.]

अनुमान के दो भेद है। स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थमुक्तं लक्षणं ॥५०॥ परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातं ॥५१॥ तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ॥५२॥ [प. मु. तृ. प.]

'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमान' इस सूत्र से कहा गया अनुमान का लक्षण ही स्वार्थानुमान का लक्षण है।

स्वार्थानुमान के विषय भूत, साध्य और साधन को कहने वाले वचनों से उत्पन्न हुए ज्ञान को परार्थानुमान कहते है। एव परार्थानुमान के कारण होने से परार्थानुमान के प्रतिपादक वचनों को भी परार्थानुमान कहते है।

हेतु के भेद

स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ॥५३॥ [प. मु. तृ. प]

उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥५४॥ [प. मु तृ प.]

हेतु के दो भेद है उपलब्धि रूप हेतु और अनुपलब्धि रूप हेतु। उपलब्धि रूप हेतु विधि और प्रतिषेध के साधक हैं एव अनुपलब्धि रूप हेतु भी विधि और प्रतिषेध दोनो के साधक है। अर्थात् उपलब्धि के दो भेद है अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि। ऐसे ही अनुपलब्धि के भी दो भेद हैं–अविरुद्धानुपलब्धि और विरुद्धानुपलब्धि।

अविरुद्धोपलब्धि के भेद

अविरुद्धोपलब्धि के विधि में छह भेद है। अविरुद्धव्याप्योपलब्धि, अविरुद्धकार्योपलब्धि, अविरुद्धकारणोपलब्धि, अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, अविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि, अविरुद्धसहचरोपलब्धि।

विरुद्धोपलब्धि के भेद

विरुद्धोपलब्धि के प्रतिषेध को सिद्ध करने में छह भेद हैं। विरुद्धव्याप्योपलब्धि, विरुद्धकार्योपलब्धि, विरुद्धकारणोपलब्धि, विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि और विरुद्धसहचरोपलब्धि।

अविरुद्धानुपलब्धि के भेद

अविरुद्धानुपलब्धि के प्रतिषेध में सात भेद हैं। अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि, अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि, अविरुद्धकार्यानुपलब्धि, अविरुद्धकारणानुपलब्धि, अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि, अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि और अविरुद्धसहचरानुपलब्धि।

विरुद्धानुपलब्धि के भेद

विरुद्धानुपलब्धि के विधि में तीन भेद हैं—विरुद्धकार्यानुपलब्धि, विरुद्धकारणानुपलब्धि, विरुद्धस्वभावानुपलब्धि। यहाँ हेतु के ये बावीस भेद बताये है प्रत्येक के लक्षण और उदाहरण परीक्षामुख ग्रन्थ से देख लेना चाहिए।

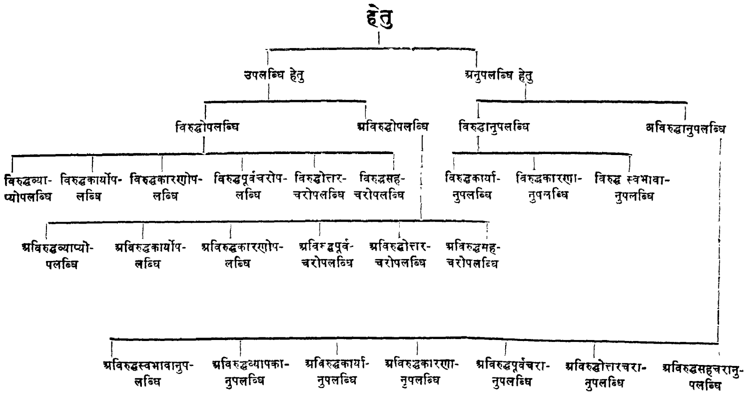
इन बाईस हेतुओं में से सबसे प्रथम अविरुद्ध व्याप्योपलब्धि का उदाहरण देते है—

"परिणामी शब्दः कृतकत्वात् य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः कृतकश्चायं तस्मात्परिणामीति यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा वन्ध्यास्तनधय., कृतकश्चाय, तस्मात्परिणामी ॥६१॥

[प मु. तृ. प.]

अर्थ--शब्द परिणामी होता है क्योंकि वह किया हुआ है। जो-जो किया हुआ होता है वह-वह परिणामी होता है जैसे घड़ा। घड़े की तरह शब्द भी किया हुआ है अतः वह भी परिणामी होता है। जो पदार्थ परिणामी नहीं होता वह पदार्थ किया भी नही जाता, जैसे वन्ध्या स्त्री का पुत्र। उसी तरह यह शब्द कृतक होता है, इसी कारण परिणामी होता है। यहां परिणामित्व साध्य से अविरुद्ध व्याप्य कृतकत्व की उपलब्धि है।

'परिणामी शब्दः' यह प्रतिज्ञा है 'कृतकत्वात्' यह हेतु है। 'यथाघटः' यह अन्वय दृष्टांत है "यथा वन्ध्यास्तनधयः' यह व्यतिरेक दृष्टांत है, 'कृतकश्चायं' यह उपनय है। 'तस्मात् परिणामीति' यह निगमन है। इस प्रकार से यहा पहले बतलाये गये जो अनुमान के पाँच अवयव माने गये हैं वे पांचों अवयव दिखलाये गए है। यहां पर 'कृतकत्वात्' यह हेतु शब्द को परिणामी सिद्ध करता है, वह हेतु परिणामीपने से व्याप्त है अतः यह हेतु 'अविरुद्धव्याप्योपलब्धि" नाम से कहा जाता है। ऐसे ही सभी हेतुओं का लक्षण अन्यत्र ग्रन्थों से समझना चाहिए।


हेतु
उपलब्धि हेतु
अनुपलब्धि हेतु
विरुद्धोपलब्धि
अविरुद्धोपलब्धि
विरुद्धानुपलब्धि
अविरुद्धानुपलब्धि
विरुद्धव्याप्योपलब्धि
विरुद्धकार्योपलब्धि
विरुद्धकारणोपलब्धि
विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि
विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि
विरुद्धसहचरोपलब्धि
अविरुद्धव्याप्योपलब्धि
अविरुद्धकार्योपलब्धि
अविरुद्धकारणोपलब्धि
अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि
अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि
अविरुद्धसहचरोपलब्धि
विरुद्धकार्यानुपलब्धि
विरुद्धकारणानुपलब्धि
विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि
अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि
अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि
अविरुद्धकार्यानुपलब्धि
अविरुद्धकारणानुपलब्धि
अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि
अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि
अविरुद्धसहचरानुपलब्धि

६+६+३-,-७=२२

अन्य हेतु भी इन्हीं बाईस हेतुओं में शामिल है ।

परम्परया संभवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयं ॥८६॥ [प. मु. तृ. प.]

गुरु परम्परा से और भी जो हेतु संभव हो सकते हों उनका पूर्वोक्त साधनो में ही अंतर्भाव करना चाहिये ।

व्युत्पन्न जनों की अपेक्षा अनुमान के अवयवों के प्रयोग का नियम

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा ॥६०॥ [प. मु. तृ प.]

व्युत्पन्न पुरुषो के लिए तथोपपत्ति या अन्यथानुपपत्ति नियम से ही प्रयोग करना चाहिये ।

साध्य के सद्भाव में साधन का होना 'तथोपपत्ति' है एव साध्य के अभाव में साधन का न होना 'अन्यथानुपपत्ति' कहलाती है ।

व्युत्पन्न प्रयोग की उदाहरण द्वारा पुष्टि

अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ॥६१॥ [प मु तृ. प.]

यह प्रदेश अग्नि वाला है क्योकि अग्नि के सद्भाव में ही यह धूमवाला हो सकता है, यह तथोपपत्ति का उदाहरण है । अथवा अग्नि के अभाव में यह धूमवाला हो ही नही सकता, इसलिए इसमें अवश्य अग्नि है, यह 'अन्यथानुपपत्ति' का उदाहरण है । इस प्रकार 'तथोपपत्ति या 'अन्यथानुपपत्ति' का प्रयोग करना चाहिए । इस दृष्टांत से यह निश्चय किया जाता है कि विद्वानों के लिए उदाहरण वगैरह के प्रयोग की आवश्यकता नही है ।

यहा तक अनुमान के अंगभूत साध्य और हेतुओ का वर्णन किया है ।

आगम का स्वरूप

आप्तवचनादिनिबंधनमर्थज्ञानमागमः ॥६५॥ [प मु तृ प]

आप्त वचन तथा अगुलि सज्ञा आदि से होने वाले अर्थज्ञान को आगम प्रमाण कहते है ।

शब्द से वास्तविक अर्थबोध होने का कारण

सहजयोग्यता संकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥६६॥ [प मु तृ प]

अर्थो में वाच्यरूप और शब्दों में वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता होती है, जिसमें संकेत हो जाने से ही शब्दादिक पदार्थों के ज्ञान मे हेतु हो जाते है ।

यथा मेर्वादयः सन्ति ॥६७॥ [प मु. तृ. प.]

जैसे सुमेरु पर्वत आदिक हैं, अर्थात् जैसे मेरु शब्द के सुनने मात्र से ही जंबूद्वीप के मध्यस्थित सुमेरु का ज्ञान हो जाता है । उसी प्रकार सर्वत्र शब्द से अर्थ का ज्ञान हो जाता है ।

इस प्रकार से यहां तक परीक्षा मुख सूत्र के आधार से प्रमाण का लक्षण उसके दो भेद, प्रत्यक्ष के दो भेद एव परोक्ष के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पांच भेदों का लक्षण किया गया है ।

न्यायदीपिका ग्रन्थ में कुछ विशेषता है उसे बताते हैं।

प्रमाण के भेद लक्षण और विशेषतायें

प्रमाणं द्विविधं-प्रत्यक्षं परोक्षं चेति तत्र विशदप्रतिभासं प्रत्यक्ष । तत्प्रत्यक्षं द्विविधं-सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति । तत्र देशतो विशदं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं''' तच्चतुर्विधं-अवग्रहः ईहा अवायः धारणा चेति । [न्या० पृ० ३१]

प्रमाण के दो भी भेद है—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

उसमे विशद–स्पष्ट प्रतिभास को प्रत्यक्ष कहते है।

उस प्रत्यक्ष के भी दो भेद है—साव्यवहारिक और पारमार्थिक। एक देश स्पष्ट ज्ञान को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। उसके चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा। यह ज्ञान पाच इद्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है अतः चार को छह से गुणा करने से ४×६=२४ भेद हुये है इस ज्ञान के विषयभूत पदार्थ बहु, बहुविध आदि के भेद से बारह प्रकार के है अतःइन २४ को १२ से गुणा करने पर २४×१२=२८८ भेद हुये।

अवग्रह के दो भेद होते है व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह। व्यजनावग्रह में केवल अवग्रह ही होता है ईहा आदि भेद नही होते है एवं यह चक्षु और मन से नही होता है अतः एक व्यञ्जनावग्रह को ४ इद्रिय से गुणा करके १२ भेदों से गुणित कीजिये १×४=४, ४×१२=४८, पुनः उपर्युक्त २८८ में इस सख्या को मिला देने से इस साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के ३३६ भेद होते है। यथा २८८+४८=३३६।

इस साव्यवहारिक प्रत्यक्ष को अमुख्य प्रत्यक्ष भी कहते है क्योंकि यह उपचार से सिद्ध है। इसी का नाम मतिज्ञान है वास्तव मे यह ज्ञान परोक्ष है जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ में श्री उमास्वामि आचार्य ने स्पष्ट किया है "आद्ये परोक्ष" ॥११॥ आदि के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान है क्योकि ये इद्रिय मन आदि की अपेक्षा रखते है अतः परोक्ष है। यहा न्याय ग्रन्थो में मतिज्ञान को प्रत्यक्ष कहने का मतलब यह है कि यह ज्ञान इद्रिय और मन इन दो निमित्तक होते हुये भी लोक के सव्यवहार मे 'प्रत्यक्ष' इस प्रकार से प्रसिद्ध होने से साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। वास्तव में यह मतिज्ञान परोक्ष ही है। श्रुतज्ञान को तो परोक्ष प्रमाण मे 'आगम' नाम से कहा ही है।

सर्वतो विशदं पारमार्थिकं प्रत्यक्ष । मुख्यप्रत्यक्षं इति यावत् । तद्विविधं-विकलं सकलं च । तत्र कतिपयविषयं विकलं तदपि द्विविधिम् अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञानं च । [न्या० पृ० ३४]

पूर्णतया विशदज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते है। इसी का नाम मुख्य प्रत्यक्ष है। इसके दो भेद है—विकल प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। उसमें कतिपय विषय को ग्रहण करने वाला विकल प्रत्यक्ष है उसके भी दो भेद हैं—अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान।

सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलं। [न्या० पृ० ३७]

संपूर्णद्रव्य और उनकी संपूर्ण पर्यायों को विषय करने वाला सकल प्रत्यक्ष है। यह घातिकर्म के नाश से प्रगट हुआ केवलज्ञान है। इस प्रकार से अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ही पूर्णतया विशद होने से पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं। इन ज्ञानों की पूर्णतया विशदता आत्ममात्र की अपेक्षा रखने वाली है। अर्थात् ये तीनों ज्ञान आत्ममात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होते है अतः मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

नन्वस्तु केवलस्य पारमार्थिकत्वं, अवधि मनःपर्ययोस्तु न युक्तं, विकलत्वात्, इति चेत् न साकल्य-वैकल्ययोरत्र विषयोपाधिकत्वात्। तथा हि सर्वद्रव्यपर्यायविषयमिति केवलं सकलं। अवधिमनःपर्ययौ तु कतिपयविषयत्वाद्विकलौ। नैतावता तयोः पारमार्थिकत्वच्युतिः। केवलवत्तयोरपि वैशद्यं स्वविषये साकल्येन समस्तीति तावपि पारमार्थिकावेव। [न्या० पृ० ३७]

शंका—केवलज्ञान को पारमार्थिक कहना ठीक है, किन्तु अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को पारमार्थिक कहना ठीक नही है क्योंकि ये दोनों विकल प्रत्यक्ष हैं।

समाधान—ऐसा नही कहना, क्योंकि सकलपना और विकलपना यहा विषय की अपेक्षा से है, स्वरूप की अपेक्षा से नही है। इसका स्पष्टीकरण—चू कि केवलज्ञान समस्त द्रव्यों और पर्यायो को विषय करने वाला है, इसलिये वह सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है। परन्तु अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान कुछ पदार्थों को विषय करते है, इसलिये वे विकल कहे जाते है। लेकिन इतने मात्र से ही इनमें पार-मार्थिकता की हानि नहीं होती है, क्योकि पारमार्थिकता का लक्षण सकल पदार्थों को विपय करना नहीं है किन्तु पूर्ण निर्मलता है वह पूर्ण निर्मलता केवलज्ञान की तरह अवधि मनःपर्यय में भी अपने विषय मे विद्यमान है, इसलिये ये दोनों भी पारमार्थिक ही है एव ये दोनों भी केवलज्ञान की तरह आत्ममात्र की अपेक्षा रखकर ही उत्पन्न होते हैं अतः ये तीनों ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हे।

शंका—अक्ष नाम चक्षु आदि इंद्रियों का है उन इंद्रियों की सहायता लेकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है अतः मति श्रुतज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहना चाहिये अवधि आदि तीनों को नहीं ?

समाधान—यह शंका ठीक नही है। आत्ममात्र की अपेक्षा एवं इंद्रियों से निरपेक्ष ज्ञान ही प्रत्यक्ष हैं क्योंकि प्रत्यक्षता में कारण स्पष्टता-निर्मलता ही है, इंद्रिय जन्यता नही है। दूसरी बात यह है कि हम यहां अक्ष का अर्थ इंद्रिय न करके आत्मा करते हैं देखिये ! ''अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा'' अर्थात् जो व्याप्त करे-जाने, उसे अक्ष कहते हैं और वह अक्ष-आत्मा ही है। इसलिये आत्ममात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहते हैं। अतएव मतिज्ञान इंद्रिय की अपेक्षा रखने से परोक्ष ही है। कथंचित्-उपचार से उसे न्याय भाषा में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है, यह बात स्पष्ट है।

इसी प्रकार से परोक्ष प्रमाण का लक्षण और उसके भेद भी परीक्षामुख के अनुसार ही किये गये हैं।

इसमें भी हेतु के लक्षण को यहां दिखाते हैं

निश्चित साध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनं। यस्य साध्याभावासंभवनियमरूपा व्याप्त्यविनाभावाद्यपरपर्याया साध्यान्यथानुपपत्तिस्तर्काख्येन प्रमाणेन निर्णीता तत्साधनमित्यर्थः। तदुक्तं कुमारनंदिभट्टारकैः—"अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिंगमंग्यते।" [न्या० पृ० ६९]

जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अविना भाव) निश्चित है उसे हेतु कहते है। तात्पर्य यह है कि जिस की साध्य के अभाव में नहीं होने रूप व्याप्ति, अविनाभाव आदि नामों वाली साध्यानुपपत्ति--साध्य के होने पर ही होना और साध्य के अभाव में नहीं होना, इस रूप से तर्क प्रमाण के द्वारा निर्णीत है, वह हेतु है। श्री कुमारनंदि भट्टारक ने भी कहा है--"अन्यथानुपपत्ति मात्र" जिसका लक्षण है उसे लिंग-हेतु कहा गया है।

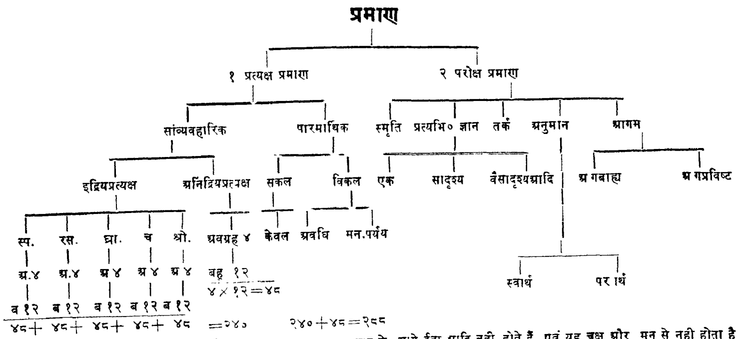
साध्य का लक्षण

शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यं [न्या० पृ० ६९]

जो शक्य अभिप्रेत और अप्रसिद्ध है उसे साध्य कहते हैं। यहा 'शक्य' शब्द से प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित को लेना, 'अभिप्रेत' से इष्ट को समझना एवं 'अप्रसिद्ध' से असिद्ध को लेना चाहिये। शब्दों में किंचित् अतर होते हुये भी ये सभी लक्षण पूर्वोक्त सूत्रों के अनुसार ही है।

उपसंहार— यहां तक जैन सिद्धात के अनुसार प्रमाण का लक्षण, प्रमाण के दो भेद, उनके भेद-प्रभेद बतलाये गये है। प्रमाण के दो भेदो में प्रत्यक्ष और परोक्ष है एव प्रत्यक्ष के भी दो भेद है। साव्यवहारिक एव पारमार्थिक। सांव्यवहारिक-मतिज्ञान के अवग्रह ईहा अवाय धारणा से चार भेद हैं पुनः इंद्रिय, मन एव बहु आदि विषयों से गुणा करने से ३३६ भेद हो जाते है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—विकल, सकल। विकल, प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं अवधि, मनःपर्यय। सकल प्रत्यक्ष से एक केवलज्ञान ही लिया जाता है। परोक्ष प्रमाण के पाच भेद है स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। प्रत्यभिज्ञान के एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य और प्रातियौगिक के भेद से चार भेद है। एवं अनुमान के मुख्य दो अवयव है प्रतिज्ञा और हेतु। हेतु के भी उपलब्धि और अनुपलब्धि के भेद से दो भेद है। उपलब्धि के अविरुद्धोपलब्धि, विरुद्धोपलब्धि एव अनुपलब्धि के अविरुद्धानुपलब्धि, विरुद्धानुपलब्धि ऐसे भेद होते हैं। अविरुद्धोपलब्धि के ६ भेद, विरुद्धोपलब्धि के ६ भेद, अविरुद्धानुपलब्धि के ७ भेद एव विरुद्धानुपलब्धि के ३ भेद ऐसे हेतु के २२ भेद माने गये हैं।

इस प्रकार से सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहकर उसके पाच भेदों में से मतिज्ञान को सांव्यवहारिक



विशेष—अवग्रह के दो भेद हैं अर्थावग्रह व्यजनावग्रह। व्यजनावग्रह के आगे ईहा आदि नहीं होते हैं एवं यह चक्षु और मन से नहीं होता है अतः व्यंजनावग्रह को चार इद्रिय और बहु आदि १२ से गुणा करने पर ४ × १२ = ४८ भेद होते हैं। २८८ + ४८ = ३३६ इस प्रकार मतिज्ञान के ३३६ भेद होते है।

प्रत्यक्ष, श्रुतज्ञान को 'आगम' शब्द से परोक्ष अवधि, मनःपर्यय एव केवलज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा है। यहां तक प्रमाण का विवेचन जैन सिद्धातानुसार हुआ है। 'प्रमाणनयैरधिगम.' इस सूत्र में नयों के द्वारा भी पदार्थों का ज्ञान होता है अतः संक्षेप से यहाँ नय का लक्षण और उसके भेद बताते हैं।

नय का लक्षण

प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही प्रमातुरभिप्रायविशेषः नयः। [न्या० पृ० १२५]

प्रमाण से जाने हुये पदार्थ के एक देश को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं।

उस नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो भेद है। अन्यत्र नयों के सात भेद भी माने गये हैं यथा—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ. और एवभूत।

इन नयो का विस्तृत विवेचन अन्य 'नयचक्र' आदि ग्रन्थो से समझना चाहिये। यहां इतना ही पर्याप्त है कि ये सभी नय वस्तु के एक-एक अश को कहने वाले है एवं परस्पर मे सापेक्ष है, यदि ये नय परस्पर में निरपेक्ष हो जाते हैं तो मिथ्या हो जाते है। जैसे—द्रव्यार्थिक नय का विषय परम द्रव्य सत्ता-महा सामान्य है उसकी अपेक्षा से सभी चेतन-अचेतन वस्तुये सत् रूप होने से एक रूप है इसी नय को लेकर ब्रह्म वादियो ने "एक अद्वितीय परम ब्रह्म तत्त्व" मान लिया है। किन्तु ऐसी एकांत मान्यता गलत है चेतन-अचेतन कथंचित् अवांतर सत्ता से भिन्न-भिन्न है। वैसे ही ऋजुसूत्र परमपर्यायार्थिक नय है, वह भूत, भविष्यत् के स्पर्श से रहित शुद्ध केवल वर्तमान कालीन अर्थपर्याय रूप वस्तु को विषय करता है। उसका एकात लेकर बौद्धों ने प्रत्येक वस्तु को सर्वथा एक क्षणवर्ती नश्वर ही सिद्ध कर दिया है अतः उसकी भी एकात मान्यता सर्वथा गलत है। इसलिये नयों की परस्पर सापेक्षता ही सम्यक् है। जो नय परस्पर निरपेक्ष एकात को ग्रहण कर लेते है वे दुर्नय अथवा नयाभास कहलाते है।

प्रमाण की सच्चाई का निर्णय कैसे होता है ?

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ।।१३।। [परीक्षा मु० प्र० प०]

उस प्रमाण की प्रमाणता का निर्णय दो प्रकार से होता है। अभ्यास दशा में अन्य पदार्थ की सहायता बिना अपने आप, और अनभ्यास दशा में अन्य कारणों की सहायता से।

जैसे—जहां निरंतर जाया आया करते है, वहां के नदी और तालाब आदि स्थानों के परिचय को अभ्यास दशा कहते हैं। इस स्थान में ज्ञान की सचाई का निर्णय स्वतः हो जाता है। और जहां कभी गये आये नहीं, वहाँ के नदी, तालाब आदि स्थानों के अपरिचय को अनभ्यासदशा कहते है, ऐसे स्थानों में दूसरे कारणों से ही प्रमाणता का निर्णय होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रमाणता की उत्पत्ति तो सर्वत्र पर से ही होती है, किंतु प्रमाणता का निश्चय परिचित विषय में स्वतः और अपरिचित विषय में पर से होता है।

प्रमाण का विषय

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥१॥ [प. मु. च. प.]

सामान्य और विशेष स्वरूप, अर्थात् द्रव्य और पर्याय स्वरूप वस्तु प्रमाण का विषय होती है। द्रव्य के बिना पर्याय एवं पर्याय के बिना द्रव्य किसी भी ज्ञान का विषय नहीं होता है किंतु द्रव्य और पर्याय इन उभय रूप पदार्थ ही ज्ञान का विषय होता है। एक-एक को प्रमाण का विषय मानने में अनेकों दोष आ जाते हैं।

वस्तु अनेकान्तात्मक ही है

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ॥२॥ [प. मु. च. प.]

अन्वय-यह वही है ऐसे ज्ञान को अनुवृत्त प्रत्यय कहते हैं तथा व्यावृत्त—यह वह नहीं है ऐसे ज्ञान को व्यावृत्त प्रत्यय कहते हैं। पदार्थों के कार्य को अर्थ क्रिया कहते हैं जैसे घट की अर्थ क्रिया जलाहरण करना है। अर्थ के पूर्व आकार का विनाश और उत्तर आकार का प्रादुर्भाव इन दोनों सहित स्थिति को परिणाम कहते हैं।

एक ही वस्तु अन्वय ज्ञान और व्यावृत्त ज्ञान का विषय होती है इसलिये वस्तु अनेकांतात्मक है तथा एक ही वस्तु में पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकार की प्राप्ति, इन दोनों से सहित स्थिति रूप लक्षण वाले परिणाम से ही अर्थ क्रिया होती है अतः वस्तु अनेकांतात्मक ही है। अनुवृत्त ज्ञान का विषय सामान्य है और व्यावृत्त ज्ञान का विषय विशेष है, अतः सामान्य विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय होता है।

सामान्य के भेद

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥३॥ [प. मु. च. प.]

सामान्य के दो भेद हैं—तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य।

तिर्यक् सामान्य का लक्षण और दृष्टांत

सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुंडादिषु गोत्ववत् ॥४॥ [प. मु. च. प.]

समान परिणमन को तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जैसे—खांडी मुण्डी शवली गायों में गोत्व—यह सदृश परिणमन पाया जाता है।

ऊर्ध्वतासामान्य का स्वरूप और दृष्टांत

परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥५॥ [प. मु. च.प.]

पूर्व और उत्तर पर्याय में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसे स्थास कोश कुशूल आदि पर्यायों में मिट्टी रहती है, यहां यह मिट्टी द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य कही जाती है।

विशेष के भेद

विशेषश्च ॥६॥ पर्याय व्यतिरेकभेदात् ॥७॥ [प. मु. च. प.]

विशेष के भी दो भेद हैं। पर्याय और व्यतिरेक।

पर्याय विशेष का स्वरूप और उदाहरण

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥८॥ [प. मु. च. प.]

एक ही द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं, जैसे आत्मा में हर्ष विषाद आदि।

व्यतिरेक का लक्षण और उदाहरण

अर्थांतरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥९॥ [प. मु. च. प.]

एक पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं, जैसे गो से महिष में एक भिन्न ही परिणमन है।

भावार्थ—इन तिर्यक्-ऊर्ध्वता सामान्य और पर्याय-व्यतिरेक रूप विशेष से सहित-उभयात्मक वस्तु को ही ज्ञान जानता है अतः ज्ञान सामान्य विशेषात्मक वस्तु को ही विषय करता है यह बात स्पष्ट हुई।

प्रमाण का फल

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥१॥ [प. मु. पं. प.]

प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान का अभाव है। तथा परंपरा फल त्याग, ग्रहण और उदासीनता है। प्रमाण के द्वारा पहले अज्ञान का अभाव होता है, पश्चात् त्यागने योग्य वस्तु का त्याग और ग्रहण करने योग्य का ग्रहण एवं इन दोनो से रहित वस्तु में उपेक्षा भाव होता है।

प्रमाण से प्रमाण का फल भिन्न है या अभिन्न ?

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥२॥ [प. मु. प. प.]

वह फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न होता है कथंचित् भिन्न होता है।

प्रमाण से फल अभिन्न कैसे है ?

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपक्षते चेति प्रतीतेः ॥३॥ [प. प. प.]

जो जानता है उसी का अज्ञान दूर होता है, वही किसी वस्तु को छोड़ता या ग्रहण करता है, या मध्यस्थ हो जाता है। इसलिये एक जानने वाले व्यक्ति की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमाण का फल दोनों अभिन्न हैं। तथा प्रमाण और उसके फल की भेद प्रतीति होती है, इसलिये दोनों भिन्न हैं।

उपसंहार—यहां तक प्रमाण का लक्षण, उसके भेद-प्रभेद प्रमाण का विषय और प्रमाण का फल ऐसी चार बातों का स्पष्टतया वर्णन किया गया है। अब आगे अन्यमतावलम्बियों द्वारा मान्य प्रमाण का लक्षण उनके भेद-प्रभेद, विषय और फल में दोष दिखाकर निर्दोष स्याद्वाद सिद्धांत पुष्ट करते हैं।

प्रमाणाभास का वर्णन

बौद्धाभिमत प्रमाण लक्षण का विचार

'अविसंवादिज्ञानं प्रमाणं' [प्रमाणवार्तिक-२-१]

जो ज्ञान अविसंवादी है—विसंवाद रहित है वह प्रमाण है ऐसा बौद्धों का कहना है । किंतु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इसमें असंभव दोष आता है । अर्थात् बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण माने हैं । न्यायविंदु में कहा है "सम्यग्ज्ञान-प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान ।" उनमें प्रत्यक्ष में अविसवादीपना संभव नही है क्योंकि वह निर्विकल्प होने से अपने विषय का निश्चायक नहीं है अतः संशय आदि रूप समारोप का निराकरण नही कर सकता है । तथा अनुमान में भी अविसंवादीपना असंभव है, क्योंकि बौद्धों की मान्यतानुसार वह भी अवास्तविक समान्य को विषय करने वाला है । इस तरह बौद्धो द्वारा मान्य वह प्रमाण का लक्षण असंभव दोष से दूषित होने से सम्यक् लक्षण नहीं है ।

भाट्टों के प्रमाण लक्षण की परीक्षा

"अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम् ।" [शास्त्र दी पु, १२६]

'पहले नहीं जाने हुये यथार्थ अर्थ का निश्चय कराने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । ऐसी भाट्ट-मीमांसकों की मान्यता है । किंतु उनका यह लक्षण अव्याप्त दोष से दूषित है । क्योंकि उन्ही के द्वारा प्रमाण रूप में माने गये धारावाहिक ज्ञान अपूर्वार्थग्राही नहीं है । यदि तुम यह कहो कि धारावाहिक ज्ञान अगले-अगले क्षण से सहित अर्थ को विपय करते है, इसलिये अपूर्वार्थ विषयक ही है । तो यह कथन भी ठीक नही है क्योंकि क्षण अत्यंत सूक्ष्म हैं । इन क्षणों का जानना संभव नहीं है । अतः धारावाहिक ज्ञानों में उक्त लक्षण की व्याप्ति निश्चित है ।

प्रभाकर के प्रमाण लक्षण की समीक्षा

"अनुभूतिः प्रमाणं" [बृहती १-१ ५]

प्रभाकर मतानुयायी "अनुभूति को प्रमाण" कहते हैं, किंतु उनका भी यह लक्षण युक्ति संगत नहीं है । क्योंकि 'अनुभूतिः शब्द को भाव साधन करने पर करण रूप प्रमाण में अव्याप्त रहता है एवं अनुभूति शब्द को करण साधन करने पर भाव रूप प्रमाण में अव्याप्ति दोष आता है । चूंकि करण और भाव दोनों को ही उनके यहां प्रमाण माना गया है । जैसा कि 'शालिकानाथ ने कहा है'—**'यदाभावसाधनं तदा संविदेव प्रमाणं करणसाधनत्वे त्वात्ममनः सन्निकर्षः'** [प्रकरण प० प्रमाण० वा० पृ० ६४]

जब प्रमाण शब्द को 'प्रमितिः प्रमाणं' इस प्रकार भाव साधन किया जाता है उस समय 'ज्ञान' ही प्रमाण होता है । और 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं जिसके द्वारा जाना जाय वह प्रमाण है ऐसा करण साधन करने पर 'आत्मा और मन का सन्निकर्ष, प्रमाण होता है । अतः अनुभूति (अनुभव) को प्रमाण का लक्षण मानने में अव्याप्ति दोष स्पष्ट है । इसलिये यह लक्षण भी सुलक्षण नहीं है ।

नैयायिको के प्रमाण लक्षण की परीक्षा

'प्रमाकरणं प्रमाणं' [न्याय मं० प्रमाण पृ० २५]

प्रमा के प्रति जो करण है वह प्रमाण है। ऐसी नैयायिकों की मान्यता है किंतु उनकी यह मान्यता भी प्रमादकृत ही है। क्योंकि उनके द्वारा प्रमाण रूप से माने गये ईश्वर में ही वह लक्षण अव्याप्त है। कारण, 'महेश्वर' प्रमाण का आश्रय है करण नही है। ईश्वर को प्रमाण मानने का यह कथन हम अपनी ओर से आरोपित नहीं कर रहे हैं किंतु उनके प्रमुख 'आचार्य उदयन' ने स्वयं स्वीकार किया है कि—

तन्मे प्रमाणं शिवः' [न्याय० कु० सु० ४-६]

अर्थात् "वह महेश्वर मेरे प्रमाण है" इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये कोई इस प्रकार व्याख्या करते हैं, कि जो प्रमा का साधन हो अथवा प्रमाण का आश्रय हो वह प्रमाण है।

साधनाश्रययोरन्यतरत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणं [सर्वदर्शनसंग्रह-पृ० २३५]

किंतु उनका यह व्याख्यान भी युक्ति संगत नही है क्योंकि प्रमा के साधन और प्रमा के आश्रय में से किसी एक को प्रमाण मानने पर लक्षण की परस्पर में अव्याप्ति होती है। जब प्रमा के साधन को प्रमाण का लक्षण किया जायेगा तब 'प्रमा के आश्रय रूप' प्रमाण लक्ष्य में लक्षण नही रहेगा और जब 'प्रमा के आश्रय को' प्रमाण का लक्षण माना जायेगा, तब 'प्रमा के साधन रूप' प्रमाण लक्ष्य में लक्षण घटित नही होगा। तथा प्रमाश्रय और प्रमासाधन दोनों को सभी लक्ष्यो का लक्षण माना जाये तो कही भी लक्षण नही जायेगा। सन्निकर्ष आदि केवल प्रमा के आश्रय है प्रमा के साधन नही है क्योकि उसकी प्रमा (ज्ञान) नित्य है। प्रमा का साधन भी हो और प्रमा का आश्रय भी हो ऐसा कोई प्रमाण लक्ष्य नहीं है अतः नैयायिकों का उक्त लक्षण सदोष है।

इस प्रकार से कोई-कोई ज्ञान को अस्वसंविदित—स्व को नहीं जानने वाला कहते है। कोई गृहीत अर्थ के ज्ञान को प्रमाण कहते है, कोई निर्विकल्प दर्शन को प्रमाण कहते है कोई सशय को, कोई विपरीत को, कोई अनध्यवसाय को ही प्रमाण कह देते हैं किंतु ये प्रमाण नही है प्रत्युत प्रमाणाभास ही हैं।

जैनाचार्यों द्वारा मान्य 'सम्यग्ज्ञान' ही प्रमाण है वही हित की प्राप्ति और अहित का परिहार कराने में समर्थ है अन्य नहीं है।

अन्य मतावलंबियो द्वारा मान्य प्रमाण के भेदो का विचार

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकः कारणात्सौगताः पुनः।
अनुमानं च तच्चैव सांख्याः शाब्द च ते अपि ॥१॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केन च।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः ॥२॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
संभवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः ॥३॥

अर्थ—चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं। सौगत प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक भी इन्हीं दो प्रमाणों को मानते हैं। सांख्य प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ऐसे तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक इन्हीं तीन में उपमान को मिलाकर चार मानते हैं। प्रभाकर इन्हीं चार में अर्थापत्ति मिलाकर पांच प्रमाण मानते हैं भाट्ट मीमांसक और वेदांती प्रत्यक्ष अनुमान उपमान आगम, अर्थापत्ति और अभाव ऐसे छः प्रमाण मानते है। पौराणिक इन्ही छः प्रमाणों में सभव और ऐतिह्य मिलाकर आठ प्रमाण मानते हैं।

इनमें से चार्वाक मती एक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही 'परलोकादि का निषेध और पर में बुद्धि है' इत्यादि का विधान भी नहीं कर सकता है क्योंकि अनुमान प्रमाण को माने बिना परलोकादि का निषेध असंभव है।

बौद्ध साख्य आदि भी अनेकों प्रमाण मानकर भी तर्क प्रमाण नहीं मानते हैं अतः इन सभी की मान्य प्रमाण संख्या गलत है क्योंकि तर्क प्रमाण के बिना व्याप्ति का निर्णय न होने से अनुमान का भी अवतार नही हो सकता है।

अतएव जैनाचार्यों द्वारा मान्य प्रमाण के दो भेद ही सुघटित हैं क्योकि प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप इन दो प्रमाणों में सभी प्रमाण शामिल हो जाते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पांच भेद परोक्ष के अंतर्गत होने से सभी व्यवस्था व्यवस्थित हो जाती है।

इस प्रकार से अन्य मतों द्वारा मान्य प्रमाण के भेदों का निराकरण कर दिया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को विशेष न्याय ग्रन्थ देखने चाहिये।

इन प्रमाण के भेदों का लक्षण भी बाधित ही हैं उस पर अब बिचार करते हैं।

बौद्धों द्वारा मान्य प्रत्यक्ष प्रमाण का खंडन

"कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं" [न्याय बिन्दु पृ० ११]

बौद्ध 'कल्पनापोढ—निर्विकल्प और भ्रान्ति रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं।

उनका कहना है कि 'कल्पनापोढ' पद से सविकल्प ज्ञान का और 'अभ्रान्त' पद से मिथ्याज्ञानों का निराकरण होता है। क्योंकि उनके यहां जो समीचीन निर्विकल्प ज्ञान है वही प्रत्यक्ष है।

किंतु इस पर जैनाचार्यों का यह कहना है कि निर्विकल्प ज्ञान संशय, विपर्यय अनध्यवसाय रूप समारोप का निराकरण करने वाला नहीं है, और किसी भी वस्तु का निश्चय कराने वाला भी नहीं है अतः वह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।

बौद्ध—निर्विकल्प ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है और पुनः उसी अर्थ को प्रकाशित करता है अतः प्रमाण है क्योंकि स्वलक्षण जन्य है वास्तविक है। किंतु सविकल्प ज्ञान ऐसा नहीं है।

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥ [प. मु. द्वि. प.]

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥८॥ [प. मु. द्वि. प.]

जैन—पदार्थ और प्रकाश ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं हैं क्योंकि वे विषय हैं जैसे अंधकार। ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न न होकर भी उस पदार्थ को प्रकाशित कर देता है जैसे कि दीपक अर्थ—घट, पट आदि से उत्पन्न न होकर भी उनको प्रकाशित कर देता है।

बौद्धों की यह मान्यता है कि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होकर उसके आकार होकर के ही उस अर्थ को जानता है अन्यथा उस-उस पदार्थ की व्यवस्था कैसे करेगा ?

किंतु जैनाचार्यों का कहना है कि ज्ञान न तो अर्थ से उत्पन्न ही होता है न अर्थ के आकार का ही होता है फिर भी उसे जान लेता है क्योंकि पदार्थ के साथ ज्ञान का कोई अन्वय व्यतिरेक नहीं है, कि जहां पर पदार्थ होवें, वहीं पर ज्ञान होवे और पदार्थ के अभाव में ज्ञान का अभाव रहे। अतः ज्ञान तो आत्मा का गुण है—

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥६॥ [प. मु द्वि. प.]

अपने-अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम विशेष रूप—योग्यता से ही ज्ञान 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार से पदार्थों की भिन्न-भिन्न व्यवस्था कर देता है। अतः योग्यता ही वस्तु की व्यवस्था करने में कारण है। जिस ज्ञान में जिस अर्थ को ग्रहण करने की योग्यता है वह ज्ञान उस ही अर्थ को विषय करता है अन्य को नहीं। ज्ञान अर्थ के आकार होकर ही अर्थ को जानता है यह भी गलत है क्योंकि दीपक घट पट के आकार को न धर कर भी उन्हें प्रकाशित कर देता है। अतः बौद्धों द्वारा मान्य **तदुत्पत्ति तदाकार** और **तदध्यवसाय** का खंडन हो जाता है।

बौद्धों ने सविकल्प ज्ञान को अवास्तविक माना है क्योंकि वह परमार्थभूत सामान्य को विषय करता है। आचार्यों का कहना है कि यह भी गलत है चूंकि प्रमाण से बाधित न होने के कारण सविकल्प ज्ञान का विषय परमार्थ ही है। किंतु बौद्धों द्वारा मान्य वास्तविक स्वलक्षण-एक क्षणवर्ती पर्यायभूत वस्तु दिखती ही नहीं है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण निर्विकल्प नहीं है सविकल्प ही है।

यौगाभिमत सन्निकर्ष का खंडन

इंद्रियार्थयोः संबंधः सन्निकर्षः

इंद्रिय और अर्थ का संबंध होना सन्निकर्ष कहलाता है।

सन्निकर्षस्य च यौगाभ्युपगतस्याचेतनत्वात् कुतः प्रमितिकरणत्वं कुतस्तरां प्रमाणत्वं, कुतस्तमां प्रत्यक्षत्वम् ? [न्या० पृ० २६]

अर्थ—नैयायिक और वैशेषिक सन्निकर्ष (इन्द्रिय और पदार्थ के संबंध) को प्रत्यक्ष मानते हैं। पर वह ठीक नहीं है, क्योंकि सन्निकर्ष अचेतन है। वह ज्ञान के प्रति करण कैसे हो सकता है ? और ज्ञान के प्रति जब करण नहीं, तब प्रमाण कैसे ? और जब प्रमाण ही नहीं, तो प्रत्यक्ष कैसे ?

दूसरी बात यह है कि चक्षु इन्द्रिय और मन ये दोनों पदार्थों का स्पर्श किये बिना ही पदार्थों का करा ज्ञान देते हैं इसलिये सन्निकर्ष प्रमाण मानना गलत है। इस पर वैशेषिक कहता है कि 'चक्षु इंद्रिय पदार्थों का स्पर्श करके ही प्रकाशित करती है, क्योंकि वह बाह्य इन्द्रिय है, जो बहिरिंद्रिय होती हैं वे पदार्थों का स्पर्श करके ही प्रकाशित करती हैं जैसे - स्पर्शन इन्द्रिय।' इस अनुमान से चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी है और वह प्राप्यकारिता ही सन्निकर्ष है। इसलिये **सन्निकर्ष ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है**। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि यह अनुमान सम्यक् नहीं है।

इस अनुमान में 'चक्षु' पद से कौन-सी चक्षु को पक्ष बनाया है ! लौकिक-गोलक रूप चक्षु को या अलौकिक-किरण रूप चक्षु को ? पहले पक्ष में हेतु बाधित विषय नाम का हेत्वाभास है। क्योंकि गोलक-रूप चक्षु विषय के पास जाती हुई किसी को अनुभव में नही आती है उसका अग्नि आदि के पास जाकर छूकर उसको जानना प्रत्यक्ष से बाधित है।

दूसरा पक्ष लेवो तो भी—किरण रूप आलौकिक चक्षु अभी तक सिद्ध ही नहीं है। यदि कहो कि चक्षु की तेजस किरणे निकल कर बाहर जाकर पदार्थो को छूती है तब ज्ञान होता है तब तो बड़ा ही अनर्थ होगा—किरणे अग्नि के पास जाकर छूकर जानते समय जल जायेगी, पानी को जानते समय गीली हो जायेगी इत्यादि बड़े ही अनर्थ हो जावेगे अत: चक्षु का छूकर जानना गलत है। एक ही समय में वृक्ष की शाखा और आकाश के चन्द्रमा का अवलोकन हो जाता है यदि चक्षु जाकर छूकर जानती है तो पहले निकटवर्ती शाखा का ज्ञान होना चाहिए पुनः बहुत दूरवर्ती चन्द्रमा का ज्ञान होना चाहिए था, किन्तु ऐसा है नहीं। अतः चक्षु अप्राप्यकारी सिद्ध है। एव सन्निकर्ष प्रमाण मानने वालों के यहा सर्वज्ञ का भी अभाव हो जाता है क्योकि इन्द्रिय ज्ञान से कोई भी भूत, भविष्यत् वर्तमान ऐसे त्रैकालिक पदार्थो को नही जान सकता है।

अत: बौद्धाभिमत निर्विकल्प एव योगाभिमत सन्निकर्ष ज्ञान प्रमाण नहीं है।

जैनाचार्य द्वारा मान्य 'विशद प्रत्यक्ष' यह प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण ही सुसगत है ऐसा समझना चाहिये।

जो ज्ञान प्रत्यक्ष आदि के सदृश मालूम पड़ें या कहे जावे किन्तु प्रत्यक्ष आदि रूप न होवें वे ज्ञान ज्ञानाभास कहलाते है ऐसे ही सभी में आभास को लगाकर सभी को समझ लेना।

प्रत्यक्ष प्रमाणाभास का लक्षण

अवैशद्येऽपि प्रत्यक्षं तदाभासं, बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनात् वह्निविज्ञानवत् ॥६॥ (परीक्षा. ६)

अविशद ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है जैसे बौद्ध अकस्मात् धूम को देखकर अग्नि के ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं।

परोक्षाभास का स्वरूप

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥७॥ (परीक्षा० ६)

स्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहना परोक्षाभास है, जैसे मीमांसक करणज्ञान को परोक्ष मानता है। वास्तव में करण ज्ञान प्रत्यक्ष है। उसको परोक्ष मानना परोक्षाभास है।

स्मरणाभास का लक्षण

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते सः देवदत्तो यथा ।।८।। [परी० ६]

जिस पदार्थ को पहले कभी धारणारूप अनुभव नहीं हुआ था उसके अनुभव को स्मरणाभास कहते हैं। अथवा जो वस्तु 'वह' नही है उसे 'वह' कहकर स्मरण करना स्मरणाभास है जैसे जिनदत्त का स्मरण करके कहना कि वह देवदत्त।

प्रत्यभिज्ञानाभास का स्वरूप

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ।।९।। [परी० ६]

सदृश मे 'यह वही है' ऐसा ज्ञान तथा उसी में यह उसके सदृश है ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास है, जैसे एक साथ जन्मे दो बालकों में उल्टा ज्ञान हो जाता है।

तर्काभास का लक्षण

असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासं ।।१०। [परी० ६]

अविनाभाव रहित ज्ञान में अविनाभाव का ज्ञान या जिन पदार्थों में परस्पर में व्याप्ति नहीं है, उनमें व्याप्ति का ज्ञान होना तर्काभास है जैसे किसी के एक पुत्र को काला देखकर व्याप्ति बनाना कि इसके जितने पुत्र होगे वे काले ही होंगे इत्यादि ज्ञान तर्काभास है।

अनुमानाभास का लक्षण

इदमनुमानाभासं, ।।११।। तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ।।१२।। [परी० ६]

अनुमान के अवयवो का आभास दिखलाने से अनुमानाभास सिद्ध हो जावेगा।

अनिष्ट, बाधित और सिद्ध को पक्षाभास कहते है। अर्थात् साध्य के तीन विशेषण थे इष्ट, अबाधित और असिद्ध। इनके उल्टे पक्षाभास बन जाते है। क्योंकि साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान का नाम ही अनुमान है आगे क्रमशः साधनाभासों को भी स्पष्ट करेंगे।

अनिष्ट—जो अपने को इष्ट नही है उसे साध्य की कोटि में रखना।

बाधित—जो प्रत्यक्ष आदि से बाधित हो उसे साध्य की कोटि में रखना।

सिद्ध—सिद्ध को सिद्ध करने का प्रयास करना। इसमें बाधित पक्षाभास के पांच भेद माने गये हैं।

बाधित के भेद

बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ।।१५।। [परी० ६]

बाधित पक्षाभास के पांच भेद हैं। प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, आगमबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित।

प्रत्यक्षबाधित का दृष्टान्त

तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा, अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ॥१६॥ [परी० ६]

अग्नि ठंडी होती है, क्योंकि वह द्रव्य है जैसे जल। यहाँ अग्नि को ठंडी कहना स्पर्शन इन्द्रिय के प्रत्यक्ष से बाधित है क्योंकि छूने से अग्नि गरम होती है।

अनुमान बाधित

अपरिणामी शब्द. कृतकत्वात् घटवत् ॥१७॥ [परी० ६]

"शब्द नित्य होता है क्योंकि किया हुआ है जैसे घट"। यह अनुमान बाधित पक्ष है क्योंकि ऐसा भी अनुमान कहा भी जा सकता है कि "शब्द अनित्य होता है क्योंकि वह किया गया होता है जैसे घट।" इस अनुमान से बाधा आ जाती है।

आगम बाधित

प्रेत्यासुखप्रदो धमः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ॥१८॥ [परी. ६]

धर्म परलोक में दुःखदायी होता है क्योकि वह पुरुष के आश्रित होता है। जो-जो पुरुष के आश्रित होता है वह दुःखदायी होता है जैसे अधर्म। यह पक्ष आगम से बाधित है क्योकि आगम में धर्म को सुखदायी माना है और अधर्म को दुःखदायी कहा है। यद्यपि दोनों ही पुरुष के आश्रित है फिर भी भिन्न स्वभाव वाले हैं।

लोक बाधित

शुचि नरशिरः कपालं प्राण्यंगत्वाच्छंखशुक्तिवत् ॥१९॥ [परी. ६]

मनुष्य के शिर का कपाल पवित्र होना है क्योंकि वह प्राणी का अग है। जो-जो प्राणी का अग होता है वह-वह पवित्र होता है जैसे शख और सीप। यह पक्ष लोक बाधित है क्योंकि लोक में प्राणी का अग होते हुये भी कोई चीजे पवित्र, और कोई अपवित्र मानी गई है।

स्ववचन बाधित पक्षाभास का उदाहरण

माता मे वंध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धवंध्यावत् ॥२०॥ [परी ६]

मेरी माता वध्या है क्योंकि पुरुष का सयोग होने पर भी उसके गर्भ नही रहता है, जैसे कि प्रसिद्ध वंध्या स्त्री। यह पक्ष अपने ही वचनों से बाधित है क्योंकि स्वय पुत्र मौजूद है और माता भी कह रहा है फिर भी 'मेरी माता वध्या है' यह कथन स्ववचन बाधित है।

इन पाँच प्रकार से बाधित विषयो को पक्ष की कोटि में रखना बाधित पक्षाभास दोष है।

अब साधन के आभासों को कहते हैं--

हेत्वाभास के भेद

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ॥२१॥ [परी. ६]

हेत्वाभास के चार भेद हैं। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक और अकिंचित्कर।

असिद्ध हेत्वाभास

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ।।२२।। [परी. ६]

जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। इसके स्वरूपासिद्ध, और संदिग्धासिद्ध ऐसे दो भेद है।

विरुद्ध हेत्वाभास

विपरीतनिश्चताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।।२९।। [परी. ६]

साध्य से विपरीत-विपक्ष के साथ जिस हेतु का रहना हो वह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है जैसे "शब्द नित्य हैं क्योंकि किये हुये है" यहा यह कृतकत्व हेतु नित्य से विरुद्ध अनित्य में रहता है। अतः विरुद्ध हेतु है।

अनैकातिक हेत्वाभास

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।।३०।। [परी ६]

जो पक्ष सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष मे भी चला जाता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। इसे व्यभिचारी हेतु भी कहते हैं। इसके शकित विपक्षवृत्ति और निश्चितविपक्षवृति ऐसे दो भेद है।

शकितविपक्षवृत्ति—'नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्' सर्वज्ञ नही है क्योकि वह वक्ता है। यहां 'वक्ता है' यह हेतु रह जावे और सर्वज्ञत्व भी रह जावे इन दोनो बातों में कोई विरोध नही है अतः यह हेतु शंकित व्यभिचारी है क्योंकि इसकी विपक्ष में रहने में शका है।

निश्चितविपक्षवृति—"शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट" यहा प्रमेयत्व हेतु पक्ष शब्द में और सपक्ष घट में रहता हुआ विपक्ष रूप नित्य आकाश मे भी चला जाता है अतः निश्चित व्यभिचारी हेतु है।

अकिंचित्कर हेत्वाभास

सिद्धे प्रत्यक्षबाधिते च साध्ये हेतुरकिंचित्करः ।।३५।। [परी. ६]

साध्य के सिद्ध होने पर तथा प्रत्यक्षादि से वाधित होने पर जो हेतु कुछ नहीं कर सकता है, इसलिए वह अकिंचित्कर हेत्वाभास कहलाता है। जैसे 'शब्द श्रवण इन्द्रिय का विषय है क्योकि वह शब्द है'। यहां शब्दत्व हेतु सिद्ध को ही सिद्ध कर रहा है। अथवा "अग्नि ठण्डी है क्योकि वह द्रव्य है" इसमें द्रव्यत्व हेतु प्रत्यक्ष से ही बाधित है। अतः ऐसे हेतु अकिंचित्कर होते है। ऐसे ही अन्वय, व्यतिरेक दृष्टान्तों का विपरीत प्रयोग करना दृष्टान्ताभास कहलाता है। अन्वय दृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं। साध्य विकल, साधनविकल और उभयविकल। तीनों का उदाहरण—"शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त है, जैसे इन्द्रिय सुख, परमाणु और घट"।

यहाँ दृष्टांत में इन्द्रिय सुख पुरुषकृत् है अतः अपने अपौरुषेय साध्य में न रहने से 'साध्य विकल' है। परमाणु मूर्तिक है, वह अमूर्तिक हेतु में नही रहता है अतः यह दृष्टांत 'साधन विकल' है।

घट पुरुषकृत और मूर्तिक है। वह अपौरुषेय साध्य और अमूर्तिक हेतु में नहीं रहता है अतः यह साध्य-साधन विकल' दृष्टांत है।

व्यतिरेक दृष्टांताभास के भी तीन भेद हैं—

"शब्द अपौरुषेय होता है क्योंकि वह अमूर्त है, जो-जो पौरुषेय होता है वह अमूर्तिक नही होता है, जैसे परमाणु, इंद्रियसुख और आकाश।"

यहां परमाणु असिद्धसाध्य व्यतिरेक है, क्योंकि वह अपौरुषेय है। इसलिये परमाणु के अपौरुषेयपना का साध्य से व्यतिरेक नहीं हुआ। ऐसे ही इन्द्रियसुख असिद्ध साधन व्यतिरेक है। एवं आकाश असिद्ध साध्य-साधन व्यतिरेक है।

बाल प्रयोगाभास का लक्षण

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन बालकों को बोध कराने के लिये शास्त्र में अनुमान के ये पांच अवयव माने गये हैं। इनमें से कुछ कम अवयवों का प्रयोग करना गलत है। अतः बाल प्रयोगाभास कहलाता है।

आगमाभास का लक्षण

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासं ॥५१॥ [परी. ६]

रागी, द्वेषी, अज्ञानी, मोही पुरुषों के वचनो से होने वाले आगम--शास्त्र को आगमाभास कहते हैं।

आगमाभास के उदाहरण

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ॥५२॥ अंगुल्यग्रे यूथशत मास्त इति च ॥५३॥ विसवादात् ॥५४॥ [परी. ६]

जैसे कि—हे बालकों! दौड़ो, नदी के किनारे लड्डुओ के ढेर लगे है ऐसे वचन आगमाभास हैं। अथवा अंगुलि के अग्रभाग पर सौ हाथी ठहरे है यह भी अनाप्त वचन है इन सब में विसवाद देखा जाता है अतः ये सब आगमाभास है।

उपसंहार—जो प्रमाण न होवे और प्रमाण सदृश मालूम पड़े या अन्य लोग जिन्हें प्रमाण मानने लग जावें वे सब प्रमाणाभास कहलाते हैं। यहां तक अन्य लोगों के द्वारा मान्य प्रमाणाभास, प्रत्यक्ष प्रमाणाभास, परोक्ष प्रमाणाभासों का लक्षण बतलाया है। परोक्ष प्रमाण के भेद प्रभेदों का भी गलत लक्षण होने से वे सब उन-उन नाम से प्रमाणाभास बन जाते हैं। अतः स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास, अनुमानाभास और आगमाभास ऐसे पांच परोक्षाभास के भेद होते हैं। उसमें भी अनुमान के पक्ष और हेतु की अपेक्षा दो भेद होने से पक्षाभास, हेत्वाभास ऐसे दो भेद सिद्ध हैं। पुनः पक्षाभास के अनिष्ट,बाधित, और सिद्ध ये तीन भेद करके बाधित पक्षाभास के प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचन से पांच

भेद होते हैं। पुनः हेत्वाभास के असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक और अकिंचित्कर ऐसे चार भेदों का वर्णन किया है। ऐसे ही चार्वाक द्वारा मान्य प्रमाण की एक संख्या, बौद्ध द्वारा मान्य प्रमाण की दो संख्या, इत्यादि सब प्रमाण सख्याभास कहलाते हैं। आगे प्रमाण का विषय और उसके फल में गलत कल्पना का नाम भी आभास है उसे बताते हैं।

प्रमाण के विषयाभास का लक्षण

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतंत्रं ।।६१।। [परी. ६]

केवल एक सामान्य को ही ज्ञान का विषय मानना या केवल विशेष को ही मानना अथवा दोनों रूप पदार्थ को ही स्वतंत्रता से प्रमाण का विषय मानना विषयाभास है।

प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही है यह बात पहले कही जा चुकी है। एव प्रत्येक ज्ञान भी उभयात्मक वस्तु को ही जानता है तभी वह प्रमाण कहलाता है अन्यथा अप्रमाण कहलाता है। साख्य पर्याय रहित केवल द्रव्य-सामान्य को ही ज्ञान का विषय कहता है। बौद्ध द्रव्यांशरहित केवलपर्याय-विशेष को ही ज्ञान का विषय कहता है एव नैयायिक व वैशेषिक सामान्य-विशेष स्वरूप पदार्थ को मानकर भी सामान्य और विशेष को एक दूसरे कीसहायता से रहित स्वतत्रता से प्रमाण का विषय मानते हैं, इसलिये वे सब विषयाभास है क्योंकि प्रमाण का विषय परस्पर सापेक्ष उभयात्मक है।

प्रमाण के फलाभास का वर्णन

फलाभासः प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ।।६६।। [परी. ६]

प्रमाण से उसके अज्ञान निवृत्ति आदि फल को सर्वथा भिन्न ही मानना या सर्वथा अभिन्न ही मानना प्रमाण फलाभास है। क्योंकि कथंचित् जिसके ज्ञान प्रकट होता है उसी को अज्ञान का अभाव, त्याग आदि फल मिलते हैं तथा कथंचित् ये फल नाम, लक्षण आदि से भिन्न भी है। अतः एकात मान्यता ही आभास कहलाती है।

उपसहार—यहाँ तक प्रमाणस्वरूपाभास, प्रमाणसंख्याभास, प्रमाणविषयाभास और प्रमाणफलाभास का वर्णन हुआ है। अब आगे न्यायदीपिकाकार ने इन विषयों में कुछ विशेषतायें बताई हैं उनका स्पष्टीकरण करते है।

परोक्ष प्रमाण

अस्पष्ट प्रतिभास को परोक्ष प्रमाण कहते है। इसके पाच भेद हैं स्मृति आदि।

स्मृति का लक्षण

तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषया स्मृतिः स देवदत्तो यथा। [न्या. दी. पृ. ५३]

'वह' इस आकार वाला, पहले अनुभव किये गये वस्तु को विषय करने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है, जैसे वह देवदत्त। इस ज्ञान को उत्पन्न करने वाला अनुभव धारणा रूप कारण से ही होता है, क्योंकि

पदार्थ में अवग्रहादि ज्ञान हो जाने पर भी धारणा के अभाव में स्मृति उत्पन्न नही होती है। धारणा ज्ञान ही आत्मा में उस प्रकार का सस्कार पैदा कर देता है। जिससे वह कालान्तर में भी उस अनुभूत विषय का स्मरण करा देता है।

शका—यदि धारणा के द्वारा ग्रहण किये गये विषय में ही स्मरण होता है तो वह गृहीत-ग्राही होने से अप्रमाण हो जावेगा ?

समाधान—नही। ईहा आदि की तरह स्मरण में भी विषय भेद मौजूद है जिस प्रकार अवग्रह आदि के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थ को विषय करने वाले ईहादि ज्ञानों में विषय भेद माना गया है वैसा ही यहां समझना। देखिये ! यहा धारणा का विषय "इदता—यह" शब्द के प्रयोग पूर्वक जाना जाता है एवं स्मृति का विषय "तत्ता—वह" इस शब्द से निर्दिष्ट होता है। अतः स्मृति ज्ञान भी विसंवाद रहित होने से प्रमाण है।

धारावाहिक ज्ञान का लक्षण

एक ही घट में घट विषयक अज्ञान को दूर करने लिए होने वाले घट ज्ञान से घट का ठीक से बोध हो गया है फिर भी 'यह घट है, यह घट है, यह घट है' इस प्रकार उत्पन्न हुये ज्ञान धारावाहिक ज्ञान हैं ये ज्ञान अज्ञान को दूर करने में साधकतम नहीं हैं क्योंकि पहले 'यह घट है' इस ज्ञान से ही अज्ञान दूर हो चुका है. अतः गृहीत को ही ग्रहण करने वाला होने से यह ज्ञान अप्रमाण है।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण

अनुभव और स्मरण पूर्वक होने वाले जोड़ रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते है। [न्याय दी पृ ५६]

अन्य वैशेषिक आदि 'एकत्व प्रत्यभिज्ञान' को स्वीकार करके भी उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करते हैं। उनका कहना है कि जो इन्द्रियो के होने पर होता है और नहीं होने पर नही होता है वह प्रत्यक्ष है, एवं इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक रखने वाला यह प्रत्यभिज्ञान है अतः प्रत्यक्ष में ही गर्भित है। किंतु जैनाचार्यों का कहना है कि इन्द्रियां वर्तमानकालीन विषय को ही ग्रहण करती है, वर्तमान और भूतकाल की अवस्था के एकत्व को विषय नही कर सकती है। उसका कहना है कि इन्द्रियां सहकारी कारणों की सहायता से वर्तमान और भूत मे रहने वाले एकत्व को जान लेगी किन्तु आचार्यों का कहना है कि चाहे जितने सहकारी कारण मिल जावें, इन्द्रियां अविषय में प्रवृति नहीं कर सकती हैं। अजन से सस्कृत चक्षु सुनने का काम नही कर सकती है, देखने मे ही विशेषता ला सकती है। अतः एकत्व प्रत्यभिज्ञान पृथक् प्रमाण सिद्ध है।

नैयायिक और मीमांसक 'सादृश्य प्रत्यभिज्ञान' को उपमान नाम से पृथक् प्रमाण सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु यह भी ठीक नही है क्योंकि स्मृति और अनुभव के जोड़ रूप ज्ञानों को सर्वत्र प्रत्यभिज्ञान ही समझना चाहिये अन्यथा विसदृश प्रत्यभिज्ञान को भी एक पृथक् प्रमाण कल्पित करना पड़ेगा।

तर्क प्रमाण

व्याप्तिज्ञानं तर्कः । यत्र यत्र धूमत्वं तत्र तत्राग्निमत्वमिति । [न्या. ६२]

व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते है । जहां-जहा धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है । यह तर्क ज्ञान का उदाहरण है ।

कोई कहते हैं कि प्रत्यक्ष विशेष के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है अतः 'तर्क प्रमाण' को पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और अनेकों बार का हुआ प्रत्यक्ष ये तीनों मिलकर एक ऐसे ही ज्ञान को उत्पन्न करते हैं जो व्याप्ति को ग्रहण करने मे समर्थ होता है, वही तर्क है । इस तर्क का विषय, प्रत्यक्ष अनुमान आदि के द्वारा असंभव है । बौद्धों का कहना है कि—

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अनन्तर जो विकल्प उत्पन्न होता है वह व्याप्ति को ग्रहण करता है । किंतु यह भी गलत है हम आप बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि वह विकल्प प्रमाण है या अप्रमाण ? यदि अप्रमाण है तो उसके द्वारा ग्रहीत व्याप्ति में प्रमाणता कैसे ? यदि प्रमाण है तो वह प्रत्यक्ष है या अनुमान ? प्रत्यक्ष तो हो नही सकता, क्योंकि वह अस्पष्ट ज्ञान है । अनुमान कहो तो भी ठीक नही, क्योंकि उसमें हेतु दर्शन आदि की अपेक्षा नहीं है । इसलिए इन दोनों से भिन्न हो कोई प्रमाण है । और वही तो तर्क है । आपने उसका 'विकल्प' यह दूसरा नाम रख दिया है ।

अनुमान का लक्षण

'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं ।' [न्या. पृ ६५]

साधन से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहते है ।

नैयायिक—**'लिंगपरामर्शोनुमान'** [न्या. वा. १-१-५]

लिंग को देखने रूप ज्ञान अनुमान है ।

जैन—यह लक्षण ठीक नही है । क्योंकि व्याप्ति स्मरण से सहित लिंग ज्ञान अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में कारण है । अनुमान के दो भेद हैं–स्वार्थानुमान और परार्थानुमान ।

स्वार्थानुमान के अवयव

स्वार्थानुमान के तीन अंग हैं—धर्मी. साध्य और हेतु ।

धर्मी—साध्य धर्म के आधार को धर्मी कहते हैं । जैसे अग्निमान् पर्वत ।

साध्य—हेतु के द्वारा जो जाना जाय वह साध्य है । जैसे अग्नि ।

हेतु—जो साध्य का ज्ञापक होता है । जैसे धूम दर्शन । ये तीनों ही अनुमान के अंग हैं ।

अथवा स्वार्थानुमान के दो अंग भी माने जाते हैं—पक्ष और हेतु ।

पक्ष—साध्य धर्म से युक्त धर्मी को पक्ष कहते हैं। जैसे 'यह पर्वत अग्नि वाला है' पक्ष को ही 'प्रतिज्ञा' कहते हैं। यथा—

"धर्मधर्मिसमुदायरूपस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा यथा पर्वतोऽयमग्निमान्"। [न्याय. ७६]

धर्म और धर्मी के समुदाय रूप पक्ष के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे 'यह पर्वत अग्नि वाला है'।

जब धर्म और धर्मी में भेद कथन की विवक्षा है तब तीन अंग होते है। जब धर्म-धर्मी के समुदाय की विवक्षा है तब दो अंग माने जाते हैं। यह धर्मी प्रसिद्ध ही होता है।

परार्थानुमान

दूसरे के उपदेश की सहायता से जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है। नैयायिक कहता है कि परोपदेश वाक्य ही परार्थानुमान हैं किंतु जैनाचार्य वचनो को उपचार से ही प्रमाण मानते हैं, वास्तव में नही। अतः मुख्य अनुमान तो ज्ञान ही है न कि ज्ञान के कारण वचन। इस परार्थानुमान के भी स्वार्थानुमान की तरह दो या तीन अंग माने गये हैं।

नैयायिक द्वारा मान्य अनुमान के पांच अवयव

"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा." [न्या सूत्र० १-१-३२]

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये अनुमान के पाच अवयव है।

पक्ष के प्रयोग को प्रतिज्ञा कहते हैं।

पंचमी विभक्ति रूप लिग को हेतु कहते हैं।

व्याप्ति को दिखलाते हुये दृष्टांत के कहने को उदाहरण कहते हैं।

दृष्टांत की अपेक्षा लेकर पक्ष में हेतु के दुहराने को उपनय कहते हैं।

हेतु पुरस्सर पक्ष के कहने को निगमन कहते है। इनके उदाहरण—

'यह पर्वत अग्नि वाला है'—प्रतिज्ञा

'क्योंकि धूम वाला है।'—हेतु

जैसे रसोईघर—अन्वय दृष्टांत। जैसे तालाव—व्यतिरेक दृष्टात।

इसीलिये यह पर्वत धूम वाला है—उपनय।

धूम वाला होने से यह अग्नि वाला है—निगमन।

अनुमान प्रयोग पद्धति—

"यह पर्वत अग्नि वाला है, क्योंकि धूमवाला है। जो-जो धूम वाला होता है वह वह-वह अग्नि वाला होता है, जैसे रसोईघर। जो-जो अग्नि वाला नही होता है, वह-वह धूम वाला नहीं होता है जैसे तालाब। इसीलिये यह पर्वत धूम वाला है। धूमवाला होने से यह अग्नि वाला है।"

ये पांचो अवयव अनुमान प्रयोग के हैं इनमें से यदि एक भी न हो तो अनुमान प्रयोग गलत है। यहां तक नैयायिक ने कहा है।

जैनाचार्य कहते हैं कि उनका यह विचार गलत है क्योंकि वीतराग कथा में शिष्यों के अभिप्राय से अधिक भी अवयव माने जाते है किंतु विजिगीषु कथा में प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव कहे जाते हैं।

विजिगीषु कथा

वादी और प्रतिवादी में अपने पक्ष को स्थापित करने के लिए जीत हार होने तक जो परस्पर में चर्चा होती है वह विजिगीषु कथा है, उसे वाद भी कहते है। [न्याय. पृ. ७९]

वीतराग कथा

गुरु तथा शिष्यों या रागद्वेष रहित विद्वानों में जो तत्त्व का निर्णय होने तक वचन प्रवृत्ति-चर्चा होती है वह वीतराग कथा कहलाती है। यह सौम्यचर्चा है। [न्याय. ८०]

बौद्ध—लिग वचन रूप एक हेतु का ही वादकाल में प्रयोग करना चाहिए, प्रतिज्ञा का प्रयोग अनावश्यक है।

जैन—यह कथन ठीक नही है, क्योकि हेतु के प्रयोग से व्युत्पन्न जनों को भी साध्य के संदेह का निवारण नही हो सकेगा, अतः प्रतिज्ञा का प्रयोग अवश्य करना चाहिये। जैन सिद्धान्तानुसार वीतराग कथा में शिष्यों के आशयानुसार प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इनमें से दो, तीन, चार या पांचों का भी प्रयोग कर सकते हैं। कोई बाधा नही है किन्तु वाद काल में मात्र प्रतिज्ञा हेतु इन दो अवयवी अनुमान ही बोलना चाहिए, यह बात सिद्ध हुई।

जैन हेतु का एक अविनाभाव लक्षण ही मानते है बौद्ध हेतु का त्रैरूप्य एवं नैयायिक पांच रूप वाला मानते हैं। अब उनका निराकरण करते है।

बौद्ध के त्रैरूप्य हेतु का निराकरण

"**पक्षधर्मत्वादित्रितयलक्षणाल्लिगादनुमोत्थानम्**"। [न्या. पृ. ८३]

पक्षधर्मत्व आदि तीन लक्षण वाले हेतु से अनुमान की उत्पति होती है, ऐसा बौद्ध का कहना है। उसका स्पष्टीकरण—

पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति ये तीन रूप हेतु के लक्षण है।

पक्ष धर्मत्व—साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं जैसे अग्नि के अनुमान में पर्वत पक्ष है, उस पक्ष में व्याप्त होकर हेतु का रहना 'पक्षधर्मत्व' है।

सपक्ष सत्त्व—साध्य के समान धर्म वाले धर्मी को सपक्ष कहते हैं जैसे अग्नि के अनुमान में 'रसोई-घर' सपक्ष है। उस सपक्ष में सब जगह हेतु का रहना 'सपक्ष सत्व' है।

विपक्षव्यावृत्ति—साध्य से विरोधी धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते हैं। जैसे—अग्नि के अनुमान में तालाब 'विपक्ष' है उन सभी विपक्षों में हेतु का न रहना 'विपक्ष व्यावृत्ति' है।

ये तीनों रूप मिलकर हेतु का लक्षण है। यदि इन तीनों में से एक रूप भी न हो तो हेतु हेत्वाभास बन जाता है। यहाँ तक बौद्ध का पक्ष है। अब जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं।

जैन—यह बौद्ध का कथन ठीक नही है क्योंकि पक्ष धर्मत्व के बिना भी कृतिकोदयादि हेतु शकटोदयादि साध्य को सिद्ध कर देते हैं। तथाहि—"शकट मुहूर्तांते उदेष्यति कृत्तिकोदयादिति" रोहिणी नक्षत्र का एक मुहुर्त के बाद उदय होगा क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है। इस अनुमान में 'रोहिणी नक्षत्र' धर्मी पक्ष है। 'एक मुहूर्त के बाद उदय' साध्य है और 'कृत्तिका नक्षत्र का उदय' हेतु है, किंतु यह "कृतिकोदयात्" हेतु अपने पक्ष भूत 'रोहिणी' नक्षत्र में नहीं रहता है। इसलिए इस हेतु में 'पक्षधर्मत्व' नहीं है फिर भी इसमें 'अन्यथानुपपत्ति' मौजूद है। अतः यह हेतु अपने साध्य को सिद्ध कर देता है। इसलिए बौद्धों के द्वारा मान्य हेतु का त्रैरूप्य लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है।

नैयायिक सम्मत पांचरूप्य हेतु का कथन

नैयायिक पंचरूपता को हेतु का लक्षण कहते हैं। उसका स्पष्टीकरण—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। उनमें से प्रथम तीन रूप के लक्षण कहे जा चुके हैं। शेष दो का लक्षण अबाधितविषयत्व—साध्य के अभाव को निश्चय कराने वाले बलिष्ठ प्रमाणों का न होना 'अबाधित विषयत्व है। असत्प्रतिक्षत्व—साध्य के अभाव को निश्चय कराने वाले समान बल वाले प्रमाणों का न होना 'असत्प्रतिपक्षत्व' है। उदाहरण द्वारा देखिये—"यह पर्वत अग्नि वाला है क्योंकि धूमवाला है, जो-जो धूम वाला होता है वह वह अग्नि वाला होता है, जैसे रसोई घर। जो जो अग्नि वाला नही होता है वह वह धूम वाला नही होता है, जैसे तालाब। चूंकि यह धूम वाला है, इसलिए अग्नि वाला जरूर ही है।" इन पांच अवयव रूप अनुमान प्रयोग में 'धूमत्वात्' हेतु हैं उसमें पक्षधर्मता है क्योंकि वह पक्षभूत पर्वत में रहता हैं।

सपक्षसत्त्व भी है, क्योकि सपक्षभूत रसोई घर में रहता है। विपक्षव्यावृत्ति भी है, क्योकि धूम हेतु तालाब आदि विपक्षों में नही है। अबाधित विषयत्व भी है, क्योंकि धूम हेतु का जो अग्नि रूप साध्य विषय है वह प्रत्यक्ष आदि से बाधित नहीं है। असत्प्रतिपक्षत्व भी है, क्योंकि अग्नि के अभाव का साधक तुल्यबल वाला कोई प्रमाण नही है। इन पाँचों रूप सहित ही धूम हेतु अपने अग्नि रूप साध्य का ज्ञान कराता है। इनमें से किसी एक रूप के न होने से एक-एक दोष उपस्थित हो जाते हैं। पक्षधर्म के अभाव में असिद्ध दोष, सपक्षसत्त्व के अभाव में विरुद्ध दोष, विपक्षव्यावृत्ति के अभाव में अनैकान्तिक दोष, अबाधित विषयत्व के अभाव में कालात्ययापदिष्ट दोष एवं असत्प्रतिपक्षत्व के अभाव में प्रकरणसम दोष, ऐसे पांच रूप के अभाव में हेतु के पाँच दोष होने से पांच हेत्वाभास प्रसिद्ध हैं। पृथक्-पृथक् इनका स्पष्टीकरण—

असिद्ध हेत्वाभास—पक्ष में जिसका रहना असिद्ध हो वह असिद्ध हेत्वाभास है, जैसे—'शब्द अनित्य

है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से जाना जाता है, । यहां 'चाक्षुषत्वात्' हेतु पक्षभूत शब्द में नहीं है, क्योंकि शब्द तो श्रोत्रेंद्रिय का विषय है

विरुद्ध हेत्वाभास—साध्य के अभाव के साथ जो हेतु व्याप्त हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे-शब्द नित्य है क्योंकि वह कृतक है यहां कृतक हेतु अपने साध्यभूत नित्य से रहित अनित्य में व्याप्त है और सपक्ष आकाश आदि में नहीं रहता है अतः विरुद्ध हेत्वाभास है।

अनैकान्तिक हेत्वाभास– जो हेतु व्यभिचार सहित है, साध्य के अभाव में भी रहता है या विपक्ष में चला जाता है वह अनैकान्तिक है। 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है' यहां प्रमेयत्व हेतु अपने साध्य अनित्य का व्यभिचारी है। क्योंकि आकाश आदि विपक्ष में नित्यत्व के साथ भी रह जाता है, अतः विपक्ष से अलग न होने से यह हेतु 'अनैकान्तिक, हेत्वाभास है।

कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास—जिस हेतु का विषय प्रत्यक्षादि प्रगाणो से बाधित हो वह कालात्यया-पदिष्ट हेत्वाभास है। जैसे—'अग्नि ठण्डी है, क्योंकि वह पदार्थ है' यहां 'पदार्थत्व' हेतु अपने विषय 'ठण्डापन' में प्रत्यक्ष से बाधित है। अतः अबाधितविषयता न होने से 'कालात्ययापदिष्ट' हेत्वाभास है।

प्रकरणसम हेत्वाभास—जिसका विरोधी साधन मौजूद हो वह हेतु प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्यधर्म से रहित है'। यहां नित्यधर्म रहितत्व हेतु का विरोधी साधन मौजूद है, अर्थात् 'शब्द नित्य है क्योंकि अनित्य धर्मों से रहित है' इस प्रकार नित्यता का साधन करना, उसका प्रतिपक्षी साधन है। अतः असत्प्रतिपक्षता के न होने से 'नित्यधर्मरहितत्व' हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास है।

इन पाच हेत्वाभास दोषों से रहित पांच रूपता हेतु का लक्षण है। पाचों रूपों में से किसी एक से रहित होने से हेतु अहेतु है। यहां तक नैयायिक ने कहा है।

जैनाचार्यों द्वारा पांचरूप्य हेतु का खंडन

नैयायिकों द्वारा हेतु का पांचरूप्य लक्षण भी ठीक नहीं है क्योंकि पक्षधर्मत्व से रहित भी 'कृत्तिकोदय हेतु' रोहिणी के उदय रूप साध्य का गमक है। अतः पंचरूपता लक्षण हेतु अव्याप्ति दोष से दूषित है। [न्या. पृ. ८५-८८]

दूसरी बात यह है कि आप नैयायिकों ने ही हेतु के तीन भेद माने है। केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। इन तीनों में से पहले के दो हेतु में पांचरूपता नहीं है, मात्र अन्वयव्यतिरेकी हेतु में ही पांचरूपता है।

केवलान्वयी हेतु

'पक्षसपक्षवृत्तिर्विपक्षरहितः केवलान्वयी। यथा–अदृष्टादयः कस्यचित् प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात् यद्यदनुमेयं तत्तत्कस्यचित्प्रत्यक्षं 'यथाग्न्यादि'' । [न्या. पृ. ८९]

जो पक्ष और सपक्ष में रहता है तथा विपक्ष से रहित है वह केवलान्वयी हेतु है जैसे—'पुण्यपापादि किसी के प्रत्यक्ष है क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं । जो-जो अनुमान से जाने जाते हैं वे किसी के प्रत्यक्ष होते हैं जैसे— अग्नि आदि ।' यहां 'पुण्यपापादि' पक्ष है । 'किसी के प्रत्यक्ष' यह साध्य है 'अनुमान से जाना जाता है' यह हेतु है । 'अग्नि आदि' यह अन्वय दृष्टात है । यह 'अनुमेयत्व' हेतु अदृष्ट आदि पक्ष में रहता है और सपक्ष अग्नि आदि में भी रहता है । अतः इस हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्ष सत्त्व है । किन्तु विपक्ष यहाँ कोई है ही नही क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और सपक्ष में आ गये, इसलिये विपक्ष व्यावृत्ति है ही नहीं ।

केवल व्यतिरेकी का कथन

"पक्षवृत्तिर्विपक्षव्यावृत्तः सपक्षरहितो हेतुः केवलव्यतिरेकी । यथा-जीवच्छरीरं सात्मकं भवितुमर्हति प्राणादिमत्त्वात् यद्यत्सात्मकं न भवति तत्तत्प्राणादिमन्न भवति यथा लोष्ठं इति" ।

[न्या पृ ८०]

जो हेतु पक्ष में रहता है, विपक्ष में नहीं रहता है और सपक्ष से रहित है वह हेतु केवल व्यतिरेकी है । जैसे जिन्दा शरीर जीवसहित होना चाहिए, क्योंकि वह प्राणादि वाला है । जो-जो जीवसहित नहीं होता है वह-वह प्राणादिमान् नही होता है, जैसे मिट्टी का ढेला । यहा 'जिंदा शरीर' पक्ष है, 'जीवसहितत्व' साध्य है । 'प्राणादिमान्' हेतु है और 'लोष्ठादिक' व्यतिरेक दृष्टान्त है । प्राणादिमान् हेतु पक्षभूत जिदा शरीर मे रहता है और विपक्ष लोष्ठादिक से व्यावृत्त है । तथा सपक्ष यहा है ही नही, क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और विपक्ष के अन्तर्गत हो जाते हैं । अत. इसमे भी पंचरूपता नही है ।

अन्वय-व्यतिरेकी हेतु का उदाहरण

"तत्र पञ्चरूपोपपन्नोऽन्वयव्यतिरेकी । यथा शब्दोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात्, यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यं यथा घटः यद्यदनित्यं न भवति तत्तत्कृतकं न भवति यथा आकाशः तथा चायं कृतकः, तस्मादनित्य एवेति" । [न्या.पृ ८६]

जो हेतु पाचरूपों से सहित है वह अन्वय व्यतिरेकी है । जैसे 'शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जो-जो किया जाता है वह-वह अनित्य होता है, जैसे घड़ा, जो जो अनित्य नही होता है वह-वह किया नही जाता, जैसे— आकाश और यह शब्द किया जाता है, इसलिए अनित्य ही है ।

यहाँ 'शब्द' पक्ष है उसकी 'अनित्यता' साध्य है । 'कृतकत्व' हेतु है । वह हेतु पक्षभूत शब्द का धर्म है अतः इस हेतु में 'पक्षधर्मत्व' है । सपक्ष घटादिकों में रहता है, अतः 'सपक्षसत्त्व' है । विपक्ष आकाश मे नही रहता है अतः विपक्ष से व्यावृत्त है । हेतु का विषय—अनित्य किसी प्रमाण से बाधित नही है अत. 'अबाधितविषयत्व' है । एव प्रतिपक्षी साधन के न होने से 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी विद्यमान है। अतः 'कृतकत्वात्' हेतु इन पांचों रूपों से विशिष्ट होने से 'अन्वयव्यतिरेकी' कहलाता है ।

इन तीन हेतुओं के लक्षण से आप नैयायिकों द्वारा ही मान्य हेतु की पंचरूपता का निराकरण हो जाता है। क्योंकि केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी हेतुओं में पंचरूपता नहीं है।

जो नैयायिक का कहना है कि असिद्ध विरुद्ध आदि पाँचों दोषों को दूर करने के लिये हेतु में पाच रूपता है वह भी गलत है। क्योंकि अन्यथानुपपत्ति लक्षण से विशिष्ट हेतु असिद्ध आदि दोषों का निराकरण कर देता है, और यदि ये पांच रूप विद्यमान हैं किंतु अन्यथानुपपत्ति रूप अविनाभाव नही है तब तो वह हेतु हेत्वाभास ही कहलाता है। तथाहि—

[पाचरूप्य, त्रैरूप्यहेतु हेत्वाभास क्यों है ?]

"**गर्भस्थो मैत्रीतनयः श्यामो भवितुमर्हति, मैत्रीतनयत्वात्, संप्रतिपन्नमैत्रीतनयवत्।**"

[न्या. पृ. ६१]

"गर्भ में स्थित मैत्री का पुत्र काला होना चाहिये क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है, अन्य मौजूद मैत्री के पुत्रों की तरह।" यहां 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु पक्षभूत गर्भस्थ मैत्री के पुत्र में रहता है अतः इस हेतु में 'पक्ष धर्मत्व' मौजूद है। सपक्षभूत मौजूद मैत्री पुत्रों में रहने से 'सपक्षसत्त्व' भी है विपक्षभूत गोरे चैत्र के पुत्रों से व्यावृत्त होने से विपक्ष से व्यावृत्ति रूप भी है। कोई बाधा नहीं है इसलिये 'अबाधितविषयता' भी है, क्योंकि गर्भस्थ मैत्रीपुत्र का कालापन किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं है। विरोधी समान बल वाला कोई प्रमाण न होने से इस हेतु में 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी है। इस प्रकार 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु में पाँचों रूप विद्यमान हैं। तीन रूप तो 'हजार में सौ' के न्याय से स्वयं सिद्ध है किंतु अन्यथानुपपत्ति न होने से यह हेतु हेत्वाभास है क्योंकि 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु से गर्भस्थ पुत्रो के कालेपन का अविनाभाव निश्चित नही है कदाचित् गर्भस्थ बालक गोरा भी हो सकता है।

अतः अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु ही सम्यक् हेतु है। यदि अन्यथानुपपत्ति से सहित ही पाचरूपता हेतु का लक्षण है तो अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का लक्षण सिद्ध है, पाच रूपता नहीं है।

[बौद्ध के त्रैरूप्य हेतु का निराकरण]

"**अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किम्**" ॥१॥

अर्थ—जहां अन्यथानुपपत्ति है, वहां तीन रूपो के मानने से क्या? और जहां अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहां तीन रूपों के सद्भाव से भी क्या? तात्पर्य यह है कि अन्यथानुपपत्ति के बिना हेतु की तीन रूपता अभिमत फल का संपादक नही है। बौद्धों के लिये यह उत्तर है।

[नैयायिक के पाचरूप्य हेतु का खंडन]

"**अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पचभिः ॥२॥**"

[प्रमाण प. पृ. ७२]

अर्थ—जहाँ हेतु में अन्यथानुपपत्ति है वहां पांच रूपों के मानने से क्या प्रयोजन है ? और जहां अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ पांच रूपों के सद्भाव से भी क्या प्रयोजन है ? तात्पर्य यह है कि अन्यथानुपपत्ति के बिना पांच रूप सर्वथा निष्फल है। अन्यथानुपपत्ति –जो साध्य के साथ अविनाभावी है—साध्य के होने पर ही होता है और साध्य के बिना नहीं होता है वह अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु है।

हेतु के दो भेद हैं—विधि रूप और निषेध रूप। विधि रूप हेतु के भी विधि साधक और प्रतिषेध साधक ऐसे दो भेद है एव निषेध रूप हेतु के भी दो भेद हैं—विधि साधक और प्रतिषेध साधक।

इन सबके भेद प्रभेदों के नाम बताये जा चुके हैं।

विशेष लक्षण अन्य ग्रन्थों से देख लेना चाहिये।

जैनाचार्यों ने हेत्वाभास के चार भेद ही माने है, जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

[आगम का लक्षण]

"आप्तवाक्यनिबंधनमर्थज्ञानमागमः।" [न्या. पृ. ११३]

आप्त के वचनों से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।

[आप्त का लक्षण]

"आप्तः प्रमितिसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेश।" [न्या. पृ ११३]

जो प्रत्यक्ष ज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता—सर्वज्ञ है और परमहितोपदेशी है वह आप्त है।

नैयायिक आदि के द्वारा माने गये आप्त सर्वज्ञ न होने से आप्ताभास है—सच्चे आप्त नही है। क्योंकि उनके द्वारा माने गये आप्त का ज्ञान स्वय को नही जानता है। पुनः उसके एक ही ज्ञान है उसको जानने वाला ज्ञानांतर भी नहीं है। जब वह ईश्वर विशेषण भूत अपने ज्ञान को ही नहीं जानता है तो उस ज्ञान विशिष्ट आत्मा को कि 'मैं सर्वज्ञ हूं।' ऐसा कैसे जानेगा ? और जब अनात्मज्ञ है तब असर्वज्ञ ही है सर्वज्ञ नहीं है। एवं बुद्ध आदि भी सच्चे आप्त नहीं हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जावेगा।

[प्रमाण का विषय]

'अनेके अन्ता धर्माः सामान्यविशेषपर्यायगुणा यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः।" [न्या. ११७]

जिसमें अनेकों अंत-धर्म सामान्य विशेष पर्याय और गुण पाये जाते हैं उसे अनेकांत कहते हैं। मतलब सामान्य आदि अनेक धर्म वाले पदार्थ को अनेकांत कहते हैं।

तत्र सामान्यमनुवृत्तिस्वरूपम्। तद्धि घटत्वं पृथुबुध्नोदराकारः गोत्वमिति सास्नादिमत्त्वमेव। [न्या. ११७]

अनुगत व्यवहार के विषयभूत सदृश परिणामात्मक 'घटत्व' 'गोत्व' आदि अनुगत स्वरूप को सामान्य कहते हैं। वह घटत्व स्थूल कम्बु ग्रीवादि स्वरूप तथा 'गोत्व' सास्ना आदि स्वरूप ही है।

विशेषोऽपि स्थूलोऽयं घटः सूक्ष्मः इत्यादि व्यावृत्तप्रत्ययालम्बनं, घटादिस्वरूपमेव ।"

[न्या. पृ. १२०]

विशेष भी सामान्य की ही तरह 'यह स्थूल घट है, यह छोटा है ।' इत्यादि व्यावृत्त प्रतीति का विषयभूत घटादि व्यक्ति स्वरूप ही है । इसी बात को भगवान् माणिक्यनंदि भट्टारक ने भी कहा है कि 'प्रमाण का विषय सामान्य-विशेष रूप है ।'

पर्याय—परिणमन को पर्याय कहते हैं । उसके दो भेद हैं अर्थपर्याय, व्यंजन पर्याय ।

उसमें भूत और भविष्य के उल्लेख रहित केवल वर्तमान कालीन वस्तु स्वरूप को अर्थपर्याय कहते हैं । आचार्यों ने इसे ऋजुसूत्र नय का विषय माना है । इसी एक देश को मानने वाले क्षणिकवादी बौद्ध हैं ।

प्रवृत्ति और निवृत्ति में कारणभूत जल के ले आने रूप अर्थक्रियाकारिता का नाम व्यक्ति-व्यंजन है, उस व्यंजन से युक्त पर्याय को व्यंजन पर्याय कहते हैं । जैसे—मिट्टी आदि को पिंड, स्थास, कोश, कुशूल, और कपाल आदि पर्यायें हैं ।

गुण—जो संपूर्ण द्रव्य में व्याप्त होकर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले है, उन्हें गुण कहते हे । और वे वस्तुत्व, रूप, गंध, स्पर्श आदि हैं । गुण के भी दो भेद हैं—सामान्य और विशेष । जो सभी द्रव्यों में रहें वे सामान्य गुण हैं जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व आदि । जो उसी एक द्रव्य में रहते हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं । जैसे—रूपरसादि । इन सामान्य विशेष रूप गुण और पर्यायों का आश्रय द्रव्य है । ऐसी अनेकान्तात्मक द्रव्य रूप वस्तु ही प्रमाण का विषय है । एवं अनेक धर्मात्मक वस्तु को विषय करने वाला प्रमाण है । वस्तु के एक धर्म को सापेक्ष ग्रहण करने वाला नय है । वस्तु के एक धर्म को निरपेक्ष रूप से ग्रहण करने वाले नय नयाभास या कुनय कहलाते हैं ।

यहां तक संक्षेप से प्रमाण और प्रमाणाभास को बताया है आगे कुछ विशेष समीक्षा करते हैं ।

प्रमाणों के बारे में विशेष समीक्षा

प्रमाण विचार

दार्शनिक परम्परा में सर्वत्र 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणं' इस निरुक्ति के अनुसार जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं ।

नास्तिक वादी चार्वाक ने 'मानं त्वक्षजमेव हि' इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है ।

वैशेषिक-नैयायिक

दार्शनिक लोगों में सर्वप्रथम कणाद ने प्रमाण का सामान्य लक्षण निर्दिष्ट किया है । 'अदुष्टं विद्या' [वैशेषिक सूत्र ६-२-१२] निर्दोष विद्या को प्रमाण कहा है ।

न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम के न्याय सूत्र में तो प्रमाण का सामान्य लक्षण उपलब्ध नही है पर

उनके टीकाकार वात्स्यायन ने अवश्य ही लक्षण किया है—'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि' [न्याय भा. पृ. १८] उपलब्धियों के साधन को प्रमाण माना है।

उद्योत कर ने भी '**उपलब्धिहेतुः प्रमाणं**' [न्याय वा. पृ. ५] उपलब्धि के हेतु को ही प्रमाण कहा है।

जयंतभट्टने '**प्रमाकरणं प्रमाणं**' [न्याय म. पृ. २५] प्रमा के करण को प्रमाण कहा है।

उदयन ने 'यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते' [न्या. कुसु. ४, १] यथार्थ अनुभव को प्रमाण कहा है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखना कि 'उदयन' के पहले न्याय वैशेषिक दर्शन में 'अनुभव पद' दृष्टिगोचर नहीं होता है।

इस प्रकार नैयायिक वैशेषिक दर्शन में प्रमा के करण को प्रमाण माना गया है। उन्होंने प्रत्यक्ष प्रमा के तीन करण माने हैं—इन्द्रिय, इंद्रियार्थ सन्निकर्ष, और ज्ञान। किन्तु इद्रिय और इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमा का कारण मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय और सन्निकर्ष अज्ञान रूप हैं, अतः वे अज्ञान की निवृत्ति रूप प्रमा के करण कैसे हो सकते है? अज्ञान निवृत्ति में अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही होना चाहिए। सन्निकर्ष को प्रमाण कहने में पहले दोष दिखाया है।

वृद्ध नैयायिकों ने कहा है कि—'अव्यभिचारिणीमसदिग्धामर्थोपलब्धि विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणं। [न्याय मं. पृ. १२]

अव्यभिचारिणी असंदिग्ध अर्थ की उपलब्धि को कराने वाली ज्ञानात्मक तथा अज्ञानात्मक दोनों प्रकार की सामग्री ही प्रमा का करण है वही प्रमाण है। अतः वे कारक साकल्य-इद्रिय, मन, पदार्थ, प्रकाश आदि कारणो की समग्रता को प्रमाण कहते हैं। इस विषय में यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि अर्थ की उपलब्धि में साधकतम कारण तो ज्ञान है और कारक साकल्य की सार्थकता उस ज्ञान को उत्पन्न करने में है, क्योंकि ज्ञान को उत्पन्न किये बिना कारक साकल्य अर्थ का बोध नही करा सकते। अतः प्रमा का करण रूप प्रमाण ज्ञान ही है इन्द्रिय सन्निकर्ष, कारक साकल्य आदि नहीं है क्योंकि ये अचेतन हैं।

मीमांसक —

मीमासा दर्शन में प्राभाकर और भाट्ट दो सम्प्रदाय हैं—उनमें से प्राभाकरों ने—'**अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्**' [बृहती १-१-५] अनुभूति ही प्रमाण का लक्षण है ऐसा कहा है। एवं ज्ञातृ व्यापार को भी प्रमाण कहा है।

किन्तु एक ही अर्थ की अनुभूति विभिन्न व्यक्तियों को अपनी-अपनी भावना के अनुसार विभिन्न प्रकार की होती है, इसलिये केवल अनुभूति को प्रमाण नही माना जा सकता। ज्ञाता के व्यापार को प्रमाण मानने में उनका मतलब यह है कि 'अर्थ प्रकाशन ज्ञाता के व्यापार द्वारा होता हैं' अतः ज्ञाता का व्यापार प्रमाण है। किन्तु ज्ञाता का व्यापार अर्थ प्रकाशन में या उसके जानने में प्रमाण तभी माना जा सकता है जब कि उसका व्यापार यथार्थ वस्तु के बोध में कारण हो। जहां पर यथार्थ वस्तु के ज्ञान में कारण न होकर विपरीत ही अर्थ ज्ञान करा रहा है वहां प्रमाण कैसे होगा?

भाट्टों ने 'अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम्' [शा. दी. पृ. १२३]

अज्ञात यथावस्थित अर्थ के जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है, किंतु यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है, क्योंकि उन्होंने स्वयं गृहीतग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण माना है।

कुमारिल भट्ट ने प्रमाण के सामान्य लक्षण में पांच विशेषण दिये हैं—

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।

अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्। [प्रमाण वा. पृ. २१]

जो अपूर्व को जानने वाला हो, निश्चित हो, बाधाओं से रहित हो, निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ हो और लोकसम्मत हो वह प्रमाण कहलाता है।

उक्त प्रमाण लक्षण में यद्यपि कोई बात आपत्ति जनक प्रतीत नहीं होती, फिर भी अन्य दार्शनिकों ने इस लक्षण की आलोचना की है। विशेष दूषण यह है कि—मीमांसकों ने ज्ञान को परोक्ष माना है, किंतु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि जो ज्ञान स्वयं परोक्ष है वह प्रमाण कैसे हो सकता है?

बौद्ध—

बौद्ध दर्शन में '**अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्**' [प्रमाण स. टी. पृ. ११] अज्ञात के प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा है।

दिग्नाग ने—'**स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपार्थनिश्चयः।**

विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥' [प्रमाण स. पृ. २१०]

विषयाकार को प्रमाण तथा विषयाकार अर्थनिश्चय को और स्वसंवित्ति को प्रमाण का फल माना है।

धर्मकीर्ति ने प्रमाण के लक्षण में 'अविसंवादी' पद को जोड़कर दिग्नाग प्रतिपादित लक्षण का ही समर्थन किया है। तत्त्वसंग्रहकार शांतरक्षित ने सारूप्य और योग्यता को प्रमाण माना है। तथा विषयाधिगति और स्वसंवित्ति को फल माना है। मोक्षाकार गुप्त ने—**प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्**' [तर्क भा. मोक्षकार गुप्त पृ. १]

अपूर्व अर्थ को विषय करने वाले सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा है। इस प्रकार बौद्धों ने अज्ञातार्थ प्रकाशक अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण कहा है।

बौद्धों के यहा प्रमाण और फल में अभेद होने से यद्यपि प्रमाण ज्ञान रूप है तथापि विषयाकारता को ही इन्होंने प्रमाण माना है। यद्यपि ज्ञान गत सारूप्य ज्ञान स्वरूप ही है फिर भी ज्ञान का विषयाकार होना एक जटिल समस्या है, क्योंकि अमूर्तिक ज्ञान का मूर्तिक पदार्थों के आकार होना संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान को विषयों के आकार होना ही मानने से संशय-विपर्यय ज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा क्योंकि वे ज्ञान भी तो विषयाकार हैं।

सांख्य—

सांख्यों ने **'इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्'** [योगद. व्या. पृ. २७]

श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति–व्यापार को प्रमाण माना है। किन्तु इन्द्रिय व्यापार को प्रमाण मानना उचित नहीं है क्योंकि इन्द्रियों के समान उनका व्यापार भी अचेतन और अज्ञान रूप ही होगा। अतः अज्ञान रूप व्यापार जानने रूप क्रिया का साधकतम कारण नहीं हो सकता है।

उपसंहार—यौग (नैयायिक-वैशेषिक) इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और ज्ञान को प्रमा का करण मानते हैं। प्राभाकर ज्ञाता के व्यापार को, मीमांसक इन्द्रिय को, बौद्ध सारूप्य (तदाकारता) और योग्यता को जानने रूप क्रिया का करण मानते हैं किन्तु ये सब मान्यताएं दूषित है। इनको विशेष समझने के लिए प्रमेयकमल मार्तंड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थ देखना चाहिए।

जैनाचार्य ज्ञान को ही प्रमा—जानने रूप क्रिया का करण कहते हैं। उसीका स्पष्टीकरण—

जैन—

जैन दर्शन में आचार्य श्री समन्तभद्र महोदय ने 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं' तत्त्व ज्ञान को प्रमाण कहा है [अष्ट स.] अन्यत्र स्वयंभूस्तोत्र में—**'स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षण'** स्वपरावभासक ज्ञान को प्रमाण कहा है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने **'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्'** [न्यायावतार श्लो. १]

स्वपर अवभासी तथा बाधारहित ज्ञान को प्रमाण कहा है। श्री अकलंक देव ने **'व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्'** अपने और अर्थ के ग्राहक व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है।

[लघीयत्रस्य का. ६०]

अन्यत्र श्री अकलंक देव ने ही —**'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्'**

[अष्टशती का. ३६]

अनधिगत अर्थ को जानने वाले अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण का लक्षण कहा है

श्री विद्यानन्द महोदय ने **'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्'** [प्रमाणपरी. पृ. ५१] पहले सम्यग्ज्ञान को प्रमाण का लक्षण कहकर पुनः **'स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्** [प्रमाण प.]

सम्यग्ज्ञान स्वार्थ व्यवसायात्मक है, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान है। ऐसा स्पष्ट किया है।

इन्होंने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत या अपूर्व विशेषण नहीं दिया है। क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान चाहे अपूर्व अर्थ को जाने या गृहीत अर्थ को, स्वार्थ व्यवसायात्मक होने से ही प्रमाण है किन्तु माणिक्यनन्दि आचार्य महोदय ने—**'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'** [परीक्षा मु. सू. १]

स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक—निश्चय कराने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है। एवं स्वयं ग्रन्थकार ने अपूर्वार्थ पद का लक्षण किया है—**अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥४॥** [प. मु. प्र. प.]

जिस पदार्थ का पहले किसी प्रमाण से निश्चय नहीं किया गया है वह अपूर्वार्थ है। अर्थात् जो वस्तु किसी यथार्थ ग्राही प्रमाण से अभी तक जानी नहीं गई है वह अपूर्वार्थ है। क्योंकि जो किसी ज्ञान से जान ली गयी है उसका जानना व्यर्थ है इस वास्ते अपूर्व विशेषण सूत्र में दिया है। इसलिए यहां पर ईहा आदि ज्ञानों का विषय भूत पदार्थ अवग्रह आदि ज्ञानों के द्वारा ज्ञात होने पर भी पूर्वार्थ नहीं है, अपितु अपूर्वार्थ ही है क्योंकि अवग्रहादि के द्वारा ईहादि ज्ञान के विषयभूत अवान्तर विशेष का निश्चय नहीं होता है। अन्य प्रकार से भी अपूर्व का लक्षण करते हैं —

'दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक' ॥५॥ [प. मु. प्र. प.]

दृष्ट—अन्य किसी प्रमाण के द्वारा जाने गये पदार्थ में भी समारोप-संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय आ जाता है तो वे भी अपूर्वार्थ हो जाते है।

इस प्रकार से जैनाचार्यों द्वारा कथित सभी प्रमाण के लक्षणों में विरोध नहीं है। ये लक्षण एक दूसरे के समर्थक हैं क्योंकि वास्तव में 'ज्ञान' ही प्रमाण कहलाने योग्य है। उस ज्ञान से ही 'हिताहित-प्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्' हित की प्राप्ति और अहित का परिहार होता है, अन्य इन्द्रिय, सन्निकर्ष आदि अचेतन से नहीं हो सकता है। अतः स्वपर प्रकाशी सम्यक् तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है। यह समझना चाहिए।

प्रमाण के भेद का विचार

चार्वाक ने एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना है।

बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष अनुमान ऐसे दो प्रमाण स्वीकार करते है। **सांख्य** ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ऐसे तीन भेद माने है। **नैयायिक** ने उसमें उपमान और मिला दिया है। **मीमांसक** इसी में अर्थापत्ति और अभाव मिलाकर छह भेद कर देते हैं।

जैनाचार्यों ने सर्वत्र प्रमाण के दो भेद किये हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन दो भेदों में ही उपर्युक्त प्रमाण के भेद गर्भित हो जाते हैं।

सिद्धान्त ग्रन्थों में आचार्य श्री उमास्वामी आदि ने प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं विकल और सकल विकल में अवधि, मनःपर्यय एवं सकल में केवल ज्ञान है।

परोक्ष प्रमाण के मति श्रुत दो भेद करके मतिज्ञान के पर्यायवाची नामों में श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है कि—**'मतिःस्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम्'** ॥१३॥ मति, स्मृति, प्रत्यभिमान, तर्क और अनुमान ये पाँचों मतिज्ञान के ही पर्याय वाची नाम है। [तत्त्वार्थसूत्र प्र. अ.]

न्याय ग्रन्थों में आचार्यों ने प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। सांव्यवहारिक से मतिज्ञान को लिया है। और उसके अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा रूप से चार भेद करके पांच इन्द्रिय और मन से गुणा करके बहु आदि पदार्थ के १२ भेदों से भी गुणित

करके ३३६ भेद कर दिये हैं। जिनका स्पष्टीकरण पहले आ चुका है। पारमार्थिक के विकल सकल भेद करते हैं। तथा मति के पर्याय वाची स्मृति आदि चारों को परोक्ष में ले लेते हैं। उन चारों में श्रुतज्ञान को आगम प्रमाण से मिलाकर के परोक्ष के पांच भेद कर देते हैं यथा—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये परोक्ष प्रमाण के पांच भेद है।

क्योंकि स्मृति आदि मतिज्ञान के समान इन्द्रिय प्रत्यक्ष नही हैं। यही कारण है कि इन्हें परोक्ष में लिया गया है। इस प्रकार से प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण में ज्ञान के पाचों भेद आ जाते है।

अन्य दार्शनिकों ने स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क को पृथक् से प्रमाण में नहीं लिया है। अतः सभी के द्वारा मान्य प्रमाण संख्या अपूर्ण है।

जैनाचार्यों ने अन्य जनों द्वारा मान्य उपमान प्रमाण को सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भूत कर लिया है। अर्थापत्ति प्रमाण तो अनुमान में हो शामिल हो जाता है। एवं अभाव प्रमाण का प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है ऐसा बताया है। क्योंकि—

'गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ।। [कुमारिल. मीमासा श्लोक]

यहाँ वस्तु का सद्भाव-घट रहित केवल भूतल को देखकर और प्रतियोगी-घट की याद कर बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित 'नही है' इस रूप जो मानस ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है ऐसा मीमांसक मत में कुमारिल भट्ट का कहना है। अतः 'भूतल को देखना' प्रत्यक्ष में शामिल है। 'घट का स्मरण स्मृति' ज्ञान में अन्तर्भूत है। इत्यादि।

प्रत्यक्ष प्रमाण पर विचार

दार्शनिक जगत् में प्रत्यक्ष का लक्षण अनेक प्रकार का उपलब्ध होता है।

नैयायिक और वैशेषिक—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'। [न्याय सू. १-१-४]

इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला, अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी तथा व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

मतलब सामान्यतया ये लोग इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहते हैं।

सांख्य—श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम्। ये लोग निर्विकल्प श्रोत्र आदि इन्द्रियों के व्यापार को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है।

मीमांसक—'तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्‌ः प्रत्यक्षम्। [जैमिनि. १-१-४]

इन्द्रियों का आत्मा के साथ संयोग होने पर उत्पन्न होने वाली बुद्धि को प्रत्यक्ष कहते हैं।

बौद्ध—

बौद्धदर्शन में तीन मान्यताये हैं—वसुबन्धु, दिग्नाग और धर्मकीर्ति। वसुबन्धु ने—'**अर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षम्** [प्रमाण स. पृ. ३२] अर्थजन्य निर्विकल्प ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

दिग्नाग ने—**प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्** [प्रमाण स. १-३]

नाम जाति आदि रूप कल्पना से रहित निर्विकल्पज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

धर्मकीर्ति ने—**कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्** [न्यायबिन्दु पृ. ११]

निर्विकल्प तथा अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

सामान्यतया सभी बौद्ध तार्किकों ने निर्विकल्प को प्रत्यक्ष स्वीकार किया है।

जैनाचार्य—

जैनाचार्यों ने "**प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं**" [लघीयस्त्रय का ३] कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि स्पष्ट-निर्मल ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। सिद्धान्त ग्रन्थों में तो आत्मा से उत्पन्न हुये ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है किन्तु न्याय में इन्द्रिय मन निमित्तक ज्ञान को भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह दिया है।

अकलक देव ने प्रत्यक्ष लक्षण में उपात्त वैशद्य का खुलासा कर दिया है यथा—

अनुमाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्॥ [लघी. का. ४]

जो अनुमान आदि की अपेक्षा से रहित ज्ञान का विशेष प्रतिभास है वह वैशद्य—विशदता है इससे भिन्न अवैशद्य है।

ज्ञान के कारण—

बौद्ध ज्ञान के प्रति अर्थ और आलोक को कारण मानते है। उन्होंने चार प्रत्ययों—कारणों से संपूर्ण ज्ञानो (स्वसवेदनादि) की उत्पत्ति वर्णित की है। वे प्रत्यय ये है—समनतरप्रत्यय, आधिपत्य-प्रत्यय, आलम्बनप्रत्यय और सहकारिप्रत्यय। पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होता है इस-लिये वह 'समनन्तर प्रत्यय' कहलाता है।

चक्षुरादिक इन्द्रियां आधिपत्य प्रत्यय कही जाती हैं।

अर्थ—विषय 'आलबन प्रत्यय' कहा जाता है। आलोक आदि 'सहकारी प्रत्यय' है।

इस तरह बौद्धों ने इन्द्रियों के अलावा अर्थ और आलोक को भी कारण स्वीकार किया है। अर्थ की कारणता पर तो यहां तक कह दिया है कि ज्ञान यदि अर्थ से उत्पन्न न हो तो वह अर्थ को जान भी नही सकता है। उनका यह सिद्धान्त है कि 'नाकारण विषयः' जो पदार्थ ज्ञान की उत्पति में कारण नहीं है वह ज्ञान का विषय भी नहीं है। इसीलिये ये बौद्ध अर्थ से ज्ञान का तदुत्पत्ति तदाकार और तदध्यवसाय रूप मानते हैं और इसी से प्रतिकर्मव्यवस्था सिद्ध करते है।

नैयायिक भी अर्थ को ज्ञान का कारण मानते हैं परन्तु अर्थ से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानते हैं। क्योंकि ये लोग ज्ञान के प्रति सीधा कारण सन्निकर्ष को मानते हैं। इसीलिए जैनों ने नैयायिक आदि के अर्थकारणतावाद पर इतना विचार नही किया है जितना कि बौद्धों के अर्थालोक कारणतावाद पर किया है। जैनाचार्य आवरण के क्षयोपशम को ही प्रत्येक ज्ञान के प्रति कारण मानते हैं। इस विषय पर श्री अकलंक देव ने संक्षेप से कह दिया है कि—

'अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिरर्थतः।
अन्यथा न विवादःस्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥ [लघीय. ५३]

'यह अर्थ है' ज्ञान तो यह जानता है, किन्तु 'अर्थ से मैं उत्पन्न हुआ हूं' इस बात को वह नहीं जानता है, यदि जानता तो किसी को विवाद नहीं होना चाहिये था। अतः ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

"**सांव्यवहारिकं इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्**" [लघीय. स्वोप का. ४]

इन्द्रिय और अनिद्रिय-मन से जन्य ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है। सांव्यवहारिक उसे इसलिये कहते है कि लोक में दूसरे दर्शनकार इंद्रिय, मन सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है। वास्तव में तो जो ज्ञान पर निरपेक्ष एव आत्म मात्र सापेक्ष तथा पूर्ण निर्मल है वही ज्ञान प्रत्यक्ष है। अतः लोक व्यवहार की दृष्टि से अक्षजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहने में कोई अनौचित्य नहीं है। सिद्धान्त की भाषा में तो उसे परोक्ष ही कहा गया है।

मुख्य प्रत्यक्ष

दार्शनिक जगत् में प्रायः सभी ने एक ऐसा प्रत्यक्ष स्वीकार किया है जो लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न है और जिसे अलौकिक प्रत्यक्ष योगिप्रत्यक्ष या योगिज्ञान के नाम से कहा गया है। यद्यपि किसी-किसी नें इस प्रत्यक्ष मे मन की अपेक्षा वर्णित की है तथापि योगजधर्म की प्रमुखता होने के कारण उसे अलौकिक ही कहा है। कुछ ही हो, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि आत्मा में एक अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव है। जैन-दर्शन मे ऐसे ही आत्म मात्र सापेक्ष साक्षात् स्वरूप अतीन्द्रिय ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

परोक्ष प्रमाण का विचार

जैन दर्शन मे प्रमाण का दूसरा भेद परोक्ष है। यद्यपि बौद्धों ने परोक्ष शब्द का प्रयोग अनुमान के विषय भूत अर्थ मे किया है। यथा—"**द्विविधो अर्थः प्रत्यक्षः परोक्षश्च। तत्र प्रत्यक्षविषयः साक्षात्क्रियमाणः प्रत्यक्षः। परोक्षः पुनरसाक्षात्परिच्छिद्यमानोऽनुमेयत्वादनुमानविषयः।** [प्रमाण प. पृ. ६५]

अर्थ के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। उसमे प्रत्यक्ष का विषयभूत साक्षात् किया गया अर्थ प्रत्यक्ष है। परोक्ष अर्थात् असाक्षात् किया गया पदार्थ परोक्ष है वह अनुमेय रूप होने से अनुमान का विषय है।

किन्तु जैनदर्शन में परोक्ष शब्द का प्रयोग परोक्षज्ञान में ही होता चला आ रहा है। दूसरे प्रत्यक्षता और परोक्षता वस्तुतः ज्ञाननिष्ठ धर्म हैं। ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष होने से अर्थ भी उपचार से प्रत्यक्ष और परोक्ष कहा जाता है। प्रायः लोक व्यवहार में इन्द्रिय व्यापार रहित ज्ञान को परोक्ष कहा गया है जबकि जैन दर्शन में इन्द्रियादि पर की अपेक्षा से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा है। यथा—"**उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम्**" ॥६॥ उपात्त-इन्द्रिय और मन, अनुपात्त-प्रकाश उपदेश आदि ये पर हैं इनकी प्रधानता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष कहलाता है। [तत्त्वार्थ वा० पृ० ५२]

श्री अकलंक देव ने '**ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता।**'

[लघीय० स्वो० का० ३]

विशद निर्भासी ज्ञान ही प्रत्यक्ष है एवं इससे भिन्न परोक्ष है ऐसा कहा है-**बौद्ध, सांख्य** आदि किसी ने भी परोक्ष प्रमाण नहीं माना है, किन्तु अनुमान, आगम, उपमान आदि को प्रमाण मानते हैं संख्या के प्रकरण में इस बात को स्पष्ट किया है कि परोक्ष प्रमाण को माने बिना प्रमाणों की व्यवस्था पूरी नहीं होती है। बौद्ध ने अनुमान को मान लिया, किन्तु स्मृति आगम आदि को प्रमाण नहीं माना है। निष्कर्ष यही निकलता है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम में पांच प्रमाण ही परोक्ष हैं। न्याय ग्रन्थ में आचार्यो ने मतिज्ञान के अंशरूप 'मति'—इन्द्रियजन्य ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बतलाकर शेष स्मृति आदि को परोक्ष कहा है, क्योंकि स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्ति में ज्ञानान्तर की अपेक्षा रखते है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये ज्ञान भी ज्ञानान्तर से व्यवहित न होने के कारण साव्यवहारिक प्रत्यक्ष ही हैं।

परोक्ष के भेद-प्रभेद पर विचार

बौद्ध—

त्रिरूप वाले हेतु से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। अनुमान के दो भेद हैं—स्वार्थ, परार्थ।

वैशेषिक-नैयायिक—

'**तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं, पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च**' यह न्याय दर्शन का सूत्र है। प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान होता है उसके तीन भेद हैं पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

कोई इस प्रकार से व्याख्यान करते हैं कि प्रत्यक्षपूर्वक तीन प्रकार का अनुमान होता है—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। इनमें से केवलान्वयी को पूर्ववत् कहते हैं क्योंकि पूर्वअन्वय। जिस अनुमान में केवल अन्वय व्याप्ति मिलती है उसे केवलान्वयी-पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। केवलव्यतिरेकी को शेषवत् एवं अन्वय व्यतिरेकी को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते है।

उपमान—प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध की सिद्धि करना उपमान प्रमाण है। जैसे गौ के समान गवय होता है।

मीमांसक—

मीमांसक ने चतुर्लक्षणलिंग से उत्पन्न साध्य ज्ञान को अनुमान कहा है। नियत संबंध का एक देश देखना, संबंध नियम का स्मरण करना, अबाधक होना और अबाधित विषय वाला होना इत्यादि।

[प्रकरण प० पृ० ६४, ७६]

'ज्ञातसंबंधस्यैकदेशदर्शनादसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम्' साध्य और साधन के अविनाभाव का यथार्थ परिज्ञान रखने वाले पुरुष को एक देश साधन के देखने से साध्य अर्थ का ज्ञान होना अनुमान कहलाता है। ऐसे ही आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये सब परोक्ष प्रमाण हैं किन्तु इन सभी के यहां स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क प्रमाण न होने से अनुमान आदि का लक्षण असभव है। स्मृति और तर्क के बिना हेतु से साध्य का ज्ञान कैसे हो सकता है। किसी ने कभी अग्नि से धूम निकलता हुआ देखा है तभी तो वह केवल धूम देखकर पहले के सबंध का स्मरण करके तर्कज्ञान से धूम का अग्नि के साथ अवि-नाभाव समझ कर धूमहेतु से अग्नि का अनुमान लगाता है।

अनुमान के अवयव

नैयायिक हेतु के पांच अवयव मानते हैं यथा—**'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः'**

[तर्कसग्रह]

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। न्याय सूत्र के टीकाकार वात्स्यायन ने नैयायिकों की दश अवयव मान्यता का भी उल्लेख किया है–**'दशावयवानित्येके नैयायिका वाक्ये संचक्षते जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं, संशयव्युदासः इति''** [न्यायशास्त्रा० भाष्य १-१-३२]

उपर्युक्त पाच में जिज्ञासा, सशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और सशयव्युदास मिला देने से दश अवयव हो जाते हैं।

बौद्ध—

बौद्धों ने अनुमान का हेतु रूप एक ही अवयव माना है। धर्मकीर्ति ने हेतु और दृष्टांत ऐसे दो अवयवों को स्वीकार किया है। दिग्नाग ने पक्ष हेतु और दृष्टांत ऐसे तीन अवयव भी मान लिये है। मुख्य रूप से बौद्ध के यहा केवल एक हेतु का प्रयोग ही आवश्यक माना गया है। उसका कहना है कि केवल हेतु के प्रयोग से ही गम्यमान पक्ष में साध्य का बोध हो जाता है। **मीमांसक** तीन अवयव मानते है–पक्ष, हेतु, दृष्टांत। कही पर चार भी मानते हैं। **सांख्य** भी तीन अवयव मानते हैं। मतलब यह है कि बौद्ध एक दो और तीन अवयव मानते हैं, नैयायिक पाच ही मानते हैं। मीमासक चार और तीन मानते हैं एवं साख्य तीन अवयव मानते हैं।

जैनाचार्यों ने मात्र **'एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गंनोदाहरणम्'** [परीक्षामुख] इस सूत्र के अनुसार प्रतिज्ञा और हेतु ऐसे दो ही अवयव मानते है उनका कहना है कि दृष्टात उपनय और निगमन इन तीनों की स्वीकारता शास्त्र में बालबुद्धि वालों को समझाने के लिये होती है किन्तु वाद काल में नहीं होती है वहाँ पर विद्वान् पुरुषों को दो ही अवयव प्रयुक्त करने चाहिये।

हेतु के लक्षण पर विचार

बौद्ध सांख्य और वैशेषिक हेतु का त्रैरूप्य लक्षण मानते हैं। यद्यपि हेतु का त्रैरूप्य लक्षण अधिकांशतः बौद्धों का ही प्रसिद्ध है फिर भी त्रैरूप्य की मान्यता सांख्य और वैशेषिकों की भी है। इनकी ये परपरा बौद्धों से प्राचीन है दिग्नाग के पहले होने वाले प्रशस्तपाद ने अपने प्रशस्तपादभाष्य में [पृ० १०० में काश्यप और (कणाद) कथित] दो पद्यों को उद्धृत किया है जिनमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष-व्यावृत्ति का स्पष्ट उल्लेख है। नैयायिक ने पाँच अवयव माने है यथा—"**पक्षधर्मत्वम् सपक्षसत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति ···· एतैः पंचभिर्लक्षणैरूपपन्नं लिंगमनुमापकं भवति**'

[न्याय. म. पृ. १०१]

इन तीन रूप और पांच रूप की मान्यता अति प्रसिद्ध है, किंतु इनके अलावा भी हेतु के द्विलक्षण चतुर्लक्षण, और षड्लक्षण एव एकलक्षण की मान्यताओं का उल्लेख तर्क ग्रन्थों में पाया जाता है। इनमें चतुर्लक्षण की मान्यता संभवतः मीमासकों की मालूम होती है। जिसका निर्देश प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् प्रभाकरानुयायी शालिकानाथ ने किया है।

इन सबका खंडन करते हुये जैनाचार्यो ने हेतु का एक ही लक्षण माना है। जिसका नाम है अन्यथानुपपत्ति अर्थात् साध्य साधन का अविनाभाव। इसका भी स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

हेत्वाभास पर विचार

नैयायिक हेतु के पांच रूप मानते हैं अतः उन्होंने एक-एक रूप के अभाव में पांच हेत्वाभास माने हैं। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम। [न्यायक० पृ० १४]

वैशेषिक और बौद्ध हेतु के तीन रूप स्वीकार करते हैं इसलिये उन्होंने तीन हेत्वाभास माने हैं— असिद्ध, विरुद्ध, अनैकातिक। सांख्य ने भी त्रैरूप्य हेतु के विपरीत ये ही तीन हेत्वाभास माने हैं। प्रशस्तपाद ने वैशेषिक दर्शन सम्मत तीन हत्वाभासों के अलावा एक चौथे हेत्वाभास की कल्पना भी की है जिसका नाम है अनध्यवसित [प्र. भा. पृ. ११६]

जैन विद्वान् हतु का केवल एक ही अन्यथानुपपत्ति रूप मानते हैं अतः उनका हेत्वाभास भी एक ही होना चाहिये। इस संबंध में सूक्ष्मप्रज्ञ श्री अकलंक देव ने बड़ी योग्यता से उत्तर दिया है '**साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे। विरुद्धासिद्धसंदिग्धा अकिंचित्करविस्तराः।**' [न्याय. वि. का. २६६]

वस्तुतः हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिंचित्कर अथवा असिद्ध। विरुद्ध, असिद्ध और संदिग्ध य उसी के विस्तार हैं। चूंकि अन्यथानुपपत्ति का अभाव अनेक प्रकार से होता है अतः हेत्वाभास के असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचारी और अकिंचित्कर ये चार भेद भी मानेगये हैं।

आगम प्रमाण का विचार

यद्यपि चार्वाक आगम प्रमाण नहीं मानता है फिर भी वृहस्पति गुरु को चार्वाक मत प्रवर्तक मानता है अतः उन वृहस्पति के द्वारा कहे गये वचन और तत्त्व ही आगम सिद्ध होते हैं अन्यथा वे अपने गुरु

कथित तत्वों का वर्णन या गुरु का नामोल्लेख भी कैसे कर सकेंगे ?

बौद्धों ने भी प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो को ही प्रमाण माना है अतः ये लोग भी आगम को प्रमाण नहीं मानते हैं। फिर भी 'आगम आदि अप्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान में अंतर्भूत हैं क्योंकि वे अप्रत्यक्ष पदार्थ को विषय करने वाले प्रमाणहैं।' ऐसा कहा है [षट् दर्शन. पृ. ५७]

एवं बौद्धों ने त्रिपिटक ग्रन्थ को भी माना है। उनका कहना है कि 'महात्मा बुद्ध के वचनों का संकलन उनके निकटतम शिष्यों द्वारा त्रिपिटकों में ही हुआ है। उनके नाम—विनयपिटक, सुत्त पिटक और अभिधम्मपिटक हैं। इनकी भाषा पालि है। इन ग्रन्थों में केवल प्राचीन बौद्ध धर्म का वर्णन मिलता है।' अस्तु ! बुद्ध भगवान् वक्ता ही प्रमाण नही है तब उनके आगम भी प्रमाण कैसे होंगे ? बुद्ध की प्रमाणता—आप्तता का निराकरण आप्तसमीक्षा में किया जावेगा।

नैयायिक—

नैयायिकों ने कहा है कि '**शाब्दमाप्तोपदेशस्तु**'·· [षड्द. पृ. १०६]

आप्त के उपदेश को आगम प्रमाण कहते हैं। 'जो एकांत से सदा सत्यवादी और हितकारी है वही आप्त है। आप्त के वचन को आप्तोपदेश कहते हैं।'

वैशेषिक ने प्रत्येक अनुमान दो ही प्रमाण माने हैं अतः आगम को प्रमाण नही माना है किंतु आगम अवश्य माना है।

सांख्य ने आप्त और वेदों के वचनों को शाब्द—आगम प्रमाण कहा है। रागद्वेषादि से रहित वीतराग ब्रह्म, सनत्कुमार आदि आप्त हैं। और श्रुति—वेद इन्हीं के वचन आगम है। (षड्द.)

मीमांसक '**शाब्दंशाब्दवतवेदोत्थं**'—नित्यवेद से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को आगम कहते हैं।

(षड्द. पृ. ४४०)

वास्तव में इन नैयायिक वैशेषिक ने जो ईश्वर का लक्षण किया है उसका आप्त समीक्षा में विचार किया जावेगा। जब इनका मान्य आप्त ही सिद्ध नही है तब उनके वचन आगम कैसे हो सकेंगे ?

यही हाल सांख्यों का है उन्होंने भी कपिल को आप्त माना है, परंतु उनकी मान्यता ठीक नहीं है। अतः उनके आगम प्रमाण का लक्षण गलत सिद्ध होता है।

अपौरुषेय वेद का विचार

मीमासक ने तो वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने में बड़ा पुरुषार्थ लगाया है। इनका कहना है कि 'वेद अपौरुषेय हैं इसलिये वे प्रमाण हैं, क्योंकि उनके कर्त्ता का स्मरण नहीं है, अतः वेद वाक्यों से ही धर्म-अधर्म आदि अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है।' जैनाचार्य उनसे ऐसा पूछते हैं कि भाई ! उन वेद वाक्यों का व्याख्याता रागी है या वीतरागी ? यदि व्याख्याता रागी है तो विपरीत अर्थ भी कर देगा। यदि वीतरागी कहो तो आप सर्वज्ञ मानते नहीं। इत्यादि रूप से वेद प्रमाणीक नहीं हैं क्योंकि उनमें परस्पर विरोधी वचन पाये जाते हैं।

यद्यपि मीमांसकों ने वेद को अपौरुषेय कहा है फिर भी उन्हीं के यहां किन्हीं-किन्हीं ने वेद के कर्ता भी मान लिये हैं। काणाद-वैशेषिक लोग अष्टक ऋषि को वेद का कर्ता कहते हैं, पौराणिक लोग ब्रह्मा को एवं जैन कालासुर को वेद का कर्ता कहते हैं। यदि आप कहे कि वेद में विशेष शक्तिशाली मंत्रादि पाये जाते हैं अतः वेद प्रमाण हैं। इस पर भी हम जैनों का उत्तर है कि उन विशेष मन्त्रों की उत्पत्ति हम जैनों के विद्यानुवाद पूर्व से हुई है। अनेकों रत्न राजा के भंडार में हैं किन्तु उनकी उत्पत्ति समुद्र, खान आदि से हुई है न कि भंडार से। यदि अपौरुषेय होने से ही वेद प्रमाण हैं तो म्लेच्छों के यहां मातृ-विवाह, मांसाहार आदि क्रियायें भी प्रमाण हो जावेगी, क्योंकि उनका कर्ता कोई पुरुष भी स्मृति में नहीं है वे क्रियायें भी पुरुषकृत् प्रतीत न होने से अपौरुषेय ही हैं किंतु ऐसा है नहीं। अतः वेद प्रमाण नहीं है।

जैनों द्वारा मान्य आगम का लक्षण

'आप्त के वचन आदि निमित्त से होने वाला अर्थ ज्ञान ही आगम है'। एवं सर्वज्ञ से ही आगम सिद्ध होता है और उसके अर्थ अनुसार अनुष्ठान करने से ही सर्वज्ञ बनते हैं। इस प्रकार बीजांकुर न्याय से सर्वज्ञ और आगम की सिद्धि होती है।

अभाव का विचार

मीमांसक ने स्वतंत्र एक अभाव प्रमाण माना है। इसलिये उनका कहना है कि—"**अभावश्च प्रागभावादिभेदभिन्नोवस्तुरूपोऽभ्युपगन्तव्यः अन्यथा कारणादिव्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसंगात्**"

[षड्द० पृ० ४४६]

अभाव प्रमाण का विषयभूत अभाव पदार्थ वस्तुभूत है तथा वह चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यंताभाव। यदि ये चार अभाव न हों तो संसार में कारण, कार्य, घट, पट, जीव, अजीव आदि की प्रतिनियत व्यवस्था का लोप होकर समस्त व्यवहार ही नष्ट हो जावेगा।

वैशेषिकों द्वारा मान्य सात पदार्थों में एक अभाव नाम का पदार्थ है उसके भी उन्होंने चार भेद किये हैं। यथा—'**अभावश्चतुर्विधः—प्रागभावः प्रध्वंसाभावोत्यंताभावोऽन्योन्याभावश्चेति**" ॥

[तर्क संग्रह]

अभाव के चार भेद हैं प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

नैयायिक लोग अभाव के चार भेद करके भी उन्हें सर्वथा तुच्छाभाव रूप कहते हैं।

सांख्य इन अभावों को सर्वथा भावरूप ही सिद्ध करते हैं।

— किंतु जैनाचार्यों ने इन भावैकांतवादी सांख्य का खंडन करके एवं नैयायिक के तुच्छाभाव का भी निषेध करके चारों अभावों को भावांतर रूप स्वीकार किया है। अभाव के चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यंताभाव।

अवैदिक दर्शन में—जैन, बौद्ध और चार्वाक माने जाते हैं। वेद परम्परा के पोषक वैदिक एवं वैदिक परंपरा से भिन्न दर्शनों को अवैदिक दर्शन कहते हैं।

न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त इन छह दर्शनों को आस्तिक एवं जैन, चार्वाक तथा बौद्ध दर्शनों को नास्तिक कहा जाता है। यहां वेदों को मानने वालों को आस्तिक एवं वेदों को न मानने वालों को नास्तिक कहा है किंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रायः प्राणियों को जन्मान्तर रूप परलोक स्वर्ग, नरक तथा मुक्ति को न मानने वालों को नास्तिक कहा जाता है, इससे जैन और बौद्ध दोनों अवैदिक दर्शन नास्तिक न होकर आस्तिक हो जाते क्योंकि है ये दोनों दर्शन परलोक, स्वर्ग आदि को स्वीकार करते हैं। यदि जगत् के कर्ता अनादि निधन ईश्वर को मानने में आस्तिकता है, तब तो सांख्य मीमांसक भी ईश्वर की सृष्टि का कर्ता न मानने से नास्तिक बन जावेंगे क्योंकि ये दोनों ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नही मानते है। तात्पर्य यह है कि जैन नास्तिक नहीं है परलोक स्वर्ग, नरक, मुक्ति आदि मानते हैं ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न मान कर भी निरीश्वरादि नही है क्योंकि अनन्त ईश्वरों-सर्वज्ञों को स्वीकार करते हैं।

अब यहां भारतीय दर्शनों की संक्षिप्त मान्यता दिखाकर उनकी समीक्षा करना है। इनमें सबसे पहले चार्वाक दर्शन को स्पष्ट करेंगे।

चार्वाक मत

चार्वाक—**ननु अनाद्यनंतरूप इति विशेषणमात्मनः कथं योयुज्यते। कायाकारपरिणतियोग्येभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यं जायते। जलबुदबुदवदनित्या जीवा इत्यभिधानात्। न केषामपि मते जीवस्यानानन्त्यनन्त-त्वग्राहकं प्रमाणं जाघटयते।** [विश्व त. प्र. १]

आत्मा का अनादि अनन्त विशेषण कैसे बन सकता है? शरीर के आकार को प्राप्त हुये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन भूत चतुष्टयो से ही चैतन्य उत्पन्न होता है। जीव पानी के बुदबुद् के समान अनित्य है। जीव को अनादि अनन्त कहने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से केवल वर्तमान काल से संबंद्ध पदार्थों का ही ज्ञान होता है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण जीव को अनादि अनन्त सिद्ध नहीं कर सकता। जन्म समय के पहले माता-पिता का चैतन्य होता ही है यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः उससे भिन्न अन्य चैतन्य की कल्पना करना व्यर्थ है। इत्यादि

ये चार्वाक काम और अर्थ इन दो ही पुरुषार्थों को मानते हैं एवं स्वर्गादि पारलौकिक सुख का निराकरण कर देते हैं अतएव चार्वाक का 'लोकायत' यह दूसरा नाम अन्वर्थ है क्योंकि ये लोक प्रसिद्ध के अतिरिक्त अन्य कुछ भी पदार्थ नहीं मानते हैं।

"अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ॥१॥
देहः स्थौल्यादियोगाच्च सः एवात्मा न चापरः ।
मम देहोयमित्युक्तिः संभवेद्योपचारिकी ॥२॥

[सर्वद. पृ. ५]

अर्थ—चार्वाक के यहां पृथ्वी, जल, अग्नि वायु ये चार तत्त्व हैं। किण्वादिमादक द्रव्य के समुदाय से उत्पन्न मदशक्ति के समान इन्हीं तत्त्वों से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। मैं 'स्थूल हूं, कृश हूं, इत्यादि से देह और जीव में समान अधिकरण होने से शरीर ही आत्मा है 'मेरा देह' इत्यादि व्यवहार उपचार मात्र से होता है। सक्षेपतः इस मत का सिद्धान्त है कि कण्टक आदि से उत्पन्न हुआ दुःख ही नरक है, लोक प्रसिद्ध राजा ही ईश्वर है, मरण ही मुक्ति है।

ये चार्वाक जडवादी हैं, इनके यहां प्रत्यक्ष एक ही मात्र प्रमाण है, अनुमान शब्द आदि जितने अप्रत्यक्ष प्रमाण हैं वे सभी भ्रममूलक हैं। अतः प्रत्यक्ष से ज्ञात वस्तुओं के अतिरिक्त किसी भी वस्तु के अस्तित्व को नही माना जा सकता है। यह जड़ जगत् चार भौतिक तत्त्वों से बना हुआ है इन पृथ्वी आदि तत्त्वों का ज्ञान हमें इन्द्रियों से प्राप्त होता है।

'एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में नये-नये गुणों की उत्पत्ति हो सकती है। यद्यपि लाल रंग न तो पान में है, न सुपारी में, न चूने में है, फिर भी उनको एक साथ चबाने से लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है। गुड में मादक गुण नहीं है फिर भी सड़ जाने से उसमें मादकता आ जाती है। इसी तरह भौतिक तत्त्वों का जब विशेष ढंग से मिश्रण होता है तब जीव और शरीर का निर्वाण होता है, और उसमें चैतन्य का संचार हो जाता है। शरीर के नष्ट हो जाने के बाद चैतन्य भी नष्ट हो जाता हैं। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है, अतः मृत्यु के बाद कर्मों के फल भोग की कोई सम्भावना नहीं है"। [भारतीयद. पृ. १६]

'चारु-सुन्दर वाक्—बातों को अर्थात् लोगों को प्रिय लगने वाली बातों को कहने के कारण, अथवा आत्मा, परलोक आदि को चर्वण-भक्षण कर जाने के कारण इनका 'चार्वाक' नाम सार्थक है। चार्वाक दर्शन के संस्थापक वृहस्पति गुरु हैं अतः इस दर्शन का नाम बार्हस्पत्य दर्शन भी है।

चार्वाक का इष्ट कथन—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥"

[सर्व दर्शन सग्रह]

मृत्यु से कोई नहीं बच सकते अतः जब तक जीवो सुख से जीवो, भस्मीभूत हुये शरीर की पुनः उत्पत्ति कैसे हो सकती है।

विचित्रता यह है कि यह चार्वाक जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति मानकर आत्मा, ईश्वर और परलोक सबको समाप्त कर देता है।

उपसंहार—चार्वाक आत्मा को अनादि अनन्त एवं अजीव से भिन्न जीव नाम का द्रव्य नहीं मानते है किंतु वास्तव में जाति स्मरण, संस्कार व्यंतर आदि के निमित्तों से पुनर्जन्म सिद्ध है। ये एक प्रत्यक्ष ही मानते हैं किंतु अनुमान के बिना परलोकादि का निषेध और पर में ज्ञान आदि के अस्तित्व को कहना भी असंभव है। ये जड़ पृथ्वी आदि से चैतन्य की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं यह तो सर्वथा असंभव है। पूर्वजन्म के मनुष्य गति आयु आदि कर्म के निमित्त से जीव माता पिता आदि निमित्तों से जन्म लेता है। अचेतन चेतन की उत्पत्ति मानना सर्वथा गलत है अतः शुभ कार्यों से अपनी आत्मा को नरकादि से बचाकर सुखी बनाने का प्रयत्न करो।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है 'सर्व क्षणिकं सत्वात्' सभी पदार्थ क्षणिक हैं क्योकि सत्रूप हैं।

"बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभंगुरम्।
आर्य्यसत्त्वाख्यया तवचतुष्टयमिदं क्रमात्॥
दुःखमायतन चैव ततः समुदयो मतः।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः॥
दुःखं संसारिणः स्कंधास्ते च पंच प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारोरूपमेव च॥
पंचेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पंच मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि तु॥" [सर्वद० पृ० ४६]

अर्थ—बौद्धो के भगवान् बुद्ध हैं। ससार क्षणिक है। दुःख समुदय, तन्निरोध और मार्ग ये सूत्रोक्त चार ही तत्त्व है। विज्ञान, वेदना, सज्ञा, सस्कार और रूप ये पाच स्कंध सासारिक दुःख है। शब्द, स्पर्श रूप, रस, और गध ये पाच विषय हैं। ये पाँच विषय, पांचज्ञानेद्रिय, मन और बुद्धि ये द्वादश-आयतन हैं। इत्यादि।

"माध्यमिक योगाचार सौत्रान्तिकवैभाषिक संज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धाः यथाक्रमं सर्वशून्यत्वबाह्यशून्यत्वबाह्यार्थानुमेयत्वबाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठंते।" [सर्वद० पृ० १६]

माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक के भेद से बौद्धों के चार भेद हैं। माध्यमिक बाह्य अभ्यन्तर समस्त वस्तु को शून्य मानते हैं। योगाचार बाह्य वस्तु का अभाव मानते हैं। सौत्रान्तिक बाह्य वस्तु को अनुमान ज्ञान का विषय मानते हैं। एवं वैभाषिक लोग बाह्य वस्तु को प्रत्यक्ष कहते हैं।

"दुःखसमुदयनिरोधमार्गणा इति चत्वारः पदार्था एव मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्याः" ।

[विश्वत० प्र० पृ० ३०२]

बौद्धों का कथन है कि दुःख, समुदय, निरोध तथा मार्ग ये चार (आर्य सत्य) पदार्थ ही मोक्ष के लिये जानने योग्य हैं। शारीरिक, मानसिक, आगंतुक और सहज से उत्पन्न हुये 'दुःख' कहलाते हैं। इन दुःखों के उत्पादक तथा कर्मबंध के कारण दो हैं अविद्या, तृष्णा, इन्हें ही 'समुदय' कहा है। अविद्या और तृष्णा के नाश से निरास्रव चित्त उत्पन्न होना, या चित्त के संतान का उच्छेद होना 'निरोध' है इसे ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष मार्ग के आठ अंग हैं। सम्यक्त्व आदि जिनके नाम हैं।

चार आर्य सत्य – (१) सांसारिक जीवन दुःखों से परिपूर्ण है। (२) दुःखों का कारण है। (३) दुःखों का अन्तसम्भव है। (४) दुःखों के अन्त का उपाय है। इन्हें क्रमशः दुःख, दुःखसमुदय, दुःख-निरोध तथा दुःखनिरोध मार्ग कहते हैं। [भारतीय द० पृ० ७७]

बौद्धों के यहां 'त्रिपिटक' ग्रन्थ हैं—

त्रिपिटकों के अन्तर्गत विनयपिटक, सुत्तपिटक तथा अभिधम्मपिटक हैं। प्रत्येक पिटक में अनेक ग्रंथ है इसलिये 'पिटक' (पेटी) नाम पड़ा। विनयपिटक में संघ के नियमों का, सुत्त-पिटक में बुद्ध के वार्तालाप और उपदेशों का, तथा अभिधम्म पिटक में दार्शनिक विचारों का संग्रह हुआ है। इन पिटकों में केवल प्राचीन बौद्ध धर्म का वर्णन मिलता है। इनकी भाषा पालि है। [भारतीय द० पृ० ७५]

बौद्धों के कुछ प्रमुख सिद्धान्त ये हैं—अनात्मवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणभगवाद, विज्ञानवाद, शून्य-वाद, अन्यापोह आदि। बौद्ध दर्शन में आत्मा का स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कंधों के समुदाय को ही आत्मा माना गया है।

बौद्धों के प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। ये स्मृति, तर्क आदि को प्रमाण नहीं मानते हैं।

प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसवेदन प्रत्यक्ष, और योगि प्रत्यक्ष।

स्पर्शन आदि पाच इद्रियों से उत्पन्न हुआ ज्ञान इद्रिय प्रत्यक्ष है।

मन से उत्पन्न हुआ ज्ञान मानस प्रत्यक्ष है।

सब चित्त और चैत्तों का जो आत्म संवेदन है वह स्वसवेदन प्रत्यक्ष है। [न्यायबिन्दु]

दुःख, समुदय आदि चार आर्य सत्यों की भावना करते-करते एक समय ऐसा आता है जब भावना अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाती है और तब भाव्यमान अर्थ का साक्षात्कारी ज्ञान उत्पन्न होता है, वही योगि प्रत्यक्ष है।

इनके यहां ये चारों प्रत्यक्ष निर्विकल्प (अनिश्चायक) हैं यह प्रत्यक्ष ज्ञान क्षणिक स्वलक्षण मात्र को (एक समय की पर्याय को) ही जानता है।

अनुमान प्रमाण भ्रान्त है क्योंकि वह सामान्य पदार्थ को विषय करता है।

अनुमान का लक्षण

पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूप वाले लिंग-हेतु से होने वाला साध्य का ज्ञान अनुमान कहलाता है। वह अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थ और परार्थ।

हेतु के तीन भेद हैं—अनुपलब्धि हेतु, स्वभाव हेतु और कार्यहेतु।

अनुपलब्धि के ४ भेद हैं—विरुद्धोपलब्धि, विरुद्धकार्योपलब्धि, कारणानुपलब्धि और स्वभावानुपलब्धि।

विरुद्धोपलब्धि—यहां शीत स्पर्श नहीं है, क्योंकि शीतस्पर्श की विरोधी अग्नि मौजूद है।

विरुद्धकार्योपलब्धि—यहां शीत स्पर्श नही है, क्योंकि शीतस्पर्श के विरोधी अग्नि का कार्य धूम उपलब्ध हो रहा है।

कारणानुपलब्धि—यहां धूम नहीं है, क्योकि यहां धूम का कारण अग्नि नहीं पाई जाती।

स्वभावानुपलब्धि—यहां धूम नहीं है क्योंकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है। अन्यत्र अनुपलब्धि के सात भेद भी माने हैं।

स्वभावहेतु—'यह वृक्ष है, क्योंकि शिशपा है।'

कार्यहेतु—'यहां अग्नि है, क्योंकि धूम का सद्भाव है।' [षट्दर्शन पृ० ६७]

सौत्रान्तिक और वैभाषिकों के अनुसार अर्थ दो प्रकार का है—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। इनमें से स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्यलक्षण अनुमान का विषय है। प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के तत्त्व होते हैं। एक असाधारण, दूसरा साधारण। 'स्वमसाधारणलक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणं'। [न्यायबिन्दु]

वस्तु का जो असाधारण तत्त्व है वही स्वलक्षण है इसे ही विशेष कहते हैं। 'अन्यत् सामान्यलक्षणं' जो स्वलक्षण से भिन्न है वह सामान्य लक्षण है। [न्यायबिन्दु]

प्रत्येक गो में गो स्वलक्षण है, और अनेक गायों में जो गोत्व रूप एक सामान्य की प्रतीति होती है वह सामान्य लक्षण है।

बौद्धों के यहां विनाश को पदार्थ का स्वभाव माना गया है, वे कहते हैं कि मुद्गर की चोट से घट फूटा तो घट के विनाश में मुद्गर कारण नहीं है विनाश स्वय स्वभाव से हुआ है। हां! कपाल की उत्पत्ति में मुद्गर कारण अवश्य है।

इनकी एक मान्यता और भी बड़ी विचित्र है कि शब्द अपने अर्थ को न कहकर 'अन्यापोह' को कहते हैं जैसे—आपने 'गो' शब्द कहा, तो इसका अर्थ होता है अश्व का अभाव, ऊंट का अभाव इत्यादि गो से भिन्न पदार्थों का अभाव ही अर्थ होता है, न कि गो शब्द का अर्थ गाय वाचक कोई पशु। ऐसे ही ये बौद्ध पदार्थों से ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर उसका आकार धारण करता है और उसे ही जानता है।

उनके यहाँ एक 'संवृति सत्य' भी मजेदार है जो कि हरएक बातों को कल्पित कह देता है।

माध्यमिक लोग बाह्य और अभ्यन्तर चेतन-अचेतन सभी को अभाव कहकर जगत् को शून्य रूप सिद्ध करते हैं इसलिए ये शून्याद्वैतवादी हैं।

योगाचार—विज्ञान को ही तत्त्व मानते हैं अन्य कुछ भी बाह्य पदार्थ नहीं मानते हैं। अतः ये विज्ञानाद्वैतवादी हैं। ये दोनों ही अनेकों पदार्थों के सद्‌भाव को संवृति—कल्पना रूप कहते हैं।

अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में स्थल-स्थल पर इन बौद्धोंकी मान्यताओं का निराकरण किया गया है।

उपसंहार—बौद्धों ने सभी पदार्थों को क्षणिक कहा है, यह कथन असंभव है। हां पदार्थों की अर्थ पर्याय प्रतिक्षण नष्ट होती है, किन्तु व्यंजन पर्याय बहुत काल तक भी स्थाई रहती है। देखो सुमेरु पर्वत आदि अनादि निधन हैं, उनमें अर्थपर्याय का परिणमन प्रतिसमय चल रहा है, किन्तु व्यंजनपर्याय और ध्रौव्य की अपेक्षा हम उसे नित्य कहते हैं। ऐसे ही आत्मा आदि कथंचित् द्रव्यदृष्टि से नित्य है। इन्होंने विज्ञान आदि स्कधों को सांसारिक दुःखरूप सिद्ध किया है, परन्तु विज्ञान कभी दुःखरूप नहीं होता कुज्ञान अवश्य दुःखरूप हैं। कोई विज्ञानाद्वैतवादी लोग सर्वथा ज्ञान मात्र ही जगत सिद्ध करते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष में ज्ञान और जड़रूप दो तत्त्वगोचर हो रहे हैं। स्मृति आदि को प्रमाण माने बिना भी प्रातः घर से निकलकर वापस वही आना अशक्य होगा। हेतु के तीन रूप का भी पहले खण्डन किया गया है। इनके यहां शब्द का अन्यापोह अर्थ तो बहुत ही हास्यास्पद है।

विनाश को अहेतुक कहना भी प्रत्यक्ष बाधित है एवं वस्तु के स्वलक्षण को इन्द्रिय प्रत्यक्ष ग्रहण नहीं कर सकता है। अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय भी व्यंजन पर्याये ही हैं। सिर्फ दो प्रमाण से एवं आगम प्रमाण अप्रमाणिक होने से बौद्धों का क्षणिक सिद्धांत भी किस पर निर्भर रहेगा। अतः कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य रूप अनेकान्त शासन ही जयशील होता है।

सांख्य मत

सांख्या निरीश्वराः केचित् केचित् ईश्वरदेवताः।
सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पंचविंशतिः॥ [षड् द० पृ० १४२]

कुछ सांख्य ईश्वर को नही मानकर केवल अध्यात्मवादी हैं। कुछ सांख्य ईश्वर को ही देवता मानते हैं। सभी सेश्वर तथा निरीश्वर सांख्य साधारण रूप पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार करते हैं।

सांख्य के मत में सत्त्व रज और तम ये तीन गुण है। प्रसाद, ताप तथा दीनता आदि कार्यों से क्रमशः उनका अनुमान होता है। एक दूसरे का उपकार करने वाले परस्पर सापेक्ष इन सत्त्वादि तीन गुणों से समस्त जगत् व्याप्त है। इन सत्त्वादि गुणों की समस्थिति ही प्रकृति कही जाती है। प्रकृति और आत्मा के संयोग से ही सृष्टि उत्पन्न होती है।

"संक्षेपेण हि सांख्यशास्त्रस्य चतस्रो विधाः संभाव्यंते। कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव कश्चिद् विकृतिरेव, कश्चित् विकृतिः प्रकृतिश्च, कश्चिदनुभय इति" [सर्व द० पृ० २५६]

संक्षेप से सांख्यशास्त्र में पदार्थ के चार क्रम हैं। कोई पदार्थ केवल प्रकृति ही हैं, कोई केवल विकृति रूप हैं, कोई प्रकृति विकृति रूप एवं कोई प्रकृति विकृति से भिन्न अनुभय रूप हैं।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ [सांख्य का० ३]

अर्थ—इनमें प्रकृति किसी का विकार-कार्य नहीं है अतः मूल प्रकृति विकृति रहित है। महान् अहंकार और पांच तन्मात्रायें ये सात प्रकृति और विकृति दोनों रूप हैं—अर्थात् कारण-कार्य रूप हैं। षोडश-गणमात्र विकृति रूप हो हैं क्योंकि वे कार्य हैं। पुरुष तो न किसी को उत्पन्न करता है, न किसी से उत्पन्न होता है अतः कारण कार्य रूप न होने से प्रकृति विकृति से रहित है।

सांख्य के २५ तत्त्व

प्रकृति से महान् (बुद्धि) उत्पन्न होती है, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से सोलहगण उत्पन्न होते हैं।

षोडशगण—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच बुद्धीन्द्रियाँ, पायु, उपस्थ, वाणी, हस्त, पाद ये पांच कर्मेन्द्रिय तथा मन ये ग्यारह इन्द्रियां तथा रुप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द ये पांच तन्मात्राये मिलकर सोलह गण कहलाते हैं। पांच तन्मात्राओं से पांच भूतों की उत्पत्ति होती है, यथा—रूप से अग्नि, रस से जल, गन्ध से पृथ्वी, शब्द से आकाश और स्पर्श से वायु उत्पन्न होते है।

इस प्रकार से सांख्य मत में प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वरूप में परिणत होने वाला प्रधान तत्त्व है। स्वयं प्रकृति, महान्, अहंकार ये तीन, सोलह गण, और पांच भूत मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं। इनसे भिन्न पच्चीसवां पुरुषतत्त्व है जो अकर्ता, निर्गुण, भोक्ता, नित्य और चैतन्य स्वरूप है।

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।

अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कापिलदर्शने॥

अर्थ—आत्मा अमूर्त, चेतना, भोक्ता, नित्य, सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म है ऐसा सांख्यमत में कहा है।

सांख्य के यहां मोक्ष—प्रकृति के वियोग का नाम मोक्ष है, वह प्रकृति तथा पुरुष में विज्ञान रूप तत्त्वज्ञान से होता है।

सांख्यमत में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं।

सांख्य के प्रमाण का लक्षण—

"अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणं" अर्थोपलब्धि में जो साधकतम कारण है वह प्रमाण है। उसमें निर्विकल्प श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट के भेद से अनुमान के तीन भेद हैं।

आप्त और वेदों के वचन आगम प्रमाण हैं इनके यहां 'पतञ्जलि' सेश्वरसांख्य शास्त्र के प्रवर्तक माने गये हैं। इनके यहां छब्बीसवां तत्त्व 'ईश्वर' है।

"प्रकृति इस संसार का आदि कारण है, यह एक नित्य तथा जड़ वस्तु है, सर्वदा परिवर्तनशील है। सत्त्व, रज, तम ये प्रकृति के तीन गुण या उपादान हैं, सृष्टि के पहले ये तीन गुण साम्यावस्था में रहते हैं, ये संसार के विषय सुख, दुःख या मोहजनक हैं, सुख दुःख या विषाद होने के कारण हम इन तीन गुणों का अनुमान करते हैं······पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। पुरुष न तो किसी का कारण है न कार्य है, वह निरपेक्ष तथा नित्य है।" [भारतीय द० पृ० २७]

इनके यहां चित्त वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। सेश्वर सांख्य ने ईश्वर की सत्ता मानकर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-योगसे आठ अंगों का प्रतिपादन किया है।

इनके यहां प्रधान के दो भेद हैं—अव्यक्त और व्यक्त अव्यक्त। प्रधान कारण है और व्यक्त प्रधान कार्य है। इनमें व्यक्त प्रधान हेतुमान्, अव्यापि, सक्रिय, अनेक, अश्रित, लिंग, सावयव और परतन्त्र है। लेकिन अव्यक्त इनसे विपरीत अहेतुमान् एक इत्यादि रुप है। ये दोनों ही प्रधान त्रिगुणात्मक है—सत्त्व, रज, तम, रुप हैं। अविवेकी, विषय सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी हैं। परन्तु पुरुष में त्रिगुण आदि नही हैं। प्रधान से उत्पन्न हुआ सारा जगत् प्रधान रूप है।

सांख्य किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति और नाश नहीं मानते हैं। किन्तु आविर्भाव और तिरोभाव मानते हैं, ये कूटस्थ, अपरिणामी नित्य एकांत को स्वीकार करते हैं।

इनके यहां सत्कार्यवाद की मान्यता बड़ी ही विचित्र है। इनका कहना है कि कारण में कार्य सदैव विद्यमान रहता है कारणों से उत्पन्न नही होता है। कार्य कारणों से अभिव्यक्त–प्रगट होता है। मिट्टी में घट विद्यमान है कुभार, दण्ड, चक्र आदि निमित्तों से प्रगट हो गया है आदि। नित्यैकांत की ये सब बातें प्रत्यक्षविरुद्ध हैं।

सांख्यों के यहां ज्ञान पुरुष का गुण न होकर अचेतन प्रकृति का परिणाम है। मोक्ष में प्रकृति का संयोग समाप्त होते ही ज्ञान का भी अभाव हो जाता है।

उपसहार—सांख्य ने अचेतन को सृष्टि कर्त्री माना है यह सर्वथा असम्भव है। आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने से उसमें रागादि परिणाम न होने पर जड़कर्मों का बंध असम्भव है एव ज्ञान और सुख आत्मा के स्वभाव हैं न कि जड़प्रकृति के। इसलिये सांख्य के २५ तत्त्वों की मान्यता बिल्कुल असंगत है। आत्मा को निर्गुण, निष्क्रिय, अकर्ता मानना नितांत भूल है। प्रकृति के अपराध से आत्मा संसार में दुःख उठावे यह बात तो स्वयं उनके कूटस्थ नित्य मत का निराकरण कर देती है। इनके द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व का भी कथन विरुद्ध है क्योंकि ये ज्ञानमात्र से मोक्ष मानते हैं क्या आज तक कोई औषधि के जानने मात्र से स्वस्थ हुये हैं। इनका सत्कार्यवाद भी बड़ा विचित्र है मिट्टी में मदा घट को विद्यमान कहना और कुंभार आदि से उसकी प्रकटता मानता बिल्कुल गलत है। हां! शक्तिरूप से मिट्टी में घट को हम जैन भी मान लेते हैं। जैसे कि संसारी आत्मा में परमात्मा शक्ति रूप से है। इनके प्रमाण और प्रमेय दोनों की व्यवस्था भी अघटित है। ये सर्वथा नित्य एकातवादी हैं यदि कथंचित् आत्मा को कर्ता, भोक्ता मान लें तो बहुत ही अच्छा हो जावे। तब तो स्याद्वाद शासन ही उन्हें श्रेयस्कर हो जावे।

नैयायिक दर्शन

नैयायिक मत के प्रस्थापक गौतम मुनि हैं। इस न्याय दर्शन का दूसरा नाम अक्षपाद दर्शन है।

"प्रमाणप्रमेयेत्यादितत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" यह न्याय शास्त्र का प्रथम सूत्र है। प्रमाण प्रमेय इत्यादि तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

"तच्चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्। प्रमेयं द्वादशप्रकारं, आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः-प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदात्"। [सर्व दर्शन सं० पृ० २०१]

प्रमाण के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम।

प्रमेय के बारह भेद हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग।

नैयायिक के मत में सोलह तत्त्व हैं—१प्रमाण, २ प्रमेय, ३ संशय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टात, ६ सिद्धांत, ७ अवयव, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० वाद, ११ जल्प, १२ वितण्डा, १३ हेत्वाभास, १४ छल, १५ जाति, १६ निग्रहस्थान। इन्हें पदार्थ भी कहते हैं। [षट्दर्शन पृ० ८२]

प्रमाण के १६ भेद, प्रमेय के १२, सशय के ३, प्रयोजन के २, दृष्टान्त के २, सिद्धान्त के ४, अवयव के ५, तर्क के ११, निर्णय के ४, वाद का १, जल्प का १, वितण्डा का १, हेत्वाभास के ५, छल के ३, जाति के २४, एवं निग्रह स्थान के २२ भेद हैं। इनके नाम और लक्षण सर्वदर्शन संग्रह और षड्दर्शन समुच्चय ग्रन्थों से देखना चाहिये। [सर्व द० पृ० २०१ से २०४]

अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृत् शिवः।
विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः ॥१३॥ [षड् द० पृ० ७८]

नैयायिक मत में जगत् की सृष्टि तथा संहार को करने वाला, व्यापक, नित्य, एक, सर्वज्ञ, नित्य ज्ञानशाली, शिव देवता हैं।

अक्षपाद नाम के आदिगुरु ने नैयायिक मत के मूल सूत्रों की रचना की है इसलिये नैयायिक अक्षपाद कहलाते है।

नैयायिक ने अनुमान के पांच अवयव माने हैं, प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन। हेतु के पांच अवयव माने हैं—पक्षधर्मत्व आदि।

अनुमान के तीन भेद माने है—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी।

इनके यहां—"जिसके द्वारा प्रमिति-उपलब्धि या ज्ञान उत्पन्न किया जाता है उस ज्ञान के जनक कारण को 'प्रमाण' कहते हैं। एवं अक्षपाद ने स्वयं न्यायसूत्र में कहा है कि—"इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से होने वाला अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि तथा व्यवसायात्मक ज्ञान 'प्रत्यक्ष' है।"

वैशेषिक दर्शन

न्याय और वैशेषिक इन दोनों दर्शनों का 'यौग' नाम से उल्लेख किया गया है। कुछ बातों को

छोड़कर न्याय और वैशेषिक में समानता पाई जाती है। शिवादित्य (११ शताब्दी) के 'सप्तपदार्थों' में उक्त दोनों का समन्वय किया गया है। मालूम पड़ता है कि दोनों के योग—जोड़ी को 'यौग' नाम दे दिया गया है। न्याय सूत्र के रचयिता गौतम ऋषि हैं जैसा कि ऊपर कह आये हैं। वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार महर्षि 'कणाद' हैं। विशेष नामक पदार्थ की विशिष्ट कल्पना से इस दर्शन का वैशेषिक नाम हुआ है। ऐसा माना जाता है। वैशेषिक ने सात पदार्थ माने हैं—"द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः"।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ हैं।

इनमें से द्रव्य के नव भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।

गुण चौबीस हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार।

कर्म के पांच भेद हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन।

सामान्य के दो भेद हैं—परसामान्य, अपरसामान्य। विशेष केवल नित्य द्रव्यों में रहता है और वह अनंत है।

पूर्वोक्त नव द्रव्य और परमाणु नित्य द्रव्य हैं।

'समवायस्त्वेक एव' समवाय एक ही है।

अभाव के चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, और अत्यंताभाव। [तर्क सं०]

आत्म द्रव्य का लक्षण और भेद—

'ज्ञानाधिकरणमात्मा' स द्विविधः—जीवात्मा परमात्मा चेति, तत्रेश्वरः सर्वज्ञः, परमात्मा एक एव। जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।

जिस द्रव्य में समवाय से ज्ञान रहता है वही आत्मा है क्योंकि आत्मा में ज्ञान समवाय सम्बन्ध से रहता है। आत्मा के दो भेद है—जीवात्मा, परमात्मा। परमात्मा ईश्वर, सर्वज्ञ और एक है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है, व्यापक और नित्य है। [तर्क संग्रह]

वैशेषिक के यहां द्रव्य गुण आदि परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं। समवाय सम्बन्ध से रहते हैं।

ये लोग शब्द को आकाश का गुण मानते हैं।

नैयायिक और वैशेषिक दोनों ही ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं—'पृथ्वी पर्वत आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं।' इस अनुमान के द्वारा ये लोग बुद्धिमान् ईश्वर को सृष्टिकर्ता सिद्ध करते हैं।

इन्होंने कारण को तीन प्रकार से माना है—

'कारणं त्रिविधं-समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्'।

कारण तीन प्रकार के हैं—समवायिकारण, असमवायिकारण, और निमित्तकारण।

जिस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो वह समवायिकारण होता है। जैसे—तन्तुओं में पट समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता है अतः तंतु पट के समवायिकारण हैं। समवायिकारण द्रव्य ही होता है (जिसे जैन उपादान कारण कहते हैं)। तन्तु का संयोग पट का असमवायिकारण है। असमवायिकारण संयोग रूप गुण ही होता है।

जो इन दोनों कारणों से भिन्न है वह निमित्तकारण है जैसे—तुरी, वेम, शलाका आदि वस्त्र के निमित्तकारण हैं। यहां ईश्वर भी पृथ्वी आदि सृष्टि को बनाने में निमित्तकारण है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण

'इंद्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं तद् द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति'।

जो ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष-सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है उसके दो भेद हैं—निर्विकल्प और सविकल्प।

सन्निकर्ष के ६ भेद

"प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः—संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति"।

जो इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष सम्बन्ध है वही प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण है उस सन्निकर्ष के ६ भेद हैं—

संयोग—नेत्र से जो घट पट आदि का प्रत्यक्ष होता है वह संयोग है।

घट पट आदि के रूप का नेत्रों से ज्ञान है–वह 'संयुक्तसमवाय' है।

घट के रूप में जो रूपत्व है उसका नत्रों से प्रत्यक्षज्ञान 'संयुक्तसमवेतसमवाय' है।

कर्ण इंद्रिय से शब्द के प्रत्यक्ष में 'समवाय' सन्निकर्ष है।

श्रोत्र से शब्दत्व का साक्षात्कार करने में 'समवेतसमवाय' सन्निकर्ष है।

एवं अभाव को—घटाभाव, पटाभाव आदि को इन्द्रियों से प्रत्यक्ष करने में 'विशेषण विशेष्यभाव' सन्निकर्ष होता है। [तर्क संग्रह]

वैशेषिक ने बुद्धि सुख दुःख आदि आत्मा के नव विशेष गुणों के विनाश को मुक्ति माना है।

इन वैशेषिक, नैयायिकों ने ज्ञान को अस्वसंविदित माना है।

एवं धारावाहिकज्ञान को भी प्रमाण माना है। तथा पदार्थ और आलोक को ज्ञान का कारण माना है। समवाय की कल्पना तो इनके यहां बहुत ही विचित्र है।

"य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम्।
संबंध इह प्रत्ययहेतुः स हि भवति समवायः॥" [षड् द० पृ० ४२४]

अर्थ—अयुतसिद्ध और आधार आधेयभूत पदार्थों का 'यह इसमें है' इस इहेदं प्रत्यक्ष में कारणभूत

सम्बन्ध समवाय कहलाता है। एवं प्रागभाव आदि अभावों को इन लोगों ने सर्वथा तुच्छाभाव रूप सिद्ध किया है।

वैशेषिक ने नैयायिक के समान चार प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं। 'सर्वदर्शनसग्रह' में इस वैशेषिक दर्शन को 'औलुक्य' दर्शन कहा है।

उपसंहार—नैयायिक और वैशेषिक का बहुत से विषयों में एक मत है पदार्थ गणना, प्रमाणसंख्या आदि में ही अंतर है। दोनों ही ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं किन्तु आगे ईश्वर परीक्षा में इसका अच्छा समाधान किया जायेगा। वास्तव में कृतकृत्य ईश्वर विश्व की रचना में राग द्वेष के बिना कैसे प्रवृत्त होगा? रागद्वेष सहित होने से सर्वज्ञ, हितोपदेशी और इष्टदेव कैसे कहलायेगा? अतः सर्वज्ञ सृष्टि के ज्ञाता द्रष्टा हैं कर्ता नही है। इनके द्वारा मान्य पदार्थ, द्रव्य, गुण आदि की व्यवस्था भी ठीक नहीं है। समवाय सम्बन्ध तो सिद्ध नही हो सकता, हां! यदि उसे तादात्म्य सम्बन्ध कह दो तब तो ठीक होगा। मुक्ति में सुख ज्ञान आदि गुणों का नाश मानना, ज्ञान को अपने संवेदन से रहित मानना, द्रव्य से गुणों को भिन्न मानकर समवाय से उसमें स्थापित करना सर्वथा अशक्य है। इनका सन्निकर्ष प्रमाण भी अव्याप्त है मन और चक्षु से पदार्थ को छूकर ज्ञान नहीं होता है, प्रत्युत दूर से ही हो जाता है। एवं सन्निकर्ष को प्रमाण मानने से सर्वज्ञ की सिद्धि होना शक्य नही है क्योंकि भूत, भविष्यत् पदार्थों का सन्निकर्ष होगा नहीं, और सन्निकर्ष से विश्व का ज्ञान हुये बिना सर्वज्ञ होगा नहीं। आत्मा को व्यापक कहना, दिशा और मन को द्रव्य कहना बिल्कुल गलत है आत्मा शरीर प्रमाण है, मन आत्मा में ज्ञानावरण की नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम से होता है। अतः सर्वज्ञ को वीतराग एव निर्दोष मानना उचित है उनके तत्त्वों पर श्रद्धा करना ही सम्यक्त्व है।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा शब्द का अर्थ है किसी वस्तु स्वरूप का यथार्थ विवेचन। मीमांसा करने वालों को मीमांसक कहते हैं इसे ही जैमिनीय मत भी कहते है। मीमासा के दो भेद हैं—कर्ममीमांसा, ज्ञानमीमांसा। यज्ञ-विधि कर्मकाण्ड अनुष्ठान आदि का वर्णन कर्ममीमासा का विषय है, एवं जीव जगत् ईश्वर के स्वरूप सम्बन्ध आदि का निरूपण ज्ञानमीमांसा का विषय है। कर्ममीमांसा को पूर्वमीमांसा और ज्ञानमीमासा को उत्तर मीमांसा कहते हैं किन्तु वर्तमान में मीमाँसा शब्द का प्रयोग केवल कर्ममीमांसा के लिए है और ज्ञानमीमासा या उत्तरमीमासा को 'वेदान्त' शब्द से कहा जाता है।

महर्षि जैमिनि मीमांसादर्शन के सूत्रकार है। मीमांसकों में कुमारिलभट्ट के शिष्य भाट्टों ने छह प्रमाण माने हैं एवं प्रभाकर मिश्र के शिष्य प्राभाकरों ने अभाव के बिना पांच प्रमाण माने है। इस प्रकार से मीमांसादर्शन में भाट्ट और प्राभाकर ये दो संप्रदाय हो जाते हैं। सूत्रकारों ने मीमांसक, प्राभाकर और जैमिनीय इन तीनों नामों से इस दर्शन का उल्लेख किया है।

प्राभाकर की मान्यतानुसार पदार्थ आठ हैं—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या।

भाट्टों के अनुसार पदार्थ पांच हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव।

भाट्ट ग्यारह द्रव्य मानते हैं—वैशेषिक के नव द्रव्यों में अंधकार और शब्द ये दो द्रव्य मिलकर ग्यारह होते हैं।

प्राभाकर—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति ये पांच प्रमाण मानते हैं एवं भाट्ट अभाव सहित छह प्रमाण मानते हैं।

मीमांसकों ने ज्ञान को परोक्ष माना है। ज्ञान न तो स्वयं वेद्य है न ज्ञानान्तर से वेद्य है। अतएव वह परोक्ष है। मीमांसक कहते हैं कि कोई सर्वज्ञ या अतीन्द्रियदर्शी नहीं है।

"जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादिविशेषणः।
देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवेत् ॥६८॥
तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद् द्रष्टुरभावतः।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः ॥६९॥ [षड् द० पृ० ४३२]

जैमिनीय कहते हैं कि-सर्वज्ञत्व आदि विशेषण वाला कोई सर्वदर्शी देव नहीं है कि जिसके वचन प्रमाणीक माने जा सकें। इस तरह जब अतीन्द्रिय पदार्थों का कोई साक्षात्कार करने वाला ही नहीं है तब नित्य वेद वाक्यों से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का यथावत् ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं।

इनके यहां 'नहीं जाने गये अनधिगत पदार्थ को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है।'

'विद्यमान पदार्थों से इंद्रियों का सम्बन्ध होने पर जो आत्मा में बुद्धि उत्पन्न होती है वह प्रत्यक्ष, प्रमाण है।'

'लिंग से उत्पन्न होने वाले लैंगिक ज्ञान को अनुमान कहते है।'

नित्य वेद वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'आगम' है।

'सादृश्य ज्ञान को उपमान कहते हैं'।

'इष्ट पदार्थ की अनुपपत्ति के बल से किसी अदृष्ट अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं'। प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणों के निमित्त से अर्थापत्ति के भी छह भेद हो जाते हैं—प्रत्यक्षपूर्विकाअर्थापत्ति, अनुमान-पूर्विका अर्थापत्ति, उपमानपूर्विका अर्थापत्ति, आगमपूर्विका अर्थापत्ति, अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति, अभाव-पूर्विका अर्थापत्ति।

अभाव प्रमाण का लक्षण—

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता" ॥७६

वस्तु के सत्ता के ग्राहक प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण जिस वस्तु में प्रवृत्ति नहीं करते, उसमें अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाण जिस भूतल आदि आधार में घटादि रूप आधेय के ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त नहीं होते, उस घटादि आधेय से शून्य शुद्ध भूतल के ग्रहण करने के लिये अभाव की प्रमाणता है।

अभाव प्रमाण का विषय भूत अभाव पदार्थ वस्तुभूत है तथा वह चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव। [षड्दर्शन सं०]

मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। क्योंकि वेद मुख्य रूप से अतींद्रिय धर्म का प्रतिपादक है और अतींद्रिय दर्शी कोई पुरुष संभव नहीं है। इसलिये इन लोगों ने प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणों के द्वारा सर्वज्ञ की असिद्धि बतलाकर अभाव प्रमाण के द्वारा उसके अभाव को सिद्ध कर दिया है।

अत: इन मीमांसकों ने धर्म में वेद को ही प्रमाण माना है। एवं वेद के दोषों से मुक्त रखने के लिए ही अपौरुषेय माना है, और इसीलिए उन्हें शब्द मात्र को नित्य मानना पड़ा, क्योंकि यदि शब्द को अनित्य मानते तो शब्दात्मक वेद को भी अनित्य और पौरुषेय मानना पड़ता जो कि अभीष्ट नहीं है।

उपसंहार—मीमासक ने सर्वज्ञ का अभाव कर दिया है एवं वेद को अपौरुषेय मानकर शब्द को नित्य, एक, अमूर्त, सर्वव्यापी मानते है किंतु अनुमान एवं आगम से सर्वज्ञ का स्वभाव सिद्ध है, शास्त्र कथंचित् अर्थ की अपेक्षा अनादि अनन्त है फिर भी रचना की अपेक्षा सादि सांत है। शब्द वर्गणायें पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा नित्य-अनादि अनन्त होते हुये भी पर्याय की अपेक्षा अनित्य हैं, अनेक हैं मूर्तिक, अव्यापि हैं। इन मीमांसकों द्वारा मान्य प्रमाणों के लक्षण, पदार्थो के लक्षण गलत है। कही अभाव को प्रमाण कहा जा सकता है ? जैनो के मान्य प्रागभावो का लक्षण इनके द्वारा मान्य अभाव के लक्षणों को बाधित कर देता है। मीमांसकों के ज्ञान को परोक्ष कहा है, किंतु ज्ञान स्वयं का अनुभव स्वयं कर रहा है। इसलिए ज्ञान स्वसवेदन प्रत्यक्ष है। अत: मीमासा दर्शन की मीमांसा करने से इनका प्रमाण प्रमेय तत्त्व बाधित हो जाने से जैनसिद्धात ही अबाधित सिद्ध होता है।

वेदांत दर्शन

'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन।।

[छांदोग्योपनिषद् ३-१४-१]

यह सारा जगत् एक ब्रह्म स्वरूप ही है, यहां अन्य कुछ भी नहीं है, सब उसके प्रभाव को देखते हैं, उसे कोई नही देख सकता।

"ये तूत्तरमीमांसावादिनः ते वेदान्तिनो ब्रह्माद्वैतमेव मन्यंते।" उत्तर मीमांसावादी वेदांती मात्र अद्वैत ब्रह्म को मानते हैं, यह उनका मूल सिद्धान्त है कि **"सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म"** इत्यादि। इनके यहां

ध्यान करने के लिये "**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**" अरे भक्त ! तुम आत्मा को देखो, सुनो, मानो और ध्यान करो। [सर्वदर्शन० ११६] उनका यह कहना है कि एक ही ब्रह्म सभी प्राणियों के शरीर में भासमान होता है। यथा—"एक ही भूतात्मा, सिद्ध, ब्रह्म प्रत्येक प्राणियों में व्यवस्थित है वही एक रूप से तथा अनेक रूप से जल में चन्द्रमा की तरह चमचमाता है"।

[षड् दर्शन० ४३०]

उपनिषदों के सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित होने के कारण इस दर्शन का नाम वेदान्त (वेद का अन्त-उपनिषद्) प्रसिद्ध हुआ है। ब्रह्मसूत्र-वेदात सूत्र के रचियता महर्षि वादरायण व्यास हैं। शकर, रामानुज और मध्व ये ब्रह्म सूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार है। मीमासकों की तरह वेदाती भी छह प्रमाण मानते है। इनके मतानुसार 'ब्रह्म ही एक मात्र तत्त्व है' इस संसार में जो भी चेतन अचेतन पदार्थ दिखते है वे सब अविद्या से जनित है। एक ही तत्त्व स्वीकार करने से ये अद्वैत वादी, सत्ताद्वैतवादी भी कहलाते है। ये अपौरुषेय वेद के आधार से ही 'ब्रह्म' की सिद्धि करते है, उक्त श्रुति के समर्थन मे ये लोग प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की दुहाई भी देते है। फिर इन प्रमाणो को भी अविद्या का विलास कह देते है। अतः उनका मान्य तत्त्व ही अविद्या का विलास प्रतीत होता है।

उपसंहार—यदि अद्वैततत्त्व को आगम से माना जाता है तो आगम और ब्रह्म दो होने से द्वैत आ जाता है, यदि प्रत्यक्ष से कहो तो बाधा आती है, क्योकि एक को सुख अन्य को दुःख आदि विचित्रतायें दृष्टिगोचर हैं, अनुभव गोचर है। यदि एक ही ब्रह्म सबमे है तो सभी को एक साथ सुख-दुःख का अनुभव होना चाहिये, किंतु ऐसा तो है नही। बड़े आश्चर्य की बात है कि चेतनस्वरूप ब्रह्म से चेतन अचेतन रूप जगत् मान लिया जावे। क्या आप स्वयं चेतन ब्रह्म अचेतन बनना अच्छा समझेगा ? वास्तव में अस्तित्व रूप से सभी चेतन-अचेतन कथचित् एक रूप है। इसी का विपर्यास करके वेदांतवादियों ने सारे जगत् को ब्रह्म रूप से एकरूप मान लिया है किंतु यह मान्यता कथमपि शक्य नही है। किसी भी तरह से इस अद्वैत को सिद्ध करने में द्वैत आ ही जाता है। यदि सब द्वैत को अविद्या का विलास कहो, तब तो यह अद्वैत भी अविद्या का ही विलास सिद्ध होगा।

जैन दर्शन

यह जैन धर्म अनादि निधन धर्म है इसकी स्थापना किसी ने भी नही की है। स्याद्वाद, अहिंसा, अपरिग्रह, आदि इसके मौलिक सिद्धात है। जैन सिद्धांत में—सात तत्त्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य और पांच अस्तिकाय माने गये हैं। '**जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्**' इस सूत्र से जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन्हीं में पुण्य और पाप मिलाने से नव पदार्थ बन जाते हैं।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। इनमें काल को छोड़कर पांच अस्तिकाय कहलाते हैं। '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' इस सूत्र से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-

चारित्र की एकता ही मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। एवं संपूर्ण कर्मों से आत्मा का छूट जाना ही मोक्ष है।

सर्वज्ञ प्रणीत आगम ही सच्चे शास्त्र हैं, एवं घातिया कर्म मल से रहित शुद्ध हुई आत्मा ही अर्हत् सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी है। उन सर्वज्ञ के वचनों पर पूर्ण श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है।

'छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥५६॥ [गोम्मटसार जी.]

छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नव पदार्थ इनका जिनेंद्रदेव ने जिस प्रकार वर्णन किया है, उस ही प्रकार से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह दो प्रकार से होता है—एक तो केवल आज्ञा से, दूसरा अधिगम से।

जिनेंद्रदेव ने जो भी वस्तु तत्त्व का वर्णन किया है वह ठीक है क्योंकि 'जिनदेव असत्यवादी नहीं हो सकते' ऐसा केवल आज्ञा मात्र से श्रद्धान करना आज्ञा सम्यक्त्व है। तथा इन द्रव्यादिको का प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाण, नय आदि से निर्णय करके श्रद्धान करना अधिगम सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व होने के बाद जो यथार्थ ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है उसके भी प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भेद हो जाते है।

सम्यग्दर्शन और ज्ञान के बाद रागद्वेष को दूर करने के लिये जो चारित्र ग्रहण किया जाता है वह सम्यक्‌चारित्र है। इसके पंचमहाव्रत आदि रूप से सकल चारित्र और पंच अणुव्रत आदि रूप से विकल चारित्र ऐसे दो भेद होते हैं।

इस जैन सिद्धांत में सप्तभंगी, नय पद्धति आदि विशेष बातें बहुत ही उत्तम है वस्तु तत्त्व को ज्यों की त्यों समझाने वाली हैं। द्रव्यार्थिक नय से आत्मा आदि पदार्थ नित्य है किंतु पर्यायार्थिक नय से ये अनित्य भी है। इत्यादि रूप से वस्तु की व्यवस्था सुघटित सिद्ध है। यह अनेकांत शासन, आत्मा, सर्वज्ञ, परलोक, मोक्ष आदि की व्यवस्था करते हुये सदा जय शील हो रहा है।

सभी दार्शनिको के मुख्य-मुख्य सिद्धात

चार्वाक—भूतचैतन्यवाद, प्रत्यक्षैक-प्रमाणवाद ।

बौद्ध—निर्विकल्पप्रत्यक्षवाद, साकारज्ञानवाद, क्षणभंगवाद, चित्राद्वैतवाद, विज्ञानाद्वैतवाद, शून्यवाद, त्रैरूप्यहेतुवाद, अपोहवाद।

सांख्य—प्रकृतिकर्तृत्ववाद, अचेतनज्ञानवाद, इंद्रियवृत्तिवाद, सत्कार्यवाद, नित्यैकांतवाद।

नैयायिक वैशेषिक - षोड़शपदार्थवाद, सप्तपदार्थवाद, सन्निकर्षवाद, कारकसाकल्यवाद, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद, पांचरूप्यहेतुवाद, समवायवाद।

मीमांसक—वेद अपौरूषेयवाद, परोक्षज्ञानवाद, अभावप्रमाणवाद, शब्दनित्यत्ववाद।

वैयाकरण—शब्दाद्वैतवाद, स्फोटवाद।

वेदांती— ब्रह्मवाद, अविद्यावाद ।

इन सबके प्रमुख गुरू एव मतों के नाम

१ – **चार्वाक** को लौकायतिक भी कहते हैं इनके गुरू वृहस्पति हैं ।

२—**नैयायिक**—न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं ।

इन्हीं का नाम अक्षपाद भी है अतः इसे अक्षपाद दर्शन भी कहते है, इनका मूलग्रन्थ 'न्यायसूत्र' है। न्याय भाष्य के अनेको ग्रन्थ हैं ।

जैसे—वात्स्यायन का 'न्यायभाष्य' उद्योतकर का 'न्यायवार्तिक' वाचस्पति की 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका,' उदयन की 'न्याय वार्तिक तात्पर्य परिशुद्धि' तथा 'कुसुमाञ्जलि' जयन्त की 'न्याय मंजरी' आदि । ऐसे ही श्रीकण्ठ अभय तिलकोपाध्याय विरचित न्यायालंकार वृत्ति आदि प्रमुख तर्क ग्रन्थ हैं। भासर्वज्ञ कृत न्यायसार की अठारह टीकाये है । इनमें न्यायभूषण नाम की टीका सर्वप्रमुख है ।

प्राचीन समय के न्याय को 'प्राचीनन्याय' एवं आधुनिक काल के न्याय को 'नव्यन्याय' कहते है। प्राचीन न्याय के अतर्गत 'गौतम' का न्यायसूत्र, उसके भाष्य आदि है । नव्यन्याय का प्रारभ गगेश की 'तत्त्वचितामणि' से हुआ है, इसे 'न्यायदर्शन' या शैव दर्शन भी कहते है एव 'योग' भी कहते हैं ।

३—**वैशेषिक**—वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक 'महर्षिकणाद' है । कहा जाता है कि ये इतने बड़े संतोषी थे कि खेतों से चुने हुये अन्नकणों के सहारे ही जीवन यापन करते थे । इसलिये इनका उपनाम 'कणाद' पड़ा है । उनका वास्तविक नाम 'उलूक' था अतएव वैशेषिक दर्शन कणाद या 'औलूक्य' दर्शन नाम से प्रसिद्ध है । इस दर्शन में 'विशेष' नामक पदार्थ की विशद विवेचना है अत इसे 'वंशेषिक' भी कहते हैं । अन्यत्र भी यही बात है ।

"मुनिविशेषस्य कापोतीं वृत्तिमनुतिष्ठवतो रथ्यानिपतांस्तंडुलानादायादाय कृताहारस्याहारनिमित्तात्कणादसंज्ञा अजनि । तस्य कणादस्य पुर. शिवेनोलूकरुपेण मतमेतत्प्रकाशितम् 'तत औलूक्यं प्रोच्यते । पशुपतिभक्तत्वेन पाशुपतं चोच्यते" ।

कापोत सदृशवृत्ति का अनुसरण करने वाले मार्ग में पतित तंदुल कणों को खाने वाले होने से इन्हें कणाद संज्ञा हुई, इनके आगे शिव ने उल्लू का शरीर धारण करके इस मत को चलाया अतः 'औलूक्य' हैं । वैशेषिक लोग पशुपति-शिव के भक्त हैं अतः यह दर्शन 'पाशुपत' भी कहलाता है । वैशेषिक कणाद के शिष्य हैं अतः काणाद भी कहलाते है । [षड्द० ४०६]

इनके यहां कणाद कृत मूलग्रन्थ 'षट्पदार्थी-वैशेषिक सूत्र' नाम से है। इसपर प्रशस्तपाद का 'पदार्थ धर्म सग्रह' है, इस प्रशस्तपाद भाष्य-पदार्थ धर्मसंग्रह पर दो उत्तम टीकाये है, उदयन आचार्य की किरणावली, और श्रीधराचार्य की 'न्यायकंदली' । इसके बाद का जो वैशेषिक साहित्य है वह न्याय और वैशेषिक इन दोनों का संमिश्रण है। ऐसे ग्रन्थों में शिवादित्य की 'सप्तपदार्थी'

लौगाक्षि भास्कर की 'तर्ककौमुदी' वल्लभाचार्य की 'न्यायलीलावती' और विश्वनाथ पंचानन का भाषा परिच्छेद (सिद्धांत मुक्तावली टीका के साथ) प्रमुख है। [भारतीयद० पृ० १४६]

व्योमशिवाचार्य कृत व्योमवती टीका, श्रीवत्साचार्यकृत लीलावती तर्क, आत्रेयतन्त्र आदि

४—**मीमांसक**—मीमांसा का मूल ग्रन्थ है 'जैमिनिसूत्र' इस जैमिनि के सूत्र पर शबरस्वामी का विशद भाष्य है जिसे 'शाबरभाष्य' कहते हैं। उनके बाद बहुत से टीकाकार और स्वतंत्र ग्रन्थकार हुये, उनमें दो मुख्य हैं—कुमारिल भट्ट और प्रभाकर। इन दोनों के नाम पर मीमांसा में दो प्रधान संप्रदाय चल पड़े जिनका नाम है—भाट्ट मीमांसा और प्रभाकर मीमांसा। [भारतीयद० पृ० १६६]

मीमांसा दर्शन के दो भेद हैं—पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसावादी यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन छह ब्राह्मण कर्मों का अनुष्ठान करने वाले हैं ब्रह्म सूत्रधारी हैं, यज्ञादि क्रिया काण्ड में मुख्य रूप से प्रवृत्ति करते हैं। इनके साधु एक दण्डी, त्रिदण्डी, गेरुआ वस्त्रधारी मृगछाला, कमंडलु आदि रखते हैं, सिर मुंडाते है। इनका वेद ही गुरु और भगवान् है ये लोग वेद के सिवा किसी को सर्वज्ञ मानने को तैयार नहीं हैं। इनमें कुमारिल का मीमांसाश्लोकवार्तिक, प्रभाकर का 'बृहती' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

५—**उत्तर मीमांसावादी वेदांती**—कहलाते हैं ये केवल अद्वैत ब्रह्म को ही मानते है। इनके साधु कुटीचर, बहूदक, हंस, परमहंस ऐसे चार तरह के होते हैं। जो त्रिदण्डधारी, शिखाधारी ब्रह्म सूत्रधारी हैं यजमानों के यहा भोजन करते है गृह त्यागी है कुटिया बनाकर जंगल में रहते है, वे 'कुटीचर' कहलाते हैं। बहुत जल वाली नदी में स्नान करने से बहूदक होते है। हंस साधु ब्रह्मसूत्र, शिखा नहीं रखते, कषायवस्त्र, दण्डधारी ग्राम में एक रात नगर में तीन रात निवासी 'हंस' कहलाते है।

इन हंस साधु को तत्त्वज्ञान होने के बाद 'परमहंस' कहते हैं। इसे ही वेदांत दर्शन कहते है।

वेदांत का अर्थ है वेद का अंत। उपनिषदों को भिन्न-भिन्न अर्थों में वेद का अंत कहा जाता है। वैदिक काल में तीन तरह के साहित्य होते हैं। सबसे प्रथम वैदिक मत्र जो भिन्न-भिन्न सहिताओं—ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद में संकलित है।

ततः परं ब्राह्मण भाग जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड की विवेचना है, अंत में उपनिषद जिसमें दार्शनिक तथ्यों की आलोचना है। ये तीनों मिलकर श्रुति या वेद कहलाते हैं। अध्ययन के विचार से उपनिषदों की बारी अंत में आती थी। लोग संहिता से शुरू करते थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर गृहस्थोचित यज्ञादि कर्म करने से ब्राह्मण, वानप्रस्थ या संन्यास लेकर वन में रहने पर आरण्यक नाम होता है।

उपनिषदो का विकास आरण्यक साहित्य से हुआ है। स्वयं उपनिषदों में कहा है कि वेद-वेदांग सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर जब तक ज्ञान पूर्ण न हो जावे तब तक मनुष्य उपनिषदों की

शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता, उपनिषद् (उप+नि+सद्) जो ईश्वर के समीप या गुरु के समीप पहुंचावे वह उपनिषद् है । भिन्न-भिन्न उपनिषदों के विचार भेद का परिहार करने के लिये बादरायण ने 'ब्रह्म-सूत्र' ग्रन्थ की रचना की । इसे वेदांत सूत्र शारीरिक सूत्र, शारीरिकमीमांसा या उत्तरमीमांसा भी कहते है । ब्रह्मसूत्र पर अनेकों भाष्य है, शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निबार्काचार्य, आदि के भाष्यों से उनके नाम पर भिन्न भिन्न-संप्रदाय चल पड़े है । आजकल शकराचार्य का 'अद्वैतवाद' और रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद अधिक प्रसिद्ध है ।

६. सांख्य—

कुछ सांख्य ईश्वर मानते है कुछ निरीश्वरवादी हैं, जो निरीश्वर हैं उनके नारायण ही देवता हैं। इनके आचार्य विष्णु, प्रतिष्ठाकारक चैतन्य आदि शब्दों से कहे जाते है ।

सांख्य दर्शन के रचियता महर्षि कपिल हैं । सांख्य अत्यन्त प्राचीन मत है इसमें पचीस तत्त्वो की संख्या होने से इसे सांख्य मत कहते है । सांख्य दर्शन का मूल ग्रन्थ है कपिल का 'तत्त्वसमास' । इसमें निरीश्वर सांख्य का दर्शन है । योगदर्शन मे ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है अतः इसे 'सेश्वर साख्य' कहते हैं । इस सेश्वर सांख्य मत के प्रवर्तक पतञ्जलि ऋषि है अतः इसे 'पातञ्जल दर्शन' भी कहते है ।

कपिल, आसुरि, पंचशिख, भार्गव तथा उलूक आदि सांख्य मत के प्रमुख प्रवक्ता है । इसलिए इसे साख्य या कपिलमत भी कहते है । कपिल को परमर्षि कहने से इस मत को 'पारमर्ष' भी कहते है । सांख्यों का प्राचीन ग्रन्थ है ईश्वर कृष्ण की 'साख्यकारिका' गौडपाद का 'साख्यकारिकाभाष्य' वाचस्पति की 'तर्क कौमुदी' विज्ञान भिक्षु का 'सांख्य प्रवचन भाष्य' और साख्यसार आदि ग्रन्थ हें । एव इनके षष्टितंत्र का पुनः संस्करण रूप 'माठर भाष्य' साख्यसप्तति, तत्त्व कौमुदी, आत्रेयतंत्र आदि हैं ।

७. बौद्ध—

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध है । इन्हें सुगत भी कहते हैं अतः इनके अनुयायी बौद्ध या सौगत कहलाते हैं, इनमें चार भेद है —सौत्रातिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक ।

बौद्धों के ज्ञान पारमिता आदि दश ग्रन्थ हैं—तर्कभाषा, हेतुबिन्दु, अर्चटकृत, हेतुविंदु की अर्चट तर्क नाम की टीका, प्रमाणवार्तिक, तत्त्वसग्रह, न्यायबिंदु, कमलशीलकृत तत्त्वसग्रह पंजिका, न्यायप्रवेश आदि ग्रंथ है ।

महात्मा बुद्ध के उपदेश के तीन पिटक इनके यहां माने गये हैं उनमें-विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्म पिटक ये नाम हैं । इन पिटकों में केवल प्राचीन बौद्ध धर्म का वर्णन मिलता है ।

धर्मकीर्ति का 'प्रमाणवार्तिक' उसकी टीका में प्रभाकर गुप्त का 'प्रमाणवार्तिकालंकार है । शांतरक्षित का 'तत्त्वसंग्रह' दिग्नाग का 'न्यायप्रवेश' धर्मकीर्ति का 'न्यायबिंदु' आदि ।

षड्दर्शन समुच्चय में बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय इनको 'षड्दर्शन' कहा है। आगे चलकर नैयायिक और वैशेषिक दर्शनों को दो न कहकर एक कहने से आस्तिकवादी के पांच ही दर्शन कह देते हैं एवं उसमें नास्तिक चार्वाक की संख्या मिलाकर 'षड्दर्शन' कहते हैं। इस षड्-दर्शन में मीमांसक और वेदांती को भी एक ही में लिया है।

८. **जैनधर्म** में किसी को इस जैनधर्म का प्रवर्तक नहीं माना गया है क्योंकि यह जैनधर्म अनादि-निधन धर्म है। अनादि काल से जीव कर्मों का नाशकर सर्वज्ञ होते रहे हैं और वर्तमान से लेकर अनंतानन्त काल तक सर्वज्ञ होते रहेंगे। जैन दर्शन में संसार पूर्वक–बंधपूर्वक ही मोक्ष माना गया है। अतः ससारी जीव ही आत्मा की सर्वोच्च विशुद्धि प्राप्त करके भगवान बन जाते हैं, **'कर्मारातीन् जयतीति जिनः जिनो देवता अस्य स जैनः'** जो कर्म शत्रुओं को जीतते हैं वे जिन कहलाते हैं एव 'जिन' देवता जिसके उपास्य हैं वे जैन कहलाते है, यह धर्म 'अहिंसामय' है अतः **"सर्वेभ्यो हितः सार्वः"** प्राणिमात्र का हितकारी होने से 'सार्वधर्म' कहलाता है। जिन भगवान के ही सार्व, सर्वज्ञ, अर्हंत, जिनेन्द्र, शिव, परमेश्वर, महेश्वर, महादेव आदि सार्थक नाम हैं। जैनधर्म में मनुष्य रत्नत्रयरूप उपाय तत्त्व से मोक्षरूप उपेयतत्त्व को प्राप्त कर लेता है जैनधर्म में—सभी वस्तुयें द्रव्यदृष्टि से नित्य हैं एवं पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं, सत् रूप—महासत्ता से एक एव पृथक्-पृथक् अवांतरसत्ता से अनेक है, किन्तु इस मर्म-स्याद्वाद को न समझकर बौद्धों ने वस्तु को सर्वथा क्षणिक कह दिया है। सांख्य ने ही सर्वथा नित्य कह दिया है। वेदांती ने एक ब्रह्मरूप एवं अन्यों ने अनेक रूप कह दिया है। ऐसे ही कर्मों की विचित्रता से ससार का वैचित्र्य देखकर वैशेषिकों ने ईश्वर को सृष्टि का कर्ता कह दिया है, किन्तु जैनाचार्यों ने सृष्टि को अनादि निधन एवं जीव पुद्गल सयोग से उत्पन्न हुई सिद्ध किया है। मीमांसक ने वेद को अनादि कह दिया है किन्तु वास्तव में अर्थ की अपेक्षा आगम अनादि हैं एव सर्वज्ञ की वाणी द्वारा गणधर ग्रथित होने से परम्परा कृत आचार्य प्रणीत होने से सादि भी हैं। अनेकांत शासन में कुछ भी दोष नही है। इसलिए इन अन्य मतावलबियों के ग्रथों का पठन, मनन, कुश्रुत का पठन मनन है, इससे मिथ्यात्व का आस्रव होता है, ऐसा समझना चाहिये। जैनाचार्यों ने इन ग्रन्थों का अवलोकन केवल उनके तत्त्वों की मान्यताओं का खण्डन करने के लिये ही किया है। जब बौद्ध परंपरा में दिङ्नाग के पश्चात् धर्मकीर्ति जैसे प्रखरतार्किकों की तूती बोलती थी, तो ब्राह्मण परम्परा में कुमारिल जैसे उद्भट् विद्वानों की प्रतिध्वनि मंद नहीं हुई थी दोनों ही विद्वानों ने अपनी-अपनी कृतियों में जैन परम्परा के मतव्यों की खिल्ली उड़ाई थी और समंतभद्र जैसे तार्किकों का खण्डन किया था। उस समय अकलक देवने आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत लेकर बौद्धदर्शन आदि पढ़ने का संकल्प किया, उस समय श्री अकलंक देव ने न्याय प्रमाण विषयक अनेकों ग्रन्थ रचे, लघीयस्त्रयी, न्याय विनिश्चय, सिद्धि विनिश्चय, अष्टशती, प्रमाणसंग्रह आदि ग्रन्थों में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध तार्किकों की एवं उद्योतकर भर्तृहरि कुमारिल जैसे ब्राह्मण तार्किकों की उक्तियों का निरसन करते हुये जैन मन्तव्यों की

स्थापना तार्किक शैली से की है। इन अकलंक देव से पूर्व श्री समंतभद्र स्वामी ने भगवान की स्तुति करते हुये न्याय का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। श्री उमास्वामी आचार्य के महाशास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र के मंगलाचरण पर आप्तमीमासा स्तुति बनाकर तो एक अलौकिक प्रतिभाशाली कहलाये हैं। श्री विद्यानंद महोदय ने आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा एवं अष्टसहस्री, श्लोक वार्तिकालंकार टीका आदि ग्रंथों में न्याय का विशद वर्णन किया है। श्री माणिक्यनन्दि के परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ पर प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमल-मार्तण्ड आदि विस्तृत टीकायें हुई हैं। जैन न्याय का मतलब यही है कि **'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'** प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना न्याय है। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये सभी शास्त्रकारों ने उसका यही अर्थ किया है **'नीयते ज्ञायते विवक्षितार्थोऽनेनेति न्यायः न्यायकु०।** **'नितरामीयंते गम्यंते गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् ज्ञायंतेऽर्थाः अनित्यत्वास्तित्वादयोऽनेनेति न्यायः तर्कमार्गः** [न्याय प्रवेश प० पृ० १] जिसके द्वारा विवक्षित अर्थ का ज्ञान हो उसे न्याय कहते हैं। अतिशयरूप से जिसके द्वारा अनित्यत्व, अस्तित्व आदि अर्थ जाने जाये वह न्याय—तर्क मार्ग है। न्यायविनिश्चयालंकार में जैनाचार्यों ने भी विशेष रूप से कहा है कि—

'निश्चितं च निर्बाधं च वस्तुतत्त्वमीयतेऽनेनेति न्यायः' [न्यायविनिश्चयालंकार भा० १ पृ० ३३] जिसके द्वारा निश्चित और निर्बाध वस्तु तत्त्व का ज्ञान होता है उसे न्याय कहते है। इसमें 'निर्बाध' पद जैन न्याय की निर्दोषता को प्रगट करता है। ऐसा ज्ञान प्रमाणों के द्वारा होता है इसी से न्याय विषयक ग्रन्थों का मुख्य विषय प्रमाण होता है। प्रमाण के ही भेद प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि माने गये हैं, किन्तु प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा वस्तु तत्त्व को जानकर भी उसकी स्थापना और परीक्षा में हेतु और युक्तिवाद का अवलम्बन लेना पड़ता है। इसी से न्याय को तर्कमार्ग और युक्तिशास्त्र भी कहा है। जैनधर्म के बारहवें दृष्टिवाद अंग में ३६३ मिथ्यामतों का स्थापनापूर्वक खडन किया गया है। न्यायविनिश्चय के प्रारम्भ में श्री अकलंक देव ने लिखा है—

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः।
माहात्म्यात् तमसः स्वय कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः॥
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते।
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमल तत्रानुकंपापरैः॥

कल्याण के इच्छुक अज्ञजनों के पूर्वोपार्जित पाप के उदय से एवं स्वयं कलिकाल के प्रभाव से गुण द्वेषी एकांतवादियों ने न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है। करुणाबुद्धि से प्रेरित हो करके हम उस मलिन किये गये न्यायशास्त्र को सम्यग्ज्ञान रूपी जल से किसी तरह प्रक्षालित करके निर्मल करते हैं। इसी भावना से ही श्री अकलंक देव ने छः महीने तक बौद्धों की अधिष्ठात्री तारादेवी से शास्त्रार्थ करके उसे पराजित करके जैनधर्म के स्याद्वाद की विजय पताका लहराई थी। और आज भी वीरप्रभु का अनेकांत शासन जयशील हो रहा है। तीर्थंकर श्री वृषभदेव या महावीर प्रभुने इस जैनधर्म की स्थापना नहीं की है,

प्रत्युत सभी तीर्थंकर धर्मतीर्थ के प्रकाशक, उपदर्शक मात्र होते हैं, स्याद्वादमय धर्म तो वस्तु का स्वरूप होने से किसी के द्वारा प्रस्थापित नही है। जैनधर्म में वर्तमान में दो भेद दिख रहे हैं दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर संप्रदाय में स्त्रीमुक्ति केवली कवलाहार सवस्त्रमुक्ति आदि माने गये हैं, किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में स्त्रियों को उसी भव से मुक्ति का निषेध, केवली के कवलाहार का निषेध एवं सवस्त्रमुक्ति का निषेध किया गया है।

जैनधर्म के मर्म को समझने के लिये महापुराण, पद्मपुराण, भद्रबाहुचरित्र आदि प्रथमानुयोग, तत्त्वार्थ सूत्र, गोम्मटसार, त्रिलोकसार, षड्खंडागम आदि करणानुयोग, रत्नकरण्डश्रावकाचार, वसुनंदि-श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, मूलाचार, आचारसार आदि चरणानुयोग, एवं समाधितन्त्र, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश, समयसार आदि द्रव्यानुयोग ऐसे चारों अनुयोगों के ग्रन्थों का गुरुमुख से पठन, स्वाध्याय करना चाहिये।

इस प्रकार से सर्वदर्शन के सिद्धान्त की संक्षिप्त समीक्षा की गई है।

ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व खण्डन

वैशेषिक कहते है कि—'सदाशिव' नाम का एक महेश्वर है जो सदा ही मुक्त है, कभी भी कर्ममल से लिप्त नही था अनादिकाल से ही मुक्त है और सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता है यथा—

"तनुभुवनकरणादिकं विवादापन्नं बुद्धिमन्निमित्तकम् कार्यत्वात्। यत्कार्यं तद् बुद्धिमन्निमित्तकं दृष्टं यथा वस्त्रादि। कार्यं चेदं प्रकृतं तस्माद् बुद्धिमन्निमित्तकं योऽसौ बुद्धिमांस्तद्धेतुः स ईश्वरः इति।"

"शरीर जगत्, इन्द्रिय आदि विवाद की कोटि में आये हुये पदार्थ बुद्धिमान् निमित्त कारण से हुये हैं, क्योकि वे कार्य हैं। जो कार्य होता है वह बुद्धिमान् निमित्त कारण से ही होता है, जैसे वस्त्रादि। और कार्य प्रकृत शरीर आदि हैं इसलिये बुद्धिमान् निमित्त कारण से हुये है। जो बुद्धिमान् उनका कारण है वह ईश्वर है।" इसलिए यह सिद्ध होता है कि अनादि सिद्ध ईश्वर ही सम्पूर्ण विश्व का बनाने वाला है।

जैनाचार्यों का कहना है कि **"तनुभुवनकरणादयो न बुद्धिमन्निमित्तकाः दृष्टकर्तृकप्रासादादि विलक्षणत्वात आकाशादिवत्।"** 'शरीर जगत् और इन्द्रिय आदि बुद्धिमान् कारण जन्य नही हैं, क्योंकि जिन मकानादि के कर्ता देखे जाते है उनसे भिन्न है। जैसे आकाशादि।'

दूसरी बात यह है कि वह ईश्वर सृष्टिकर्ता शरीर सहित है या रहित ? यदि रहित कहो तो अन्य मुक्त जीवों के समान वह भी सृष्टि नहीं बना सकता। यदि शरीर सहित कहो, तो वह कर्मसहित होने से अज्ञानी संसारी प्राणी के समान सृष्टि नही कर सकेगा।

इन वैशेषिकों ने एक सदाशिव ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना है, उसमें ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ऐसी तीन शक्तियां मानी हैं। पुनः प्रश्न यह भी होता है कि कर्म के बिना इच्छा शक्ति कैसे होगी ? यदि ज्ञान शक्ति से ही सम्पूर्ण कार्य करना मानो, तो भी असंभव है। यदि वैशेषिक कहे कि—

समीहामंतरेणापि यथा वक्ति जिनेश्वरः ।
तथेश्वरोऽपि कार्याणि कुर्यादित्यप्यपेशलम् ॥१४॥
सति धर्मविशेषे हि तीर्थकृत्त्वसमाह्वये ।
ब्रूयाज्जिनेश्वरो मार्गं न ज्ञानादेव केवलात् ॥१५॥
सिद्धस्यापास्तनिःशेष-कर्मणो वागसंभवात् ।
विना तीर्थकरत्वेन नाम्ना नार्थोपदेशना ॥१६॥

जिस प्रकार से आप जैनों का जिनेश्वर बिना इच्छा के मोक्ष मार्ग का उपदेश देता है, वैसे ही हमारा महेश्वर बिना इच्छा के सृष्टि बनावे क्या बाधा है ? आचार्य ने कहा कि भाई ! हमारे जिनेश्वर की तीर्थंकर नामा नाम कर्म विशेष से उपदेश में प्रवृत्ति होती है और वे तीर्थंकर तो कर्म सहित हैं शरीरसहित हैं। हां ! मोहकर्म के नष्ट हो जाने से इच्छा रहित अवश्य है। पूर्णकर्म रहित सिद्धों का उपदेश हम नहीं मानते हैं।

यदि आप भी ईश्वर के योग विशेष मानों तो शरीर अवश्य मानना पड़ेगा, पुनः प्रश्न माला चलती जायेंगी। वह सृष्टि रचने के पहले अपना शरीर बना लेता है या शरीररहित ही सृष्टि बनाकर अपना शरीर बनाता है ? यदि कहो ईश्वर स्वय अपना शरीर नहीं बनाता है वह स्वय बन जाता है, तब तो जैसे ईश्वर की इच्छा और प्रयत्न के बिना उसका शरीर बन गया वैसे ही सारी सृष्टि बन जावे।

यदि ईश्वर अपने पूर्व शरीर का कर्ता पूर्व पूर्ववर्ती शरीर से होता है तब तो शरीर परम्परा अनादि सिद्ध होने से अनवस्था दोष आ जाता है, एव ससारी प्राणी और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं दिखता है। कार्मणशरीर से सहित ही ससारी प्राणी अनादि काल से शरीरों का निर्माण करता चला आ रहा है।

दूसरी बात यह भी है कि उस ईश्वर का ज्ञान नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य कहो तो सारे कार्य एक साथ हो जावेंगे, क्योंकि ज्ञान सदा काल एक नित्य है, अनित्य कहो तो भी अनेकों दूषण आते हैं। यहां ईश्वर का ज्ञान व्यापी है या अव्यापी ? स्वसविदित है या अस्वसविदित ?

वह ज्ञान महेश्वर से भिन्न है या अभिन्न ? इत्यादि प्रश्न चलते ही रहेंगे।

वैशेषिक महेश्वर के ज्ञान को महेश्वर से भिन्न मानकर समवाय से महेश्वर को ज्ञानी कहता है तब आचार्य कहते हैं कि यह समवाय एक है तो यह समवाय महेश्वर में ही ज्ञान को जोड़े अन्यत्र आकाशादि में नही ऐसा क्यों ? यदि कहो आकाश अचेतन है, ईश्वर चेतन है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि आपने ईश्वर को चेतन नहीं माना है चेतन के समवाय से ही चेतन माना है।

"नेशो ज्ञाता न चाज्ञाता स्वयं ज्ञानस्य केवलं ।
समवायात्सदा ज्ञाता यद्यात्मैव स किं स्वतः ॥६५॥

यदि कहो कि ईश्वर न ज्ञाता है न अज्ञाता है किन्तु ज्ञान समवाय से ज्ञाता है तब तो बताओ ईश्वर आत्मा है या नहीं ? तब उसने कहा, ईश्वर न आत्मा है न अनात्मा हैं। आत्मत्व के समवाय से आत्मा है। तब तो बताओ उस आत्मत्व समवाय के पहले वह क्या है ? द्रव्य है ? तब वह कहता है कि नहीं। ईश्वर न द्रव्य है न अद्रव्य है, द्रव्यत्व के समवाय से द्रव्य है तब प्रश्न होता है कि द्रव्यत्व समवाय के पहले वह सत् रूप तो अवश्य होगा ? उसने कहा नहीं। ईश्वर न स्वतः सत् है न असत् है सत्ता के समवाय से 'सत्' है तब तो बड़ी आफत आ गई, सत्ता समवाय के पहले ईश्वर असत् ही रहेगा। अर्थात् उस ईश्वर का कुछ भी स्वरूप समझ में नही आता है। समवाय की सिद्धि तो असभव है। क्योंकि जीव में या ईश्वर में ज्ञान समवाय के पहले वे ज्ञानी हैं या अज्ञानी ? यदि ज्ञानी हैं तो समवाय ने क्या किया ? यदि अज्ञानी हैं तो पत्थर आदि अज्ञानी अचेतन में भी ज्ञान का समवाय क्यों नही होता है अतः समवाय सम्बन्ध नाम से तादात्म्य सम्बन्ध मानकर स्वरूप का स्वरूपवान् के साथ तादात्म्य ही स्वीकार करना चाहिए अग्नि में उष्ण का जीव में ज्ञान का जो तादात्म्य सम्बन्ध है उसे ही समवाय भले ही कह दो।

इसलिए उपर्युक्त दोषों के निमित्त से आपका महेश्वर देहसहित, कर्मसहित, सर्वज्ञ एव मोहरहित सिद्ध नहीं होता है।

दूसरी बात यह है कि वह ईश्वर सृष्टि क्यों बनाता है किसी अन्य पुरुष की प्रेरणा से, या दया से, क्रीड़ा से या स्वभाव से ?

यदि अन्य से प्रेरित होकर बनाता है तब तो उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। यदि दया से बनाता है तो उसने दुःखी प्राणी को क्यो निर्माण किये ? यदि कहो पापियों को दण्ड देना पड़ता है तब तो उसने पाप की सृष्टि क्यों की ? परम पिता परमकारुणिक ईश्वर पाप और पापीजनों की सृष्टि क बवेंान फिर उन्हें दुःख देवें यह तो उचित नहीं है। यदि कहो क्रीड़ा से सृष्टि का निर्माण करता है तबो तो वह प्रभु महान् कैसे रहेगा, प्रत्युत क्रीड़ा प्रिय होने से बालकवत् नादान समझा जावेगा। यदि कहो स्वभाव से वह सृष्टि का निर्माण करता है तब तो ईश्वर का स्वभाव नित्य है सदा काल है अतः सदा काल एक जैसी सृष्टि बनती रहेगी, तरह-तरह की विचित्रता का अनुभव नहीं होना चाहिये।

इत्यादि अनेकों दोष आते हैं अतः ईश्वर को अनादि सिद्ध एवं सृष्टि का कर्ता मानना अनुचित है। यह संसारी प्राणी अनादि काल से कर्म सहित होने से स्वयं ही पुण्य पाप का कर्ता है और भोक्ता है। जब पुरुषार्थ से कर्मों का भेदन कर देता है तो ईश्वर महेश्वर, ब्रह्मा, महात्मा, परमात्मा सिद्ध, शिव अक्षय, अच्युत आदि अनेकों नाम से पूज्य बन जाता है।

सांख्य की आप्त समीक्षा

'कपिल एव मोक्षमार्गस्योपदेशकः क्लेशकर्मविपाकाशयानां भेत्ता च रजस्तमसोस्तिरस्करणात्।'

[आप्त प. पृ. १५६]

कपिल ही मोक्ष मार्ग का उपदेशक तथा क्लेश, कर्म, विपाक और आशयों का भेद करने वाला है; क्योंकि उसके रज और तम का सर्वथा अभाव है। यह कथन सांख्यों का है। इस पर आचार्य कहते हैं कि कपिल सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह स्वय अपने ज्ञान से सर्वथा भिन्न है, इसलिये सर्वज्ञ नहीं है। सांख्य का कहना है कि मुक्त होना, ससारी होना पुरुष का धर्म नही हैं। प्रधान के ही संसारीपना, मुक्तपना ज्ञान और सुख का होना संभव है।

प्रधानं ज्ञत्वतो मोक्षमार्गस्यास्तूपदेशकम्।
तस्यैव विश्ववेदित्वात् भेदित्वात् कर्मभूभृताम् ॥८०॥
इत्यसंभाव्यमेवास्याचेतनत्वात् पटादिवत्।
तदसंभवतो नूनमन्यथा निष्फलः पुमान् ॥८१॥
भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु कर्ता तदविशेषतः।
विरोधे तु तयोर्भोक्तिः स्याद्भुजो कतृ ता कथं ॥८२॥

प्रधान ही मोक्ष मार्ग का उपदेशक है, क्योंकि वह ज्ञानी है और ज्ञानी इसलिये है कि वह विश्व-वेदी-सर्वज्ञ है, तथा सर्वज्ञ भी इसलिये है कि कर्म पर्वतों का भेत्ता है। जैनाचार्य कहते है कि सांख्यों का यह मत असभव है क्योंकि वह प्रधान वस्त्रादि की तरह अचेतन है। इसलिये प्रधान को कर्मों का नाशक, विश्वज्ञानी, मोक्षमार्ग का उपदेशकत्व आदि मानना असम्भव हैं। यदि मानोगे तो पुरुष की कल्पना ही व्यर्थ हो जावेगी। अगर कहो कि पुरुष भोक्ता है तब तो वही कर्ता भी होवे, क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों एक जगह सभव है। यदि क्रिया के कर्तापने का विरोध कहा जावे तो भोक्ता पुरुष भुज् क्रिया का कर्ता कैसे रहा? आश्चर्य तो इस बात का है कि प्रधान सर्वज्ञ है और मुमुक्षु जन स्तुति पुरुष की करते हैं। तात्पर्य यह है कि कपिल ने ज्ञान के आश्रय भूत प्रधान के ससर्ग से ही ज्ञान माना है, वह पुरुष स्वय तो ज्ञान रहित है, किंतु यह सिद्धात सर्वथा गलत है अचेतन में ज्ञान हो और उसके संसर्ग से संसार में पुरुष ज्ञानी बने एवं मुक्त में अज्ञानी रहे यह कल्पना गलत है अतः ज्ञानदर्शन स्वरूप पुरुष विशेष ही कर्मों का नाशक, विश्व का ज्ञाता सर्वज्ञ और मोक्ष मार्ग का उपदेष्टा आप्त है किंतु कपिल आप्त नही है।

बुद्ध की आप्त समीक्षा

सुगत ही सर्वज्ञ है क्योंकि वह संपूर्ण तृष्णा से रहित है एवं 'संपूर्ण गतः सुगतः, अथवा शोभनं गतः सुगतः यदि वा सुष्ठुगतः सुगतः' इस नियम में जो संपूर्णता को प्राप्त है या शोभन अवस्था को प्राप्त है या अच्छी गति को प्राप्त है वह सुगत है एव उस सुगत की जगत् के लिये महती कृपा है 'बुद्धो भवेयम् जगते हिताय' मैं जगत् का हित करने के लिये बुद्ध होऊं' इत्यादि भावना से ही बुद्ध भगवान् सच्चे आप्त हैं और मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हैं। यह सौगतों का कहना है किंतु जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि—

सुगतोऽपि न निर्वाणमार्गस्य प्रतिपादकः।
विश्वतत्त्वज्ञतापायात् तत्त्वतः कपिलादिवत् ॥८४॥
संवृत्या विश्वतत्त्वज्ञः श्रेयोमार्गोपदेश्यपि।
बुद्धो वंद्यो न तु स्वप्नस्तादृगित्यज्ञचेष्टितं ॥८५॥

सुगत भी मोक्ष मार्ग का उपदेशक नही है, क्योंकि वास्तव में उसके सर्वज्ञता नहीं है, जैसे कपिल आदि में नहीं है ॥ यदि कहो बुद्ध संवृति-कल्पना से सर्वज्ञ है और मोक्ष मार्ग का उपदेष्टा भी है। फिर भी सवृति से सर्वज्ञ होते हुये भी बुद्ध भगवान् तो वंदनीक होवें और कल्पित स्वप्न आदि वद्य न होवें यह क्यों ? यह तो अज्ञानी का ही पक्षपात है।

आपके द्वारा मानी गई तत्त्व व्यवस्था ही ठीक नही है पुनः उसके उपदेशक बुद्ध सर्वज्ञ कैसे होंगे ! आपके यहां प्रत्येक पदार्थ को प्रतिक्षण विनाशी एवं परमाणु रूप मानते हैं। जो कि प्रत्यक्षज्ञान से अनुभव में नहीं आते हैं।

इन बौद्धों में योगाचार बौद्ध केवल 'विज्ञानमात्र' तत्त्व को मानते हैं बाह्य पदार्थों को नहीं मानते हैं। उनकी इस मान्यता से सुगत की सिद्धि ही असभव है क्योंकि ज्ञान से भिन्न सुगत को मानने से द्वैत आता है और सवृत्ति से सुगत की कल्पना करने से वह स्वप्न के सदृश होने से नमस्कार योग्य नही रहता। तथैव चित्राद्वैतवादी की मान्यता भी गलत है क्योंकि चित्र ज्ञान भी कहे और उसे एक अद्वैत भी कहें यह असभव है। चित्रज्ञान का अर्थ ही है अनेक ज्ञान न कि एक ज्ञान। यदि आप कहें कि क्षणभंगुर वस्तु में और अद्वैत में जो स्थायी रहना या द्वैत रूप दिखना है वह संवृति मात्र है। तब तो आपका बुद्ध भी कल्पना से ही सर्वज्ञ होगा, पुनः वास्तव में सर्वज्ञ न होने से कल्पित-असत्य मान्यता अपने आप में कल्पित असत्य ही है।

ब्रह्माद्वैतवादी के ब्रह्म की समीक्षा

ब्रह्माद्वैतवादी इस जगत् को एक परम ब्रह्म स्वरूप मानते हैं उस ब्रह्म की ही उपासना करते हैं। ये लोग प्रत्यक्ष अनुमान और आगम से ब्रह्म की सिद्धि कर रहे हैं। उनका कहना है कि 'प्रत्यक्ष प्रमाण तो उस ब्रह्म का ग्राहक है ही क्योंकि आंख खोलने के अनतर सर्वविकल्पों से रहित शुद्ध सत्तामात्र ब्रह्म ही झलकता है। अनुमान भी परम ब्रह्म को ही सिद्ध करता है। '**ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात्। यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम्। प्रतिभासंते च विवादापन्नाः इति**' ग्राम और उद्यान आदि सभी दिखलाई देने वाले पदार्थ प्रतिभास-परम ब्रह्म के अंतःप्रविष्ट हैं, क्योंकि वे प्रतिभासमान होते है। जो प्रतिभासित होता है, वह सर्व प्रतिभास के अंतःप्रविष्ट है, जैसे कि प्रतिभास का स्वरूप। विवादापन्न ग्राम और उद्यान आदि प्रतिभासित होते हैं, इसलिये वे सभी परमब्रह्म के ही स्वरूप हैं। इस परमब्रह्म को सिद्ध करने के लिये श्रुति-वाक्य भी अनेकों पाये जाते हैं।

"सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यंति न तं पश्यति कश्चन" ॥

सभी दृश्यमान पदार्थ ब्रह्म स्वरूप हैं इससे भिन्न जगत् में नाना पदार्थ कुछ नहीं हैं। हम सभी लोग उस ब्रह्म की पर्यायों को ही देखते है, किंतु उसे कोई नही देखते हैं ॥ इत्यादि रूप से ब्रह्मवादी अपना पक्ष स्थापित करते हैं। अब आचार्य कहते है कि आपने जो परमब्रह्म को प्रत्यक्ष का विषय कहा है वह गलत हैं क्योंकि विशेष से निरपेक्ष सामान्य मात्र का प्रत्यक्षज्ञान से अनुभव होना ही असक्य है। जो आपने अनुमान से ब्रह्म को सिद्ध किया है उसमें प्रश्न यह होता है कि 'प्रतिभासित होने वाले धर्मी, हेतु दृष्टांत आदि प्रतिभासरूप ब्रह्म के अंत:प्रविष्ट होकर (भीतर घुसकर) प्रतिभासित होते हैं या ब्रह्म से बहिर्भूत रहकर ही प्रतिभासित होते है ? यदि अंदर होकर प्रतिभासित होते है तब तो अनुमान नहीं बनेगा। अनुमान में साध्य, हेतु, उदाहरण अवश्य होने से द्वैत आ जावेगा। यदि बहिर्भूत होकर प्रतिभासित होते है कहो, तो स्पष्ट ही द्वैत हो गया। आपने अद्वैत को सिद्ध करने के लिये अनुमान बनाया, उसने द्वैत को ही सिद्ध कर दिया।

आगम आदि भी ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? इत्यादि विकल्प उठते रहने से आपका ब्रह्माद्वैत सिद्ध नहीं होगा। एवं उस ब्रह्म से सृष्टि की मान्यता कहना तो बिल्कुल ही असभव है। एक परमब्रह्म रूप चैतन्य आत्मा से अनेकों चेतन अचेतन रूप जगत् को उत्पन्न हुआ मानना गलत है। अत: परमब्रह्म को आप्त भगवान् कहना सर्वथा गलत है।

उपसंहार— इस प्रकार महेश्वर, कपिल, सुगत और परमब्रह्म इनके सर्वज्ञत्व और आप्तपने का अभाव होने से मोक्षमार्ग का प्रणयन नही बनता है और जो सर्वज्ञ हैं, कर्म पर्वतों के भेत्ता हैं, मोक्ष मार्ग के प्रणेता हैं वे अर्हंत ही है वे ही सच्चे आप्त है।

चार्वाक—

चार्वाक कहता है कि 'कोई पुरुष सर्वज्ञ है" यह बात किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हैं। आगम प्रमाण से सर्वज्ञ का अस्तित्व बतलाना योग्य नही है, क्योंकि जब सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नही तब उसका कहा हुआ आगम कैसे होगा ? एवं असर्वज्ञप्रणीत आगम से सर्वज्ञ को सिद्ध करना गलत है क्योंकि अल्पज्ञ का कहा हुआ आगम प्रमाणिक नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि इस समय यहां सर्वज्ञ नही है यह बात प्रत्यक्ष से स्पष्ट है। अनुमान से भी सर्वज्ञ का ज्ञान नही होता क्योंकि सर्वज्ञ के साथ जिसका अविनाभाव हो ऐसा कोई साधन नहीं है अतः कोई पुरुष तीर्थंकर आप्त सर्वज्ञ भगवान् नहीं है। न उनके द्वारा कथित आत्मा और परलोक आदि ही हैं।

इसपर जैनाचार्य कहते हैं कि आज भले हों इंद्रिय प्रत्यक्ष से यहां पर सर्वज्ञ न हो फिर भी सर्वज्ञ के प्रतिपादक आगम एव अनुमान सिद्ध है यथा—'**कश्चित् पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबंधप्रत्ययत्वात्' यद् यद् ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबंधप्रत्ययं तत् तत्**

सकलपदार्थसाक्षात्कारी यथा अपगततिमिरं लोचनं रूपसाक्षात्कारि, तथा चायं पुरुषः तस्मात्सकलपदार्थसाक्षात्कारी इति'' [विश्वत० प्र० पृ० ४]

'कोई पुरुष सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला अवश्य है, क्योंकि उसके पदार्थों का ग्रहण स्वभाव होने से ज्ञान के प्रतिबंधक कारण नष्ट हो चुके है। जो-जो पदार्थ के ग्रहण स्वभाव वाला होने पर प्रतिबंधक कारण से रहित है वह-वह सकल पदार्थों को साक्षात् करने वाला है जैसे तिमिर दोष से रहित नेत्र रूप का साक्षात्कार करने वाले है और उसी प्रकार मे यह कोई पुरुष है इसीलिये सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाला है।

दूसरी बात यह है कि जब चार्वाक प्रत्यक्ष से सारे विश्व को देखकर आवे कि कोई सर्वज्ञ नहीं है तभी वह निर्णय दे सकता है कि विश्व में कही भी कोई पुरुष सर्वज्ञ नही है अन्यथा सारे विश्व को देखे बिना कैसे निर्णय देगा ? और जब सारे विश्व को देखकर आयेगा तब वही तो सर्वज्ञ बन जायेगा क्योंकि जो सारे विश्व को जाने वह सर्वज्ञ है। पुनः सर्वज्ञ का निषेध वह कैसे करेगा, अर्थात् नहीं कर सकेगा।

मीमांसक —

मीमासक भी यही कहते है कि अतीन्द्रियदर्शी कोई भी सर्वज्ञ नही है, अत. नित्य वेदवाक्यों से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है, किन्तु जैनाचार्यों ने इन मीमांसकों के मत की भी मीमांसा करके सर्वज्ञ की सिद्धि की है।

कुमारिल भट्ट कहता है कि — '**धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद् विजानानः पुरुषः केन वार्यते**' अर्थात् हम तो मनुष्य को केवल धर्मज्ञ होने का निषेध करते है। धर्म को छोड़कर यदि मनुष्य सबको भी जान ले तो कौन मना करता है ? मतलब यह है कि ये मीमांसक किसी को सब कुछ जाननें वाला कहकर भी धर्मज्ञ का निषेध कर देते है, इनको वेद के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होना सिद्ध करना है क्योकि ये क्रियाकांडी लोग वेद को अपौरुषेय कहकर उसकी प्रमाणता को सिद्ध करने में बहुत ही प्रयत्नशील हैं। खैर ! 'सूक्ष्म अन्तरित दूरवर्ती आदि पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला, अतीद्रिय-धर्म, अधर्म आदि सभी को स्पष्ट करने वाला सर्वज्ञ अवश्य है।'

अकलंकदेव ने सर्वज्ञत्व के साधन में अनेकों युक्तियों के साथ एक युक्ति बहुत विशेष दी है कि 'सर्वज्ञ के सद्भाव में कोई बाधक प्रमाण नही है अतः उसका अस्तित्व होना ही चाहिए' एवं दूसरी युक्ति यह दी है कि—'**ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते। अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम्॥**

[न्यायविनिश्चय]

आत्मा 'ज्ञ'—ज्ञाता है और उसके ज्ञानस्वभाव को ढकने वाले आवरण दूर होते हैं। अतः आवरणों के विछिन्न हो जाने पर ज्ञस्वभाव आत्मा के लिये फिर ज्ञेय-जानने योग्य क्या रह जाता है ? अर्थात

कुछ भी नहीं । अप्राप्यकारी ज्ञान से सकलार्थ परिज्ञान होना अवश्यंभावी है । इसलिये सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध है ।

तात्पर्य यह है कि चार्वाक शून्यवादी और मीमांसक सर्वज्ञ का अस्तित्व ही नहीं मानते हैं एवं सांख्य बौद्ध वैशेषिक वेदांती ईश्वर का अस्तित्व मानते हैं किन्तु उनकी मान्यतायें सुघटित नहीं हैं इसलिए सबका निराकरण करते हुये जैनाचार्य युक्तिपूर्वक सर्वज्ञ की सिद्धि कर रहे हैं ।

जैन—

सोऽर्हन्नेव मुनीन्द्राणां वंद्यः समवतिष्ठते ।
तत्सद्भावे प्रमाणस्य निर्बाध्यस्य विनिश्चयात् ।।८७।।
ततोऽन्तरिततत्त्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतोऽञ्जसा ।
प्रमेयत्वाद्यथास्मादृक् प्रत्यक्षार्थाः सुनिश्चिताः ।।८८।। [आप्तपरीक्षा]

जो सर्वज्ञ हैं, कर्म पर्वतों के भेत्ता है, मोक्षमार्ग के प्रणेता है, वे अर्हंत ही हैं और इसीलिये वे ही मुनीश्वरों के वंदनीय प्रसिद्ध हैं, क्योंकि सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये अबाधित और निश्चित प्रमाण पाये जाते है । 'एवं ईश्वर आदि सर्वज्ञ नही हैं, इसलिये सूक्ष्मादि, अन्तरित पदार्थ अर्हंत के परमार्थतः प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे प्रमेय हैं जैसे हम लोगों के द्वारा जाने गये प्रत्यक्ष पदार्थ ।'

शंका—"आत्मा का इन्द्रियों के साथ समीचीन सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है ।" अतः हम लोगों का प्रत्यक्ष ज्ञान उन देशकाल और स्वभाव से अन्तरित (दूरवर्ती) पदार्थों को नहीं जानता है अतः धर्मी असिद्ध होने से हेतु आश्रयासिद्ध है ।

समाधान—नही, क्योकि स्फटिक आदि अन्तरित कितने ही पदार्थों का सद्भाव हम लोग देखते हैं । और दीवाल आदि से ढकी हुई अग्नि आदि को भी धूमादि हेतु से निश्चित कर लेते हैं । काल से अन्तरित वर्षा आदि को भी विशिष्ट मेघ आदि के द्वारा जानते हैं तथा स्वभाव से अन्तरित इन्द्रिय-शक्ति आदि कितने ही पदार्थ अर्थापत्ति से सिद्ध होने से धर्मी प्रसिद्ध है अतः हेतु आश्रयासिद्ध नही है ।

शंका—आप अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से अन्तरित पदार्थों को अर्हंत के सिद्ध करते हो या इंद्रिय प्रत्यक्ष से ?

समाधान—अर्हंत भगवान् इन्द्रिय प्रत्यक्ष से धर्मादिक सूक्ष्म पदार्थ एवं सुमेरु आदि दूरवर्ती पदार्थों को जानने में समर्थ नही है । अतः अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ही जानते हैं ।

शंका—जो अर्हंत के प्रत्यक्ष नही है वह प्रमेय नही है जैसे प्रत्यक्ष से बहिर्भूत मिथ्या एकान्त ।

समाधान—जो मिथ्या एकान्त ज्ञान हैं वे सभी परमागम और अनुमान से हम लोगों के प्रमेय हैं और अर्हंत के प्रत्यक्ष है अतः वे विपक्ष नहीं हैं ।

शंका—धर्मादिक पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष नहीं हैं क्योंकि सदैव अत्यन्त परोक्ष हैं । जो किसी के प्रत्यक्ष हैं वे सदैव अत्यन्त परोक्ष नहीं हैं । जैसे घटादिक पदार्थ ।

समाधान—"अक्ष्णोति व्याप्नोति जानाति इति अक्ष आत्मा" अर्थात् जो व्याप्त करे जाने उसे अक्ष कहते हैं और अक्ष नाम आत्मा का है। अतः आत्मा के आश्रय स जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। अर्हंत का प्रत्यक्ष मुख्य प्रत्यक्ष है, वह सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को विषय करने वाला है। क्योंकि वह क्रम रहित है। और वह क्रम रहित इसीलिए है कि उसमें मन तथा इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं है। इन्द्रिय मन की अपेक्षा भी इसीलिए नही है कि वह समस्त दोष रहित है तथा मिथ्यात्व अज्ञानादि दोषों से रहित भी इसीलए है कि वह इन दोषों के कारण भूत मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन चार कर्मों का नाश कर चुके हैं जो दोष रहित नही है वह कर्म रहित भी नहीं है जैसे हम लोगों का प्रत्यक्ष। मोहादि कर्म रहित अर्हंत का प्रत्यक्ष है इस कारण वह समस्त दोष रहित है।

शंका—अर्हंत के मोहादि का नाश कैसे सिद्ध है?

समाधान—अर्हंत के मोहादि चार कर्मों के कारणभूत मिथ्यात्व आदि के प्रतिपक्षियों का प्रकर्ष देखा जाता है। यथा—मोहादि चार कर्म किसी आत्मा विशेष में सर्वथा नष्ट हो जाते है क्योंकि जहां उनके कारणों के प्रतिपक्षी का प्रकर्ष पाया जाता है वहा उसका नाश हो जाता है। जैसे आंख का तिमिरदोष।

मोहादि चार कर्मों के कारणों के प्रतिपक्षियों का प्रकर्ष केवली में पाया जाता है इस कारण वहां उनका सर्वथा नाश हो जाता है।

शंका—मोहादि चार कर्मों का कारण क्या है?

समाधान—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों मोहादि चार कर्मों के कारण हैं।

शंका—मिथ्यादर्शनादि के प्रतिपक्ष (विरोधी) क्या है?

समाधान—सम्यग्दर्शनादि तीन मिथ्यादर्शन आदि तीन के विरोधी हैं। क्योंकि उनके प्रकर्ष होने पर उन मिथ्यादर्शन आदि की हानि देखी जाती है। जिसके प्रकर्ष में जिसका अप्रकर्ष देखा जाता है वह उसका विरोधी है। जैसे—ठढ का प्रतिपक्षी अग्नि है एव सम्यग्दर्शन आदि तीनो वृद्धिगत होने वाले हैं।

जो बढ़ने वाला है वह कहीं पर प्रकर्ष के अन्त को प्राप्त होता है। जैसेपरिमाण परमाणु से लेकर आकाश में चरम सीमा को प्राप्त है। अतएव सम्यग्दर्शनादि के पूर्ण प्रकर्ष को प्राप्त होने पर मिथ्यादर्शन आदि अत्यन्त नाश को प्राप्त हो जाते हैं। उनके नाश होने पर मोहादि चार कर्मों का अत्यन्त क्षय होने से अर्हंत भगवान् दोष रहित सर्वज्ञ वीतराग सिद्ध हो जाते हैं। और मिथ्या एकांतों का अभाव तो अनेकांत की सिद्धि से ही हो जाता है।

शंका—अर्हंत सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है पुरुष है जैसे ब्रह्मा वगैरह।

समाधान—ज्ञान के बढ़ने पर वक्तापन की हानि नहीं देखी जाती है। अतः वक्तापन सर्वज्ञता का

विरोधी नहीं है। सर्वज्ञ का जो समस्त पदार्थों को विषय करने वाला वक्तापन है वह युक्ति एवं शास्त्र से अविरोधी सिद्ध है। तथा स्पष्ट है कि समस्त अज्ञानादि दोष रहित पुरुषपना परमात्मा सर्वज्ञ में सिद्ध होता हुआ समस्त ज्ञानादि गुणों के परम प्रकर्ष की प्राप्ति को ही सिद्ध करता है। अतः आपका अनुमान सर्वज्ञ का बाधक नही है।

दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाला कोई व्यक्ति पहले तीनों लोकों में एवं तीनों कालों में सबको देख कर यह निर्णय करे कि कोई भी सर्वज्ञ नही है तब तो वह स्वयं ही तीनों लोकों एवं तीनों कालों को जान लेने से सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है। यदि उसने तीनों लोकों एव तीनों कालो को नही जाना तब वह यह निर्णय ही कैसे करेगा कि तीनों जगत में सर्वज्ञ नही है। अतः आप सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नही कर सकते है।

शंका— कर्म कार्य-कारण रूप प्रवाह से प्रवर्तमान है इसलिए वे अनादि है। उनका विनाशक कारण न होने से कोई सर्वज्ञ भी कर्म पर्वत का भेत्ता नही हो सकता है ?

समाधान—नही, क्योकि अर्हंत में विरोधी सम्यग्दर्शन आदिकों की वृद्धि चरम सीमा को प्राप्त हो जाती है, तब प्रवाहरूपसेअनादि होने पर भी कर्मो का सर्वथा नाश हो जाता है। बीजांकुर की अनादि संतान भी प्रतिपक्षी अग्नि से जलकर खाक हुई देखी जाती है।

शंका—कर्म पर्वतो का विपक्ष क्या है ?

समाधान - आगामी कर्मो का विपक्ष सवर है और संचित कर्मों का विपक्ष तप से होने वाली निर्जरा है। अर्थात् कर्मों के आने के द्वार का रुक जाना सवर है। और कर्मो के वे द्वार पांच है—

(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५)योग। इनके होने पर कर्म आते हैं अतः ये आश्रव है। आश्रव का निरोध संपूर्णतया तो गुप्तियो से होता है। एक देश रूप समिति, धर्म, परीषहजय, अनुप्रेक्षा और चारित्र से होता है। और संपूर्ण रूप से योग निरोध रूप सवर तो अयोग-केवली के अतिम समय में होता है क्योंकि वही समस्त कर्मो के निरोध का कारण है। इसीलिए अयोग-केवली के अतिम समयवर्ती सम्यग्दर्शन आदि तीनों साक्षात् मोक्ष के कारण माने जाते हैं। निर्जरा भी दो प्रकार की है :—

(१) अनुपक्रमा (२) औपक्रमिकी।

अनुपक्रमा निर्जरा तो यथा समय हर एक संसारी जीवों में पाई जाती है और औपक्रमिकी बारह प्रकार के तपो से प्राप्त (सिद्ध) होती है। अतः सवर और निर्जरा से कर्मों का अत्यन्त अभाव हो जाता है।

शंका—कर्म पर्वत क्या हैं ?

समाधान—कर्म के दो भेद हैं—द्रव्य कर्म और भाव कर्म।

जीव के जो द्रव्य कर्म हैं वे पौद्गलिक हैं उनके अनेक भेद हैं। और जो भाव कर्म हैं वे आत्मा के चैतन्य परिणाम रूप है क्योंकि आत्मा से कथंचित् अभिन्न हैं वे क्रोधादिक हैं।

ये द्रव्य-भाव कर्म ही पर्वत नाम से कहे जाते है। उनको जीव से पृथक् करना ही उनका भेदन है।

शंका—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, ये चार घातिया कर्म जीव के अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनतसुख, अनंतवीर्य रूप गुणों के घातक हैं। किंतु नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु ये चार कर्म जीव के स्वरूप के घातक न होने से अघाति कर्म, कर्म नही हैं क्योंकि ये परतत्रता के कारण नही है।

समाधान—नही। नामादि अघाति कर्म भी जीव के स्वरूप-सिद्धत्व रूप के प्रतिबधक है अतः परतंत्रता के कारण प्रसिद्ध ही हैं।

शंका—पुन इन्हें अघाति क्यों कहा है ?

समाधान—ये जीवन्मुक्त उत्कृष्ट आर्हत्य लक्ष्मी-अनन्त चतुष्टयादि विभूति के घातक नहीं हैं इसीलिए इन्हें हम अघाति कर्म कहते है।

शंका—कर्म, धर्म-अधर्म रूप है और वे आत्मा के गुण है अत कर्म औदयिक एवं पुद्गल रूप नही है।

समाधान—यदि कर्म आत्मा के गुण है तो आत्मा की परतत्रता मे कारण नही हो सकते है और इस तरह आत्मा के कभी भी बध न हो सकने से उसके मुक्ति का प्रसग आ जावेगा, किंतु ऐसा है नहीं।

शंका—मोक्ष का स्वरूप क्या है ?

समाधान—समस्त कर्मों की सवर और निर्जरा होकर जो अपने स्वरूप का लाभ होता है उसे ही आस्तिक पुरुषो ने मोक्ष कहा है। क्योकि आत्मा का स्वरूप अनंत चतुष्टय आदि रूप है न कि अचेतन रूप।

शंका—मोक्ष मार्ग क्या है ?

समाधान—मोक्ष की प्राप्ति का उपाय, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की एकता ही है। और चौदहवे गुणस्थान के अन्त में परम शुक्ल ध्यान रूप तपोविशेष जो कि चारित्र के अंतर्गत है उसकी पूर्ति होने पर ही मोक्ष होता है रत्नत्रय की पूर्णता चौदहवे गुणस्थान के अन्त में ही होती है, अतः तीनो की एकता ही मोक्ष मार्ग है।

अतः मोक्ष में ज्ञानादि गुणो का उच्छेद नही होता है प्रत्युत अनत ज्ञान अव्याबाध सुखादि गुणों की पूर्ण प्रगटता हो जाने से यह जीव कृतकृत्य सिद्ध हो जाता है इस प्रकार से अर्हंत में सर्वज्ञता की सिद्धि घटित होती है अन्यत्र नही होती है।

इस प्रकार आप्तकी समीक्षा करते हुये अर्हंत को ही आप्तता सिद्ध होती है।

तत्त्व समीक्षा

तत्त्व विचार

चार्वाक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों को ही चार तत्त्व मानता है इन भूत चतुष्टय से ही आत्मा इन्द्रिय ज्ञान और मन आदि की उत्पत्ति मानता है इसलिए जड़वादी है।

बौद्ध कहता है कि आकाश, चित्त संतान की उत्पत्ति तथा चित्तसंतान की उच्छित्ति ये तीन तत्त्व असंस्कृत तथा नित्य हैं। बाकी सब तत्त्व संस्कृत, क्षणिक, कर्ता से रहित हैं। [विश्व तत्त्व० पृ० २८५]

एवं इनके यहां रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पांच स्कंध माने गये हैं, इन पांच स्कंधों से ही सब कार्य होते हैं। और तो क्या इनके समूह से ही इन्होने आत्मा की उत्पत्ति मानी हैं। जब तक इनकी समष्टि रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। [भारतीयद. पृ० ६०]

सांख्य—

सांख्य के यहां पच्चीस तत्त्व हैं—प्रकृति, प्रकृति से महान् (बुद्धि) बुद्धि से अहंकार, अहंकार से सोलह तत्त्व—पांच ज्ञानेद्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र पांच कर्मेंद्रिय—वायु, उपस्थ, वाणी, हस्त, पाद एवं मन ये ग्यारह इन्द्रियां एवं रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द ये पांच तन्मात्राए ऐसे सोलह गण हैं। इन पांच तन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच महाभूत होते हैं। ऐसे ये प्रकृति, महान, अहंकार, सोलह गण, पांच महाभूत मिलकर चौबीस तत्त्व हुये ये अचेतन हैं एव पुरुष तत्त्व चेतन है। ये चेतन-अचेतन मिलकर पच्चीस तत्त्व होते है।

नैयायिक—

नैयायिक के मत में सोलह पदार्थ या तत्त्व हैं—

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान ये सोलह तत्त्व हैं। इनके भी भेद प्रभेद अनेक हैं।

वैशेषिक—

वैशेषिक मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ हैं। इनमें से द्रव्य के नव भेद गुण के २४, कर्म के ५ भेद आदि पाये जाते हैं।

मीमांसक के दो भेद है प्राभाकर और भाट्ट।

प्राभाकर आठ पदार्थ मानते हैं—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य, और संख्या।

भाट्टों ने पांच पदार्थ माने हैं-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव।

भाट्ट ग्यारह द्रव्य मानते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा, मन, अंधकार और शब्द।

वेदांती—

वेदान्ती लोग ब्रह्मवादी हैं—ये लोग "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इस कथन से 'एक ब्रह्ममात्र' ही तत्त्व मानते हैं, अन्य कुछ भी नहीं मानते। उनका कहना हैं कि जगत् में जितने भी चेतन-अचेतन पदार्थ हैं वे सब ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुये हैं इत्यादि।

जैन—

जैनाचार्यों ने इन सबकी मान्यता का न्यायदर्शन में निराकरण किया है। देखिये ! **चार्वाक** के द्वारा मान्य भूत चतुष्टय से विजातीय चैतन्य स्वरूप आत्मा की उत्पत्ति असंभव है।

बौद्धों द्वारा मान्य भी पांच स्कधों से चेतन-अचेतन कार्य मानना नितांत गलत है।

सांख्य के पच्चीस तत्त्वों में महान् शब्द से बुद्धि को लेकर उसे प्रकृति-अचेतन से उत्पन्न होना कहा है और पुरुष को अकर्ता मानकर एकांत से अकेली जड़ प्रकृति को ही सारे विश्व का कर्ता कहा है यह ठीक नही है।

नैयायिक के द्वारा मान्य सोलह पदार्थों में संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, छल, हेत्वाभास, जल्प, वितण्डा आदि को पदार्थ में शामिल करना गलत है।

वैशेषिक के सात पदार्थों में कर्म समवाय आदि चीजें पदार्थ नहीं हैं। गुण, धर्म, संबन्ध, क्रिया आदि को पदार्थ कहना ठीक नही है।

मीमांसक ने तो परतन्त्रता, अंधकार, सदृशता आदि को भी पदार्थ कह दिया है। वास्तव में अंधकार आदि पदार्थ न होकर पर्यायें हैं।

वेदांती के द्वारा मान्य 'एक ब्रह्मतत्त्व' तो असभव ही है। अतः **जैनाचार्यों** द्वारा मान्य द्रव्य छह हैं—

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। तत्त्व सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इन्ही तत्त्वों में पुण्य पाप मिला देने से नव पदार्थ बन जाते हैं।

आत्मसमीक्षा

आत्मा का विचार

चार्वाक—आत्मा का पृथक् रूप से अस्तित्व स्वीकार नही करते हैं इनका कहना है कि भूत चतुष्टय से आत्मा का जन्म हुआ है। मरने के बाद आत्मा कोई चीज नही है अतः परलोक गमन, पुण्य, पाप आदि कार्य ये लोग नही मानते है इसीलिये ये 'नास्तिक' कहलाते हैं। वास्तव में स्वयं अपनी आत्मा के अस्तित्व को न मानकर उसका घात करना महा मूढ़ता है।

बौद्ध—

'विज्ञान स्कंध चित्त हैं इसी को आत्मा कहते हैं' [सर्व. द. पृ. ३६] विज्ञान क्षणों का नाम आत्मा

है। काय चित्त और विज्ञान के समूह को आत्मा कहते हैं। मनुष्य एक समष्टि का नाम है जिस तरह चक्र, धुरी, नेमि आदि के समूह को रथ कहते हैं, उसी तरह बाह्य रूप युक्त मानसिक अवस्थायें और रूपहीन सज्ञा (विज्ञान) के समूह या संघात को मनुष्य कहते हैं। जब तक इनकी समष्टि कायम रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है। जब यह नष्ट हो जाती है तब मनुष्य का भी अंत हो जाता है। इस सघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। अन्य दृष्टि से मनुष्य पांच प्रकार के परिवर्तनशील तत्वों का एक संग्रह है। इसे पच स्कध कहते हैं उनके नाम हैं रूप वेदना सज्ञा, संस्कार और विज्ञान'। [भारतीयद० ६०] बौद्ध की यह कल्पना भी कल्पित होने से गलत है।

सांख्य—

सांख्य आत्मा को चेतन पुरुष मानते हैं एव कूटस्थ, नित्य, निरतिशय अपरिणामी मानते हैं, कर्मों का कर्ता नही मानते किन्तु भोक्ता अवश्य मानते हैं, इनके यहां पुरुष को—अमूर्त, निर्गुण, भोक्ता, नित्य सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, सूक्ष्म और चेतन माना है। तथा ज्ञान से रहित माना है एव ज्ञानसहित प्रधान के संसर्ग से ज्ञानी माना है। आत्मा को सर्वथा निष्क्रिय अमूर्त आदि मानना एव ज्ञानरहित मानना गलत है।

नैयायिक—

नैयायिक का कहना है कि आत्मा, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा ज्ञानादि गुणों का आश्रय होता है, चेतनत्व, कर्तृत्व, सर्वगतत्व आदि धर्मों मे आत्मा की प्रतीति होती है। आत्मा के भोग का आयतन शरीर है। भोग के साधन भूत पाच इन्द्रियां हैं। रूप, रस आदि पचेन्द्रियों के विषय रूप अर्थ हैं। [षड् द० पृ० १०७] इतना सब कुछ मान करके भी नैयायिको ने आत्मा में द्रव्यत्व के समवाय से आत्मा को द्रव्य माना है एव ज्ञान के समवाय से ज्ञानी माना है यह समवाय सम्बन्ध की व्यवस्था गलत है क्योकि समवाय के पहले आत्मा क्या है और ज्ञान कहा है? यदि दोनो ही पृथक् २ कभी भी किसी के दृष्टि-गोचर होवे तब तो उनका सबध भी माना जावे। एव आत्मा को सर्वगत मानना भी असम्भव है क्योकि आत्मा स्वदेह परिमाण ही है।

वैशेषिक—

'आत्मा जीवोऽनेको नित्योऽमूर्तो विभुर्द्रव्यं च' [षड द० पृ०४०६] आत्मा जीव है अनेक है नित्य अमूर्त और व्यापक द्रव्य है। **'ज्ञानाधिकरणमात्मा, स द्विविधः -जीवात्मा परमात्मा चेति'**। जिस द्रव्य में समवाय से ज्ञान रहता है वही आत्मा है क्योंकि, आत्मा में ज्ञान समवाय सबध से रहता है। आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा, परमात्मा। परमात्मा ईश्वर सर्वज्ञ एक है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है, व्यापक और नित्य है। [तर्क सग्रह]

अर्थात् नैयायिक के समान वैशेषिक ने भी आत्मा में स्वतः ज्ञान गुण नहीं माना है किन्तु समवाय से माना है अतः उसके यहां भी आत्मा ज्ञान शून्य है एवं आत्मा को सर्वथा व्यापक और नित्य मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है ।

मीमांसक —

मीमांसक जन जीव का लक्षण पूर्वोक्त मानकर भी समवाय नहीं मानते हैं एवं 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः' इस नियम से 'स्वर्ग की इच्छा करने वाला अग्निहोत्र यज्ञ करे' ऐसे क्रिया काण्ड, यज्ञ अनुष्ठान आदि से आत्मा को स्वर्ग मानते हैं किन्तु जीव का कर्म से रहित होकर शुद्ध होना नहीं मानते हैं ये लोग जीव को हमेशा कलंक कालिमा सहित अशुद्ध ही मानते हैं । अतएव इन्होंने सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करके अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान वेद वाक्यों से मान लिया है ।

इन मीमांसकों में भाट्ट, प्राभाकार और वेदांती ऐसे तीन संप्रदाय हो गए हैं । भाट्ट, प्राभाकर क्रियाकाण्ड को प्रमुख कहते हैं । किन्तु वेदांती 'सारे जगत को एक परमब्रह्म' रूप ही मानते हैं और चेतन अचेतन को उस ब्रह्म की पर्याय सिद्ध करते हैं । किन्तु यह मान्यता गलत है, आत्मा शुद्ध हो सकती है एवं एक ब्रह्म की पर्याय न होकर प्रत्येक आत्मा निश्चय नय से परम ब्रह्म स्वरूप है ।

किन्हीं-किन्हीं ने आत्मा को 'वटकणिका मात्र' माना है किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि आत्मा को वट बीज के समान मानकर सारे शरीर में संचार माना जाए, तब ऐसे मानने वालों को मन के माध्यम से सुख का अनुभव होगा । शरीर के जिस प्रदेश में आशुगति से आत्मा का संचार होगा, उस समय उस प्रदेश में मन का नया-नया सम्बन्ध मानना पड़ेगा ।

अणु परिमाण ज्ञानाश्रय जीव है । 'तदणुत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम् ।' "बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेय स चानन्त्याय कल्पते" । "आराग्रमात्रः पुरुष एवोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" ।

आत्मा का अणुत्वश्रुति प्रसिद्ध है । केश के अग्रभाग के प्रथम सौ टुकड़े करके पश्चात् एक-एक के सौ-सौ टुकड़े करने से एक भाग का जो परिमाण हो वह जीव का परिमाण है ऐसे जीव अनन्त हैं और जीव रूप पुरुष आरे के अग्र भाग के समान सूक्ष्म हैं । आत्मा-जीव अणु परिमाण चक्षु आदि इन्द्रियों से अग्राह्य केवल मन से जानने योग्य है ।" [सर्वदर्शन से० रामानुजदर्शन पृ० १०९] यह सब मान्यता विवेक शून्य है क्योंकि आत्मा स्वदेह परिमाण है यह बात अनुभव सिद्ध है ।

जैन —

जैनाचार्यों ने उपर्युक्त मान्यताओं का विशेष रीति से खण्डन करके जीव का लक्षण स्थापित किया है । यथा — 'उपयोगो लक्षणं' 'स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।' [तत्त्वार्थसूत्र द्वि० अ० सूत्र ८-९]

जीव का लक्षण उपयोग है । चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं । उसके दो भेद हैं—

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं—मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पांच ज्ञान एवं कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये ३ कुज्ञान ये आठ ज्ञानोपयोग हैं। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार दर्शनोपयोग हे।

जीव का लक्षण चेतना है ज्ञानदर्शन को ही चेतना कहते है। जैनाचार्यों ने अन्यत्र जीव का लक्षण किया है—

> जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
> भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥ [द्रव्यसंग्रह]

जीव—जो तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप द्रव्य प्राणों से एवं चेतना लक्षण भाव प्राणों से। अजीवत् जीवति जीविष्यति इति जीवः जीता था, जीता है, जीयेगा वह जीव है, यह उपयोगमयी है—ज्ञान दर्शन स्वरूप है कथचित् अमूर्तिक है, कर्ता है स्वशरीर प्रमाण है, भोक्ता है, संसारी है। सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है ॥

'संसारिणो मुक्ताश्च' [तत्त्वार्थ सूत्र]

जीव के संसारी और मुक्त की अपेक्षा दो भेद होते है कर्म सहित जीव ससारी हैं, कर्म बंधन से रहित जीव मुक्त जीव कहलाते हैं। जैन सिद्धात में कर्मो के निमित्त से जीव का ज्ञान गुण ढका रहता है पूर्ण प्रगट नही होता है धीरे-धीरे अपने आवरण कर्म का क्षयोपशम होते-होते ज्ञान गुण प्रगट होता चला जाता है जब पूर्ण ज्ञानावरण का नाश हो जाता है तब पूर्ण ज्ञान प्रगट होकर यह आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी-ज्ञाता द्रष्टा कहलाने लगता है।

> बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
> उपेयात्तत्र परमं मध्योपायात् बहिस्त्यजेत् ॥४॥ [समाधितंत्र]

बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्मा के भेद से आत्मा के तीन भेद होते है। उसमें परमात्मा उपादेय—प्राप्त करने योग्य है एव अतरात्मा उपाय भूत है—परमात्मा को प्राप्त कराने वाला है। और बहिरात्मा त्यागने योग्य है। इस प्रकार 'अहं' प्रत्यय से अनुभव में आने वाला आत्मा सभी जीवो को स्वसंवेदन अनुभव से सिद्ध है।

ज्ञान का विचार

चार्वाक—

'तदिह विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति स न प्रेत्यसंज्ञास्तीति तत् चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा' [सर्वदर्श० पृ० ३]

विज्ञान स्वरूप आत्मा इन चार भूतों से उत्पन्न होकर उसी में नष्ट हो जाता है, मरने पर परलोक

में कोई नाम नहीं रहता, चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है। अर्थात् भूत चतुष्टय से आत्मा उत्पन्न होता है ज्ञान भी भूत चतुष्टय से उत्पन्न हुआ है वह अस्वसंविदित है।

सांख्य--

'ततः संजायते बुद्धिर्महानिति यकोच्यते' [षड् द० पृ० १४५]

'इस प्रकृति से महान्--बुद्धि उत्पन्न होती है'

इससे स्पष्ट है कि सांख्य ज्ञान को अचेतन प्रधान का धर्म कहते हैं उनका कहना है कि ज्ञान के आश्रय भूत प्रधान का जब आत्मा में संसर्ग होता है तब आत्मा ज्ञानी दिखता है। वास्तव में सर्वज्ञता प्रधान को ही है। मुक्ति में प्रधान का संसर्ग छूट जाने से आत्मा में ज्ञान नही रहता है आत्मा सुषुप्त चैतन्यवत् हो जाती है।

नैयायिक --

'एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यं ज्ञानं' [षड् द० १३७]

आत्मा में ज्ञान के समवाय से ज्ञान रहता है और वह भी ज्ञानान्तर वेद्य है। ज्ञान स्वयं अस्वसंविदित है अन्य ज्ञानो से जाना जाता है। 'नैयायिक ज्ञान को दूसरे ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होना मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान प्रमेय है इसलिये ज्ञानान्तर वेद्य है जो प्रमेय होता है वह दूसरे ज्ञान के द्वारा जाना जाता है जैसे घट पट आदि प्रमेय'। किंतु जैनाचार्यो का कहना है कि ज्ञान ज्ञानान्तर से वेद्य माना जावे तो महेश्वर के ज्ञान से अनैकांतिक दोष आवेगा। जैन सिद्धात मे तो ज्ञान स्वय सबको जानता है अतः ज्ञान है एवं स्वय को भी जानता है अतः ज्ञेय-प्रमेय भी है कोई बाधा नही है एवं वह समवाय से आत्मा में नही आता है बल्कि आत्मा का ही गुण है। ज्ञान से ही आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है।

वैशेषिक --

नैयायिक और वैशेषिक दोनों ने ही ज्ञान को अस्वसवेदी माना है। इनकी मान्यता है कि ज्ञान स्वय अपना प्रत्यक्ष नहीं करता है, किंतु दूसरे ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। ये दोनों लोग धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। ये दोनों ही पदार्थ और आलोक को ज्ञान का कारण कहते हैं। किंतु जैनाचार्यों ने ज्ञान को स्वसविदित ही सिद्ध किया है।

प्राभाकर--

प्राभाकर मतानुयायी ज्ञान को अप्रत्यक्ष ही मानते है उनका कहना है कि ज्ञान न तो स्वयं जाना जाता है, और न ज्ञानान्तर से ही जाना जाता है। ये प्राभाकर आत्मा और ज्ञान दोनों को अत्यन्त परोक्ष मानते है। उनका कहना है कि प्रमिति जानना यह क्रिया और जानने योग्य घट पट आदि पदार्थ कर्म हैं वे ही प्रत्यक्ष हैं आत्मा, कर्ता और ज्ञान करण है वह परोक्ष ही है। किंतु जैनाचार्यों ने आत्मा और ज्ञान दोनों को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष सिद्ध किया है।

मीमांसक—

मीमांसक भी ज्ञान को परोक्ष कहते हैं किंतु आत्मा को प्रत्यक्ष मान लेते हैं, इनका कहना है कि ज्ञान करण है इसलिए परोक्ष है। ज्ञान के द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं किंतु ज्ञान स्वयं नहीं जाना जाता है।

'अहं ज्ञानेन घटं वेद्मि' मैं ज्ञान से घट को जानता हूं, यहां कर्ता कर्म और क्रिया प्रत्यक्ष हैं, ज्ञान यह करण होने से परोक्ष है। किंतु जैनाचार्य कहते हैं कि यदि आत्मा प्रत्यक्ष है तो ज्ञान को परोक्ष कैसे कहना ? क्योंकि भावेन्द्रिय रूप लब्धि और उपयोग ही ज्ञान है जो कि आत्मा रूप है, आत्मा से भिन्न नही है अतः आत्मा को प्रत्यक्ष कहने से ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही सिद्ध हो जाता हैं।

बौद्ध—

बौद्ध ज्ञान को 'साकार' कहते हैं उनके यहां ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर उसके आकार को धारण करके ही उसको जानता है इसलिये ज्ञान तदुत्पत्ति तदाकार और तदध्यवसायरूप है। उनकी मान्यता है कि जैसे पुत्र पिता से उत्पन्न होकर पिता के आकार को धारण करता है। उसी तरह ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर उसी के आकार को धारण कर उसी को जानता है अन्य को नहीं, यदि ऐसा न मानों तो पदार्थों की व्यवस्था कैसे बनेगी ? इन्होंने विज्ञान स्कंध को ही आत्मा माना है। एव विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ने ज्ञान परमाणुओ को पृथक्-पृथक् ही माना है। किन्तु जैनाचार्यों ने इस तदुत्पत्ति तदाकार ज्ञान का निराकरण कर दिया है। क्योंकि यदि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है तो पदार्थ के साथ ही ज्ञान का अन्वय व्यतिरेक होना चाहिए किंतु नही है मतलब पदार्थ के बिना भी ज्ञान होता है और पदार्थ के रहते हुये भी नहीं होता है इसलिए ज्ञान की तदुत्पत्ति सिद्ध नहीं होती, तदाकार का भी निराकरण इसी से होता है तदध्यवसाय की कल्पना भी निर्मूल है। ज्ञान अपने क्षयोपशम विशेष से आत्मा में उत्पन्न होकर पदार्थों को अवग्रह आदि विकल्पों से जानता है अतः सविकल्प, साकारोपयोग भी कहलाता है। एव क्षयोपशम विशेष से ही पदार्थों की व्यवस्था कर देता है। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न होकर भी इन्द्रिय के आकार का न होकर इन्द्रिय को नहीं जानता है। अतः आपका कथन दोष पूर्ण है।

जैन—

'ज्ञानपदेन प्रमातुःप्रमितेश्च व्यावृत्तिः अस्ति हि निर्दोषत्वेन तत्रापि सम्यक्त्वं न तु ज्ञानत्वम्।

[न्याय दी. पृ. १०]

'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' में सम्यक् पद से मिथ्याज्ञानों का निराकरण किया है और 'ज्ञान' पद से प्रमाता-आत्मा, प्रमिति—जानना और 'च' शब्द से प्रमेय-ज्ञेय की व्यावृत्ति हो जाती है। यद्यपि निर्दोष होने से ये प्रमाता प्रमिति प्रमेय-ज्ञाता ज्ञप्ति ज्ञेय सम्यक् तो हैं किंतु इनमें ज्ञानत्व नहीं है।

"ज्ञानदर्शनयोः करणसाधनत्वं कर्मसाधनश्चारित्रशब्दः"

ये ज्ञान और दर्शन व्याकरण में करण साधन से बने हैं और चारित्र शब्द कर्म साधन है। अर्थात् दृश्यते अनेनेति दर्शनं। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं। चर्यते यत्तच्चारित्रं जिसके द्वारा श्रद्धान किया जाय वह दर्शन है। जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है। जो आचरण किया जाय वह चारित्र है।

"कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनां परश्वादिवत इति चेत् न तत्परिणामादग्निवत्"।

[राजवार्तिक पृ० ४]

प्रश्न—यदि जिसके द्वारा जाना जाय उस करण को ज्ञान कहते हैं तो 'जैसे कुल्हाड़ी से लकड़ी काटते हैं' यहां कुल्हाड़ी और काटने वाले दोनों भिन्न हैं वैसे ही कर्ता आत्मा और करण ज्ञान इन दोनों को भिन्न मानना होगा?

उत्तर—नहीं! जैसे 'अग्नि उष्णता से पदार्थ को जलाती है' यहां अग्नि का उष्णत्व गुण अग्नि से पृथक् न होकर भी करण अर्थ में प्रयुक्त है। अतः कथंचित् अभेद में भी कर्ता, करण व्यवहार देखा जाता है। एवं भूतनय की दृष्टि से ज्ञान क्रिया में परिणत आत्मा ही ज्ञान है। अतः द्रव्य दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है।

ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है जो कि सबसे निकृष्ट सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव में भी कुछ अंश में मौजूद रहता है। तथाहि—

'सुहुमणिगोद अपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घादं णिरावरणं॥३२०॥

[गोम्मट. सार जी. पृ. १६६]

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में सबसे जघन्य ज्ञान होता है। इसी को 'पर्याय' कहते हैं। इतना ज्ञान सदा ही निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है। यदि इस ज्ञान पर भी आवरण आ जावे तब तो ज्ञान के बिना जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा। अतः अतिसूक्ष्म ज्ञान वहां भी विद्यमान रहता है। एकेन्द्रिय, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति वृक्ष आदि में भी आत्मा के ज्ञान दर्शन गुण मौजूद है कर्मावरण से ढके हुये हैं कुछ-कुछ अंश प्रकट है ये ही बढ़ते-बढ़ते एक दिन पुरुषार्थ से पूर्ण हो जाते हैं। तब आत्मा केवली, सर्वज्ञ कहलाने लगता है। अतः ज्ञान गुण आत्मा का है इसी से आत्म ज्ञानी है। सभी मतावलम्बियों ने ज्ञान को अचेतन अथवा अस्वसंविदित माना हैं किंतु जैनाचार्यों ने ही ज्ञान को चेतनारूप स्वपर प्रकाशी सिद्ध किया है। आत्मा के अनन्त गुणों में एक ज्ञान गुण ही ऐसा है जो सारे गुणों का महत्व बताता है यदि ज्ञान गुण न हो तो अनन्त गुणों का मूल्यांकन और अनुभव कौन करावे? अतः सभी गुणों में श्रेष्ठ ज्ञान गुण है। इसे ही प्रमाण कहते हैं। इसका फल—

'ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनं' श्री पूज्यपाद स्वामी ने श्रुतभक्ति में ज्ञान का फल अच्युत सुख को प्राप्त करना कहा है।

वैसे न्याय ग्रन्थों में—'अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलं'

उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।

पूर्वा वाज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ [आप्त मीमांसा]

ज्ञान का साक्षात् फल अज्ञान का अभाव होना है एवं परम्परा फल हेय वस्तु का त्याग उपादेय का ग्रहण एवं इन दोनों से रहित में उपेक्षा रखना है। श्री समंतभद्र स्वामी ने भी यही कहा है कि—

केवल ज्ञान का फल उपेक्षा है शेष ज्ञानों का फल ग्रहण और त्याग बुद्धि का होना है। अथवा शेष ज्ञानों का भी फल उपेक्षा और अपने विषय में अज्ञान का अभाव होना है।

अतः ज्ञान को अचेतन भूत चतुष्टय का धर्म, या अचेतन प्रकृति का धर्म न मानकर चेतन आत्मा का ही धर्म मानना चाहिये। एवं अस्वसंविदित न मानकर स्वसंवेदी, स्वपर प्रकाशी मानना चाहिये।

संसार तत्त्व का विचार

चार्वाक—

ते च जीव पुण्यपापादिकं न मन्यंते। चतुर्भूतात्मकं जगदाचक्षते। केचित्तु चार्वाकैकदेशीया आकाशं पंचमं भूतमभिमन्यमानाः पञ्चभूतात्मकं जगदिति निगदन्ति"। [षड्द० पृ० ४५०]

ये चार्वाक लोग आत्मा, पुण्य, पाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के झगड़े में न पड़कर इनकी सत्ता का सर्वथा लोप करते हैं। इस संसार को पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टय रूप ही मानते हैं। कोई चार्वाक आकाश को भी पांचवां तत्त्व मानकर 'जगत्' को पांचभौतिक कहते हैं।

'यह जड़ जगत् चार प्रकार के भौतिक तत्त्वों से बना हुआ है।' इस भूतचतुष्टय को आत्मा या संसार कहना गलत है। [भारतीय द० पृ० १६] यह बात पहले आ चुकी है।

बौद्ध—

"संसरन्ति स्थानात् स्थानांतरं भवाद् भवांतरं वा गच्छंतीत्येवंशीला संसारिणः स्कंधाः सचेतना अचेतना वा परमाणुप्रचयविशेषाः। ते च स्कंधाः वाक्यस्य सावधारणत्वात् पंचैवाख्याताः न त्वपरः कश्चिदात्माख्यः स्कंधोऽस्तीति" [षड्दर्शन पृ० ४०]

जो स्थान से स्थानान्तर को अथवा भव से भवान्तर को संसरण करें, गमन करें वे संसारी स्कंध हैं वे सचेतन या अचेतन परमाणुओं के प्रचय विशेष कहलाते हैं। वे स्कंध पांच ही होते हैं। इन पांच स्कंधों से भिन्न आत्मा नाम का कोई छठा स्कंध नहीं है। अर्थात् इन पांच स्कंधों में ही आत्मा नाम का व्यवहार होता है। ये पांचों स्कंध एक स्थान से दूसरे स्थान को या भव से भवान्तर को गमन स्वभाव वाले होने से-संसरणधर्मा होने से संसारी कहलाते हैं। इन्हीं संसारी पांच स्कंधों को 'दुःख सत्य' कहते हैं। रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इनके नाम है। ये पांचों स्कंध क्षणिक है एक क्षण तक ही ठहरते हैं।

जिससे लोक में 'मैं हूं यह मेरा है' इत्यादि अहंकार रूप ममकार रूप समस्त रागादि समूह उत्पन्न होता है उसे 'समुदय' कहते हैं। बौद्ध के मत में चार आर्य सत्य हैं। दुःख, समुदय, मार्ग, निरोध। इनमें

से आदि के दो तत्त्वों से संसार है एवं अंत के दो से मोक्ष होता है ये 'दुःख तत्त्व' और 'समुदय तत्त्व' संसार की प्रवृत्ति में निमित्त भूत है। [षड् दर्शन० पृ० ४३]

"य पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे॥" [प्रमाण वा १।२१६-२०]

जो पाँच स्कंधो में आत्मा को देखता है उसे यह मेरा है ऐसा नित्य स्नेह होता है, स्नेह से तृष्णा, तृष्णा से आत्मा के दोषों पर दृष्टि न जाना, गुण दिखाई देना, आत्मसुख में गुण देखने से उसके साधनों में ममकार होना, उन्हें ग्रहण करना, इत्यादि रूप से जब तक आत्मा का अभिनिवेश है तभी तक संसार है।

किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि पचस्कंध रूप आत्मा नही है ये बौद्ध एक ओर पृथ्वी आदि भूतों से आत्मा को मानने वाले चार्वाक का खण्डन कर रहे हैं। और दूसरी ओर रूप वेदना आदि स्कधों से भिन्न आत्मा को मानना नहीं चाहते है। इनमें वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान ये चार स्कंध चेतनात्मक हो सकते है क्योंकि अचेतन मे ये चारों बाते असम्भव हैं। किन्तु रूपस्कध को चेतन कहना चार्वाक के भूतात्मवाद से कोई अन्तर नही रखता है। अर्थात् बुद्ध भगवान का कहना है कि आत्मा क्या है इत्यादि कुछ मत सोचो, दुःख, दुःख के कारण उनके निरोध का ही विचार करो। इत्यादि रूप से बौद्ध अनात्मवादी ही है। उनका मान्य ससार गलत है, क्योंकि एक क्षण स्थिर रहने वाले दूसरे क्षण में नष्ट हो जाने वाले स्कधों से क्या भवान्तर गमन होगा ? और क्या संसार बनेगा ? समझ में नहीं आता है।

सांख्य—

मूल सांख्य तो हर एक आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले प्रधान को भी भिन्न-भिन्न मानते हैं अतः इनके यहां अनन्त पुरुषों की तरह प्रधान-प्रकृति भी अनन्त है। किन्तु उत्तरकालीन साँख्य सभी आत्माओं से सम्बन्ध रखने वाला एक नित्य ही प्रधान मानते हैं। प्रकृति और आत्मा के सयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। [षड्द० पृ० १४५]

पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। प्रकृति के तीन गुणों की साम्यावस्था पुरुष के संयोग से नष्ट हो जाती है। जगत् की रचना इस क्रम से होती है, सत्त्व की अधिकता होने से प्रकृति से महान्—बुद्धि होती है, यह महान् ही विश्व का अंकुर है, इस बुद्धि के आठ रूप होते हैं धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ये चार सात्त्विक रूप है। तथा अधर्म, अज्ञान, विषयाभिलाष और अनैश्वर्य ये चार तामस रूप है। पुरुष का चैतन्य प्रकाश महान् पर पड़ने से महान् भी चेतन मालूम पड़ता है। इसी बुद्धि तत्व से मैं 'सुन्दर हूं' इत्यादि अहंकार, अहँकार से षोडशगण और पांच तन्मात्रा से पचमहाभूत बन जाते हैं। इसी का नाम संसार है।

किन्तु विचार करके देखा जाये तो यह संसार का लक्षण प्रत्यक्ष बाधित है क्योंकि जब आत्मा अकर्ता निर्गुणी निष्क्रिय और व्यापक है तब उसका प्रकृति से सम्बन्ध कैसे होगा ? एवं उसमें परिणमन हुये बिना दोनों के संयोग से संसार भी कैसे बनेगा ? आत्मा को व्यापक मानने से तो सबसे बड़ा प्रश्न यह होता है कि वह अखण्ड आत्मा व्यापक है तब सब आत्माओं का सम्बन्ध सबके शरीरों के साथ है पुनः अपने-अपने सुख-दुःख और भोग का नियम कैसे बनेगा ? एवं कूटस्थ नित्य निष्क्रिय आत्मा का परलोक गमन आदि असम्भव होनें से संसार किसे कहेंगे ?

नैयायिक वैशेषिक –

नैयायिक और वैशेषिक ईश्वर को संसार का कर्ता, पोषक और संहारक मानते हैं । उनका कहना है कि—

> **"अज्ञो जंतुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।**
> **ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।।"** [महा भा० वनप० ३०।२८]

अर्थात् यह विचारा संसारी अज्ञ प्राणी असमर्थ है अपने सुख-दुःख भोगने के लिये ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर स्वर्ग तथा नरक में जाता है ।

इनके यहां भी प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थों में से प्रमेय तत्त्व में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, परलोक, फल, दुःख और मोक्ष ये बारह भेद किये है आत्मा को व्यापक, नित्य भोक्ता आदि माना है । किन्तु बुद्धि–ज्ञान को आत्मा से पृथक् प्रमेय कहा है, उसका आत्मा में समवाय मानते हैं ।

'ईश्वर ने विश्व का निर्माण शून्य से नहीं किया है, किंतु परमाणु दिक्, काल, आकाश, मन, तथा आत्मा आदि उपादानों से किया है। जीव अपने-अपने पुण्य या पाप कर्मों के अनुसार सुख या दुःख का उपयोग कर सकें, इसके लिये संसार की सृष्टि हुई है' । [भारतीय द० पृ० २३]

वास्तव में विचार करके देखा जाय तो यह प्रत्येक प्राणी अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोक्ता है किसी ईश्वर को उसमें निमित्त मानना गलत है, इसका वर्णन ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व खंडन में पहले किया जा चुका है । अतः नैयायिक वैशेषिक इन दोनों के द्वारा मान्य संसार तत्त्व गलत है ।

मीमांसक—

मीमांसाक लोग भौतिक जगत् को मानते हैं । भौतिक जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष से प्रमाणित होती है । मीमांसा बाह्य सत्तावादी है । किंतु ये लोग किसी को जगत् का स्रष्टा परमात्मा ईश्वर नहीं मानते हैं, जगत् अनादि तथा अनंत है न इसकी कभी सृष्टि हुई है न प्रलय होगा । सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्माओं के पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्त्वों से होता है । कर्म एक स्वतंत्र शक्ति है

जिससे संसार परिचालित होता है । मीमांसा के अनुसार जब कोई व्यक्ति यज्ञादि कर्म करता है, तो एक शक्ति की उत्पत्ति होती है जिसे 'अपूर्व' कहते हैं। इसी अपूर्व के कारण किसी भी कर्म का फल भविष्य में उपयुक्त अवसर पर मिलता है । अतः इस लोक में किये गये कर्मों के फल का उपयोग परलोक में किया जाता है' । [भारतीय द० पृ० ३०]

ये मीमांसक भी परलोक को मानते हैं एवं 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम ' स्वर्ग का इच्छुक अग्नि होत्र यज्ञ को करे । ऐसा प्रतिपादन करते हैं इसलिये ये आस्तिकवादी हैं किंतु ये ईश्वर को सृष्टि का कर्ता या सर्वज्ञ नहीं मानते हैं ईश्वर के अस्तित्व को समाप्त करने वाले हैं इनके यहां सभी आत्मा सदा अशुद्ध संसारी ही रहते हैं ।

किंतु वास्तव में यह कथन भी गलत है क्योंकि जीव कर्मबंध से छूटकर मुक्त होता है एवं वही ईश्वर सर्वज्ञ कहलाता है, भले ही वह सृष्टि का कर्ता नहीं है अतः मीमांसकों द्वारा मान्य भी संसार-तत्त्व गलत है ।

वेदान्तवादी—

उत्तर मीमांसावादी वेदान्ती मात्र 'अद्वैत ब्रह्म' को ही मानते हैं **'सर्वमेतदिदं ब्रह्म'** 'यह सब कुछ ब्रह्म है' उनका कहना है कि ब्रह्म ही सभी प्राणियों में भासमान है एवं अचेतन पदार्थों में भी वही ब्रह्म है। 'उपनिषदों में उसे सत् ब्रह्मन् वा आत्मन् कहते हैं । ससार इसी सत् से उत्पन्न हुआ है, इसी पर आश्रित है तथा प्रलय होने पर इसी में विलीन हो जाता है । संसार का नानात्व-असत्य है, उसकी एक मात्र एकता ही सत्य है' । कुछ उपनिषदों में यह उल्लेख है कि ब्रह्म या आत्मा के द्वारा ससार की सृष्टि हुई है, किंतु अन्य उपनिषदों में यहां तक वेदों में भी संसार की सृष्टि की तुलना इंद्र जाल से की गई है । ईश्वर को मायावी माना गया है जो अपनी माया से संसार की रचान करता है ।'

[भारतीय द० पृ० ३१]

परंतु जैनाचार्यों का कहना है कि एक अकेला ब्रह्म सब चेतन अचेतन रूप विश्व में व्यापक है सभी विश्व उस ब्रह्म की पर्यायें है । यह कथन सर्वथा असत्य है अन्यथा एक को सुख-दुःख होने पर दूसरे को भी सुख-दुःख उसी समय होना चाहिये था, अतः प्रत्येक आत्मा की भिन्न-भिन्न सत्ता मानकर उनका संसरण मानना ही संसार है ।

जैन—

जैन सिद्धांत के अनुसार उपर्युक्त सभी के संसार तत्त्व के लक्षण बाधित हैं क्योंकि यह संसार अनादि निधन है, इसका कर्ता, धर्ता, पोषक एवं संहारक कोई भी ईश्वर परमात्मा आदि नही है । यह जीव स्वयं अपने कर्म का कर्ता और भोक्ता है, कर्म सहित होने से गतिनामकर्म के उदय से नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में परिभ्रमण करता रहता है । इस जीव के 'संसरण' का नाम ही संसार है । कहा भी है—

स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवांतरावाप्तिः संसारः। [अष्ट.स. पृ. ६३]

अपने पूर्वोपर्जित कर्म के निमित्त से आत्मा के भवांतर की प्राप्ति का नाम संसार है।

पूर्वभवपरित्यागेन भवान्तरपरिग्रह एव च संसारः। [अष्टसहस्री. पृ. ६६]

पूर्वभव का परित्याग करके भवांतर का ग्रहण करना ही संसार है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार कर्म के आठ भेद हैं। और उनमें भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के बंध से बंध के चार भेद हैं। 'इन कर्म बंध के निमित्त से आत्मा की भवांतर प्राप्ति को ससार कहते हैं'।

"**संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः। स एषामस्ति ते संसारिणः। तत्परिवर्तनं पंचविधं द्रव्यपरिवर्तनं, क्षेत्रपरिवर्तनं, कालपरिवर्तनं, भवपरिवर्तनं, भावपरिवर्तनं चेति।**" [सर्वार्थसिद्धि पृ. १६४]

संसरण करने को ससार कहते हैं जिसका अर्थ परिवर्तन है। यह जिन जीवों के पाया जाता है वे संसारी है। परिवर्तन से पांच भेद है—द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन, और भावपरिवर्तन। इनका विशेष विवरण सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में देखिये।

अष्टसहस्री में ऐसा कहा है कि चार्वाक ने तो ससार माना ही नही है क्योकि भवांतर गमन रूप संसार उनके यहाँ है ही नही। अन्य जनो के द्वारा मान्य ससार की व्यवस्था भी ठीक नही है क्योंकि बौद्धों ने सर्वथा सब कुछ क्षणिक—एक क्षण रहने वाला माना है एवं सांख्यों ने सर्वथा नित्य अपरिणामी माना है अत. इन लोगों के यहां भी भवांतर गमन रूप ससार की व्यवस्था असभव है। स्याद्वाद मत में जीव को कथंचित् नित्य माना है और कर्मबंध से सहित होने से मूर्तिक, स्वशरीरप्रमाण माना है। एवं पर्यायार्थिक नय से जन्म-मरण सहित अनित्य भी माना है। जैसे—एक जीव मनुष्य पर्याय से मरकर देव-गति में जन्म लेता है वहां वही जीव है जो यहाँ मनुष्यगति में था अत: जीव द्रव्य की अपेक्षा वह ध्रौव्य है नित्य है, किन्तु मनुष्य पर्याय का नाश होकर देव पर्याय का उत्पाद हुआ है अतः पर्याय की अपेक्षा जीव अनित्य भी है। जीव के जन्म-मरण का व्यवहार एवं परलोक गमन भी लोक में सिद्ध है क्योंकि किसी को पूर्व जन्म स्मरण हो जाता है या पूर्व के संस्कार विशेष देखे जाते हैं। इस प्रकार से जैनाचार्य सम्मत संसार तत्त्व प्रसिद्ध है।

मोक्ष तत्त्व का विचार

चार्वाक—

इनका कहना है कि भूतचतुष्टय से शरीर, आत्मा, इन्द्रिय और मन बन जाते हैं एवं शरीर के नष्ट होने के बाद समाप्त हो जाते हैं जीव नाम की कोई वस्तु अनादि अनन्त है ही नहीं पुनः मोक्ष की बात ही कहां रही ? '**आगमोऽपि न तत्प्रतिपादयितुं समर्थः तत्र प्रामाण्याभावात् आप्तो ह्यवंचकोऽभिमतः सोऽपि किंचिज्ज्ञत्वाल्लौकिकार्थानेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां चक्षुरादिभिरुपलभ्य प्रतिपादयति न तु जीवस्यानाद्यनन्तत्वादिकं।**" [विश्वत. प्र. पृ. ४]

आगम प्रमाण से भी जीव का अनादि अनन्त होना सिद्ध नहीं हैं क्योंकि 'आप्त पुरुष के वचन आदि को आगम कहते हैं' तथा जो ज्ञानी है अवंचक है उसे आप्त कहते हैं, वह आप्त चक्षु आदि इन्द्रियों से अन्वय व्यतिरेक को समझकर लौकिक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर दूसरों को बतलाता है। जीव के अनादि अनन्तत्व का प्रतिपादन नहीं करता है। अतः जब न कोई सर्वज्ञ हैं न उनका आगम सत्य है तब मोक्ष का विचार करना सर्वथा गलत है क्योंकि जब आत्मा और परलोक गमन ही सिद्ध नहीं है तब मोक्ष की सिद्धि कैसे होगी ? इस प्रकार से यह चार्वाक मोक्ष तत्त्व को स्वीकार नहीं करता है।

बौद्ध—

'निरोधो निरोधनामकं तत्वं मोक्षोऽपवर्ग उच्यते । चित्तस्य निःक्लेशावस्थारूपो निरोधो मुक्तिर्निगद्यते' । [षड् द पृ ५०]

मोक्ष या अपवर्ग को निरोध तत्त्व कहते हैं। अर्थात् अविद्या तृष्णा रूप क्लेश से रहित चित्त की निःक्लेश अवस्था रूप निरोध मुक्ति कहा जाता है। बौद्धों द्वारा मान्य चार आर्य सत्यों में यह 'निरोध' चौथा आर्य सत्य है।

'आयुरवसाने प्रदीपनिर्वाणोपमं निर्वाणं भवति । उत्तरचित्तस्योत्पत्तरभावात् यदप्युक्तं—

दीपो यथानिर्वृतिमभ्युपैति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं ।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात्केवलमेति शांतिं ।।
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपैति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं ।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् मोहक्षयात्केवलमेति शांतिं ।।

[सौन्दरनन्द १६-२८, २९]

सौगतों के यहां 'आयु के क्षय हो जाने पर उत्तर चित्त की उत्पति नहीं होती है अतः दीपक बुझने के समान चित्तसंतति का निर्वाण होता है।' कहा भी है—"जिस तरह दीपक बुझता है वह न पृथ्वी में जाता है, न आकाश में जाता है। दिशा या विदिशा में भी नहीं जाता है, सिर्फ तेल के खतम होने से शांत हो जाता है। उसी प्रकार जीव का निर्वाण होता है वह न पृथ्वी में जाता न आकाश में जाता है एवं न दिशा विदिशाओं में जाता है, सिर्फ मोह के खतम हो जाने से शांत हो जाता है।"

'रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानपंचकस्कंधनिरोधावभासो मोक्षः इति। [राज. वा. पृ. २]

ये बौद्ध लोग, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कंधों के निरोध को मोक्ष कहते हैं।

इस बौद्ध की मान्यता के अनुसार 'अभाव' को मोक्ष कहना सर्वथा गलत है क्योंकि जब आत्मा और ज्ञान का ही अभाव हो जावेगा तब सुख किसको मिलेगा ? वास्तव में मोक्ष की इच्छा सुख के लिए है न कि सर्वनाश के लिए। अतः विचार की कोटि में बौद्ध का मोक्ष तत्त्व ठीक नहीं हैं। फिर इनके यहां क्षणिकवाद में आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हैं तब मोक्ष की कल्पना सुतरां समाप्त हो जाती है।

सांख्य—

'प्रकृतेर्वियोगो मोक्षः पुरुषस्य'.....[षड्दर्शन० पृ० १५३]

प्रकृति के वियोग का नाम मोक्ष है। यह पुरुष के होता है। **'गुणपुरुषान्तरोपलब्धौ प्रतिस्वप्नलुप्तविवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्तचैतन्यस्वरूपावस्था मोक्षः' इत्यपरे—सांख्याः।** [तत्वार्थवा० पृ० २]

सांख्य लोग प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान होने पर सुषुप्तपुरुष के विवेक के लुप्त हो जाने के समान अनभिव्यक्त चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा के अवस्थान को मोक्ष कहते हैं।

सांख्यों द्वारा मान्य यह मोक्ष लक्षण भी गलत है क्योंकि चैतन्य विशेषस्वरूप की प्राप्ति हो जाना मोक्ष है यह मान्यता सत्य है। देखो! प्रकृति का संयोग छूटने के बाद प्रकृति का ज्ञान और सुख मुक्ति में नही रहा ऐसा ये लोग कहते हैं, किन्तु यह गलत है। वास्तव में ज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण आत्मा के हैं इन विशेष गुणों को प्रगट करके ज्ञाता द्रष्टा पूर्ण सुखी हो जाना मोक्ष है।

नैयायिक वैशेषिक—

'बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारनवात्मगुणात्यंतोच्छेदो मोक्षः इत्यन्ये' (वैशेषिकाः) [तत्वार्थवा० पृ० २] नैयायिक और वैशेषिक लोग 'बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव गुणों के अत्यन्त अभाव को मोक्ष कहते हैं।'

यह मान्यता तो बिल्कुल ही गलत है क्योंकि बुद्धि-ज्ञान और सुख का यदि मुक्ति में अभाव हो जावे तो बौद्धों के समान शून्य रूप ही 'मुक्ति कल्पना' सिद्ध हो गई। और कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष होगा जो कि अपने ज्ञान और सुख को समाप्त करने के लिये मुक्ति को प्राप्त करना चाहेगा अर्थात् अपने सुख और ज्ञान को तिलांजलि देकर मोक्ष जाना कोई भी नही चाहेगा। हां! इतना अवश्य है कि इन्द्रियजन्य क्षायोपशमिक ज्ञान एवं साता वेदनीयजन्य इन्द्रिय सुख का मुक्ति में अभाव होकर अनंतज्ञान और अव्याबाध-बाधारहित सुख प्रगट हो जाता है यह बात वास्तविक है।

मीमांसक—

मीमांसक लोग न सर्वज्ञ मानते हैं न कोई सृष्टिकर्ता ईश्वर मानते हैं, वे तो वेद वाक्यों से ही अतीन्द्रिय धर्म-अधर्म आदि पदार्थों का ज्ञान होना घोषित करते हैं एवं इनके यहां भी जीवात्मा हमेशा अशुद्ध संसारी ही रहता है कभी पूर्ण शुद्ध मुक्त नहीं होता है। अतः इनके यहां मुक्तितत्त्व का अभाव है।

वेदांतवादी—

'ये लोग भी सारे विश्व को 'परमब्रह्म' स्वरूप मानते हैं अतः उस ब्रह्म की उपासना करके कोई भी व्यक्ति उसी ब्रह्म में लीन हो जाता है पुनः किसी के मुक्ति की कल्पना ही असम्भव है। इसलिये इन वेदांतवादियों के यहां भी मोक्ष तत्त्व अघटित है। अथवा—

'अनंतसुखमेव मुक्तस्य, न ज्ञानादिकमित्यानन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष इत्यपरः सोऽपि युक्त्यागमाभ्यां बाध्यते'। [अष्टस० पृ० ६६]

'मुक्ति में अनंत सुख है ज्ञानादि नहीं हैं ऐसे आनन्द रूप एक स्वभाव की प्राप्ति हो जाना मोक्ष है ऐसा इन वेदांतियों ने कहा है,' किन्तु यह मोक्ष लक्षण भी युक्ति और आगम से बाधित होता है।

प्रश्न यह होता है कि अनंत सुख लक्षण मोक्ष को मानने पर ज्ञान के बिना उसका अनुभव कैसे होगा ? यहां भी देखा जाता है कि यदि किसी को मूर्च्छित कर दिया जाय पुनः उसका ऑपरेशन किया जाय तो उसे दुःख का अनुभव नहीं आता है अथवा यदि किसी का उपयोग दूसरी तरफ लगा हो और सुख साधन सामग्री रखी हो तो भी उसे सुख का अनुभव नहीं आता है अतः ज्ञान के बिना सुख का अनुभव न होने से मुक्ति में सुख मानना कैसे सिद्ध होगा ? क्या उनके सुख का अनुभव हम और आप को अपने ज्ञान से आ रहा है ? 'अनुभव नाम ज्ञान का है' यदि उन्हें सुख का अनुभव है मतलब सुख का ज्ञान है पुनः ज्ञान रहित मोक्ष कैसे रहा ? दूसरी बात यह है कि ब्रह्मवादियों के यहां मोक्ष की व्यवस्था कहने पर संसार की व्यवस्था भी माननी पड़ेगी पुनः द्वैत हो जाने से 'अद्वैत तत्त्व' समाप्त हो जावेगा।

जैन—

"निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्षः इति"। [सर्वार्थ सिद्धि पृ० २]

जब आत्मा कर्ममल, कलंक और शरीर को अपने से जुदा कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुख रूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं।

'बंध हेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' [तत्वार्थ सूत्र दशम अ०] मिथ्यादर्शन आदि बंध के कारणों का अभाव और संचित कर्मों की निर्जरा इन दोनों कारणों से सम्पूर्ण कर्मों का आत्यंतिक वियोग हो जाना मोक्ष है।

जैन सिद्धान्त में मुक्ति में अनंत गुणों का विकास माना है एवं अपने स्वभाव की प्राप्ति को ही मोक्ष कहा है। मतलब आत्मा अनंत गुणों का पुज है। 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' यह भी पूज्यपादस्वामी का वाक्य है अतः अपने आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि हो जाना ही सिद्धि है उसे ही मोक्ष कहते हैं।

यद्यपि यह मोक्ष प्रत्यक्ष से दिखाई नहीं देता है फिर भी आगम और अनुमान से उसका ज्ञान हो जाता है यथा—घटीयंत्र का घूमना उसके धुरे के घूमने से होता है और धुरे का घूमना उसमें जुते हुये बैल के घूमने पर। यदि बैल का घूमना बन्द हो तो धुरे का घूमना रुक जाता है और धुरे के रुक जाने पर घटीयंत्र का घूमना बंद हो जाता है। उसी तरह कर्मोदय रूपी बैल के चलने पर ही चारगति

रूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुर्गति रूपी धुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिक आदि वेदनाओं रूपी घटीयन्त्र को घुमाता रहता है कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है और उसके रुकने से संसाररूपी घटीयत्र का परिचलन समाप्त हो जाता है इसी का नाम मोक्ष है ।

इसी प्रकार से आगम से भी मोक्ष की सिद्धि स्पष्ट है सभी शिष्टवादी–आस्तिकवादी लोग किसी न किसी रूप में 'मोक्ष' का अस्तित्व अवश्य ही स्वीकार करते है । एव सभी वादियों ने सामान्यतया मोक्ष में 'दु.खों का विनाश हो जाना' या कर्मबधन से छूट जाना ही स्वीकार किया है अतएव मोक्ष सामान्य में किसी को विवाद नही है । मोक्ष के विशेषलक्षण में ही विसंवाद है जिसका यहा क्विार किया गया है ।

ससार कारण तत्व

चार्वाक—

'देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः ।
मतत्रयामिहाश्रित्य जीवाभावो विधीयते' ।।

[प्रमाण वा० भा पृ. ५३]

देहात्मको जीव: देहादन्यत्रानुपलब्धेः शिरादिवदिति पुरंदरः । देहकार्यो जीव· देहान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् उच्छ्वासवदित्युद्भटः । देहगुणो जीवः देहाश्रितत्वात् देहस्य रूपादिवदित्यविद्धकर्णः ।

[विश्वत० प्र० पृ० ८]

शिरा इत्यादि के समान जीव भी देहात्मक है क्योकि देह को छोड़कर अन्यत्र कही जीव पाया नही जाता, ऐसा पुरदर आचार्य ने कहा है । जीव शरीर का कार्य है क्योंकि देह के साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है जैसे कि उच्छ्वास का अन्वय व्यतिरेक शरीर के साथ पाया जाता है, यह उद्भट विद्वान् आचार्य का कथन है । जीव शरीर का गुण है क्योंकि शरीर के आश्रित है जैसे कि शरीर के रूप आदि । यह अविद्धकर्ण आचार्य का कथन है । मतलब चार्वाक मत के प्ररूपक तीन आचार्य प्रमुख है पुरंदर, उद्भट और अविद्धकर्ण । पुरदर जीव को देहात्मक कहते हैं, उद्भट जीव को देह का कार्य कहते हैं एव अविद्धकर्ण जीव को शरीर का गुण कहते है ।

चार्वाक के साधु कापालिकों की तरह हाथमें कपाल रखते हैं और शरीर में भस्म लगाते है । ब्राह्मणों से लेकर अन्त्यज तक सभी जातियों के लोग चार्वाक योगियों में मिलते हैं ।

लोकायता वदन्त्येव नास्ति जीवो न निर्वृतिः ।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः ।। ८० ।। [षड्द० पृ० ४५२]

चार्वाक कहते है कि जीव, मोक्ष, धर्म, अधर्म, पुण्यपाप और इनका फल कुछ भी नही है । स्वर्गनरक की कल्पना हास्यास्पद है । इनका सिद्धांत है कि-**'लौकिक यद्विषयजं सुखं तस्य परित्यागाददृष्टे परलोकसुखावौ तपश्चरणादिकष्टक्रिया साध्ये यत्प्रवर्तनं प्रवृत्तिः तल्लोकस्य विमूढत्वं'** । [षड्द० पृ० ४५९]

चार्वाक का कहना है कि प्रत्यक्ष सिद्ध लौकिक विषय सुखों को छोड़कर अदृष्ट परलोक के सुख के लिये तपश्चरण आदि कष्टकर क्रियाओं में प्रवृति करना महामूढता तथा अज्ञान की पराकाष्ठा है। 'धर्मः कामात्परो नहि' उनका कहना है कि काम सेवन से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। जैसे गुड़, महुआ आदि वस्तुओं के संमिश्रण से मदिरा बनती है उसी प्रकार भूतचतुष्टय से चैतन्य बन जाता है अतः इनके यहां संसार के कारण भूत मिथ्यात्व आदि कोई चीज ही नही हैं और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इनकी जड़ता-मूढता ही महामिथ्यात्व होने से अनंत ससार का कारण है।

बौद्ध—

इन विज्ञान आदि स्कंधो से भिन्न सुख-दुःख इच्छा-द्वेष ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई स्वतत्र पदार्थ नही है। न स्कधों से भिन्न आत्मा प्रत्यक्ष से अनुभव होता है और न अनुमान से ही होता है, अतः ये पांचों स्कंध क्षणिक हैं दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते है मात्र एक क्षण स्थायी हैं, इस प्रकार से पंचस्कंध रूप दुःख तत्त्व है। दुःख तत्त्व का कारण भूत समुदय तत्त्व माना है—'मैं हूं, यह मेरा है, पर है, पराया है' इत्यादि रूप से रागद्वेषादि दोष समुदय उत्पन्न होते हैं, अहंकार और ममकार रूप से आत्म भाव, आत्मीय भाव, परभाव, परकीयभाव आदि उत्पन्न होते हैं इन भावों से रागद्वेष समूह उत्पन्न होते है ये दुःख और दुःख समुदय दो तत्त्व ससार के कारण हैं

''अविद्या प्रत्यया संस्कारा इत्यादिवचनं केषाञ्चित्' । ४६ ।

अविद्या निमित्तक ही सस्कार होते है ऐसा बौद्धों का कहना है। अनित्य, अनात्मक, अशुचि और दुःखरूप पदार्थों को नित्य सात्मक पवित्र और सुख रूप मानना अविद्या है। इस अविद्या से रागादि सस्कार उत्पन्न होते हैं, संस्कार के तीन भेद है—

पुण्योपग-शुभ, अपुण्योपग–अशुभ और आनेज्योपग-अनुभय रूप वस्तु का प्रतिविज्ञप्ति विज्ञान है, इन संस्कारों से वस्तु में इष्ट अनिष्ट प्रतिविज्ञप्ति होती है, इन पुण्य, अपुण्य और अनुभय में विज्ञान होता है। अतः संस्कार निमित्तक विज्ञान है, विज्ञान से चार स्कंध उत्पन्न होते हैं वे नाम हैं एवं चार महा-भूत, रूप कहलाते है, अतः विज्ञान के निमित्त से नाम रूप होते हैं। नामरूप से पांच इंद्रिय और मन ये छह आयतन होते हैं। छह आयतन द्वारों का विषयाभिमुख होकर प्रथम ज्ञान तंतुओं को जाग्रत करना स्पर्श है। स्पर्श से वेदना, वेदना से आसक्तिरूप तृष्णा की वृद्धि से उपादन होता है। यह इच्छा होती है कि यह मेरी प्रिया सदैव मुझ में सानुराग रहे इत्यादि। इस उपादान से पुनर्भव को उत्पन्न करने वाला कर्म होता है, इसे भव कहते है यह कर्म मन वचन कायपूर्वक होता है, इससे परलोक में नया शरीर ग्रहण करना जाति है, शरीर स्कध का पक जाना जरा है और उस स्कंध का विनाश मरण है ये जरा मरण जाति कारणक है। इस तरह यह द्वादशांग वाला चक्र परस्पर हेतुक है इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य एक को निमित्त करके समुत्पाद–उत्पन्न होना प्रतीत्य समुत्पाद है। अतः अविद्या से संस्कार संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से

तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, जाति से जरा और मरण ऐसा कर्म चलता है। इसके कारण भव चक्र बराबर चलता रहता है। अतः अविद्या से संसार होता हैं संसार का कारण अविद्या है।

बौद्धों की यह संसार कारण पद्धति ठीक नहीं है क्योंकि जब प्रत्येक स्कंध और संस्कार क्षणिक हैं दूसरे क्षण टिकते ही नहीं तब यह सब उपर्युक्त परम्परा कैसे चलेगी, क्योंकि 'क्षणिका सर्वे संस्काराः' [का. ७] ऐसा वचन है अतः बौद्धों द्वारा मान्य संसार कारण तत्त्व गलत है। एक तो आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है दूसरे सभी पदार्थ प्रतिक्षण ध्वंसी है। अतः संसार के कारण होना असंभव हैं। वास्तव में यह क्षणिक सिद्धान्त ही दीर्घसंसार का कारण है ऐसा समझना चाहिये।

सांख्य—

'धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बंधः ॥ [साख्य. का. ४४]

धर्म से ऊर्ध्व गति एवं अधर्म से अधोगति होती है एवं ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से बंध होता है जब तक कोई भी मनुष्य आत्मा को महान्, अहंकार, पाँच तन्मात्रा, पांच इन्द्रिय, पाच भौतिक शरीर, आदि अनात्मीय पदार्थों में 'मैं सुनता हूं, देखता हूं' यह कल्पना करता है तभी तक उसको संसार है अतः संसार का कारण अज्ञान या अविद्या ही है।

इस पर आचार्यों का कहना है कि ऐसा एकात मानना गलत है क्योंकि आपके यहां पुरुष को सर्वथा अपरिणामी, निष्क्रिय, अकर्ता आदि कहा है पुनः उसके यहां समार के कारण मोक्ष के कारण आदि कैसे बनेगे ? एव सर्वथा अविद्या ही संसार का कारण नही है। सम्यग्ज्ञान होने के बाद भी संसार में कुछ दिन रहना देखा जाता है। अतः संसारकारणतत्त्व अज्ञान मात्र ही नही है, राग द्वेष आदि परिणाम भी संसार के कारण हैं।

नैयायिक—

नैयायिक का कहना है कि मिथ्याज्ञान का कार्य दोष, दोष का कार्य प्रवृत्ति, प्रवृति का कार्य जन्म, और जन्म का कार्य दुःख है। इसलिये मूल में संसार का कारण मिथ्याज्ञान ही है। वैसे इनके यहां सदाशिव ईश्वर ही सृष्टि रचना करके जीव में मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान आदि को भर देता है कोई जीव स्वयं स्वतन्त्र समर्थ नहीं है। यही कारण है कि इनकी संसार कारण मान्यता भी ठीक नहीं है।

वैशेषिक—

इच्छा और द्वेष से धर्म अधर्म की प्रवृत्ति होती है। उनसे सुख और दुःख रूप संसार होता है, संसार में नये शरीर और मन का संयोग होता है, जन्म होता है, एवं कर्मों का संचय होता। अतः इच्छा और द्वेष ही संसार के कारण हैं। इनके यहां भी ईश्वर सृष्टि का कर्ता है अतः यह सब कल्पनायें व्यर्थ प्रतीति होती हैं।

मीमांसक—

ये मीमांसक लोग भले ही 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह रटते रहें या लाखों बार यज्ञ आदि अनुष्ठान जप, तप दीक्षाविधि, सन्यास आदि में विशेष-विशेष क्रिया काण्ड करते रहें लेकिन ये लोग जीव का संसार से छूट कर मुक्त होना मानते ही नहीं हैं अतः इनके यहाँ के सब क्रिया काण्ड संसार के ही कारण हैं। वास्तव में मिथ्यात्व युक्त वेद विहित यज्ञादि का अनुष्ठान संसार का ही कारण है क्योंकि वेदों मे हिंसादि में भी धर्म माना है। वैसे ही वेदांतियों की 'ब्रह्मवाद' व्यवस्था भीठीक नहीं, है एवं उनके अनुसार 'परमब्रह्म' का ध्यान मनन भी संसार का ही कारण है।

जैन—

जैनसिद्धांत में ससार के कारण मुख्य रूप से पाच हैं—

'**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः।** [तत्वार्थ. सू.] मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाच कारणों से कर्मों का बंध होता है अतः ये कर्म बंध के कारण ही संसार के कारण हैं क्योंकि कर्मों से बधा हुआ जीव ही ससार में परिभ्रमण करता है। यह कर्म का सम्बन्ध कब से हुआ ?

पयडी सील सहावो जीवंगाण अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं॥

[गोम्मटसार कर्म.]

प्रकृति, शील और स्वभाव ये प्रकृति के नाम हैं। जीव और कर्म का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है। जैसे कि स्वर्ण पाषाण मे किट्ट आदि प्रारम्भ से ही मिश्रित रहता है। एव इन जीव और कर्मों का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। 'अह' प्रत्यय से जीव का अस्तित्व जाना जाता है। दीन, दरिद्री, धनी आदि होने से कर्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है। यह जीव कर्मों के उदय से राग द्वेष आदि रूप परिणत होता है। राग द्वेष से कर्मों का बध कर लेता है। द्रव्यकर्म और भावकर्म का परस्पर में कार्य कारण भाव सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। यह कर्म बध कतिपय भव्यों की अपेक्षा अनादि होकर भी सांत है एव अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनंत है।

पूर्वोक्त सूत्र का विशेष अर्थ—

अतत्त्व श्रद्धान को मिथ्या दर्शन कहते हैं उसके दो भेद हैं—नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक। जो परोपदेश के बिना मिथ्यात्व कर्म के उदय से अनादिकाल से जीव के साथ चला आ रहा है वह नैसर्गिक है। इससे जीव एकान्त से क्षणिक या नित्य तत्त्व मान लेता है, या यथार्थ तत्त्वों पर श्रद्धान नही करता है। परोपदेश से होने वाला मिथ्यात्व चार प्रकार का है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक। अथवा मिथ्यात्व के पांच भेद भी हैं—एकांत, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान।

असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं तह य होइ चुलसीदी। सत्तट्ठण्णाणीणं वेणइयाणं तु बत्तीसं।' क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानियों के ६७, और वैनयिकों के ३२ ऐसे ३६३ मिथ्यामत माने गये हैं।

छह काय के जीवों की दया न करने से एवं पांच इन्द्रिय और मन को वश में न रखने से अविरति के १२ भेद हैं।

चार विकथा, चार कषाय, पंचइन्द्रिय विषय, निद्रा और स्नेह ये १५ प्रमाद हैं। कुशल कार्य में अनादर करना प्रमाद है।

अनंतानुन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सोलह कषाय और हास्य, रति आदि नव नोकषाय ये २५ कषाय है। चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काय योग ऐसे १५ योग होते है। ऐसे ये ५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, १५ प्रमाद, २५ कषाय और १५ योग सब मिलकर ५+१२+१५+२५ +१५=७२ भेद हो जाते हैं।

प्रथम गुण स्थान में जीवों के पांचों ही बध के कारण मौजूद हैं द्वितीय से चतुर्थ तक मिथ्यात्व के सिवा चार कारण होते है, पांचवें में त्रस की विरति और ग्यारह की अविरति इस निमित्त से विरताविरत परिणाम होने से चार कारण है। छठे में प्रमाद होने से तीन कारण है, सातवे से दसवे तक कषाय और योग ये दो ही कारण होते है, ग्यारहवे से तेरहवें तक मात्र योग ही एक कारण है, एवं चौदहवें में योग न होने से बध के कारण नही हैं अतः चौदहवें गुण स्थान के अन्त में बंध के हेतु का पूर्णतया अभाव और पूर्वकर्मों की निर्जरा हो जाने से मोक्ष हो जाती है।

जो जीव कर्मों से बंधे है वे ही मुक्त होते है यह जैनसिद्धान्त का अटल नियम है।

मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्मा के परिणामों का नाम गुणस्थान है। ये गुणस्थान चौदह माने गये हैं। इनका विवरण गोम्मटसार जीवकाण्ड से देखिये।

कोई सम्ार को अहेतुक कहते हैं। कोई प्रकृति मात्र को संसार का कारण कहते हैं, कोई केवल अज्ञानादि दोषों को ससार का कारण कहते हैं।

किन्तु संसार अहेतुक नही है, यद्यपि अनादि है फिर भी उसके कारण कर्म मौजूद हैं। आगम और अनुमान आदि से ससार सहेतुक ही सिद्ध है तभी तो कोई जीव उन संसार के हेतुओं का नाश करके मुक्ति प्राप्त कर सकते है। सांख्य ने प्रधान को ही संसार का हेतु माना है, किन्तु आत्मा को संसर्ग से ससार का होना, जीव को जन्म मरण आदि दुखों का होना जो कि प्रत्यक्ष सिद्ध है वह नहीं बनेगा। बौद्ध अज्ञान आदि जन्य ही संसार मानते हैं, किन्तु कर्मोदय बिना अज्ञान, द्वेष आदि परिणाम हो नहीं सकते हैं इसलिये संसार के कारण मिथ्यात्व आदि प्रसिद्ध हैं।

मोक्ष के कारण का विचार

चार्वाक—

'सुख दुःख के कारण धर्म, अधर्म, उत्कृष्ट धर्म, अधर्म के फल भोगने के स्थान स्वर्ग नरक, पुण्य और पाप दोनों के नाश से होने वाला मोक्ष सुख इत्यादि अतीन्द्रिय पदार्थों की कल्पना उसी तरह हास्यास्पद और उपेक्षणीय है जिस तरह आकाश में अनेक रंगों से विचित्र चित्र बनाने की भावना हास्यास्पद है।'

"साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते नरे।
निरर्था सा मते तेषां धर्मः कामात्परो न हि॥८६॥ [षड्दर्श० पृ० ४५६]

कर्तव्य कार्य में प्रवृत्ति और न करने योग्य-अकार्य से निवृत्ति होने पर जो मनुष्यों को आत्म संतोष या प्रीति उत्पन्न होती है उसे चार्वाक लोग निरर्थक बताते हैं उनके यहां तो काम पुरुषार्थ से बढ़कर कोई धर्म ही नहीं है। अर्थात् चार्वाक लोग जप, तप, सयम, साधना आदि कार्यो में प्रवृत्ति करने और विषय सुख, इद्रिय लपटता, हिंसा, असत्य आदि पाप कार्यों के त्याग करने को मूढता समझते हैं। इसलिये इनके यहां आत्मा, परलोक, मोक्ष और मोक्ष के कारणों की वार्ता ही समाप्त हो जाती है।]

बौद्ध—

'निरोधहेतु नैरात्म्याद्याकारश्चित्तविशेषो मार्गः। मार्गण् अन्वेषणे मार्ग्यतेऽन्विष्यते याच्यते निरोधार्थिभिरिति चुरादिणिजन्तत्वेनाल्प्रत्ययः। निःक्लेशावस्था चित्तस्य निरोधः' [षड् द० ३६]

निरोध-निर्वाण मार्ग के इच्छुक मुमुक्षु जिसे ढूढ़ते हैं, जिसकी याचना करते हैं वह मार्ग है (अन्वेषण अर्थ में मार्गण्—धातु से चुरादिगण मैं णिच् प्रत्यय के बाद अल् प्रत्यय से मार्ग शब्द बना है) निरोध में हेतुभूत नैरात्म्यादि भावनायें ही निर्वाण में कारण होने से मार्ग कही जाती हैं। एव चित्त की क्लेश रहित अवस्था को निर्वाण कहते हे। अर्थात् दुःख, दुःख समुदय, मार्ग और निरोध ऐसे चार आर्य सत्य माने हैं। दुःख का नाम ससार है, दुःख समुदय संसार का कारण है, मार्ग मुक्ति का कारण है एव निरोध का अर्थ मुक्ति है।

'सर्वभावेष्वविपरीतदर्शनं विद्या। यत्सर्वभावेष्वनित्यानात्मकाशुचिदुःखेषु अनित्यानात्मकाशुचिदुःखदर्शनं सा विद्या। ततो मोक्षः।' [तत्त्वार्थ वा. पृ. १३]

जब सब पदार्थो में अनित्य निरात्मक अशुचि और दुःख रूप तत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है। अविद्या के विनाश से क्रमशः संस्कार आदि का नाश होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस तरह बौद्ध मत में अविद्या से बंध और विद्या से मोक्ष माना गया है। अर्थात् बौद्धों के यहां अनित्य अशुचि आदि पदार्थों को नित्य शुचि आदि समझना अविद्या है। अविद्या से रागादि संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम रूप (पंचस्कंध) नाम रूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, जाति से जरा-मरण होते हैं। यह संसार के कारणों की परंपरा बताई है। वैसे ही विद्या से अविद्या का अभाव, अविद्या के अभाव से

संस्कार का निरोध, संस्कार के अभाव से विज्ञान का अभाव, विज्ञान के अभाव से नाम रूप का अभाव, नाम रूप के अभाव से षडायतन का अभाव, षडायतन के अभाव से स्पर्श का, स्पर्श के अभाव से वेदना का, वेदना के अभाव से तृष्णा का, तृष्णा के अभाव से उपादान का, उपादान के अभाव से कर्म का, कर्म के अभाव से जाति का, जाति के अभाव से जरा-मरण का अभाव हो जाता है। मतलब विद्या से मोक्ष होती है, किंतु यह बौद्ध मान्यता बिल्कुल गलत है पदार्थ सर्वथा क्षणिक न होकर नित्य भी हैं उन्हें क्षणिक समझना विद्या नहीं है प्रत्युत महा अविद्या है। इस क्षणिक मत की बुद्धि के अभाव से सम्यक्त्व और ज्ञान आदि प्रगट होने से ही मोक्ष होती है।

सांख्य—

'विपर्ययाद् बंधस्यात्मलाभे सति ज्ञानादेव तद्विनिवृत्तेस्त्रित्वानुपपत्तिः ॥४१॥ [तत्वार्थ वा. पेज ११]

शका—मिथ्याज्ञान से ही बंध होता है अतः मोक्ष भी ज्ञान मात्र से ही होना चाहिये इसलिये मोक्ष के लिये तीन कारण नही बनते है। यथा—जब तक पुरुप को महान् आदि के क्रम से उत्पन्न होने वाले पाँच भौतिक शरीर में अहंपने का मिथ्याज्ञान रहता है, तभी तक शरीर को आत्मा मानने से विपर्यय ज्ञान से बध होता है। और जब इसे प्रकृति और पुरुप में भेद विज्ञान हो जाता है, वह पुरुष के सिवाय यावत् पदार्थों को प्रकृति कृत और त्रिगुणात्मक मानकर उनसे विरक्त होकर 'इनमें मैं नही हूं, ये मेरे नही है' यह परम विवेक जाग्रत होता है, तब ज्ञान मात्र से मोक्ष हो जाता है। अतः ज्ञान मात्र ही मोक्ष का कारण है।

जैनाचार्य कहते हैं कि ज्ञान मात्र से मोक्ष माना जाय तो पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के द्वितीय क्षण मे ही मोक्ष हो जानी चाहिये। पुनः एक क्षण भी ससार में ठहरने से उपदेश तीर्थ प्रवृत्ति आदि कुछ भी नही हो सकेंगे। यह सम्भव नही कि दीपक भी जल जाय और अन्धेरा भी रह जाय। उसी तरह से ज्ञान मात्र से मोक्ष कहने पर यह सम्भव नहीं है कि ज्ञान भी हो जाय और मोक्ष न हो। यदि कहो कि पूर्णज्ञान होने के बाद भी कुछ सस्कार शेष रह जाते हैं जिनके क्षय हुये बिना मोक्ष नही होती, एव जब तक उन संस्कारा का क्षय नही होता तब तक उपदेश आदि प्रवृत्ति होती है तब तो यह स्पष्ट अर्थ हुआ कि सस्कार क्षय से मुक्ति होती है न कि ज्ञान मात्र से। पुनः यह बताओ ! सस्कारों का क्षय ज्ञान से होता है या अन्य कारणों से ? यदि ज्ञान से कहो तो ज्ञान होते ही सस्कार का क्षय हो जाना चाहिये। पुनः वही उपदेश नही हो सकेगा। यदि अन्य कारण कहो, तो उसी का नाम चारित्र है। एव ज्ञान मात्र से मोक्ष कहने से तो सिर मुंडाना, गेरुआ वेष, यम, नियम, जप, तप, दीक्षा आदि सब व्यर्थ हो जावेंगे।

नैयायिक—

'दुःखादिनिवृत्तिः इत्यन्येषां ।४५। दुःखजन्मप्रवृत्तिमिथ्याज्ञाननामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावान्निःश्रेयसाधिगमः। [न्याय सूत्र १।१।२]

दुःखादि की निवृत्ति होना मोक्ष है, ऐसा नैयायिकों का कहना है। अर्थात् मिथ्या ज्ञान का कार्य दोष, दोष का कार्य प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कार्य जन्म और जन्म का कार्य दुःख है। मिथ्या ज्ञान का अभाव होने पर क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख नष्ट हो जाते हैं उसी का नाम मोक्ष है।

इनके द्वारा मान्य सात पदार्थ और नव द्रव्य की कल्पना, ईश्वर सृष्टि की और समवाय की कल्पना ही गलत है तब उनके यहां मिथ्याज्ञान का अभाव असम्भव है। अतः इनके द्वारा मान्य मोक्ष के कारणों से जप, तप, दीक्षा आदि कुत्सित चारित्र से मोक्ष प्राप्त करना अशक्य है।

वैशेषिक—

'**इच्छाद्वेषाभ्यामपरेषां**' ।४४। [तत्त्वार्थवा० पृ० ११] वैशेषिक का कहना है कि इच्छा और द्वेष से धर्म अधर्म की प्रवृत्ति, उनसे सुख दुःखरूप संसार। जिस पुरुष को तत्त्वज्ञान हो जाता है उसे इच्छा और द्वेष नहीं होते, इनके न होने से धर्म अधर्म नहीं होते, इनके न होने से नये शरीर और मन का सयोग नहीं होता, जन्म नहीं होता, और सचित कर्मों का निरोध हो जानेसे मोक्ष हो जाता है। जैसे प्रदीप के बुझ जाने से प्रकाश का अभाव हो जाता है, उसी तरह धर्म और अधर्म रूप बन्धन के हट जाने से जन्म-मरण चक्ररूप संसार का अभाव हो जाता है। अतः षट् पदार्थ का तत्त्व ज्ञान होते ही अनागत धर्म और अधर्म की उत्पत्ति नहीं होगी और सचित धर्माधर्म का उपभोग और ज्ञानाग्नि से विनाश होकर मोक्ष हो जाता है। अतः वैशेषिक मत में भी तत्त्वज्ञान से मोक्ष माना है।

वास्तव में इन वैशेषिक के मोक्ष कारण तत्त्व भी गलत हैं तत्त्वज्ञान मात्र से मोक्ष होना असम्भव है यह बात ऊपर कही जा चुकी है, तथा इनके सोलह पदार्थों का ज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं है क्योंकि सोलह पदार्थ वास्तविक नहीं हैं कल्पना से कल्पित हैं, अतः इनके द्वारा मान्य भी मोक्ष कारण तत्त्व बाधित है।

इनका कहना है कि अदृष्ट के दो भेद हैं–धर्म, अधर्म। धर्म पुरुष का गुण है, कर्ता के प्रियहित और मोक्ष में कारण है, अतीन्द्रिय है, अन्तिम सुख का यथार्थ विज्ञान होने से इसका नाश होता है। जब तक तत्त्वज्ञान की पूर्णता नही होती तब तक धर्म का कार्य सुख बराबर चालू रहता है। तत्त्वज्ञान होने के बाद प्रारब्ध कर्मों के फल रूप अन्तिम सुख तक बराबर धर्म ठहरता है अन्तिम सुख के प्राप्त होने के बाद धर्म का तत्त्वज्ञान से नाश हो जाता है। यह तत्त्वज्ञान श्रुति स्मृति विहित मार्ग का पालन करने से अहिंसा आदि एवं विशेष रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के पूजन अध्यन आदि से उत्पन्न होता है अतः तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है। यह मान्यता पूर्वोक्त प्रकार से गलत ही है।

मीमांसक—

'कुमारिल भट्ट ने कहा है कि पुरुष की प्रीति को श्रेय कहते हैं' यथा—

'श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः।

नोदनालक्षणैः साध्या तस्मादेष्वेवधर्मता (मी०श्लोक० चोदना सूत्र श्लो०१९१)

पुरुष की प्रीति को श्रेय कहते है यह प्रीति वेद वाक्यों से प्रतिपादित यज्ञादि में उपयुक्त होने वाले

द्रव्य, गुण और क्रियाओं से उत्पन्न होती है अतः स्वर्गादि रूप प्रीति के साधन द्रव्य, गुण आदि में ही धर्मता है। मतलब ये मीमांसक सर्वज्ञ, ईश्वर को नही मानते है तब मोक्ष और उसके कारणों की बात ही खतम हो जाती हैं। ये सदा ही आत्मा को धर्म से स्वर्गादि सुख और अधर्म से नरकादि दुःख की व्यवस्था कर देते है। बस इनके यहा बुद्धि में मीमांसा करने का ही अभाव है।

"आत्मा नित्य अविनाशी द्रव्य है जो वास्तविक जगत् में वास्तविक शरीर के साथ संयुक्त रहता है मृत्यु के बाद भी यह अपने कर्मों के फलों का उपभोग करने के लिए विद्यमान रहता है, चैतन्य आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, किन्तु औपाधिक हैं। सुषुप्तावस्था तथा मोक्षावस्था में आत्मा को चैतन्य नही रहता, क्योकि उसके उत्पादक कारणों का अभाव हो जाता है जितने जीव है उतने ही आत्मा हैं। जीवात्मा बन्धन में आते है और उससे मोक्ष भी पा सकते है।" [भारतीय द० पृ० २११]

वास्तव में मोक्षावस्था में जीवात्मा को चैतन्य शून्य मानना मतलब जीव के मोक्ष का अभाव सिद्ध कर देना है।

प्राचीन मीमासकों के मत में स्वर्ग ही जीव का चरम लक्ष्य माना गया है, इसलिए कहा गया है 'स्वर्गकामो यजेत' सभी कर्मों का अंतिम उद्देश्य है स्वर्ग प्राप्ति। परन्तु धीरे-धीरे मीमासक गण अन्यान्य भारतीय दर्शनों की तरह मोक्ष—सांसारिक बधनों से छूटकर मुक्ति को सबसे बड़ा कल्याण—निःश्रेयस मानने लगे है।

निष्काम धर्माचरण और आत्मज्ञान के प्रभाव से पूर्व कर्मों के संचित सस्कार भी क्रमशः लुप्त हो जाते हैं। तब इसके बाद पुनर्जन्म नहीं होता और कर्म का बन्धन छूट जाता है, परन्तु मीमासक का यह मोक्षकारण तत्त्व ठीक नहीं है।

वेदान्तवादी—

'ब्रह्म स्वरूप में लय हो जाना ही मुक्ति है' इस ब्रह्मालयावस्था के सिवाय अन्य किसी प्रकार की मुक्ति वेदान्तियो को इष्ट नही है। ये 'भगवत्' शब्द से पुकारे जाते है। इनके कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहस ये चार भेद होते है। हस साधुओं को तत्त्वज्ञान हो जाता है तब ये परमहंस कहलाते है। "परमहसादित्रयाणां च कटिसूत्र न कौपीनं न वस्त्र न कमडलुर्न दण्डः सार्ववर्णैकभैक्षाटनपरत्व जातरूपधरत्व विधिः" ॥ [ना. प उ. ५।१] परमहसादि तीनो के कटिसूत्र, कौपीन, वस्त्र, व मंडलु नहीं होते है सभी वर्णों में भिक्षा ले लेते है जातरूपधारी होते हैं। इनके अध्ययन का एक मात्र विषय है वेदान्त। ये चारों ही मात्र ब्रह्माद्वैत की सिद्धि में अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं।' [षड्द. पृ. ४३२]

ब्रह्मसूत्र पर अनेक भाष्य लिखे गये हैं हर एक भाष्यकार एक-एक वेदान्त संप्रदाय के प्रवर्तक बन गये हैं इस तरह शकर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निबार्क आदि के नाम पर भिन्न-भिन्न संप्रदाय चल पड़े हैं।

शंकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म दो नही हैं, इनमें द्वैत नहीं है। अतः इनके मत का

नाम 'अद्वैत' हैं। रामानुजाचार्य अद्वैत को स्वीकार करते हुये भी कहते हैं कि एक ही ब्रह्म में जीव तथा अचेतन प्रकृति भी विशेष रूप है, अनेक विशेषण विशिष्ट एक ब्रह्म को मानने के कारण इस मत का नाम पड़ा है 'विशिष्टाद्वैत'। मध्वाचार्य ब्रह्म और जीव को दो मानते है अतः इस मत का नाम 'द्वैत' है। निबार्काचार्य का मत है कि जीव और ब्रह्म किसी दृष्टि से दो हैं, किसी दृष्टि से दो नहीं हैं। इस मत को द्वैताद्वैत कहते है। इनमें सबसे प्रसिद्ध है शंकर का अद्वैत और रामानुज का विशिष्टाद्वैत।

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिंविश्वतो वृत्वा त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥
पुरुष एवेद सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः ।
पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

[ऋग्वेद. १।-९०]

पुरुष के सहस्रमस्तक, सहस्रनेत्र, सहस्र पैर हैं, वह समस्त पृथ्वी में व्याप्त है और उससे दश अंगुल परे भी है। जो कुछ है, जो कुछ होगा, सो सब वही पुरुष है, वह अमरत्व का स्वामी है, जितने अन्न से पलने वाले जीव है सबमें वही है, उसकी इतनी बड़ी महिमा है, वह उससे भी बड़ा पुरुष है, उसके एक पाद से संपूर्ण विश्व व्याप्त है और तीन पाद अमृत हैं जो द्युलोक में हैं, वही चारों ओर चराचर विश्व में व्याप्त है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि वैशेषिक और नैयायिक, ईश्वर को सृष्टि की रचना में निमित्त मानते है। सर्वेश्वरवादी ईश्वर को जगत का उपादान कारण मानते है, किंतु ये वेदान्ती तो ईश्वर को जगत् का निर्माण करने मे उपादान और निमित्त दोनों कारण मान लेते हैं। वैदिक ऋषि की दिव्य दृष्टि इतनी दूर तक पहुंच गई है कि एक ही मंत्र में उन्होंने अद्वैत, जगदैक्यवाद तथा निमित्तोपादानेश्वरवाद के तत्त्व भर दिये है।

इस तत्त्व को कभी 'ब्रह्म' कभी 'आत्मा' कभी केवल 'सत्' कहा गया है। अर्थात् शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आदि वास्तविक आत्मा नही है, वे उसके बाह्य रूप हैं। सबका मूल आधार आत्म तत्त्व है, आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। सत्य, अनन्त और ज्ञान स्वरूप होने के कारण जो ही आत्मा मनुष्य में है वही सब भूतों में है। अतएव आत्मा परमात्मा एक ही है। इस आत्मज्ञान या आत्मविद्या को श्रेष्ठ विद्या कहते है। आत्म ज्ञान का साधन है काम क्रोधादि वृत्तियों का दमन करना एवं ब्रह्म का श्रवण, मनन, निदिध्यासन। जब तत्त्वज्ञान के द्वारा सस्कारों का लोप हो जाता है तब आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। उपनिषदों का मत है कि कर्मकाण्ड के द्वारा जीवन के परम पुरुषार्थ की—अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। केवल आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या के द्वारा ही पुनर्जन्म और तज्जन्य क्लेशों का अन्त

हो सकता है। जो अपने को शाश्वत ब्रह्म से अभिन्न समझ लेता है वही अमरत्व प्राप्त करता है।

विषयों को भोग करने की वासनायें वे बेड़ियां हैं जो हमें जकड़कर सांसारिक बंधन में रखती हैं और जिनसे जन्म और मृत्यु एवं पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। जब मनुष्य का हृदय वासना से रहित निष्काम हो जाता है तब वह इस जीवन में ब्रह्म में लीन हो जाता है।

शैव, पाशुपत, कापालिक और कालामुख मतों के अनुसार जगत का उपादान कारण पंचभूत है एवं निमित्त कारण ईश्वर है, किंतु वेदान्तियों के अभिप्राय से जगत् का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण चित्‌रूप परमब्रह्म आत्मा ही है।

इस प्रकार से कोरे वेदांत के अध्ययन से मुक्ति नही मिल सकती है यद्यपि उपनिषदों में ज्ञान मात्र से मुक्ति कही है फिर भी ज्ञान शब्द का अर्थ श्रुति का कोरा शब्द ज्ञान नहीं है। श्रवण—गुरु के उपदेश सुनना, । मनन—उन उपदेशों पर युक्ति पूर्वक विचार करना। निदिध्यासन—उन सत्यों का बारम्बार ध्यान करना। पूर्व संचित संस्कारों का नाश बारंबार ब्रह्म विद्या के अनुशीलन, तदनुकूल आचरण से होता है। आगे बढ़ते-बढ़ते जीव और ब्रह्म का भेद मिट जाने से उसी के साथ बंधन कटकर मोक्ष का साक्षात् अनुभव होता है।" [भारतीय द०]

यह वेदांतियों द्वारा मान्य मोक्ष का कारण प्रारंभ मे बड़ा सुन्दर लगता है, किंतु जैनाचार्यों का कहना है कि जब एक 'अद्वैतरूप ब्रह्म' ही सिद्ध नहीं है, नाना जीवों की सत्ता पृथक्-पृथक् है तब उस ब्रह्म का श्रवण, मनन, चिंतन, ध्यान भी अविद्या का ही विलास है। इसलिये वेदांतियो द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व भी ठीक नहीं हैं।

जैन—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' [तत्त्वार्थ सूत्र]

जैनाचार्यों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र इन तीनों की एकता को मोक्ष की प्रप्ति का उपाय बतलाया है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ [रत्नकरण्ड श्रावकाचार]

सच्चे आप्त, आगम और गुरु का श्रद्धान करना एवं तीन मूढता रहित आठ अंग सहित आठ मद-रहित होना सम्यग्दर्शन है। **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'** तत्त्वार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

इस सम्यग्दर्शन के होने के बाद ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाता है पुनः रागद्वेष को दूर करने के लिए सम्यक् चारित्र ग्रहण किया जाता है। उसके दो भेद हैं। 'सकलं विकलं चरणं' पूर्ण पापों के त्यागी महाव्रती साधु सकल चारित्र धारण करने वाले हैं एवं श्रावक अणुव्रत रूप विकल चारित्र पालन करते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व पूर्ण हो गया, केवलज्ञान की अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण ज्ञान प्रगट हो गया है, चारित्र के अंतर्गत व्युपरतक्रिया निवृत्ति ध्यान की पूर्ति चौदहवें

गुणस्थान के अंत में होकर चौहदवें गुणस्थान के बाद जीव मुक्त-सिद्ध होता है। अर्थात् इस मोक्ष के कारण भूत रत्नत्रय की पूर्णता चौहदवें गुणस्थान के अंत में होती है तभी मोक्ष प्राप्त होता है। इसी बात को आप्त परीक्षा में श्री विद्यानंद आचार्य महोदय ने स्पष्ट किया है। **'तथैवायोगकेवलिचरमक्षणवर्तिकृत्स्नकर्मक्षयलक्षणमोक्षमार्गं साक्षान्मोक्षमार्गत्वं सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वं न व्यभिचरति तपोविशेषस्य परमशुक्लध्यानलक्षणस्य सम्यक्चारित्रेऽन्तर्भावादिति"**।

[आप्तपरीक्षा पृ० २६०]

उसी प्रकार अयोगकेवली नामक चौदहवे गुणस्थान के अंतिम समय में होने वाले समस्त कर्मों के नाश रूप मोक्ष के मार्ग में वत्ति 'साक्षात् मोक्षमार्गपना' सम्यग्दर्शन आदि तीन रूपता का व्यभिचारी नही है, क्योंकि परमशुक्लध्यानरूप तपोविशेष का सम्यक्चारित्र में समावेश होता है।

जो मात्र ज्ञान से या सम्यक्त्व से या चारित्र से या दोके मेल से मुक्ति मानते हैं, वह मान्यता गलत है। यहां यह बात निश्चित है कि 'रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है' एक दो आदि नहीं। कहा भी है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः॥

क्रियाहीन ज्ञान नष्ट है और अज्ञानियों की क्रिया निष्फल है। दावानल से व्याप्त वन में जैसे अंधा व्यक्ति इधर-उधर भाग कर भी जल जाता है वैसे ही पंगु देखता हुआ भी जल जाता है।

इसलिये मोक्ष की प्राप्ति का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों से अविनाभाव है, वह मुक्ति इन तीनों के बिना नहीं हो सकती है। अतः सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष के कारण तत्त्व हैं ऐसा समझना चाहिये।

अद्वैतवाद विचार

अद्वैतवादियों में पांच भेद हैं—ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत और शून्याद्वैत।
ब्रह्माद्वैतवादी वेदाती हैं ये सम्पूर्ण चराचर जगत् को एक ब्रह्म रूप ही मानते हैं।
शब्दाद्वैतवादी वैयाकरण कहलाते है ये भी सम्पूर्ण चराचर जगत् को 'शब्दब्रह्म' रूप मानते हैं।
विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध हैं ये सारे विश्व को एक विज्ञान मात्र ही मानते हैं।
चित्राद्वैतवादी भी बौद्ध हैं ये सम्पूर्ण जगत् को 'चित्रज्ञान' रूप एक मानते हैं।
शून्याद्वैतवादी माध्यमिक बौद्ध है ये सारे जगत् को एक शून्य रूप ही स्थापित करते हैं।
इनमें से शब्दाद्वैतवादी का मत स्पष्ट करते है।

शब्दाद्वैतवाद निराकरण

'येऽपि शब्दाद्वैतवादिनो निखिलप्रत्ययानां शब्दानुविद्धत्वेनैव सविकल्पकत्वं मन्यंते'

[प्रमेय क० मा०पृ३६]

जो भर्तृहरि और शब्दाद्वैतवादी हैं वे सम्पूर्ण ज्ञानों को शब्द से अनुबिद्ध सविकल्प ही मानते हैं।

मतलब उनका कहना यह है कि-ज्ञान शब्द से अनुबिद्ध होकर ही पदार्थों का ज्ञान कराता है-जगत् में जितने भी ज्ञान हैं वे सब शब्दों के द्वारा ही होते हैं। एवं जगत् में जितने भी पदार्थ हैं वे सब शब्द ब्रह्म की पर्यायें हैं।

शब्द ब्रह्म तो अनादि निधन है अक्षरादि उसकी पर्यायें हैं एवं सम्पूर्ण पदार्थ आदि इसी के भेद प्रभेद हैं।

इस पर श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने विशद वर्णन के द्वारा शब्द ब्रह्मवाद का निराकरण कर दिया है क्योंकि शब्द से अनुविद्ध होकर ही ज्ञान हो यह बात असम्भव है, नेत्रादि से जो ज्ञान होता है उसमें शब्दानुविद्धत्व कहा है ? एक कर्णज्ञान को छोड़कर किसी भी ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व नही है।

यदि पदार्थों का शब्द से अनुविद्धत्व-सम्बन्ध मानों तो भी ठीक नही है अन्यथा अग्नि आदि शब्द सुनते ही कान जलने लगेगा। जगत् को शब्दरूप मानना तो प्रत्यक्ष से ही बाधित है फिर भी आप माने तो प्रश्न यह होता है कि शब्दब्रह्म जब जगत् रूप परिणमन करता है तब अपने स्वरूप को छोड़ कर या बिना छोड़े ? यदि अपने स्वरूप को छोड़कर परिणमन किया तो अनादिनिधनता कहा रही ? नही छोड़ा तो सारे पदार्थ शब्दमय होने से बहरे को भी शब्द सुनायी देने लगेंगे। पुन: प्रश्न होगे कि शब्द-ब्रह्म से उसकी जगत् रूप पर्यायें भिन्न हैं या अभिन्न ? भिन्न कहो तो अद्वैत पक्ष समाप्त हुआ। यदि अभिन्न कहो तो शब्दमय पदार्थ हो गये, पुन: 'गिरि' शब्द छोटा सा होकर बड़े से पर्वत का वाचक कैसे होगा ? एवं बिना संकेत के भी बाल मूक आदि को उनका ज्ञान होने लगेगा आदि अनेकों दोष आते हैं अत: जगत् को शब्द ब्रह्ममय मानना गलत है। ये शब्दवर्गणाये तो पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, मूर्तिक है, तभी इन्हें आज यत्रों द्वारा लाखों मीलों तक भेजा जाता है, सुना जाता है टेपरेकार्ड आदि यत्रों में भरा जाता है। यदि अमूर्त और एक हों तो ये सब बाते असम्भव हो जावेगी। इसलिये इन अद्वैतवादों की मान्यतायें गलत है। ब्रह्माद्वैत आदि का खण्डन इसी में पहले कर दिया है।

स्फोटवाद का विचार

स्फोटवादी मीमांसकों का मत है कि ध्वनियां क्षणिक हैं, क्रमशः होती हैं और अनतर क्षण में विनष्ट हो जाती हैं, वे स्वरूप का बोध कराने में ही क्षीणशक्ति हो जाती हैं अत: भिन्न अर्थ का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं हैं। उन ध्वनियों से अभिव्यक्त होने वाला, अर्थ प्रतिपादन में समर्थ, अमूर्त, नित्य, अतीन्द्रिय, निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट स्वीकार करना चाहिये। जैनाचार्य कहते हैं कि उनका यह मत ठीक नहीं है क्योंकि ध्वनि और स्फोट में व्यंग्य-व्यंजक भाव नही बनता है। जिस शब्द स्फोट को व्यंग्य मानते हो वह स्वरूप में रहता है या नहीं ? यदि स्वरूप से रहता है, तब तो ध्वनियों से पहले और बाद में उसके उपलब्ध न होने का क्या कारण है सूक्ष्मता या किसी प्रतिबन्धक का होना ? यदि

सूक्ष्मता कारण है तो आकाश की तरह ध्वनिकाल में भी उपलब्ध नहीं रहना चाहिये। एवं प्रतिबन्धक कारण भी कोई दिखता नही है।

यदि स्फोट स्वरूप से अनवस्थित है तो वह व्यंग्य नही हो सकता है और न ध्वनियां व्यंजक हो सकती हैं। जब ध्वनियां उत्पत्ति के बाद ही नष्ट हो जाती है तब वे स्फोट की अभिव्यक्ति कैसे करेंगी ? यदि क्षणिक होकर भी वे स्फोट की अभिव्यक्ति कर सकती है तो सीधा अर्थ बोध कराने में क्या बाधा है जिससे कि एक निरर्थक स्फोट माना जाय ?

अतः शब्द ध्वनिरूप ही है और वह नित्यानित्यात्मक है यह स्वीकार करना चाहिये। वह पुद्गल दृष्टि से नित्य है, श्रोत्रेंद्रिय के द्वारा सुनने योग्य पर्याय सामान्य की दृष्टि से कालांतर स्थायी है और प्रतिक्षण की पर्याय की अपेक्षा से क्षणिक भी है। [राजवा० पचम अ० पृ० ४८६]

'स्फोटवादी वैयाकरणो का कहना है कि वर्ण, पद और वाक्य अर्थ के प्रतिपादक नही हैं, किन्तु स्फोट ही अर्थ का प्रतिपादक है'। [न्या० कु० च० पृ० ७४५]

मीमासक और वैयाकरणों का कहना है कि एक शब्द को भी सम्यक्रीति से जानकर शास्त्रानुसार उसका शुद्ध प्रयोग करने से इस लोक और परलोक में इच्छित फल की प्राप्ति होती है। अर्थ का ज्ञान कराने में सस्कृत भाषा के शब्द ही कारण हो सकते है, प्राकृत भाषा के नहीं। अतः व्याकरण के अनुसार सिद्ध 'गौ' आदि शब्द ही साधु है और वे ही अर्थ के वाचक हो सकते हैं, 'गौ' शब्द के अपभ्रंश 'गावी' 'गोणी' आदि शब्द अर्थ के वाचक नही हैं क्योंकि वे शुद्ध नही हैं।

तात्पर्य यह है कि 'वैयाकरणदर्शन' को 'पाणिनिदर्शन' भी कहते हैं। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इसका वर्णन आता है।

ये लोग शब्द ब्रह्म को एक और विश्व व्याप्त मानते है अतः शब्दाद्वैत वादी हैं। इन्हीं में कोई लोग वर्णों को अर्थ बोधक न मानकर 'स्फोट' से अर्थ की अभिव्यक्ति मानते हैं वे शब्द स्फोटवादी हैं। मीमांसक भी शब्द को नित्य मानते है एवं कोई स्फोटवाद भी मानते हैं।

हरिणाभाणि ब्रह्मकाण्डे—"**अनादिनिधनं शब्दब्रह्मतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्तेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः**"॥ [सर्व द० पृ० २४५]

अनादि निधन अक्षराख्य शब्द तत्त्व ब्रह्म घटादि अर्थाकार विवर्त होता है जिससे जगत्प्रक्रिया निष्पन्न होती है।

'**पदार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यापि स्फोटोऽभ्युपगंतव्यः**' अर्थ प्रतीति के बल से भी स्फोट पदार्थ मानना होगा क्योंकि वर्ण से ही अर्थ बोध होता है यह मानना गलत है।' "जिससे अर्थ प्रतीति होती है वह वर्ण से अतिरिक्त वर्ण से अभिव्यंग्य नित्य शब्दस्फोट है। अतएव—"**स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यंग्यः स्फुटो भवत्यस्मादर्थ इति स्फोटो अर्थप्रत्यायक इति**"। [सर्व द० पृ० २४६]

अतएव वर्णों से जो स्फुटित हो, प्रकाशित हो वह स्फोट है। वर्णों से अभिव्यंग्य अर्थ जिससे स्फुटित होता है वह अर्थ की प्रतीति कराने वाला स्फोट है।

जैनाचार्यों ने वर्णों से ही अर्थ बोध माना है किंतु स्फोट नाम का कोई पदार्थ स्वीकार नहीं किया है इसके ऊपर 'तत्त्वार्थवार्तिक' के आधार से कहा जा चुका है अतः मीमांसक एवं वैयाकरणों की यह शब्द स्फोट कल्पना व्यर्थ है।

भर्तृहरि के वचनों से 'निरवयव स्फोट होता है' क्योंकि वे कहते हैं कि 'यह सब परमार्थ संवित् रूप सत्ता जाति ही सभी शब्दों का अर्थ है।'

ये लोग कहते है कि 'जीव से अभिन्न सच्चिदानंद परब्रह्म ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होने पर ब्रह्मस्वरूपावस्थिति रूप मोक्षप्राप्त होता है। अभियुक्तों ने भी शब्द ब्रह्म में निपुण होने से परब्रह्म की प्राप्ति कही है, इसलिये शब्द शास्त्र को मोक्ष साधनत्व सिद्ध हुआ।

'वचन मल को हटाने वाला व्याकरण शास्त्र अपवर्ग का द्वार संपूर्ण विद्या पवित्र में और श्रेष्ठ कहा जाता है। सिद्धि की प्रथम सीढ़ी एवं मोक्षमार्ग का सीधा सरल राजमार्ग व्याकरण शास्त्र है'

[सर्व द० पृ० २५५]

इस प्रकार से इन वैयाकरण पाणिनि आदि ने 'शब्द' को परब्रह्म माना है और व्याकरण को ही मोक्ष मार्ग मान लिया है, किंतु यह गलत है जैनाचार्यों ने बताया है कि व्याकरण के बिना केवल वृद्धजनो के व्यवहार से भी शब्दों में वाचकत्व का नियम बन जाता है क्योंकि वाच्यवाचकभाव लोक व्यवहार के आधीन है। शब्द धर्म के साक्षात् साधन नहीं हैं। व्याकरण पद्धति से शुद्ध भी काव्य शास्त्र, कोक-शास्त्र, कुत्सित इतिहास आदि, विषयभोग और चारित्र मलिनता के भी कारण बन जाते हैं। यदि एकांत से शब्द को ही मोक्ष का मार्ग माना जावे तब तो व्रत अनुष्ठान ध्यान समाधि सब व्यर्थ हो जावेंगे। हां! परंपरा से द्रव्यश्रुत भावश्रुत के लिए कारण है एव भावश्रुत केवलज्ञान के लिये बीजभूत है अतः संस्कृत शब्दों की तरह प्राकृत आदि शब्द भी परंपरा से धर्म के साधन हैं, क्योंकि विशिष्ट वक्ता के द्वारा कहे गये, विशिष्ट पुरुष द्वारा रचित, विशिष्ट अर्थ को कहने वाले वचन ही शुद्ध हैं। अतः द्रव्य दृष्टि से 'द्रव्यश्रुतरूप, शब्दब्रह्म अनादि निधन है एवं पर्याय दृष्टि से पुद्गल की पर्याय होने से सादि सांत है और भावश्रुत के लिए, यथार्थ ज्ञान के लिए कारण होने से उपास्य भी है इसे जिनवाणी सरस्वती भी कहते हैं। द्वादशांग या उसके अंशरूप परंपरागत आचार्य आदि प्रणीत शब्दशास्त्र और उनसे होने वाला अर्थज्ञान मोक्ष के लिये कारण होने से ग्राह्य है बाकी अन्य शास्त्र संसार वर्धक होने से अग्राह्य हैं। ऐसा समझना चाहिये।

स्याद्वाद सिद्धि

स्याद्वादः सर्वथैकांतत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ।। १०४ ।। [आप्तमीमांसा]

अर्थ—'स्यात्' यह शब्द निपात है और यह सर्वथा एकांत का त्यागी होने से 'कथंचित्', 'कथंचन' आदि शब्दों के अर्थ का वाची है । जिसे हिन्दी भाषा में 'भी' शब्द से स्पष्ट समझ लेते हैं । जैसे-जीव नित्य भी है, अनित्य भी है इत्यादि । इसमें बताया है कि स्याद्वाद सप्तभग और नयों की अपेक्षा रखता है एवं हेय और उपादेय को बतलाने वाला है ।।

सप्तभंगी का स्पष्टीकरण—

"प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी"—प्रश्न के निमित्त से एक ही वस्तु में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरुद्ध विधि और प्रतिषेध को कल्पना सप्तभंगी है । यथा—स्यादस्ति जीवः । स्यात् नास्ति जीवः । स्यादस्ति नास्ति जीवः । स्यादवक्तव्यो जीवः । स्यादस्ति अवक्तव्यो जीवः स्यान्नास्ति अवक्तव्यो जीवः, । स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यो जीवः ।

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जीव 'अस्तिरूप' ही है । पर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से जीव 'नास्तिरूप' ही है । क्रम से स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से जोव अस्ति नास्ति रूप है । युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से जीव अवक्तव्य रूप है । स्वचतुष्टय को कहने से एवं युगपत् स्वपर चतुष्टय को न कह सकने से जीव अस्ति अवक्तव्य है । पर चतुष्टय की विवक्षा करने से एवं युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने,से जीव नास्ति अवक्तव्य है । स्वपर चतुष्टय की विवक्षा से एवं युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने से जीव अस्ति नास्ति अवक्तव्य है ।

यहां पर प्रथम भग में अस्तित्व की प्रधानता होने से शेष छह भंग गौण है । द्वितीय में नास्तित्व की प्रधानता से बाकी छह भंग गौण हैं ऐसे ही सर्वत्र समझना ।

यदि कोई कहे कि एक ही जीवादि वस्तु में विधि योग्य और निषेध योग्य अनन्त धर्म पाये जाते अतः उन अनन्त धर्मों की कल्पना तो 'अनतभंगी' बनेगी न कि सप्तभंगी । आचार्य कहते है कि ऐसा नहीं कहना क्योंकि एक वस्तु में अनन्त धर्म हैं और उन अनन्त धर्मों में एक-एक धर्म के प्रति सप्त भंगी का प्रयोग करना पड़ेगा अतः अनन्त सप्तभंगी बनेंगी न कि अनन्त भंगी । जैसे—एक जीव में अस्ति, नित्य, भेद, एक आदि अनेकों धर्म हैं उन सबमें सप्तभंगी अलग अलग घटेगी । इनके प्रतिपक्षी धर्म स्वयं द्वितीय भंग में आ जाते हैं। 'जीव अस्ति रूप है' यह प्रथम भंग है तो 'जीव नास्ति रूप भी है' यह द्वितीय भंग बन जाता है ।

प्रश्न—वस्तु में सात ही भंग क्यों होते हैं ?

उत्तर—शिष्यों के द्वारा सात ही प्रश्न किये जाते हैं।

प्रश्न—शिष्यों द्वारा सात ही प्रश्न क्यों किये जाते हैं ?

उत्तर—क्योंकि सूत्र में 'प्रश्नवशादेव' ऐसा पद है।

प्रश्न—सात ही प्रश्न क्यों है ?

उत्तर—सात प्रकार की ही जिज्ञासा होती है।

प्रश्न—सात प्रकार की ही जिज्ञासा क्यों हैं ?

उत्तर—उस संशय के विषयभूत वस्तु धर्म सात प्रकार के ही हैं। एवं यह सात प्रकार का व्यवहार निर्विषय नहीं है, क्योंकि इन सात प्रकारों से ही वस्तु का यथार्थ ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और उनकी प्राप्ति का निश्चय देखा जाता है। अतएव श्री भट्टाकलंकदेव ने इस सप्तभंगी को 'स्याद्वादामृतगर्भिणी' कहा है।

शंका—एक ही वस्तु में विरुद्ध दो धर्म शीतउष्णस्पर्शवत् संभव नहीं हैं। जो वस्तु नित्य है वही अनित्य नहीं है, अन्यथा अनर्थ हो जावेगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस समय जीव, द्रव्यदृष्टि से नित्य है उसी समय वही जीव पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। देखो ! जीव नित्य न होवे तो पुनर्जन्म में वही जीव नहीं जावे और यदि अनित्य नहीं होवे तो मनुष्य पर्याय का नाश और देव पर्याय का उत्पाद नही हो सकता है, किंतु सभी आस्तिकवादी, जीव का पुनर्जन्म एवं उत्पाद विनाश मानते हैं, ऐसे अनेकों विरोधी धर्म अपेक्षा की शैली से एक ही वस्तु में रह जाते है, बाधा नहीं आती है।

प्रश्न—यदि अनेकान्त में भी यह विधि प्रतिषेध कल्पना लगती है तो जिस समय अनेकान्त में नास्तिभंग प्रयुक्त होगा, उस समय एकान्तवाद का प्रसंग आ जावेगा, और अनेकान्त में भी अनेकान्त लगाने पर अनवस्था आ जाती है अतः अनेकान्त को अनेकान्त नही कहना चाहिये।

उत्तर--अनेकान्त में भी प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकान्त और एकान्त रूप से अनेकमुखी कल्पनायें हो सकती हैं।

एकान्त और अनेकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं—सम्यक् एकान्त, मिथ्या एकान्त। सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त।

सम्यक् एकान्त—प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक अंश को युक्ति सहित नय की विवक्षा से ग्रहण करने वाला सम्यक् एकान्त है। जैसे—जीव निश्चयनय से शुद्ध है या व्यवहार नय से अशुद्ध है। इसे सम्यक् नय भी कहते हैं।

मिथ्या एकान्त—वस्तु के एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है जैसे वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है, या सर्वथा नित्य ही है, यह दुर्णय है।

सम्यक् अनेकान्त—एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों का ग्रहण करने

वाला सम्यक् अनेकान्त हैं। जैसे जीव अनन्त धर्मात्मक है।

मिथ्या अनेकान्त—वस्तु को अस्ति नास्ति आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना, अर्थ शून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है।

इन चारों में सम्यक् एकान्त नय कहलाता है एवं सम्यक् अनेकांत प्रमाण कहलाता है।

[तत्वार्थ वा.]

यदि अनेकांत को अनेकांत ही माना जावे और एकांत का लोप किया जावे तो सम्यक् एकांत के अभाव में, शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव के समान तत्समुदाय रूप अनेकांत का भी अभाव हो जावेगा और यदि एकांत ही माना जावे तो अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने से प्रकृत शेष का भी लोप हो जावेगा। अत :—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥

[स्वयंभूस्तोत्र]

अनेकान्त भी अनेकान्त रूप है क्योंकि प्रमाण और नय से सिद्ध है। प्रमाण की अपेक्षा से अनेकांत अनेकान्त रूप है एवं अर्पित-विवक्षित नय की अपेक्षा से अनेकान्त एकान्त रूप है। इस प्रकार से अनेकांत में भी सप्तभंगी घटित हो जाती है। यथा—

अनेकान्त कथंचित् अनेकान्त रूप है क्योकि प्रमाण की अपेक्षा रखता है।

अनेकान्त कथचित् एकान्त रूप है क्योंकि सम्यक् नय की अपेक्षा रखता है।

अनेकान्त कथचित् उभय रूप है।

अनेकान्त कथंचित् अवक्तव्य है इत्यादि। अनेकान्त छल रूप एवं संशय रूप नही हैं।

कोई कोई अनेकान्त को 'सर्वधर्म समन्वयवाद' कहकर सभी मिथ्या एकान्त धर्मों को सत्य सिद्ध करना चाहते हैं किंतु वास्तव में ऐसी बात नही है क्योंकि कथचित् शैली से एक वस्तु में अनेकों धर्मों को प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि से अविरुद्ध सिद्ध करना अनेकान्त है न कि मिथ्या एकान्तों का समन्वय करना। इसलिये सामान्य सत् की अपेक्षा से सभी वस्तुयें एक रूप हैं।

अवांतर सत्ता की अपेक्षा से सभी वस्तुयें पृथक्-पृथक् अस्तित्व वाली हैं। द्रव्यार्थिक नय से सभी वस्तुये नित्य है। पर्यायार्थिक नय से सभी वस्तुयें अनित्य है। इत्यादि।

श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥

इस प्रकार से प्रमेय समीक्षा नामक द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ।

—o—

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

❋ श्री वीतरागाय नमः ❋

रचयित्री : विदुषी रत्न पू० आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी
(प० पू० १०८ आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज संघस्था)

❀ मंगल स्तुति ❀

जिनने तीन लोक त्रैकालिक सकल वस्तु को देख लिया।
लोकालोक प्रकाशी ज्ञानी युगपत सबको जान लिया॥
रागद्वेष जर मरण भयावह नहिं जिनका संस्पर्श करे।
अक्षय सुख पथ के वे नेता, जग में मंगल सदा करे॥१॥

चन्द्र किरण चन्दन गंगा जल से भी जो शीतल वाणी।
जन्म मरण भय रोग निवारण करने में है कुशलानी है॥
सप्तभंग युत स्याद्वाद मय, गंगा जगत पवित्र करें।
सबकी पाप धूली को धोकर, जग में मंगल नित्य करें।२।

विषय वासना रहित निरंबर सकल परिग्रह त्याग दिया।
सब जीवों को अभय दान दे निभय पद को प्राप्त किया॥
भव समुद्र में पतित जनों को सच्चे अवलम्बन दाता।
वे गुरुवर मम हृदय विराजो सब जन को मंगल दाता।३।

अनंत भव के अगणित दुख से जो जन का उद्धार करे।
इन्द्रिय सुख देकर, शिव सुख में ले जाकर जो शीघ्र धरे।
धर्म वही है तीन रत्नमय त्रिभुवन की सम्पत्ति देवे।
उसके आश्रय से सब जन को भव-भव में मंगल होवे॥४॥

श्री गुरु का उपदेश ग्रहण कर नित्य हृदय में धारें हम।
क्रोध मान मायादिक तजकर विद्या का फल पावें हम॥
सबसे मैत्री, दया, क्षमा हो सबसे वत्सल भाव रहे।
सम्यक् 'ज्ञानमति' प्रगटित हो सकल अमंगल दूर रहे।५।